ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

जीवनचर्या-अङ्क

[जनवरी सन् २०१० ई०]

वर्ष ८४ संख्या १

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखहर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(संस्करण २,२५,०००)

अभिलाषा

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपातें संत-सुभाव गहौंगो॥
जथालाभसंतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि-भगति लहौंगो॥

क्या मैं कभी इस रहनीसे रहूँगा? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजीकी कृपासे कभी मैं सन्तोंका-सा स्वभाव ग्रहण करूँगा। जो कुछ मिल जायगा उसीमें सन्तुष्ट रहूँगा, किसीसे (मनुष्य या देवतासे) कुछ भी नहीं चाहूँगा। निरन्तर दूसरोंकी भलाई करनेमें ही लगा रहूँगा। मन, वचन और कर्मसे यम-नियमोंका पालन करूँगा। कानोंसे अति कठोर और असह्य वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न हुई (क्रोधकी) आगमें न जलूँगा। अभिमान छोड़कर सबमें समबुद्धि रहूँगा और मनको शान्त रखूँगा। दूसरोंकी स्तुति-निन्दा कुछ भी नहीं करूँगा (सदा आपके चिन्तनमें लगे हुए मुझको दूसरोंकी स्तुति-निन्दाके लिये समय ही नहीं मिलेगा)। शरीरसम्बन्धी चिन्ताएँ छोड़कर सुख और दुःखको समान-भावसे सहूँगा। हे नाथ! क्या तुलसीदास इस (उपर्युक्त) मार्गपर रहकर कभी अविचल हरि-भक्तिको प्राप्त करेगा? [विनय-पत्रिका]

विदेशके लिये पञ्चवर्षीय ग्राहक नहीं बनाये जाते। * कृपया नियम अन्तिम पृष्ठपर देखें।

वार्षिक शुल्क *
भारतमें १५० रु०
सजिल्द १७० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$40 (Rs. 2000)
(Air Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क *
भारतमें
अजिल्द ७५० रु०
सजिल्द ८५० रु०

सदस्यता-शुल्क—व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका, सहसम्पादक—डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : www.gitapress.org | e-mail : Kalyan@gitapress.org | © (0551) 2334721

आदर्श जीवनचर्या—सर्वत्र भगवद्दर्शन

जीवनचर्याके विविध स्वरूप

सात्त्विक, राजस और तामस दान

वैश्य तुलाधारकी स्वधर्मनिष्ठा
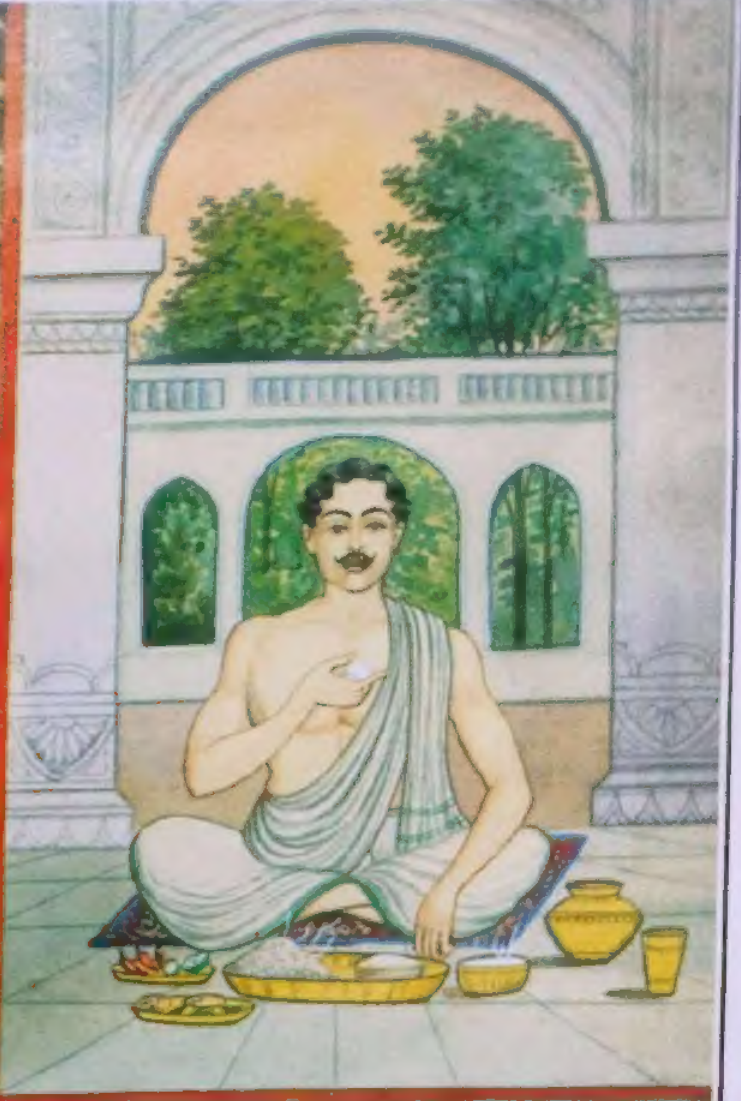
सात्त्विक, राजस और तामस आहार

जीवनकी चार अवस्थाएँ

भगवान् श्रीकृष्णकी जीवनचर्या
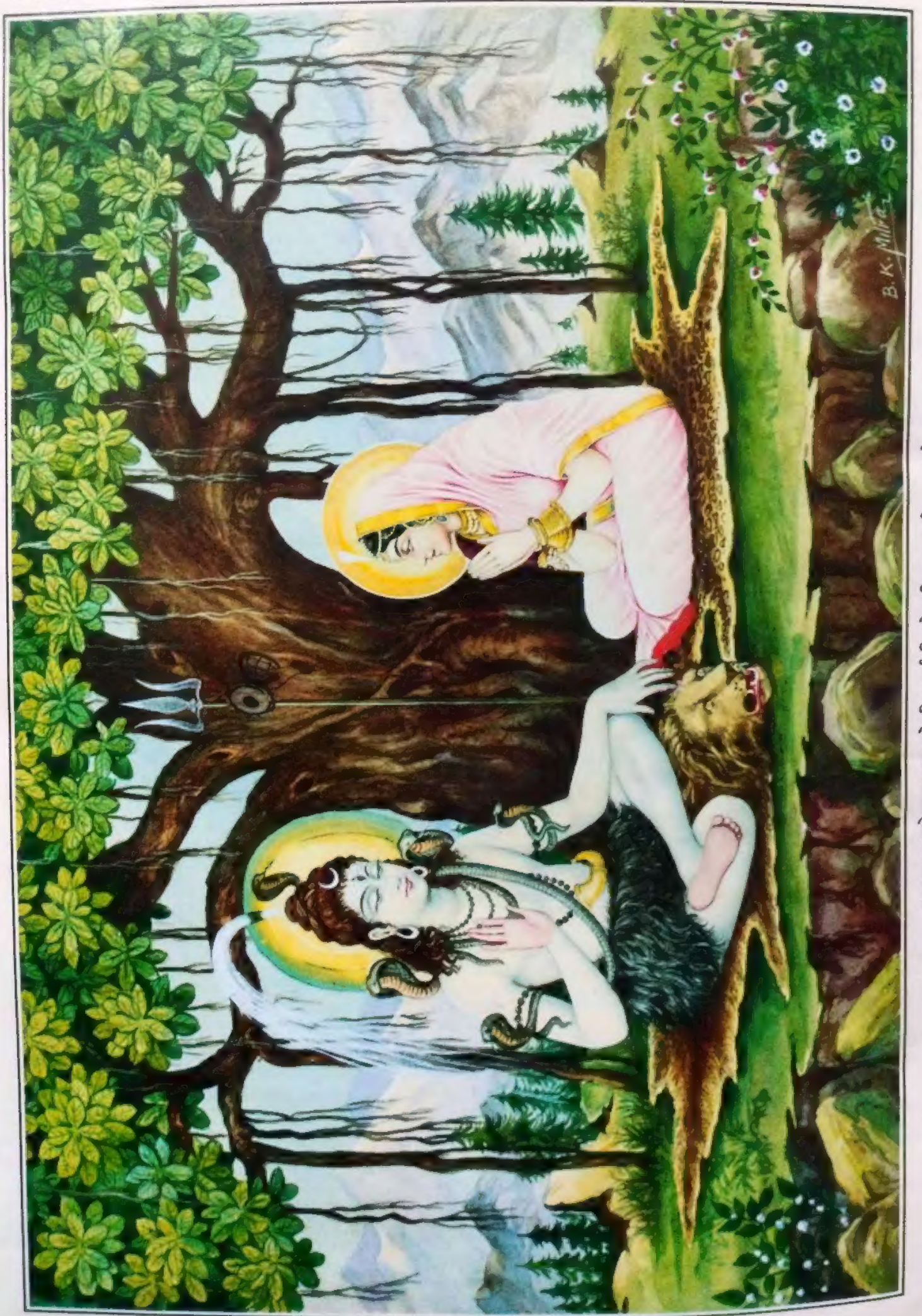
भगवान् महेश्वरद्वारा देवी पार्वतीको जीवनचर्याका उपदेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण
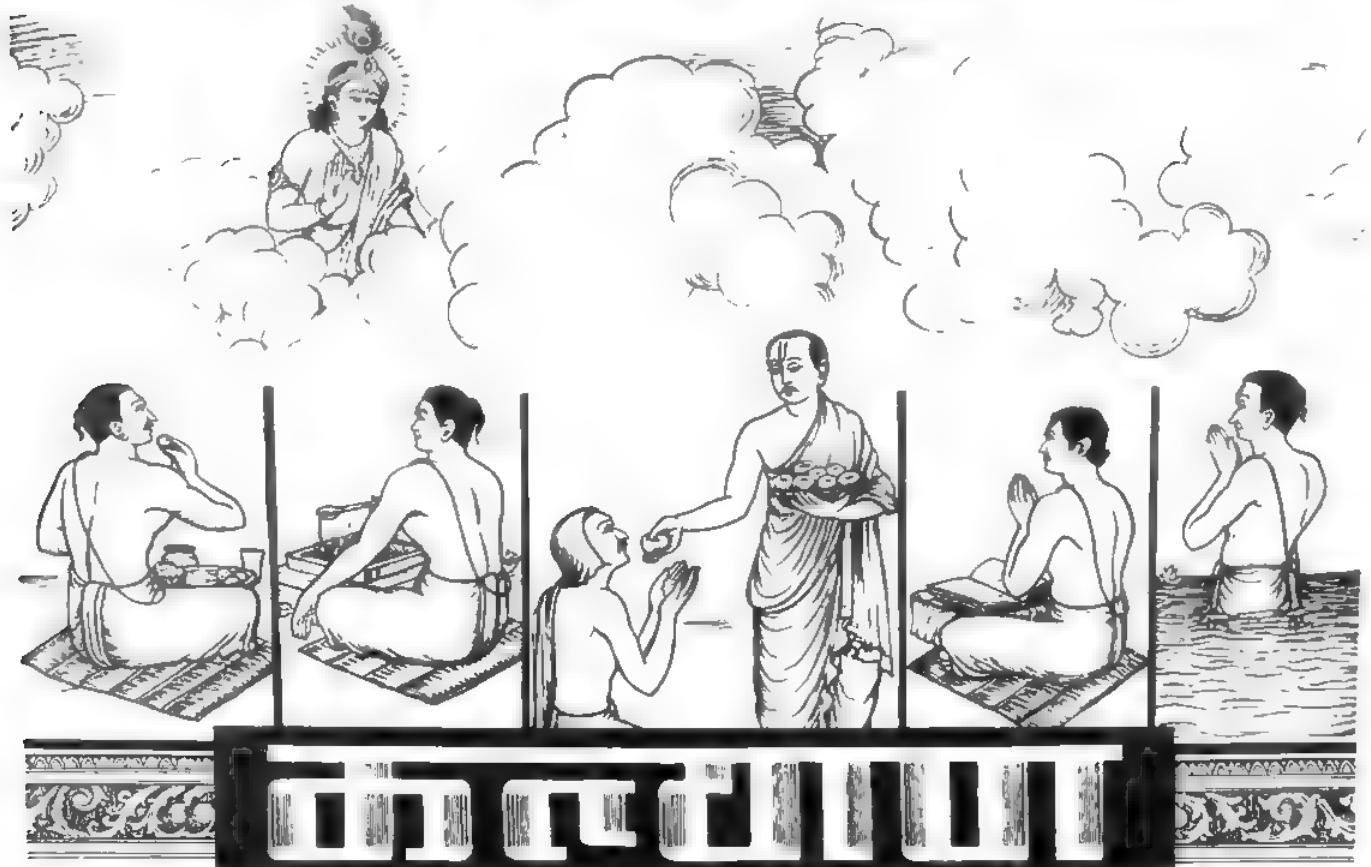
आचारवन्तो मनुजा लभन्ते आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम्।
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोकमत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च॥

गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०६६, श्रीकृष्ण-सं० ५२३५, जनवरी २०१० ई०

पूर्ण संख्या ९९८

गृहस्थोचित शिष्टाचार

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्। शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः॥
शुश्रूषन्ते ये पितरं मातरं च गृहाश्रमे॥
भर्तारं चैव या नारी अग्निहोत्रं च ये द्विजाः। तेषु तेषु च प्रीणन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः॥
पितरः पितृलोकस्थाः स्वधर्मेण स रज्यते।
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः॥

[**भगवान् महेश्वर पार्वतीजीसे बोले—देवि!**] किसी भी जीवकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियोंपर दया करना, मन और इन्द्रियोंपर काबू रखना तथा अपनी शक्तिके अनुसार दान देना गृहस्थ-आश्रमका उत्तम धर्म है। जो लोग गृहस्थाश्रममें रहकर माता-पिताकी सेवा करते हैं, जो नारी पतिकी सेवा करती है तथा जो ब्राह्मण नित्य अग्निहोत्र-कर्म करते हैं, उन सबपर इन्द्र आदि देवता, पितृलोकनिवासी पितर प्रसन्न होते हैं एवं वह पुरुष अपने धर्मसे आनन्दित होता है। जैसे सभी जीव माताका सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रमका आश्रय लेकर ही जीवन-यापन करते हैं।

[महा०, अनु०, अ० १४१]

'कल्याण' के सम्मान्य सदस्यों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण' के ८४वें वर्ष—सन् २०१० का यह विशेषाङ्क *'जीवनचर्या-अङ्क'* आपलोगोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४८० पृष्ठोंमें पाठ्य-सामग्री और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरंगे एवं रेखाचित्र भी दिये गये हैं। डाकसे सभी ग्राहकोंको विशेषाङ्क-प्रेषणमें लगभग एक माहका समय लग जाता है।

२-वार्षिक सदस्यता-शुल्क प्रेषित करनेपर भी किसी कारणवश यदि विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा आपके पास पहुँच गया हो तो उसे डाकघरसे प्राप्त कर लेना चाहिये एवं प्रेषित की गयी राशिका पूरा विवरण (मनीऑर्डर पावतीसहित) यहाँ भेज देना चाहिये जिससे जाँचकर आपके सुविधानुसार राशिकी उचित व्यवस्था की जा सके। सम्भव हो तो उक्त वी०पी०पी० से किसी अन्य सज्जनको ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ नये सदस्यके पूरे पतेसहित देनी चाहिये। ऐसा करके आप 'कल्याण' को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ-साथ 'कल्याण' के पावन प्रचारमें सहयोगी भी हो सकेंगे।

३-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी सदस्य-संख्या एवं पता छपा है, उसे कृपया जाँच लें तथा अपनी सदस्य-संख्या सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री अथवा वी०पी०पी० का नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारमें सदस्य-संख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक है; क्योंकि इसके बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्यवाही नहीं कर पाते हैं। डाकद्वारा अङ्कोंके सुरक्षित वितरणमें सही पता एवं पिन-कोड आवश्यक है। अत: अपने लिफाफेपर छपा अपना पता जाँच लेना चाहिये।

४-*'कल्याण'* एवं *'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'* की व्यवस्था अलग-अलग है। अत: पत्र तथा मनीऑर्डर आदि सम्बन्धित विभागको अलग-अलग भेजना चाहिये।

'कल्याण' के उपलब्ध पुराने विशेषाङ्क

वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)	वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)	वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)
९	शक्ति-अङ्क	१२०	३५	सं० योगवासिष्ठ	१००	५९	श्रीमत्स्यमहापुराण-सानुवाद	१६५
१०	योगाङ्क	१००	३६	सं० शिवपुराण (बड़ा टाइप)	१३०	६६	सं० भविष्यपुराण	११०
१२	संत-अङ्क	१५०	३७	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	१३०	६७	शिवोपासनाङ्क	८५
१५	साधनाङ्क	१२०	३९	भगवन्नाम-महिमा और		६९	गो-सेवा-अङ्क	७५
१९	सं० पद्मपुराण	१५०		प्रार्थना-अङ्क	९०	७१	कूर्मपुराण-सानुवाद	८०
२१	सं० मार्कण्डेयपुराण	६०	४२	परलोक-पुनर्जन्माङ्क	१२०	७२	भगवल्लीला-अङ्क	६५
२१	सं० ब्रह्मपुराण	८०	४४-४५	गर्गसंहिता [भगवान्		७३	वेदकथाङ्क	८०
२२	नारी-अङ्क	१४०		श्रीराधाकृष्णकी दिव्य		७४	सं० गरुडपुराण	१००
२३	उपनिषद्-अङ्क	१२५		लीलाओंका वर्णन]	१००	७५	आरोग्य-अङ्क (संवर्धित सं०)	१३०
२५	सं० स्कन्दपुराण	२००	४४-४५	अग्निपुराण (मूल संस्कृतका		७७	भगवत्प्रेम-अङ्क	
२६	भक्त-चरिताङ्क	१४०		हिन्दी अनुवाद)	१३०		(११ मासिक अङ्क उपहारस्वरूप)	१००
२८	सं० नारदपुराण	१२०	४५	नरसिंहपुराण-सानुवाद	६०	७९	देवीपुराण [महाभागवत]	
२९	संतवाणी-अङ्क	११०	४८	श्रीगणेश-अङ्क	९०		(सानुवाद) -शक्तिपीठाङ्क	८०
३०	सत्कथा-अङ्क	१२०	४९	श्रीहनुमान-अङ्क	९०	८१	अवतार-कथाङ्क	९०
३१	तीर्थाङ्क	१२०	५१	सं० श्रीवराहपुराण	७५	८२	श्रीमद्देवीभागवताङ्क (पूर्वार्द्ध)	१००
३४	सं० देवीभागवत		५३	सूर्याङ्क	७०	८३	श्रीमद्देवीभागवताङ्क	
	(मोटा टाइप)	१५०	५६	वामनपुराण-सानुवाद	८५		(उत्तरार्द्ध)	१००

सभी अङ्कोंपर डाक-व्यय अतिरिक्त देय होगा। गीताप्रेस-पुस्तक-बिक्री-विभागसे प्राप्य हैं।

व्यवस्थापक— 'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, जनपद—गोरखपुर, (उ०प्र०)

श्रीहरिः

'जीवनचर्याङ्क' की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

जीवनचर्या-मीमांसा—

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

(रंगीन चित्र)

(सादे चित्र)

मङ्गलाशंसा

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः॥

ज्योति ही जिसका मुख है, वह अग्नि हमारे लिये कल्याणकारक हो; मित्र, वरुण और अश्विनीकुमार हमारे लिये कल्याणप्रद हों; पुण्यशाली व्यक्तियोंके कर्म हमारे लिये सुख प्रदान करनेवाले हों तथा वायु भी हमें शान्ति प्रदान करनेके लिये बहे।

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥

द्युलोक और पृथ्वी हमारे लिये सुखकारक हों, अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिके लिये कल्याणप्रद हों, ओषधियाँ एवं वृक्ष हमारे लिये कल्याणकारक हों तथा लोकपति इन्द्र भी हमें शान्ति प्रदान करें।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥

विस्तृत तेजसे युक्त सूर्य हम सबका कल्याण करता हुआ उदित हो। चारों दिशाएँ हमारा कल्याण करनेवाली हों। अटल पर्वत हम सबके लिये कल्याणकारक हों। नदियाँ हमारा हित करनेवाली हों और उनका जल भी हमारे लिये कल्याणप्रद हो।

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः॥

अदिति हमारे लिये कल्याणप्रद हों, मरुद्‌गण हमारा कल्याण करनेवाले हों। विष्णु और पुष्टिदायक देव हमारा कल्याण करें तथा जल एवं वायु भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हों।

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥

रक्षा करनेवाले सविता हमारा कल्याण करें, सुशोभित होती हुई उषादेवी हमें सुख प्रदान करें, वृष्टि करनेवाले पर्जन्यदेव हमारी प्रजाओंके लिये कल्याणकारक हों और क्षेत्रपति शम्भु भी हम सबको शान्ति प्रदान करें।

शं नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।

सभी देवता हमारा कल्याण करनेवाले हों, बुद्धि प्रदान करनेवाली देवी सरस्वती भी हम सबका कल्याण करें। [**ऋग्वेद**]

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

देवताओंद्वारा प्रतिष्ठित, जगत्‌के नेत्रस्वरूप तथा दिव्य तेजोमय जो भगवान् आदित्य पूर्व दिशामें उदित होते हैं; उनकी कृपासे हम सौ वर्षोंतक देखें अर्थात् सौ वर्षोंतक हमारी नेत्र-ज्योति बनी रहे, सौ वर्षोंतक सुखपूर्वक जीवन-यापन करें, सौ वर्षोंतक सुनें अर्थात् सौ वर्षोंतक श्रवण-शक्तिसे सम्पन्न रहें, सौ वर्षोंतक अस्खलित वाणीसे युक्त रहें, सौ वर्षोंतक दैन्यभावसे रहित रहें अर्थात् किसीके समक्ष दीनता प्रकट न करें। सौ वर्षोंसे ऊपर भी बहुत कालतक हम देखें, जीयें, सुनें, बोलें और अदीन रहें। [**शुक्लयजुर्वेद**]

जीवनचर्याश्रुतिकल्पलता

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥

जिस व्यक्तिने जन्म लिया है, वह जीवनको सुन्दर बनानेके लिये उत्पन्न हुआ है। वह जीवन-संग्राममें लक्ष्य-साधनके हेतु अध्यवसाय करता है। धीर व्यक्ति अपनी मननशक्तिसे कर्मोंको पवित्र करते हैं और विप्रजन दिव्य भावनासे वाणीका उच्चारण करते हैं। (ऋग्वेद ३।८।५)

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

उत्तम ज्ञानके अनुसन्धानकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिके सामने सत्य और असत्य दोनों प्रकारके वचन परस्पर स्पर्धा करते हुए उपस्थित होते हैं। उनमेंसे जो सत्य है, वह अधिक सरल है। शान्तिकी कामना करनेवाला व्यक्ति उसे चुन लेता है और असत्यका परित्याग करता है। (ऋग्वेद ७।१०४।१२)

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

जो मनुष्य सत्य-ज्ञानके उपदेश देनेवाले मित्रका परित्याग कर देता है, उसके वचनोंको कोई नहीं सुनता। वह जो कुछ सुनता है, मिथ्या ही सुनता है। वह सत्कार्यके मार्गको नहीं जानता। (ऋग्वेद १०।७१।६)

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

अन्नकी कामना करनेवाले निर्धन याचकको जो अन्न देता है, वही वास्तवमें भोजन करता है। ऐसे व्यक्तिके पास पर्याप्त अन्न रहता है और समय पड़नेपर बुलानेसे, उसकी सहायताके लिये तत्पर अनेक मित्र उपस्थित हो जाते हैं। (ऋग्वेद १०।११७।३)

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।

मनुष्य अपने सम्मुख जीवनका दीर्घ पथ देखे और याचना करनेवालेको दान देकर सुखी करे। (ऋग्वेद १०।११७।५)

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्तियुक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो। (अथर्ववेद ३।३०।२)

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन बहिनके साथ ईर्ष्या न रखे। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें। (अथर्ववेद ३।३०।३)

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

मेरी दृष्टिको दृढ कीजिये; सभी प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें; मैं भी सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ; हम परस्पर एक-दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें। (यजुर्वेद ३६।१८)

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड़-चेतनस्वरूप जगत् है—यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है, उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो, (इसमें) आसक्त मत होओ (क्योंकि) धन—भोग्य-पदार्थ किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है। (ईशावास्य० १)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

शास्त्रनियत कर्मोंको (ईश्वरपूजार्थ) करते हुए ही इस जगत्में सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये, इस प्रकार (त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये) किये जानेवाले

कर्म तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे, इससे (भिन्न) अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके)। (ईशावास्य० २)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको परमात्मामें ही निरन्तर देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको (देखता है), उसके पश्चात् (वह कभी भी) किसीसे घृणा नहीं करता। (ईशावास्य० ६)

आशाप्रतीक्षे संगतः सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूःश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

जिसके घरमें ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये निवास करता है, उस मन्दबुद्धि मनुष्यकी नाना प्रकारकी आशा और प्रतीक्षा उनकी पूर्तिसे होनेवाले सब प्रकारके सुख, सुन्दर भाषणके फल एवं यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मोंके और कुआँ, बगीचा, तालाब आदि निर्माण करानेके फल तथा समस्त पुत्र और पशु—इन सबको (वह) नष्ट कर देता है। (कठोपनिषद् १।१।८)

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्यके सामने आते हैं, बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनोंके स्वरूपपर भली-भाँति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है और वह बुद्धिश्रेष्ठ मनुष्य परम कल्याणके साधनको ही भोग-साधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है, (परंतु) मन्दबुद्धिवाला मनुष्य लौकिक योगक्षेमकी इच्छासे, भोगोंके साधनरूप प्रेयको अपनाता है। (कठोपनिषद् १।२।२)

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न
चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

यदि इस मनुष्यशरीरमें (परब्रह्मको) जान लिया तब तो बहुत कुशल है, यदि इस शरीरके रहते-रहते (उसे) नहीं जान पाया (तो) महान् विनाश है, (यही सोचकर) बुद्धिमान् पुरुष प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें) (परब्रह्म पुरुषोत्तमको) समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमर (परमेश्वरको प्राप्त) हो जाते हैं। (केनोपनिषद् २।५)

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

जो (कोई) मनुष्य विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न (और) मनरूप लगामको वशमें रखनेवाला है, वह संसारमार्गके पार पहुँचकर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्के उस सुप्रसिद्ध परमपदको प्राप्त हो जाता है। (कठोपनिषद् १।३।९)

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(हे मनुष्यो!) उठो, जागो (सावधान हो जाओ और) श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर (उनके द्वारा) उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लो (क्योंकि) त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन उस तत्त्वज्ञानके मार्गको छूरेकी तीक्ष्ण एवं दुस्तर धारके सदृश दुर्गम (अत्यन्त कठिन) बतलाते हैं। (कठोपनिषद् १।३।१४)

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

सत्य ही विजयी होता है, झूठ नहीं; क्योंकि वह देवयान नामक मार्ग सत्यसे परिपूर्ण है, जिससे पूर्णकाम ऋषिलोग (वहाँ) गमन करते हैं, जहाँ वह सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माका उत्कृष्ट धाम है। (मुण्डकोपनिषद् ३।१।६)

प्रातःस्मरणीय श्लोक

गणेशस्मरण—

प्रातः स्मरामि गणनाथमनाथबन्धुं
सिन्दूरपूरपरिशोभितगण्डयुग्मम्।
उद्दण्डविघ्नपरिखण्डनचण्डदण्ड-
माखण्डलादिसुरनायकवृन्दवन्द्यम्॥

अनाथोंके बन्धु, सिन्दूरसे शोभायमान दोनों गण्डस्थल-वाले, प्रबल विघ्नका नाश करनेमें समर्थ एवं इन्द्रादि देवोंसे नमस्कृत श्रीगणेशजीका मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ।

विष्णुस्मरण—

प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्तिनाशं
नारायणं गरुडवाहनमब्जनाभम्।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं
चक्रायुधं तरुणवारिजपत्रनेत्रम्॥

संसारके भयरूपी महान् दुःखको नष्ट करनेवाले, ग्राहसे गजराजको मुक्त करनेवाले, चक्रधारी एवं नवीन कमलदलके समान नेत्रवाले, पद्मनाभ गरुडवाहन भगवान् श्रीनारायणका मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ।

शिवस्मरण—

प्रातः स्मरामि भवभीतिहरं सुरेशं
गङ्गाधरं वृषभवाहनमम्बिकेशम्।
खट्वाङ्गशूलवरदाभयहस्तमीशं
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥

संसारके भयको नष्ट करनेवाले, देवेश, गंगाधर, वृषभवाहन, पार्वतीपति, हाथमें खट्वांग एवं त्रिशूल लिये और संसाररूपी रोगका नाश करनेके लिये अद्वितीय औषध-स्वरूप, अभय एवं वरद मुद्रायुक्त हस्तवाले भगवान् शिवका मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ।

देवीस्मरण—

प्रातः स्मरामि शरदिन्दुकरोज्ज्वलाभां
सद्रत्नवन्मकरकुण्डलहारभूषाम् ।
दिव्यायुधोर्जितसुनीलसहस्रहस्तां
रक्तोत्पलाभचरणां भवतीं परेशाम्॥

शरत्कालीन चन्द्रमाके समान उज्ज्वल आभावाली, उत्तम रत्नोंसे जटित मकरकुण्डलों तथा हारोंसे सुशोभित, दिव्यायुधोंसे दीप्त सुन्दर नीले हजारों हाथोंवाली, लाल कमलकी आभायुक्त चरणोंवाली भगवती दुर्गादेवीका मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ।

सूर्यस्मरण—

प्रातः स्मरामि खलु तत्सवितुर्वरेण्यं
रूपं हि मण्डलमृचोऽथ तनुर्यजूंषि।
सामानि यस्य किरणाः प्रभवादिहेतुं
ब्रह्माहरात्मकमलक्ष्यमचिन्त्यरूपम् ॥

सूर्यका वह प्रशस्त रूप जिसका मण्डल ऋग्वेद, कलेवर यजुर्वेद तथा किरणें सामवेद हैं। जो सृष्टि आदिके कारण हैं, ब्रह्मा और शिवके स्वरूप हैं तथा जिनका रूप अचिन्त्य और अलक्ष्य है, प्रातःकाल मैं उनका स्मरण करता हूँ।

त्रिदेवोंके साथ नवग्रहस्मरण—

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥

(मार्क०स्मृ०)

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये सभी मेरे प्रातःकालको मंगलमय करें।

ऋषिस्मरण—

भृगुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च
मनुः पुलस्त्यः पुलहश्च गौतमः।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनश्च दक्षः
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥

(वामनपु० १४। ३३)

भृगु, वसिष्ठ, क्रतु, अंगिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन और दक्ष—ये समस्त मुनिगण मेरे प्रातःकालको मंगलमय करें।

सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः
सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च।
सप्त स्वराः सप्त रसातलानि
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥
सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च
सप्तर्षयो द्वीपवनानि सप्त।

भूरादिकृत्वा भुवनानि सप्त
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥

(वामनपु० १४। २४, २७)

सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि और पिंगल—ये ऋषिगण; षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद—ये सप्त स्वर; अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल—ये सात अधोलोक सभी मेरे प्रात:कालको मंगलमय करें। सातों समुद्र, सातों कुलपर्वत, सप्तर्षिगण, सातों वन तथा सातों द्वीप, भूर्लोक, भुवर्लोक आदि सातों लोक सभी मेरे प्रात:कालको मंगलमय करें।

प्रकृतिस्मरण—

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः
स्पर्शी च वायुर्ज्वलितं च तेजः।
नभः सशब्दं महता सहैव
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥

(वामनपु० १४। २६)

गन्धयुक्त पृथ्वी, रसयुक्त जल, स्पर्शयुक्त वायु, प्रज्वलित तेज, शब्दसहित आकाश एवं महत्तत्त्व—ये सभी मेरे प्रात:कालको मंगलमय करें।

इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं
पठेत् स्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या।
दुःस्वप्ननाशस्त्विह सुप्रभातं
भवेच्च नित्यं भगवत्प्रसादात्॥

(वामनपु० १४। २८)

इस प्रकार उपर्युक्त इन प्रात:स्मरणीय परम पवित्र श्लोकोंका जो मनुष्य भक्तिपूर्वक प्रात:काल पाठ करता है, स्मरण करता है अथवा सुनता है, भगवद्दयासे उसके दु:स्वप्नका नाश हो जाता है और उसका प्रभात मंगलमय होता है।

पुण्यश्लोकोंका स्मरण

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको जनार्दनः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः॥
अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

(पद्मपु० ५१। ६-७)

राजा नल पुण्यकीर्तिवाले हैं, भगवान् जनार्दन पुण्यकीर्तिवाले हैं, माता सीता पुण्यकीर्तिशालिनी हैं और धर्मराज युधिष्ठिर पुण्यकीर्तिवाले हैं। अश्वत्थामा, बलि, वेदव्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम—ये सात चिरजीवी हैं।

सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।
जीवेद् वर्षशतं साग्रमपमृत्युविवर्जितः॥

(आचारेन्दु)

इन सातों तथा आठवें जो मार्कण्डेयजी हैं, उनका नित्य स्मरण करना चाहिये। जो ऐसा करता है, उसकी अकालमृत्यु नहीं होती और वह सौ वर्षसे भी अधिक जीता है।

उमा उषा च वैदेही रमा गङ्गेति पञ्चकम्।
प्रातरेव पठेन्नित्यं सौभाग्यं वर्धते सदा॥
सोमनाथो वैद्यनाथो धन्वन्तरिरथाश्विनौ।
पञ्चैतान् यः स्मरेन्नित्यं व्याधिस्तस्य न जायते॥

उमा, उषा, सीता, लक्ष्मी तथा गंगा—इन पाँच नामोंका नित्य प्रात:काल पाठ करना चाहिये, इससे सौभाग्यकी सदा वृद्धि होती है। सोमनाथ, वैद्यनाथ, धन्वन्तरि तथा दोनों अश्विनीकुमारों—इन पाँचोंका जो नित्य स्मरण करता है, उसे कोई रोग नहीं होता।

कपिला कालियोऽनन्तो वासुकिस्तक्षकस्तथा।
पञ्चैतान् स्मरतो नित्यं विषबाधा न जायते॥
हरं हरिं हरिश्चन्द्रं हनूमन्तं हलायुधम्।
पञ्चकं वै स्मरेन्नित्यं घोरसङ्कटनाशनम्॥

कपिला गौ, कालिय, अनन्त, वासुकि तथा तक्षक नाग—इन पाँचोंका नित्य नाम-स्मरण करनेसे विषकी बाधा नहीं होती। भगवान् शिव, भगवान् विष्णु, हरिश्चन्द्र, हनुमान् तथा बलराम—इन पाँचोंका नित्य स्मरण करना चाहिये, यह (स्मरण) घोर संकटका नाश करनेवाला है।

आदित्यश्च उपेन्द्रश्च चक्रपाणिर्महेश्वरः।
दण्डपाणिः प्रतापी स्यात् क्षुत्तृड्बाधा न बाधते॥
वसुर्वरुणसोमौ च सरस्वती च सागरः।
पञ्चैतान् संस्मरेद् यस्तु तृषा तस्य न बाधते॥

आदित्य, उपेन्द्र, चक्रपाणि विष्णु, महेश्वर तथा प्रतापी दण्डपाणिका स्मरण करनेसे भूख और प्यासकी

पीड़ा नहीं सताती। अष्ट वसु, वरुण, सोम, सरस्वती तथा सागर—इन पाँचोंका जो स्मरण करता है, उसे प्यासकी पीड़ा नहीं होती।

सनत्कुमारदेवर्षिशुकभीष्मप्लवङ्गमाः ।
पञ्चैतान् स्मरतो नित्यं कामस्तस्य न बाधते॥
रामलक्ष्मणौ सीता च सुग्रीवो हनुमान् कपिः।
पञ्चैतान् स्मरतो नित्यं महाबाधा प्रमुच्यते॥
विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिं च भैरवम्।
वन्दे काशीं गुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम्॥

सनत्कुमार, देवर्षि नारद, शुकदेव, भीष्म तथा हनुमान्‌जी—इन पाँचोंका नित्य स्मरण करनेवालेको काम नहीं सताता। राम, लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव तथा वानर हनुमान्‌जी—इन पाँचोंका नित्य स्मरण करनेवाला महाबाधासे मुक्त हो जाता है। विश्वेश्वर, बिन्दुमाधव, ढुण्ढिराज, दण्डपाणि, कालभैरव, काशी, गुहा, गंगा, भवानी अन्नपूर्णा तथा मणिकर्णिकाको मैं नमस्कार करता हूँ।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥
हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

मनुष्य इस जगत्‌में हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे। अज्ञानी पुरुषको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किंतु विद्वान् पुरुषके मनपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्मसे मोक्ष तो सिद्ध होता ही है; अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते। कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य, इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है उसके बन्धनका हेतु अनित्य। यह महाभारतका सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नामसे प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारममलेश्वरम्॥
परल्यां वैद्यनाथं च डाकिन्यां भीमशङ्करम्।
सेतुबन्धे तु रामेशं नागेशं दारुकावने॥
वाराणस्यां तु विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे।
हिमालये तु केदारं घुश्मेशं च शिवालये॥
एतानि ज्योतिर्लिङ्गानि सायं प्रातः पठेन्नरः।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति॥

(१) सौराष्ट्रप्रदेश (काठियावाड़)-में श्रीसोमनाथ, (२) श्रीशैलपर श्रीमल्लिकार्जुन, (३) उज्जयिनी (उज्जैन)-में श्रीमहाकाल, (४) ॐकारेश्वर अथवा अमलेश्वर, (५) परलीमें वैद्यनाथ, (६) डाकिनी नामक स्थानमें श्रीभीमशंकर, (७) सेतुबन्धपर श्रीरामेश्वर, (८) दारुकावनमें श्रीनागेश्वर, (९) वाराणसी (काशी)-में श्रीविश्वनाथ, (१०) गौतमी (गोदावरी)-के तटपर श्रीत्र्यम्बकेश्वर, (११) हिमालयपर केदारखण्डमें श्रीकेदारनाथ और (१२) शिवालयमें श्रीघुश्मेश्वरको स्मरण करे। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्याके समय इन बारह ज्योतिर्लिंगोंका नाम लेता है, उसके सात जन्मोंका किया हुआ पाप इन लिंगोंके स्मरणमात्रसे मिट जाता है।

हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम्॥

रसोंके सारतत्त्वको जाननेवाली हे जिह्वे! तुम सदा मधुररसमें प्रीति रखनेवाली हो। हे जिह्वे! तुम नारायणनामामृतका निरन्तर पान करो।

सफलताके सोपान

[आदर्श जीवनचर्याका स्वरूप]

मनुष्य-जन्म लेकर प्राणीको अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है, कारण इस भवाटवीमें अनेक जन्मोंतक भटकनेके बाद अन्तमें यह मानवजीवन प्राप्त होता है। यहाँ प्राणी चाहे तो सदा-सर्वदाके लिये अपना कल्याण कर सकता है अथवा भगवत्प्राप्ति कर सकता है अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे भी मुक्त हो सकता है, परंतु इसके लिये अपने सनातन शास्त्रोंद्वारा निर्दिष्ट जीवनप्रक्रियाका अनुपालन करना पड़ेगा।

हमारे शास्त्र परमात्मप्रभुकी आज्ञा हैं तथा प्राणिमात्रके कल्याणके विधान हैं, भगवान् कहते हैं कि जो मेरी आज्ञाका उल्लंघन करता है, वह मेरा द्वेषी तथा वैष्णव होनेपर भी मेरा प्रिय नहीं है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान्‌की वाणी है, इसमें मुख्यरूपसे मनुष्यको कर्तव्यपालन करनेकी शिक्षा प्रदान की गयी है। गीतामें अर्जुनकी इस जिज्ञासापर कि कर्तव्य क्या है, इसका निर्णय कैसे किया जाय? भगवान्‌ने कहा—कर्तव्य (क्या करना चाहिये) और अकर्तव्य (क्या नहीं करना चाहिये)-की व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण हैं। यह समझकर हमें शास्त्रविधिसे ही अपना कर्म करना चाहिये—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि जो पुरुष शास्त्रविधिका त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न उसे सुख मिलता है और न उसे परम गति ही प्राप्त होती है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

शास्त्रकी परम्परामें जीवनके सभी क्रियाकलापोंके लिये विधि-निषेधका एक विधान बना हुआ है। जो इस विधानके अन्तर्गत अपने क्रियाकलापोंका सम्पादन करता है, वह वस्तुतः भगवान्‌की आज्ञाका पालन करता है, उसके वे सभी क्षण, जो अनिवार्यरूपसे दैनिक चर्या आदि कार्यकलापोंके सम्पादनमें लगते हैं, वे क्षण भी उसके पुण्यार्जनमें सहायक होते हैं। यदि भावना शुद्ध हो तो सभी कार्यकलाप भगवदाराधनके रूपमें परिणत हो जाते हैं।

यदि अपने २४ घण्टेके समयमें २ घण्टेका समय भगवान्‌की पूजा तथा परमार्थके शुभ कार्योंमें लगाया तो शुभकार्यका पुण्य हमें अवश्य प्राप्त होगा, परंतु साथ ही यह प्रश्न उठता है कि बचे हुए २२ घण्टेका समय हमने किस रूपमें बिताया। यदि यह समय अशास्त्रीय निषिद्ध भोगविलासमें तथा उन भोग्यपदार्थोंके साधन-संचयमें असत्य और बेईमानीका आश्रय लेकर लगाया तो उसका पाप भी अवश्य भोगना पड़ेगा। इस प्रकार पुण्य कम और पाप बहुत अधिक होनेके कारण ही जीव पशु-पक्षी, तिर्यक् आदि चौरासी लाख योनियोंमें भटकने लगता है, इसलिये भगवत्कृपासे मनुष्ययोनि प्राप्त होनेपर अत्यधिक सावधानीकी आवश्यकता है। जो अपना सर्वविध कल्याण चाहते हैं, उन्हें शास्त्रकी विधिके अनुसार अपनी जीवनचर्या एवं दैनिक चर्या बनानी चाहिये। यह मनुष्यमात्रका धर्म है और उसका कर्तव्य है। परंतु इसका पुण्यलाभ अदृष्ट है अर्थात् प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता। मृत्युके बाद भी शाश्वत रूपमें इसका फल प्राप्त होता रहता है।

आजकल भौतिकविज्ञान एवं आधुनिक वातावरणसे प्रभावित कई लोग किसी भी कार्यको करनेमें दृष्टलाभकी अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाले लाभकी अपेक्षा करते हैं। वास्तवमें संसारमें दीखनेवाली सभी वस्तुएँ और पदार्थ अनित्य और असत्य हैं अर्थात् ये समाप्त होनेवाले हैं। इसलिये इन्हें अनात्म पदार्थ कहा जाता है, जबतक जीवन है तभीतक इनका उपयोग है, बादमें सब यहाँ ही छूट जानेवाले हैं। इनका कोई स्थायी अस्तित्व नहीं है। परमात्मप्रभु ही सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, जो प्रायः इन भौतिक आँखोंसे नहीं दीखते, अतः परमात्मप्रभुकी प्राप्ति ही मनुष्यका शाश्वत कल्याण है।

इस दृष्टिसे धार्मिक कार्यक्रमोंका मुख्य फल अदृष्ट ही है, जो प्रायः दीखता नहीं अर्थात् दूसरे जन्मोंमें भी प्राप्त

होता है, परंतु साथ ही गौणफल दृष्ट भी है अर्थात् लौकिक उन्नति जो प्रत्यक्ष दीखती है और अनुभवमें आती है, इसीलिये धर्मकी परिभाषामें कहा गया—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**'

इस वाक्यमें धर्मके दो फल बताये गये हैं—१-लौकिक अभ्युदय—उन्नति, २-अलौकिक निःश्रेयस—कल्याण, जिसका फल दूसरे जन्ममें भी प्राप्त होता है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि कोई व्यक्ति केवल भौतिक लाभको उद्देश्य बनाकर वैज्ञानिक उपयोगिताके आधारपर विधि-निषेधका पालन करता है तो उसे लौकिक लाभ तो प्राप्त होगा, परंतु वह आध्यात्मिक लाभसे वंचित हो जायगा। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति गंगाजल तथा तुलसीदलकी रोगनाशकतारूप उपयोगिताको भौतिक रूपसे जानकर सेवन करता है, उसे केवल रोगनाशरूप लौकिक गौणफलकी ही प्राप्ति होगी। गंगाजल भगवान्‌के चरणकमलका चरणोदक है, स्नान-पानद्वारा पापनाशक, अन्तःकरणशोधक तथा भगवत्प्रसादरूप है—इन श्रद्धापूर्ण भावनाओंसे होनेवाला अलौकिक मुख्य फल उसे नहीं प्राप्त होगा; क्योंकि जबतक लक्ष्य नहीं बनता तथा श्रद्धापूर्ण भावना नहीं होती, तबतक अलौकिक फलकी प्राप्ति नहीं होती। वेद-शास्त्रकी आज्ञा मानकर गंगाजलका स्नान-पान करनेसे उक्त अलौकिक फल तो मुख्यरूपसे प्राप्त होता है, किंतु रोगनाशक लौकिक गौणफल भी प्राप्त हो जाता है। कारण, रोगनाशरूप गुण गंगाजलकी वस्तुशक्तिमें स्वाभाविक रूपसे विद्यमान रहता है। उसमें भावनाकी अपेक्षा नहीं होती।

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले व्यक्तिको भगवान्‌की आज्ञा मानकर प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके निमित्त उद्देश्य बनाकर शास्त्रद्वारा प्रतिपादित विधि-निषेधका पालन करते हुए अपनी जीवनचर्या एवं दैनिक चर्या बनानी चाहिये। इससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस—लौकिक और अलौकिक—दोनों फलोंकी प्राप्ति स्वाभाविक रूपसे होगी।

आधुनिक वातावरणमें लोगोंको कई प्रकारकी आवश्यकताएँ तथा अपेक्षाएँ रहती हैं, वे शास्त्रोक्त विधि-निषेधके पालन करनेमें सशंकित रहते हैं तथा अपने कार्यकलापोंसे भौतिक लाभ प्राप्त करनेकी अपेक्षा करते हैं। अपने ऋषि-महर्षियोंद्वारा प्रणीत जीवनचर्याके सिद्धान्तोंका पालन करनेसे आध्यात्मिक लाभ तो है ही; उसके साथ भौतिक लाभ भी प्राप्त है। अतः यहाँ शास्त्रोक्त दैनिक चर्या एवं जीवनचर्याकी प्रस्तुति वैज्ञानिक रीतिसे मनमें उठनेवाली शंकाओंका समाधान करते हुए की जा रही है—जिसका पालन कर्तव्यबुद्धिसे करनेपर लोक-परलोक दोनों सुधर सकते हैं अर्थात् लोकमें तो व्यक्ति स्वस्थ रहकर सुखी हो सकता है और परलोकमें पुण्यकी प्राप्तिकर अपने कल्याणपथका पथिक बन सकता है।

आचारः परमो धर्मः

आचार-विचार परम धर्म है। सदाचारमें लगे मनुष्यका शरीर स्वस्थ, मन शान्त और बुद्धि निर्मल होती है एवं उसका अन्तःकरण शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण ही वस्तुतः भगवान्‌के चिन्तन और ध्यानके योग्य होता है, उसीमें भगवान्‌का स्थिर आसन लगता है। इसलिये मनुष्यको शास्त्रोक्त आचार जानना चाहिये और उसका पालन करना चाहिये। मनु महाराज कहते हैं—

'श्रुति और स्मृतिमें कथित अपने नित्य कर्मोंके अंगभूत धर्मका मूल—सदाचारका सावधानीपूर्वक सेवन करना चाहिये। आचार-धर्मका पालन करनेसे मनुष्य आयु, इच्छानुरूप सन्तति और अक्षय धनको प्राप्त करता है, इतना ही नहीं; अल्पमृत्यु आदिका भी नाश होता है, जो पुरुष दुराचारी है, उसकी लोकमें निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता रहता है तथा रोगी और अल्पायु (कम उम्रवाला) होता है। विद्या आदि सद्‌गुणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी और श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होता है तो वह भी सौ वर्षोंतक जीता है।'*

यहाँ श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थोंके आधारपर तथा वर्तमान आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर शास्त्रोक्त दिनचर्या तथा जीवनचर्या प्रस्तुत है, जिसका पालन करनेपर स्वास्थ्य आदि भौतिक लाभके साथ-साथ आध्यात्मिक और पारमार्थिक लाभकी प्राप्ति भी हो सकेगी।

---

* श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु। धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ (मनु० ४। १५५—१५८)

दिनचर्या

प्रातःजागरण

पूर्ण स्वस्थ रहनेके लिये कल्याणकामी व्यक्तिको प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें (अर्थात् सूर्योदयसे ३ घंटेसे १½ घण्टे पूर्वतक) शय्याका त्याग करना चाहिये। ब्राह्ममुहूर्त तथा उषःकालकी बड़ी महिमा है, इस समय उठनेवालेका स्वास्थ्य, धन, विद्या, बल और तेज बढ़ता है, जो सूर्योदयके समय सोता है, उसकी उम्र और शक्ति घटती है तथा वह नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार होता है।

आयुर्वेदशास्त्रमें यह बताया गया है कि ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे वर्ण, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, स्वास्थ्य तथा आयुकी प्राप्ति होती है, उसका शरीर कमलकी तरह प्रफुल्लित हो जाता है—

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।
ब्राह्मे मुहूर्ते सञ्जाग्रच्छ्रियं वा पङ्कजं यथा॥

(भै० सार० ९३)

धर्मशास्त्रोंमें भी कहा है कि '**ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत**' अर्थात् सभीको ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जाना चाहिये। इस समय वायु अत्यन्त शीतल तथा मधुर होती है। यह समय ब्रह्मका चिन्तन करनेके लिये सर्वोत्तम है, इसीलिये इसे ब्राह्ममुहूर्त कहा जाता है। वैसे इस समय जो भी कार्य किया जाय, वह बहुत अच्छा होता है। इस समयमें चन्द्रकिरणोंसे अमृतका क्षरण होता है, इसलिये इस कालको अमृतवेला भी कहा जाता है।

करदर्शन

प्रातःकाल उठते ही शयन-शय्यापर सर्वप्रथम करतल (दोनों हाथोंकी हथेलियों)-के दर्शनका विधान है। करतलका दर्शन करते हुए निम्नलिखित श्लोकका पाठ करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

इस श्लोकमें धनकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी, विद्याकी अधिष्ठात्री सरस्वती तथा कर्मके अधिष्ठाता ब्रह्माकी स्तुति की गयी है। इस मन्त्रका आशय है कि मेरे कर (हाथ)-के अग्रभागमें भगवती लक्ष्मीका निवास है, कर (हाथ)-के मध्यभागमें सरस्वती तथा कर (हाथ)-के मूलभागमें ब्रह्मा निवास करते हैं। प्रभातकालमें मैं हथेलियोंमें इनका दर्शन करता हूँ। इससे धन तथा विद्याकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्तव्यकर्म करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। भगवान् वेदव्यासने करोपलब्धिको मानवका परम लाभ माना है। भगवान्ने हमें विवेकशक्ति इसलिये प्रदान की है कि हम अपने हाथोंसे सदा सत्कर्म करते रहें। करावलोकनके विधानका आशय यह भी है कि प्रातःकाल उठते ही दृष्टि कहीं और न जाकर अपने करतलमें ही देवदर्शन करे, जिससे वृत्तियाँ भगवच्चिन्तनकी ओर प्रवृत्त हों, बुद्धि सात्त्विक बनी रहे तथा पूरा दिन शुभ कार्योंमें बीते।

भूमिवन्दना

इस प्रकार करदर्शनके अनन्तर व्यक्तिको चाहिये कि वह पृथ्वीमाताकी वन्दना करे। पृथ्वी सबकी माता हैं, धरित्री हैं, उन्होंने सबको धारण कर रखा है, वे सभीके लिये पूज्य हैं, वन्द्य हैं तथा आराधनाके योग्य हैं। भगवान् विष्णुकी दो पत्नियाँ हैं—१-महादेवी लक्ष्मी (श्रीदेवी) तथा दूसरी हैं भूदेवी (पृथ्वी)। निद्रा-परित्यागके अनन्तर चूँकि हमें अपने शयनके आसनसे भूमिपर उतरना है तो पाँव रखना पड़ेगा और अपनी माताके ऊपर कौन ऐसा है, जो पाँव रखेगा? परंतु पाँव रखे बिना भी आगेके कर्म सम्पादित होने असम्भव हैं। अतः इसी विवशताके कारण पृथ्वीमाताकी सर्वप्रथम वन्दना की जाती है और निम्नलिखित प्रार्थनाके द्वारा उनसे क्षमा माँगी जाती है, भूमिपर पाँव रखनेसे पूर्व निम्न श्लोक पढ़ना चाहिये—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

इसका भाव यह है कि हे पृथ्वीदेवि! आप समुद्ररूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाली हैं, पर्वतरूपी स्तनोंसे सुशोभित हैं तथा भगवान् विष्णुकी आप पत्नी हैं, आपको नमस्कार है, मेरे द्वारा होनेवाले पादस्पर्शके लिये आप मुझे क्षमा करें।

मंगल-दर्शन एवं गुरुजनोंका अभिवादन

प्रातः-जागरणके बाद यथासम्भव सर्वप्रथम मांगलिक वस्तुएँ (गौ, तुलसी, पीपल, गंगा, देवविग्रह आदि) जो भी उपलब्ध हों, उनका दर्शन करना चाहिये तथा घरमें माता-पिता एवं गुरुजनों, अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये। अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करनेका बड़ा लाभ है। अभिवादन

(प्रणाम) करनेवाले तथा नित्य वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेवाले पुरुषकी आयु, विद्या, कीर्ति और शक्ति (बल)—इन चारोंकी वृद्धि होती है।[१] अपने दोनों हाथोंको एक-दूसरेपर रखते हुए दाहिने हाथसे दाहिने पैरका तथा बायें हाथसे बायें पैरका स्पर्श करता हुआ अभिवादन करे। विज्ञानकी दृष्टिसे मनुष्यके शरीरमें रहनेवाली विद्युत्-शक्ति पृथ्वीके आकर्षणद्वारा आकृष्ट होकर पैरोंसे निकलती रहती है। दाहिने हाथसे दाहिने पैर और बायें हाथसे बायें पैरका स्पर्श करनेपर वृद्ध पुरुषके शरीरकी विद्युत्-शक्तिका प्रवेश प्रणाम करनेवाले पुरुषके शरीरमें सुगमतासे हो जाता है। इस विद्युत्-शक्तिके साथ वृद्ध पुरुषके ज्ञानादि सद्गुणोंका भी प्रवेश हो जाता है। विद्युत्-शक्ति मुख्यरूपसे पैरोंद्वारा निकलती है, इसलिये पैर ही छुए जाते हैं, सिर आदि नहीं। वृद्ध पुरुषोंको नित्य प्रणाम करनेसे वे प्रसन्न होकर अपने दीर्घकालीन जीवनमें सम्पादन किये हुए ज्ञानका दान प्रणाम करनेवालेको देते हैं। इस प्रकार ज्ञान-दानद्वारा प्रत्यक्षरूपमें और विद्युत्-शक्ति-प्रवेशद्वारा अप्रत्यक्षरूपमें उनके गुणोंकी प्राप्ति प्रणाम करनेवाले व्यक्तिको प्राप्त हो जाती है।

देवताओं तथा महापुरुषोंका स्मरण

प्रातःकाल उठनेके बाद शौचादि कृत्यसे निवृत्त होकर अथवा इसके पूर्व हाथ, मुँह धोकर कपड़े बदलकर अपने इष्टदेवका, देवताओंका तथा महापुरुषोंका स्मरण तथा उनकी प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रातःस्मरणीय श्लोक

प्रातःस्मरणीय श्लोकोंका प्रातःकाल पाठ करनेसे बहुत कल्याण होता है, जैसे—१-दिन अच्छा बीतता है, २-दुःस्वप्न, कलिदोष, शत्रु, पाप और भवके भयका नाश होता है, ३-विषका भय नहीं होता, ४-धर्मकी वृद्धि होती है, अज्ञानीको ज्ञान प्राप्त होता है, ५-रोग नहीं होता, ६-पूरी आयु मिलती है, ७-विजय प्राप्त होती है, ८-निर्धन धनी होता है, ९-भूख-प्यास और कामकी बाधा नहीं होती तथा १०-सभी बाधाओंसे छुटकारा मिलता है इत्यादि।

इसके साथ ही स्वयंमें दैवी गुणोंका आधान तथा महापुरुषोंके गुणोंको जीवनमें धारण करनेकी प्रेरणा मिलती है। इसी मनोविज्ञानके आधारपर प्रातःकाल उनके स्मरणका विधान किया गया है। प्रातःस्मरणके कुछ श्लोक मंगलाचरणके साथ प्रारम्भमें दिये गये हैं, जिन्हें देखना चाहिये।

कर्मोंद्वारा भगवदाराधना

भगवद्गीतामें भगवान्‌ने यह आदेश दिया है कि '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**' अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा सम्पन्न होनेपर लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। इसकी प्रक्रियाके रूपमें भगवान्‌ने अर्जुनको यह भी उपदेश दिया कि '**मामनुस्मर युध्य च**' अर्थात् मेरा स्मरण करते हुए युद्धरूपी अपने कर्मका सम्पादन करो। यह जगत्‌के सभी मनुष्योंके लिये भगवान्‌का उपदेश है। अतः संकल्परूपमें भगवान्‌से यह प्रार्थना करनी चाहिये।

हे परमात्मन्! श्रुति और स्मृति आपकी ही आज्ञाएँ हैं।[२] आपकी इन आज्ञाओंके पालनके लिये मैं इस समयसे लेकर सोनेतक सभी कार्य करूँगा। इससे आप मुझपर प्रसन्न हों; क्योंकि आज्ञापालनसे बढ़कर स्वामीकी और कोई सेवा नहीं होती। आपकी यह आज्ञा है कि काम करनेके साथ-साथ मैं आपका स्मरण[३] करता रहूँ। तदनुसार यथासम्भव आपका स्मरण करता हुआ और नाम लेता हुआ काम करता रहूँगा तथा उन्हें आपको समर्पित भी करता रहूँगा। इस कर्मरूप पूजासे आप प्रसन्न हों।

इस प्रकार निम्न प्रार्थना करके अपनी दैनिक चर्या प्रारम्भ करनी चाहिये।

हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम्॥
त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव
श्रीनाथ विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥

भाव यह है कि हे जिह्वे! तुम सभी रसोंके तत्त्वको जाननेवाली हो तथा सर्वदा मधुर रस ही तुम्हें प्रिय है। अतः हे जिह्वे! तुम नारायणरूपी नामामृतका निरन्तर पान करती रहो। हे तीनों लोकोंके चैतन्यस्वरूप आदिदेव विष्णो! प्रातःकाल उठकर मैं आपकी आज्ञासे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त

१-अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
२-श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे०। (वाधूलस्मृ० १८९, ब्रह्मपु०, आचारेन्दु)
३-(क) मामनुस्मर युध्य च। (गीता ८।७)
(ख) कर्मकालेऽपि सर्वत्र स्मरेद् विष्णुं हविर्भुजम्। तेन स्यात् कर्म सम्पूर्णं तस्मै सर्वं निवेदयेत्॥ (आश्वलायन)

करनेके लिये सांसारिक कार्योंमें प्रवृत्त होने जा रहा हूँ।

इस प्रार्थनामें अपनी दैनिक चर्या प्रारम्भ करनेके पूर्व भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त की जाती है तथा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये हम अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं।

अजपाजप[1]

सामान्यतया प्रत्येक स्वस्थ मनुष्यके चौबीस घंटेमें २१६०० श्वास आते हैं। सन्तों-महात्माओंकी यह आज्ञा है कि कम-से-कम इतना नाम-जप प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन करना चाहिये। इसके लिये शास्त्रने एक बड़ा सुगम साधन बताया है—अजपाजप। इस साधनसे पता चलता है कि जीवपर भगवान्‌की कितनी असीम अनुकम्पा है। अजपाजपका संकल्प कर लेनेपर २४ घंटेमें एक क्षण भी व्यर्थ नहीं हो पाता। चाहे हम जागते हों, स्वप्नमें हों या सुषुप्तिमें हों—प्रत्येक स्थितिमें 'हंस'[2] का जप श्वासक्रियाद्वारा अनायास होता ही रहता है। संकल्प कर देनेमात्रसे यह जप उस व्यक्ति (मनुष्य)-द्वारा किया हुआ माना जाता है।[3]

(क) किये हुए अजपाजपके समर्पणका संकल्प— **'ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णु अद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारतवर्षे ....स्थाने ....नामसंवत्सरे ....ऋतौ ....मासे ....पक्षे ....तिथौ ....दिने प्रातःकाले ....गोत्रः ....शर्मा (वर्मा/गुप्तः) अहं ह्यस्तनसूर्योदयादारभ्य अद्यतनसूर्योदयपर्यन्तं श्वासक्रियया भगवता कारितं 'अजपागायत्रीजपकर्म' भगवते समर्पये। ॐ तत्सत् श्रीब्रह्मार्पणमस्तु।'**

(ख) आज किये जानेवाले अजपाजपका संकल्प— किये गये अजपाजपको भगवान्‌को अर्पितकर आज सूर्योदयसे लेकर कल सूर्योदयतक होनेवाले अजपाजपका संकल्प करे—'**ॐ विष्णु**'से प्रारम्भकर .... '**अहं**'तक बोलनेके बाद आगे कहे—**अद्य सूर्योदयादारभ्य श्वस्तनसूर्योदयपर्यन्तं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्र (२१६००)-संख्याकोच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां हंसं सोऽहंरूपाभ्यां गणेशब्रह्मविष्णुमहेशजीवात्मपरमात्मगुरुप्रीत्यर्थमजपागायत्रीजपं करिष्ये।**

संस्कृत भाषाके संकल्पको उच्चारण करनेमें असुविधा हो तो मानसिक संकल्प भी किया जा सकता है। श्वास-प्रश्वासके साथ सहज होनेवाले हंस मन्त्रके जपको भगवान्‌को भावपूर्वक मनसे समर्पित कर देना चाहिये तथा दूसरे दिनका प्रतिज्ञा-संकल्प भी मानसिक कर लेना चाहिये।

उषःपान

आयुर्वेदके अनुसार प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व तथा शौचसे पहले जल पीनेकी विधि भी है। रात्रिमें ताम्रपात्रमें ढँककर रखा हुआ जल प्रातःकाल कम-से-कम आधा लीटर अथवा सम्भव हो तो सवा लीटरतक पीना चाहिये, इसे उषःपान कहा जाता है, इससे कफ, वायु एवं पित्त (त्रिदोष)-का नाश होता है तथा व्यक्ति बलशाली एवं दीर्घायु होता है, मल साफ होता है, पेटके विकार दूर होते हैं। भारतीय शास्त्रोंमें कही गयी सभी बातें वैज्ञानिक हैं, धार्मिक हैं और ऐसी भी बातें बतायी गयी हैं, जो विज्ञानकी कल्पनासे भी बाहर हैं।

शौचाचार

इसके बाद मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। मल-मूत्रका त्याग करते समय सिरको कपड़ेसे ढक लेना चाहिये अथवा जनेऊको बायें कानसे सटाकर सिरके ऊपरसे दाहिने कानमें लपेट लेना चाहिये। इस क्रियासे रक्त तथा वायुकी गति अधोमुखी होनेसे मलत्यागमें सहायता मिलती है और शरीरके उत्तम तथा पवित्र अंग सिर आदिकी मलके परमाणुओंसे रक्षा होती है। शौचके समय

१-(क) 'न जप्यते, नोच्चार्यते (अपितु श्वासप्रश्वासयोर्गमनागमनाभ्यां सम्पाद्यते) इति अजपा।' (शब्दकल्पद्रुम) अर्थात् बिना जप एवं उच्चारण किये केवल श्वासके आने-जानेसे जो जप सम्पन्न होता है, उसे 'अजपा' कहते हैं।

(ख) अग्निपुराणमें बतलाया गया है कि श्वास प्रश्वासद्वारा 'हंसः', 'सोऽहं' के रूपमें शरीरस्थित ब्रह्मका ही उच्चारण होता रहता है, अतः तत्त्ववेत्ता इसे ही 'जप' कहते हैं।

उच्चरति स्वयं यस्मात् स्वदेहावस्थितः शिवः। तस्मात् तत्त्वविदां चैव स एव जप उच्यते॥ (२१४। २४)

२-(क) उच्छ्वासश्चैव निःश्वासो हंस इत्यक्षरद्वयम्। तस्मात् प्राणस्थहंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥

(ख) परमात्माको 'हंस' इसलिये कहा जाता है कि वह जीवोंके भटकावका हनन कर देता है—'हन्ति जीवसंसारमिति हंसः।' (उत्तरगीता १। ५ में गौडपादाचार्य)

(ग) भगवान्‌ने हंसावतार धारण भी किया था। (देखिये श्रीमद्भा० ११। १३)

३-अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी। तस्याः संकल्पमात्रेण जीवन्मुक्तो न संशयः॥ (आचाररत्नमें अंगिरा, आचारभूषण)

ऊपर-नीचेके दाँतोंको जोरसे सटाकर रखना चाहिये, इससे दाँत मजबूत होते हैं, बहुत दिनोंतक चलते हैं, दाँतोंकी कोई बीमारी नहीं होने पाती। मल-मूत्रका त्याग करते समय मौन रहना चाहिये। चोटी (शिखा) खुली रखनी चाहिये एवं ज्यादा जोर नहीं लगाना चाहिये।

सामान्यतः पेशाब करके पानीसे मूत्रेन्द्रियको जरूर धोना चाहिये। मलत्यागके बाद मिट्टीसे गुदा आदि जरूर धो लें, इससे बवासीरकी बीमारी नहीं होती। शास्त्रानुसार लिंगको एक बार तथा गुदाको तीन बार मिट्टी लगाकर धो लेना चाहिये। बायें हाथको दस बार और दोनों हाथोंको मिलाकर सात बार तथा पैरको भी मिट्टीसे धोनेकी विधि है। शौचके बाद बारह कुल्ले तथा लघुशंकाके बाद चार कुल्ले करनेका विधान है।

परिस्थितिभेदसे शौचकी यह प्रक्रिया बदल जाती है। स्त्री और शूद्रके लिये तथा रातमें अन्योंके लिये भी यह आधी हो जाती है। यात्रा (मार्ग)-में चौथाई बरती जाती है। रोगियोंके लिये यह प्रक्रिया उनकी शक्तिपर निर्भर हो जाती है। शौचका उपर्युक्त विधान स्वस्थ गृहस्थोंके लिये है।[१]

साबुनसे शुद्धि नहीं—आजकल आधुनिक वातावरणमें मिट्टीके स्थानपर साबुनसे हाथ धोनेकी प्रक्रिया चल रही है, परंतु शास्त्रानुसार साबुनसे शुद्धि और पवित्रता नहीं होती। यह मिट्टीसे ही प्राप्त है। आजकल तो अधिकतर चर्बीयुक्त साबुन बनते हैं, जो और भी अशुद्ध हैं। इससे हाथ धोनेपर कभी-कभी स्वच्छताकी प्रतीति तो होती है, परंतु वास्तवमें पवित्रता प्राप्त नहीं होती। वैसे भी मलमें घृत-तेलकी तथा पित्तकी स्निग्धता—चिकनाहट मिली रहती है, उसकी शुद्धि रुक्ष तथा क्षारयुक्त मिट्टी या राखसे जितनी अच्छी तरह होती है, वैसी स्निग्ध साबुनसे नहीं होती।

आभ्यन्तर शौच[२]—मिट्टी और जलसे होनेवाला यह शौचकार्य बाहरी है, इसकी भी आवश्यकता है, किंतु आभ्यन्तर (आन्तरिक) शौचके बिना यह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। मनोभावको शुद्ध रखना आभ्यन्तर शौच माना जाता है। किसीके प्रति ईर्ष्या, राग-द्वेष, लोभ, मोह, मद-मात्सर्य, घृणा आदिके भावका न होना आभ्यन्तर शौच है। व्याघ्रपादका कथन है कि यदि पहाड़ जितनी मिट्टी और गंगाके समस्त जलसे जीवनभर कोई बाह्य शुद्धिकार्य करता रहे, किंतु उसके पास आन्तरिक शौच न हो तो वह शुद्ध नहीं हो सकता।[३] अतः आभ्यन्तर शौच अति आवश्यक है। भगवान् सबमें विद्यमान हैं, इसीलिये किसीसे द्वेष-क्रोधादि क्यों किया जाय? सबमें भगवान्का दर्शन करते हुए सभी परिस्थितियोंको भगवान्का वरदान समझते हुए सबमें मैत्रीभाव रखे, साथ ही प्रतिक्षण भगवान्का स्मरण करते हुए उनकी आज्ञा समझकर शास्त्रविहित कार्य करता रहे।

दन्तधावन

शौचनिवृत्तिके पश्चात् व्यक्तिको दातौन तथा मंजनसे दाँतोंको साफ करना चाहिये। आजकल दाँतोंको साफ करनेके लिये ब्रशका प्रयोग लोग अधिक करते हैं, परंतु नीम तथा बबूल आदिकी दातौन दाँतोंकी सुरक्षाके लिये अधिक लाभप्रद हैं। रविवार, एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, व्रत, श्राद्धादि दिनोंमें दातौन करनेका विधान नहीं है। अतः इन दिनोंमें केवल शुद्ध मंजनसे दाँत साफ करना श्रेयस्कर है। दाँत साफ करनेके बाद जीभीसे जीभ भी साफ करनी चाहिये।

व्यायाम तथा वायुसेवन

शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये, कार्य करनेकी सामर्थ्य बनाये रखनेके लिये, पाचनक्रिया तथा जठराग्निको ठीक रखनेके लिये, शरीरको सुगठित, सुदृढ़ और सुडौल बनानेकी दृष्टिसे अपने आयु, बल, देश और कालके अनुरूप नियमित रूपसे योगासन एवं व्यायाम अवश्य करना चाहिये। ऐसा करनेसे व्यक्ति सामान्यतः बीमार नहीं होते और उन्हें औषधिसेवनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।[४]

सुबह और शामको नित्य खुली, ताजी और शुद्ध

१-स्त्रीशूद्रयोरर्धमानं शौचं प्रोक्तं मनीषिभिः। दिवा शौचस्य निश्यर्धं पथि पादो विधीयते॥
आर्तः कुर्याद् यथाशक्तिः शक्तः कुर्याद् यथोदितम्॥ (आचारभूषणमें आदित्यपुराण, दक्षस्मृति)

२-शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥ (दक्षस्मृति ५। ३)

३-गङ्गातोयेन कृत्स्नेन मृद्भारैश्च नगोपमैः। आमृत्योश्चाचरन् शौचं भावदुष्टो न शुध्यति॥
(आचारेन्दुमें व्याघ्रपाद, यही भाव दक्षस्मृतिका है।)

४-(क) लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः। विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते॥ (अ०हृ०सू० २। १०)
(ख) वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च॥ समीक्ष्य कुर्याद् व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्। (सु०चि० २४। ४८ ४९)

हवामें अपनी शक्तिके अनुसार थकान न मालूम होनेतक साधारण चालसे घूमना चाहिये। नियमपूर्वक कम-से-कम दो-तीन किलोमीटरतक घूमना चाहिये। प्रौढावस्थामें टहलना भी एक प्रकारका व्यायाम है। नियमपूर्वक घूमनेके व्यायामसे और शुद्ध वायुसेवनसे शरीरको बहुत लाभ पहुँचता है। यह कार्य स्नानके बाद अथवा पूर्व दोनों प्रकारसे किया जा सकता है।

एक बात ध्यान रखनेकी है कि व्यायाम, योगासन अथवा टहलनेके समय भगवन्नाम-जप अथवा स्तोत्र-पाठादि अवश्य करना चाहिये, जिससे समयका आध्यात्मिक सदुपयोग होता रहे।

तैलाभ्यंग

आयुर्वेदशास्त्रमें शरीरकी आरोग्यता तथा मनकी प्रसन्नताके लिये तैलाभ्यंग (तेलमालिश) भी प्रतिपादित किया गया है। जरा, श्रम तथा वातके विनाशार्थ और शरीरकी दृढ़ता, पुष्टि और दृष्टिवृद्धिके लिये स्नानके पूर्व नित्य तेलकी मालिश करनी चाहिये। सिर, कान तथा पाँवके तलवोंमें तेलकी मालिशका विशेष लाभ है।[1] कानमें तेल डालनेसे कानके रोग, ऊँचा सुनना, बहरापन आदि विकार नहीं होते। सिरकी मालिशसे कानोंको और कानोंकी मालिशसे पाँवोंको लाभ पहुँचता है तथा पाँवोंकी मालिशसे नेत्ररोगोंका एवं नेत्रोंके अभ्यंगसे दन्तरोगोंका शमन होता है।[2] तेलमर्दनके विषयमें चरकने कहा है कि शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये अधिक वायुकी आवश्यकता है।[3] वायुका ग्रहण त्वचाके आश्रित है। त्वचाके लिये अभ्यंग तेलमालिश परमोपकारी है, इसलिये मालिश करनी चाहिये। साधारणतया तो यही माना जाता है कि वायुका ग्रहण केवल नासिकाद्वारा ही किया जाता है, किंतु वास्तविक बात यह है कि जितनी वायुका नाकसे ग्रहण किया जाता है, उतनी वायु शरीरके लिये पर्याप्त नहीं है, इसलिये शरीरमें त्वचाके रोमकूपोंसे ही शेष वायुकी पूर्ति होती है। इन रोमकूपोंको स्वच्छ, शुद्ध तथा खुला रखनेके लिये ही तेलमर्दनका मुख्य रूपसे विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त तेलमर्दनसे त्वचा कोमल बनती है। तेलमालिशके लिये सरसोंका तेल अधिक उपयोगी है। धर्मशास्त्रमें एकादशी, पूर्णिमा, अमावास्या, सूर्यकी संक्रान्ति, व्रत तथा श्राद्ध आदिके दिन एवं रवि, मंगल, गुरु और शुक्रवारको तेल लगानेका निषेध है। किंतु यह निषेध तिल-तेलके लिये है। सरसोंके तेल तथा सुगन्धित तेलके लिये नहीं[4]—ब्रह्मचारी तथा संन्यासीके लिये तैलाभ्यंगका निषेध है।

क्षौर

शास्त्रोंमें क्षौरसम्बन्धी विचार विस्तारसे हुआ है। क्षौर कब करना चाहिये, कब नहीं करना चाहिये तथा क्यों नहीं करना चाहिये—इसपर अनेक प्रकारकी मीमांसा प्राप्त होती है। प्राचीन शास्त्रीय परम्पराको माननेवाले लोग इन बातोंका ठीक-ठीक पालन करते हैं, किंतु इसका फल अदृष्ट होनेसे कुछ आधुनिक लोग यह विचार नहीं रखते। सामान्यतः सोमवार, बुधवार, रविवार तथा शुक्रवार क्षौरकर्मके लिये प्रशस्त दिन माने गये हैं। एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, शनिवार, मंगलवार, बृहस्पतिवार, व्रतके दिन तथा श्राद्धादिके दिनोंमें बाल तथा दाढ़ी नहीं बनवानी चाहिये। जिस व्यक्तिको एक सन्तान हो, उसे सोमवारके दिन क्षौर निषिद्ध है।

स्नान

व्यक्तिको प्रतिदिन मन्त्रपूत स्वच्छ जलसे स्नान करना चाहिये। तभी वह सन्ध्यावन्दन, मन्त्रजप, स्तोत्र आदि पाठ तथा भगवद्दर्शन और चरणामृत-ग्रहण करनेका अधिकारी बनता है,[5] गंगा आदि पवित्र नदियोंमें, बहते हुए नद अथवा निर्मल जलवाले सरोवरमें स्नान करना भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वोत्तम है। यदि ऐसा न हो सके तो सामान्य जलमें भी निम्न मन्त्रसे गंगादिका आवाहन करके स्नान करना चाहिये—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

---

१. अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा। दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्। (अ०हृ०सू० २।८-९)

२. न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः। नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात्॥ (च०सू० ५।८४)
मूर्ध्नोऽभ्यंगात् कर्णयोः शीतमायुः कर्णाभ्यंगात् पादयोरेवमेव। पादाभ्यंगान्नेत्ररोगान् हरेच्च नेत्राभ्यंगाद् दन्तरोगांश्च नश्येत्॥

३. स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम्। त्वच्यश्च परमभ्यङ्गस्तस्यात्तं शीलयेन्नरः॥ (चरकसंहिता सू० ५।८७)

४. सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पवासितम्। अन्यद्रव्ययुतं तैलं न दुष्यति कदाचन॥ (निर्णयसिन्धु)

५. स्नानं प्रतिदिनं कुर्यान्मन्त्रपूतेन वारिणा। प्रातःस्नानेन योग्यः स्यान्मन्त्रस्तोत्रजपादिषु॥

टंकीमें जमा किये हुए नलके जलकी अपेक्षा कुएँसे निकाला हुआ जल, कुएँके निकाले हुए जलसे झरनेका जल, झरनेके जलसे सरोवरका जल, सरोवरके जलसे नदीका जल, नदीके जलसे तीर्थका जल, तीर्थके जलसे गंगाजीका जल अधिक श्रेष्ठ माना गया है।[१] उषाकी लालीके पहले ही स्नान करना उत्तम माना गया है।[२] इससे प्राजापत्यव्रतका फल प्राप्त होता है।[३] तेल तथा शरीरको मल-मलकर नदीमें नहाना मना है। अत: नदीसे बाहर तटपर ही देह मलकर नहा ले तब नदीमें गोता लगाये।[४] शास्त्रोंने इसे मलापकर्षणस्नान कहा है।

शरीरको अँगोछे तथा हाथसे मल-मलकर खूब नहाना चाहिये। नहाते समय ऐसा निश्चय करे कि मेरे शरीरके मैलके साथ ही मनका मैल भी धुल रहा है और इस समय भगवान्‌के नामका उच्चारण अवश्य करते रहना चाहिये।

अपने शास्त्रोंमें सात प्रकारके स्नान बताये गये हैं—१-मन्त्रस्नान—**आपो हि ष्ठा०** इत्यादि मन्त्रोंसे मार्जन करना मन्त्रस्नान है, २-भौमस्नान—समस्त शरीरमें मिट्टी लगाना, ३-अग्निस्नान—भस्म लगाना, ४-वायव्यस्नान—गायके खुरकी धूलि लगाना, ५-दिव्यस्नान—सूर्यकिरणमें वर्षाके जलसे स्नान करना, ६-वारुणस्नान—जलमें डुबकी लगाकर स्नान करना, ७-मानसिक स्नान—आत्मचिन्तन करना मानसिक स्नान है।[५]

इस प्रकार प्रातःकालीन स्नान नित्यचर्याका प्रमुख अंग है; क्योंकि आगेकी सभी धर्मकर्मादि क्रियाएँ स्नानमूलक ही हैं। गंगादि नदियोंमें मौसल स्नान करना चाहिये अर्थात् खड़े होकर सीधे डुबकी लगानी चाहिये, शरीर मलना नहीं चाहिये। कई लोग गंगाजीमें कुल्ला करते हैं तथा साबुन लगाकर स्नान करते हैं, ऐसा करनेसे प्रत्यवाय बनता है और जल भी दूषित हो जाता है, अत: इससे बचना चाहिये।

अशक्तोंके लिये स्नान—स्नानमें असमर्थ होनेपर सिरके नीचेसे ही स्नान करना चाहिये अथवा गीले वस्त्रसे शरीर पोंछ लेना भी एक प्रकारका स्नान कहा गया है। अधिक अस्वस्थतामें हाथ-पैर, मुँह आदि धोकर कपड़े बदलनेपर भी स्नानकी विधि पूरी हो जाती है।

वस्त्रधारण

वस्त्रधारणका मुख्य उद्देश्य शरीररक्षा तथा लज्जानिवारण है। अत: स्थान और कालको दृष्टिमें रखकर शरीररक्षाके लिये स्त्री-पुरुषोंके अंगोंकी बनावट और कोमलता तथा कठोरताको दृष्टिमें रखकर विभिन्न प्रकारके वस्त्र धारण करनेका विधान शास्त्रोंने किया है। भारतीय संस्कृतिमें मुख्य रूपसे पुरुषोंके लिये वस्त्रके रूपमें धोती पहननेका निर्देश है। धुले हुएको धौत कहते हैं, धौतका ही अपभ्रंश धोती बन गया है। प्रतिदिन धोये जानेके कारण ही धोती नाम पड़ा है। स्नान करनेके बाद धुला वस्त्र ही पहनना चाहिये। आजकल पैंट-कोट आदि पहननेका प्रचलन बढ़ता जा रहा है। यह पाश्चात्य देशोंका अन्धानुकरण है। पैंट आदि प्रतिदिन न धोये जानेके कारण अशुद्ध रहते हैं।

भारतवर्ष उष्ण देश है। यहाँ ८-९ महीने गरमी पड़ती है। अत: धोती पहननेका तात्पर्य यह भी है कि शरीरका आच्छादन भी हो जाय और शरीरमें हवा भी लगती रहे। इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये साड़ी-ब्लाउज तथा चद्दर आदिका विधान है।

कम-से-कम पूजा आदिके समय तथा भोजनके समय धोती अवश्य बाँधनी चाहिये। लुंगीकी तरह न बाँधकर कच्छ (लाँग) लगाकर बाँधनेकी विधि है। बिना लाँग बाँधे पूजा आदि करनेका निषेध है[६] '**मुक्तकच्छो महाधमः।**'

नीला वस्त्र धारण करनेका भी निषेध किया गया है। आपस्तम्बऋषिने कहा है—

---

१. निपानादुद्धृतं पुण्यं ततः प्रस्रवणोदकम्। ततोऽपि सारसं पुण्यं ततो नादेयमुच्यते॥
तीर्थतोयं ततः पुण्यं गङ्गातोयं ततोऽधिकम्॥ (अग्निपुराण)

२. उषःकालस्तु लोहितादिगुणलक्षितकालात् प्राक्कालः। (कल्पतरु)

३. उषस्युषसि यत् स्नानं सन्ध्यायामुदिते रवौ। प्राजापत्येन तत्तुल्यं महापातकनाशनम्॥ (दक्षस्मृ० २।११)

४. मलं प्रक्षालयेत्तीरे ततः स्नानं समाचरेत्। (मेधातिथि)

५. मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च। वारुणं मानसं चैव सप्त स्नानान्यनुक्रमात्॥
आपो हि ष्ठादिभिर्मान्त्रं मृदालम्भस्तु पार्थिवम्। आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम्॥
यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद् दिव्यमुच्यते। अवगाहो वारुणं स्यात् मानसं ह्यात्मचिन्तनम्॥ (आचारम०, प्रयोगपारिजात)

६. अकच्छस्य द्विकच्छस्य अशिखो शिखवर्जितः। पाककर्ता हव्यग्राही षडैते ब्राह्मणाधमाः॥ (स्मृतिवचन)

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
पञ्चयज्ञा वृथा तस्य नीलीवस्त्रस्य धारणात्॥

(६।३)

जो नील वस्त्र धारण करके स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, पंचमहायज्ञ आदि कर्म करता है, उसके वे कर्म निष्फल हो जाते हैं।

ऊनी तथा रेशमी वस्त्र बिना धोये भी प्रयोगमें लिये जा सकते हैं। वे शुद्ध माने जाते हैं।

निष्कर्षरूपमें वस्त्रोंको धारण करनेसे सरदी, गरमी तथा लज्जानिवारण आदि मुख्य उद्देश्योंकी पूर्ति होती हो तथा शरीरविज्ञानानुसार कोई रोग उत्पन्न न होकर रोगोंका नाश होता हो एवं मनोविज्ञानानुसार भोग-विलास, कामुकता आदि मानसिकरोग उत्पन्न न होकर सादगी आदि सत्त्वगुण बढ़ते हों और आर्थिक, पारिवारिक तथा सामाजिक संकट उत्पन्न न करते हों—ऐसे वस्त्रोंको ही धारण करना चाहिये। इन सबपर विचार करके ऋषियोंने जैसे वस्त्र धारण करनेका विधान किया है, वैसे ही वस्त्र धारण करने चाहिये।

नहानेके बाद सिरके केशोंको कंघीसे ठीक कर लिया जाय, जिससे कोई जीव-जन्तु या कूड़ेका कण सिरपर न रहने पाये। सिरपर कंघी करनेसे बुद्धिका विकास होता है।

पूजा-विधान

स्नान आदिके अनन्तर सन्ध्यावन्दन, तर्पण तथा अपने इष्टदेवके पूजन करनेकी विधि है। शिखा (चोटी), सूत्र (जनेऊ)-के बिना जो देवकार्य किये जाते हैं, वे सदा निष्फल होते हैं—

'विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥'

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन द्विजातियोंको यज्ञोपवीत (जनेऊ) अवश्य धारण करना चाहिये। इसीसे वे सन्ध्यावन्दन तथा वैदिक देवपूजन कार्योंके अधिकारी होते हैं।

स्त्री एवं शूद्रके लिये यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करनेकी विधि नहीं है। वे केवल भगवन्नामका जप, कीर्तन एवं सेवाकार्यमें संलग्न रहें। उन्हें वही फल प्राप्त होगा, जो द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)-को वैदिक कर्म करनेसे होगा।

पूजा किसी आसनपर ही बैठकर करनी चाहिये। लकड़ीकी चौकी, कुश, ऊनके आसनपर पूजाके लिये बैठनेका विधान है। देवपूजाके सभी कार्योंमें कुशके प्रयोगका विधान है तथा कुशासनको सर्वदोषरहित और सब मन्त्रोंकी सिद्धिमें सहायक कहा है।[1]

शास्त्रोंमें कुछ आसनोंके निषेध-वचन प्राप्त हैं। धरतीमें बैठनेपर दुःखकी उत्पत्ति, पत्थरपर बैठनेसे व्याधि और पीड़ा, केवल वस्त्रपर बैठनेसे जप, ध्यान और तपकी हानि होती है।[2]

आसनका एक दूसरा अर्थ भी है, पूजा-पाठमें सिद्धासन तथा पद्मासन आदि प्रशस्त माने गये हैं। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी इन आसनोंका महत्त्व है।

तिलक-धारण

पूजा-पाठ, भजन-ध्यान आदि कार्योंमें मनःशान्ति और एकाग्रताकी ही प्रधानता है। मनका स्थान मस्तिष्क है। अतः मनको स्वस्थ, शान्त और सात्त्विक रखनेकी दृष्टिसे माथेपर चन्दन, कपूर, केशर आदि पदार्थोंका लेप करना स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उत्तम है। इसी विज्ञानके अनुसार मनःप्रधान भजन-ध्यान, पूजा-पाठ आदि कार्य तथा दान, होम, तर्पण आदि सात्त्विक कर्मोंसे पूर्व तिलकको धारण करनेका विधान किया गया है तथा तिलक बिना इन कर्मोंको निष्फल बताया है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा गया है—

स्नानं दानं तपो होमो देवतापितृकर्म च।
तत्सर्वं निष्फलं याति ललाटे तिलकं विना॥

धर्मशास्त्रमें कहा गया है—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा धार्यं भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम्।
उभयं चन्दनेनैव सर्वेषु शुभकर्मसु॥

मृत्तिका (गोपीचन्दन)-से ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा भस्मसे त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये। सभी शुभ कर्मोंमें चन्दनसे दोनों प्रकारका तिलक किया जा सकता है।

कुमकुम (रोली)-का प्रयोग भी तिलकमें किया जाता है, विशेषकर सौभाग्यवती माताओंको कुमकुमका तथा सिन्दूरका तिलक ही करना चाहिये। सिन्दूरमें

१-भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते। कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा॥
२-धरण्यां दुःखसम्भूतिः पाषाणे व्याधिपीडनम्। जपध्यानतपोहानिं वस्त्रासनं करोति हि॥

सर्वदोषनाशक शक्ति रहती है। तिलकके अतिरिक्त माँगमें सिन्दूर लगानेसे सिरके बालोंमें जूँ, लीखका भय नहीं रहता। इसलिये शास्त्रकारोंने इसे एक प्रकारसे सौभाग्यका चिह्न माना है। ऊपर लिखे तिलकके द्रव्योंमेंसे यदि कोई द्रव्य किसी समय पासमें न हो तो केवल शुद्ध जलसे भी तिलक करनेका विधान किया गया है, क्योंकि जल भी शोधक है।

इस प्रकार धर्मशास्त्रके आदेशके अतिरिक्त तिलकके भौतिक गुणोंको समझकर भी तिलक अवश्य करना चाहिये।

शिखाबन्धन

भारतीय संस्कृति एवं सनातनधर्मके अनुसार सिरके पिछले भागपर शिखा (चोटी) अवश्य रखनी चाहिये। आध्यात्मिक विज्ञानके अनुसार तो जिस प्रकार किसी भवन तथा मन्दिरके शिखरपर ध्वजा लगायी जाती है, उसी प्रकार यह शरीर भी एक प्रकारका मन्दिर है, इसमें आत्मरूपसे परमात्मा निवास करते हैं। अतः इसके शिखरपर शिखा (चोटी)-रूपी ध्वजा होनी आवश्यक है। भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे जहाँ शिखा रखी जाती है, वहाँ मेरुदण्डके भीतर रहनेवाली ज्ञान तथा क्रियाशक्तिकी आधार सुषुम्णा नाड़ी समाप्त होती है। यह स्थान शरीरका सर्वाधिक मर्मस्थान है, इस स्थानपर चोटी रखनेसे मर्मस्थान सुरक्षित रहनेसे क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति सुरक्षित रहती है, जिससे भजन, ध्यान, दान आदि शुभ कर्म सुचारु रूपमें सम्पन्न होते हैं, इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें कहा है—

ध्याने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

अमुक दिशामें मुख

प्रातःकालीन सन्ध्यावन्दनादि कर्मोंमें सूर्योपासना प्रधान होनेके कारण सूर्यके सम्मुख पूर्वकी ओर मुँह करके तथा सायंकालीन सन्ध्यामें पश्चिमकी ओर मुख करके सन्ध्योपासना करनी चाहिये। भौतिक दृष्टिसे प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञानानुसार प्रातःकाल तथा सायंकाल सूर्यकी किरणोंका सेवन हो जानेसे शारीरिक रोगोंका नाश होता है। धर्मशास्त्रोंमें देवकार्य पूर्वाभिमुख होकर और पितरोंका कार्य दक्षिणमुख होकर करनेका विधान है। उत्तरकी ओर मुख करके योगाभ्यास करनेका विधान भी किया गया है—

उत्तराभिमुखो भूत्वा……योगाभ्यासं स्थितश्चरन्॥

(त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् १८-१९)

इस प्रकार विशेष कार्योंके लिये दिशा-निर्देशका विधान विशेष विज्ञानका अनुसन्धान करके ही किया गया है। अतः उसी दिशामें मुख करके वह कर्म करना चाहिये।

सन्ध्या-तर्पण एवं इष्टदेवका पूजन

द्विजको यथासाध्य त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायं) सन्ध्या करनी चाहिये। कम-से-कम दो कालोंकी सन्ध्या तो अवश्य ही करनी चाहिये। जो द्विज प्रतिदिन प्रमादवश सन्ध्या नहीं करता, वह द्विजकर्मोंसे बहिष्कार करनेयोग्य होता है और उसे भयानक नरक-यातना भोगनी पड़ती है।

रात्रिका अधिपति चन्द्रमा है, वही हमारे मनका देवता है, दिनका अधिपति सूर्य है, वही हमारे प्राणोंका संचालक है। मन तथा प्राणोंके सन्धिकालमें सत्त्वगुण बढ़ता है, ऐसी दशामें भजन, ध्यान, सन्ध्योपासना करना अति उत्तम माना जाता है, यही कारण है कि दोनों सन्ध्याओंमें सन्ध्योपासना करनेका अनिवार्य विधान है। **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** (वेद)। द्विजको वैदिक मन्त्रोंसे प्रातः तथा सायं सन्ध्योपासना अवश्य करनी चाहिये।

स्त्री तथा शूद्रोंको भी वैदिक मन्त्रोंके बिना पौराणिक मन्त्रोंसे अथवा बिना किसी मन्त्रके केवल भगवन्नामका उच्चारण करते हुए भगवान्‌की उपासना करनी चाहिये। उपासनाके लिये यह समय अति उपयोगी होनेके कारण इस समय दूसरे कर्म करनेका शास्त्रोंने निषेध किया है।

संकल्प—आसनपर बैठकर तिलकधारण और शिखाबन्धन करनेके बाद संकल्प करना चाहिये; क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंकी सफलतामें दृढ़ संकल्पका सर्वाधिक माहात्म्य है। मनुस्मृति (२।३)-में कहा है कि समस्त कामनाएँ, यज्ञ, व्रत, नियम, धर्म संकल्पजन्य ही हैं—

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥*

प्राणायाम

भजन, ध्यान, पाठ, पूजा आदि सात्त्विक कार्योंके लिये शान्त और सात्त्विक मनकी परम आवश्यकता होती है। प्राणायामद्वारा प्राणकी समगति (दो स्वरोंसे बराबर चलना) होनेपर मन शान्त और सात्त्विक हो जाता है। यही प्राणायामका आध्यात्मिक प्रयोजन है। प्राणायामसे शारीरिक लाभ भी है। हमारा जीवन श्वास-प्रश्वासरूप प्राणोंकी गतिपर आधारित है। इस कार्यको जिन फेफड़ोंद्वारा किया

* सन्ध्या वन्दनकी वैदिक प्रक्रिया तथा संकल्प इत्यादि गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित 'नित्यकर्मपूजाप्रकाश' पुस्तकमें देख सकते हैं।

जाता है, उनकी स्थिति-स्थापक शक्तिकी रक्षा आवश्यक है। यह कार्य प्राणायामसे सम्यक् हो जाता है।

भिन्न-भिन्न प्रकारके लाभोंके लिये शास्त्रोंमें विभिन्न प्रकारके प्राणायाम करनेका विधान किया गया है। सन्ध्योपासनाके अंगरूपमें किये जानेवाले प्राणायामकी सामान्य विधि निम्न प्रकार है—आसनपर बैठकर नाकके बायें छिद्रसे लगभग ८ सेकेण्डतक वायुको खींचे (इसे पूरक प्राणायाम कहते हैं), नासिकाके दोनों छिद्रोंको बन्दकर लगभग १६ सेकेण्डतक श्वासको रोके रहे (इसे कुम्भक कहते हैं), फिर नाकके दाहिने छिद्रसे लगभग १६ सेकेण्डमें धीरे-धीरे श्वासका त्याग करे (यह रेचक प्राणायाम कहलाता है)। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे एक बार बायें छिद्रसे श्वास खींचकर दायेंसे छोड़े, दूसरी बार दायेंसे खींचकर बायेंसे छोड़े, इसे अनुलोम-विलोम प्राणायाम कहते हैं।

सन्ध्यावन्दनमें आचमन, सूर्यार्घ एवं सूर्योपस्थान

सन्ध्यावन्दनके अन्तर्गत कई बार आचमन करनेका विधान है तथा सभी धार्मिक कृत्योंके प्रारम्भमें तथा बीच-बीचमें आचमनकी विधि बतायी गयी है। इससे आन्तरिक पवित्रता होती है। लौकिक दृष्टिसे मन्त्रोच्चारजन्य कण्ठ-शुष्कता आदिके निवारणके लिये यह किया जाता है। आचमन आदिके अनन्तर भगवान् सूर्यको जलके द्वारा अर्घ प्रदान किया जाता है। ये जलकी बूँदें वज्र बनकर असुरोंका विनाश करती हैं।* इसके अनन्तर सूर्योपस्थानके मन्त्र हैं, जिनमें व्यक्ति स्वयंको स्वस्थ रखकर दीर्घायुष्य-प्राप्तिकी प्रार्थना करता है।

मन्त्रजप

सन्ध्योपासनकी पूर्ति गायत्रीमन्त्रके जपसे होती है। सूर्योपस्थानके बाद कम-से-कम एक माला गायत्रीमन्त्रका जप अवश्य करना चाहिये। कभी-कभी बहुत शीघ्रता होनेपर करमालासे १० बार गायत्री जपनेसे भी सन्ध्याकी पूर्ति हो जाती है। गायत्रीमन्त्रके जपकी बड़ी महिमा है। सम्पूर्ण वेदका सारस्वरूप गायत्रीमन्त्रमें समाहित है। भगवती गायत्रीको वेदमाता कहा गया है तथा उपासनाकी दृष्टिसे गायत्रीमन्त्रका जप अधिकाधिक करना चाहिये। समय हो तो सन्ध्योपासनके उपरान्त गायत्रीमन्त्रकी ११ मालाका प्रतिदिन जप किया जा सकता है। इससे पापका क्षय होता है तथा प्रत्यवाय समाप्त होते हैं। मन्त्रोंमें गायत्रीमन्त्र सर्वोपरि माना गया है, परंतु इसके जपनेका अधिकार केवल यज्ञोपवीतधारी व्यक्तिको ही है।

नामजप

नामजपकी बड़ी महिमा है। विशेषकर कलियुगमें अपने कल्याणका आधार ही नामजप है। अपने इष्टदेवके नामका निरन्तर जप करते रहना चाहिये। नामजप करनेमें किसी प्रकारका बन्धन नहीं है। चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते—सब समय भगवन्नामका जप किया जा सकता है। भगवान्‌को निरन्तर स्मरण रखनेका यह अमोघ साधन है। मालाका प्रयोग करनेसे, जपके संख्याकी गिनती रखनेसे नामजप बराबर चलता रहता है।

पंचमहायज्ञ

सृष्टिके कार्यका सुव्यवस्थितरूपसे संचालन और सब जीवोंका यथायोग्य भरण-पोषण पाँच श्रेणियोंके जीवोंकी पारस्परिक सहायतासे सम्पन्न होता है। वे पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि भूतप्राणी। देवता संसारभरमें सबको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-मुनि सबको ज्ञान देते हैं, पितर सन्तानका भरण-पोषण करते हैं, रक्षा करते हैं और कल्याण-कामना करते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबका हित करते हैं और पशु-पक्षी, वृक्षादि सब जीवोंके सुखके लिये अपना आत्मदान देते रहते हैं। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबका निर्विघ्न जीवननिर्वाह होता है, अतः प्रत्येक व्यक्तिपर इन पाँचोंके ऋण हैं—देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, मनुष्य-ऋण और भूत-ऋण। पंच-महायज्ञसे इन पाँचों प्रकारके ऋणसे मुक्ति होती है। अतः प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन निम्नलिखितरूपसे पंचमहायज्ञ सम्पन्न

* सन्ध्यायां यदपः प्रयुङ्क्ते ता विप्रुषो। वज्री भूत्वा असुरानपाघ्नन्ति॥

करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी अर्जित करता है, उसमें इन सबका भाग सबको देकर ही अपने उपयोगमें लाये।

जो मनुष्य सब जीवोंको उनका उचित हिस्सा देकर बचा हुआ खाता है, अपने उपयोगमें लाता है, वही अमृताशी (अमृत खानेवाला) है। जो ऐसा न करके केवल अपने लिये कमाता है और अकेला ही खाता है, वह पाप खाता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।

पंचमहायज्ञके अनुष्ठानसे समस्त प्राणियोंकी तृप्ति होती है, पंचमहायज्ञ करनेसे अन्नादिकी शुद्धि तथा पापोंका क्षय होता है। अतः पंचमहायज्ञ करके ही गृहस्थोंको भोजन करना चाहिये। इसके सम्पन्न करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होती है।

पंचमहायज्ञका स्वरूप

१-ब्रह्मयज्ञ—वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थोंके अध्ययन, अध्यापन तथा स्वाध्यायको ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है। ब्रह्मयज्ञ करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, इसके सम्पन्न करनेसे व्यक्ति ऋषि-ऋणसे मुक्त हो जाता है।

२-देवयज्ञ—अपने इष्टदेवकी उपासना तथा परब्रह्म परमात्माके निमित्त अग्निमें किये गये हवनको देवयज्ञ कहते हैं। देव-ऋणसे उऋण होनेके लिये देवयज्ञ करना परमावश्यक है।

३-भूतयज्ञ—कृमि, कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदिकी सेवाको भूतयज्ञ कहते हैं। सामान्यतः प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये अनेक भूतों—जीवोंको प्रतिदिन क्लेश देता है; क्योंकि ऐसा हुए बिना शरीरयात्रा नहीं चल पाती। अतः भूतों—जीवोंसे उऋण होनेके लिये भूतयज्ञ करना आवश्यक है। भूतयज्ञसे कृमि-कीट, पशु-पक्षी आदिकी तृप्ति होती है।

४-पितृयज्ञ—पितरोंके निमित्त तर्पण तथा श्राद्ध आदि करना पितृयज्ञ है। पितृयज्ञके रूपमें कम-से-कम पितृतर्पण प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। इससे समस्त लोकोंकी तथा पितरोंकी तृप्ति होती है। इससे लोकमें यश, धन तथा सन्तान-प्राप्तिका सुख प्राप्त होता है।

तर्पणका फल—एक-एक पितरको तिलमिश्रित जलकी तीन-तीन अंजलियाँ प्रदान करे। (इस प्रकार तर्पण करनेसे) जन्मसे आरम्भकर तर्पणके दिनतक किये पाप उसी समय नष्ट हो जाते हैं।*

तर्पण न करनेसे प्रत्यवाय (पाप)—ब्रह्मादिदेव एवं पितृगण तर्पण न करनेवाले मानवके शरीरका रक्तपान करते हैं अर्थात् तर्पण न करनेके पापसे शरीरका रक्तशोषण होता है—

'अतर्पिताः शरीराद्रुधिरं पिबन्ति'

—इससे यह सिद्ध होता है कि गृहस्थ मानवको प्रतिदिन तर्पण अवश्य करना चाहिये।

५-मनुष्ययज्ञ—क्षुधासे अत्यन्त पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवाको मनुष्ययज्ञ कहते हैं। अतिथिके घर आ जानेपर चाहे वह किसी जाति या सम्प्रदायका हो, उसकी सम्मानपूर्वक मधुर वचन, जल तथा अन्न आदिसे यथाशक्ति सेवा करनी चाहिये। मनुष्ययज्ञसे धन, आयु, यश और स्वर्ग आदिकी प्राप्ति होती है।

भगवद्दर्शन तथा चरणामृतपान

इसके बाद अपने इष्टदेवकी पूजा-उपासनाका प्रकरण आता है, जो लोग स्वयं उस समय भगवान्‌की पूजामें संलग्न होना चाहते हों, उनके लिये नीचे देवोपासनाकी विधि लिखी जा रही है। जिनके पास समयका अभाव हो, वे कम-से-कम भगवान्‌के मन्दिरमें जहाँ विधिपूर्वक पूजा होती हो, वहाँ जाकर स्तुति और प्रार्थनाके द्वारा परमात्मप्रभुके समक्ष अपनी श्रद्धा निवेदित करें तथा उन्हें प्रभुका चरणामृत ग्रहण करना चाहिये। चरणामृतकी बड़ी महिमा है। विशेषकर शालग्रामभगवान्‌का चरणामृत भौतिक दृष्टिसे त्रिदोषनाशक होता है, कारण शालग्रामशिलामें स्वर्णकी मात्रा रहती है। चरणामृतमें तुलसीदलका भी मिश्रण रहता

* एकैकस्य तिलैर्मिश्रांस्त्रींस्त्रीन् दद्याज्जलाञ्जलीन्। यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥ (नित्यकर्मपूजाप्रकाश)

है, जो स्वयंमें एक औषधि है। आयुर्वेदमें औषधियोंके साथ अनेक रोगोंमें तुलसीका अनुपानरूपसे विधान किया गया है। इस प्रकार चरणामृत अनेक रोगोंका नाशक तथा जीवनीशक्तिवर्धक गुणोंसे युक्त है। इस कारण इसे **अकालमृत्युहरणम्, सर्वव्याधिविनाशनम्** कहना उचित ही है।

देवोपासना

जीवनमें उपासनाका विशेष महत्त्व है। जब मनुष्य अपने जीवनका वास्तविक लक्ष्य निर्धारित कर लेता है, तब वह तन-मन-धनसे अपने उस लक्ष्यकी प्राप्तिमें संलग्न हो जाता है। मानवका वास्तविक लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये उसे यथासाध्य संसारकी विषय-वासनाओं और भोगोंसे दूर रहकर भगवदाराधन एवं अभीष्टदेवकी उपासनामें संलग्न होनेकी आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार गंगाका अविच्छिन्न प्रवाह समुद्रोन्मुखी होता है, उसी प्रकार भगवद्गुण-श्रवणके द्वारा द्रवीभूत निर्मल, निष्कलंक, परम पवित्र अन्तःकरणका भगवदुन्मुख हो जाना वास्तविक उपासना है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

इसके लिये आवश्यक है कि चित्त संसार और तद्विषयक राग-द्वेषादिसे विमुक्त हो जाय। शास्त्रों और पुराणोंकी उक्ति है—'**देवो भूत्वा यजेद् देवान् नादेवो देवमर्चयेत्।**' देव-पूजाका अधिकारी वही है, जिसमें देवत्व हो। जिसमें देवत्व नहीं, वास्तवमें उसे देवार्चनसे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। अतः उपासकको भगवदुपासनाके लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेष, अभिमान आदि दुर्गुणोंका त्यागकर अपनी आन्तरिक शुद्धि करनी चाहिये। साथ ही शास्त्रोक्त आचार-धर्मको स्वीकारकर बाह्य शुद्धि कर लेनी चाहिये, जिससे उपासकके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा अन्तरात्माकी भौतिकता एवं लौकिकताका समूल उन्मूलन हो सके और उनमें रसात्मकता तथा पूर्ण दिव्यताका आविर्भाव हो जाय। ऐसा जब हो सकेगा, तभी वह उपासनाके द्वारा निखिल-रसामृतमूर्ति सच्चिदानन्दघन भगवत्स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेगा।

यहाँ शास्त्रोंमें वर्णित देवोपासनाकी कुछ विधियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

नित्योपासनामें दो प्रकारकी पूजा बतायी गयी है—१-मानसपूजा और २-बाह्यपूजा। साधकको दोनों प्रकारकी पूजा करनी चाहिये, तभी पूजाकी पूर्णता है। अपनी सामर्थ्य और शक्तिके अनुसार बाह्यपूजाके उपकरण अपने आराध्यके प्रति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निवेदन करना चाहिये। शास्त्रोंमें लिखा है कि '**वित्तशाठ्यं न समाचरेत्**' अर्थात् देव-पूजनादि कार्योंमें कंजूसी नहीं करनी चाहिये। सामान्यतः जो वस्तु हम अपने उपयोगमें लेते हैं, उससे हल्की वस्तु अपने आराध्यको अर्पण करना उचित नहीं है। वास्तवमें भगवान्‌को वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे तो भावके भूखे हैं। वे उपचारोंको तभी स्वीकार करते हैं, जब निष्कपटभावसे व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा और भक्तिसे निवेदन करता है।

बाह्यपूजाके विविध विधान हैं, यथा—राजोपचार, सहस्रोपचार, चतुःषष्ट्युपचार, षोडशोपचार और पंचोपचार-पूजन आदि। यद्यपि सम्प्रदाय-भेदसे पूजनादिमें किंचित् भेद भी हो जाते हैं, परंतु सामान्यतः सभी देवोंके पूजनकी विधि समान है। गृहस्थ प्रायः स्मार्त होते हैं, जो पंचदेवोंकी पूजा करते हैं। पंचदेवोंमें १-गणेश, २-दुर्गा, ३-शिव, ४-विष्णु और ५-सूर्य हैं। ये पाँचों देव स्वयंमें पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हैं। साधक इन पंचदेवोंमें एकको अपना इष्ट मान लेता है, जिन्हें वह सिंहासनपर मध्यमें स्थापित करता है। फिर यथालब्धोपचार-विधिसे उनका पूजन करता है।

भगवत्पूजा अतीव सरल है, जिसमें उपचारोंका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। महत्त्व भावनाका है। उस समय जो भी उपचार उपलब्ध हो जायँ, उन्हें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निश्छल दैन्यभावसे भगवदर्पण कर दिया जाय तो उस पूजाको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९।२६)

अर्थात् जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्प

आदि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

विशिष्ट उपासना

विशेष अवसरोंपर जो देवाराधन किया जाता है, जैसे—नवरात्रके अवसरपर दुर्गापूजा, सप्तशतीका पाठ, रामायण आदिके नवाह-पाठ, श्रावण आदि पवित्र महीनोंमें लक्ष-पार्थिवार्चन, महारुद्राभिषेक, श्रीमद्भागवतसप्ताह आदि विशेष प्रकारके अनुष्ठान विशिष्ट उपासनाएँ हैं। आरोग्यता एवं दीर्घजीवन-प्राप्तिके निमित्त महामृत्युंजयका जप एवं धन, सन्तान तथा अन्य कामनाओंके निमित्त किये जानेवाले अनुष्ठान भी इन्हींमें आते हैं, परंतु भगवत्प्रीतिके निमित्त किये गये अनुष्ठानका अनन्त फल शास्त्रोंमें बताया गया है, जो भी अनुष्ठान-साधन-भजन किया जाय, वह अनात्म (संसारकी) वस्तुओंकी प्राप्तिके निमित्त नहीं, अपितु भगवान्‌की प्रसन्नता-प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये।

मानस-पूजा

बाह्यपूजाके साथ-साथ मानसपूजाका भी अत्यधिक महत्त्व है। पूजाकी पूर्णता मानसपूजनमें ही हो जाती है। भगवान्‌को किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, वे तो भावके भूखे हैं। संसारमें ऐसे दिव्य पदार्थ उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे परमेश्वरकी पूजा की जा सके। इसलिये शास्त्रोंमें मानस-पूजाका विशेष महत्त्व माना गया है। मानस-पूजामें भक्त अपने इष्टदेवकी मानसिक मूर्तिकी कल्पना अपने हृदयमें करता है तथा उन्हें मुक्तामणियोंसे मण्डितकर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान करता है। स्वर्गलोककी मन्दाकिनी गंगाके जलसे अपने आराध्यको स्नान कराता है, कामधेनु गौके दुग्धसे पंचामृतका निर्माण करता है। वस्त्राभूषण भी दिव्य अलौकिक होते हैं। पृथ्वीरूपी गन्धका अनुलेपन करता है। अपने आराध्यके लिये कुबेरकी पुष्पवाटिकासे स्वर्णकमल-पुष्पोंका चयन करता है। भावनासे वायुरूपी धूप, अग्निरूपी दीपक तथा अमृतरूपी नैवेद्य भगवान्‌को अर्पण करनेकी विधि है। इसके साथ ही त्रिलोककी सम्पूर्ण वस्तु, सभी उपचार सच्चिदानन्दघन परमात्मप्रभुके चरणोंमें भावनासे भक्त अर्पण करता है। यह है मानस-पूजाका स्वरूप। इसकी एक संक्षिप्त विधि भी पुराणोंमें वर्णित है, जो नीचे लिखी जा रही है—

१-ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि।

(प्रभो! मैं पृथिवीरूप गन्ध (चन्दन) आपको अर्पित करता हूँ।)

२-ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि।

(प्रभो! मैं आकाशरूप पुष्प आपको अर्पित करता हूँ।)

३-ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं आघ्रापयामि।

(प्रभो! मैं वायुदेवके रूपमें धूप आपको अर्पित करता हूँ।)

४-ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं दर्शयामि।

(प्रभो! मैं अग्निदेवके रूपमें दीपक आपको अर्पित करता हूँ।)

५-ॐ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि।

(प्रभो! मैं अमृतके समान नैवेद्य आपको निवेदित करता हूँ।)

६-ॐ सौं सर्वात्मकं सर्वोपचारं समर्पयामि।

(प्रभो! मैं सर्वात्माके रूपमें संसारके सभी उपचारोंको आपके चरणोंमें समर्पित करता हूँ।)—इन मन्त्रोंसे भावनापूर्वक मानस-पूजा की जा सकती है।

भोजन-विज्ञान

भोजन तैयार हो जानेपर सर्वप्रथम बलिवैश्वदेव एवं पंचबलि करना चाहिये तथा भगवान्‌का भोग लगाना चाहिये। पंचबलिका तात्पर्य है, भोजनमें जो सामग्री बनती है, वे सभी वस्तुएँ पाँच जगह निकाली जायँ। पहली बलि गोमाताके लिये, दूसरी श्वान (कुत्ते)-के लिये, तीसरी वायस (कौए)-के लिये, चौथी बलि देवोंके लिये और पाँचवीं पिपीलिका (चींटी आदि कीट-पतंगों)-के लिये संकल्पद्वारा प्रदान करनेकी विधि है। भगवान्‌के भोगमें तुलसीदल छोड़नेका विधान है। तुलसीदलका विशेष महत्त्व बताया गया है। इसका वैज्ञानिक रहस्य यह है कि भोजनमें तुलसीदल डालनेसे न्यूनातिन्यून परिमाणमें विद्यमान अन्नकी विषाक्तता तुलसीके प्रभावसे शमित हो जाती है—**'तुलसीदलसम्पर्कादन्नं भवति निर्विषम्।'** अतः जब भी भोजन करे तो पहले भगवान्‌को निवेदन करके प्रसादरूपसे ही ग्रहण करे। पैरोंको धोकर, भलीभाँति

कुल्ला करके, हाथ-मुँह धोकर भोजन करना चाहिये। भोजन करनेसे पूर्व घरपर आये अतिथिका सत्कार करे। फिर अपने घरमें आयी विवाहिता कन्या, गर्भिणी स्त्री, दु:खिया, वृद्ध और बालकोंको भोजन कराकर अन्तमें स्वयं भोजन करना चाहिये। इन सबको भोजन कराये बिना जो स्वयं भोजन करता है, वह पापमय भोजन करता है।

जिस प्रकार सन्ध्यावन्दन तथा अग्निहोत्रादि प्रात:-सायं दो बार करनेकी विधि है, उसी प्रकार अन्नका भोजन भी गृहस्थको प्रात:-सायं दो बार ही करना चाहिये। इसके अतिरिक्त दूध-फलादिका सेवन करना उचित है। भोजनसे पूर्व भोजनपात्रका परिषेचन (चारों ओर जलका मण्डल) करना चाहिये, जिससे कीट आदि भोजनकी थालीसे दूर रहें।* भोजन प्रारम्भ करनेके पूर्व लवणरहित तीन ग्रास '**ॐ भूपतये स्वाहा, ॐ भुवनपतये स्वाहा, ॐ भूतानां पतये स्वाहा**'—इन तीन मन्त्रोंसे थालीसे बाहर दायीं ओर निकालकर रखना चाहिये तथा इन्हीं मन्त्रोंसे जल भी छोड़ना चाहिये। इन तीन ग्रासोंमें पृथ्वी, भुवनमण्डल तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको तृप्त करनेकी भावना है। तदनन्तर भोजन प्रारम्भ करनेके पूर्व लवणरहित पाँच छोटे-छोटे ग्रासोंको—'**ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा**'—इन पाँच मन्त्रोंसे मुँहमें लेना चाहिये। इन पाँच ग्रासोंके द्वारा आत्मस्वरूप ब्रह्मके प्रीत्यर्थ जठराग्निमें आहुति प्रदान करनेका भाव है। भोजनके पूर्व '**ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा**' इस मन्त्रसे आचमन करे। इसका तात्पर्य है कि मैं अपने भोजनको अमृतरूपी बिछावन (आधार) प्रदान करता हूँ। इसके बाद मौन होकर प्रसन्न मनसे खूब चबा-चबाकर भोजन करे। आयुर्वेदके अनुसार एक ग्रासको लगभग बत्तीस बार चबाना चाहिये। जो अन्नको चबाकर नहीं खाता, उसके दाँत कमजोर हो जाते हैं तथा दाँतोंके बदले उसकी अँतड़ियोंको काम करना पड़ता है, जिससे अग्नि मन्द हो जाती है। कहा गया है कि अन्नके दो भाग, जल और वायुके एक-एक भागद्वारा उदरकी पूर्ति करनी चाहिये। भोजन करते समय जल न पीना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। जल पीना हो तो भोजनके मध्यमें थोड़ा-थोड़ा आवश्यकतानुसार पीना चाहिये। भोजनके अन्तमें जल पीना उचित नहीं है। भोजनके कम-से-कम एक घण्टे बाद इच्छानुसार जल पीना चाहिये। भोजनके अन्तमें '**ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा**' मन्त्र बोलकर आचमन करे। इसका तात्पर्य है कि मैं अपने भोजनप्रसादको अमृतसे आच्छादित करता हूँ।

अप्रसन्न मनसे, बिना रुचिके, भूखसे अधिक और अधिक मसालोंवाला चटपटा भोजन शरीरके लिये हानिकारक होता है। भोजन न तो इतना कम होना चाहिये, जिससे शरीरकी शक्ति घट जाय और न इतना अधिक होना चाहिये कि जिसे पेट पचा ही न सके।

बहुत प्यास लगी हो, पेटमें दर्द हो, शौचकी हाजत हो अथवा बीमार हो— ऐसे समय भोजन न करे। अपवित्र स्थानमें, सन्ध्याकालमें, गन्दी जगह, फूटी थाली आदिमें भोजन न करे। भोजन बनाने और परोसनेवाला मनुष्य दुराचारी, व्यभिचारी, चुगलखोर, छूतका रोगी, कोढ़ और खाज-खुजलीका रोगी, क्रोधी, वैरी और शोकसे ग्रस्त नहीं होना चाहिये। जिस आसनपर भोजन करने बैठे, उसे पहले झाड़ लेना चाहिये और सुखासनसे बैठकर भोजन करना चाहिये। भोजन करते समय गुस्सा न हो, कटु वचन न कहे। भोजनमें दोष न बतलाये, रोये नहीं, शोक न करे, जोरसे न बोले। किसी दूसरेको न छुए, वाणीका संयम करके अनिषिद्ध अन्नका भोजन करे। अन्नकी निन्दा न करे। बहुत गरम तथा बहुत ठण्डी चीज दाँतोंसे चबाकर न खाये। अधिक तीखा, अधिक कड़वा, अधिक नमकीन, अधिक गरम, अधिक रूखा, अधिक तेज भोजन राजसी है और अधकच्चा, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा अन्न तामसी है। राजसी, तामसी अन्नका, मांस-मद्यका तथा शास्त्रनिषिद्ध अन्नका त्याग करना चाहिये। भोजनके आदिमें अदरकको कतरकर उसके साथ थोड़ा नमक मिलाकर खाना अच्छा है। जीभके स्वादवश अधिक खा

---

* सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम्। नान्तराभोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधि:॥
भोजनादौ सदा विप्रैर्विधेयं परिषेचनम्। तेन कीटादय: सर्वे दूरं यान्ति न संशय:॥

लेना उचित नहीं है।

एक थालीमें दो आदमी न खायँ। इसी प्रकार एक

कटोरे या गिलासमें दूध या पानी न पियें। सोये हुए न खायें। दूसरेके हाथसे न खायँ। दूसरेके आसनपर अथवा गोदमें लेकर अन्न न खायें।

ताँबेके बरतनमें दूध न रखें। जिस दूधमें नमक गिर गया हो, उसे कभी न पियें। पीतलके बरतनमें खट्टी चीज रखकर न खायँ। एकादशी, पूर्णिमा, अमावास्या आदि दिनोंको व्रत रखना चाहिये। व्रतके दिन निराहार रहे या परिमित आहार करे, केवल जल पीना अच्छा है।

रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ, कुत्तेका छुआ हुआ, गायका सूँघा हुआ, कीड़ा, लार, थूक आदि पड़ा हुआ, अपमानसे मिला हुआ तथा वेश्या, कलाल, कृतघ्नी, कसाई और राजाका अन्न नहीं खाना चाहिये।

भोजनमें चौकेकी व्यवस्था

धूल और दुर्गन्धरहित, प्रकाशयुक्त, शुद्ध हवादार स्थानमें भोजन बनाना चाहिये। चारों ओरसे घिरी हुई जगहमें बैठकर भोजन करना चाहिये। प्राचीन कालसे ही अपने यहाँ चौकेकी व्यवस्थापर बहुत ध्यान दिया जाता रहा है। चौकेके भीतर जो वैज्ञानिकता है, उसे आजकल लोग भूलते जा रहे हैं। चौका चार प्रकारकी शुद्धियोंका समुच्चय है और भोजनमें इन चारों प्रकारकी शुद्धियोंकी आवश्यकता है। इससे किया गया भोजन हमारे शरीरको स्वस्थ तथा मनको पवित्र बनाता है। ये चार शुद्धियाँ हैं—(१) क्षेत्रशुद्धि, (२) द्रव्यशुद्धि, (३) कालशुद्धि और (४) भावशुद्धि।

(१) क्षेत्रशुद्धि—भोजन करते समय हमें क्षेत्र या स्थानकी शुद्धिपर विशेष ध्यान रखनेकी आवश्यकता है; क्योंकि प्रत्येक स्थानका वायुमण्डल, वातावरण, पर्यावरण हमारे मन तथा तनको जब प्रभावित करता है तो हमारे भोजनको भी प्रभावित करेगा ही। यदि किसी व्यक्तिको मरघट या श्मशानभूमि अर्थात् किसी अपवित्र स्थानमें भोजन कराया जाय और उसी व्यक्तिको उपवन आदि किसी पवित्र स्थानपर भोजन कराया जाय तो इन दोनों स्थानोंके भोजन, पाचनमें पर्याप्त अन्तरका अनुभव होगा। इसी प्रकार बाजारोंमें, गलियों आदिके आस-पास, कूड़ा-कचरा और उनपर भिनभिनाती मक्खियाँ, मच्छर तथा खाद्यपदार्थोंपर जहाँ धूल जमी हो, ऐसे दूषित स्थानोंपर जब व्यक्ति चाट, पकौड़ी, मिष्टान्न आदि खाता-पीता है तो कदाचित् वह भूल जाता है कि ऐसे स्थानोंका पर्यावरण पर्याप्त दूषित है। ऐसे वातावरणमें बैक्टीरिया, कीटाणु भोजनके साथ शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, जो शरीरमें रुग्णता पैदा करते हैं। चौकेकी व्यवस्थाके अन्तर्गत यह क्षेत्रशुद्धि स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त वैज्ञानिक और लाभदायक है। प्राचीन परम्पराके अनुसार चौकेमें अनधिकृत व्यक्तिका प्रवेश निषिद्ध रहता था। केवल अधिकृत व्यक्ति ही भोजन छूनेके अधिकारी होते थे।

(२) द्रव्यशुद्धि—द्रव्य भी हमारे भोजनपर बड़ा असर डालता है। अनीति, अनाचार और बेईमानी आदि अधर्मके साधनोंके धनसे बनाया गया भोजन हमारे तन तथा मनको प्रभावित करता है। ऐसा भोजन हमारे परमाणुओंको सात्त्विक कभी भी नहीं बना सकता।

(३) कालशुद्धि—काल या समयका भी भोजनपर प्रभाव पड़ता है। जो लोग समयपर भोजन नहीं करते, वे प्रायः उदरसम्बन्धी व्याधियोंसे पीड़ित रहते हैं। भूख लगनेपर भोजन करना भोजनका सर्वोत्तम समय है तथा नियमित समयसे भोजन करना स्वास्थ्यके लिये उत्तम है। गृहस्थके लिये सूर्य रहते दिनमें भोजन करना चाहिये तथा दूसरे समयका भोजन सूर्यास्तके बाद करनेकी विधि है। मानवको हितकर भोजन उचित मात्रामें उचित समयपर

करना चाहिये— '**हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः**'। (चरक)

(४) भावशुद्धि—भोजनपर भावनाओंका भी गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको नीरोग रहनेके लिये भोजन शुद्धभावसे करना चाहिये। क्रोध, ईर्ष्या, उत्तेजना, चिन्ता, मानसिक तनाव, भय आदिकी स्थितिमें किया गया भोजन शरीरके अन्दर दूषित रसायन पैदा करता है, जिसके फलस्वरूप शरीर विभिन्न रोगोंसे घिर जाता है। शुद्ध चित्तसे प्रसन्नतापूर्वक किया गया आहार शरीरको पुष्ट करता है, कुत्सित विचारों एवं भावोंके साथ किये गये भोजनसे व्यक्ति कभी भी स्वस्थ नहीं रह सकता। इसके साथ ही भोजन बनानेवाले व्यक्तिके भी भाव शुद्ध होने चाहिये। उसे भी ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदिसे ग्रस्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार इन चारों शुद्धियोंके साथ यदि भोजन करेंगे तो निश्चितरूपसे हमारा मन भी निर्मल रहेगा और शरीर भी नीरोगी रहेगा।

भोजनसामग्रीकी शुद्धता

भोजनसामग्रीकी शुद्धता और पवित्रतापर विशेष ध्यान रखनेकी आवश्यकता है। भोजनके कच्चे सामान आटा, दाल, घी, मसाला आदि स्वच्छ और साफ बरतनोंमें ढककर रखे जायँ। बिना ढके बरतनोंमें चूहे घुस जाते हैं और वे वहाँ मल-मूत्रका त्याग कर देते हैं। चूहोंके मल-मूत्रमें भयानक विष होता है। खुले बरतनोंमें दूसरे जानवर भी घुसकर सामानको गन्दा कर देते हैं। चौकेमें भोजन बनाकर जिन बरतनोंमें रखा हो, उन्हें ढककर रखना चाहिये। दूध, दही, मिठाई आदि पदार्थ ऐसे स्थानोंपर रखने चाहिये, जिनसे उनपर मक्खी-मच्छर न बैठ पायें। पंगतमें भोजन करने बैठे तो सबके साथ उठना चाहिये।

भोजनके बादके कृत्य

भोजन करनेके अनन्तर दाँतोंको खूब अच्छी तरह साफ करना चाहिये, ताकि उनमें अन्नका एक भी कण न रह जाय। अन्नकण दाँतोंमें रह जानेपर दाँत कमजोर हो जाते हैं तथा उससे पायरियाका रोग भी हो जाता है। दाँतोंके बीचमें यदि फाँक हो गयी हो तो उसमें फँसे अन्नकणोंको नीम आदिके तिनकेसे निकालकर अच्छी तरह धो लेना चाहिये। अपने शास्त्रोंमें भोजनके अनन्तर सोलह कुल्ले करनेका विधान है। कुल्ला करते समय मुँहमें पानी रखकर दस-पन्द्रह बार आँखोंको जलके छींटे देकर धोना चाहिये। दिनमें जितनी बार मुँहमें पानी ले उतनी बार यदि यह क्रिया की जाय तो आँखोंमें बड़ा लाभ होता है। भोजनके उपरान्त लघुशंका भी तुरंत करनी चाहिये। यह स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है, इससे मूत्रसम्बन्धी बीमारीका बचाव होता है।

भोजनके बाद दौड़ना, कसरत करना, तैरना, नहाना, घुड़सवारी करना, मैथुन करना और तुरंत ही बैठकर काम करने लगना स्वास्थ्यके लिये बहुत हानिकर है।

भोजनके बाद लगभग सौ कदम चलना चाहिये तथा चलनेके बाद लगभग १० मिनट दोनों घुटने पीछे मोड़कर वज्रासनमें बैठना चाहिये, तदनन्तर विश्रामकी मुद्रामें सीधे लेटकर ८ श्वास तथा दाहिनी करवटमें १६ श्वास और बायीं करवट लेटकर ३२ श्वास लेनेकी विधि है। इससे पाचनक्रिया ठीक रहती है तथा यह स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त लाभप्रद है।

जीविकोपार्जन—जिन व्यक्तियोंपर जीविकोपार्जनकी जिम्मेदारी है, उन्हें कम-से-कम ८ घण्टे अथवा आवश्यकतानुसार इससे अधिक समयमें जीविकोपार्जनके लिये व्यापार अथवा नौकरी (सेवा) न्यायोचित रूपमें पूर्ण ईमानदारीके साथ तथा तत्परतापूर्वक कर्तव्यबुद्धिसे करना चाहिये। इसमें एक रहस्य है, इस रहस्यको समझ लेनेपर जीविकोपार्जनका कार्य भी भगवान्की पूजामें परिणत हो जाता है। लोभकी अत्यन्त बढ़ी हुई प्रवृत्ति तथा किसी भी तरह धन कमानेकी चेष्टा ही मनुष्यको पतनकी ओर ले जाती है। झूठ, कपट, चोरी और छल आदिसे बचकर यदि व्यक्ति आसक्तिरहित होकर पूर्ण ईमानदारी, सत्यता एवं तत्परतापूर्वक अपना व्यापार अथवा नौकरी कर्तव्यबुद्धिसे करे तो उसका यह कार्य भगवदाराधनके रूपमें परिणत हो जाता है तथा उसके प्रारब्धके अनुसार उसे धन और यशकी भी प्राप्ति होती ही है। साथ ही वह उत्तरोत्तर स्वाभाविक रूपसे उन्नतिके पथपर अग्रसर होता है। परमात्मप्रभु भी उसपर प्रसन्न रहते हैं।

शयन—रातमें भोजन करनेके तुरंत बाद सोना नहीं चाहिये। सोनेसे पूर्व सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवान्का स्मरण अवश्य करना चाहिये। सोनेके पूर्व लघुशंका

आदिसे निवृत्त होकर हाथ-पैर धोकर उन्हें भलीभाँति पोंछकर स्वच्छ बिछावनपर पूर्व या दक्षिणकी ओर सिर करके सोना चाहिये। हवादार घर जिसमें भगवान्‌के चित्र टँगे हों, शयनके लिये उत्तम स्थान माना गया है। भगवान्‌का ध्यान करके बायीं करवट सोना स्वास्थ्यके लिये उत्तम है। सामान्यतः ६-७ घण्टे सोनेपर नींद पूरी हो जाती है। अभ्यास कर लेनेपर छः घण्टेसे कम भी सोया जा सकता है। सोनेके समय मुँह ढककर या मोजा पहनकर नहीं सोना चाहिये। रातमें जल्दी सोना तथा प्रातःकाल जल्दी उठना स्वास्थ्यके लिये विशेष लाभप्रद है। शयनका स्थान हवादार, स्वच्छ तथा साफ होना चाहिये।

मनुष्य सोकर उठनेपर शान्त अन्तःकरणसे जिसका चिन्तन करता है, उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सोनेके पूर्व जिसका चिन्तन करता हुआ सोता है, उसका भी प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि उस विषयकी आवृत्ति अनेक बार निद्रा आ जानेतक हो जाती है, जिसका गुप्तरूपसे प्रवाह निद्रामें भी बना रहता है। इसीलिये सोनेसे पूर्व पुराणोंकी सात्त्विक कथा या भक्तगाथा श्रवण करके अथवा भगवन्नामका जप करते हुए सोनेका विधान किया गया है।

स्वास्थ्यरक्षाकी आवश्यक बातें

स्वास्थ्यरक्षाकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त दिनचर्या ऊपर प्रस्तुत की गयी है, वस्तुतः स्वास्थ्यरक्षाके पाँच मूल आधार हैं—(१) आहार, (२) श्रम, (३) विश्राम, (४) मानसिक सन्तुलन और (५) पंचमहाभूतोंका सेवन।

(१) आहार—आहारके सम्बन्धमें ऊपर विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है। आयुर्वेदमें तीन प्रकारके भोजनोंका उल्लेख मिलता है—(१) शमन करनेवाला भोजन, (२) कुपित करनेवाला भोजन तथा (३) सन्तुलन रखनेवाला भोजन। वात-पित्त और कफ—इन तीनोंके असन्तुलनसे रोगका जन्म होता है। ये तीनों रोगके प्रमुख कारण हैं। जो भोज्यपदार्थ इन तीनोंका शमन करते हैं, वे शमनकारी और जो इन तीनोंको कुपित करते हैं, वे कुपितकारी तथा जो तीनोंको सन्तुलित किये रहते हैं, उन्हें सन्तुलनकारी भोजन कहा जाता है। इन तीनोंका स्वभावसे गहरा सम्बन्ध रहता है। इसलिये स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार भोजन करनेकी अनुमति दी जाती है। शारीरिक श्रम करनेवाले व्यक्तिके भोजनकी मात्रा और उसका प्रकार जो होगा, वह मानसिक श्रमशील व्यक्तिके भोजनकी मात्रा और प्रकारसे भिन्न होगा।

आहारका सर्वोपरि सिद्धान्त तो यह है कि भूख लगनेपर आवश्यकतानुसार भूखसे कम मात्रामें भोजन करना चाहिये।

(२) श्रम—जीवनमें भोजनके साथ श्रमका कम महत्त्व नहीं है। आजकल श्रमके अभावमें आलस्य और प्रमादके कारण विभिन्न प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति हो रही है। ऐसे बहुत लोग हैं, जिन्हें जीवनमें कभी भी सच्ची भूखकी अनुभूति नहीं होती।

स्वस्थ रहनेके लिये दैनिक जीवनक्रममें कुछ घण्टे ऐसे बिताने चाहिये, जिससे सहज श्रम हो जाय। जो लोग स्वाभाविक रूपसे शारीरिक श्रम नहीं कर सकते, उन्हें व्यायाम, योगासन और भ्रमणके द्वारा श्रमशील होना चाहिये।

आजकल सिनेमा, होटल तथा क्लबोंमें जानेके लिये और टी.वी. आदि देखनेके लिये तो सरलतासे समय मिलता है, किंतु व्यायामके लिये समयके अभावकी शिकायत बनी रहती है। जो व्यक्ति श्रम या व्यायाम नियमित रूपसे करते हैं, उन्हें सामान्यतः दवा लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे स्वाभाविक रूपसे स्वस्थ रहते हैं।

(३) विश्राम—आहार तथा श्रमकी तरह विश्राम भी शरीरकी अनिवार्य आवश्यकता है। अत्यधिक परिश्रमसे थके व्यक्तिमें विश्रामके पश्चात् नवजीवनका संचार होता है। रातकी गहरी नींदसे शरीरमें पुनः नयी शक्ति तथा मनमें नयी उमंगका प्रादुर्भाव होता है। विश्रामके बाद श्रम और श्रमके बाद विश्राम—दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं।

प्रायः लोग शरीरको तो विश्राम देते हैं, किंतु मनको विश्राम नहीं देते। शरीर एक स्थानपर पड़ा रहता है, किंतु मन इधर-उधर भटकता रहता है। नींदके समय शरीर

शान्त रहता है, किंतु मन स्वप्नमें फँसा रहता है। ध्यान तथा भगवन्नाम-स्मरणसे मनको विश्राम मिल सकता है। इसी प्रकार जीवनमें संयम-नियमका पालन करनेसे मनको शान्त रखनेमें सहायता मिलती है। निद्रा भी विश्रामका सर्वोत्तम साधन है। शरीर तथा मन—दोनोंको विश्राम मिलनेपर ही पूर्ण विश्रामकी स्थिति बनती है।

(४) **मानसिक सन्तुलन**—मानसिक विश्रामके बाद शारीरिक क्रिया होती है। शरीर सदा मनका अनुगामी होता है। मनमें संकल्प उठता है, इसके बाद ही शरीरद्वारा क्रिया आरम्भ होती है। शुद्ध चित्तमें पवित्र संकल्प या विचार आते हैं और अशुद्ध चित्तमें बुरे संकल्प या विचार आते हैं। मन शरीररूपी यन्त्रका संचालक है। मन या चित्तको शुद्ध रखनेपर वही सही मार्गपर चलेगा। इसलिये शरीरशुद्धिकी अपेक्षा चित्तशुद्धिका महत्त्व अधिक है। चित्तशुद्धिके बाद शारीरिक स्वास्थ्यका सुधार स्वतः स्वाभाविक रूपसे हो जायगा।

मनके शान्त तथा प्रसन्न रहनेपर सामान्यतः शरीर स्वस्थ रहेगा ही। मनमें अशान्ति, क्रोध, ईर्ष्या, राग-द्वेष बढ़नेपर शरीरको रोगी बननेसे रोका नहीं जा सकता। आजकल अनेक लोगोंको क्रोध, चिन्ता, भय, दु:ख तथा मानसिक तनाव आदिके कारण रक्तचाप, मधुमेह तथा हृदय एवं मस्तिष्कसम्बन्धी बीमारियाँ होती रहती हैं।

चित्तको शान्त और प्रसन्न रखनेकी दृष्टिसे मानसिक आहारके रूपमें हमें अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी शुद्धि करनी होगी। कानसे अच्छी बातें सुनें, भजन सुनें, आँखके द्वारा भी महापुरुषोंकी जीवनी पढ़ें, सत्-दृश्यका अवलोकन करें, मनमें अच्छे विचारोंको स्थान दें तथा बुरे विचारोंको त्यागें। तभी चित्तशुद्धिकी प्रक्रिया प्रारम्भ होगी।

वास्तवमें मानसिक स्वस्थता ही आरोग्यताकी मुख्य पूँजी है। मन तथा शरीर दोनों शुद्ध एवं स्वस्थ रहनेपर ही पूर्णरूपसे आरोग्य सुरक्षित रह सकता है। मानसिक सन्तुलन बनाये रखनेके लिये भगवान्का भजन, प्रार्थना, अपने इष्टका ध्यान, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय आदि मुख्य साधन हैं। स्वस्थ रहनेका अर्थ है अपने-आपमें स्थित होकर शान्त एवं प्रसन्न रहना। वास्तवमें शान्ति, प्रसन्नता अथवा जीवनका सम्पूर्ण रहस्य स्वमें स्थित आत्मतत्त्वमें विद्यमान रहना है, जो उस परम तत्त्वका ही अंश है।

(५) **पंचमहाभूतोंका सेवन**—यह शरीर पंचमहाभूत अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीसे निर्मित है। जीवनकी रक्षाके लिये इन पाँचों तत्त्वोंकी अनिवार्य आवश्यकता है।

[१] **आकाश**—जैसे हमारे बाहर सर्वत्र आकाश है, वैसे ही हमारे शरीरके भीतर भी आकाश है। इसीलिये शरीरके भीतर असंख्य जीवनकोष हैं, जो गतिमान् हैं। रक्तसंचार या वायुसंचारके लिये शरीरमें खाली जगह अर्थात् आकाशकी आवश्यकता अनिवार्य है।

[२] **वायु**—प्राय: जहाँ आकाश है, वहाँ वायु भी है। चूँकि आकाश सर्वत्र है, अतः वायु भी सर्वत्र है। वायुके बिना एक पल भी व्यक्ति रह नहीं सकता। जल और अन्नके बिना तो कुछ घण्टों या दिनोंतक प्राण बच सकते हैं, किंतु वायुके बिना प्राणी कुछ ही क्षणोंमें प्राण त्याग देता है। वायुका सेवन मनुष्य चौबीस घण्टे सतत करता है, इसलिये आकाश तथा वायुका समान महत्त्व है।

जटिल रोगमें जब औषधि असर नहीं करती तब रोगीको वायु-परिवर्तन कराकर स्वास्थ्यलाभ कराया जाता है। जहाँ दवा काम नहीं करती, वहाँ हवा काम कर जाती है—ऐसी कहावत प्रचलित है। प्रकृतिने जीवनकी रक्षाके लिये प्रचुर मात्रामें हवा प्रदान कर रखी है।

[३] **तेज**—तेजका पर्यायवाची शब्द अग्नि या ऊष्मा है। जबतक प्राणी जीवित है तबतक शरीरमें गरमी रहती है। मृत्यु होनेपर शरीर ठंडा हो जाता है। जीवनके साथ तेज या ऊष्माका तथा सूर्यका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्यकी गरमीसे प्रकृति प्राणिमात्रके लिये फल-फूल, कन्द-मूल आदि पकाती है। सूर्यकिरणोंमें जन्तुनाशक गुण भी है। विभिन्न रोगोंमें सूर्यकिरण-चिकित्सा भी की जाती है। स्वास्थ्यलाभकी दृष्टिसे प्रातःकाल तथा सायंकालमें जब किरणोंमें गरमी कम होती है तब सूर्यका सेवन खुले बदन करना हितकर है। अतः तेज भी जीवनके लिये अत्यन्त उपयोगी है।

[४] **जल**—मानवको जलकी प्रचुर आवश्यकता है। मनुष्यके आहारमें ठोस पदार्थ कम और तरल पदार्थ अधिक मात्रामें रहता है। स्नान, भोजन, स्वच्छता और

सफाई—सभी कार्य जलके बिना सम्भव नहीं हैं। पशुपालन, खेती-बारी आदि सभी कार्य जलपर ही निर्भर करते हैं। अतः जल भी जीवन है।

[५] **पृथ्वी**—पृथ्वीमाताकी गोदमें हम जन्मसे लेकर मृत्युतक निरन्तर रहते हैं। पृथ्वी अर्थात् मिट्टीमें आकाश, वायु, जल तथा सूर्यके सहयोगसे अन्न, फल, मूल, वनस्पति और ओषधियों आदिकी उत्पत्ति होती है और इसीसे सभी प्राणियोंका भरण-पोषण तथा रोगोंकी चिकित्सा होती है। मिट्टीके विभिन्न प्रयोगोंसे अनेक रोगोंकी चिकित्सा होती है। मिट्टीकी पट्टी प्रायः सभी रोगोंमें उपयोगी है।

यह शरीर पंचमहाभूतोंसे बना है, इसलिये प्रकृतिमें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-तत्त्वकी प्रचुरता है, जिससे प्राणी मुक्तभावसे उनका उपयोग करके नीरोग और स्वस्थ रह सके।

कल्याणकामी मनुष्यके लिये आयुर्वेदशास्त्रके अन्तमें कुछ उपदेश प्रदान किये गये हैं, जो यहाँ प्रस्तुत हैं—

मानवको सभी प्रकारके पापोंसे बचना चाहिये। हितैषी मित्रोंको समझना तथा वंचक मित्रोंसे दूर रहना चाहिये। अभावग्रस्त, रुग्ण एवं दीनजनोंकी सहायता करनी चाहिये। क्षुद्रातिक्षुद्र चींटी आदि प्राणियोंको अपने समान समझना चाहिये। देवता, गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य, राजा तथा अतिथिका सतत सत्कार करना चाहिये। याचकोंको विमुख नहीं जाने देना चाहिये और कठोर वचन कहकर उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। अपकार करनेवालेका भी निरन्तर उपकार करनेकी ही भावना रखनी चाहिये। फलकी कामनासे निरपेक्ष रहकर सम्पत्ति और विपत्तिमें सदा समबुद्धि रखनी चाहिये।[1] उचित समयपर अति संक्षेपमें किसीसे भी हितकर बात कहनी चाहिये—'**काले हितं मितं ब्रूयात्।**' मनुष्यको करुणार्द्र, कोमल, सुशील तथा संशयरहित होना चाहिये तथा किसीपर अत्यन्त विश्वास भी नहीं करना चाहिये। किसीको अपना शत्रु मानना तथा किसीसे शत्रुता करना दोनों अच्छे नहीं हैं।[2] सदैव सबसे विनम्र व्यवहार करना चाहिये। व्यर्थमें हाथ-पैर हिलाना, लगातार सूर्यकी ओर देखना तथा सिरपर भार ढोना आदि कार्य न करे, अत्यन्त चमकीली वस्तुओंकी ओर देरतक नहीं देखना चाहिये, इससे अन्धत्व आनेका भय होता है। सूर्योदय तथा सूर्यास्तके समय सोना, भोजन तथा स्त्रीगमन आदि करना निषिद्ध है। हानिप्रद पेय नहीं पीना चाहिये। किसी भी कार्यमें अति नहीं करना चाहिये—'**अति सर्वत्र वर्जयेत्**'।

बुद्धिमान् व्यक्तिको दूसरोंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव तथा सत्पात्रको दान देनेकी भावना रखनी चाहिये। हिंसा, चोरी, पिशुनता, कठोरता, झूठ, दुर्भावना, ईर्ष्या, द्वेष आदि पापोंसे तथा शरीर, मन और वाणीके द्वारा किसी भी प्रकारके पापोंसे बचना चाहिये। अन्यथा व्याधिरूपमें उनका दण्ड भोगना पड़ता है।

संक्षेपमें निष्कर्ष यह है कि जीवनके उत्कर्षके लिये तथा अपने कल्याणके लिये आचारधर्म अर्थात् सदाचारका पालन ही मनुष्यका मुख्य धर्म है—'**आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः**' (विष्णुसहस्रनाम श्लोक १३७)। जिसका अनुशीलनकर व्यक्ति अनेकानेक आपदाओं, रोगों, अभिचारोंसे सुरक्षित रहकर पूर्ण आरोग्य तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभीको प्राप्त करनेमें सक्षम हो जाता है।

जो व्यक्ति सदैव हितकर आहार-विहारका सेवन करता है, सोच-समझकर कार्य करता है, विषयोंमें आसक्त नहीं होता, जो दानशील, समत्व बुद्धिसे युक्त, सत्य-परायण, क्षमावान्, वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाला है, वह नीरोग होता है—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

(चरक)

मन, बुद्धि और चित्त जिसका स्थिर है, ऐसा प्रसन्नात्मा व्यक्ति ही स्वस्थ है—

'प्रसन्नात्मेन्द्रियग्रामो स्थिरधीः स्वस्थमुच्यते।'

ये सभी बातें अथवा विशेषताएँ आचारधर्मके पालनसे ही सम्भव हैं और यही स्वस्थ दैनिक चर्याका आधार है।

१-आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम् ॥
अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् । विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्॥
उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ। सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत्फले न तु॥ (अ०हृ०सू० २।२३—२५)

२-न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्॥ (अ०हृ०सू० २।२७)

जीवनचर्या

सामान्यतया मानवके लिये एक प्रश्न है कि जीवन कैसे बिताया जाय। वैसे तो जीवनयापनके लिये प्रकृतिके कुछ नियम हैं, जिनके अनुसार स्वाभाविक रूपमें संसारके सम्पूर्ण प्राणी अपना निर्वाह करते हैं। मनुष्य विचारप्रधान प्राणी है, पशुत्वसे ऊपर उठकर दिव्यत्वकी ओर जाता है, पशुकी अपेक्षा मनुष्यकी यही विशेषता है कि पशु तो अपनी आँखोंके सामने कोई मोहक वस्तु देखकर उसे पानेके लिये दौड़ पड़ता है और उसके प्रलोभनमें फँसकर पीछे होनेवाली ताड़नापर दृष्टि नहीं रखता, उसे तो केवल वर्तमान सुख चाहिये, परंतु मनुष्य किसी आकर्षक वस्तुको देखकर यह जानता है, विचार करता है और फिर यदि वह वस्तु अपने जीवनकी प्रगतिमें सहायक हुई तो उसे जहाँतक हुआ अपनी उन्नतिमें बाधक न हो, स्वीकार करता है और उसका उपयोग करता है। यद्यपि मनुष्यको क्षणिक उपभोग-सुखपर जो कि अत्यन्त तुच्छ है, मुग्ध नहीं होना चाहिये। कारण मनुष्यके लिये आवश्यक है कि वह अपने भविष्यकी अर्थात् जन्मान्तरकी भी चिन्ता करे, केवल मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंकी परिधिमें ही सीमित न रहकर अपने शाश्वत कल्याणके लिये प्रयत्नशील रहे। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा— **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥** यदि हम अपना पतन नहीं होने देना चाहते हैं तो हमें अपना उद्धार अपने-आप करना होगा। वस्तुतः हम ही अपने-आपके मित्र और शत्रु हैं। यदि हम अपने कल्याणप्राप्तिके पथपर अर्थात् शास्त्रोक्त कर्तव्योंका क्रियान्वयन करते हैं, हम अपने मित्र हैं और यदि हम उच्छृंखलतापूर्वक अपनी मनमानी करते हैं तो स्वाभाविक रूपसे हम स्वयंके शत्रु हो जाते हैं। कारण उच्छृंखल होकर अधर्मपूर्वक कार्य करनेवाले व्यक्तिका पतन निश्चित है। उसे अगले जन्मोंमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग एवं तिर्यक् योनि प्राप्त होती है तथा नरक भी भोगना पड़ता है। अतः अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

जीवनचर्याके अन्तर्गत जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिये, इसपर संक्षेपमें यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है—

संस्कार

अपने शास्त्रोंमें संस्कारोंकी आवश्यकता बतायी गयी है, जैसे खानसे सोना, हीरा आदि निकलनेपर उसमें चमक, प्रकाश तथा सौन्दर्यके लिये तपाकर, तराशकर मल हटाना एवं चिकना करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्यमें मानवीय शक्तिका आधान होनेके लिये उसे सुसंस्कृत होना आवश्यक है और उसे पूर्णतः विधिपूर्वक संस्कारसम्पन्न करना चाहिये। वास्तवमें विधिपूर्वक संस्कार-साधनसे दिव्य ज्ञान उत्पन्न होकर आत्माको परमात्माके रूपमें प्रतिष्ठित करना ही मुख्य संस्कार है, तभी मानवजीवन प्राप्त करनेकी सार्थकता भी है।

संस्कारोंसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, संस्कार मनुष्यको पाप और अज्ञानसे दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञानसे समन्वित करते हैं।

शास्त्रोंमें संस्कारपर बहुत विचार हुआ है तथा विविध संस्कारोंका उल्लेख है, परंतु उनमें मुख्य तथा आवश्यक षोडश संस्कार माने गये हैं। महर्षि व्यासजीद्वारा प्रतिपादित प्रमुख षोडश संस्कार इस प्रकार हैं[१]—

१-गर्भाधानसंस्कार—विधिपूर्वक संस्कारसे युक्त गर्भाधानसे अच्छी और सुयोग्य सन्तान उत्पन्न होती है। इस संस्कारसे वीर्यसम्बन्धी तथा गर्भसम्बन्धी पापका नाश होता है। दोषका मार्जन तथा क्षेत्रका संस्कार होता है। यही गर्भाधानसंस्कारका फल है।[२]

१-गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया:॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधि:। केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशः स्मृताः। (व्यासस्मृति १। १३—१५)

२-निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते। क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥ (स्मृतिसंग्रह)

२-पुंसवनसंस्कार—पुत्रकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें पुंसवनसंस्कारका विधान है। इस गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो, इसलिये पुंसवनसंस्कार किया जाता है।

३-सीमन्तोन्नयनसंस्कार—गर्भके छठे या आठवें मासमें यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारका फल भी गर्भकी शुद्धि ही है। सामान्यतः गर्भमें चार मासमें बालकके अंग-प्रत्यंग, हृदय आदि प्रकट हो जाते हैं। गर्भमें चेतना आ जाती है। इस समय जो संस्कार डाले जाते हैं, उसका बालकपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः माता-पिताको चाहिये कि इन दिनों विशेष सावधानीके साथ शास्त्रसम्मत व्यवहार रखें तथा गर्भिणी स्त्रीको सत्संग तथा अच्छी पुस्तकोंका स्वाध्याय करना चाहिये।

४-जातकर्मसंस्कार—इस संस्कारसे गर्भस्रावजन्य सारा दोष नष्ट हो जाता है, बालकके जन्म होते ही यह संस्कार करनेका विधान है। नालच्छेदनसे पूर्व बालकको स्वर्णकी शलाका अथवा अनामिका अँगुलीसे मधु तथा घृत चटाया जाता है।

५-नामकरणसंस्कार—इस संस्कारका फल आयु तथा तेजकी वृद्धि तथा लौकिक व्यवहारकी सिद्धि बताया गया है।[1] जन्मसे १० रात्रिके बाद ११वें दिन कुलक्रमानुसार किसी भी दिन नामकरणसंस्कार करनेकी विधि है।

६-निष्क्रमणसंस्कार—इस संस्कारका फल विद्वानोंने आयुकी वृद्धि बताया है। यह संस्कार बालकके चौथे या छठे मासमें होता है।

७-अन्नप्राशन—इस संस्कारके द्वारा माताके गर्भमें मलिनभक्षणजन्य जो दोष बालकमें आ जाते हैं, उनका नाश हो जाता है। शुभ मुहूर्तमें देवताओंका पूजन करनेके पश्चात् माता-पिता आदि सोने या चाँदीकी शलाका या चम्मचसे बालकको हविष्यान्न (खीर) आदि पवित्र और पुष्टिकारक अन्न मन्त्रके उच्चारणपूर्वक चटाते हैं।

८-चूडाकरणसंस्कार (वपनक्रिया)—इसका फल आयु तथा तेजकी वृद्धि करना है, इसे प्रायः तीसरे, चौथे या सातवें वर्ष अथवा कुलपरम्परानुसार करनेका विधान है। शुभ मुहूर्तमें कुशल नाईद्वारा बालकका मुण्डन कराया जाता है तथा मर्मस्थानकी सुरक्षाके लिये सिरके पिछले भागमें चोटी रखनेका विधान किया है।

९-कर्णवेध—पूर्ण पुरुषत्व एवं स्त्रीत्वकी प्राप्तिके लिये यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारको छः माससे लेकर १६वें मासतकमें अथवा तीन, पाँच आदि विषमवर्षमें अथवा कुलके आचारके अनुसार करना चाहिये।

१०-उपनयन—इस संस्कारसे द्विजत्वकी प्राप्ति होती है, शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि इस संस्कारके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यका द्वितीय जन्म होता है। विधिवत् यज्ञोपवीत धारण करना इस संस्कारका मुख्य अंग है। इस संस्कारके द्वारा अपने आत्यन्तिक कल्याणके लिये वेदाध्ययन तथा गायत्रीजप, श्रौतस्मार्त आदि कर्म करनेका अधिकार प्राप्त होता है।

११-वेदारम्भसंस्कार—उपनयनके बाद बालकको वेदाध्ययनका अधिकार प्राप्त हो जाता है, साथ ही विद्याध्ययनमें कोई विघ्न नहीं होने पाता। ज्योतिर्निबन्धमें कहा गया है—

विद्यया लुप्यते पापं विद्ययाऽऽयुः प्रवर्धते।
विद्यया सर्वसिद्धिः स्याद्विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

वेदविद्याके अध्ययनसे सारे पापोंका लोप होता है, आयुकी वृद्धि होती है, सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यहाँतक कि उसके समक्ष साक्षात् अमृत-रस अशनपानके रूपमें उपलब्ध हो जाता है।

१२-केशान्तसंस्कार—इस संस्कारमें वेदाध्ययन पूर्ण कर लेनेवाले ब्रह्मचारीके केशोंके अन्तभाग अर्थात् श्मश्रु (दाढ़ी)-की वपन-क्रिया मुख्यरूपसे होती है, इसलिये यह केशान्तसंस्कार कहलाता है। यह संस्कार उत्तरायणमें और प्रायः षोडशवर्षमें होता है।

१३-समावर्तन (वेदस्नान)-संस्कार—समावर्तन विद्याध्ययनका अन्तिम संस्कार है। विद्याध्ययन पूर्ण हो जानेके अनन्तर स्नातक ब्रह्मचारी अपने पूज्य गुरुकी आज्ञा मानकर अपने घरमें समावर्तित होता है, लौटता है। इसीलिये इसे समावर्तनसंस्कार कहा जाता है। गृहस्थजीवनमें प्रवेश पानेका अधिकारी हो जाना समावर्तनसंस्कारका फल है।

१४-विवाहसंस्कार—विवाहसंस्कारका भारतीय संस्कृतिमें अत्यधिक महत्त्व है। जिस दार्शनिक विज्ञान और सत्यपर वर्णाश्रमी आर्यजातिके स्त्री-पुरुषोंका विवाहसंस्कार प्रतिष्ठित है, उसकी कल्पना दुर्विज्ञेय है। कन्या और

१-आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा। नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥ (स्मृतिसंग्रह)

वर—दोनोंके स्वेच्छाचारी होकर विवाह करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं प्रदान की है। इसके लिये कुछ नियम और विधान बने हैं, जिनसे स्वेच्छाचारितापर नियन्त्रण होता है। पाणिग्रहणसंस्कार देवता और अग्निके साक्षित्वमें करनेका विधान है। भारतीय संस्कृतिमें यह दाम्पत्यसम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर तथा युगयुगान्तरतक माना गया है।

१५-विवाहाग्निपरिग्रह—विवाहसंस्कारमें लाजाहोम आदि क्रियाएँ जिस अग्निमें सम्पन्न की जाती हैं, वह आवसथ्य नामक अग्नि कहलाती है। इसीको विवाहाग्नि भी कहा जाता है।

१६-त्रेताग्निसंग्रह—विवाहाग्निसे अतिरिक्त तीन अग्नियों (गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि)-की स्थापना तथा उनकी रक्षाका विधान भी शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। ये त्रेताग्नि कहलाती हैं। इनमें श्रौतकर्म सम्पन्न होते हैं।

अन्त्येष्टि-क्रिया

कुछ आचार्योंने मृतशरीरकी अन्त्येष्टिक्रियाको भी एक संस्कार माना है, जिसे पितृमेध, अन्त्यकर्म, अन्त्येष्टि अथवा श्मशानकर्म आदि नामोंसे भी कहा गया है। यह क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और जीवनकी अन्तिम कड़ी है।

मृत्युके उपरान्त इस संस्कारमें मुख्यतः दाहक्रियासे लेकर द्वादशाहतकके कर्म सम्पन्न किये जाते हैं। मृत व्यक्तिके शरीरको स्नान कराकर, वस्त्रोंसे आच्छादितकर, तुलसी-स्वर्ण आदि पवित्र पदार्थोंको अर्पितकर शिखासूत्रसहित उत्तरकी ओर सिर करके चितामें स्थापित करना चाहिये और फिर औरस पुत्र या सपिण्डी या सगोत्री व्यक्ति सुसंस्कृत अग्निसे मन्त्रसहित चितामें अग्नि दे। अग्नि देनेवाले व्यक्तिको बारहवें दिन सपिण्डनपर्यन्त सारे कर्म करने चाहिये। तीसरे दिन अस्थिसंचय करके दसवें दिन दशाहकर तिलांजलि देनी चाहिये। दस दिन तथा बारह दिनतक अशौच रहता है, इसमें कोई नैमित्तिक कार्य नहीं करने चाहिये। बौधायनीय पितृमेध सूत्रोंमें इस क्रियाकी विशिष्ट विधि दी गयी है।

वर्णव्यवस्था

भारतीय संस्कृतिमें तथा शास्त्र, पुराणोंमें सनातनधर्मका आधार वर्णाश्रमकी व्यवस्था है। अनादिकालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो चुका है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व-रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है, इन्हीं गुणकर्मोंके अनुसार जीवको देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि विभिन्न योनियोंमें जाना पड़ता है। भगवान् जगत्‌की सृष्टिके समय जीवके लिये जब मनुष्ययोनिका निर्माण करते हैं, तब उन जीवोंके गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं; क्योंकि भगवान्‌का वचन है—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**' प्रजापति ब्रह्माके द्वारा चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि हुई है। इन चारों वर्णोंके लिये उनके स्वभावानुकूल पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान भी भगवान् ही कर देते हैं, जिससे ब्राह्मण शम-दमादि कर्मोंमें रत रहें, क्षत्रिय शौर्य-तेज आदिसे युक्त हों, वैश्य कृषि-गोरक्षामें लगे रहें और शूद्र सेवापरायण हों।

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे वर्णविभाग बनता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षाका प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं।

मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है, जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसे उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये; क्योंकि वही उसका स्वधर्म है और स्वधर्म का पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बताया है—

'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥**'

—साथ ही परधर्मको भयावह भी बताया है। यह ठीक है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्मपालनसे ही सामाजिक शक्ति और सामंजस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा एवं उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकारक है। अतः व्यवस्थित वर्णव्यवस्थाको मर्यादित रहने देना, उनका संरक्षण करना, तदनुसार चलना सबके लिये सर्वथा कल्याणकारक सिद्ध होगा।

आश्रमव्यवस्था

वर्णव्यवस्थाकी भाँति आश्रमव्यवस्था भी भारतीय संस्कृति एवं हिन्दूधर्मका एक प्रमुख अंग है। ब्रह्मचर्य,
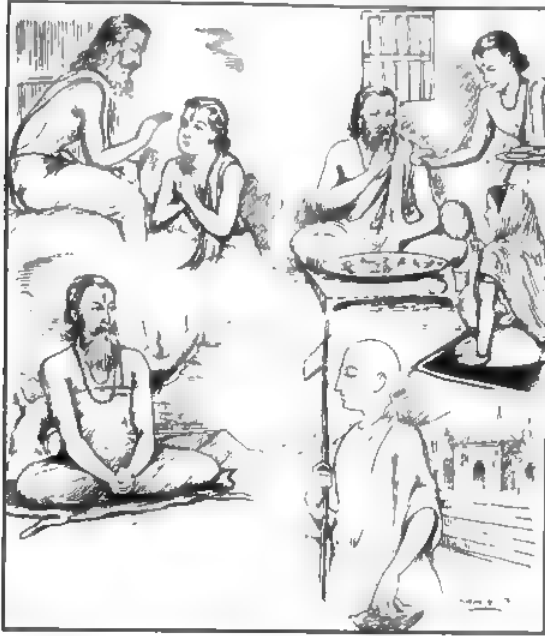
गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास—इन चार आश्रमोंमें प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्यकर्म उसके वर्णके साथ-साथ आश्रमपर भी निर्भर करता है।

ब्रह्मचर्याश्रम—प्रारम्भके २५ वर्ष ब्रह्मचर्य-आश्रमके अन्तर्गत माने गये हैं। प्राचीनकालमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-बालक ५ से २५ वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्यका पालन करते थे और इसके नियमानुसार रहते थे। शूद्र बालक भी अपने अधिकारानुसार इस उच्च आदर्शका अनुकरण करते थे। परनारीका स्पर्श तो क्या उनके प्रति दृष्टिपात करना यहाँतक कि उनका चिन्तन भी अपराध था। २५ वर्षकी अवस्था प्राप्त होनेपर समावर्तन-संस्कारके बाद पाणिग्रहण-संस्कारके द्वारा वे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे।

गृहस्थाश्रम—आश्रमव्यवस्थामें गृहस्थाश्रमको एक महत्त्वपूर्ण आश्रम माना गया है। यह सभी आश्रमोंका आधार है। सम्पूर्ण जीवनकी जिम्मेदारियोंका निर्वाह इस आश्रममें ही होता है। युवावस्था प्राप्त होनेपर व्यक्तिमें एक विशेष शक्तिका संचार होना स्वाभाविक है। पचास वर्षकी अवस्थातक शास्त्रोंने उसे अधिकार दिया कि वह पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये वंशवृद्धिके निमित्त सन्तान उत्पन्न करे तथा जीविकोपार्जन करता हुआ अपने परिवारका पालन-पोषण करे। समाज, देश और राष्ट्रकी सेवा करे। गृहस्थाश्रमके अनेक कर्तव्योंके वर्णन पुराणोंमें प्राप्त होते हैं।

वानप्रस्थाश्रम—पचास वर्षकी अवस्थातक प्रायः व्यक्तिका मस्तिष्क परिपक्व हो जाता है। इसके बाद अवस्था प्रायः ढलने लगती है। उसकी सन्तान भी तबतक युवावस्थाको प्राप्त हो जाती है। पारलौकिक चिन्तन तथा भगवदाराधनकी ओर उसकी प्रवृत्तियाँ विशेषरूपसे उन्मुख होने लगती हैं। इसलिये उसमें गृहस्थ जीवनकी जिम्मेदारियोंसे मुक्त होनेकी भावना जाग्रत् होना स्वाभाविक है। अतः शास्त्रकारोंने पचास वर्षकी अवस्थासे ७५ वर्षकी अवस्थाको वानप्रस्थ-आश्रमकी व्यवस्था दी। इस आश्रममें गृहस्थाश्रमके सुखोंका त्याग करता हुआ व्यक्ति निवृत्तिमार्गकी ओर अग्रसर होता है और मुख्य रूपसे वनमें, एकान्तमें अथवा तीर्थस्थलोंमें निवास करता हुआ निष्काम कर्म, भगवच्चिन्तन, आराधन एवं तपोमय जीवन व्यतीत करता है। तीर्थयात्रा, व्रत, व्रतोद्यापन, परोपकार, समाज-सेवा तथा अन्य सभी पारमार्थिक कार्य इस आश्रममें सम्पन्न किये जा सकते हैं।

संन्यासाश्रम—जीवनका अन्तिम आश्रम है—संन्यास-आश्रम। सभी प्रकारके दायित्वोंसे संन्यास लेनेका विधान इस आश्रममें है। जीवन-निर्वाहमात्रके लिये जो कर्म करना आवश्यक हो, उसके अतिरिक्त सभी कर्मोंसे वह संन्यास ले लेता है तथा **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की भावनासे ब्रह्मचिन्तनमें ही अपना समय व्यतीत करता है।

वर्णाश्रमधर्म पुनर्जन्म और कर्मवादके सिद्धान्तपर अवलम्बित है। वर्णाश्रमधर्मका अन्तिम लक्ष्य है शिवत्वकी प्राप्ति। जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना तथा जन्म-जन्मान्तरके चक्रसे उद्धार पाना मनुष्य-जीवनका परम और चरम लक्ष्य है। वर्णाश्रम इसी साधनाका पथ दिखलाता है।

व्रतोपवास

मनुष्योंके कल्याणके लिये यज्ञ, तपस्या, तीर्थसेवन, दान आदि अनेक साधन बताये गये हैं, उनमें एक साधन व्रतोपवास भी है, इसकी बड़ी महिमा है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये व्रतोपवास आवश्यक है। इससे बुद्धि, विचार और ज्ञानतन्तु विकसित होते हैं। शरीरके अन्तःस्थलमें परमात्माके

प्रति भक्ति-श्रद्धा और तन्मयताका संचार होता है। पारमार्थिक लाभके साथ-साथ व्रतोपवाससे भौतिक लाभ भी होते हैं। व्यापार, व्यवसाय, कला-कौशल, शास्त्रानुसन्धान और उत्साहपूर्वक व्यवहार-कुशलताका सफल सम्पादन किये जानेमें मन निगृहीत रहता है, जिससे सुखमय दीर्घ जीवनमें आरोग्य साधनोंका स्वतः संचय हो जाता है।

यद्यपि रोग भी पाप हैं और ऐसे पाप व्रतोंसे दूर होते ही हैं। तथापि कायिक, वाचिक, मानसिक और सांसर्गिक पाप, उपपाप, महापापादि भी व्रतोपवाससे दूर होते हैं। उनके समूल नाशका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि व्रतारम्भके पूर्व पापयुक्त प्राणियोंका मुख हतप्रभ रहता है और व्रतकी समाप्ति होते ही वह सूर्योदयके कमलकी भाँति खिल उठता है। पुण्यप्राप्तिके लिये किसी पुण्यतिथिमें उपवास करने या किसी उपवासके कर्मानुष्ठानद्वारा पुण्य-संचय करनेके संकल्पको व्रत कहा जाता है। यम-नियम और शम-दम आदिका पालन, भोजन आदिका परित्याग अथवा जल-फल आदिपर रहना तथा समस्त भोगोंका त्याग करना—ये सब व्रतके अन्तर्गत समाहित होते हैं। शास्त्रोक्त नियम ही व्रत कहे जाते हैं। व्रतीको शारीरिक सन्ताप सहन करना पड़ता है, इसीलिये इसे तप भी कहा जाता है। इन्द्रियनिग्रहको दम और मनोनिग्रहको शम कहा गया है। व्रतमें इन्द्रियोंका नियमन (संयम) करना होता है। इसलिये इसे नियम भी कहते हैं। इसके पालनसे देवगण व्रतीपर प्रसन्न होकर उसे भोग तथा मोक्ष—सब कुछ प्रदान कर देते हैं। क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रियसंयम, देवपूजा, हवन, संतोष और चोरीका अभाव—इन नियमोंका पालन प्रायः सभी व्रतोंमें आवशयक माना गया है—

क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहरणं सन्तोषोऽस्तेयमेव च॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः।

(अग्निपु० १७५। १०-११)

इन सभी व्रतोपवासोंमें व्यक्तिको सात्त्विकताका आश्रयणकर अपने त्रिविध पापोंको दूर करनेके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये विशेषतः भगवत्प्राप्तिके लिये ही इनका अनुष्ठान करना चाहिये। इनके अनुष्ठानसे परम कल्याण होता है, बुद्धि निर्मल हो जाती है, विचारोंमें सत्त्वगुणका उद्रेक होता है, विवेक शक्ति प्राप्त होती है, सत्-असत्का निर्णय स्वतः होने लगता है और अन्तमें सन्मार्गमें प्रवृत्त होते हुए कर्ता या अनुष्ठाता लौकिक तथा पारलौकिक सुखोंको प्राप्त करता है। इसीलिये व्रतोपवासकी महिमा बताते हुए कहा गया है कि व्रतोपवास के अनुष्ठानसे पापोंका प्रशमन होता है। ईप्सित फलोंकी प्राप्ति होती है, देवताओंका आश्रयण प्राप्त होता है। व्रतीपर देवता अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और वे अपने अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। जो व्यक्ति निर्दिष्ट विधिसे व्रतोपवासका अनुष्ठान करते हैं, वे संसारमें सभी दुःखोंसे रहित होते हैं और स्वर्गलोकमें ऐश्वर्यका भोग करते हैं तथा देवताओंद्वारा सम्मान प्राप्त करते हैं।

दान-प्रकरण

मनुष्यके जीवनमें दानका अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है। यह एक प्रकारका नित्यकर्म है। मनुष्यको प्रतिदिन कुछ दान अवश्य करना चाहिये। '**श्रद्धया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्।**' दान चाहे श्रद्धासे दे अथवा लज्जासे दे या भयसे दे, परंतु दान किसी प्रकार अवश्य देना चाहिये। मानवजातिके लिये दान परम आवश्यक है। दानके बिना मानवकी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। अतः मानवको अपने अभ्युदयके लिये दान अवश्य करना चाहिये।

अपने शास्त्रोंमें कहा है—'**विभवो दानशक्तिश्च महतां तपसां फलम्**' विभव और दान देनेकी सामर्थ्य अर्थात् मानसिक उदारता—ये दोनों महान् तपके फल हैं। विभव होना तो सामान्य बात है, यह कहीं भी हो सकता है, पर उस विभवको दूसरोंके लिये देना मनकी उदारतापर ही निर्भर करता है, जो जन्म-जन्मान्तरके पुण्यपुंजसे प्राप्त होती है।

शास्त्रोंमें दानके लिये स्थान, काल और पात्रका विशद विचार किया गया है। दान किसी शुभ स्थानपर अर्थात् तीर्थ आदिमें, शुभकालमें तथा अच्छे मुहूर्तमें सत्पात्रको देना चाहिये। यद्यपि यह विचार सर्वथा उचित है, परंतु अनवसरमें भी यदि अवसर प्राप्त हो जाय तो भी दानका अपना एक वैशिष्ट्य है—जिस पात्रको आवश्यकता है, जिस स्थानपर आवश्यकता है और जिस कालमें आवश्यकता है, उसी क्षण दान देनेका एक अपना विशेष महत्त्व है। विशेष आपत्तिकालमें तत्क्षण पीड़ितसमुदायको अन्न-आवास, भूमि आदिकी जो सहायता प्रदान की जाती

है, वह इसी कोटिका दान है। यह दान व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकारसे होता है। शास्त्रों तथा पुराणोंमें दानके विविध स्वरूप वर्णित हैं—

(१) दैनिक जीवनमें जिस प्रकार व्यक्तिके द्वारा और सब कर्म सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दान भी नित्य नियमपूर्वक करना चाहिये। इस प्रकारके दानमें अन्नदानका विशेष महत्त्व बताया गया है।

(२) विभिन्न पर्वोंपर तथा विशेष अवसरोंपर जो दान दिये जाते हैं, उन्हें नैमित्तिक दान कहते हैं। शास्त्र-पुराणोंमें इसकी विस्तारपूर्वक व्यवस्था बतायी गयी है। जैसे सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहणके समय ताम्र तथा रजतपात्रमें काले तिल, स्वर्ण तथा द्रव्यादिका दान। एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति तथा व्यतीपात आदि पुण्यकालोंमें विशेषरूपसे दानका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इनमें अन्नदान, द्रव्यदान, स्वर्णदान, भूमिदान तथा गोदान आदिका विशेष महत्त्व है।

(३) अनेक पुराणोंमें कुछ ऐसे दानोंका भी वर्णन है, जो मनुष्यकी कामनाओंकी पूर्तिके लिये किये जाते हैं, जिनमें तुलादान, गोदान, भूमिदान, स्वर्णदान या घटदान आदि और अष्ट एवं षोडशमहादान परिगणित हैं। ये सभी प्रकारके दान काम्य होते हुए भी यदि निःस्वार्थभावसे

भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके निमित्त भगवदर्पण बुद्धिसे किये जायँ तो ये ब्रह्मसमाधिमें परिणत होकर भगवत्प्राप्ति करानेमें विशेष सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

(४) कुछ दान बहुजनहिताय, बहुजनसुखायकी भावनासे सर्वसाधारणके हितमें करनेकी परम्परा है। देवालय, विद्यालय, औषधालय, भोजनालय (अन्नक्षेत्र), अनाथालय, गोशाला, धर्मशाला, कुआँ, बावड़ी, तालाब आदि सर्वजनोपयोगी स्थानोंका निर्माण आदि कार्य यदि न्यायोपार्जित द्रव्यसे बिना यशकी कामनासे भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ तो परम कल्याणकारी सिद्ध होंगे।

सामान्यतः न्यायपूर्वक एकत्रित किये गये धनका दशमांश (आमदनीका दसवाँ हिस्सा) बुद्धिमान् व्यक्तिको दान-कार्यमें ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये लगाना चाहिये—

न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमतः।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थमेव च॥

(स्कन्दपुराण)

अन्यायपूर्वक अर्जित धनका दान करनेसे कोई पुण्य नहीं होता, यह बात '**न्यायोपार्जितवित्तस्य**' इस वचनसे स्पष्ट होती है। देवीभागवतमें तो यह स्पष्ट किया गया है कि अन्यायोपार्जित द्रव्यसे किया गया कर्म व्यर्थ है, उससे न तो इस लोकमें कीर्ति होती है और न परलोकमें कोई पारमार्थिक फल ही मिलता है।* यह भी मान्यता है कि दान करनेसे धनकी शुद्धि होती है।

उपार्जित धनके दशमांशका दान करनेका यह विधान सामान्य कोटिके मानवोंके लिये किया गया है, जो व्यक्ति वैभवशाली, धनी और उदारचेता हैं, उन्हें तो अपने उपार्जित धनको पाँच भागोंमें विभक्त करना चाहिये—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

(१) धर्म, (२) यश, (३) अर्थ (व्यापार आदि आजीविका), (४) काम (जीवनके उपयोगी भोग) और (५) स्वजन (परिवारके लिये)—इस प्रकार पाँच प्रकारसे धनका विभाग करनेवाला इस लोक तथा परलोकमें भी आनन्दको प्राप्त करता है।

यहाँ व्यापार आदि आजीविकाके लिये धनका विभाग इसलिये किया गया है कि जिससे जीविकाके साधनोंका विनाश न हो; क्योंकि भागवतमें स्पष्ट कहा गया है कि जिस सर्वस्व दानसे जीविका भी नष्ट हो जाती हो, बुद्धिमान् पुरुष उस दानकी प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि जीविकाका साधन बने रहनेपर ही मनुष्य दान, यज्ञ, तप आदि शुभकर्म करनेमें समर्थ होता है—

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः॥

* अन्यायोपार्जितेनैव द्रव्येण सुकृतं कृतम्। न कीर्तिरिह लोके च परलोके च तत्फलम्॥ (देवीभा० ३। १२। ८)

जो मनुष्य अत्यन्त निर्धन है, अनावश्यक एक पैसा भी खर्च नहीं करते तथा अत्यन्त कठिनाईपूर्वक अपने परिवारका भरण-पोषण कर पाते हैं, ऐसे लोगोंके लिये दान करनेका विधान शास्त्र नहीं करते। इतना ही नहीं, यदि पुण्यके लोभसे अवश्यपालनीय वृद्ध माता-पिताका तथा साध्वी पत्नी और छोटे बच्चोंका पालन न करके उनका पेट काटकर जो दान करते हैं, उन्हें पुण्य नहीं प्रत्युत पापकी ही प्राप्ति होती है—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः॥

जो धनी व्यक्ति अपने स्वजन—परिवारके लोगोंके दुःखपूर्वक जीवित रहनेपर उनका पालन करनेमें समर्थ होनेपर भी पालन न कर विप्रोंको दान देता है, वह दान मधुमिश्रित विष-सा स्वादप्रद है और धर्मके रूपमें अधर्म है।

पुराणोंमें दानके सम्बन्धमें तो यहाँतक कह दिया गया है कि जितनेमें पेट भर जाता है, उतनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उससे अधिकमें जो अधिकार मानता है वह चोर है, दण्डका भागी है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

तीर्थयात्रा

भारतीय संस्कृतिमें तीर्थयात्राका विशेष महत्त्व है। जिस देशकी भूमि, जल, तेज, वायु तथा आकाश (वातावरण)-में काम-क्रोधादि मानसिक रोगोंको दूर करनेकी विशेष योग्यता होती है, उन स्थानोंको शास्त्रकी भाषामें तीर्थ कहते हैं। यद्यपि शरीर और मनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जिस देशका शरीरपर जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा ही सात्त्विक, राजस, तामस प्रभाव मनपर भी पड़ता है एवं जिस देशका मनपर जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा प्रभाव शरीरपर पड़ता है तथापि सात्त्विक प्रभाव डालनेवाले देशका नाम ही तीर्थ है।

भगवान‌्के अवतारोंके प्राकट्यस्थल, ब्रह्मा आदि विशिष्ट देवताओंकी यज्ञभूमियाँ और क्षेत्र, विशिष्ट नदियोंके संगम एवं पवित्र वन, पर्वत, देवखात, झील, झरने तथा प्रभावशाली संत-भक्त, ऋषि-मुनि, महात्माओंकी तपस्थलियाँ और साधनाके क्षेत्र आदि तीर्थ कहे जाते हैं। तीर्थोंमें जानेसे सत्संगके साथ-साथ वहाँके पूर्वोक्त सभी तत्त्वोंके सूक्ष्म तेजस्वी संस्कार उपलब्ध होते हैं, पिछले पाप नष्ट होकर पुण्योंका संचय होता है—

प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

श्रद्धा-विश्वाससे तीर्थका फल बढ़ता है, तीर्थमें जानेवाले तथा रहनेवालेको परिग्रह, काम-क्रोध, लोभ मोह, दम्भ, परनिन्दा और ईर्ष्या-द्वेषसे बचना चाहिये। तीर्थोंमें पाप करनेसे पापकी वृद्धि होती है, अतः तीर्थोंमें पापसे सर्वथा दूर रहना चाहिये।

भारतके चारों धाम और सातों पुरियोंकी तथा भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके आवासस्थल होनेसे तथा बदरिकाश्रम, रामेश्वरम् आदि धामोंकी, नर-नारायणके द्वारा तपस्या करने तथा श्रीरामादिद्वारा देवस्थापन करनेसे अत्यन्त महत्ता है। गंगादि नदियाँ नाम लेनेसे ही साधकको तार देती हैं। इसी प्रकार पुष्कर, मानसरोवर आदि ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हुए हैं और उनके द्वारा यज्ञ आदि करनेसे वे महान् तीर्थ हैं। जिनका शरीर और मन संयत होता है, उन्हें तीर्थोंका विशेष फल मिलता है।

गणपति आदि देवता एवं ऋषि-मुनि, पितर, संत-ब्राह्मणोंका पूजन-स्मरण करके तीर्थयात्राका शुभारम्भ करना चाहिये और यान आदिका आश्रय छोड़कर शुद्धभावसे धर्माचरणको बढ़ाते हुए तीर्थोंमें निवास करना चाहिये।

मानसतीर्थोंका महत्त्व

एक बार अगस्त्यजीने लोपामुद्रासे कहा—'निष्पापे! मैं उन मानस-तीर्थोंका वर्णन करता हूँ, जिन तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है, उसे सुनो। सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-संयम, सब प्राणियोंके प्रति दया, सरलता, दान, मनका दमन, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धृति और तपस्या—ये प्रत्येक एक-एक तीर्थ हैं। इनमें ब्रह्मचर्य परमतीर्थ है। मनकी परमविशुद्धि तीर्थोंका भी तीर्थ है। जलमें डुबकी मारनेका नाम ही स्नान नहीं है, जिसने इन्द्रिय-संयमरूप स्नान किया है, वही स्नात है और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही पवित्र है।'

जो लोभी, चुगलखोर, निर्दय, दम्भी और विषयोंमें आसक्त है, वह सारे तीर्थोंमें भलीभाँति स्नान कर लेनेपर भी पापी और मलिन ही है। शरीरका मैल उतारनेसे ही

मनुष्य निर्मल नहीं होता, मनके मलको निकाल देनेपर ही भीतरसे सुनिर्मल होता है। जलजन्तु जलमें ही पैदा होते हैं और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनके मनका मल नहीं धुलता। विषयोंमें अत्यन्त राग ही मनका मल है और विषयोंसे वैराग्य ही निर्मलता है। चित्त अन्तरकी वस्तु है, उसके दूषित रहनेपर केवल तीर्थ-स्नानसे शुद्धि नहीं होती। जैसे सुराभाण्डको चाहे सौ बार जलसे धोया जाय, वह अपवित्र ही है, वैसे ही जबतक मनका भाव शुद्ध नहीं है, तबतक उसके लिये दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवन और स्वाध्याय—सभी अतीर्थ हैं। जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं, वह मनुष्य जहाँ रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ विद्यमान हैं। ध्यानसे विशुद्ध हुए, राग-द्वेषरूपी मलका नाश करनेवाले ज्ञानजलमें जो स्नान करता है, वही परमगतिको प्राप्त करता है।[१]

तीर्थका फल किसे मिलता है और किसे नहीं मिलता?

जिसके हाथ, पैर और मन भलीभाँति संयमित हैं अर्थात् जिसके हाथ सेवामें लगे हैं, पैर तीर्थादि भगवत्-स्थानोंमें जाते हैं और मन भगवान्‌के चिन्तनमें संलग्न है, जिसे अध्यात्मविद्या प्राप्त है, जो धर्मपालनके लिये कष्ट सहता है, जिसकी भगवान्‌के कृपापात्रके रूपमें कीर्ति है, वह तीर्थके फलको प्राप्त होता है।[२]

जो प्रतिग्रह नहीं लेता, जो अनुकूल या प्रतिकूल—जो कुछ भी मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहता है तथा जिसमें अहंकारका सर्वथा अभाव है, वह तीर्थके फलको प्राप्त होता है।[३]

जो पाखण्ड नहीं करता, नये-नये कामोंको आरम्भ नहीं करता, थोड़ा आहार करता है, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर चुका है, सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटा हुआ है, वह तीर्थके फलको प्राप्त होता है।[४]

जिसमें क्रोध नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्य बोलता है, व्रतपालनमें दृढ़ है और सब प्राणियोंको अपने आत्माके समान अनुभव करता है, वह तीर्थके फलको प्राप्त होता है।[५]

जो तीर्थोंका सेवन करनेवाला धैर्यवान्, श्रद्धायुक्त और एकाग्रचित्त है, वह पहलेका पापाचारी हो तो भी शुद्ध हो जाता है, फिर जो शुद्ध कर्म करनेवाला है, उसकी तो बात ही क्या है?[६]

जो अश्रद्धालु है, पापात्मा (पापका पुतला—पापमें गौरवबुद्धि रखनेवाला), नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कमें ही डूबा रहता है—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थके फलको प्राप्त नहीं करते।[७] (स्कन्दपुराण)

१-शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे। येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते। ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्। तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते। स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः। सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः। मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः। न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते। तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति। शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः॥
दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा। सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः। तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥
ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥ (स्कन्दपु०, काशी० ६।२९—४१)

२-यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥

३-प्रतिग्रहादपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित्। अहङ्कारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥

४-अदम्भको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः। विमुक्तः सर्वसङ्गैर्यः स तीर्थफलमश्नुते॥

५-अक्रोधनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः। आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥

६-तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्दधानः समाहितः। कृतपापो विशुद्ध्येत किं पुनः शुद्धकर्मकृत्॥

७-अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः। हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥

पापी मनुष्योंके तीर्थमें जानेसे उनके पापकी शान्ति होती है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, ऐसे मनुष्योंके लिये तीर्थ यथोक्त फल देनेवाला है।[१]

जो काम, क्रोध और लोभको जीतकर तीर्थमें प्रवेश करता है, उसे तीर्थयात्रासे कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रहती।[२]

जो यथोक्त विधिसे तीर्थयात्रा करते हैं, सम्पूर्ण द्वन्द्वोंको सहन करनेवाले वे धीर पुरुष स्वर्गमें जाते हैं।[३]

त्यौहारविज्ञान

जिस तिथि या वार (दिन)-में कोई विशेष लाभप्रद कार्य सम्पन्न होता है अथवा किन्हीं विशेष प्रेरणादायक महापुरुषोंका प्रादुर्भाव होता है, उस तिथि या वारको त्यौहार नामसे पुकारते हैं। भारतवर्षमें त्यौहारोंका अत्यधिक महत्त्व है। यहाँ दशहरा, दीपावली, होली आदि त्यौहारोंमें उच्चता-निम्नता तथा शत्रुता-उदासीनताके भावका परित्याग करके सभीसे गले लगकर मिलनेकी परम्परा बहुत ही उपयोगी है, इससे परस्पर सौहार्द बढ़ता है, सालभरकी शत्रुतामें न्यूनता आती है और उदासीनता मिटती है। इन सब लाभोंकी दृष्टिसे त्यौहारोंको अवश्य मनाना चाहिये। अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतवर्षमें त्यौहारोंकी संख्या अधिक है। रामनवमी, गंगादशहरा, जन्माष्टमी, विजयादशमी, दीपावली, गोवर्धनपूजन, अन्नकूट, भातृद्वितीया (भैयादूज), गोपाष्टमी, शिवरात्रि आदि यहाँके मुख्य पर्व हैं। इन सभी पर्वोंकी अपनी-अपनी विशेषता है तथा धार्मिक दृष्टिसे इनके मनानेका विशेष पुण्य है, अतः शास्त्रीय विधि-विधानसे इन पर्वोंको मनाना चाहिये।

नारीधर्म

भारतीय समाजमें नारी एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थानपर प्रतिष्ठित है। आर्यपुरुषने सदा ही उसे अपनी अर्धांगिनी माना है। इतना ही नहीं व्यवहारमें पुरुषमर्यादासे नारीमर्यादा सदा ही उत्कृष्ट मानी गयी है। हिन्दू संस्कृति इस भावनासे परिपूर्ण है—'**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥**' जिस कुलमें स्त्रियोंका समादर है, वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं और जहाँ ऐसा नहीं है, उस परिवारमें समस्त (यज्ञादि) क्रियाएँ व्यर्थ होती हैं।

हिन्दू-जीवनमें नारी-मर्यादाको सदैव-सर्वत्र सुरक्षित रखनेका विशेष ध्यान रखा जाता है। धर्मशास्त्रका स्पष्ट आदेश है—'**पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥**' बाल्यावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र रक्षा करते हैं, स्त्रीको कभी इनसे पृथक् स्वतन्त्र रहनेका विधान नहीं है। धर्मशास्त्रद्वारा यह कल्याणकारी आदेश नारीस्वातन्त्र्यताका अपहरण नहीं है। नारीको निर्बाधरूपसे अपना स्वधर्मपालन कर सकनेके लिये बाह्य आपत्तियोंसे उसकी रक्षाके हेतु पुरुषसमाजपर यह भार दिया गया है। धर्मभीरु पुरुष इसे भार नहीं मानता, धर्मरूपमें स्वीकारकर अपना कल्याणकारी कर्तव्य समझता है।

नारीधर्मका निर्देश करते हुए धर्मशास्त्र कहता है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

अर्थात् स्त्रियोंके लिये पृथक् रूपसे कोई यज्ञ, व्रत या उपवास करनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल पतिपरायणताके द्वारा ही वह उत्तम गतिको प्राप्त कर सकती है।

धर्मशास्त्रका यह आदेश विशेष महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित है, इसमें नारीके प्रधानधर्म पातिव्रत्यका रहस्य भरा पड़ा है। पातिव्रत्यपालनकी जो अक्षय महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है, वह '**रोचनार्थ फलश्रुति**' नहीं, अक्षरशः सत्य है। पातिव्रत्यकी पूर्ण निष्ठा प्राप्त कर लेनेपर नारीको जीवविकासकी पूर्णता अर्थात् कैवल्यपद मोक्षकी प्राप्तिके लिये पुरुषयोनिमें जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। स्त्रीयोनिसे ही वह मोक्ष प्राप्त कर लेती है। निष्ठाके अनुसार ये पातिव्रत्य धर्मके आध्यात्मिक लाभ हैं।

पातिव्रत्यके उचित पालनसे नारीमें स्वाभाविकरूपसे ही सिद्धियोंके रूपमें दैवीशक्तियोंका आविर्भाव होता है।

१-नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्। यथोक्तफलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम्॥
२-कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमाविशेत्। न तेन किञ्चिदप्राप्तं तीर्थाभिगमनाद्भवेत्॥
३-तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना संचरन्ति ये। सर्वद्वन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

यह पातिव्रत्यधर्मपालनका आधिदैविक लाभ है। पुरुषशरीरमें जो अलौकिक शक्तियाँ योग-तप आदि कठिन प्रयासपूर्ण उपायोंसे प्राप्त होती हैं, वे नारी-शरीरमें पातिव्रत्य-पालनसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

पातिव्रत्यके आधिभौतिक लाभ—पूर्ण सुखमय गार्हस्थ्य जीवन, उत्तम मेधावी धर्मनिष्ठ सन्तान आदि सहस्रों रूपोंमें स्पष्ट अनुभव किये जाते हैं।

नारीजातिके लिये सतीत्व धर्म ही उसके सर्वविध कल्याणका एकमात्र उपाय है। आधुनिक समयमें उसके परम कल्याणकारी नारीधर्मपर भी सामाजिक एवं राजकीय आघात होने लगे हैं। सगोत्र-विवाह, असवर्ण-विवाह, विधवा-विवाह, तलाक आदि अवांछनीय कलुषित प्रथाके प्रवर्तक, वर्णसंकर सृष्टिके उत्पादक आदि कुटुम्ब एवं समाजका विध्वंस करनेवाले, धर्ममर्यादा एवं अर्थमर्यादाके विरुद्ध राजकीय कानून बनाये जा रहे हैं और इन्हें समाजसुधार, नारीजागरण एवं समानाधिकार आदि रोचक नामोंसे पुकारा जा रहा है।

अपने शास्त्रोंके अनुसार नारीके जीवनकालमें यदि पतिका देहान्त हो जाय तो उसे साधु-जीवन व्यतीत करना चाहिये। पूर्ण सादगी और सरलतासे जीवन-निर्वाह करते हुए भगवन्नाम-जप, कीर्तन और सत्संगमें अपना अधिकाधिक समय व्यतीत करना चाहिये। एकमात्र भगवत्-शरणागतिको अवलम्बन मानकर अपने जीवनका निर्वाह करना उसके लिये कल्याणकारी है।

इस समय नारीजातिको सतर्क रहकर अपने कल्याणकारी धर्मका अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिये। नारीसमाजपर सृष्टि-उत्पादनका भार है। स्वतन्त्र भारतमें वीर, साहसी, मेधावी, पवित्र एवं सर्वतोभावेन उन्नतिशील सन्ततिका सृजन हो; इसीलिये प्रत्येक भारतीय नारीको अपने व्यावहारिक जीवनमें अन्तर्बाह्य पवित्रता बनाये रखनेके लिये सतत सावधान रहना चाहिये। स्वधर्मप्रतिपादक रामायण, महाभारत, भागवत आदि धार्मिक, ऐतिहासिक ग्रन्थोंका पाठ एवं मनन करना चाहिये। सिनेमा, सहशिक्षा (बालक-बालिकाओंका साथ-साथ पढ़ना) आदि कुप्रथाओंका बहिष्कार करना चाहिये। उपयुक्त समयपर सन्तानके शास्त्रानुसार संस्कार किये जायँ, इसके लिये विशेष ध्यान रखना चाहिये। साथ-ही-साथ प्रत्येक परिवार एवं समाजका भी कर्तव्य है कि वह कन्या, विवाहिता अथवा विधवा—सभी अवस्थाओंमें नारीको स्वधर्म-परिपालनकी पूरी सुविधा प्रदान करे और उपयुक्त शिक्षासे उन्हें पूर्ण सती, पूर्ण माता, उत्तम गृहिणी बनायें तथा प्रत्येक अवस्थामें उन्हें स्वधर्ममें प्रतिष्ठित रह सकनेके योग्य बनायें। इसीसे समाज एवं राष्ट्रकी उन्नति सम्भव है।

गोसेवा

गाय हमारी माता है। इस संसारमें गाय-जैसा परम उपयोगी प्राणी मनुष्यके लिये मिलना अति दुर्लभ है। गायके दूधमें माँके दूधके समान सभी गुण विद्यमान हैं, जो अन्य किसी दूधमें नहीं प्राप्त होते—इस सत्यको आजके भौतिक विज्ञानी भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि माताके दूधके अभावमें या कमीमें गायका दूध ही बालकोंको पिलाया जाता है। गायका दूध ही नहीं, गायका गोबर तथा गोमूत्र भी इतना अधिक पवित्र है कि भोजन-भजनके स्थानको गोबर-गोमूत्रसे लीपकर पवित्र करनेकी विधि है। शारीरिक रोगनाशक, विषप्रकोपनाशक आदि गुणोंको तो आजके वैज्ञानिक भी गोबरमें मानने लग गये हैं। हमारे आयुर्वेदमें सैकड़ों औषधियोंका शोधन गोमय और गोमूत्रसे ही किया जाता है। धर्मशास्त्रोंने तो शारीरिक शुद्धताके लिये नहीं, अपितु मानसिक शुद्धताके लिये भी गायके गोबरसे युक्त पंचगव्यके पानका विधान किया है। कृषिप्रधान भारतवर्षमें गायके बछड़ोंकी बैलोंके रूपमें विशेष उपयोगिता है।

इन सब दृष्टियोंसे माताके समान पालन करनेवाली गोमाताकी रक्षाके लिये शास्त्रकारोंने दो उपायोंका विधान किया है—(१) एक तो गोवधको पाप घोषित किया, जिससे गायोंका कोई विनाश न करे, (२) दूसरा गोरक्षाको महान् पुण्य बताया, जिससे उसकी रक्षामें लोगोंकी प्रवृत्ति हो। जैसे पुत्रका कर्तव्य है, वह अपनी माताकी सेवा करे, उसी प्रकार मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि वह गोमाताकी सेवा और उसका पालन करे।

गोसेवाका प्रत्यक्ष लाभ है, इससे भौतिक कामनाओंकी पूर्ति होती है। यह अनुभव करनेकी आवश्यकता है। इसके साथ ही परलोकमें शाश्वत सुख प्राप्त होता है। अपने शास्त्र तो कहते हैं—गायमें सभी देवी-देवताओंका निवास है। केवल गायकी सेवा-पूजासे सम्पूर्ण देवी-देवताओंकी

सेवा-पूजा स्वाभाविक रूपसे सम्पन्न हो जाती है।

पितृपूजा

जीवनकी परिसमाप्ति मृत्युसे होती है, इस ध्रुव सत्यको सभीने स्वीकार किया है। यह प्रत्यक्ष भी दिखायी पड़ता है। जीवात्मा इतना सूक्ष्म होता है कि जब यह शरीरसे निकलता है, उस समय कोई भी मनुष्य अपने चर्मचक्षुओंसे इसे देख नहीं सकता।

अपने शास्त्रों-पुराणोंमें मृत्युका स्वरूप, मरणासन्न व्यक्तिकी अवस्था और उसके कल्याणके लिये अन्तिम समयमें किये जानेवाले कृत्यों तथा विविध प्रकारके दानों आदिका निरूपण हुआ है, साथ ही मृत्युके बादके और्ध्वदैहिक संस्कार, पिण्डदान (दशगात्रविधिनिरूपण), एकादशाह, सपिण्डीकरण, अशौच आदि निर्णय, तर्पण, श्राद्ध, कर्मविपाक, पापोंके प्रायश्चित्तोंका विधान वर्णित है। मनुष्य इस लोकसे जानेके बाद अपने पारलौकिक जीवनको किस प्रकार सुख-समृद्ध एवं शान्तिमय बना सकता है तथा उसकी मृत्युके बाद उस प्राणीके उद्धारके लिये पुत्र-पौत्रादिके क्या कर्तव्य हैं, इसकी जानकारी सबको होनी चाहिये।

'**पुं नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः।**' नरकसे जो त्राण (रक्षा) करता है, वही पुत्र है। सामान्यतः जीवसे इस जीवनमें पाप और पुण्य दोनों होते हैं। पुण्यका फल है स्वर्ग और पापका फल नरक। नरकमें पापीको घोर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, स्वर्ग-नरक भोगनेके बाद जीव पुनः अपने कर्मोंके अनुसार ८४ लाख योनियोंमें भटकने लगता है, पुण्यात्मा मनुष्य-योनि अथवा देवयोनि प्राप्त करते हैं, पापात्मा पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि तिर्यक्-योनि प्राप्त करते हैं, अतः अपने शास्त्रोंके अनुसार पुत्र-पौत्रादिका यह कर्तव्य होता है कि अपने माता-पिता तथा पूर्वजोंके निमित्त श्रद्धापूर्वक कुछ ऐसे शास्त्रोक्त कर्म करें, जिससे उन प्राणियोंको परलोकमें अथवा अन्य योनियोंमें भी सुखकी प्राप्ति हो सके।

इसीलिये भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्ममें पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये अपने माता-पिता तथा परिवारके मृत प्राणियोंके निमित्त श्राद्ध करनेकी अनिवार्य आवश्यकता बतायी गयी है। श्राद्धकर्मको पितृकर्म भी कहते हैं। पितृकर्मसे तात्पर्य पितृपूजासे है।

पितृकार्यमें वाक्यकी शुद्धता तथा क्रियाकी शुद्धता मुख्यरूपसे आवश्यक है। श्राद्धकी क्रियाएँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतः इन्हें सम्पन्न करनेमें अत्यधिक सावधानीकी आवश्यकता है। अतः पितृकार्यको देवकार्यकी अपेक्षा अधिक सावधानी और तत्परतासे करना चाहिये।

धर्मशास्त्रोंमें कहा है कि देवकार्यकी अपेक्षा पितृकार्यकी विशेषता मानी गयी है, अतः देवकार्यसे पूर्व पितृकार्य करना चाहिये।[1] श्राद्धसे बढ़कर और कोई कल्याणकारी कर्म नहीं होता, अतः प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करते रहना चाहिये।[2] श्राद्धसे केवल अपनी तथा पितरोंकी ही संतृप्ति नहीं होती (अपितु जो व्यक्ति) जिस प्रकार विधिपूर्वक अपने धनके अनुरूप श्राद्ध करता है, वह ब्रह्मासे लेकर घासतक समस्त प्राणियोंको सन्तुष्ट कर देता है।[3] यहाँतक लिखा है कि जो शान्त होकर विधिपूर्वक श्राद्ध करता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाता है—'**योऽनेन विधिना श्राद्धं कुर्याद् वै शान्तमानसः। व्यपेतकल्मषो नित्यं याति नावर्तते पुनः॥**' (हेमाद्रिमें कूर्मपुराणका वचन)

जीवनचर्याके शास्त्रोक्त पालनीय नियम

१-प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व उठना चाहिये। उठते ही भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये।

२-शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर भगवान्‌की उपासना, सन्ध्या, तर्पण आदि करने चाहिये।

३-बलिवैश्वदेव करके समयपर सात्त्विक भोजन करना चाहिये।

४-प्रतिदिन प्रातःकाल माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये।

५-इन्द्रियोंके वश न होकर उनको वशमें करके उनसे यथायोग्य काम लेना चाहिये।

६-धन कमानेमें छल-कपट, चोरी, असत्य और बेईमानीका त्याग कर देना चाहिये। अपनी कमाईके धनमें

१-देवकार्यादपि सदा पितृकार्यं विशिष्यते। देवताभ्यो हि पूर्वं पितृणामाप्यायनं वरम्॥ (हेमाद्रिमें वायु तथा ब्रह्मवैवर्तका वचन)

२-श्राद्धात् परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद् विचक्षणः॥ (हेमाद्रिमें सुमन्तुका वचन)

३-एवं विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत् प्रीणाति मानवः॥ (ब्रह्मपुराण)

यथायोग्य सभीका अधिकार समझना चाहिये।

७-माता-पिता, भाई-भौजाई, बहन-फूआ, स्त्री-पुत्र आदि पारिवारिकजन सादर पालनीय हैं।

८-अतिथिका सच्चे मनसे सत्कार करना चाहिये।

९-अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये। पड़ोसियों तथा ग्रामवासियोंकी सदा सत्कारपूर्ण सेवा करनी चाहिये।

१०-सभी कर्म बड़ी सुन्दरता, सफाई और नेकनीयतीसे करने चाहिये।

११-किसीका अपमान, तिरस्कार और अहित नहीं करना चाहिये।

१२-अपने किसी कर्मसे समाजमें विच्छृंखलता और प्रमाद नहीं पैदा करना चाहिये।

१३-मन, वचन और शरीरसे पवित्र, विनयशील एवं परोपकारी बनना चाहिये।

१४-सब कर्म नाटकके पात्रकी भाँति अपना नहीं मानना चाहिये, परंतु करना चाहिये ठीक सावधानीके साथ।

१५-विलासितासे बचकर रहना चाहिये। अपने लिये खर्च कम करना चाहिये। बचतके पैसे गरीबोंकी सेवामें लगाने चाहिये।

१६-स्वावलम्बी बनकर रहना चाहिये, अपने जीवनका भार दूसरेपर नहीं डालना चाहिये।

१७-अकर्मण्य कभी नहीं रहना चाहिये।

१८-अन्यायका पैसा, दूसरेके हकका पैसा घरमें न आने पाये, इस बातपर पूरा ध्यान देना चाहिये।

१९-सब कर्मोंको भगवान्‌की सेवाके भावसे—निष्कामभावसे करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२०-जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, भोग नहीं—इस निश्चयसे कभी डिगना नहीं चाहिये और सारे काम इसी लक्ष्यकी साधनाके लिये करने चाहिये।

२१-किसीके घरमें जिधर स्त्रियाँ रहती हों (जनानेमें) नहीं जाना चाहिये। अपने घरमें भी स्त्रियोंको किसी प्रकारसे सूचना देकर जाना चाहिये।

२२-जिस स्थानपर स्त्रियाँ नहाती हों या जिस रास्तेसे स्त्रियाँ ही जाती हों, उधर नहीं जाना चाहिये।

२३-भूलसे तुम्हारा पैर या धक्का किसीको लग जाय तो उससे क्षमा माँगनी चाहिये।

२४-कोई आदमी रास्ता भूल जाय तो उसे ठीक रास्तेपर डाल देना चाहिये, चाहे ऐसा करनेमें स्वयंको कष्ट ही क्यों न हो।

२५-दूसरोंकी सेवा इस भावसे नहीं करनी चाहिये कि उसके बदलेमें कुछ इनाम मिलेगा, सेवा जब निष्कामभावसे की जायगी, तभी सेवाका सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

२६-भगवत्प्रार्थनाके समय आँखें बन्द रखकर मनको स्थिर रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये और उस समय भगवान्‌के चरणोंमें बैठा हूँ, ऐसी भावना अवश्य होनी चाहिये।

२७-किसी स्थानमें जायँ, जहाँ हमारा आदर-सत्कार हो और हमारे साथ कोई मित्र या अतिथि हो तो हमें उसे भूल न जाना चाहिये, प्रत्युत उसे भी अपने आदर-सत्कारमें सम्मिलित कर लेना चाहिये।

अन्तमें हम अपने पाठकोंसे यह निवेदन करते हैं—अनादि अपौरुषेय वेदोंद्वारा प्रतिपादित विधि-निषेधात्मक व्यवस्था सर्वज्ञ, समदर्शी, सर्वहितैषी, मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके द्वारा धर्मशास्त्रोंमें की गयी है; जिसमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, लौकिक और पारलौकिक—प्रत्येक समस्यापर गम्भीर विचार हुआ है।

ऋषि-महर्षियोंकी इस बहुमुखी, दूरदर्शी, वेदानुसारिणी, सर्वहितकारिणी विचारशैलीको हृदयंगम करते हुए अध्ययन करनेवाले पाठकोंके हृदयमें ऋषियोंके प्रति कृतज्ञताका सद्भाव उदय होना स्वाभाविक है और उनके प्रति अपने अज्ञानसे कल्पित कठोरता, पक्षपात आदि असद्भावका अभाव भी होना ही चाहिये।

भगवदाज्ञाके रूपमें शास्त्रोक्त जीवनचर्याका सर्वसाधारण जन यथामति अपने जीवनमें उपयोगकर भगवत्कृपासे लौकिक एवं पारलौकिक—दोनों रूपोंमें अधिक-से-अधिक सफलता प्राप्त करेंगे—यह हमारा विश्वास है।

—राधेश्याम खेमका

भगवान् श्रीउमामहेश्वरका जीवन-दर्शन

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

कल्याण एवं आनन्दके मूल स्रोत भगवान् शिवको नमस्कार है। कल्याणका विस्तार करनेवाले तथा सुखका विस्तार करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। मंगल-स्वरूप और मंगलमयताकी सीमा भगवान् शिवको नमस्कार है।

साम्बसदाशिव भगवान् शिव और उनका नाम समस्त मंगलोंका मूल एवं समस्त अमंगलोंका उन्मूलक है। वे दिग्वसन होते हुए भी भक्तोंको अतुल ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले, श्मशानवासी कहे जानेपर भी त्रैलोक्याधिपति, अनन्त राशियोंके अधिपति होते हुए भी भस्मविभूषण, योगिराजाधिराज होते हुए भी अर्धनारीश्वर, सदा कान्तासे समन्वित होते हुए भी मदनजित्, अज होते हुए भी अनेक रूपोंमें आविर्भूत, गुणहीन होते हुए भी गुणाध्यक्ष, अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त तथा सबके कारण होते हुए भी अकारण हैं। जहाँ वे द्वन्द्वोंकी प्रतिमूर्ति हैं, वहीं वे द्वन्द्वातीत हैं। एक ओर वे सभी कल्याणगुणगणोंके आकर हैं तो दूसरी ओर सभी गुणोंसे अतीत—गुणातीत हैं। सभी रूप उन्हींके हैं, किंतु वे अरूप हैं, सभी नाम उन्हींके हैं, किंतु वे अनाम हैं। भोगमें योगकी प्रतिष्ठा देखनी हो या योगमें भोगका समन्वय देखना हो, अद्वैतमें द्वैत देखना हो या द्वैतमें अद्वैत, आसक्तिमें अनासक्ति देखनी हो या अनासक्तिमें आसक्ति, भेदमें अभेद देखना हो या अभेदमें भेद, मूर्तमें अमूर्त देखना हो या अमूर्तमें मूर्त, सर्वश्रेष्ठ गृहस्थकी चर्या देखनी हो या मुमुक्षुकी भैक्ष्यचर्या —सबका अद्भुत और विलक्षण समन्वय भगवान् उमामहेश्वरकी जीवनचर्यामें विद्यमान है। वे सभीके आदर्श हैं। उनके उदात्त चरित्र लोकके लिये महान् कल्याणकारी हैं। यदि हमें अपनी जीवनचर्या और दैनिक चर्या मंगलमय बनानी हो तो भगवान् भूतभावनके जीवनदर्शनका अवलोकन करना चाहिये। उन्हें अपना आदर्श मानकर अपनी रहनी-करनी बनानी चाहिये तथा उनके उपदेशोंको आचरणमें लाना चाहिये।

भगवान् शिव और जगज्जननी माता पार्वतीका सर्वथा अभेद है, किंतु लीलाका विस्तार करनेके लिये एवं कल्याणसम्पदाका वितरण करनेके लिये तथा अपने आचरणोंसे लोकशिक्षा देनेके लिये वे शिव और शक्तिरूपमें प्रकट हुए हैं। प्रत्येक गृहस्थको अपने दाम्पत्य-जीवनकी सफलताके लिये भगवान् शिव एवं माता पार्वतीके दृष्टान्तको अपने सामने रखना चाहिये। सीतामाताने तो भगवान् श्रीरामकी प्राप्तिके लिये गौरीपूजन किया था और अखण्ड सौभाग्यका वर प्राप्त किया था। भगवान् शिवकी अन्तरंगा शक्ति हिमालयपुत्री पार्वतीने जब भगवान् शिवको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये अखण्ड तप प्रारम्भ किया तो भगवान् शिव लीलासे ब्राह्मणबटुका रूप बनाकर उपस्थित हुए और बोले—भला, देखो तो सही शिवका रूप कितना कुरूप है, आँखें बन्दर-जैसी हैं, शरीरमें चिताभस्म और साँप लपेटे हुए हैं; उनके कुल, खानदान, माता-पिता,

पितामह, जाति, गोत्र आदिका कोई पता नहीं है; खेती, व्यापार, अन्न, धन, गृहसे भी वे शून्य हैं। एक दिनके लिये भी उनके पास भोजन नहीं है, तुमने ऐसे व्यक्तिसे विवाह करनेके लिये तप आरम्भ किया है तो भला तुमसे बढ़कर संसारमें और कौन मूर्ख हो सकता है?

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥

(कुमारसम्भव ५।७२)

इसपर पार्वतीजी उत्तर देती हैं—वे स्वयं अकिंचन हैं, किंतु ब्रह्माण्डकी सारी सम्पत्तियाँ उन्हींसे उत्पन्न हुई हैं, वे श्मशानमें रहते हैं, किंतु तीनों लोकोंके स्वामी हैं, वे भयंकर रूपवाले हैं तो भी शिव अर्थात् कल्याणकारी सौम्यमूर्ति कहे जाते हैं। शिवके वास्तविक स्वरूपको—तत्त्वको समझनेवाला कोई है ही नहीं—

अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां
त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते
न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥

भगवान् शिवका परिवार भी समस्त विरोधाभासों और द्वन्द्वोंका प्रतिमान है, किंतु वैसी सहजता, ऋजुता, परस्पर प्रेम, सद्भाव एवं सौजन्य भी अन्यत्र दुर्लभ ही है। पिता यदि चतुर्मुख हैं तो आप स्वयं पंचमुख हो गये और पुत्रको षण्मुख बना दिया। दूसरा पुत्र बनाया तो उसका सिर हाथीका बना दिया। सम्पूर्ण ऐश्वर्योंकी स्वामिनी साक्षात् अन्नपूर्णाजीको अपनी अर्धांगिनी बनाया तो आप स्वयं भस्मांगधारी श्मशानवासी हो गये। सवारीके लिये बूढ़ा बैल रख लिया तो शृंगारके लिये साँप, बिच्छू। पुत्र गणेशका वाहन मूषक बनाया तो कार्तिकेयजीको मोर दे दिया और अपनी अर्धांगिनीको सिंह पकड़ा दिया। ऐसेमें दिगम्बर महादेव कैसे गृहस्थी सँभालें? किसी कविका कहना है कि यदि अन्नपूर्णा भवानी घरमें न होतीं तो बाबाकी गृहस्थी कैसे चलती—

स्वयं पञ्चमुखः पुत्रौ गजाननषडाननौ।
दिगम्बरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद् गृहे॥

एक भक्तने तो भगवान् शिव कैसे अपनी गृहस्थी चलाते हैं, इसपर रीझकर बड़ी ही विनोदपूर्ण बात लिखी है, जो भगवान् शिवकी नीतिमत्ता और भगवत्ताको झलकाती है—

मूसेपर साँप राखै, साँपपर मोर राखै,
बैलपर सिंह राखै, वाकै कहा भीति है।
पूतनिकों भूत राखै, भूतकों बिभूति राखै,
छमुखकों गजमुख यहै बड़ी नीति है॥
कामपर बाम राखै, बिषकों पियूष राखै,
आगपर पानी राखै सोई जग जीति है।
'देवीदास' देखौ ज्ञानी संकरकी सावधानी,
सब बिधि लायक पै राखै राजनीति है॥

इतना ही नहीं, एक भक्तने भगवान्‌के विवाहके समयका बड़ा ही मनोहर, भक्तिभावपूर्ण चित्रण किया है। विवाहके समय भगवान् शिवसे जो प्रश्न किये गये और उन्होंने जो उत्तर दिये, वे इस प्रकार हैं—

प्रश्न—आपके पिता कौन हैं?

उत्तर—ब्रह्मा।

प्रश्न—बाबा कौन हैं?

उत्तर—विष्णु।

प्रश्न—परबाबा कौन हैं?

उत्तर—सो तो सबके हम ही हैं।

बात भी ठीक ही है। सभीके परम पिता तो भगवान् शिव ही हैं। उनकी महिमा अनन्त है।

दूध-भातके दाता—सत्ययुगकी बात है व्याघ्रपाद नामक एक यशस्वी ऋषि हुए हैं, उनके दो पुत्र थे—बड़े थे उपमन्यु और छोटे थे धौम्य। एक बारकी बात है, बालक उपमन्यु खेलते-खेलते ऋषियोंके आश्रमपर जा पहुँचा, वहाँ एक दुधारू गाय दुही जा रही थी, दूध देखकर उसके मनमें उसका स्वाद लेनेकी इच्छा जगी। घरमें आकर उसने अपनी मातासे कहा—माँ! मुझे भी खानेके लिये दूध-भात दो। घरमें दूधका अभाव था, इसलिये माँको बड़ा दुःख हुआ, वह रोने लगी, फिर वह पानीमें आटा घोलकर ले आयी और दूध कहकर उसने दोनों भाइयोंको पीनेके लिये दिया, लेकिन पहले कभी बालक उपमन्युने पिताजीके साथ किसी यज्ञमें जाकर दूध पिया था, इसलिये उसको दूधका स्वाद मालूम था। उसने जैसे ही माँका लाया हुआ आटेका घोल पिया तो मातासे कहा—माता! यह तो दूध नहीं है। तब माता और भी दुःखी हो गयीं। वे उसका मस्तक सूँघती हुई बोलीं—बेटा! जो सदा वनमें रहकर कन्द,

मूल और फल खाकर मुनिवृत्तिसे जीवन निर्वाहकर भगवान्का भजन करते हैं, उन्हें दूध-भात कहाँसे मिल सकता है? हमलोगोंका निर्वाह करनेवाले तो भगवान् शंकर ही हैं, वे ही हमारे परम आश्रय हैं—

तपसा जप्यनित्यानां शिवो नः परमा गतिः॥

(महा०, अनु० १४। १२६)

इसलिये बेटा! सर्वतोभावसे उन्हीं भगवान् महादेवकी शरण ग्रहण करो, उनकी कृपासे ही तुम इच्छानुसार फल पा सकोगे।

माताकी यह बात सुनकर बालक उपमन्युने माताके चरणोंमें प्रणामकर पूछा—माँ! ये महादेव कौन हैं? और कैसे प्रसन्न होते हैं, कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं तथा कैसे उनका दर्शन किया जा सकता है? यह सुनकर माताकी आँखोंमें आँसू आ गये, वह बोली—बेटा! महादेव ही शिव हैं, वे बड़े ही दुर्विज्ञेय हैं, उनके तत्त्वको जानना बड़ा कठिन है तथापि वे बड़े ही उदार हैं, बड़े ही दयालु हैं, थोड़ेमें ही प्रसन्न हो जाते हैं। वे प्राणियोंके हृदयमें प्राण, मन एवं जीवात्मारूपसे विराजमान रहते हैं। वे ही योगस्वरूप, योगी, ध्यान तथा परमात्मा हैं। वे महेश्वर भक्तिभावसे ही गृहीत होते हैं—'**भावग्राह्यो महेश्वरः।**' (महा०अनु० १४। १६४) शिव-शिव जपनेसे वे दर्शन दे देते हैं। माताकी बातोंका बालकपर गहरा प्रभाव पड़ा, अब तो वह शिव-शिवकी रट लगाने लगा। महेश्वरने उसके इस कठिन तपसे प्रसन्न होकर दर्शन दिया और उसे अनेक वरदान दिये और यह भी कहा—वत्स! तुम एक कल्पतक अपने भाई-बन्धुओंके साथ अमृतसहित दूध-भातका भोजन पाते रहो। तत्पश्चात् मुझे प्राप्त हो जाओगे—

क्षीरोदनं च भुङ्क्ष्व त्वममृतेन समन्वितम्॥
बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि।

(महा०, अनु० १४। ३५९-६०)

मुझमें तुम्हारी अत्यन्त भक्ति होगी, मैं तुम्हारे साथ सदा अदृश्यरूपसे निवास करूँगा।

उक्त कथामें निरूपित भगवान् उमामहेश्वरका वात्सल्यभाव बड़ा ही उदात्त है।

लोकव्यवहारके ज्ञानकी बातें—बात उस समयकी है, जब प्रजापति दक्षके यहाँ एक यज्ञका आरम्भ हुआ। उन्होंने अपनी सभी पुत्रियोंको उसमें आमन्त्रित किया, किंतु शिवजीसे द्वेष रखनेके कारण न तो पुत्री सतीको बुलाया और न शिवको ही बुलाया। सतीको पिताके यज्ञमें जानेकी लालसा जगी, वे भगवान्से निवेदन करने लगीं—प्रभो! पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदोंके यहाँ बिना बुलाये भी जाया जा सकता है, इसपर भगवान् शिवने लोकज्ञानके लिये बहुत ही उपयोगी और जीवनमें काममें लानेयोग्य बात बताते हुए कहा—हे देवि! बन्धुजनोंके यहाँ निमन्त्रणके बिना भी उत्सवमें जाया जा सकता है, सो तो तुम्हारी बात ठीक है, किंतु ऐसा तभी करना चाहिये जब उन बन्धुओंकी दृष्टि देहाभिमानसे उत्पन्न हुए मद और क्रोधके कारण द्वेष-दोषसे युक्त न हो। विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल—ये सत्पुरुषोंके तो गुण हैं, किंतु नीच पुरुषोंमें ये ही अवगुण हो जाते हैं—

विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः॥

(श्रीमद्भा० ४। ३। १६)

संसारकी रक्षाके लिये नीलकण्ठने विषपान कर लिया—समुद्रमन्थनके समयकी बात है, समुद्रमन्थनसे कालकूट विष निकला, जिसकी ज्वालाओंसे तीनों लोक जलने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया। किसमें ऐसा सामर्थ्य कि विषकी ज्वाला शान्त कर सके। ऐसेमें सभी भगवान् शंकरकी शरणमें गये, उस समय भगवान् शंकरने पार्वतीजीसे जो बात कही, वह बहुत ही शिक्षाप्रद तथा जीवनमें आचरणमें लानेयोग्य है, भगवान् बोले—देवि! देखो तो सही, कालकूटविषके प्रभावसे ये सारे जीव कैसे दुःखी हो रहे हैं, इस समय मेरा कर्तव्य है कि मैं इनका दुःख दूर करूँ; क्योंकि जो समर्थ हैं, साधनसम्पन्न हैं, उन्हें अपने सामर्थ्यसे दूसरोंका दुःख अवश्य दूर करना चाहिये, इसीसे उनके जीवनकी सफलता है, उनके शक्तिसामर्थ्यका साफल्य है—

एतावान्हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्।

(श्रीमद्भा० ८। ७। ३८)

सज्जनोंका यह स्वभाव ही होता है कि अपने प्राणोंका उत्सर्ग करके भी दीन-दुःखियोंकी रक्षा करते हैं। ऐसा

कहकर भगवान् शिव वह हलाहल पी गये और नीलकण्ठ

कहलाये। यह संसारपर उनका महान् अनुग्रह तथा मनुष्योंके लिये सीखनेके लिये महान् शिक्षा है।

दानी बनो, उदार बनो—देवोंमें बहुत-से दानी हैं, किंतु भगवान् शिवकी तो महिमा ही अपार है, गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—भगवान् शंकरके समान दानी और उदार कोई नहीं है, उन्हें तो बस देना ही भाता है और याचक उन्हें बहुत प्रिय हैं, वे दीनदयाल कहलाते हैं—

दानी कहुँ संकर-सम नाहीं।
दीनदयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं॥

(विनय-पत्रिका)

अतः उन्हें छोड़कर किससे याचना की जाय—***'को जाँचिये संभु तजि आन।'***

भगवान् अपने इस शीलस्वभावसे संसारके लोगोंको यह शिक्षा देते हैं कि जिसके पास थोड़ा भी साधन है, धन है, उससे वह दीन-दुःखियों, अनाथोंकी सेवा करे; परिग्रह, संचय, संग्रहसे सदा दूर रहे। धन-सम्पत्तिसे अभिमान होता है, अतः उस धनको सबमें बाँट दे। दुःखमें लोगोंकी सहायता करे और अपनी जीवनचर्याको उदार बनानेकी चेष्टा करे।

जीवनचर्या-सम्बन्धी उपदेश

एक बार माता पार्वतीने भगवान् शिवसे जीवनमें पालनीय आचारके सम्बन्धमें निवेदनपूर्वक जिज्ञासा की। इसपर उन्होंने देवी पार्वतीको जीवनको सफल बनानेके लिये विस्तारसे बातें बतलायीं, उनका कुछ अंश बहुत उपयोगी होनेसे यहाँ प्रस्तुत है—

गृहस्थका धर्म तथा गृहस्थाश्रमकी श्रेष्ठता—गृहस्थका परम धर्म है किसी जीवकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियोंपर दया करना, मन और इन्द्रियोंपर काबू रखना तथा अपनी शक्तिके अनुसार दान देना। गृहस्थमें पति-पत्नीका स्वभाव एकसमान होना चाहिये। गृहस्थको चाहिये कि वह नित्य पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान करे। जो लोग अपने माता-पिताकी सेवा करते हैं, जो नारी पतिकी सेवा करती है— उसपर सब देवता, ऋषि-महर्षि प्रसन्न रहते हैं। जो शील और सदाचारसे विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें कर रखा है, जो सरलतापूर्वक व्यवहार करता है और समस्त प्राणियोंका हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय हैं, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया है—ऐसे गृहस्थके लिये अन्य आश्रमोंकी क्या आवश्यकता है—'**गृहस्थाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः॥**' (महा०, अनु० अ० १४१)

धर्मका फल किसे प्राप्त होता है?—भगवान् महादेव कहते हैं कि जो हिंसासे सर्वथा विरत रहकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देता है, समस्त भूतोंको आत्मभावसे देखता है, सबसे सरलताका व्यवहार करता है, क्षमाशील है, जितेन्द्रिय है, धर्मनिष्ठ है, सन्मार्गपर चलनेवाला है, सच्चरित्र है, उसे धर्मका फल प्राप्त होता है—**'स वै धर्मेण युज्यते'** (महा०, अनु० १४२। २७)।

उत्तम लोकोंमें कौन जाते हैं—जीवनचर्यामें शील, सदाचार, सत्य, शौच तथा तप आदिकी महिमाके विषयमें शंकरजी कहते हैं—जो दूसरोंके धनपर ममता नहीं रखते, परायी स्त्रीसे सदा दूर रहते और धर्ममार्गसे प्राप्त अन्नका ही भोजन करते हैं। जो परिहासमें भी झूठ नहीं बोलते, स्वेच्छाचारसे दूर रहते हैं, चुगली नहीं करते, सौम्य वाणी बोलते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं—**'ते नराः स्वर्गगामिनः'** (महा०, अनु० १४४। २५)। जो सबके प्रति मैत्रीभाव रखते हैं, शत्रु तथा मित्र—दोनोंको समानभावसे अपनाते हैं, जो सबके प्रति दयाभाव रखते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं।

दैनन्दिनजीवनमें धर्मपालनकी महत्ता—अनीति, अधर्म तथा अनाचारसे दूर रहते हुए सदाचार एवं

धर्मपालनको ही दैनन्दिनचर्या तथा जीवनचर्याका मुख्य उद्देश्य बताते हुए भगवान् शंकर कहते हैं कि हे देवि! धर्म ही, यदि उसका हनन किया जाय तो मारता है और धर्म ही सुरक्षित होनेपर रक्षा करता है, अतः प्रत्येक मनुष्यको विशेषकर राजाको धर्मका हनन नहीं करना चाहिये—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यः पार्थिवेण विशेषतः॥

(महा०, अनु० अ० १४५)

प्रारब्ध सोता नहीं, सदा जागता रहता है—भगवान् शंकर सभीको सावधान करते हुए कहते हैं कि जीवनमें सदा शुभ कर्म ही करना चाहिये। शुभ कर्मोंसे शुभ प्रारब्ध बनता है और शुभ प्रारब्धसे शुभ कर्म बनते हैं, शुभ कर्मोंका शुभ फल प्राप्त होता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही प्रारब्ध बनता है। प्रारब्ध अत्यन्त बलवान् होता है, उसीके अनुसार जीव भोग करता है, प्राणी भले ही प्रमादमें पड़कर सो जाय, परंतु उसका प्रारब्ध या दैव प्रमादशून्य—सावधान होकर सदा जागता रहता है। उसका न कोई प्रिय है, न द्वेषपात्र है और न कोई मध्यस्थ ही है—

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु विधिर्जागर्ति जन्तुषु।
न हि तस्य प्रियः कश्चिन्नद्वेष्यो न च मध्यमः॥

(महा०, अनु० अ० १४५)

दिनचर्या कैसी हो ?—उत्तम एवं आदर्श दिनचर्याके विषयमें शंकरजी कहते हैं कि मनुष्यको प्रातःकाल ही उठकर शौच-स्नानसे निवृत्त हो जाना चाहिये। देवताओं और गुरुजनोंकी नित्य सेवा करनी चाहिये, बड़े-बूढ़ोंके आनेपर उठकर उनका सम्मान करना चाहिये। उनके उपदेशोंको आचरणमें लाना चाहिये। अपनी वृत्ति न्यायमार्गसे चलानी चाहिये। भृत्यवर्गका पालन-पोषण करना चाहिये। अपनी स्त्रीके साथ अच्छा बर्ताव करना चाहिये तथा अपने कुलधर्म एवं शिष्टाचार एवं सदाचारका सदा पालन करना चाहिये '**एवमादि शुभं सर्वं तस्य वृत्तमिति स्थितम्।**' (महा०, अनु० अ० १४५)

जीवनमें पालनीय नियम—महादेव शंकर जीवनमें क्या नित्य करणीय है, इसके विषयमें सर्वप्रथम गोसेवा करनेका परामर्श देते हैं। उनका कहना है कि गौएँ परम सौभाग्यशालिनी और अत्यन्त पवित्र हैं। ये तीनों लोकोंको धारण करनेवाली हैं, महान् प्रभाववाली ये उपासित होनेपर वर देनेवाली हैं। मैं सदा गौओंके साथ रहनेमें आनन्दका अनुभव करता हूँ—'**रमेऽहं सह गोभिश्च**' (महा०, अनु० १३३।७)। इसीलिये वृषभ मेरी ध्वजामें विराजमान है। अतः गौओंकी सदा पूजा करनी चाहिये, प्रतिदिन उन्हें गोग्रास देना चाहिये, इससे गोसेवकका जीवन सफल हो जाता है। गौएँ सम्पूर्ण जगत्की माताएँ हैं—**गावो लोकस्य मातरः** (महा०, अनु० अ० १४५)।

भगवान् शंकर माता पार्वतीजीसे कहते हैं—हे देवि! गौओंके मल-मूत्रसे कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिये और उनका मांस कभी नहीं खाना चाहिये। सदा गौओंका भक्त होना चाहिये—

गवां मूत्रपुरीषाणि नोद्विजेत कदाचन।
न चासां मांसमश्नीयाद् गोषु भक्तः सदा भवेत्॥

(महा०, अनु० अ० १४५)

बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच—दैनिक चर्यामें शौचकी महत्ता बताते हुए भगवान् कहते हैं—हे उमे! शौच दो प्रकारका होता है—एक बाह्य तथा दूसरा आभ्यन्तर। विशुद्ध आहार ग्रहण करना, शरीरको धो-पोंछकर स्वच्छ रखना तथा आचमन आदिके द्वारा शरीरको शुद्ध बनाये रखना, यह बाह्य शौच है। अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार)-की निर्मलता आन्तरिक शौच है। अर्थात् काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि आन्तरिक दोषोंसे बचना आभ्यन्तरिक शौच कहलाता है।

तीर्थसेवनकी महिमा—जीवनचर्यामें तीर्थसेवनकी महिमा बताते हुए भगवान् कहते हैं—जो बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, उनका नाम तीर्थ है, उनमें भी जिनका प्रवाह पूरबकी ओर है, वे श्रेष्ठ हैं, जहाँ दो नदियाँ मिलती हैं, वह स्थान उत्तम तीर्थ है। नदियोंका जहाँ समुद्रसे संगम हुआ है, वह स्थान तीर्थ है। महर्षियोंद्वारा जो जलस्रोत और पर्वत सेवित हैं, वहाँ मुनियोंका प्रभाव रहता है, अतः वे स्थान तीर्थ हैं। तीर्थसेवनसे तपस्या अर्जित होती है, पापका नाश होता है और बाहर-भीतरकी पवित्रता प्राप्त होती है—'**तपोऽर्थं पापनाशार्थं शौचार्थं तीर्थगाहनम्**' (महा०, अनु० अ० १४५)।

श्राद्ध-पितृकर्म अवश्यकरणीय है—भगवान् शंकर कहते हैं—हे देवि! जैसे भूमिपर रहनेवाले सभी प्राणी वर्षाकी बाट जोहते रहते हैं, उसी प्रकार पितृलोकमें रहनेवाले पितर श्राद्धकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। हे शुभे! पितर सभी लोकोंमें पूजनीय होते हैं, वे देवताओंके भी देवता हैं, उनका स्वरूप शुद्ध, निर्मल एवं पवित्र है, वे दक्षिण दिशामें निवास करते हैं—

लोकेषु पितरः पूज्या देवतानां च देवताः।
शुचयो निर्मलाः पुण्या दक्षिणां दिशमाश्रिताः॥

(महा०, अनु० अ० १४५)

श्राद्धकर्ममें माघ और भाद्रपद मास प्रशंसित हैं, पक्षोंमें कृष्णपक्ष प्रशस्त है। अमावास्या, त्रयोदशी, नवमी और प्रतिपदा—इन तिथियोंमें श्राद्ध करनेसे पितृगण प्रसन्न होते हैं। श्राद्धमें तीन वस्तुएँ प्रशस्त हैं—दौहित्र (लड़कीका पुत्र), कुतपकाल (दिनके पन्द्रह भागमें आठवाँ भाग) तथा तिल—'**त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः**' (महा०, अनु० अ० १४५)। श्राद्धदेशमें तिल बिखेरनेसे वह शुद्ध तथा पवित्र हो जाता है।

दो प्रकारका जीवन—भगवान् शंकर कहते हैं—हे देवि! संसारमें प्राणियोंका जीवन और उनकी जीवनचर्या दो प्रकारकी होती है। एक है—दैवभावपर आश्रित और दूसरी है—आसुरभावपर आश्रित। जो मनुष्य अपने जीवनमें मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा ही सबके प्रतिकूल आचरण करते हैं, वे आसुरीभावके मनुष्य हैं। अतः उनकी दिनचर्या तथा जीवनचर्या भी आसुरीभावकी—निन्दित होती है। वे नरकगामी होते हैं—'**तादृशानासुरान् विद्धि मर्त्यास्ते नरकालयाः**' (महा०, अनु० अ० १४५)। इसके विपरीत जो सदा मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा सबके अनुकूल आचरण करते हैं, ऐसे मनुष्योंको अमर (देवता) ही समझना चाहिये। ये उत्तम लोकोंको प्राप्त करते हैं—'**तादृशानमरान् विद्धि ते नराः स्वर्गगामिनः**' (महा०, अनु० अ० १४५)।

जीवनचर्याका तात्त्विक उपदेश—देवी पार्वतीने कहा—हे महेश्वर! आपने जीवनचर्यासम्बन्धी बहुत-सी बातें मुझे बतलायीं, जो मनुष्योंके लिये सर्वदा आचरणीय तथा जीवनको सफल बनानेवाली हैं, अब आप कृपा करके सभी उपदेशोंके साररूपमें उस अविनाशी सिद्धान्तको बतलायें, जिसका अनुपालन परम कल्याणकारी है। इसपर महादेवजी बोले—हे देवि! जीवनमें शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, वे मूर्ख मनुष्यपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं—

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

(महा०, अनु० अ० १४५)

कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि दैनन्दिन चर्यामें जहाँ आसक्ति हो रही हो, ममता हो रही हो, राग हो रहा हो, वहाँ वह दोषबुद्धि करे और उस वस्तुको अपने लिये अनिष्टकर समझे, ताकि उसकी ओरसे शीघ्र ही वैराग्य हो जाय। धनके उपार्जनमें दुःख होता है, उपार्जित हुए धनकी रक्षामें दुःख होता है, धनके नाश और व्ययमें भी दुःख होता है, इस प्रकार दुःखके भाजन बने हुए धनको धिक्कार है—

अर्थानामार्जने दुःखमार्जितानां तु रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

(महा०, अनु० अ० १४५)

हे देवि! तृष्णाके समान कोई दुःख नहीं है, त्यागके समान कोई सुख नहीं है, समस्त कामनाओंका परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है—

नास्ति तृष्णासमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।
सर्वान् कामान् परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(महा०, अनु० अ० १४५)

स्त्रीधर्म—इस प्रकार अन्य भी बहुत-सी कल्याणकारक बातें बतानेपर महादेवजीने देवी पार्वतीसे कहा—हे देवि! तुम धर्मका आचरण करनेवाली हो, तुममें ममता-अहंताका सर्वथा अभाव है और तुम मेरे ही शील-स्वभाववाली हो, तुमने बहुत-सी पतिव्रताओंका संग किया है। अतः मैं तुमसे स्त्रीधर्मके विषयमें जानना चाहता हूँ; क्योंकि स्त्रियोंके मनकी बातें स्त्रियाँ ही अच्छी तरह जानती हैं, इसपर देवी पार्वतीने स्त्रीरूपधारी गंगादि पवित्र नदियोंको साक्षी बनाकर कहा—हे प्रभो! मेरे विचारसे जिस स्त्रीके स्वभाव, बातचीत और आचरण उत्तम हों, जिसको देखनेसे पतिको सुख मिलता हो, जो अपने पतिके सिवा दूसरे किसी पुरुषमें मन न लगाती हो, वह स्त्री धर्माचरण करनेवाली मानी गयी है। जो स्त्री अपने हृदयको शुद्ध रखती हो, गृहकार्य करनेमें कुशल हो, जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठती हो, घरको स्वच्छ रखती हो, सास-ससुरको सम्मान देती हो, दीनोंका पालन करती हो तथा पतिके हितसाधनमें लगी हो, वह पातिव्रतधर्मका पालन करनेवाली होती है। पति ही नारियोंका देवता, पति ही बन्धु-बान्धव और पति ही उनकी गति है। नारीके लिये पतिके समान न दूसरा कोई सहारा है और न कोई दूसरा देवता—

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा गतिः॥

(महा०, अनु० अ० १४५।५५)

पितामह ब्रह्माजीका जीवनचर्या-सम्बन्धी उपदेश

नमोऽस्त्वनन्ताय विशुद्धचेतसे
स्वरूपरूपाय सहस्रबाहवे।
सहस्ररश्मिप्रभवाय वेधसे
विशालदेहाय विशुद्धकर्मणे॥
समस्तविश्वार्तिहराय शम्भवे
समस्तसूर्यानलतिग्मतेजसे ।
नमोऽस्तु विद्यावितताय चक्रिणे
समस्तधीस्थानकृते सदा नमः॥

(पद्मपुराण, सृष्टि० ३४। ९८-९९)

जिनका कभी अन्त नहीं होता, जो विशुद्ध चित्त और आत्मस्वरूप हैं, जिनकी हजारों भुजाएँ हैं, जो सहस्र किरणोंवाले सूर्यकी भी उत्पत्तिके कारण हैं, जिनका शरीर विशाल और जिनके कर्म अत्यन्त शुद्ध हैं, उन सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीको नमस्कार है। जो समस्त विश्वकी पीड़ा हरनेवाले, कल्याणकारी, सहस्रों सूर्य और अग्निके समान प्रचण्ड तेजस्वी, सम्पूर्ण विद्याओंके आश्रय, चक्रधारी तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन परमेश्वर (ब्रह्माजी)-को सदा नमस्कार है।

सृष्टिकर्ताके रूपमें पितामह ब्रह्माजीका लोकपर महान् अनुग्रह है। वे पिताओंके भी पिता हैं, इसलिये पितामह कहलाते हैं। उनका आविर्भाव प्रलयपयोधिमें शयन कर रहे भगवान् नारायणके नाभिकमलसे हुआ। स्वयं आविर्भूत होनेसे वे स्वयम्भू कहलाते हैं। प्रादुर्भूत होते ही इन्होंने तपका आश्रयण लिया। तपके फलस्वरूप इन्हें सर्वेश्वर नारायणका दर्शन हुआ। उन्हींके परामर्शपर इन्होंने सृष्टिरचनाका संकल्प लिया। भगवान् विष्णुकी प्रेरणासे सरस्वतीदेवीने उनके हृदयमें प्रविष्ट होकर उनके चारों मुखोंसे अंगोंसहित चारों वेदोंका सस्वर गान कराया। इतिहास-पुराणरूप पंचम वेद भी उनके मुखसे आविर्भूत हुआ। वे ही विश्वकी रचना करनेवाले तथा पालन-पोषणकर उसकी रक्षा करनेवाले हैं। उनका आविर्भाव सर्वप्रथम हुआ—'**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता**' (मुण्डकोपनिषद् १।१)।

यह समस्त दृश्य-अदृश्य जगत् तथा जीव-निकाय भगवान् ब्रह्माजीद्वारा ही सृष्ट है, सृष्टिविस्तारके लिये उन्होंने सनकादि चार मानस पुत्रों तथा मरीचि, दक्ष आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया। दक्ष प्रजापतिकी अदिति आदि पुत्रियोंद्वारा देवता आदि उत्पन्न हुए।

मानवसृष्टिके मूल-हेतु स्वायम्भुव मनु इन्हींकी सन्तान हैं। इनके ही दक्षिण भागसे मनु तथा वाम भागसे महारानी शतरूपाका प्राकट्य हुआ। इन्हीं दोनोंसे समस्त मानवी-सृष्टिका विस्तार हुआ। परमपुरुषार्थकी प्राप्तिका हेतु होनेसे यह मनुष्ययोनि सबसे श्रेष्ठ है। जब भगवान्की अचिन्त्यशक्तिसे प्रेरित हो ब्रह्माजीने अनेक प्रकारकी सृष्टि की, किंतु उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, तब उन्होंने मनुष्यशरीरकी सृष्टि की। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए।* क्योंकि इस शरीरसे मनुष्य ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकता है। यही बात हंसरूपसे भगवान् ब्रह्माजीने साध्योंको बतलायी कि मनुष्ययोनिसे बढ़कर कोई उत्तम

* सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्। तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ (श्रीमद्भा० ११।९।२८)

योनि नहीं है—

न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

(महा०, शान्ति० २९९। २०)

जब कभी पृथ्वीपर अधर्म बढ़ता है, अत्याचार बढ़ता है, लोकजीवनकी मर्यादा नष्ट होने लगती है तब पृथ्वीमाता देवताओं तथा ऋषि-मुनियोंके साथ ब्रह्माजीके पास ही जाती हैं और ब्रह्माजी उन सभीको आश्वस्तकर भगवान्से अवतार-धारणकी प्रार्थना करते हैं।

भगवान् ब्रह्मा कल्याणके मूलकारण हैं और समस्त पुरुषार्थोंके सम्पादनपूर्वक अपनी सभी प्रजा-सन्ततियोंका सब प्रकार अभ्युदय देखना चाहते हैं। ब्रह्माजी भगवान्की लीला पूर्ण करनेमें मुख्य सहचरके रूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं। ये दैवीसम्पदाके मूल तथा आसुरीसम्पदाके उच्छेदक हैं। ये भगवान्के तत्त्वरहस्यके ज्ञाता हैं। इसीलिये भागवतधर्मोंको जाननेवाले आचार्योंमें ब्रह्माजीका नाम सर्वप्रथम परिगणित है—**'स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः'** (श्रीमद्भा० ६। ३। २०)।

ब्रह्माजीने अपने लोकजीवनसे, अपने आचरणोंसे सदाचार, भगवद्भक्ति, प्रभुप्रेम तथा धर्मनिष्ठाका जो उपदेश हमें दिया, वह बड़े ही महत्त्वका है। एक बार ब्रह्माजीने देवर्षि नारदको अपने हृदय एवं मनकी स्थितिके विषयमें बताते हुए कहा—

मेरी वाणी कभी असत्यकी ओर प्रवृत्त नहीं होती, मेरा मन कभी असत्यकी ओर नहीं जाता, मेरी इन्द्रियाँ कभी असन्मार्गकी ओर नहीं झुकतीं; क्योंकि मैं हृदयमें सदा ही बड़ी उत्कण्ठासे श्रीहरिको धारण किये रहता हूँ।*

इस प्रकार ब्रह्माजीने अपनी स्थितिद्वारा प्राणियोंको जीवनचर्याकी यह महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी है कि वाणीसे असत्य-भाषण न हो, मन कुमार्गपर न जाय, इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त न हों। यह कैसे हो इसके लिये वे बताते हैं कि इसका एकमात्र उपाय है भगवान्को अपने हृदयमें बैठा लिया जाय और लोकधर्मोंको करते हुए चित्तको सदा उनमें ही लगाये रखा जाय।

इसी प्रकार जीवनके लिये बड़ी ही सुन्दर तथा उपयोगी बात बताते हुए ब्रह्माजी कहते हैं कि जीवनमें ये राग-द्वेष आदि चोर तभीतक पीछे लगे हुए हैं, तभीतक घर कारागारकी तरह बाँधे हुए है और तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी हैं, जबतक कि यह जीव भगवान्की शरणमें नहीं आ जाता—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

एक बार प्रजापति ब्रह्मा हंसरूप धारणकर लोकोंमें विचरण कर रहे थे, उस समय साध्यगणोंको इनके दर्शन हुए तो उन्होंने हंसरूप ब्रह्माजीसे जिज्ञासा की कि भगवन्! जीवनमें कौन कार्य उत्तम है और कौन ऐसा कार्य है, जिसके करनेसे जीवको सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्ति मिल जाती है? इसपर ब्रह्माजीने साध्यगणोंको जीवनचर्या-सम्बन्धी बहुत-सी उत्तम बातें बतलायीं।

ब्रह्माजीने कहा—हे साध्यगणो! जीवनमें तप, इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह—ये कार्य सबसे उत्तम हैं। पुरुषको चाहिये कि वह प्रिय-अप्रियकी स्थितिमें समभावमें रहे, किसीके मर्ममें आघात न पहुँचाये, निष्ठुर वचन न बोले; क्योंकि वचनरूपी बाण जब मुँहसे निकल जाते हैं, तब उनके द्वारा बींधा गया मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है। जीवनमें क्षमा, सत्य, सरलता और दया—इन दैवी गुणोंका अनुपालन करना चाहिये। वेदाध्ययनका सार है सत्यभाषण, सत्यभाषणका सार है इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयमका फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥

(महा०, शान्ति० २९९। १३)

ब्रह्माजीने लोकव्यवहार तथा दैनिकचर्यामें इन्हें अपनानेकी बात बताते हुए पुनः कहा—हे देवो! जो

* न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥
(श्रीमद्भा० २। ६। ३३)

दूसरोंके द्वारा अपने लिये कड़ी बात कही जानेपर भी उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता तथा किसीके द्वारा चोट खाकर भी धैर्यके कारण बदलेमें न तो मारनेवालेको मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मासे मिलनेके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं—

तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्॥

(महा०, शान्ति० २९९।१७)

धर्मज्ञ कौन है, इसके उत्तरमें वे बताते हैं कि जिस पुरुषके उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों द्वार सुरक्षित रहते हैं (अर्थात् वशमें रहते हैं), वही धर्मज्ञ है।

हमें अपनी दैनन्दिनचर्यामें वाणीका कब-कैसे प्रयोग करना चाहिये, इस सम्बन्धमें ब्रह्माजी बताते हैं कि व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना अच्छा बताया गया है (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है)। सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना—यह वाणीकी चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है)—

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम्॥

(महा०, शान्ति० २९९।३८)

ब्रह्माजीने मनुष्यके लिये दैनन्दिनके कार्योंमें गोसेवा करने, गोग्रास देने तथा गोदानकी बड़ी महिमा बतायी है और कहा है कि गौएँ देवताओंसे भी ऊपर गोलोकमें निवास करती हैं। इनके व्यवहारमें माया नहीं होती। ये सदा सत्कर्ममें लगी रहती हैं, ये प्रसन्न होनेपर दूसरोंको वर देनेकी शक्ति रखती हैं। जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही ये गोलोकसे पृथ्वीपर अवतरित हुई हैं, अतः इनका आदर-मान करना चाहिये। देवराज इन्द्रके यह पूछनेपर कि यदि कोई दूसरेकी गौका अपहरण करे और धनके लोभसे उसे बेच डाले तो उसकी क्या गति होती है? ब्रह्माजीने कहा—जो गायोंकी सेवा तो दूर रही गोहत्या करते हैं, गोमांस खाते हैं अथवा स्वार्थवश गायको मारनेकी सलाह देते हैं, वे सभी महान् पापके भागी हैं, गौकी हत्या करनेवाले, उसका मांस खानेवाले तथा गोहत्याका अनुमोदन करनेवाले गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें डूबे रहते हैं—

विक्रयार्थं हि यो हिंस्याद् भक्षयेद् वा निरङ्कुशः।
घातयानं हि पुरुषं येऽनुमन्येयुरर्थिनः॥
घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद् वर्षाणि मज्जति॥

(महा०, अनु० ७४।३-४)

गोकी सेवा-भक्ति करनेवालेकी महिमा बताते हुए ब्रह्माजी कहते हैं कि गोभक्त मनुष्य जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, वह सब उसे प्राप्त होती है, गोभक्तके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है—

गोषु भक्तश्च लभते यद् यदिच्छति मानवः।
न किञ्चिद् दुर्लभं चैव गवां भक्तस्य भारत॥

(महा०, अनु० ८३।५०, ५२)

एक बारकी बात है प्रजापति दक्ष, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र तथा अत्रि आदि महर्षिगण ब्रह्मलोकमें जाकर भगवान् ब्रह्माजीसे विनयपूर्वक प्रश्न करने लगे कि ब्रह्मन्! आप यह बतानेकी कृपा कीजिये कि श्रेष्ठ कर्म कौनसे हैं, जीवके लिये कौन-सा मार्ग कल्याणकारक है तथा उसे अपनी दैनिक चर्यामें तथा जीवनचर्यामें क्या करणीय है तथा क्या अकरणीय है? इसपर ब्रह्माजीने बहुत विस्तारसे उन्हें सम्पूर्ण जीवनचर्या बतलायी, जो बड़े ही महत्त्वकी है, उसका कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है—

जीवनमें तमोगुणी व्यवहार करनेसे नीच योनियोंकी प्राप्ति होती है। देवता, ब्राह्मण और वेदकी निन्दा करना, दान न देना, अभिमान, मोह, क्रोध, असहनशीलता और प्राणियोंके प्रति मात्सर्य भाव—ये सब तामसी बर्ताव हैं।

मुझे यह वस्तु मिल जाय, वह मिल जाय—इस प्रकार अपने जीवनमें जो विषयोंको पानेके लिये आसक्तिमूलक उत्कण्ठा एवं लालसा होती है—यह राजसी प्रवृत्ति है, यह

भी अभ्युदयमें हेतु नहीं बनती है। अतः व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने व्यवहारमें इस रजोवृत्तिका सदा परित्याग कर दे।

ममता, अहंकार और आशासे रहित होकर सर्वत्र समदृष्टि रखना और सर्वथा निष्काम हो जाना ही श्रेष्ठ पुरुषोंका परम धर्म है। यह सात्त्विक पुरुषोंकी प्रवृत्ति है। ऐसा समझकर जो आत्मकल्याणके साधनमें लग जाता है, वह परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है।

देहात्मवादका निरास करते हुए ब्रह्माजी बताते हैं कि जिसने इस जीवनमें तीन गुणोंवाले पांचभौतिक देहका अभिमान त्याग दिया है, उसे अपने हृदयाकाशमें परब्रह्मरूप उत्तम पदकी उपलब्धि होती है—वह मोक्षको प्राप्त हो जाता है—

यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणाः पञ्चधातवः।
व्योम्नि तस्य परं स्थानमानन्त्यमथ लभ्यते॥

(महा०, आश्व० ४२।५७)

ब्रह्माजी जीवनके लिये बहुत उपयोगी सिद्धान्त बताते हुए कहते हैं—हे महर्षियो! समस्त संग्रहका अन्त है विनाश, उत्थानका अन्त है पतन, संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मृत्यु—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(महा०, आश्व० ४४।१९)

इस जगत्में स्थावर-जंगम कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो सदा रहनेवाली है, जो जन्म ले चुका है, उसकी मृत्यु निश्चित है। अतः इस संसार तथा जीवनको नश्वर तथा क्षणभंगुर समझकर सदा ज्ञानकी उपासना करनी चाहिये; क्योंकि ज्ञान ही ऐसा तत्त्व है जो सदाके लिये अविनाशी है, उसका विनाश नहीं होता—'**ज्ञानस्यान्तो न विद्यते**' (महा०, आश्व० ४४।२१)।

पुनः ब्रह्माजी ऋषियोंको बताते हैं कि शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम बताये गये हैं और इन सबका मूल है—गृहस्थाश्रम '**सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः**' (महा०, आश्व० ४५।१३)। ब्रह्माजी जीवनचर्याका क्रम बताते हुए कहते हैं कि पहले सब प्रकारके संस्कारोंसे सम्पन्न होकर वेदोक्त विधिसे अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना चाहिये। तत्पश्चात् वह समावर्तन-संस्कार करके उत्तम गुणोंसे युक्त कुलमें विवाह करे। गृहस्थको चाहिये कि सदा अपनी ही स्त्रीपर प्रेम रखे, सत्पुरुषोंके आचारका पालन करे, जितेन्द्रिय रहे तथा नित्य पंचमहायज्ञोंसे देवता आदिका यजन करे। देवता और अतिथिको भोजन करानेके बाद बचे हुए पवित्र अन्नका भोजन करे, वेदोक्त विहित कर्मोंको ही करे। इन्द्रियोंकी चपलताका सदा परित्याग करे—यह सत्पुरुषोंका बर्ताव—शिष्टाचार है—'**इति शिष्टस्य गोचरः**' (महा०, आश्व० ४५।१८)। सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, शौच, सन्तोष आदि नियमों और सत्य, अहिंसा आदि यमोंका पालन करे तथा शिष्ट पुरुषोंके साथ सदा निवास करे—'**सदा शिष्टैश्च संविशेत्**' (महा०, आश्व० ४५।१९)।

ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए मुनिव्रतका पालन करे, गुरुका प्रिय और हित करे, सत्य बोले, धर्मपरायण एवं पवित्र रहे—'**गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः॥**' (महा०, आश्व० ४६।२)

वानप्रस्थ मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए घरकी ममता त्यागकर वनमें रहकर तप करते हुए निवास करना चाहिये और मुनिवृत्तिका पालन करना चाहिये, यह उसकी नित्यकी दैनन्दिन चर्या है।

वानप्रस्थके अनन्तर कर्मत्यागरूप संन्यासधर्मका पालन करे। सब प्राणियोंके सुखमें सुख माने, सबके साथ मित्रता रखे। इन्द्रियोंका संयम करे। भिक्षासे निर्वाह करे। तनिक भी संग्रह न करे। जिह्वाके स्वादका परित्याग कर दे। समस्त प्रकारकी आसक्तियोंसे दूर रहकर सदा तत्त्वचिन्तनमें लगा रहे। संन्यासीको चाहिये कि वह ममता और अहंकारसे रहित हो जाय, योग-क्षेमकी चिन्ता न करे और मनपर विजय प्राप्त करे—

निर्ममो निरहङ्कारो निर्योगक्षेम आत्मवान्।

(महा०, आश्व० ४६।४५)

जो निष्काम, निर्गुण, शान्त, अनासक्त, निराश्रय,

आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है, वह मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है—

मुच्यते नात्र संशयः॥

(महा०, आश्व० ४६। ४६)

सभी उपदेशोंके सारके रूपमें जीवनचर्यामें सर्वदा नित्य पालनीय तथा आचरणकी बातको बताते हुए अन्तमें पितामह ब्रह्माजी ऋषियोंको बताते हैं कि निष्काम भावसे कर्म करते हुए उन्हें भगवान्‌को अर्पण कर देना चाहिये; क्योंकि '**मम**' यह मेरा है—ऐसा भाव रखनेसे बन्धन होता है और बन्धन मृत्युरूप है। इसके विपरीत '**न मम**' यह मेरा नहीं है—ऐसा भाव रखनेसे कर्तापनका अभिमान भी नहीं रहता और आसक्ति भी दूर हो जाती है। इससे सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥

(महा०, आश्व० ५१। २९)

जो सम्पूर्ण भूतोंमें समानभाव रखता है, लोभ और कामनासे रहित है तथा जिसकी सर्वत्र समान दृष्टि रहती है, वह ज्ञानी पुरुष ही परम गतिको प्राप्त करता है—

समेन सर्वभूतेषु निःस्पृहेण निराशिषा।
शक्या गतिरियं गन्तुं सर्वत्र समदर्शिना॥

(महा०, आश्व० ५१। ३९)

भगवान् ब्रह्माजी अपनी दैनन्दिनचर्या तथा जीवनचर्याको इसी प्रकारसे बनानेके लिये निर्देश देते हैं और बताते हैं कि यही अनिन्दित सदाचार है और यही सनातनधर्म है—'**एतद् वृत्तमनिन्दितम्**', '**एष धर्मः सनातनः।**'

जीवनचर्याके आदर्श प्रतिमान—भगवान् विष्णु

नमस्ते देवतानाथ नमस्ते गरुडध्वज।
शङ्खचक्रगदापाणे वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

हे देवताओंके अधीश्वर! आपको नमस्कार है। अपनी ध्वजामें गरुडचिह्न धारण करनेवाले भगवन्! आपको प्रणाम है। हाथोंमें शंख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाले वासुदेव! आपको नमस्कार है।

सर्वव्यापक परमात्मा ही भगवान् विष्णु हैं, वे ही त्रिदेवके रूपमें प्रकट होकर सशक्तिक तीन रूप धारण करते हैं। ब्रह्मा सर्जनात्मक शक्तिके रूप हैं, भगवान् महेश्वर संहारात्मक शक्ति हैं तथा भगवान् विष्णु जगत्‌की पालनी शक्ति हैं। ये ही अपनी शक्ति महालक्ष्मीके साथ पुनः विविध रामादि रूपोंमें अवतरित होते हैं। ये '**अजायमान**' अर्थात् अजन्मा होते हुए भी '**बहुधा विजायते**' अर्थात् बहुत रूपोंमें अवतरित होकर जीवोंका कल्याण करते हैं और अपने आचरणसे, व्यवहारसे लोकको जीवनचर्याकी सीख देते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवान्‌का नररूपमें अवतरण मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये ही हुआ है—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्।**' भगवान् विष्णु कल्याण-मंगलके आगार हैं।

एक बारकी बात है देवराज इन्द्रने भगवान् विष्णुसे
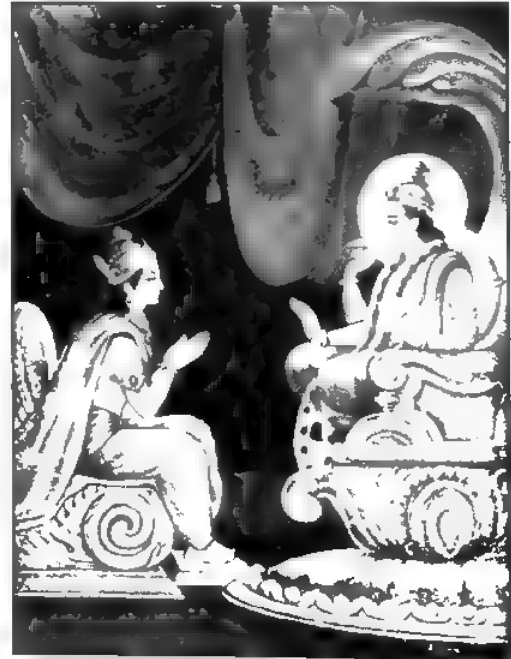
पूछा—भगवन्! आप ही समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं और आप ही मनुष्योंसहित सभी प्राणियोंकी सनातन प्रकृति हैं। कृपया धर्मके तत्त्वको बतानेकी कृपा करें। इसपर भगवान् बोले—देवेन्द्र! ब्रह्मचारी ब्राह्मणको घरमें आया देख गृहस्थ पुरुष उसे सर्वप्रथम भोजन कराये,

तत्पश्चात् स्वयं अवशिष्ट अन्नको ग्रहण करे तो उसका यह भोजन अमृतके समान माना गया है। जो प्रात:कालकी सन्ध्या करके सूर्यके सम्मुख खड़ा होता है, उसे समस्त तीर्थोंके स्नानका फल मिलता है और वह सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है—

ऐन्द्रीं सन्ध्यामुपासित्वा आदित्याभिमुखः स्थितः।
सर्वतीर्थेषु स स्नातः मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥

(महा०अनु० १२६। १५)

जीवनमें क्या करणीय है, इसके सम्बन्धमें उन्होंने नारदजीको बताते हुए कहा कि हे देवर्षे! यज्ञ, दान और तप—ये मनीषीपुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं, इसलिये निष्काम भावसे इनका अनुष्ठान करे—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।
यज्ञं दानं तपस्तस्मात् कुर्यादाशीर्विवर्जितः॥

(महा०अनु०)

जगत्के पालनमें सर्वातिशायी ऐश्वर्यकी अपेक्षा होती है, अतः भगवान् विष्णुमें परमैश्वर्यका अस्तित्व है। समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान तथा समग्र वैराग्य जिसमें हो; वही भगवान् है। भगवान् विष्णु पंचायुधधारी हैं। पंच आयुधोंके नाम इस प्रकार हैं—१-हेति (अस्त्र)-राज सुदर्शन चक्र, २-पांचजन्य शंख, ३-कौमोदकी गदा, ४-नन्दक खड्ग तथा ५-शार्ङ्गधनुष। जिस प्रकार भगवान् अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न हैं, वैसे ही उनके पंचायुध भी हैं। धर्मकी रक्षा, दुष्टोंका संहार तथा अपने भक्तोंके पालनके लिये प्रभु आयुध धारण करते हैं।

भगवान्की भक्तवत्सलता, सुशीलता, क्षमा तथा दयालुता सर्वोपरि है। भगवान्ने जब हिरण्यकशिपुको मारनेके लिये नृसिंहावतार धारण किया तो देवता आदि भयभीत होकर कोई भी उनके सामने न जा सका तब आपसमें परामर्शकर देवताओंने कहा कि जिसकी रक्षाके लिये उन्होंने यह रूप धारण किया है, उसीको उनके पास भेजना चाहिये। बालक प्रह्लाद निर्भय होकर नृसिंह भगवान्के पास गये। भगवान्ने प्रह्लादको गोदमें उठा लिया और बड़ा स्नेह देते हुए उससे क्षमा माँगी और कहा—वत्स! कहाँ तो तुम्हारा यह कोमल शरीर और सुकुमार अवस्था और कहाँ उसपर मतवाले जल्लादोंद्वारा दी गयी कठोर यातनाएँ! परंतु ये सब विषमताएँ मैं देखता ही रहा, मुझे आनेमें जो विलम्ब हुआ, उसके लिये तुमसे क्षमा माँगता हूँ—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मदागमने विलम्बः॥

एक बारकी बात है महर्षि मार्कण्डेयजीने भगवान्से पूछा—भगवन्! भगवद्भक्तके लक्षण क्या हैं तथा वे कौन-से कर्म हैं, जिनको अपनी जीवनचर्यामें अपनाकर व्यक्ति भगवान्का प्रिय हो जाता है? इस प्रश्नसे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—महर्षे! जो सम्पूर्ण जीवोंके हितैषी हैं, जो दूसरोंके दोष नहीं देखते, जो इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले और शान्त स्वभाव हैं—वे श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं। जो मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा दूसरोंको पीड़ा नहीं पहुँचाते, जिनकी बुद्धि सात्त्विक है और भगवत्कथाश्रवणमें लगी रहती है, वे उत्तम भक्त हैं। जो माता-पिताके प्रति गंगा और विश्वनाथका भाव रखकर उनकी सेवा करते हैं, जो सबके लिये हितकर वाणी बोलते हैं, शत्रु और मित्रमें समानभाव रखते हैं, जो मनुष्य सदा गौओं तथा ब्राह्मणोंकी सेवा करते हैं, दूसरोंका अभ्युदय देखकर प्रसन्न होते हैं, जो कुआँ, बावली, तालाब आदि बनवाते हैं, अन्य भी पूर्त कर्मोंको करते हैं—वे श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं। जो हरिनामका जप करते हैं, तुलसीका दर्शनकर उसे नमस्कार करते हैं, वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं, अतिथियोंका सत्कार करते हैं; जो जलदान, अन्नदान, गोदान तथा एकादशीका व्रत करते हैं—वे श्रेष्ठ भागवत कहे गये हैं।

इस प्रकार भगवान्ने उत्तम जीवनचर्या कैसी होनी चाहिये, इसका संक्षेपमें वर्णन कर दिया। हमें चाहिये कि हम इन सत्कर्मोंको अपनी दैनन्दिन चर्यामें अपनायें।

भगवान् विष्णु अपनी त्रिपाद्विभूतिसे गोलोक-वैकुण्ठमें महालक्ष्मीके साथ रहते हैं तथा एकपाद्विभूतिसे लीला

करनेके लिये जगत्‌में अवतरित होते हैं और अपनी चर्याद्वारा लोगोंको सन्मार्गमें प्रेरित करते हैं। '**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**' (यजु० ३१।३), '**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**' (गीता १०।४२)। भगवान् विष्णुके परमपदका सन्धान ही वैष्णवधर्म है। भगवान् विष्णुमें अनन्य निष्ठा रखनेवाले वैष्णव कहलाते हैं। भगवान् विष्णुको तुलसी अतिप्रिय है, शालग्राम तो उनका स्वरूप ही है।

भगवान्‌की मंगलवाणियोंमें जीवनका सारभूत तत्त्व निहित है। भगवान् कहते हैं—मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।१९)

भगवान् गुणातीत भी हैं और अनन्त गुणोंकी खान भी हैं। भगवान्‌के अनन्त गुणोंमेंसे कुछ गुण एक श्लोकमें इस प्रकार गिनाये गये हैं—

वशी वदान्यो गुणवानृजुश्शुचि-
र्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावत-
स्समस्तकल्याणगुणामृतोदधि ॥

(आलवन्दारस्तोत्र १८)

उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌के बारह गुण बताये गये हैं—

१-वशी—सर्वेश्वर जगदीश्वर होते हुए भी वे भक्तोंके वशवर्ती बने रहते हैं।

२-वदान्य—प्रिय वचन बोलते हुए दान देनेवाला एवं परमोदार स्वभाववाला वदान्य कहलाता है।

३-गुणवान्—भगवान्‌के सभी गुणोंमें सौशील्य (सुशीलता) गुणकी विशेष महिमा गायी गयी है। अतः गुणवान्‌से सौशील्यता गृहीत है।

४-ऋजु—मन, वचन तथा काय—तीनों करणोंसे समरूप एवं निष्कपट रहना ऋजुत्व कहलाता है।

५-शुचि—ईश्वरतत्त्वमें पापका लेश भी नहीं है, अतः वे शुचि (पवित्र) हैं।

६-मृदु—मृदुता भगवान्‌का आत्मगुण है, वे स्वभावसे ही मधुर हैं।

७-दयालु—अन्य किसी निजी प्रयोजनके बिना दूसरोंके दुःखको अपना ही दुःख मानकर दूर करनेकी इच्छाका नाम दया है।

८-मधुर—स्वयं भगवान्, उनके दिव्य मंगल विग्रह, दिव्य चरित्र, वार्तालाप आदि सभी बड़े मधुर होते हैं।

९-स्थिर—आश्रित अपराधियोंके दोषोंका उद्‌घाटन करनेपर भी भगवान् क्षुब्ध नहीं होते, सम और स्वस्थ बने रहते हैं।

१०-सम—जाति, गुण, वृत्तादिके कारण उच्च-नीच जनोंके प्रति भी उनके शरणागत होनेपर भगवान् पक्षपातरहित समान व्यवहार (रक्षा) करते हैं। यही समताका गुण है।

११-कृती—भगवान् आप्तकाम हैं, पूर्णकाम हैं, किसी वस्तुकी उन्हें कमी नहीं है, जिसे वे किसी कर्मद्वारा प्राप्त कर सकें, फिर भी आश्रित-रक्षणके लिये सदैव कार्यरत रहते हैं, यही उनका कृतित्व गुण है।

१२-कृतज्ञ—दूसरोंके किये हुए उपकारको याद रखनेवाला कृतज्ञ है।

—ये गुण जीवके कल्याणके लिये अन्यतम साधन हैं। इनमेंसे यदि एक भी गुण अपनी दैनिक चर्या या जीवनचर्यामें प्रतिष्ठित हो जाय तो फिर कल्याण होनेमें सन्देह नहीं।

जीवनमें माता-पिता तथा गुरुकी सेवाको सर्वोपरि बताते हुए भगवान् विष्णुने देवताओंको बताया कि हे देवगणो! गुरुकी अवहेलना करनेसे सारा अभ्युदय नष्ट हो जाता है। जो पापी हैं, अधर्ममें तत्पर हैं तथा केवल विषयोंमें ही रचे-पचे रहते हैं और जिनके द्वारा अपने माता-पिताकी निन्दा होती है, निस्सन्देह वे बड़े भाग्यहीन हैं—

गुरोरवज्ञया सर्वं नश्यते च समुद्भवम्।
ये पापिनो ह्यधर्मिष्ठाः केवलः विषयात्मकाः॥

पितरौ निन्दितौ यैश्च निर्दैवास्ते न संशयः।

(स्क० मा०के० ९।३३-३४)

जीवनचर्यामें कौन-से कर्म त्याज्य हैं और कैसे भगवान् प्रसन्न होते हैं—इस विषयमें विष्णुपुराणमें कहा गया है—जो पुरुष दूसरोंकी निन्दा, चुगली अथवा मिथ्याभाषण नहीं करता तथा ऐसा वचन भी नहीं बोलता, जिससे दूसरोंको खेद हो, उससे निश्चय ही भगवान् केशव प्रसन्न रहते हैं। जो पुरुष दूसरोंकी स्त्री, धन और हिंसामें रुचि नहीं करता, उससे सर्वदा ही भगवान् केशव सन्तुष्ट रहते हैं। जो व्यक्ति स्वयं अपने और अपने पुत्रोंके समान ही समस्त प्राणियोंका भी हितचिन्तक होता है, वह सुगमतासे श्रीहरिको प्रसन्न कर लेता है। जिसका चित्त रागादि दोषोंसे दूषित नहीं है, उस विशुद्धचित्त पुरुषसे भगवान् विष्णु सदा सन्तुष्ट रहते हैं। शास्त्रोंमें जो-जो वर्णाश्रमधर्म कहे गये हैं, उन-उनका ही आचरण करके पुरुष विष्णुकी आराधना कर सकता है, और किसी प्रकार नहीं—'**वर्णाश्रमेषु ये धर्माः शास्त्रोक्ता नृपसत्तम। तेषु तिष्ठन्नरो विष्णुमाराधयति नान्यथा॥**' (विष्णुपु० ३।८।१९)

इस प्रकार उपर्युक्त कथनोंमें जीवनचर्या-सम्बन्धी जो विधि-निषेध दिये हैं, उनका परिपालन सभीके लिये आवश्यक है—यही भगवान्का अनुशासन है और इसीमें जीवनका साफल्य भी है।

भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

महर्षि मनुने अपनी स्मृतिमें—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—के अनुसार धर्मके दस लक्षण लिखे हैं तथा विष्णुशर्माने हितोपदेशमें—

इज्याध्ययनदानादि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

—के अनुसार धर्मके आठ मार्ग बतलाये हैं।

दोनोंके मतमें धैर्य, क्षमा, सत्य, अध्ययन, अलोभ-विषयोंमें साम्य है। मनुजी विषयोंसे विरक्ति, शुचिता, इन्द्रियनिग्रह तथा विवेकशीलताको एवं विष्णुशर्मा यज्ञ करना, दान करना, तप करना—धर्मके लक्षण मानते हैं। दोनोंका मत एक साथ ही माननेवालोंको धर्मके उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें उपर्युक्त सभी लक्षण हैं।

महर्षि वाल्मीकिके अनुसार वे धैर्यमें हिमालयके समान '**धैर्येण हिमवानिव**' तथा क्षमामें पृथ्वीके समान '**क्षमया पृथिवीसमः**' हैं। सत्यभाषणमें तो उनका वंश प्रसिद्ध ही है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु बचन न जाई॥

और इस वंशमें श्रीरामजी तो दो बार भी नहीं बोलते, मुँहसे एक बार ही जो कह दिया, उसे ही पूर्ण करते हैं। '**रामो द्विर्नाभिभाषते**' वाक्य हमारे लिये आदर्श है। अध्ययनमें वे—

'**सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्**'

—के अनुसार सारे शास्त्रोंके अर्थके तत्त्वके ज्ञाता हैं। उन्होंने विमाताकी इच्छापूर्तिके हेतु राज्यतकका त्यागकर अलोभका आदर्श प्रस्तुत किया। वे नियतात्मा हैं, शुचिर्वश्य हैं तथा '**बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्मी**' के अनुसार वे विवेकशील हैं। वे यज्ञोंके रक्षक हैं और स्वयं यज्ञकर्ता भी हैं। उन्होंने विश्वामित्रजीके यज्ञ-रक्षणार्थ राक्षसोंसे संघर्ष किया। अरण्यवासी ऋषियोंके यज्ञोंकी उन्होंने रक्षा की।

वे बड़े तपस्वी हैं; उनका शत्रु रावण भी उनको तापस कहकर अंगद-रावण-संवादमें—

गर्भ न गयहु ब्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु॥

—सम्बोधित करता है। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीरामने धर्मके सभी लक्षणोंका पालनकर हमारे समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया है। महर्षि वाल्मीकि तो सत्यपालनमें '**सत्ये धर्म इवापरः**' कहकर उनको द्वितीय धर्मराजके समान मानते हैं।

भगवान् श्रीराम धर्मावतार हैं। उनके पावन चरितसे शिक्षा ग्रहणकर हमको तदनुरूप व्यवहार करना चाहिये। अच्छा हो यदि हम उनकी दिनचर्यानुकूल अपनी दिनचर्या बनायें।

भगवान् श्रीरामजीकी दिनचर्याका आनन्दरामायणके राज्यकाण्डके १९वें सर्गमें बड़े विस्तारसे वर्णन है। श्रीरामदासके द्वारा महर्षि वाल्मीकिजी अपने शिष्यको उपदेश करते हैं—

शृणु शिष्य वदाम्यद्य रामराज्ञः शुभावहा।
दिनचर्या राज्यकाले कृता लोकान् हि शिक्षितुम्॥
प्रभाते गायकैर्गीतैर्बोधितो रघुनन्दनः।
नववाद्यनिनादांश्च सुखं शुश्राव सीतया॥
ततो ध्यात्वा शिवं देवीं गुरुं दशरथं सुरान्।
पुण्यतीर्थानि मातॄंश्च देवतायतनानि च॥

(आ० रा० राज्यकाण्ड १९। १—३)

भगवान् श्रीरामजी नित्य प्रातःकाल चार घड़ी रात्रि शेष रहते मंगलगीत आदिको श्रवणकर जागते थे। फिर शिव, देवी, गुरु, देवता, पिता, तीर्थ, माता, देव-मन्दिर तथा पुण्यक्षेत्रों एवं नदियोंका स्मरण करते थे, फिर शौचादिके पश्चात् दन्त-शुद्धि करते थे। इसके अनन्तर कभी घरपर और कभी सरयूमें जाकर स्नान करते थे।

स्नात्वा यथाविधानेन ब्रह्मघोषपुरःसरम्॥
प्रातः सन्ध्यां ततः कृत्वा ब्रह्मयज्ञं विधाय च।

(आ० रा० राज्यकाण्ड १९। १०-११)

ब्राह्मणोंके वेदघोषके साथ विधिवत् स्नान करते थे। तदनन्तर प्रातःसन्ध्या तथा ब्रह्मयज्ञ करके ब्राह्मणोंको दान देकर महलमें आकर हवन करके शिवपूजन करते थे और इसके बाद कौसल्या आदि तीनों माताओंका पूजन करते थे। फिर गौ, तुलसी, पीपल आदि एवं सूर्यनारायणका पूजन करते थे। इसके पश्चात् सद्ग्रन्थों तथा गुरुदेवका पूजन करके उनके मुखसे पुराण-कथा श्रवण करते थे और तब भ्राता एवं ब्राह्मणोंके साथ कामधेनु-प्रदत्त अग्निपर बना हुआ उपहार ग्रहण करते थे।

तदनन्तर वस्त्रादि तथा अस्त्र-शस्त्र धारणकर वैद्य तथा ज्योतिषियोंका स्वागतकर वैद्यको नाड़ी-परीक्षण कराते तथा ज्योतिषियोंसे नित्य पंचांग-श्रवण करते थे; क्योंकि—**'लक्ष्मीः स्यादचला तिथिश्रवणतो वारात्तथाऽयुश्चिरम्'''।'**

—के अनुसार तिथिके श्रवणसे लक्ष्मी, वारसे आयुवृद्धि, नक्षत्रसे पापनाश, योगसे प्रियजन-वियोगनाश तथा करण-श्रवणसे सब प्रकारकी मनःकामना पूर्ण होती है।

पंचांग-श्रवणके अनन्तर श्रीरामजी पुष्पमाला धारणकर तथा दर्पण देखकर महलसे बाहर आकर अपनी प्रजाके लोगोंसे, मित्रोंसे तथा आगन्तुकोंसे भेंट करते थे।

इसके अनन्तर उद्यानमेंसे निकलकर सेनाका निरीक्षण करते थे; फिर राज्यसभामें जाकर राज्य-कार्योंपर अपने भाइयों, पुत्रों तथा अधिकारियोंसे विचार करके आवश्यक व्यवस्था करते थे। तब मध्याह्न-कृत्योंके लिये श्रीरामजी पुनः महलमें पधारते थे।

यहाँ आकर मध्याह्नमें स्नान करके पितरोंका तर्पण, देवताओंको नैवेद्य तथा बलिवैश्वदेव, काक-बलि आदि देकर भूत-बलि देते थे। फिर अतिथियोंको भोजन कराकर ब्राह्मणों तथा यतियोंके भोजन कर लेनेके पश्चात् स्वयं भोजन करते थे। भोजनके अनन्तर ताम्बूल खाते तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर सौ पद चलकर विश्राम करते थे।

विश्रामके पश्चात् क्षणिक मनोरंजन करके पिंजरोंमें पाले गये महलके पक्षियोंका निरीक्षण करके महलकी छतपर चढ़कर अयोध्यानगरीका निरीक्षण करते। फिर गोशालामें जाकर गायोंकी देख-रेख करते। इसके पश्चात् अश्वशाला, गजशाला, उष्ट्रशाला तथा अस्त्रशाला आदिका निरीक्षण करते थे।

इन सब कार्योंके बाद वे दूतावास एवं तृण-काष्ठागारोंका निरीक्षण करते हुए दुर्गके रक्षार्थ बनी खाईंकी देख-भाल करते और रथारूढ़ हो अवधपुरीके राजमार्गसे दुर्गके द्वारों तथा द्वाररक्षकोंका निरीक्षण करते थे। फिर बन्धुओंके साथ सरयूके तटपर भ्रमणकर सैनिक-शिविरोंका निरीक्षणकर महलोंमें लौटकर राज्य-कार्यकी व्यवस्था करके सायंकालके समय सायं सन्ध्या तथा पूजनादिके पश्चात् भोजन करते थे। फिर देव-मन्दिरोंमें जाकर देवदर्शन तथा कीर्तन-श्रवण करके महलमें लौट आते थे।

यहाँ बन्धुओंसे पारिवारिक विषयोंपर चर्चा करके भगवान् (**सार्धयामां निशां नीत्वा**) डेढ़ पहर रात्रि व्यतीत हो जानेपर शयनकक्षमें प्रवेश करके विश्राम करते थे।

भगवान्की यह नियमित दिनचर्या हम सभीके लिये एक आदर्श दिनचर्या है। यदि हम इसके अनुरूप व्यवहार करें तो हमारा इहलोक तथा परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है। यह दिनचर्या जहाँ एक सन्नागरिकके लिये आदर्श दिनचर्या है, वहाँ यह शासकोंको भी कुशल प्रशासक बनानेवाली है। [**श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी शास्त्री**]

भगवान् श्रीरामकी दैनिक चर्याका स्वरूप

भगवान् श्रीराम अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परम पिता परमेश्वरके अवतार थे और धर्मकी मर्यादा रखनेके लिये भारतभूमि अयोध्यामें राजा दशरथके यहाँ पुत्ररूपमें अवतरित हुए थे। उस समय राक्षसोंका नग्न बीभत्स रूप इतना प्रचण्ड हो गया कि ऋषि-मुनियों, गौ एवं ब्राह्मणोंका जीवन संकटमें पड़ गया था। जहाँ-जहाँ कोई शास्त्र-विहित यज्ञ-कर्म आदि किये जाते थे, राक्षसगण उन्हें विध्वंस करनेके लिये सदा तत्पर रहते थे। राक्षसोंका राजा रावण भारत-भूमिपर अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित करनेके लिये चारों ओर जाल फैला रहा था। देवताओंके आग्रह एवं अनुनय-विनयके फलस्वरूप भगवान् स्वयं अपने अंशोंसहित राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्नके रूपमें अवतरित हुए।

भगवान् श्रीरामके आदर्श चरित्रका विवरण हम भिन्न-भिन्न रामायणोंमें पाते हैं; जिनमें वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण तथा परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासरचित श्रीरामचरितमानस प्रमुख हैं। इस निबन्धका आधार जिसमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याका दिग्दर्शन कराया गया है, गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस है।

साधारण बालकोंकी तरह बालकपनमें अपने छोटे भाइयों एवं बाल-सखाओंके साथ भगवान् श्रीराम सरयूके तटपर कन्दुकक्रीडा एवं अन्य खेलोंमें ऐसे मस्त हो जाते थे कि उन्हें अपने खाने-पीनेकी भी सुध नहीं रहती थी।

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥

(रा०च०मा० १।२०३।६-७)

अपने भाइयोंके साथ वेद-पुराणकी चर्चा करना, माता-पिता, गुरुके आज्ञानुसार प्रतिदिन दैनिक कार्यमें लग जाना उनका नित्यका कार्यक्रम था—

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

(रा०च०मा० १।२०५।५—८)

विश्वामित्र मुनिके यज्ञकी रक्षा भगवान् श्रीरामने किस तत्परतासे की तथा राक्षसोंके भयसे उन्हें कैसे निर्भय किया जब हम उसकी झाँकी रामचरितमानसमें पाते हैं तो उनकी वीरता, धीरता एवं कार्य-तत्परताकी ओर हमारा ध्यान बरबस आकर्षित हो जाता है और उन्हें हम धर्मके परम आदर्शके रूपमें पाते हैं।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख कीं रखवारी॥
सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥
मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥

(रा०च०मा० १।२१०।१—८)

विश्वामित्र मुनिके यज्ञकी पूर्णाहुतिके पश्चात् भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणजी दोनों भाई मुनिके साथ धनुषयज्ञ देखनेके लिये जनकपुर जाते हैं। रास्तेमें गौतमऋषिकी पत्नी अहल्याका, जो शापवश पत्थर हो गयी थी, उद्धार प्रभुने अपने चरणकमलकी धूलिके स्पर्शसे किया। भगवान् श्रीराम आखिर पतितपावन ही तो थे।

जनकपुरमें गुरुकी सेवा करना भगवान् श्रीराम और

लक्ष्मणजीका दैनिक कार्यक्रम था। उनकी दिनचर्यामें भक्त-वत्सलता, नम्रता एवं संकोचको भी स्थान रहता था। नगर-दर्शनके लिये जब लक्ष्मणजीके हृदयमें विशेष लालसा जाग्रत् हो गयी तब भगवान् श्रीराम गुरुजी विश्वामित्रमुनिसे किस संकोच एवं विनयके साथ आज्ञा माँगते हैं, देखिये—

लखन हृदयँ लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥
राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हियँ हुलसानी॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥
नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥
सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥

(रा०च०मा० १।२१८।१—८)

नगर तथा धनुषयज्ञशाला देखते-देखते जब देर हो गयी तो भगवान् श्रीरामके मनमें भय हो गया कि उधर गुरुजी कहीं अप्रसन्न न हो जायँ। दोनों भाई शीघ्र ही गुरुजीके पास वापस आ गये।

सन्ध्याके समय सन्ध्यावन्दन और वेद, पुराण, इतिहासकी चर्चा उनका दैनिक कार्यक्रम था। किस श्रद्धा, निष्ठा एवं भक्तिसे वे गुरुजीकी सेवा करते थे, उसकी झाँकी गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥

(रा०च०मा० १।२२६।३—६)

प्रातःकाल गुरुजीके जागनेके पहले ही भगवान् श्रीराम जाग जाते थे तथा गुरुजीकी सेवामें लग जाते थे।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥
समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥

(रा०च०मा० १।२२७।१-२)

भगवान् श्रीराम धर्मके परम आदर्शस्वरूप थे और उनके मनमें एक सुन्दर प्रेमपूर्ण पछतावा तब हुआ जब कि उन्हें पता चला कि उनके राज्याभिषेककी तैयारी हो रही है। विश्व-इतिहासमें यह एक बेजोड़ उदाहरण है। उन्होंने अपने हृदयका उद्गार प्रकट किया—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

(रा०च०मा० २।१०।५—७)

पर जब दूसरे दिन वनवासकी सूचना मिली तब उनको तनिक भी ग्लानि न हुई; बल्कि परम प्रसन्नता हुई कि पिताके वचनकी रक्षाके लिये वे चौदह वर्षके लिये वन जा रहे हैं। कालिदासने रघुवंशमें यहाँतक लिखा है कि वनवासकी सूचना पानेपर जब लोगोंने देखा कि भगवान् श्रीरामके चेहरेपर किसी भी तरहकी शिकन न आयी तो वे लोग आश्चर्यचकित हो उनका दिव्य सुन्दर मुखमण्डल देखते ही रह गये।

भगवान् श्रीरामने अपनेको बड़ा ही भाग्यशाली समझा और उस अवसरपर कहा—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

(रा०च०मा० २।४१।७-८)

चित्रकूटमें वासके समय भगवान् श्रीरामकी दिनचर्यामें ऋषि-मुनियोंके साथ धर्मचर्चा एवं सत्संगका कार्यक्रम रहता था। वे पत्नी और भ्राताको भी सुखी रखनेकी चेष्टा करते रहते थे।

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय अति सुखु मानी॥

(रा०च०मा० २।१४१।१-२)

वनवासकालमें ऋषि-मुनियोंसे मिलना-जुलना तथा राक्षसोंका संहार प्रभु श्रीरामकी दिनचर्याका प्रधान अंग था। पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित करनेके लिये उन्होंने मुनियोंके समक्ष प्रतिज्ञा की और उसका पालन अन्ततक किया—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(रा०च०मा० ३।९)

भगवान् श्रीरामके वन-गमनकालमें अनेक प्रसंग—जैसे वाल्मीकिजीसे भेंट, अत्रिसे मिलन, शरभंग तथा सुतीक्ष्णजीसे मुलाकात, अगस्त्यजीके आश्रममें प्रभुका पदार्पण, जटायुका उद्धार, शबरीजीसे नवधा भक्तिका वर्णन, सुग्रीवसे मित्रता, बालिवध, लक्ष्मणजीके साथ सत्संग तथा नारद-राम-संवाद आदि आते हैं, जिनके माध्यमसे हमें भगवान् श्रीरामकी दिनचर्या-सम्बन्धी अनेक बातें मालूम होती हैं और वे हमारे जीवनको धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भगवद्भक्तिकी ओर अग्रसर करती हैं।

सीताहरणके पश्चात् प्रभु श्रीरामने किष्किन्धामें पर्वतके शिखरपर वास किया और वहाँ उनकी दिनचर्याकी प्रधानता रही लक्ष्मणजीके साथ सत्संग।

फटिक सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥
कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥

(रा०च०मा० ३।१३।६-७)

रावणका वधकर सीतासहित प्रभु लंकासे अयोध्या लौटते हैं। अयोध्यामें उनकी दिनचर्याकी झाँकी गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

प्रातकाल सरऊ करि मज्जन। बैठहिं सभाँ संग द्विज सज्जन॥
बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननीं सुख भरहीं॥

(रा०च०मा० ७।२६।१—३)

प्रजापालनके लिये भगवान् विशेष सचेष्ट एवं सतर्क रहते हैं। राजसभामें सनकादि तथा नारद आदि ऋषि प्रतिदिन आते हैं और उनसे वेद-पुराण और इतिहासकी चर्चा होती है। भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याकी अन्तिम झाँकी हम अयोध्याकी अमराईमें पाते हैं—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥

(रा०च०मा० ७।५०।५—७)

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीरामकी दिनचर्यासे हमें ऐसी प्रेरणा मिलती है, जो जीवनको श्रद्धा, भक्ति एवं पवित्र प्रेमकी भावनासे ओतप्रोत कर देती है।

[**श्रीकमलाप्रसादजी श्रीवास्तव**]

श्रीकृष्णाकी नित्य प्रातःक्रिया

भगवान् श्रीकृष्ण नित्य प्रातःकाल क्या-क्या क्रिया करते थे, इसका वर्णन भागवतकारने किया है। भगवान्की नित्य-क्रियाओंको देखनेसे पता लगता है कि आर्य द्विजातियोंका आदर्श उस समय क्या था और आज उनमें कितना बुरा परिवर्तन हो गया है। भगवान्की प्रातःक्रियाका वर्णन करते हुए शुकदेवजी कहते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्तमुत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरणं आत्मानं तमसः परम्॥
एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम्॥
अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥
उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः।
देवानृषीन्पितॄन्वृद्धान्विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान्॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम्॥
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने॥
गोविप्रदेवतावृद्धगुरून्भूतानि सर्वशः।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत्॥

(श्रीमद्भा० १०।७०।४-१०)

भगवान् श्रीकृष्णजीने ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर हाथ-पैर धोकर जलसे आचमन करके सब इन्द्रियोंको प्रसन्न करके मनको प्रकृतिसे परे आत्मामें लगा दिया अर्थात् आत्मध्यान करने लगे। वे केवल, स्वप्रकाश-उपाधिशून्य, अविनाशी, अखण्ड, अज्ञानरहित और जगत्की उत्पत्ति तथा नाशका कारण जो अपनी शक्तियाँ हैं, उनकेद्वारा ही जिनकी सत्ता समझमें आती है, ऐसे श्रीकृष्ण ब्रह्म नामक अपने ही सच्चिदानन्दमय स्वरूपके ध्यानमें मग्न हो गये। तदनन्तर सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णजीने शुद्ध जलमें स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने और विधिपूर्वक सन्ध्योपासनादि नित्य-क्रिया और अग्निमें हवन करके वे मौन होकर गायत्री मन्त्रका जप करने लगे। फिर सूर्य उदय होनेपर श्रीहरिने खड़े होकर सूर्यका उपस्थान किया, पश्चात् अपने ही अंशरूप देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करके उन आत्मवान् स्वरूपस्थित परमात्मा श्रीकृष्णने बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंकी पूजा की। इसके बाद आपने ब्राह्मणोंको वस्त्र, आसन और तिलसहित तेरह हजार चौरासी गौएँ दान दीं। आप प्रतिदिन ही इतनी गौएँ दान दिया करते थे। उन गौओंके सींग सोनेसे और खुर चाँदीसे मँढ़े हुए थे, गलेमें मोतीकी मालाएँ पड़ी थीं,

बदनपर सुन्दर झूलें उढ़ायी हुई थीं। ऐसी दुधारी, एक बारकी ब्याई, सुशीला, बछड़ेसहित गौएँ देकर श्रीकृष्णने अपनी विभूति गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरु और सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रणाम किया और मांगलिक पदार्थोंका स्पर्श किया।

यह श्रीकृष्णकी दैनिक प्रातःकालकी नित्यक्रिया थी, इसके साथ आजके भारतीय द्विजातियोंकी क्रियाका मिलान कीजिये—

तब	अब
ब्राह्ममुहूर्तमें उठना—	आठ बजेतक पड़े रहना।
आत्माका ध्यान करना—	अखबार पढ़ते हुए संसारके प्रपंचोंका स्मरण करना।
शुद्ध जलमें स्नान करना—	चर्बीमिश्रित साबुन और प्रायः मद्ययुक्त सुगन्ध-द्रव्य लगा नलके अपवित्र जलमें नहाना।
सन्ध्योपासना करना—	पर-चर्चा करना।
हवन करना—	धूम्रपान करना।
गायत्री जप करना—	जप करनेवालोंकी दिल्लगी उड़ाना।
देवता, ऋषि, पितृ-तर्पण—	अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी चिन्तामें परिवारके लोगोंका बुरा सोचना।
बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंको पूजना—	बड़े-बूढ़ोंको मूर्ख बताना और ब्राह्मण-निन्दा करना।
ब्राह्मणोंको गौ-दान देना—	ब्राह्मण-अतिथियोंको घरसे निकाल देना।

विचार कीजिये और अपना कर्तव्य निश्चित कीजिये।

भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी दिनचर्या

अचिन्त्यगति भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा वेदों, पुराणों, उपनिषदों एवं अन्यान्य शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे गायी गयी है। अनेक ऋषियों, मुनियों, संतों, भक्तों एवं विद्वानोंने उनकी ही महिमाका गान करके अपनी वाणीको सफल किया है। अनेक संत-महात्माओंने भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणोंका गान तथा चरणोंकी सेवा करके अपने जीवनको धन्य माना और परमगति प्राप्त की। श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके ही कलावतार हैं। उन्होंने महाभारत नामक इतिहास तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें भगवान्‌की जिन रहस्यमयी मधुर मनोहर लीलाओंका विशद वर्णन किया है, वे बुद्धिवादी लोगोंके सूक्ष्म चिन्तनकी गतिसे परे हैं, परंतु श्रद्धालु भक्तोंके लिये वे परमानन्दप्रदायिनी हैं। भगवान्‌की लीलाओंका गान भगवती शारदादेवी वीणा बजाकर कल्पभर करती रहें, भगवान् गणेशजी अपनी लेखनीसे कल्पोंतक लिखते रहें और भगवान् शेषनाग अपने सहस्र मुखोंसे कल्पोंतक गान करते रहें तो भी पार नहीं पा सकते। फिर अस्मदादि तुच्छबुद्धि मनुष्य भला, उनकी लीलाओंका क्या गान कर सकते हैं।

हमारा यह देश भारतवर्ष धर्मप्राण (धर्मप्रधान) देश कहा जाता है। यहाँके बड़े-बड़े लोगोंने, राजाओं एवं सम्राटोंने भी भोगोंको लात मारकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवा की, अरण्यका आश्रय लिया और विशुद्ध धर्मका आचरण करके लोगोंको शिक्षा दी है। भगवान् श्रीकृष्णने ही चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की, उन्होंने ही चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास)-की स्थापना की और उन्होंने ही उनमें प्रविष्ट होकर तदनुकूल आचरण करके लोगोंको समय-समयपर

शिक्षा दी। भगवान्‌के विश्वासी अनेक संतोंने अपने आचरणोंके द्वारा आदर्श उपस्थित किया।

भगवान् श्रीकृष्ण ही धर्मके परम आदर्श स्वरूप हैं, यह उनकी विभिन्न लीलाओंसे स्पष्ट सिद्ध होता है। भगवान्‌का तो यह कहना ही है कि—'जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अजन्मा, अविनाशी तथा लोक महेश्वर रहते हुए ही साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मकी संस्थापनाके लिये युग-युगमें अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ।'

मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, कपिल, हंस, कृष्णद्वैपायन आदि भगवान्‌के अनेक अवतार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं, जिनमें कुछ उनके अंशावतार, कुछ कलावतार कहलाते हैं, किंतु भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। इन अवतारोंमें भगवान्‌ने जो-जो लीलाएँ की हैं, वे संत-महात्माओंद्वारा गेय हैं। धर्माचरणके विशुद्ध आदर्श भगवान्‌के इन अवतारोंमें दर्शनीय हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने एक अवतारमें नर-नारायणरूपसे बदरिकाश्रममें तप करते हुए परमहंस संन्यासियोंको आचरणकी शिक्षा देते हैं, कपिलके रूपमें सांख्ययोगके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं, परशुराम, श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अनेक असुर-प्रकृति राजाओं तथा दैत्योंका दलन करते हैं, संतोंकी रक्षा करते हैं। बुद्धके रूपमें अवतार लेकर यज्ञके अनधिकारियोंको यज्ञ करनेसे रोकते हैं, अपने विशुद्ध तर्कके द्वारा वे ब्राह्मणोंके रूपमें पैदा हुए राक्षसोंको मोहित कर देते हैं। आगे भी कलियुगके अन्तमें वे भगवान् कल्कि-रूपमें अवतार लेकर इस धरापर फैले हुए समस्त म्लेच्छोंका संहार करेंगे और अपने आश्रित संतोंकी रक्षा करेंगे। कहाँतक कहा जाय, भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा अपार है। भगवान् श्रीकृष्ण धर्मके परम आदर्श हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्याका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके उनहत्तरवें और सत्तरवें अध्यायोंमें पढ़ने-सुननेको मिलता है। भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्या देखनेके लिये देवलोकसे स्वयं नारदजी पधारे थे और इन्द्रकी सभामें जाकर उन्होंने उसका गान किया था।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—प्रातःकाल भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्ममुहूर्तमें जब कुक्कुट (मुर्गे) बोलने लगते थे, उठते थे। उस समय पारिजातके पुष्पोंकी भीनी-भीनी सुगन्ध लेकर वायु बहने लगती थी, भ्रमरसमूह तालस्वरके साथ मधुर संगीतकी तान छेड़ देते थे और पक्षी मधुर स्वरसे कलरव करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण शय्यासे उठकर हाथ-मुँह धोते और अपने मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करने लगते थे। उस समय उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठता था। इसके बाद विधिपूर्वक शौचादि कृत्य समाप्त करके वे निर्मल और पवित्र जलमें स्नान करते थे। पश्चात् शुद्ध धोती पहनकर चादर ओढ़कर यथाविधि नित्यकर्म—सन्ध्यावन्दन आदि करते थे। इसके बाद हवन करते और मौन होकर गायत्रीका जप करते थे। तदनन्तर सूर्योदयके समय सूर्योपस्थान करते और अपने कलास्वरूप देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण करते थे। इसके बाद कुलके बड़े-बूढ़ों और ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करते थे। तदनन्तर परम मनस्वी भगवान् श्रीकृष्ण दुधार, पहले-पहल ब्यायी हुई, बछड़ोंवाली, सीधी-शान्त तेरह हजार चौरासी गौओंका दान करते थे। उन गौओंको सुन्दर वस्त्र, मोतियोंकी माला पहना दी जाती थी। सींगोंमें सोना और खुरोंमें चाँदी मढ़ दी जाती थी। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार ब्राह्मणोंको वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित करके रेशमी वस्त्र, मृगचर्म और तिलके साथ प्रतिदिन गौएँ दान करते थे। तदनन्तर अपनी विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, कुलके वयोवृद्ध, गुरुजन और समस्त प्राणियोंको प्रणाम करके मांगलिक वस्तुओंका स्पर्श करते थे। सहज सौन्दर्यकी खान होते हुए भी भगवान् अपनेको पीताम्बर आदि दिव्य वस्त्र, कौस्तुभ आदि आभूषण, पुष्पोंके हार और चन्दनादिके अंगरागसे अलंकृत करके घी और दर्पणमें अपना मुख देखते थे तथा गाय, बैल, ब्राह्मण और देवप्रतिमाओंके दर्शन करते थे। फिर पुरवासी, अन्तःपुरके लोगोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते थे। पश्चात् अन्यान्य प्रजाकी कामनापूर्ति करके उन्हें सन्तुष्ट करते और इस प्रकार सबको प्रसन्न देखकर स्वयं भी आनन्दित होते थे।

भगवान् श्रीकृष्ण पुष्पमाला, ताम्बूल, चन्दन, अंगराग आदि वस्तुएँ पहले ब्राह्मण, स्वजन-सम्बन्धी, मन्त्री और रानियोंको बाँटकर बची हुई वस्तु स्वयं काममें लेते थे। जबतक भगवान् यह सब करते होते, तबतक उनका सारथि दारुक सुग्रीव आदि घोड़ोंको रथमें जोतकर ले आता और भगवान्‌को प्रणाम करके उनके सामने खड़ा हो जाता था।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा उद्धव और सात्यकिके साथ अपने सारथि दारुकका हाथ अपने हाथसे पकड़कर रथपर सवार होते और सुधर्मा सभाको जाते थे। यदुवंशियोंसे भरी हुई उस सुधर्मा सभाका ऐसा प्रभाव था कि उसमें जो लोग प्रवेश करते थे, उनको शरीरकी छः ऊर्मियाँ—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु नहीं सताती थी। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके महलोंसे अलग-अलग निकलकर एक ही रूपमें सुधर्मा सभामें प्रवेश करते और श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान होते थे। उस सभामें नट, मागध, सूत, बन्दीजन भगवान्की विभिन्न लीलाओंका बखान करके नाचते, गाते और उन्हें प्रसन्न करते थे। मृदंग, वीणा, पखावज, बाँसुरी, झाँझ और शंख आदि बजने लगते थे। कोई-कोई व्याख्याकुशल ब्राह्मण वहाँ बैठकर वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करते और कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण शास्त्रों-पुराणोंकी कथाएँ कहते, कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण पूर्वकालीन पवित्रकीर्ति नरपतियोंके चरित्रोंका बखान करते थे। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण यदुवंशियोंके बीचमें अपने ब्रह्मरूपको छिपाकर श्रेष्ठ मनुष्योंके धर्मका आचरण करते थे। वे अपने आचरणसे लोगोंको सदैव सद्धर्म एवं शुभ आचरणकी शिक्षा दिया करते थे।

हस्तिनापुरमें गये हुए भगवान् श्रीकृष्णकी प्रातःकालीन चर्याकी बात महाभारतमें आती है। वहाँ कहा गया है—'आधा पहर रात्रि शेष रह गयी, तब श्रीकृष्ण जागकर उठ बैठे। तदनन्तर वे माधव ध्यानमें स्थित हो सम्पूर्ण ज्ञानोंको प्रत्यक्ष करके अपने सनातन ब्रह्मस्वरूपका चिन्तन करने लगे। फिर अपनी धर्ममर्यादा तथा महिमासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर स्नान किया, पश्चात् गूढ़ गायत्रीमन्त्रका जप करके हाथ जोड़े हुए अग्निके समीप जा बैठे। वहाँ अग्निहोत्र करनेके अनन्तर भगवान् माधवने चारों वेदोंके विद्वान् एक हजार ब्राह्मणोंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक हजार गौएँ दान कीं और उनसे वेदमन्त्रोंका पाठ एवं स्वस्तिवाचन करवाया। इसके बाद मांगलिक वस्तुओंका स्पर्श करके भगवान्ने स्वच्छ दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन किया। (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ५३)

भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य जन्म, दिव्य कर्म, उनकी मुनिमनमोहिनी लीला और महिमाका कोई पार नहीं पा सकता। वे ही धर्मके मूल हैं, वे ही धर्म हैं, वे ही धर्मरक्षक हैं, वे ही धर्माचरण करनेवाले हैं। वे अकारण-करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण कलिकालसे ग्रस्त हम मूढ़ मनुष्योंका उद्धार करें तथा विश्वमें बढ़ते हुए अधर्मके प्रवाहको सुखाकर धर्मकी सुधाधारा बहा दें, यही प्रार्थना है।

'बोलो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!'

[श्रीलक्ष्मीकान्तजी त्रिवेदी]

सप्तर्षियोंकी जीवनोपयोगी सदाचार-शिक्षा

प्रलयके अनन्तर जब-जब सृष्टि होती है, तब-तब विभिन्न मन्वन्तरोंमें धर्म और मर्यादाकी रक्षाके लिये तथा अपने सदाचरणसे लोकको जीवनचर्याकी उत्तम शिक्षा प्रदान करनेके लिये सात ऋषि आविर्भूत होते हैं। ये ही सप्तर्षि कहलाते हैं। इन्हींकी तपस्या, शक्ति, ज्ञान और जीवन-दर्शनके प्रभावसे सारा संसार सुख और शान्ति प्राप्त करता है। ये ऋषिगण अपने एक रूपसे जगत्में लोकहितमें संलग्न रहते हैं और दूसरे रूपमें नक्षत्रमण्डलमें सप्तर्षि-मण्डलके रूपमें ध्रुवकी परिक्रमा करते हुए विचरण करते रहते हैं। प्रलयमें भी ये बने रहते हैं और जीवोंके कर्मोंके साक्षी तथा द्रष्टा बनते हैं। पुराणोंमें इनके उदात्त चरित्रका विस्तारसे वर्णन प्राप्त होता है।

वायुपुराण (६१। ९३-९४)-में बताया गया है—१-दीर्घायुष्य, २-मन्त्रकर्तृत्व, ३-ऐश्वर्यसम्पन्नता, ४-दिव्य-दृष्टियुक्तता, ५-गुण, विद्या तथा आयुमें वृद्धत्व, ६-धर्मका प्रत्यक्ष साक्षात्कार तथा ७-गोत्रप्रवर्तन—इन सात गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको सप्तर्षि कहा गया है। इन्हींसे प्रजाका विस्तार होता है तथा धर्मकी व्यवस्था चलती है। ये ही महर्षि प्रत्येक युगमें सृष्टिके प्रवर्तन होनेपर सर्वप्रथम वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था किया करते हैं—'**कृतादिषु युगाख्येषु सर्वेष्वेव पुनः पुनः। वर्णाश्रमव्यवस्थानं क्रियन्ते प्रथमं तु वै॥**' (वायुपु० ६१। ९७) ये सप्तर्षि प्रवृत्तिमार्गी होते हैं और अपने सदाचारसे लोकको सन्मार्गमें प्रवर्तित करने तथा शास्त्रमर्यादित जीवनचर्यापर आरूढ़ होनेके लिये पथप्रदर्शक बनते हैं। इसीलिये ये गृहस्थधर्मको स्वीकार करके भी संग्रह-परिग्रहसे दूर रहकर भगवान्की भक्तिका

उपदेश देते हैं और अपने जीवनदर्शनसे यह दिखाते हैं कि लोकमें अनासक्त भावसे किस प्रकार गृहस्थका निर्वाह बहुत उत्तम रीतिसे हो सकता है। ये अत्यन्त तपस्वी, तेजस्वी और वेदवेत्ता होते हैं। भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम रखना तथा शास्त्रचर्याको अपने जीवनमें उतारकर लोकशिक्षण प्रदान करना इनका मुख्य उद्देश्य है।

ब्रह्माजीके एक दिन (कल्प)-में चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मनुके कालको मन्वन्तर कहते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें देवता, इन्द्र, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र भिन्न-भिन्न होते हैं। एक मन्वन्तर बीत जानेपर मनु बदल जाते हैं तो उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। देवता, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र और देवताओंके अधिपति इन्द्र—ये सभी भगवान्‌की ही विभूतियाँ हैं—

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः
सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो
विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥
(विष्णुपु० ३। १। ४६)

पहले मनु स्वायम्भुव मनु हैं और इन्हींके नामसे पहला मन्वन्तर स्वायम्भुव मन्वन्तर कहलाता है, इसी प्रकार स्वारोचिष, उत्तम आदि पृथक्-पृथक् चौदह मन्वन्तर होते हैं। वर्तमानमें सातवाँ वैवस्वत नामक मन्वन्तर चल रहा है। इस मन्वन्तरके सप्तर्षियोंके नाम इस प्रकार हैं—**वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र और भरद्वाज।***

गीता (१०। ६)-में भगवान्‌ने इन्हें अपने मनसे उत्पन्न तथा भगवान्‌में भक्ति रखनेवाले और अपनी विभूति बतलाया है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

प्रातःकालमें इन सप्तर्षियोंका नामकीर्तन करनेसे मंगलकी प्राप्ति होती है तथा दिनचर्या ठीकसे चलती है। भाद्रशुक्ल पंचमी ऋषिपंचमी कहलाती है, इस दिन वसिष्ठपत्नी सतीशिरोमणि महादेवी अरुन्धतीसहित इन सप्तर्षियोंका विशेषरूपसे पूजन होता है। इस व्रतको स्त्री-पुरुष दोनों ही करते हैं, किंतु विशेषरूपसे यह स्त्रियोंके लिये अवश्यकरणीय है। रजस्वला-अवस्थामें स्त्रीको अशौच होता है, अतः उसे एकान्तमें रहना चाहिये। इस अवस्थामें घरके पात्रादिका स्पर्श हो जानेसे जो पाप उसके द्वारा ज्ञात-अज्ञातमें हो जाता है, उसके निवारणके लिये ऋषिपंचमीका व्रत किया जाता है। सुवर्णादि, कुशमयी अथवा पट्टलिखित अरुन्धतीसहित सप्तर्षियोंकी प्रतिमा बनाकर उनकी पूजा की जाती है। यह व्रत प्रायः सात वर्षतक किया जाता है। उद्यापनके अनन्तर पुनः व्रतग्रहणकर जीवनपर्यन्त भी किया जाता है। सप्तर्षियोंकी कृपासे स्त्रियाँ रजस्वला-अवस्थामें स्पर्शास्पर्शजनित दोषसे मुक्त हो जाती हैं। ऐसे ही सर्वतोभद्रमण्डलमें भी सप्तर्षियोंका पूजन होता है। सप्तर्षियोंके पूजनका वैदिक मन्त्र इस प्रकार है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ (यजुर्वेद ३४। ५५)

सप्तर्षियोंका लोकपर महान् अनुग्रह है। इनका मर्यादित आचरण नित्यचर्याके लिये आदर्श रूप है। इन्होंने गृहस्थधर्मका अनुवर्तन तो किया ही, इनकी ज्ञाननिष्ठा, तपस्या, अध्यात्मदर्शन, शास्त्रचिन्तन भी अनुपमेय है।

एक बारकी बात है, ये सप्तर्षिगण भगवान्‌का मंगलमय नामस्मरण करते हुए विचरण कर रहे थे। मार्गमें मृकण्डु-ऋषिका आश्रम पड़ा। मृकण्डुऋषिके पुत्र थे मार्कण्डेय, जो अभी पाँच वर्षके बालक थे और एक दैवज्ञने बताया था कि अब उसकी केवल छः माहकी आयु शेष है। पिता चिन्तित हुए, उन्होंने बालकको सभीको प्रणाम करनेका व्रत बता दिया। मार्कण्डेय सभीको प्रणाम करते रहते। जब सप्तर्षिगण वहाँ पहुँचे तो बालकने उन्हें भी स्वभाववश प्रणाम किया और सबसे दीर्घायुका आशीर्वाद प्राप्त किया। कुछ ही क्षणोंमें महर्षि वसिष्ठने विचार किया और वे ऋषियोंसे कहने लगे कि इसकी आयु तो अब थोड़ी ही बची है और

* (क) वसिष्ठः काश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निस्सगौतमः। विश्वामित्रभरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥ (विष्णुपु० ३। १। ३२)
(ख) कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः। जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः॥ (श्रीमद्भा० ८। १३। ५)

हमने इसे दीर्घायु होनेका वर दे दिया है। अब हमारी बात मिथ्या न हो, इसलिये ब्रह्माजीके पास इसे ले जाकर दीर्घायु बनाना होगा। फिर वैसा ही किया गया। मार्कण्डेय कल्पकल्पान्तजीवी हो गये। इस प्रकारसे सप्तर्षि अद्भुत प्रभाववाले हैं। इनका आशीर्वाद अमोघ होता है। तीनों लोकोंमें इनकी गति अबाध है।

इन्हींके सत्संग तथा कृपादृष्टिसे जन्मान्तरीय प्राक्तन संस्कारवश व्याधकर्ममें लगे हुए अग्निशर्मा (मतान्तरसे रत्नाकर) मरा-मरा (राम-राम)-का जपकर वाल्मीकि बने और हमें वाल्मीकीय रामायण जैसा ग्रन्थरत्न प्राप्त हुआ।

सप्तर्षियोंका त्याग—महाभारत, स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराणमें सप्तर्षियोंका जीवनचर्यासम्बन्धी एक बहुत ही महत्त्वका आख्यान प्राप्त होता है, जिसमें लोभकी निन्दा और त्यागकी महिमाका निरूपण हुआ है, व्यवहारमें उपयोगमें लेनेयोग्य होनेसे संक्षेपमें कथाका सार यहाँ दिया जा रहा है—एक समयकी बात है, पृथ्वीपर बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई। संसारमें घोर अकाल पड़ गया। सभी लोग भूखों मरने लगे। देवी अरुन्धतीके साथ सप्तर्षि भी इससे प्रभावित हुए। घूमते-घूमते ये राजा वृषादर्भिके राज्यमें पहुँच गये। उनका आगमन सुनकर राजा वहाँ आया और बोला—तपोधनो! मैं आपलोगोंको अन्न, ग्राम, घृत-दुग्धादि रस तथा तरह तरहके रत्न दे रहा हूँ। आपलोग इसे स्वीकार करें।

सप्तर्षियोंने कहा—राजन्! आपके द्वारा दिया हुआ दान ऊपरसे मधुके समान मीठा जान पड़ता है, परंतु परिणाममें विषके समान भयंकर हो जाता है, इस बातको जानते हुए भी हम प्रलोभनमें क्यों पड़ें? ब्राह्मणोंका शरीर देवताओंका निवासस्थान है, यदि ब्राह्मण तपस्यासे शुद्ध एवं सन्तुष्ट रहता है तो वह सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न रखता है। ब्राह्मण दिनभरमें जितना तप संग्रह करता है, राजाका प्रतिग्रह क्षणभरमें उसे जला डालता है। आप सकुशल रहें और यह सारा दान उसे दें, जिसको इसकी चाह हो। यह कहकर सप्तर्षि आगे बढ़ गये।

राजाने यह बात सुनी तो उन्होंने पुनः सप्तर्षियोंके त्यागकी परीक्षा लेनेके लिये अपने मन्त्रियोंको आदेश दिया कि गूलरोंमें सोना भरकर उन्हें ऋषियोंके पास पहुँचा दो। एक स्थलपर सप्तर्षि विश्राम कर रहे थे तो उसी समय गूलरके फल लिये हाथ जोड़े एक राजसेवक वहाँ पहुँचा।
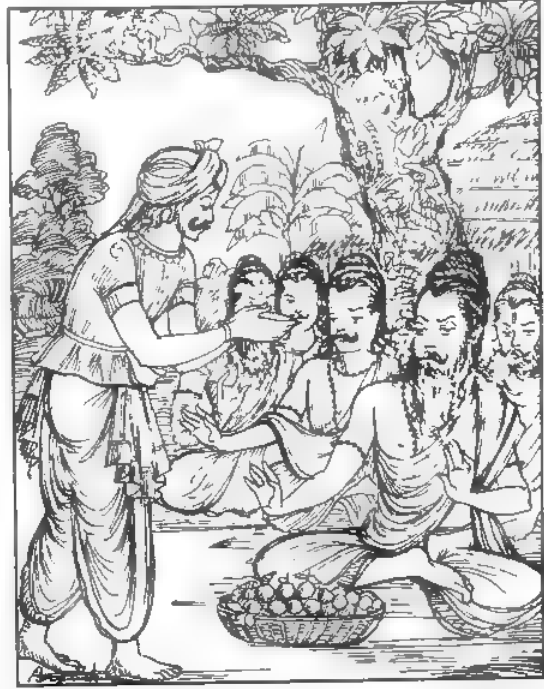
महर्षि अत्रिने जब एक फल उठाया तो वह बड़ा भारी मालूम पड़ा। वे अपने तपोबलसे यह समझ गये कि इन गूलरोंमें राजाद्वारा सोना भरवा दिया गया है। यदि आज हम इन्हें लेते हैं तो परलोकमें इसका कटु परिणाम हमें भोगना पड़ेगा। उस समय सभी ऋषियोंने लोभकी निन्दा तथा त्यागकी भारी प्रशंसा की और तृष्णा, कामना एवं आसक्तिको ही साधनाका सबसे बड़ा विघ्न बताया। सबसे अन्तमें माता अरुन्धतीने कहा—संसारमें एक पक्षके लोगोंकी राय है कि धर्मके लिये धनका संग्रह करना चाहिये, किंतु मेरी रायमें धन-संग्रहकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है—

धर्मार्थं सञ्चयो यो वै द्रव्याणां पक्षसम्मतः।
तपःसंचय एवेह विशिष्टो द्रव्यसञ्चयात्॥

(महा० अनु० ९३)

आगे इन सातों महर्षियों तथा माता अरुन्धतीके उदात्त चरित्र तथा जीवनचर्याकी खास-खास बातोंको संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) महर्षि वसिष्ठ और महादेवी अरुन्धती

सप्तर्षियोंमें महर्षि वसिष्ठका स्थान विशेष महत्त्वका है। इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण इनका नाम वसिष्ठ पड़ा है। काम और क्रोध—ये दो दोष दुर्जेय हैं, किंतु वसिष्ठसे ये दोनों पराजित हो गये और वे दोनों इनके चरण दबाया करते हैं (महा० आदि० १७३।५-६)। एक बार यातुधानी कृत्याके पूछनेपर वसिष्ठजीने अपने नामकी व्युत्पत्ति बताते हुए कहा था कि मेरा नाम वसिष्ठ है, सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण लोग मुझे वरिष्ठ भी कहते हैं। मैं गृहस्थ-आश्रममें वास करता हूँ, अतः वसिष्ठता (ऐश्वर्य-सम्पत्ति) और वासके कारण तुम मुझे वसिष्ठ समझो—

वसिष्ठोऽस्मि वरिष्ठोऽस्मि वसे वासगृहेष्वपि।
वसिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धि माम्॥

(महा० अनु० ९३।८४)

महर्षि वसिष्ठका तप, त्याग, क्षमा, संयम, सहनशीलता और साधुता जीवनमें अनुकरणीय है। विश्वामित्रके द्वारा इनके सौ पुत्रोंके मारे जानेपर भी ये उद्विग्न नहीं हुए और इन्होंने क्षमाशीलताके आदर्शको हम सभीके सामने रखा कि मनुष्यको क्रोधके वशीभूत न होकर सदा क्षमा और शान्तिके मार्गका ही अवलम्बन करना चाहिये। वेदोंमें जो इनका उदात्त चरित्र प्राप्त होता है, उसमें बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ देवताओंके महान् भक्त हैं। देवोंकी उपासनासे इनमें महान् शक्तिका संचार हो आया था। कई बार इन्होंने दानवोंसे देवताओंकी रक्षा भी की थी, इनका सामर्थ्य अद्भुत था। ब्रह्मर्षि होते हुए भी इन्होंने धर्मकी रक्षाके लिये अपने राजर्षिरूपका परिचय देते हुए क्षात्र-धर्मकी भी प्रतिष्ठा की। वायुदेव इनके पराक्रमका वर्णन करते हुए कार्तवीर्यार्जुनसे कहते हैं—राजन्! मैं कहता हूँ कि यदि वसिष्ठसे बड़ा कोई क्षत्रिय हो तो बताओ—

ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं वसिष्ठात् क्षत्रियं वरम्॥

(महा० अनु० १५५।२६)

महर्षि वसिष्ठने अपने दीर्घकालीन तपसे वैदिक मन्त्रोंका दर्शन किया था, इसीलिये ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाते हैं, ऋग्वेदका सप्तम मण्डल हमें महर्षि वसिष्ठकी ही कृपासे प्राप्त है। गोत्रकार ऋषियोंमें ये सर्वाग्रणी हैं। एक बार महर्षि वसिष्ठजी और विश्वामित्रजीमें तपस्या और सत्संगमें कौन बड़ा है, इसपर विचार चल पड़ा। महर्षि विश्वामित्र तपस्याके पक्षमें थे, किंतु वसिष्ठजी सत्संगको विशेष मानते थे। अन्तमें शेष भगवान्‌ने निर्णय दिया कि सत्संग ही सबके लिये सुगम है। अतः इसकी विशेष महिमा है। इस प्रकार महर्षि वसिष्ठ सदा सच्चर्या और ऋषि-महर्षियोंके साथ अध्यात्म ज्ञानचर्यामें लगे रहे और अपनी चर्याके माध्यमसे उन्होंने यह सन्देश दिया कि जीवनमें सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये और सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिये। अपने पिता ब्रह्माजीके कहनेपर इन्होंने सूर्यवंशका पौरोहित्य स्वीकार किया। इन्होंने भगवान् श्रीरामको जो निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्गका उपदेश दिया, वही योगवासिष्ठ नामसे विख्यात है। इन्हींकी परम्परामें शक्तिके पुत्र महर्षि पराशर और पराशरजीके पुत्र व्यासदेव एवं व्यासजीके पुत्र महाभागवत शुकदेवजी प्रादुर्भूत हुए। महर्षि वसिष्ठजीका जीवनदर्शन और उनका सदाचरण नित्य पालन करनेयोग्य है। लोगोंकी दिनचर्या और जीवनचर्या ठीक-ठीक चले, इसके लिये उन्होंने धर्मशास्त्रीय आचार-मर्यादाओंका विधान बनाया है, जिनका निरूपण वसिष्ठधर्मसूत्र तथा वसिष्ठस्मृति नामक धर्मशास्त्रोंमें हुआ है। वसिष्ठजीने संस्कारोंके अनुपालनपर बहुत जोर दिया है तथा यह भी बताया है कि अपनी नित्यकी चर्यामें श्रीमद्भागवतादिपुराण, श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम

आदिका पठन-मनन-चिन्तन अवश्य करना चाहिये, इससे जीवन सुधर जाता है—

पुराणं शान्तिपठनं श्रीगीतापठनं तथा॥
सहस्रनामपठनं कुर्यादत्र समाहितः।

(वसिष्ठस्मृति ७। ६८-६९)

महर्षि वसिष्ठजीकी धर्मपत्नीका नाम अरुन्धती है। ये पतिव्रताओंकी आदर्श हैं, सदा पातिव्रतका पालन करती हैं, कभी भी पतिसे अलग नहीं रहतीं। शील-विनय एवं सौजन्यमें ये महर्षि वसिष्ठके ही अनुरूप हैं—'**समानशीलां वीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।**' (महा० अनु० १३०। २)

पहले ये सन्ध्या नामसे ब्रह्माजीकी मानसपुत्री थीं, बादमें ये भगवान् शंकरके आदेशसे मेधातिथिके यज्ञमें अग्निकुण्डसे उनकी कन्याके रूपमें प्रादुर्भूत हुईं। धर्मके किसी कार्यमें ये अवरोध पैदा करनेवाली नहीं थीं, इसीलिये अरुन्धती इनका नाम पड़ा। बादमें त्रिदेवोंने वसिष्ठजीसे इनका विवाह करा दिया। सप्तर्षिमण्डलमें महर्षि वसिष्ठके साथ ये भी विराजमान रहती हैं। अखण्ड सौभाग्य और उत्तम श्रेष्ठतम दाम्पत्यप्राप्तिके लिये महर्षि वसिष्ठ और अरुन्धतीकी आराधना की जाती है। विवाहके अवसरपर कन्याओंको इनका दर्शन इसीलिये कराया जाता है कि उनका सौभाग्य सदा अटल रहे और वे सदा पतिव्रत धारण किये रहें। अपना नाम अरुन्धती क्यों पड़ा, इस सम्बन्धमें वे कहती हैं—मैं अरु अर्थात् पर्वत, पृथ्वी और द्युलोकको अपनी शक्तिसे धारण करती हूँ, अपने स्वामीसे कभी दूर नहीं रहती और उनके मनके अनुसार चलती हूँ, इसलिये मेरा नाम अरुन्धती है—

धरान् धरित्रीं वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम्।
मनोऽनुरुन्धती भर्तुरिति मां विद्ध्यरुन्धतीम्॥

(महा० अनु० ९३। ९६)

आज दाम्पत्यजीवनमें देवी अरुन्धतीकी इस जीवनचर्याका ही अनुपालन सब प्रकारसे श्रेयस्कर और सुख-शान्तिको देनेवाला है।

महर्षि वसिष्ठ और देवी अरुन्धतीद्वारा की गयी नन्दिनी गौकी सेवा तो विश्रुत ही है, उन्होंने राजा सौदासको गोसेवा आदिकी महिमा अत्यन्त विस्तारसे बतलायी है। ऐसे ही जब माता अरुन्धतीसे देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंने सर्वश्रेष्ठ धर्मका रहस्य पूछा तो उन्होंने गोसेवाको ही सर्वोपरि धर्म बतलाया और कहा—सबेरे उठकर कुश और जल हाथमें ले गौओंके बीच जाय। वहाँ गौओंके सींगपर जल छिड़के और सींगसे गिरे हुए जलको मस्तकपर धारण करे, साथ ही उस दिन निराहार रहे तो इससे उसे समस्त तीर्थाभिषेकका फल प्राप्त हो जाता है (महा० अनु० १३०। ९—११)। इस प्रकार महर्षि वसिष्ठ तथा देवी अरुन्धतीने अपनी दैनिक चर्यामें श्रद्धासे गोसेवा करनेकी शिक्षा दी है।

(२) महर्षि काश्यप (कश्यप)

महर्षि कश्यप ब्रह्माजीके पौत्र हैं और मरीचिके पुत्र हैं। प्रजापति दक्षने अपनी तेरह कन्याओं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि तथा कद्रूका विवाह महर्षि कश्यपके साथ किया (महा० आदि० ६५। १९)। देवी अदितिसे सभी देवता तथा द्वादश आदित्य हुए। सभी दैत्य दितिके पुत्र हैं। दनुके दानव हुए। इसी प्रकार विनताके गरुड-अरुण आदि और कद्रूके सर्प, नाग आदि पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार समस्त सृष्टि महर्षि कश्यपजीकी सन्तान है—'**कश्यपात्तु इमाः प्रजाः**' (महा० आदि० ६५। ११)। पुराणोंमें उनकी सृष्टि काश्यपीय प्रजासर्गके नामसे विख्यात है। सृष्टिके विस्तारमें महर्षि कश्यपजीका विशेष योगदान है। ये गोत्रकार ऋषि हैं। चूँकि सभी इन्हींकी सन्तानें हैं, अतः लोकमें जिसे अपने गोत्रका ज्ञान न हो, कश्यप गोत्र कह देता है। ब्रह्माजीसे इन्हें विषहरी विद्या प्राप्त हुई थी। महर्षि कश्यपकी सन्तान-परम्परा अत्यन्त सुदीर्घ रही है, अतः वे इसके लिये धर्मज्ञ राजा तथा पुरोहितकी आवश्यकता बतलाते हैं। एक बार राजा पुरूरवासे इसी विषयमें इनका संवाद हुआ, तब उन्होंने क्षत्रियके राजा होने तथा ब्राह्मणका पुरोहित होनेके वर्णनके बाद उन दोनोंकी अभिन्न मैत्रीसे प्रजाका कल्याण होता है—इस बातका निर्देश दिया। महर्षि कश्यपने कहा—हे इलानन्दन पुरूरवा! जब बहुत-से पापी पापाचार करने लगते हैं तब संहारकारी रुद्रदेव प्रकट हो जाते हैं। पापात्मा पुरुष अपने पापोंद्वारा ही रुद्रको प्रकट

करते हैं, फिर ये रुद्र साधु-असाधु—सबका संहार कर डालते हैं। पापाचारियोंके संगका त्याग न करनेसे पापहीन—धर्मात्मा पुरुषोंको भी उनसे मेल-जोल रखनेके कारण उनके समान ही दण्ड भोगना पड़ता है, ठीक उसी तरह, जैसे सूखी लकड़ियोंके साथ मिली होनेसे गीली लकड़ी भी जल जाती है। अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह पापियोंके साथ किसी तरह भी सम्पर्क न स्थापित करे—

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
न्न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्॥

(महा० शान्ति० ७३। २३)

इस प्रकार महर्षि कश्यपजीने जीवनचर्यामें यह सावधानीकी बात बतलायी है कि पापियोंका संग या असत्संग किसीको भी कभी भी तनिक भी नहीं करना चाहिये।

इसपर पुरूरवा पुनः प्रश्न करते हैं—भगवन्! इस

जगत्में पृथ्वी तो पापियों और पुण्यात्माओंको समानरूपसे धारण करती है। सूर्य भी भले-बुरेको एक-सा ही सन्ताप देते हैं। वायु साधु और दुष्ट दोनोंका स्पर्श करती है और जल पापी एवं पुण्यात्मा दोनोंको पवित्र करता है, तो कर्मफलमें अन्तर कहाँ पड़ा?

उत्तरमें कश्यपजी बोले—हे राजपुत्र! इस लोकमें ही ऐसी बात देखी जाती है, परलोकमें इस प्रकारका बर्ताव नहीं है, जो पुण्य करता है वह और जो पाप करता है वह—दोनों जब मृत्युके पश्चात् परलोकमें जाते हैं तो वहाँ उन दोनोंकी स्थितिमें बड़ा भारी अन्तर हो जाता है—

एवमस्मिन् वर्तते लोक एव
नामुत्रैवं वर्तते राजपुत्र।
प्रेत्यैतयोरन्तरावान् विशेषो
यो वै पुण्यं चरते यश्च पापम्॥

(महा० शान्ति० ७३। २५)

कश्यपजी बताते हैं कि पुण्यात्माका लोक मधुरतम सुखसे भरा होता है। वहाँ अमृतका केन्द्र होता है, वहाँ न तो मृत्यु है, न बुढ़ापा है और न कोई दुःख ही है; इसके विपरीत पापीका लोक नरक है, जहाँ अँधेरा छाया रहता है और दुःख-ही-दुःख है। इसलिये यदि व्यक्तिको पुण्यात्माओंके लोकमें जानेकी इच्छा हो तो अपनी नित्यकी दैनन्दिनचर्याको सदाचारमय तथा पुण्यमय बनाये और यदि इसकी चाह न हो तो वह मनमाना आचरण करे और नरकका फल भोगे।

जीवनचर्या कैसे धर्ममय हो, आचार क्या है, आचार-पालनके नियम कौन-कौन हैं, गृहस्थाश्रमीका क्या कर्तव्य है, प्रायश्चित्तका क्या रहस्य है, संस्कारोंका अनुपालन जीवनमें क्यों आवश्यक है आदि-आदि बातोंका निरूपण करनेके लिये महर्षि कश्यपजीने एक धर्मशास्त्र बनाया, जो कश्यपस्मृति या काश्यप धर्मशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है।

(३) महर्षि अत्रि

महर्षि अत्रि और माता अनसूयाका पावन चरित्र बड़ा ही उदात्त और सबके लिये अनुकरणीय है। दोनों जहाँ त्याग, तप, संयम और सदाचारकी मूर्ति हैं, वहीं भगवान्के प्रिय भक्तोंमें अन्यतम भी हैं। महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हैं (मत्स्य० ३। ६) और ये गुणोंमें ब्रह्माजीके समान ही हैं। ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके मन्त्रोंके ये द्रष्टा ऋषि हैं, इसीलिये पाँचवाँ मण्डल आत्रेय मण्डल कहलाता है। भागवतमें आया है कि ये ब्रह्माजीके नेत्रोंसे उत्पन्न हैं (श्रीमद्भा० ३। १२। २४)। देवी अनसूया कर्दम प्रजापतिकी पुत्री और इनकी सहधर्मचारिणी हैं। ये पतिव्रताओंके लिये आदर्श हैं और शीलकी प्रतिमूर्ति हैं। इन्होंने अपने पातिव्रतके बलपर बाधित सूर्यको उदित करा दिया। इन दम्पतीकी आराधनाको सफल बनानेके लिये भगवान् श्रीराम भगवती सीता एवं लक्ष्मणजीके साथ इनके

आश्रमपर गये थे। माता अनसूयाका देवी सीताको दिया

गया पातिव्रतका उपदेश स्त्रियोंके लिये परम पालनीय है। इन दोनोंकी मुनिचर्या एवं गृहस्थचर्या बड़ी ही कल्याण-कारक है।

महर्षि अत्रि प्रजापतिपदपर प्रतिष्ठित थे। अपनी प्रजाको धर्माचरणकी शिक्षा देनेके लिये उन्होंने अत्रिस्मृति तथा अत्रिसंहिता नामक दो धर्मशास्त्रोंका प्रणयन किया है, जिसमें प्राप्त उपदेश बड़े ही उपयोगी और नित्य काममें लानेलायक हैं। सद्गृहस्थोंके उत्तम लक्षण कौन हैं, ऐसी जिज्ञासापर उन्होंने बताया है कि—१-अनसूया, २-शौच, ३-मंगल, ४-अनायास, ५-अस्पृहा, ६-दम, ७-दान तथा ८-दया—ये आठ ऐसे गुण हैं, जिनका नित्यकी चर्यामें पालन होना अति आवश्यक है। जो इनका ठीक-ठीकसे पालन करता है, उसकी जीवनचर्या सुधर जाती है और वह अन्तमें उस परम पदको प्राप्त करता है, जहाँसे फिर पुनरागमन नहीं होता—

स गच्छति परं स्थानं जायते नेह वै पुनः॥

(अत्रिसंहिता ४२)

जीवनचर्यामें परोपकारकी क्या महिमा है और दूसरेके मंगलकी भावनामात्र करनेका क्या महत्त्व है, इसे बताते हुए वे कहते हैं कि तीर्थ आदिमें जाकर जो दूसरेके निमित्त स्नान, दान, जप, व्रतोपवास आदि पुण्यकर्मोंको करता है तो उस पुण्यका बारहवाँ भाग उस कर्ताको भी अनायास ही प्राप्त हो जाता है—'**यमुद्दिश्य निमज्जेत द्वादशांशफलं लभेत्।**' (अत्रिसंहिता ५१)

महर्षि अत्रि एक बड़ी ही हितकारी और पालनीय बात बताते हुए कहते हैं कि जीवनमें इष्टापूर्तका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। इष्ट है यज्ञ-यागादि, देवाराधन और पूर्त है—दूसरेके कल्याणको ध्यानमें रखकर बाग, तड़ाग, कूप, वृक्षारोपण, पौंसला, औषधालय, अनाथालय, धर्मशाला आदि बनवाना अथवा उसका जीर्णोद्धार कराकर उसकी दीर्घकालिक सुचारु व्यवस्था करा देना। ये सब लोकहितके कार्य हैं। अपने जीवनमें ऐसे कार्य अवश्य करने चाहिये। इसके फलके सम्बन्धमें वे कहते हैं कि इष्टकर्मोंसे स्वर्गादि लोक तथा पूर्तकर्मसे मोक्ष प्राप्त होता है—

इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्ते मोक्षो विधीयते॥

(अत्रिसंहिता ४३)

(४) महर्षि जमदग्नि

महर्षि जमदग्निजीका कहना है कि भले ही कोई अश्वमेध या सैकड़ों वाजपेय यज्ञ करे, नीचे मस्तक करके वृक्षमें लटके अथवा समृद्धिशाली अन्नसत्र खोल दे, किंतु जिसका हृदय शुद्ध नहीं है, वह निश्चय ही नरकमें जाता है—

यो यजेदश्वमेधेन वाजपेयशतेन ह।
अवाक्शिरा वा लम्बेत सत्रं वा स्फीतमाहरेत्॥
न यस्य हृदयं शुद्धं नरकं स ध्रुवं व्रजेत्।

(महा० अनु० १२७। १७-१८)

महर्षि जमदग्निजीकी यह जीवनोपयोगी शिक्षा कितनी उदात्त है? उनके अनुसार मनुष्य अपने जीवनमें जो भी सत्कर्म करे, उसमें हृदयकी शुद्धि—अन्तःकरणकी पवित्रता अर्थात् भावकी शुद्धि होना परम आवश्यक है। शुद्ध भावनामें ही देवत्वका वास होता है और पवित्र अन्तः-करणवाले व्यक्तिकी जीवनचर्या ही अभ्युदय प्रदान करनेवाली होती है।

महर्षि जमदग्निमें तपकी जैसी प्रतिष्ठा थी, वैसा ही ओज एवं तेजका स्वरूप विद्यमान था। इन्होंने अपने नामका अर्थ बताते हुए स्वयं कहा है कि मैं जमत् अर्थात् देवताओंकी आहवनीय अग्निसे उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिये मुझे जमदग्नि कहा जाता है (महा० ९३। ९७)। इनका कुल अत्यन्त पवित्र एवं उदार रहा है। ये महर्षि भृगुके वंशमें उत्पन्न हुए। महर्षि भृगुके पुत्र हुए महात्मा च्यवन। च्यवनसे

महायशस्वी और्व मुनिका जन्म हुआ। और्वके पुत्र हुए महर्षि ऋचीक और ये ही महर्षि ऋचीक जमदग्निऋषिके पिता हैं, इनकी माताका नाम सत्यवती था। महर्षि जमदग्नि और माता रेणुकाके पुत्ररूपमें ही भगवान्‌का आवेशावतार परशुरामजीके रूपमें हुआ था, जिनकी स्तुति करते हुए भीष्मजी कहते हैं—जिन्होंने धर्मात्मा होकर भी क्रोधमें भरकर धर्मके गौरवका उल्लंघन करनेवाले क्षत्रिय-समाजका युद्धमें इक्कीस बार संहार किया, कठोरताका अभिनय करनेवाले उन भगवान् परशुरामको नमस्कार है—

त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रान्तगौरवम्।
क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः॥

(महा० शान्ति० ४७। ६५)

महर्षि जमदग्नि तपस्याके धनी थे। तपस्यासे ही इन्हें कामधेनु प्राप्त हुई थी। पूर्वकालकी बात है, एक दिन जमदग्निऋषिने श्राद्धका जब संकल्प लिया तो उस समय उनकी होमधेनु स्वयं इनके पास आयी और मुनिने श्राद्धके लिये स्वयं दूध दुहकर एक पात्रमें रख लिया। साक्षात् धर्मदेवताने उनकी परीक्षा करनेके लिये क्रोधका रूप धारण करके उस दूधमें प्रवेश कर लिया, इससे दूध दूषित हो गया। दूधके बिना श्राद्ध कैसे हो, मुनिने अपने योगबलसे दूधमें प्रविष्ट हुए धर्मदेवताको पहचान लिया तथापि वे कुपित नहीं हुए। तब धर्मदेवता ब्राह्मणके रूपमें प्रकट हुए और बोले—भृगुश्रेष्ठ! मैं तो पराजित हो गया। मैंने सुना था कि भृगुवंशी ब्राह्मण बड़े क्रोधी होते हैं, परंतु लोकमें प्रचलित यह प्रवाद आज मिथ्या सिद्ध हो गया; क्योंकि आपने मुझे (क्रोधको) जीत लिया। आज मैं आपके वशमें हूँ, आपकी तपस्यासे डरता हूँ, आप क्षमाशील महात्मा हैं, मुझपर कृपा कीजिये। (महा० आश्व० ९२। ४१—४६) इस घटनासे महात्मा जमदग्नि अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इस प्रकार महर्षि जमदग्निने क्रोध-जैसे महान् शत्रुको जीत लिया था। वास्तवमें जीवनमें काम और क्रोध—ये दो ऐसे दुर्भाव हैं, जिनको जीतना बड़ा कठिन है।* अपने चरित्रसे जमदग्निजीने यह उत्तम शिक्षा हमें प्रदान की है कि जीवनमें काम और क्रोधपर विजय पानेके लिये प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये।

(५) महर्षि गौतम

महर्षि गौतम जीवनचर्याकी व्यावहारिक शिक्षाका ज्ञान
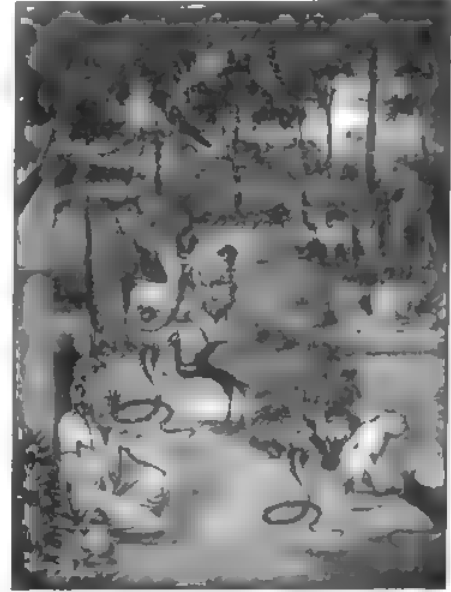
देते हुए कहते हैं—चिरकालतक सोच विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये। यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये। दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है। राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों तथा स्त्रियोंके छिपे हुए अपराधोंके विषयमें कुछ निर्णय करनेमें भी जो जल्दबाजी न करके दीर्घकालतक सोच-विचार करता है, उसीकी प्रशंसा की जाती है—**'चिरकारी प्रशस्यते'** (महा० शान्ति० २६६। ७१)। जो चिरकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता, जो पश्चात्ताप करानेवाला हो। दीर्घकालतक बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करे, दीर्घकालतक उनका संग करके उनका आदर-सत्कार करे। चिरकालतक धर्मका सेवन करे और दीर्घकालतक उसका अनुसन्धान करे। अधिक समयतक विद्वानोंका संग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रहकर तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे। इससे मनुष्य

* गीतामें भी भगवान्‌ने अर्जुनके यह पूछनेपर कि हे वार्ष्णेय! किससे प्रेरणा पाकर न चाहते हुए भी व्यक्ति बलपूर्वक पापाचरण करता है, भगवान् बोले—हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यह भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

चिरकालतक अवज्ञाका नहीं, किंतु सम्मानका भागी होता है।

इस प्रकार धीर पुरुषोंकी महिमाका ख्यापन करनेवाले महर्षि गौतम स्वयंकी चर्चामें भी सदा धीर और शान्त बने रहे। ये ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टिसे उद्भूत हैं। देवी अहल्या इनकी सहधर्मचारिणी हैं। महर्षि गौतमकी तपश्चर्यासे प्रसन्न होकर साक्षात् धर्मराज इनके आश्रमपर पधारे थे। महर्षि भगीरथके समान अपने तपोबलसे ये गौतमी गंगा (गोदावरी)-को पृथ्वीपर लाये थे। अपना नाम गौतम (गोतम) क्यों पड़ा, इसका रहस्य बताते हुए वे कहते हैं—मैंने गो नामक इन्द्रियोंका संयम किया है, इसलिये 'गोदम' नाम धारण करता हूँ। मैं धूमरहित अग्निके समान तेजस्वी हूँ। सबमें समान दृष्टि रखनेके कारण किसीके द्वारा मेरा दमन नहीं हो सकता। मेरे शरीरकी कान्ति (गो) अन्धकारको दूर भगानेवाली है, अतः मेरा नाम गोतम है। (महा० अनु० ९३। ९०)। महर्षि गौतम और माता अहल्याका सदाचार बड़ा ही विलक्षण है। महर्षि तो धर्माचरणकी प्रतिमूर्ति ही हैं।

जीवनमें संस्कारोंकी क्या उपादेयता है और संस्कारसम्पन्नता क्यों आवश्यक है, इस विषयपर उन्होंने अपने धर्मसूत्रमें विस्तारसे विवेचन किया है। अन्य आचार्योंने सोलह आदि कई संस्कारोंको बताया है, किंतु महर्षि गौतम कहते हैं कि उत्तम जीवनचर्याके लिये ४८ संस्कारोंसे सम्पन्न होना चाहिये, जिनमें गर्भाधानादि संस्कार तथा पंचमहायज्ञादि तो हैं ही, २१ संस्कार और होने चाहिये, जो सात पाकयज्ञसंस्था, सात हविर्यज्ञसंस्था तथा सात सोमयज्ञसंस्था* के रूपमें निर्दिष्ट हैं, इसके अतिरिक्त आठ संस्कार और हैं, जो आत्मगुण कहलाते हैं। वे हैं—१-दया, २-क्षमा, ३-अनसूया, ४-शौच, ५-अनायास, ६-मंगल, ७-अकार्पण्य और ८-अस्पृहा।

विस्तारसे इनका निरूपण करते हुए गौतमजी कहते हैं—जिसके गर्भाधानादि चालीस संस्कार नहीं होते और जो आठ आत्मगुणात्मक संस्कारोंसे सम्पन्न नहीं है, उसे कुछ फल प्राप्त नहीं होता, उसका जीवन निरर्थक है, किंतु जो इन संस्कारोंसे संस्कृत है, वह ब्रह्मलोकमें वास करता है और ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करता है—

'यस्यैते न चत्वारिंशत्संस्काराः न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणः सालोक्यं सायुज्यं च गच्छति।' (गौतमधर्मसूत्र अ० ८)

(६) महर्षि विश्वामित्र

एक बार जब महर्षि विश्वामित्रजीसे उनका यह नाम
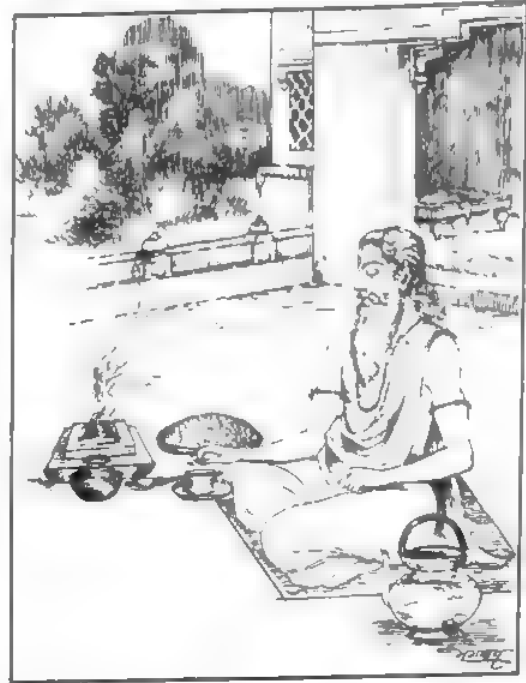
क्यों पड़ा, इस प्रकार पूछा गया तो वे बोले—विश्वेदेव अर्थात् सभी देवता मेरे मित्र हैं और गौओं तथा सम्पूर्ण विश्वका मैं मित्र हूँ, इसलिये संसारमें मैं विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हूँ—

विश्वे देवाश्च मे मित्रं मित्रमस्मि गवां तथा।
विश्वामित्रमिति ख्यातं यातुधानि निबोध माम्॥

(महा० अनु० ९३। ९२)

अपने नामकी व्याख्यामें ही महर्षि विश्वामित्रजीने अपने जीवन-दर्शनका सम्पूर्ण रहस्य बता दिया है। महर्षि विश्वामित्रके समान पुरुषार्थी और तपस्वी ऋषि शायद ही कोई हों। इन्होंने अपने पुरुषार्थसे क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया, राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने, अपने तपोबलसे त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग भेज दिया, इतना ही नहीं, नवीन सृष्टि भी कर डाली। महाराज हरिश्चन्द्रजीकी सत्यनिष्ठाके स्वरूपको संसारमें उजागर करनेके लिये ही ये निष्ठुर-से दिखायी देते हैं, किंतु इनका उदार हृदय सदा करुणासे आप्लावित रहता है। भगवान् श्रीरामकी लीलाओंके आप मुख्य सहचर हैं। पुराणों तथा इतिहासग्रन्थोंमें महर्षि विश्वामित्रकी जीवनचर्या बड़े ही समारोहपूर्वक गुम्फित हुई है।

विश्वामित्रजीने यह बड़ा अनुग्रह किया है कि नित्य सन्ध्यामें जपा जानेवाला गायत्रीमन्त्र हमें प्रदान किया। वे

* (क) सात पाकयज्ञसंस्था—१-श्राद्ध (पिण्डपितृयज्ञ), २-अष्टकाश्राद्ध, ३-पार्वणस्थालीपाक, ४-श्रावणी, ५-आश्वयुजी, ६-आग्रहायणी तथा ७-चैत्री।

(ख) सात हविर्यज्ञसंस्था—१-अग्न्याधान, २-अग्निहोत्र, ३-दर्शपौर्णमासयाग, ४-चातुर्मास्य, ५-आग्रयणेष्टि, ६-निरूढपशुयाग तथा ७-सौत्रामणीयाग।

(ग) सात सोमयज्ञसंस्था—१-अग्निष्टोम, २-अत्यग्निष्टोम, ३-उक्थ्य, ४-षोडशी, ५-वाजपेय, ६-अतिरात्र तथा ७-आप्तोर्याम।

दैनन्दिनचर्यामें गायत्रीजपको ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, उन्होंने अपने तप एवं प्रातिभज्ञानसे ऋग्वेदके तीसरे मण्डलके मन्त्रोंका साक्षात्कार किया है, इसीलिये वह मण्डल वैश्वामित्रमण्डल कहलाता है। इस प्रकार ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाते हैं। उन्हींकी कृपासे गायत्रीमन्त्र हमें प्राप्त हुआ। यह मन्त्र सभी वेदमन्त्रोंका मूल बीज है, इसीलिये गायत्रीको वेदमाता कहा जाता है। सन्ध्याकर्ममें मुख्यरूपसे प्राणायाम, सूर्योपस्थान आदिद्वारा गायत्रीमन्त्रके जपकी सिद्धिमें ही सहायता प्राप्त होती है। गायत्रीमन्त्र ऋग्वेदके इसी तीसरे मण्डलके ६२वें सूक्तका १०वाँ मन्त्र है, जो इस प्रकार है—

'**तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥**'—यह ब्रह्मगायत्री है। वेदमें उन्होंने नित्यचर्यामें जिस गायत्रीका उपदेश दिया है, उसीका विस्तारसे व्याख्यान करनेके लिये उन्होंने उपबृंहणस्वरूप एक धर्मशास्त्र बनाया, जिसमें गायत्रीकी उपासनाके साथ ही सदाचाररूप जीवनचर्याको बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने प्रारम्भमें ब्राह्ममुहूर्त, उषःकाल, अरुणोदयकाल और प्रातःकालका स्वरूपनिरूपण करते हुए बताया है कि नित्य-नैमित्तिक कर्म नियत समयपर करनेपर ही फलीभूत होते हैं—

नित्यनैमित्तिके काम्ये कृते काले तु सत्फलम्॥

(विश्वा० १।४)

तदनन्तर उन्होंने नित्यकी चर्या किस प्रकार प्रारम्भ करे, इस विषयमें प्रातः-जागरण, भूमिवन्दना, मंगलदर्शन, मंगलपाठ, शौच, स्नान, आचमन, मार्जन, प्राणायामकी महिमा, मन्त्रजप आदिकी प्रक्रिया विस्तारसे बतलायी है। इस स्मृतिमें गायत्रीका पूरा कल्प निरूपित है।

महर्षि विश्वामित्रजीने वैश्वदेवकर्मको दिनचर्याका आवश्यक और नित्यकर्म बताया है और बड़े विस्तारसे बलि-वैश्वदेवकी विधि निरूपित की है। उनका कहना है कि उत्तम बात तो यही है कि इसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक करना चाहिये, किंतु यदि मन्त्रका ज्ञान न हो तो अमन्त्रक कर ले, कर्मका लोप नहीं करना चाहिये। वैश्वदेवकर्म करनेसे अन्नका दोष नहीं लगता—

अमन्त्रं वा समन्त्रं वा वैश्वदेवं न संत्यजेत्।
वैश्वदेवस्य करणादन्नदोषैर्न लिप्यते॥

(विश्वा० ८।२१)

(७) महर्षि भरद्वाज

जब मनुष्यका शरीर जीर्ण हो जाता है, तब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत भी टूट जाते हैं, किंतु धन और जीवनकी आशा बूढ़े होनेपर भी जीर्ण नहीं होती—वह सदा नयी ही बनी रहती है। आँख और कान जीर्ण हो जाते हैं, पर एक तृष्णा ऐसी है, जो तरुणी ही होती रहती है। जैसे दर्जी सूईसे वस्त्रमें सूतको प्रवेश कराता रहता है, उसी प्रकार तृष्णारूपी सूईसे संसाररूपी सूत्रका अपने अन्तःकरणमें प्रवेश होता है, जैसे बारहसिंगेके सींग शरीर बढ़नेके साथ बढ़ते हैं, वैसे ही धनकी वृद्धिके साथ-साथ तृष्णा बढ़ती है। तृष्णाका कहीं ओर-छोर नहीं है, उसका पेट भरना कठिन होता है, वह सैकड़ों दोषोंको ढोये फिरती है, उसके द्वारा बहुत-से अधर्म होते हैं, अतः तृष्णाका परित्याग कर दे।*

अपनी जीवनचर्याको सुखी और शान्तिमय बनानेके लिये कितनी सुन्दर बात महर्षि भरद्वाजजीने हमें बतायी है। उन्होंने न केवल बताया ही है अपितु अपने जीवनमें इसे उतारा भी है।

तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्रिकाल सन्ध्या-वन्दन, सदाचारपालन, धर्माचरण, अतिथिसेवा एवं देवाराधन—ये इनकी नित्य दैनिक चर्याके प्रमुख कर्म रहे हैं। इन्होंने सन्ध्याकी महिमापर एक विशाल धर्मग्रन्थ बनाया, जो भरद्वाज-धर्मशास्त्रके नामसे विख्यात है। इन्होंने बाह्याभ्यन्तर शौचपर विशेष बल दिया है और बताया है कि जपमाला चाहे तुलसी-रुद्राक्षकी कोई भी हो, उसकी प्रतिष्ठा करनेके अनन्तर ही जप करना चाहिये। इन्होंने तीनों कालोंकी गायत्रीका त्रिविध ध्यान बताया है और भगवती गायत्रीके विराट् स्वरूपका वर्णन किया है। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें कुशकी क्या उपयोगिता है, इस विषयमें कुशकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'कु' शब्द समस्त पापोंका वाचक है और 'श' शब्द सभी प्रकारके दोषोंका शामक है, इसलिये शीघ्र पापोंका नाश करनेके कारण इसे कुश कहा गया है—'**पापाह्वयः 'कु' शब्दः स्यात् 'श' शब्दः शमनाह्वयः। तूर्णेन पापशमनं येनैतत्कुश उच्यते॥**' (भरद्वाजस्मृति १८।४)

---

* जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः। जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति॥
चक्षुः श्रोत्राणि जीर्यन्ति तृष्णैका तरुणायते। सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसूचयति सूचिकः॥
तद्वत्संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्योपनीयते। यथा शृङ्गं रुरोः काये वर्धमाने च वर्धते॥
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते। अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोषशतावहा॥
अधर्मबहुला चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ (पद्म० सृष्टि० १९।२५४—२५७)

भरद्वाजजीकी कृपासे लोकमें श्रीरामचरितका मंगल प्रवाह प्रवाहित हुआ। ये रामकथा-श्रवणके अनन्य अनुरागी थे। तीर्थराज प्रयागमें इनका पवित्र आश्रम था। भगवान् श्रीरामने इनके आश्रममें निवास किया था। इनका भगवत्प्रेम सबके लिये अत्यन्त अनुकरणीय है। ये भगवान्‌के अनन्य भक्त तथा उनकी लीलाओंके परम सहयोगी हैं।

ये वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेदके छठे मण्डलके मन्त्रोंका इन्हें दर्शन हुआ था। ये न केवल अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, आचारशास्त्रके ही आचार्य हैं, अपितु आजके समस्त वैज्ञानिक अनुसन्धानोंके भी मूल आचार्य हैं, इनका 'यन्त्रसर्वस्व' ग्रन्थ विमानशास्त्रका अद्भुत ग्रन्थ है।

गोत्रप्रवर्तक ऋषियोंमें महर्षि भरद्वाजका नाम बड़े ही आदरसे लिया जाता है। महर्षि भरद्वाजके प्रातःकालिक नामस्मरणसे मंगलकी प्राप्ति होती है और इनकी आचार-चर्याके अनुपालनसे जीवनमें कृतकृत्यताकी अपरोक्षानुभूति होती है।

इस प्रकार सप्तर्षियोंकी सदाचार-शिक्षा सभीके लिये महान् कल्याणकारी है।

महर्षि अगस्त्य और महादेवी लोपामुद्राकी उदात्त जीवनचर्या

महर्षि अगस्त्य और पतिपरायणा देवी लोपामुद्राने जगत्‌का महान् कल्याण किया है। महर्षि अगस्त्य भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। इन्होंने गृहस्थधर्मका किस प्रकार उत्तम रीतिसे निर्वाह हो सकता है, इसका स्वरूप अपने जीवनदर्शनसे निरूपित किया है। वे जैसे तप, संयम, सदाचार और पुरुषार्थके धनी थे, वैसे ही देवी लोपामुद्रा भी अपने पातिव्रत्य, संयम, तपस्या और त्यागके लिये संसारमें विख्यात हैं। इन दोनोंका उदात्त जीवन-चरित बड़ा ही पवित्र और उत्तम आदर्शोंसे सम्पृक्त है। इन दम्पतीका नामस्मरण भी जीवनके लिये बड़ा ही मंगलकारी है। पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें इनकी चारुचर्याका विस्तारसे प्रतिपादन हुआ है। यहाँ उनकी पुण्यमयी जीवनचर्याका कुछ अंश संक्षेपमें प्रस्तुत है—

एक समय मुनिवर अगस्त्य कहीं जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक गड्ढेमें कुछ व्यक्ति नीचेको सिर किये लटक रहे हैं। मुनिने पूछा, 'आप लोग कौन हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हम तुम्हारे ही पितर हैं और पुत्र होनेकी आशा लगाये हुए इस गड्ढेमें लटके हुए हैं। बेटा

अगस्त्य! यदि तुम्हारे एक पुत्र हो जाय तो इस नरकसे हमारा छुटकारा हो सकता है और तुम्हें भी सद्गति मिल सकती है।' महर्षि अगस्त्य बड़े तेजस्वी और सत्यपरायण

थे। उन्होंने पितरोंसे कहा, 'आपलोग चिन्ता छोड़ें। मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा।' इस प्रकार पितरोंको सान्त्वना देकर अगस्त्यजीने विचार किया कि 'वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये विवाह करना आवश्यक है' किंतु उन्हें अपने योग्य कोई स्त्री न दिखायी दी।

उन्हीं दिनों विदर्भदेशके राजा सन्तानके लिये तपस्या कर रहे थे। अगस्त्यमुनिने राजाको एक श्रेष्ठ कन्या होनेका आशीर्वाद दिया। समय आनेपर अगस्त्यजीके वरदानसे विदर्भराजके यहाँ एक तेजस्विनी कन्या उत्पन्न हुई। ब्राह्मणोंने उस कन्याके जन्मपर अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की और उसका नाम लोपामुद्रा रख दिया। जैसे पानीमें कमलिनी और होमकुण्डमें प्रज्वलित अग्निकी शिखा बढ़ती है, उसी प्रकार वह मनोहर रूप धारण करनेवाली राजकुमारी शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी। देखते-देखते लोपामुद्राने युवावस्थामें प्रवेश किया। वह रूपमें स्वर्गकी अप्सराओंको भी लज्जित करने लगी। उसमें विनय, सुशीलता, सदाचार, लज्जा और धर्मानुराग आदि सद्गुण स्वाभाविक रूपसे विकसित हो रहे थे। पिता उसके शील, सुन्दर स्वभाव और सद्व्यवहारसे बहुत प्रसन्न रहते थे। कन्याको सयानी हुई देख पिता इस चिन्तामें पड़े कि कन्याका विवाह किसके साथ किया जाय।

महर्षि अगस्त्य मन-ही-मन विदर्भराजकी कन्याको अपनी सहधर्मिणी बनानेका निश्चय कर चुके थे। जब उन्हें मालूम हो गया कि लोपामुद्रा गृहस्थीका भार सँभालनेयोग्य हो गयी है, तब वे स्वयं जाकर विदर्भराजसे मिले और इस प्रकार बोले—'राजन्! मैं पुत्रकी उत्पत्तिके लिये विवाह करना चाहता हूँ। इसके लिये तुम्हारी कन्याका ही वरण करता हूँ। तुम लोपामुद्राका विवाह मेरे साथ कर दो।' विदर्भराज-दम्पती अपनी प्राणाधिका प्रिय पुत्रीका विवाह इनसे करना नहीं चाहते थे, पर शापसे डरते भी थे। इस प्रकार पिता-माताको दुःखी देख राजकुमारी लोपामुद्राने स्वयं उनके पास आकर कहा—'महाराज! आप मेरे लिये दुखी न हों। मुझे अगस्त्यऋषिको सौंप दें और

अपनी रक्षा करें।' पुत्रीकी यह बात सुनकर राजाने शास्त्रविधिके अनुसार अगस्त्यजीके साथ उसका विवाह कर दिया। विवाहके पश्चात् महर्षिने कहा, 'देवि! तुम्हारे ये वस्त्र और आभूषण बहुमूल्य हैं। इनको यहीं उतार दो। वनमें इनकी रक्षा कौन करेगा?'

लोपामुद्राका जन्म राजकुलमें हुआ था। वह बाल्यकालसे ही राजोचित सुखभोगमें पली थी। उसने अबतक अच्छे-अच्छे वस्त्रों और आभूषणोंसे ही शरीरका शृंगार किया था तो भी पतिकी आज्ञा पाते ही उसने उस राजवैभवका, उन बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणोंका मोह क्षणभरमें त्याग दिया। उसने एक-एक करके दर्शनीय रत्नमय आभूषण और सुन्दर रेशमी वस्त्र उतार डाले तथा उनकी जगह चीर, वल्कल और मृगचर्म धारण कर लिये। राजकुमारीने तपस्विनीका बाना धारण कर लिया और वह अपने पतिके समान ही व्रत एवं नियमोंका पालन करने लगी। लोपामुद्रा तन, मन, प्राणसे पतिकी अनुगामिनी बन गयी। महर्षि अगस्त्य लोपामुद्राके साथ हरिद्वारके क्षेत्रमें आये और वहीं रहकर घोर तपस्या करने लगे। लोपामुद्रा बड़े ही प्रेम, उत्साह और तत्परतासे पतिकी सेवा करती थी। महर्षि भी

उसके प्रति बड़े प्रेमका बर्ताव करते थे। इस प्रकार वहाँ तपस्या करते-करते कितने ही वर्ष बीत गये। एक दिन महर्षिने देखा, लोपामुद्रा ऋतुस्नानसे निवृत्त होकर सेवामें उपस्थित है। तपस्याने उसकी कान्तिको और बढ़ा दिया है। उसकी सेवा, पवित्रता, संयम, शान्ति और रूपलावण्यने महर्षिको मुग्ध कर दिया था। अपने पिताके भवनमें अट्टालिकाके भीतर जिस प्रकारसे रहा करती थी, लोपामुद्राको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे वैसी ही व्यवस्था करनेके लिये महर्षि अगस्त्य धनके निमित्त घरसे जाने लगे तो लोपामुद्राने कहा—तपोधन! इस जगत्‌में जितना भी, जो भी धन है, वह क्षणभरमें आप अपनी तपस्यासे जुटा सकते हैं, इसपर अगस्त्यजीने कहा—प्रिये! तुम्हारा कथन ठीक है, पर ऐसा करनेसे तपस्याका क्षय होगा। फिर लोपामुद्राको आश्वस्तकर महर्षि अगस्त्य धन माँगनेके लिये पहले महाराज श्रुतर्वाके पास गये। उनके आगमनका समाचार पाकर राजा श्रुतर्वा मन्त्रियोंसहित उनकी अगवानीके लिये अपने राज्यकी सीमातक आया। उन्हें आदरपूर्वक नगरमें ले जाकर उसने विधिवत् अर्घ्य अर्पण किया। फिर उसने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक महर्षिके आगमनका कारण पूछा। अगस्त्यजीने कहा—'राजन्! तुम्हारे पास मैं धनके लिये आया हूँ, अतः दूसरोंको कष्ट पहुँचाये बिना जो तुम्हारे पास शेष बचता हो, उसीमेंसे यथाशक्ति मेरे लिये दो।' अगस्त्यजीकी बात सुनकर राजाने अपना सारा आय-व्ययका हिसाब उनके आगे रख दिया और कहा, 'इसमेंसे आप जो धन लेना उचित समझें, वही ले लें।' अगस्त्यजीने देखा, उस हिसाबमें आय-व्ययका लेखा बराबर था, इसलिये यह सोचकर कि इसमेंसे थोड़ा-सा भी धन लेनेपर प्राणियोंको दुःख होगा, उन्होंने कुछ भी न लिया। अन्तमें उन्हें इल्वलसे निर्दोष धन प्राप्त हुआ। इल्वलने धन देनेसे पूर्व महर्षिके सामने एक शर्त रखी कि 'महर्षे! मैं आपको कितना धन देना चाहता हूँ, यदि आप मेरे इस मानसिक संकल्पको जान लें तो निश्चय ही आपको मैं धन दूँगा।' इसपर महर्षिने सब बता दिया, जो इल्वलके मनमें था, इल्वल बहुत प्रसन्न हुआ और उसने प्रभूत धन महर्षिको दिया।

उसी धनसे महर्षिने अपनी साध्वी पत्नीका मनोरथ पूर्ण किया। यथासमय उनके यहाँ दृढ़स्यु नामक एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ, जो जन्मसे ही वेद-वेदांगों तथा उपनिषदोंका महान् ज्ञाता था। उसका नाम इध्मवाह भी था। उसके उत्पन्न होनेपर अगस्त्यजीके पितरोंने उत्तम लोक प्राप्त किया।

इस प्रकार लोपामुद्रा अपने सदाचार, सतीत्व और धर्मपरायणता आदि सद्‌गुणोंद्वारा पतिको बहुत ही प्रिय थीं। महर्षिने स्वयं कहा था—'**तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने।**' (महा०वन० ९९। २०) 'कल्याणि! तुम्हारे सदाचारसे मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ।'

वनवासके समय भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर भी पधारे थे। वहाँ देवी लोपामुद्राने भी अपने पतिके साथ इन परमाराध्य अतिथियोंका स्वागत करके अपनेको धन्य बनाया था।

उस समय अगस्त्यजीने महाप्रभुसे यही वरदान माँगा था—

यह बर मागउँ कृपानिकेता। बसहु हृदयँ श्री अनुज समेता॥
अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा॥

(रा०च०मा० ३। १३। १०-११)*

एक समयकी बात है, जब गिरिराज विन्ध्यने सूर्यका मार्ग अवरुद्ध कर दिया तो सर्वत्र अन्धकार व्याप्त हो गया। सब धर्म-कर्म लुप्त हो गये। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। व्याकुल हो सभी देवता ब्रह्माजीके पास गये और सारा कष्ट निवेदित किया। इसपर ब्रह्माजीने बताया—मित्रावरुणके पुत्र महर्षि अगस्त्य बड़े भारी तपस्वी हैं, देवी लोपामुद्रा उनकी सहधर्मचारिणी हैं। इस समय महर्षि अगस्त्यजी अविमुक्तपुरी काशीमें भगवान् विश्वनाथमें मन लगाकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे हैं, वे सब प्रकारसे समर्थ हैं, आपलोग उन्हींके पास जाइये। तब महर्षियोंसहित सभी देवता प्रसन्न हो काशीमें उस स्थानपर आये, जहाँ महर्षि अगस्त्यजीका आश्रम था। देवताओंने देखा कि उनकी पर्णकुटी होम एवं धूपकी सुगन्धसे सुवासित थी, बहुत-से ब्रह्मचारी बटुओंसे सुशोभित थी, पतिव्रताशिरोमणि लोपामुद्रासे सुसेवित थी, आश्रमके पक्षी भी भगवान्

* सदा मे सीतया सार्धं हृदये वस राघव। गच्छतस्तिष्ठतो वापि स्मृतिः स्यान्मे सदा त्वयि॥ (अध्यात्मरामा० ३। ४४)

शिवकी महिमाका गान कर रहे थे। महर्षि अगस्त्यजी कुशासनपर बैठे हुए थे। इन्द्रादि देवता महर्षिका वैसा अद्भुत प्रभाव देखकर चमत्कृत हो उठे तथा 'जय हो, जय
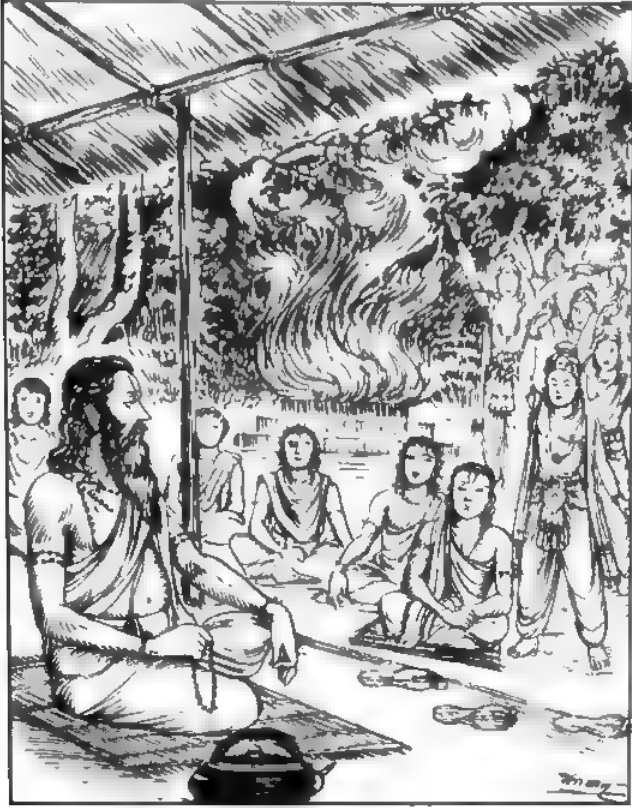
हो' इस प्रकारकी ध्वनि उच्च स्वरसे करने लगे। महर्षि अगस्त्यजीने यथाविधि सबका आतिथ्य किया और आगमनका कारण पूछा।

इसपर सभी देवता बृहस्पतिजीकी ओर देखने लगे। तब बृहस्पतिजीने अपने आगमनका कारण बतानेसे पूर्व महर्षि अगस्त्य तथा देवी लोपामुद्राके उदात्त जीवन-दर्शनके विषयमें जो उद्‌गार व्यक्त किये, वे वास्तवमें प्रत्येक दम्पतीके लिये शब्दशः अनुकरणीय हैं। लोपामुद्राके सम्बन्धमें तथा उनके पातिव्रतके विषयमें जो कुछ उन्होंने कहा, वह प्रत्येक नारीके लिये विशेषरूपसे ध्यान देनेयोग्य है और अपने जीवनमें उतारनेलायक है।

बृहस्पतिजी बोले—महात्मा अगस्त्यजी! आप धन्य हैं, कृतकृत्य हैं और महात्मा पुरुषोंके लिये भी मान्य हैं, आपमें तपस्याकी सम्पत्ति है, आपमें स्थिर ब्रह्मतेज है, आपमें पुण्यकी उत्कृष्ट शोभा है, आपमें उदारता है और आपमें विवेकशील मन है।

'मुने! आपकी सहधर्मिणी लोपामुद्रा बड़ी पतिव्रता हैं। ये कल्याणी आपके शरीरकी छायाकी भाँति सदा आपका अनुसरण करती हैं। इनकी चर्चा भी पुण्य देनेवाली है। अरुन्धती, सावित्री, अनसूया, शाण्डिली, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, मेना, सुनीति, संज्ञा और स्वाहा—इन देवियोंके द्वारा समस्त पतिव्रताओंमें लोपामुद्राका जितना ऊँचा स्थान बताया जाता है, उतना दूसरी किसी स्त्रीका नहीं है। आपके भोजन कर लेनेपर ये अन्न ग्रहण करती हैं। जब आप खड़े होते हैं, उस समय ये भी बैठी नहीं रह सकतीं। आपके सो जानेपर ही ये सोती हैं और आपके जागनेसे पहले ही जग जाती हैं। जबतक ये अपनेको स्वच्छ वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित न कर लें, तबतक आपके सामने नहीं आतीं और जब आप किसी कार्यवश बाहर जाते हैं तब ये आभूषणोंको छूतीं भी नहीं। आपकी आयु बढ़े, इसके लिये ये कभी आपका नाम अपनी जिह्वापर नहीं लातीं। साथ ही सतीत्वकी रक्षाके लिये किसी दूसरे पुरुषका नाम भी नहीं लेतीं। यदि आपने कभी कोई कड़ी बात भी कह दी तो ये उसका उत्तर नहीं देतीं, आपके दण्ड देनेपर भी ये प्रसन्न ही होती हैं, रंज अथवा बुरा नहीं मानतीं। जब आप कहते हैं, 'देवि! अमुक कार्य करो।' तो इनकी ओरसे तुरंत उत्तर मिलता है—'नाथ! इस कामको पूरा हुआ ही समझिये, मैं अभी किये देती हूँ।' आपके पुकारनेपर ये तुरंत ही घरके आवश्यक काम छोड़कर भी चली आती हैं और पूछती हैं—'नाथ! मुझे किसलिये बुलाया है, सेवा बतानेकी कृपा करें।' ये कभी घरके द्वारपर देरतक नहीं खड़ी होतीं। दरवाजेपर कभी नहीं बैठतीं। बिना आपकी आज्ञा लिये किसीको कोई वस्तु नहीं देतीं। बिना कहे स्वयं ही आपके लिये पूजाकी सामग्री एकत्र कर देती हैं। नित्य नियमके लिये जल, कुशा, पत्र, पुष्प और अक्षत आदि जुटा देती हैं। अवसर देखा करती हैं, जब जैसा समय आया, उसके अनुकूल वस्तुएँ लाकर प्रस्तुत कर देती हैं। यह सब कुछ ये बड़ी प्रसन्नतासे करती हैं, इनके मनमें तनिक भी उद्वेग नहीं होता।

स्वामीके भोजनसे बचे हुए अन्न और फल आदिको ही ये स्वयं ग्रहण करती हैं। पति जो कुछ देते हैं, उसे ये 'महाप्रसाद' मानकर लेती हैं। देवता, पितर, अतिथि,

भृत्यवर्ग, गौ तथा भिक्षुकजनोंको अन्नका भाग दिये बिना कभी स्वयं नहीं खातीं। घरकी हर-एक वस्तु जतनसे रखती हैं। गृहकार्यमें बड़ी कुशल हैं। सदा उत्साहयुक्त एवं प्रसन्न रहती हैं। अधिक खर्च नहीं करतीं। आपकी आज्ञा लिये बिना कोई व्रत-उपवास आदि नहीं करतीं। जहाँ अधिक जन-समुदाय जुटा हो, ऐसे उत्सवको देखनेसे ये दूर ही रहती हैं। पतिकी आज्ञाके बिना तीर्थोंमें भी नहीं जातीं, विवाहोत्सव देखनेकी इच्छा नहीं करतीं। जब पतिदेवता सुखपूर्वक सोये, बैठे अथवा आराम करते रहते हैं, उस समय अत्यन्त आवश्यक कार्य होनेपर भी ये पतिको कभी नहीं उठातीं। रजस्वला होनेपर तीन रात्रितक स्वामीको अपना मुँह नहीं दिखातीं। जबतक शुद्ध होकर स्नान नहीं कर लेतीं तबतक अपनी वाणी भी पतिके कानोंमें नहीं पड़ने देतीं। स्नान कर लेनेपर सर्वप्रथम ये अपने पतिका ही दर्शन करती हैं, दूसरे किसीका नहीं। अथवा यदि पति उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करती हैं।

ये पतिव्रता 'पतिकी आयु बढ़े' ऐसी इच्छा रखकर हरिद्रा-चूर्ण, कुंकुम, सिन्दूर, काजल, अँगिया, पान, मांगलिक-शुभ आभूषण, केश सँवारना, चोटी बाँधना, कंगन और कानका आभूषण—इन्हें कभी अपने शरीरसे दूर नहीं करतीं। धोबिन, कुतर्क करनेवाली स्त्री तथा दुर्भगा (दुराचारिणी)-के साथ ये कभी मैत्री नहीं स्थापित करतीं। जो स्त्री अपने पतिसे द्वेष रखती है, उससे ये कभी बात नहीं करतीं। अकेली कहीं नहीं जातीं। नग्न होकर स्नान नहीं करतीं। ओखली, मूसल, झाड़ू, सिल, जाँता और देहली (चौखटके निचले भाग)-पर साध्वी लोपामुद्रा कभी नहीं बैठतीं। जिस-जिस वस्तुमें स्वामीकी रुचि होती है, उसीमें ये भी सदा प्रेम रखती हैं। स्त्री अपने पतिकी आज्ञाका उल्लंघन न करे—यही उनके लिये व्रत है, यही उनका परम धर्म है और यही एक उनके लिये देवपूजा है। पति नपुंसक, दुर्दशाग्रस्त, रोगी, वृद्ध, सुखी अथवा दु:खी कैसा ही क्यों न हो, नारी उसका त्याग न करे। पतिके हर्षमें हर्ष माने और पतिके मुखपर विषादकी छाया देख वह स्वयं भी दु:खी हो जाय। पुण्यवती सती सम्पत्ति और विपत्तिमें भी पतिके साथ एकरूप होकर रहे। घरमें घी, नमक, तेल आदि समाप्त हो जानेपर भी पतिव्रता स्त्री पतिसे सहसा यह न कहे कि ये वस्तुएँ नहीं हैं। घरमें आते ही उसे चिन्तामें न डाल दे। तीर्थस्नानकी इच्छा रखनेवाली सती स्त्री अपने पतिके चरणोदकका पान करे। नारीके लिये एकमात्र पति ही शिव अथवा विष्णुसे बढ़कर है। जो स्त्री पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके व्रत, उपवास और नियमका अनुष्ठान करती है, वह अपने पतिकी आयुको घटाती है और मरनेके बाद नरकमें पड़ती है।

स्त्रियोंके लिये यही सबसे श्रेष्ठ नियम बताया गया है कि वह स्वामीके चरणोंकी पूजा करके भोजन करे। इस नियमको वह दृढ़तापूर्वक अपनाये। ऊँचे आसनपर न बैठे। दूसरोंके घर न जाय। मुँहसे कभी ऐसी बात न निकाले, जिसके कहने-सुननेसे लज्जा आती हो। किसीकी निन्दा न करे। कलहको तो वह दूरसे ही नमस्कार करे। गुरुजनोंके समीप न तो वह कभी जोरसे बोले और न हँसे।

जो पतिको बाहरसे आते देख तुरंत उनके लिये जल और भोजनकी सामग्री प्रस्तुत करती है, विविध उपचारोंद्वारा उन्हें तृप्त करती है, उसके द्वारा तीनों लोकके प्राणी तृप्त कर दिये जाते हैं। पिता, भ्राता और पुत्र—ये सभी स्त्रीको परिमित वस्तुएँ देते हैं, परंतु पतिसे उसे जो कुछ मिलता है, उसका कोई माप नहीं है, अत: अमित दान करनेवाले पतिकी सदा पूजा करनी चाहिये। पति ही देवता है, पति ही गुरु है तथा पति ही धर्म, तीर्थ और व्रत है, अत: नारी सब कुछ छोड़कर केवल पतिका पूजन किया करे।

कन्याके विवाहकालमें ब्राह्मण यही आशीर्वाद दें कि यह पतिके जीवन और मरणमें भी सदा उनकी सहचरी बनी रहे। स्त्री सदा ही पतिका अनुसरण करे, ठीक उसी प्रकार जैसे छाया शरीरका, चाँदनी चन्द्रमाका तथा बिजली मेघका अनुसरण करती है।

संसारमें वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है तथा वह सौभाग्यशाली पति धन्य है, जिनके घरमें पतिव्रता स्त्री मौजूद है। केवल पतिव्रताके पुण्यसे पिता, माता तथा पति तीनों कुलोंके तीन-तीन पीढ़ीके मनुष्य स्वर्गका सुख भोगते हैं। पतिव्रताका चरण पृथ्वीको जहाँ-जहाँ स्पर्श करता है, वहाँ-वहाँकी पावन भूमि यही मानती है कि मुझपर

जगत्का कुछ भी भार नहीं है। सूर्य, चन्द्रमा और वायु भी डरते-डरते ही पतिव्रताका स्पर्श करते हैं, वह भी और किसी भावसे नहीं, केवल अपने आपको पवित्र करनेके लिये। जल सदा ही पतिव्रताका स्पर्श चाहता है, उसे पाकर वह ऐसा मानता है कि आज मेरी जडताका विनाश हो गया। आज सचमुच ही मैं दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन गया। क्या घर-घरमें अपने रूप और लावण्यपर गर्व करनेवाली स्त्रियाँ नहीं हैं, परंतु पतिव्रता स्त्री तो भगवान् विश्वनाथकी भक्तिसे ही मिलती है। भार्या ही गृहस्थ-धर्मकी जड़ है। वही सुखका मूल है तथा भार्या ही धर्म-फलकी प्राप्ति एवं सन्तानकी वृद्धिका भी कारण है। वास्तवमें गृहस्थ वही है, जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री है। दूसरे लोग तो केवल स्त्रीरूपी राक्षसी अथवा वृद्धावस्थाका ग्रास बन रहे हैं। जैसे गंगामें स्नान करनेसे शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रताकी शुभ दृष्टि पड़नेसे भी शरीर परम पवित्र हो जाता है।*

बृहस्पतिजीने लोपामुद्रासे कहा—महाभागा लोपामुद्रा! आज आपके दर्शनसे हमें गंगास्नानका फल मिल गया।

इस प्रकार लोपामुद्राकी सराहना और स्तुति करके बृहस्पतिजीने लोपामुद्राको प्रणाम किया और अगस्त्यजीसे कहा—मुने! आप साक्षात् ब्रह्मतेज हैं और देवी लोपामुद्रा साक्षात् पातिव्रत्य-तेज हैं। आप प्रणव हैं ये लोपामुद्रा श्रुति हैं, आप मूर्तिमान् तप हैं और ये क्षमाकी विग्रह हैं। महर्षे! आपके लिये कौन-सा कार्य असाध्य है। यद्यपि कुछ भी आपसे अविदित नहीं है तथापि हमलोग जिस उद्देश्यसे यहाँ आये हैं, उसे मैं बतलाता हूँ, सुनें। विन्ध्यपर्वत मेरुगिरिसे स्पर्धा रखनेके कारण बढ़ते-बढ़ते इतना ऊँचा हो गया है कि उसने सूर्यका मार्ग अवरुद्ध कर दिया है, जिससे सर्वत्र अन्धकार छा गया है, लोकोंकी मर्यादा नष्ट हो गयी है, चारों ओर भय व्याप्त हो गया है, आप ही एक ऐसे हैं, जो उसकी वृद्धिको रोक सकते हैं।

अगस्त्यजीने कुछ क्षण विचार किया और लोकोंके कल्याणके लिये 'तथास्तु' कहकर देवताओंको विदा किया। तदनन्तर वे लोपामुद्रासे बोले—प्रिये! तत्त्वदर्शी मुनियोंने कहा है कि अविमुक्तक्षेत्र काशीका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, फिर आज यह काशी छोड़नेका विघ्न हमारे सम्मुख कैसे उपस्थित हो गया? यह कहकर अगस्त्यजी बड़े दुःखी हो गये। फिर वे कालभैरवके पास गये और बोले—भगवन्! आप काशीपुरीके स्वामी हैं, मुझ निरपराधपर आपकी यह कैसी दृष्टि हो गयी है, जो मुझे काशीसे बाहर भेज रहे हैं, दुःखी हो अगस्त्यजी 'हा काशी, हा काशी' इस प्रकार विलाप करते हुए धर्मपत्नी लोपामुद्राके साथ विश्वनाथजीका स्मरण करते हुए अपने योगबलसे आधे पलमें ही विन्ध्यपर्वतके समीप जा पहुँचे। उनपर दृष्टि पड़ते ही भयभीत हो विन्ध्यने साष्टांग दण्डवत् किया तथा वह अत्यन्त लघुरूप हो गया। अगस्त्यजी बोले—विन्ध्य! तुम साधुपुरुष हो, जबतक मैं लौट न आऊँ, तबतक तुम इसी रूपमें रहो। ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्य लोपामुद्राके साथ दक्षिण दिशामें चले गये। सूर्यदेव पुनः उदित हो गये। विन्ध्यगिरि मुनिके आनेकी प्रतीक्षामें वैसा ही ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया, परंतु आजतक न तो अगस्त्य मुनि आये और न पर्वत उठा।

अब महर्षि अगस्त्य धर्मपत्नीके साथ गोदावरीके तटपर विचरण करते हुए कोल्हापुरनिवासिनी भगवती महालक्ष्मीकी शरणमें गये और उनकी स्तुति करने लगे। महालक्ष्मीने प्रसन्न

---

* धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः । धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता॥
पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः। पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते॥
पतिव्रतायाश्चरणो यत्र यत्र स्पृशेद्भुवम्। तत्रेति भूमिर्मन्येत नात्र भारोऽस्ति पावनी॥
बिभ्यत् पतिव्रतास्पर्शं कुरुते भानुमानपि। सोमो गन्धवहश्चापि स्वपावित्र्याय नान्यथा॥
आपः पतिव्रतास्पर्शमभिलष्यन्ति सर्वदा। अद्य जाड्यविनाशो नो जातास्त्वद्यान्यपावनाः॥
गृहे गृहे न किं नार्यो रूपलावण्यगर्विताः। परं विश्वेशभक्त्यैव लभ्यते स्त्री पतिव्रता॥
भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च। भार्या धर्मफलावाप्त्यै भार्या सन्तानवृद्धये॥
गृहस्थः स हि विज्ञेयो यस्य गेहे पतिव्रता। ग्रस्यतेऽन्या प्रतिपदं राक्षस्या जरयाथवा॥
यथा गङ्गावगाहेन शरीरं पावनं भवेत्। तथा पतिव्रतादृष्ट्या शुभया पावनं भवेत्॥
(स्कन्द० काशी० पूर्वार्ध अ० ४)

हो मुनिपत्नी लोपामुद्राको हृदयसे लगा लिया। तब अगस्त्यजीने

वरदान माँगा—हे देवि! आप ऐसी कृपा करें कि मुझे पुनः काशी प्राप्त हो जाय। लक्ष्मी बोलीं—मुनीश्वर! उन्तीसवें द्वापरमें आप व्यास बनेंगे और उस समय काशीमें आकर वेदों-पुराणोंका विस्तार करके सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश देकर मनोवांछित सिद्धि प्राप्त करेंगे। इस समय आप यहाँसे कुछ ही दूरपर स्वामिकार्तिकेयका दर्शन करें, वे आपको काशीका सम्पूर्ण रहस्य एवं माहात्म्य बतायेंगे।

तब कृतार्थ हो महामुनि अगस्त्यजी पत्नी लोपामुद्राके साथ श्रीशैलपर गये। उसका दर्शनकर अगस्त्यजीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे लोपामुद्रासे बोले—प्रिये! देखो यह जो श्रीशैलका शिखर दिखायी दे रहा है, यहाँ साक्षात् त्रिपुरारि महादेवजी निवास करते हैं और इस शिखरके दर्शनसे संसारमें फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। इसपर लोपामुद्राने कहा—महर्षे! श्रीशैलका दर्शन करके पुनर्जन्म नहीं होता—'**श्रीशैलशिखरं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते**' (स्कन्द० काशी०पू० ६।१८)—यह बात यदि सत्य है तो आप काशीकी अभिलाषा क्यों करते हैं? अगस्त्यजी बोले—वरारोहे! तुम्हारी बात सत्य है, सभी तीर्थोंकी विशेष महिमा है, प्रयाग आदि सभी मुक्तिके क्षेत्र हैं, काशी, कांची, माया (हरिद्वार), अयोध्या, मथुरा, द्वारका और अवन्ती—ये सातों पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं तथापि अविमुक्तक्षेत्र काशीकी विशेष महिमा है। ये तीर्थ मुक्तिके क्षेत्र काशीको प्राप्त करा देते हैं—'**अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि च**' (स्कन्द० काशी० पू० ६।७१)। हे देवि! तीर्थसेवनमें मानसतीर्थोंकी महिमा सर्वोपरि है। सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियोंको वशमें रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियोंपर दया करना तीर्थ है, तीर्थोंमें सबसे बड़ा तीर्थ है—अन्तःकरणकी आत्यन्तिक शुद्धि—'**तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा**' (स्कन्द० काशी०पू० ६।३२)। केवल शरीरके मलका त्याग करनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता, मानसिक मलका परित्याग करनेपर ही वह भीतरसे अत्यन्त निर्मल होता है। विषयोंके प्रति राग होना मानसिक मल कहलाता है और उन्हीं विषयोंमें विराग होना अन्तःकरणकी निर्मलता है। भीतरका भाव शुद्ध न हो तो दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवन, शास्त्रोंका श्रवण एवं स्वाध्याय सभी अतीर्थ हो जाते हैं। ध्यानसे पवित्र तथा ज्ञानरूपी जलसे भरे हुए राग-द्वेषमय मलको दूर करनेवाले मानसतीर्थमें जो पुरुष स्नान करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है—

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥

(स्कन्द०काशी०पू० ६।४१)

हे देवि! जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति—सभी संयममें हैं, वह तीर्थके पूर्ण फलका भागी होता है। इसके विपरीत अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थसेवनका फल नहीं पाते—

अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥

(स्कन्द०काशी०पू० ६।५४)

इस प्रकार तीर्थ-सेवनकी महिमाका निरूपण करके अगस्त्यजीने श्रीशैलपर भगवान् कार्तिकेयका दर्शन किया और उन्हें साष्टांग प्रणाम किया तथा उनसे काशीकी महिमा निरूपित करनेकी प्रार्थना की। तब कार्तिकेयजीने भगवान् विश्वनाथका स्मरणकर उन्हें काशीक्षेत्रका माहात्म्य विस्तारसे बतलाया, जो स्कन्दपुराणके काशीखण्डके नामसे प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार काशीकी महिमा हमें

महर्षि अगस्त्य और देवी लोपामुद्राकी कृपासे ही प्राप्त है। काशी और विश्वनाथजीकी कथाके मुख्य श्रोता और अधिकारी ये ही दम्पती हैं। प्रात:स्मरणीय इन अगस्त्यजी और महादेवीको बार-बार नमस्कार है।

इस प्रकार महर्षि अगस्त्य और देवी लोपामुद्राने लोकोपकारके अनेक कार्य किये हैं। देवी लोपामुद्राकी जीवनचर्या तो नारियोंके लिये आदर्शस्वरूप है। देवगुरु बृहस्पतिने जैसा उनका उदात्त चरित निरूपित किया है, वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। आजकी नारियोंको चाहिये कि वे अपने जीवनकी सीख देवी लोपामुद्राके पावन चरित्रसे लें। महर्षि अगस्त्यजीने तो जब दानवोंने समुद्रमें छिपकर जगत्में त्राहि-त्राहि मचा दी तो वे एक चुल्लूभरमें समुद्रको ही पी गये और जगत्की रक्षा की। अगस्त्यजीका नाम लेनेसे ही दानव भयभीत हो भाग जाते हैं। भोजनके अनन्तर अन्नका समुचित परिपाक (पाचन)-के लिये निम्न मन्त्र पढ़कर उदरपर तीन बार हाथ फेरनेकी विधि है, इस मन्त्रमें अगस्त्यजीका नाम सर्वप्रथम परिगणित है और उनकी विशेष महिमा निरूपित है—

अगस्त्यं वैनतेयं च शनिं च वडवानलम्।
अन्नस्य परिणामार्थं स्मरेद् भीमं च पञ्चमम्॥
आतापी मारितो येन वातापी च निपातितः।
समुद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु॥

पराशक्तिके परम उपासक—महर्षि अगस्त्यजी और देवी लोपामुद्राका लोकजीवन जहाँ सर्वसाधारणके लिये अनुकरणीय है, वहीं उनका एक विशिष्ट स्वरूप है, जो श्रीविद्यासाधनाके साधकोंके लिये विशेष ध्येय तथा उपास्य है। शाक्त-सम्प्रदायकी दृष्टिसे श्रीयन्त्रके दो प्रकार हैं—१-कादिविद्यानुसार तथा २-हादिविद्यानुसार। कादिविद्याके महामन्त्रका प्रारम्भ होता है 'क' से और हादि विद्याके महामन्त्रका प्रारम्भ होता है 'ह' से।

इनमेंसे कादिविद्याके उपासक अगस्त्य ऋषि हैं और हादिविद्याकी प्रवर्तिका और उपासिका हैं महादेवी लोपामुद्रा। महर्षि अगस्त्यजीने हयग्रीवसे ललितोपासनाकी विधि प्राप्त की थी। त्रिपुरारहस्यमें देवी लोपामुद्राको श्रीविद्याका अवतार बताया गया है। स्वयं भगवती त्रिपुरा (श्रीविद्या)-ने ही महर्षि अगस्त्यजीसे कहा था कि आपकी पत्नी इस राजकन्या लोपामुद्राने अपने पिताके घरपर ही परा श्रीविद्याकी प्राप्ति कर ली थी। जब भगवतीने प्रकट होकर लोपामुद्रासे वर माँगनेको कहा था तो उन्होंने त्रिपुराकी भक्ति ही माँगी। फलतः वे श्रीविद्याकी ऋषिका बन गयीं। श्रीविद्याकी आचार्य-परम्परामें महर्षि अगस्त्य तथा देवी लोपामुद्राका विशेष आदर है। जिस प्रकार नक्षत्र-मण्डलमें महर्षि वसिष्ठजीके साथ महासती अरुन्धती सदा विराजमान रहती हैं, उसी प्रकार एक ज्योति:पुंजके रूपमें महर्षि अगस्त्यजीके साथ महाभागा लोपामुद्रा भी सदा ही विराजमान रहती हैं, कभी उनसे विलग नहीं होतीं। ये दोनों जैसे लोकमें रहकर अपनी रहनी-करनीसे प्राणियोंको सीख देते हैं, वैसे ही दूसरे रूपमें आकाशमें विराजमान रहकर सदा प्रकाशित रहते हैं और लोकको प्रकाशित करते रहते हैं।

प्रायः सिंहराशिका २२वाँ अंश बीत जानेपर अगस्त्योदय (अगस्त्य तारेका उदय) होता है, तब उस समय राज्य, सम्पदा, दाम्पत्य आदिके अखण्ड बने रहनेके लिये इन दम्पतीकी आराधना की जाती है और प्रतिमामें इनका पूजनकर इन्हें निम्न मन्त्रोंसे अर्घ्य प्रदान किया जाता है—

काशपुष्पप्रतीकाश अग्निमारुतसम्भव।
मित्रावरुणयो पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तु ते॥
विन्ध्यवृद्धिक्षयकर मेघतोयविषापह।
रत्नवल्लभ देवेश लङ्कावास नमोऽस्तु ते॥
वातापी भक्षितो येन समुद्रः शोषितः पुरा।
लोपामुद्रापतिः श्रीमान् योऽसौ तस्मै नमो नमः॥
राजपुत्रि नमस्तुभ्यं ऋषिपत्नि नमोऽस्तु ते।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं महादेवि शुभानने॥

इन दम्पतीकी प्रसन्नतासे जीवनमें सब प्रकारका सौख्य उपलब्ध हो जाता है। ये वेदोंके मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि भी हैं ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें इनके द्वारा अनेक सूक्त द्रष्ट हैं।* हमें अपनी जीवनचर्याको सुधारनेके लिये महर्षि अगस्त्य और देवी लोपामुद्राके आदर्शको अपने सामने रखना चाहिये।

---

* महर्षि अगस्त्यजीकी प्रार्थना तथा अर्घ्यदानमें निम्न वैदिक मन्त्रका विधान है—
अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः। उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥ (ऋक्० १। १७९। ६)

महर्षि वेदव्यास और जीवनचर्या-मीमांसा

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत् पिबति॥

(वायुपु० १।१।२)

श्रीपराशरजीके पुत्र और माता सत्यवतीके हृदयको आनन्दित करनेवाले उन व्यासभगवान्‌की जय हो, जिनके मुखकमलसे निःसृत शास्त्ररूपी सुधाधाराका सम्पूर्ण संसार पान करता है।

नारायणके अवतार महर्षि व्यासदेव विद्या, तप, सदाचार, शौचाचार तथा समस्त ज्ञान-विज्ञानके अधिष्ठाता हैं। वेदसंहिताके वे ही विव्यासकर्ता हैं, समस्त पुराण-उपपुराण उन्हींकी कृतियाँ हैं। ब्रह्मज्ञानका विधायक 'ब्रह्मसूत्र' बादरायण-शास्त्र नामसे प्रसिद्ध है। बदरीवनमें निवास करनेके कारण ये बादरायण कहलाते हैं। शतसाहस्री नामसे विख्यात महाभारत ग्रन्थ उन्हींकी विलक्षण कृति है। इसीलिये '**व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्**' की उक्ति प्रसिद्ध है।

भगवान् वेदव्यासजीका लोकपर महान् अनुग्रह है। वे शास्त्रके प्रणेता हैं और अपने दैनिक आचार तथा जीवन-दर्शनसे उन्होंने शास्त्रको अपने जीवनमें उतारा है, अतः महर्षि वेदव्यासजीका अनुशासन सबके लिये परम उपयोगी तथा परम कल्याणकारी है। वस्तुतः जीवनचर्या-मीमांसाके विषयमें आज संसार जो कुछ जानता है, वह मुख्यरूपसे वेदव्यासजीकी ही देन है। प्रातःकाल उत्थानसे लेकर शयन-पर्यन्त क्या-क्या शास्त्रविहित करणीय है और क्या अकरणीय है, हमारी जीवन जीनेकी शास्त्रमर्यादित शैली कैसी हो? इसके सम्बन्धमें भगवान् वेदव्यासका शास्त्र ही प्रमाण है। पुराणोंमें तथा उनके द्वारा निर्मित धर्मशास्त्र (व्यासस्मृति)-में यह सम्पूर्ण विषय बड़े ही विस्तारसे और साभिनिवेश गुम्फित हुआ है। संक्षेपमें कुछ बातें यहाँ प्रस्तुत हैं—

हमें प्रातःकाल कब उठना चाहिये—इस सम्बन्धमें वेदव्यासजीकी आज्ञा है कि प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त (सूर्योदयसे चार घड़ी अर्थात् १ घण्टा ३६ मिनट पूर्व)-में ही उठ जाना चाहिये और उठते ही क्या करना चाहिये, इस सम्बन्धमें वे कहते हैं कि उठते ही सर्वप्रथम श्रेष्ठ देवताओं तथा पुण्यात्मा महर्षियोंका स्मरण करना चाहिये और भगवान् महादेवने जो प्रभातकालीन मंगलस्तोत्र बनाया है, उसका पाठ अवश्य करना चाहिये—

ब्राह्मे मुहूर्ते प्रथमं विबुध्ये-
दनुस्मरेद् देववरान् महर्षीन्।
प्राभातिकं मङ्गलमेव वाच्यं
यदुक्तवान् देवपतिस्त्रिनेत्रः॥

(वामनपु० १४।२०)

वह मांगलिक सुप्रभातस्तोत्र कौन-सा है तथा उसके पाठसे क्या फल होता है, ऐसी जिज्ञासा करनेपर व्यासजीने महर्षियोंके मुखसे उस स्तोत्रको बतलाया है, जिसमें पाँच श्लोक हैं, उसका पहला श्लोक इस प्रकार है—

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः सह भानुजेन
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥

(वामनपु० १४।२३)

इसका भाव यही है कि ब्रह्मादि सभी देवता तथा सूर्य-चन्द्रादि सभी ग्रह मेरे प्रभातको मंगलमय बनायें।

इसके पाठकी महिमामें व्यासजी कहते हैं कि प्रातःकालमें भगवान्‌का नाम लेनेसे मनुष्य पाप-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और भगवान्‌की कृपासे निश्चय ही उसके दुःस्वप्नका नाश हो जाता है तथा प्रभात सुन्दर बन जाता है—

दुःस्वप्ननाशोऽनघ सुप्रभातं
भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात्॥

(वामनपु० १४।२८)

इसी बातको उन्होंने अपनी बनायी व्यासस्मृतिमें निम्न शब्दोंमें कहा है—

यामिन्याः पश्चिमे यामे त्यक्तनिद्रो हरिं स्मरेत्।
आलोक्य मङ्गलद्रव्यं कर्मावश्यकमाचरेत्॥

(व्यासस्मृति ३।२)

अर्थात् रात्रिके अन्तिम प्रहरमें निद्राका परित्यागकर उठ जाय और भगवान् हरिका स्मरण करे, तदनन्तर मंगल-द्रव्योंका दर्शन करे और फिर आगे शौच-स्नान आदि क्रियाओंको करे। वेदव्यासजीने अनेक पुराणोंमें बार-बार प्रातः-उत्थान

तथा प्रातः मंगल-स्मरणकी विशेष महिमा बतायी है और उसे नित्यचर्याको प्रारम्भ करनेसे पूर्व मंगलाचरण एवं भगवत्स्मरणके रूपमें लिया है। स्कन्दपुराण (धर्मारण्य-माहात्म्य)-में वे बताते हैं कि ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर बुद्धिमान् मनुष्यको अपने यथार्थहितका चिन्तन करना चाहिये। गणेश, शिव, पार्वती, श्रीरंग (विष्णु), लक्ष्मी, ब्रह्मा, इन्द्रादि देवता, वसिष्ठ आदि ऋषि, गंगादि नदी, श्रीशैल आदि पर्वत, क्षीरसागर आदि समुद्र, कामधेनु आदि गौ तथा प्रह्लाद आदि भगवद्भक्त पुरुषोंका स्मरण करना चाहिये। वेदव्यासजी कहते हैं कि माताके चरण सब तीर्थोंसे भी अधिक उत्तम हैं, अतः उनका स्मरण अवश्य करना चाहिये। वेदव्यासजी स्वयं भी अनन्य मातृभक्त हैं, इसीलिये वे सत्यवतीहृदयनन्दन कहलाते हैं, व्यासजीकी इस शिक्षाको हमें अपने जीवनमें अवश्य उतारना चाहिये।

उनकी इस मंगलमयी आज्ञाको मानकर हमें अपनी नित्यचर्यामें प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेका संकल्प लेना चाहिये। यह कल्याणका मार्ग है।

इसके बादकी चर्यामें व्यासजी बताते हैं कि तदनन्तर शय्याका परित्याग कर दे और उस दिन कौन-कौन-से धर्मके कार्योंको करना है, कौनसे सत्कर्मोंका पालन करना है, उनका चिन्तन करे। तदनन्तर शौच, दन्तधावन तथा स्नान आदि क्रियाओंको करे। उसके बाद सन्ध्या करनेके उपरान्त देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे और फिर वेदादि सद्ग्रन्थों, रामायण, गीता आदिका स्वाध्याय करे। फिर यथासमय पंचमहायज्ञोंका सम्पादनकर भोग लगे नैवेद्यस्वरूप भोजनादिसे निवृत्त होकर धर्मपूर्वक अपनी वृत्तिके लिये प्रयत्न करे और साधुओंकी संगति, उत्तम विद्याके अर्जन तथा सदाचारी पुरुषोंकी कथा-वार्तासे शेष बचे समयको व्यतीत करे—

""साधुसङ्गेन सद्विद्यापठनेन च।
वृत्तवृद्धकथाभिश्च शेषाहमतिवाहयेत्॥

(व्यासस्मृति ३। ६९)

पुनः सायंकालकी सन्ध्या करके भोजन करे और उत्तम शय्यापर भगवान्‌का स्मरणकर शयन करे।

इस प्रकार यह सामान्य दिनचर्याका निदर्शन है। पुराणोंमें इसका बहुत विस्तारसे वर्णन हुआ है। हमें यह देखना चाहिये कि हम व्यासजी द्वारा बतायी हुई दिनचर्याका कितना पालन करते हैं और कितना नहीं।

भारतीय संस्कृतिकी यही विशेषता है कि इसमें जीवनके प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वासको कैसे बिताया जाय इसकी सारी प्रक्रिया बड़े ही विस्तारसे निरूपित है, आज समयके प्रवाहमें इसका लोप होता जा रहा है, यह बड़े दुःखकी बात है। इसका मूल कारण यही प्रतीत होता है कि हमें ऋषि-महर्षियोंद्वारा स्वानुभूत बातों तथा शास्त्रोंके वचनोंपर तनिक भी विश्वास नहीं रह गया है। यह देखकर भूत-भविष्यकी सभी बातोंको जानने-समझनेवाले युगद्रष्टा वेदव्यासजी बड़े दुःखी होते हैं और वे अपनी वेदनाको सह नहीं सकते और कह उठते हैं—अरे मानवो! देखो, मैं अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर बार-बार तुमसे यह कह रहा हूँ कि धर्माचरण करो, अधर्म-अनीतिके पथपर मत चलो, अपने जीवनको सदाचारमय बनाकर सुधार लो, अपना अभ्युदय क्या है—इसको समझो, किंतु क्या करूँ, कोई भी मेरी बात मानना तो दूर रहा, सुनता भी नहीं, मेरा तो यही कहना है कि जीवनचर्या सुधार लेनेपर ही अर्थात् धर्मसेवनसे ही अर्थ-काम आदि पुरुषार्थ स्वतः मिल जायँगे, तुम क्यों नहीं धर्मपथपर चलते?

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(महा०स्वर्गा० ५। ६२)

व्यासजी मंगलमयी जीवनचर्याके अनुपालनीय विषयोंको बताते हुए कहते हैं कि जीवनमें यम और नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये। सत्य, क्षमा, सरलता, ध्यान, क्रूरताका अभाव, हिंसाका सर्वथा त्याग, मन और इन्द्रियोंका संयम, सदा प्रसन्न रहना, मधुर बर्ताव करना और सबके प्रति कोमल भाव रखना—ये दस 'यम' हैं। शौच, स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, उपवास और उपस्थ-इन्द्रियका दमन—ये दस नियम हैं। (स्कन्द०धर्मा० ५। १९—२१)

व्यासजी हमें सचेत करते हुए बताते हैं कि काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मात्सर्य—ये मनुष्यके छः वैरी हैं, शत्रु हैं, पतनकी ओर ले जानेवाले हैं, इनके वशमें होनेपर जीवनचर्या आसुरी हो जाती है, अतः इनपर विजय प्राप्त करनेका प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये। जरा-सी भी चूक हो जानेपर ये धर दबोचते हैं।

जीवनचर्याका पारमार्थिक सन्देश बताते हुए वेदव्यासजी

कहते हैं कि संसारमें व्यक्तिको आत्मोद्धारके लिये सदा सजग रहना चाहिये; संसारके समस्त सम्बन्धोंका अनासक्त भावसे निर्वाह करते हुए धीरे-धीरे धर्मका संचय करना चाहिये; क्योंकि परलोक मार्गमें केवल धर्म ही सहायक होता है। अतः सच्चर्याका सदा अनुपालन करता रहे। इसके लिये उपाय बताते हुए व्यासजी कहते हैं—सदा मंगलमय वचन ही बोले, सबके मंगलका ही चिन्तन करे, कल्याणमय महापुरुषोंका ही संग करे और अमंगलकारी दुष्टोंका साथ कभी न करे—

भद्रमेव वदेन्नित्यं भद्रमेव विचिन्तयेत्।
भद्रैरेवेह संसर्गो नाभद्रैश्च कदाचन॥

(स्कन्दपु०, का०पू० ३८।८४)

अपनी प्रशंसा न करे तथा दूसरेकी निन्दाका त्याग कर दे। वेदनिन्दा और देवनिन्दाका यत्नपूर्वक त्याग करे—

न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्।
वेदनिन्दां देवनिन्दां प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

(पद्मपु०स्वर्ग० ५५।३५)

वेदव्यासजी चिरजीवी हैं, कल्प-कल्पान्तजीवियोंमें उनका परिगणन है। वे प्रत्येक द्वापरमें अवतरित होकर शास्त्रका घटन करते हैं, जीवनचर्याका विधान बनाते हैं और हमारे कर्मोंके साक्षी भी बनते हैं। हम प्रकटमें, अप्रकटमें अथवा गुप्तरूपसे (प्रच्छन्नरूपसे) क्या-क्या सत्कर्म वा दुष्कर्म करते हैं, व्यासजी वह सब देखते रहते हैं और दण्डका विधान भी करते हैं। इस बातका ख्याल करके हमें बहुत सावधान रहना चाहिये और शास्त्रविहित चर्याका ही यथोचित रूपसे पालन करना चाहिये। वर्णाश्रमधर्मकी अवश्यपालनीयता तथा उसके फलके सम्बन्धमें व्यासजी कहते हैं कि जो पुरुष वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाला है, वही परमपुरुष विष्णुकी आराधना कर सकता है, उनको सन्तुष्ट करनेका और कोई मार्ग नहीं है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(विष्णुपु० ३।८।९)

भगवान् व्यासजी पितरोंकी संतृप्तिको सन्तानके लिये समस्त मंगलोंका मूल मानते हुए उनके उद्देश्यसे श्राद्ध तथा तर्पण आदि पितृकर्मको जीवनका आवश्यक और नित्य अंग बताते हैं। इसके लिये उन्होंने अपने द्वारा निर्मित सभी पुराणोंमें प्रायः और्ध्वदैहिक क्रियाओंका बड़े ही समारोहपूर्वक लम्बे-लम्बे प्रकरणोंमें समावेश किया है। श्राद्ध क्या है, इसे क्यों करना चाहिये, इसके करनेसे क्या लाभ होता है और न करनेसे क्या हानि होती है, इसे कब करना चाहिये तथा कैसे करना चाहिये—इसका बड़े ही विस्तारसे वर्णन किया है। इसे उन्होंने 'श्राद्धकल्प' नाम दिया है। इसके साथ ही और्ध्वदैहिक दस महादानों तथा अष्ट महादानोंकी विधिका भी विस्तारसे विवेचन किया है। व्यासजी कहते हैं कि श्रद्धापूर्वक श्राद्धकर्म करनेसे मनुष्य समस्त देवताओं, ऋषियों, सभी प्राणियों—यहाँतक कि सम्पूर्ण जगत्‌को प्रसन्न कर लेता है—'**श्राद्धं श्रद्धान्वितः कुर्वन् प्रीणयत्यखिलं जगत्॥**' (विष्णुपु० ३।१४।२)। अग्निपुराणमें व्यासजीने बताया है कि श्राद्धमें आमन्त्रित ब्राह्मण पितरोंके प्रतिनिधिके रूपमें ही वहाँ उपस्थित रहते हैं। एक बारकी बात है, पुष्करमें श्रीरामजी जब अपने पिता दशरथजी आदिका श्राद्ध कर रहे थे, उस समय जब रामजी ब्राह्मणोंको भोजन कराने लगे तो सीताजी वृक्षकी ओटमें हो गयीं। ब्राह्मणोंको भोजन करानेके उपरान्त श्रीरामजीने सीतासे पूछा कि तुम ओटमें क्यों हो गयी, तो वे बोलीं—हे नाथ! मैंने जो आश्चर्य देखा, उसे बताती हूँ, सुनिये—आपने जब नाम-गोत्रका उच्चारणकर अपने पिता-पितामह आदिका आवाहन किया तो वे उसी समय यहाँ उपस्थित हो गये और इन पूज्य ब्राह्मणोंके शरीरमें छाया-रूपमें सटे
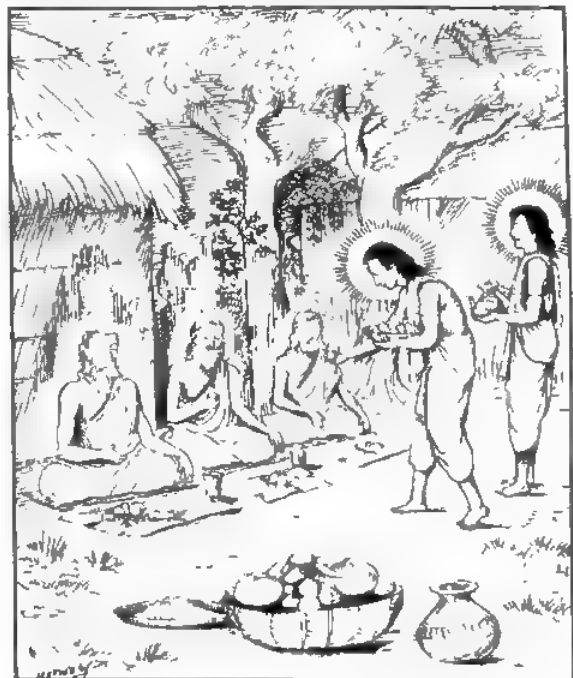
हुए थे, वे सभी प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे, ब्राह्मणोंके अंगोंमें मुझे अपने पूज्य श्वसुर आदि दिखायी दिये फिर भला मैं मर्यादाका उल्लंघनकर उनके सामने कैसे खड़ी रहती। इसीलिये मैं ओटमें हो गयी। यह मैंने सच्ची बात बतलायी है—

पितरस्तु मया दृष्टा ब्राह्मणाङ्गेषु राघव॥
दृष्ट्वा त्रपान्विता चाहमपक्रान्ता तवान्तिकात्।

(पद्मपु०सृ० ३३।९९-१००)

यह सुनकर रामजीको बड़ी प्रसन्नता हुई।

व्यासजी कहते हैं कि पितरगण श्राद्धकर्ताकी सभी कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं, यहाँतक कि मुक्ति भी दे देते हैं। जिन पिता-माता आदिने हमें जन्म दिया, कितने कष्टसे पाला-पोसा, हमारा भरण-पोषण किया, स्वयं दुःख सहा और हमें अधिक-से-अधिक सुख प्रदान किया, क्या हमारा उनके प्रति यह कर्तव्य नहीं है कि हम उनके निमित्त श्राद्ध आदि कर्म करें, यह कैसी कृतघ्नता है, कैसा स्वार्थ है? ऐसी निन्दित जीवनचर्या तो महान् पतनकी ही हेतु है। अतः पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध अवश्य करना चाहिये, श्राद्धके दिन बड़ी आशा लगाये पितर घरमें आते हैं और यहाँ कुछ न पाकर दुःखी होकर, निराश होकर लौट जाते हैं, अविच्छिन्न सन्तान-परम्पराका वरदान पितरोंके हाथमें ही है, अतः जो सन्ततिके अभिलाषी हैं, उन्हें श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। पितरोंसे क्या-क्या माँगना चाहिये, इस सम्बन्धमें व्यासजी श्राद्धके अन्तमें पितृरूप ब्राह्मणोंसे निम्न आशीर्वाद माँगनेके लिये कहते हैं—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्त्विति॥*

(अग्निपु० १६३।१९)

अर्थात् हे पितृगणो! आप ऐसा आशीर्वाद प्रदान करें कि हमारे कुलमें दान देनेवाले दाताओंकी वृद्धि हो, नित्य वेद आदि सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायकी वृद्धि हो, सन्तान-परम्परा अविच्छिन्न रहे, सत्कर्मानुष्ठानके लिये हमारी श्रद्धामें कमी न आये और हमारे पास दान देनेके लिये बहुत-सा धन-वैभव आ जाय।

सफल जीवनचर्याके लिये कैसे निःस्वार्थ साधनोंकी प्रार्थना की गयी है। ये सभी साधन जीवनचर्याको पारमार्थिक पथकी ओर ले जानेवाले हैं। अतः हमें वेदव्यासजीद्वारा बताये गये उपदेशोंका पालन करना चाहिये।

राजर्षि मनु और उनका जीवनचर्या-विधायक अनुशासन

सृष्टिके प्रारम्भमें जब ब्रह्माजीने सनकादि पुत्रोंको उत्पन्न किया तो वे सृष्टि-कार्यसे विरत हो निवृत्तिपरायण हो गये। तब ब्रह्माजीने मैथुनी-सृष्टिके संकल्पको लेकर अपने शरीरसे ही मनु और शतरूपाको उत्पन्न किया। स्वयम्भू ब्रह्माजीसे आविर्भूत होनेसे इनका स्वायम्भुव नाम पड़ा। इन दोनोंके चरित्र और आचरण बड़े ही उदार थे। यथासमय स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति नामक तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। फिर आगे इन्हींसे सृष्टिका विस्तार होता गया। महाभागवत ध्रुव इन्हीं मनु महाराजकी परम्परामें उत्तानपाद और सुनीतिके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए और सांख्यतत्त्वके उपदेष्टा भगवान् कपिल माता देवहूतिसे प्रादुर्भूत हुए थे।

मनु मानवजातिके आदि पिता हैं। मानवजातिके पथ-प्रदर्शक हैं। ऐश्वर्य, धर्मानुशासन, शास्त्रमर्यादा, प्रजापालन, न्यायपथकी प्रतिष्ठा तथा तप—ये उनकी जीवनचर्याके अद्भुत आदर्श हैं। इसी प्रकार महारानी शतरूपा भी शील-स्वभाव एवं पातिव्रतकी प्रतिमूर्ति हैं। महाराज मनु और महारानी शतरूपाका उदात्त चरित्र और उनका भगवत्प्रेम सभीके लिये अनुकरणीय है। पुण्यकीर्ति राजर्षि मनु भगवदीय अंशसे सम्पन्न हैं। प्रजापालन तथा धर्मचर्याकी प्रतिष्ठाके लिये ही आपका प्राकट्य हुआ था।

सुदीर्घकालतक धर्मपूर्वक राज्य करते हुए अन्तमें इनके मनमें यह बात आयी कि घरमें रहकर राज्यका भोग

* अन्यत्र यह मन्त्र इस प्रकार आया है—'गोत्रं नो वर्द्धतां दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम्। वेदाः सन्ततिरेव च। श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्तु। अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि। याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन। एताः सत्या आशिषः सन्तु॥'

करते हुए वृद्धावस्था आ गयी, किंतु विषयोंसे वैराग्य नहीं हुआ। भगवान्‌के भजनके बिना जीवनका यह अमूल्य समय यों ही बीत गया—यह सोचकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अन्ततः पुत्रोंको राज्यका भार देकर ये महारानी शतरूपाके साथ ऋषियोंकी तपोभूमि नैमिषारण्यतीर्थमें गोमतीनदीके तटपर चले गये और मुनिवृत्ति धारणकर भगवान्‌के द्वादशाक्षर मन्त्र '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' का प्रेमसहित जप करने लगे। उनके मनमें यही अभिलाषा थी कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्‌के दर्शनकर जीवनको सफल किया जाय। कठोर तप करते-करते हजारों वर्ष बीत गये। कई बार ब्रह्मा आदि देवता आये और बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, किंतु ये तनिक भी विचलित नहीं हुए। शरीर सूखकर काँटा हो गया, हड्डीका ढाँचामात्र रह गया—'*अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।*' परंतु मनमें जरा भी पीड़ा नहीं हुई। मन तो भगवान्‌के चरणकमलोंमें लगा था। इस घोर तपस्या और चरणानुरागको देखकर भगवान् नीलमणिने अपनी शक्तिके साथ मनोरम स्वरूपमें इन दम्पतीको दर्शन
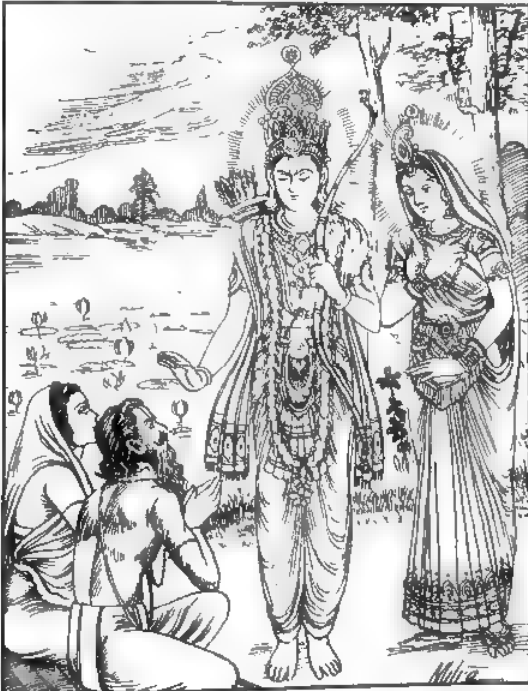
दिया। शोभाके समुद्र श्रीहरिके स्वरूपको देखकर दोनोंके नेत्र अपलक हो गये, शरीरकी सुधि भूल गयी और चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे उठाया और वर माँगनेको कहा। इसपर बड़े संकोचके साथ मनुजी बोले—'हे कृपानिधान! मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ—'*चाहउँ तुम्हहि समान सुत*'। भगवान् करुणानिधिने कहा—'*आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥*'

इस प्रकार राजर्षि मनु और शतरूपाकी तपस्या ही भगवान्‌के अवतरणमें हेतु बनती है। वे ही मनु-शतरूपा आगे चलकर दशरथ-कौसल्या बने और अवधमें भगवान्‌का श्रीरामरूपमें तथा मिथिलामें आदिशक्तिका श्रीजानकीजीके रूपमें अवतरण हुआ।

ऐसे उदारकीर्ति मनुजीको ही ब्रह्माजीने सम्पूर्ण प्रजाका राजा बनाया। समस्त मानवोंका पालन करनेके कारण वे पिता भी कहलाते हैं—'**मनुष्पिता**' (ऋग्वेद १। ८०। १६)। हम सब मनुजीकी सन्तानें हैं। ये मानवजातिके पथ-प्रदर्शक हैं। मनुसे ही मानव-मनुष्य—ये शब्द निर्गत हुए हैं। महाराज मनुने अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक पालन करनेके लिये जो विधान बनाया तथा जीवनचर्या और दिनचर्याको आदर्शरूप देनेके लिये जो रीति बतलायी, वह सब नियम-कानूनके रूपमें मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्रके नामसे विख्यात हो गया। यह सृष्टिका आदि सनातन-संविधान है। वेदार्थके अनुसार रचित होनेके कारण अन्य सभी विधानोंमें मनुस्मृतिका प्राधान्य है—'**वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।**' मनुजीको सर्वज्ञानमय कहा गया है—'**सर्वज्ञानमयो हि सः**' (मनु० २। ७)। मनुजीद्वारा जो भी कहा गया है, वह सबके लिये परम भेषज—परम औषध है—'**यत्किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः।**' (ताण्ड्यब्रा० २३। १६। ७), '**यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्।**' (कृष्णयजु०तैत्ति०सं० २। २। १०। २) इस चर्यारूपी औषधका सेवन करने—परिपालन करनेसे महान् कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है।

मानवजीवनके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक श्रेयः-सम्पादनका कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जो मनुजीके विधानशास्त्रमें नहीं आया है। मनुजीने वर्णाश्रमधर्मके अनुपालन तथा पुरुषार्थचतुष्टयकी उपलब्धिको ही जीवनचर्याका उत्तम प्रतिमान बताया है। प्रारम्भमें उन्होंने सृष्टि-प्रक्रियाका वर्णन करते हुए स्वेदज, पिण्डज, जरायुज तथा उद्भिज्ज नामक चार प्रकारकी सृष्टिका वर्णन किया है और फिर सदाचारपालनकी महिमाका निरूपण करते हुए कहा है कि जीवनचर्याके सम्बन्धमें वेदों तथा स्मृतियोंमें जो कहा गया है, उसे आचार कहते हैं और वही श्रेष्ठ धर्म है, आत्मकल्याणकी इच्छा

रखनेवालेको आचारके पालनमें प्रयत्नवान् होना चाहिये—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

(मनु० १।१०८)

इन्द्रियसंयमकी आवश्यकता—महाराज मनु इन्द्रियजयको जीवनकी सफलता मानते हुए बतलाते हैं कि जो व्यक्ति इन्द्रियोंके विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धमें आसक्त होता है, वह निश्चितरूपसे दोषभागी होता है और जो इनमें संयम बरतता है, वह सिद्धिको प्राप्त करता है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(मनु० २।९३)

विद्याप्राप्तिमें सेवाकी महिमा—मनुजीने गुरु, शिष्य, माता, पिता आदिके साथ किस प्रकार कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसके निरूपणके अनन्तर बतलाया कि शिक्षक तथा विद्यार्थीका परस्पर सम्बन्ध पिता पुत्रकी तरह पवित्र होना चाहिये और विद्यार्थीके लिये यह सर्वोपरि बात है कि यदि उसे अपने गुरुके समान महान् और ज्ञानवान् बनना हो तो वह उनकी प्रयत्नपूर्वक सेवा करे; क्योंकि जिस प्रकार कुदालसे जमीनको खोदता हुआ मनुष्य पानी प्राप्त कर लेता है, वैसे ही गुरुकी सेवा करनेवाला शिष्य गुरुकी विद्याको प्राप्त कर लेता है—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

(मनु० २।२१८)

माता-पिताके प्रति सन्तानका कर्तव्य—महाराज मनु इस बातपर बहुत जोर देते हैं कि जिसने अपने जीवनमें माता-पिताकी सेवा नहीं की, उसके जन्मको ही धिक्कार है; क्योंकि माता-पिता गर्भधारण, प्रसववेदना, पालन, रक्षण, वर्धन तथा देखभालके द्वारा जिस कष्टको सहन करते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षों क्या अनेक जन्मोंमें भी चुकाना सम्भव नहीं है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु० २।२२७)

अतः सन्तानका यह कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिताकी सेवा तथा वृद्धावस्थामें उनकी पूरी देखभाल बड़े ही प्रयत्नसे अपना सर्वोपरि कर्तव्य समझकर करे।

महाराज मनुकी इस शिक्षाको हमने अपनी जीवनचर्यामें कितना उतारा है, इसका हमें सच्चाईसे विचार करना चाहिये। मनुजी तो यहाँतक भी कहते हैं कि जो माता-पिता तथा आचार्यकी सच्ची सेवा करता है फिर उसके लिये वेदादि शास्त्रोंमें बताया गया कोई कर्म शेष नहीं रह जाता—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।

(मनु० २।२३७)

सुसंस्कृत जीवनचर्या—जीवनमें संस्कारोंके अनुष्ठानको महत्ता तथा उनसे होनेवाले लाभोंको बताते हुए वे कहते हैं कि संस्कारोंसे वीर्य एवं गर्भसम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं और संस्कार इस लोकमें भी तथा परलोकमें भी पवित्र करनेवाला है, अतः शरीरका संस्कार अवश्य करना चाहिये—

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

(मनु० २।२६)

संस्कारसम्पन्न होनेपर ही व्यक्तिकी जीवनचर्या सफल हो सकती है, अन्यथा वह किसी भी श्रेष्ठ विहित कार्यका अधिकारी नहीं बन सकेगा।

आहार-विधि—दैनिकचर्याका एक विशिष्ट नियम बताते हुए मनुजी कहते हैं कि अन्नमें ही प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं और अन्नसे ही जीवनधारण होता है। ग्राह्य अन्नके अनुसार ही मन-बुद्धि एवं विचारोंका निर्माण होता है, अतः निन्द्य अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये। साथ ही जो अन्न प्राप्त हो, उसका पहले भगवान्को भोग लगाये, उसकी निन्दा न करे, उसे देखकर चित्तमें आह्लादका अनुभव करे और उस अन्नका आदर करे; क्योंकि अभिनन्दित अन्न सामर्थ्य और ऊर्जा प्रदान करता है, इसके विपरीत निन्दित अर्थात् निन्दा करते हुए खाया हुआ अन्न सामर्थ्य और वीर्य—दोनोंको नष्ट कर देता है—

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जञ्च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥

(मनु० २।५५)

जीविका कैसी हो—गृहस्थ सभी आश्रमोंका मूल है और गृहस्थाश्रमकी कुशलपूर्वक सम्पन्नताके लिये वृत्तिका होना आवश्यक है। महाराज मनुने निन्दित तथा प्रशस्त वृत्तियों (जीविकाओं)-का निर्धारण किया है और धनके संग्रहमें सन्तोषको ही सुखका हेतु बताया है। आवश्यकतासे अधिक संचय (अर्थात् असन्तोष) दुःखका मूल कारण है, इसलिये व्यक्तिको चाहिये कि संग्रह करनेकी इच्छाका परित्याग कर दे। मनुजीके मूल वचन इस प्रकार हैं—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥

(मनु० ४।१२)

उत्तम व्यवहारकी शिक्षा—मनुजी बहुत अच्छी बात बताते हुए कहते हैं कि मनुष्यको अपनी दैनिकचर्यामें यह नियम बना लेना चाहिये कि कहीं आते-जाते समय मार्गमें यदि मिट्टीका ढेर, गौ, देवप्रतिमा, देवालय आदि, ब्राह्मण, घृत, मधु, चौराहा और पीपल आदि देववृक्ष पड़ जायँ, तो उन्हें अपने दायें हाथ करके आगे बढ़ना चाहिये। इनमें आदरबुद्धि रखने और इनको अपने दाहिने रखनेसे ये भी दाहिने (अर्थात् अनुकूल तथा वरदायी) और बायें रखनेसे ये भी वाम (प्रतिकूल) हो जाते हैं—

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्॥

(मनु० ४।३९)

जलको दूषित न करे—महाराज मनुकी आज्ञा है कि प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य है कि वह जलको किसी भी प्रकार दूषित न करे। जलका प्रदूषण कैसे-कैसे हो सकता है, इस सम्बन्धमें उनका कहना है—

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥

(मनु० ४।५६)

अर्थात् जलमें मूत्र, मल, थूक, कोई अपवित्र वस्तु, रक्त या विष अथवा विषयुक्त पदार्थ न छोड़े।

मनुजीकी जीवनचर्या-सम्बन्धी इस आज्ञाके उल्लंघनसे ही आज सर्वत्र जल-प्रदूषणकी समस्या व्याप्त हो गयी है। हमें चाहिये कि हम यह नियम बना लें कि अपने जीवनमें शास्त्रके वचनोंपर श्रद्धा रखेंगे और तदनुसार ही व्यवहार करेंगे। तभी हमारी जीवनचर्या उत्तम और आदर्श बन सकती है अन्यथा शास्त्रवचनोंके उल्लंघनका जो परिणाम दिखायी दे रहा है, वह तो सबके सामने ही है।

अधार्मिक जीवनचर्याका फल किसे मिलता है—मनु महाराज यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि यदि व्यक्ति जीवनमें निन्दित कार्योंको करता है तथा जो उसे करना चाहिये, वह नहीं करता और अपने मनके हिसाबसे मनमाना आचरण करता है तथा ऋषियोंकी बतायी बातको नहीं मानता और उनका परिहास करके अपनेको अधिक बुद्धिमान् समझता है तो उसका फल भी उसे स्वयं भोगना ही पड़ता है, पुनः यदि उसका फल उसे नहीं मिलता तो उसके पुत्रको मिलता है, यदि पुत्रको भी नहीं मिलता है, तो पौत्रोंको अवश्य मिलता है, असत्-जीवनचर्याका फल कभी निष्फल नहीं होता—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः॥

(मनु० ४।१७३)

अतः व्यक्तिको यदि अपनी सन्तान-परम्परासे प्रेम हो और वह उसका भला चाहता हो तो अपनी नित्यचर्याको धर्मसम्मत बनाये।

इष्टापूर्तकर्मकी महिमा—मनुजी स्वहितसे भी अधिक महत्त्व परहितको देते हैं और परोपकारके कार्योंमें श्रद्धापूर्वक धनके विनियोगको बहुत श्रेयष्कर बताते हैं। यज्ञादि कर्म-सम्पादन इष्ट है तथा बावली, कूप, तड़ाग, बाग, औषधालय, धर्मशाला, स्कूल, पौंसला आदि बनवाना पूर्त कहलाता है। इनका फल अक्षय होता है। (मनु० ४।२२६)

शुद्धि-विधान—मनुजी बताते हैं कि जीवनमें दुष्कर्मके करने आदिसे अनेक प्रकारकी अशुद्धियाँ आ जाती हैं; जननाशौच, मरणाशौच उपस्थित हो जाता है; नित्य व्यवहारमें प्रयोगमें आनेवाले द्रव्य भी अशुद्ध होते रहते हैं; अतः उनके पुनः उपयोगके लिये क्या करना चाहिये—इस विषयमें उन्होंने विस्तारसे बतलाया है, वे कहते हैं कि देहधारियोंकी शुद्धि ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, यज्ञादि पवित्रकर्म, सूर्य और समयसे

होती है। शरीर स्नान आदिसे, मन सत्यभाषणसे, जीवात्मा ब्रह्मविद्या तथा तपसे और बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है—'**बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।**' (मनु० ५।१०९)

राजाकी चर्या कैसी हो—मनुजी बताते हैं कि भगवान्‌ने अपनी प्रजाके पालनके लिये इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा कुबेरके तेजको लेकर राजाकी सृष्टि की और दण्डका विधान बनाया; क्योंकि दण्डके भयसे सभी अपने-अपने कर्मोंका ठीक-ठीक अनुपालन करते हैं। राजाको चाहिये कि वह अपने वर्ण, धर्मके अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते हुए प्रतिदिन प्रातःकाल वेदज्ञ ब्राह्मणोंका अभिवादन करे और उनके परामर्शके अनुसार राजकार्य करे। राजाके लिये विनयसम्पन्न होना आवश्यक है। राजाको त्रयीविद्या, दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और लोक-व्यवहारका ज्ञान होना चाहिये। उसे चाहिये कि वह जितेन्द्रिय रहे, काम-क्रोधजन्य विषयोंका परित्याग कर दे। योग्य मन्त्रियोंका चयन करे और राज्यके कुशल-क्षेमके लिये सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय—इन छः गुणोंका सदा विचार करता रहे। राजाका मुख्य कर्तव्य है धर्मकी रक्षा करना, स्वयं भी धर्माचरण करना और प्रजासे भी धर्माचरण कराना।

प्रायश्चित्त-विधान—मनुजी बताते हैं कि जीवनमें ज्ञान-अज्ञानमें जो पाप बन जाते हैं, उनसे शुद्ध होनेके लिये कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त व्रतोंको करना चाहिये। इनका उन्होंने सविधि विस्तारसे निरूपण किया है और यह भी बतलाया है कि अपने पापको सर्वसाधारणके मध्य कहने, अपनेको धिक्कारते हुए निरन्तर पछतावा करने तथा पुनः ऐसा न करनेकी प्रतिज्ञा लेनेसे वह पापसे मुक्त हो सकता है—

कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥

(मनु० ११।२३०)

इस प्रकार जीवनमें पापकर्मोंसे सदा दूर रहने और मन-वाणी तथा शरीरसे शुभ कर्मोंके करनेका ही संकल्प लेना चाहिये—

मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥

(मनु० ११।२३१)

धर्ममय जीवनचर्यासे परम कल्याण—मनुजी बताते हैं कि अपनी जीवनचर्याको धर्ममय बनाना चाहिये तथा अधर्ममें अपने मनको कभी भी नहीं लगाना चाहिये—'**धर्मे दध्यात्सदा मनः॥**' (मनु० १२।२३) '**नाधर्मे कुरुते मनः॥**' (मनु० १२।११८) इस प्रकार परम श्रेयपथका आलम्बनकर जो मनुष्य सम्पूर्ण चराचर जीवोंमें अपनी आत्माको तथा सम्पूर्ण चराचर जीवोंको अपनी आत्मामें देखते हुए अनासक्त भावसे कर्म करता है, वह स्वाराज्यपद—मुक्तिपदको प्राप्त करता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

(मनु० १२।९१)

आध्यात्मिक जीवनचर्याका उपदेश—एक समयकी बात है देवताओंके गुरु आचार्य बृहस्पतिजीने शिष्यभावसे प्रजाओंके पति मनु महाराजके पास उपस्थित होकर जीवोंका आत्यन्तिक कल्याण किस उपायसे हो सकता है, इसकी जिज्ञासा की और आत्मतत्त्व क्या है ? इसका भी रहस्य पूछा। इसपर मनुजीने विस्तारसे उनको सारा तत्त्व-रहस्य बताया।

मनुजी बोले—विषयोंकी ओर इन्द्रियोंके फैले रहनेसे ही मनुष्य दुःखी होता है और उन्हींको संयममें रखनेसे सुखी हो जाता है। इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञानसे परात्पर

परमात्मा श्रेष्ठ है। हे बृहस्पते! दुःखको दूर करनेके लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि मनुष्य उसका चिन्तन छोड़ दे; क्योंकि चिन्तन करनेसे वह सामने आ जाता है और अधिकाधिक बढ़ता रहता है—

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते॥

(महा० शान्ति० २०५।२)

मानसिक दुःखको बुद्धि और विचारद्वारा तथा शारीरिक कष्टको ओषधियोंद्वारा दूर करे। धर्म करनेसे श्रेयकी वृद्धि होती है और अधर्म करनेसे मनुष्यका अकल्याण होता है। विषयासक्त पुरुष प्रकृतिको प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है—

रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत्॥

(महा० शान्ति० २०५।२६)

माता मदालसाद्वारा निर्दिष्ट जीवनचर्या

शिष्टाचार, सदाचार, पतिभक्ति, धर्मज्ञान, बालमनोविज्ञान और लोकव्यवहारकी विदुषी माता मदालसाका पावन सन्देश बड़ा ही कल्याणकारक है। ये गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री थीं। इनका विवाह शत्रुजित्के पुत्र राजा ऋतध्वजके साथ हुआ था। दोनोंका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखमय था। सती मदालसा अपनी सेवासे सास-ससुर तथा पतिको सदा सन्तुष्ट रखती थीं। राजकुमार ऋतध्वजको भगवान् सूर्यद्वारा 'कुवलय' नामका एक अश्व प्राप्त हुआ था, इसीसे इनका एक नाम कुवलयाश्व भी था। राजा ऋतध्वजका आचरण तथा व्यवहार बड़ा ही उदार था। यथासमय क्रम-क्रमसे मदालसाको तीन पुत्र उत्पन्न हुए। वे इन तीनों पुत्रोंको लोरियाँ गानेके व्याजसे विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश देने लगीं। जब वे रोने लगते तो मदालसा कहतीं—हे तात! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है, यह शरीर पाँच भूतोंका बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है। फिर किसलिये रो रहा है?

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पञ्चात्मकं देहमिदं तवैत-
न्नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥

(मार्क०पु० २५।११)

तू अपने उस चोले और इस देहरूपी चोलेके जीर्ण होनेपर मोह न करना। शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार यह देह प्राप्त हुआ है। तेरा यह चोला मद आदिसे बँधा हुआ है। तू तो सर्वदा इससे मुक्त है। कोई जीव पिताके रूपमें प्रसिद्ध है, कोई पुत्र कहलाता है, किसीको माता और किसीको प्यारी स्त्री कहते हैं, कोई 'यह मेरा है' कहकर अपनाया जाता है और कोई 'मेरा नहीं है' इस भावसे पराया माना जाता है। इस प्रकार ये भूतसमुदायके ही नाना रूप हैं, ऐसा तुझे मानना चाहिये—

तातेति किञ्चित् तनयेति किञ्चि-
दम्बेति किञ्चिद्दयितेति किञ्चित्।
ममेति किञ्चिन्न ममेति किञ्चित्
त्वं भूतसङ्घं बहुमानयेथाः॥

(मार्क०पु० २५।१५)

अरे तात! यद्यपि सब भोग दुःखरूप हैं तथापि मूढ़चित्त मानव उन्हें दुःख दूर करनेवाला तथा सुखकी प्राप्ति करनेवाला समझता है, किंतु जो विद्वान् हैं, जिनका चित्त मोहसे आच्छन्न नहीं हुआ है, वे उन भोगजनित सुखोंको भी दुःख ही मानते हैं।

इस प्रकारके दिन-प्रतिदिन आत्मतत्त्वके ज्ञानोपदेशसे रानी मदालसा अपने बढ़ते हुए तीनों पुत्रोंको ममताशून्य करने लगीं। माताके उपदेशका बच्चोंपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि संसारसे उनकी विरति हो गयी और वे तीनों निवृत्तिमार्गके उपासक हो गये।

उक्त वृत्तान्तसे यह स्पष्ट है कि माताके द्वारा जैसे संस्कार दिये जाते हैं, बालकके मनपर उसका अमिट प्रभाव पड़ता है। माता चाहे तो अपनी सन्तानको भगवद्भक्त बना सकती है, चाहे तो वीर, साहसी और पुरुषार्थी बना

सकती है और चाहे तो उसे संसारमें प्रवृत्त कराकर सदाचारी और सत्पुरुष बना सकती है। माताके ऊपर ही बालककी सम्पूर्ण जीवनचर्या निर्भर रहती है, अतः बालकोंके लालन-पालनके लिये माताको विशेष सावधान रहना चाहिये।

कुछ समय बाद माता मदालसाको चौथा पुत्र उत्पन्न हुआ तो माताने उसका नाम 'अलर्क' रखा और उसे भी वह ज्ञानका उपदेश देने लगीं। इसपर राजाने कहा—देवि!

तुम्हारे ज्ञानोपदेशसे तीनों पुत्र तो आत्मज्ञानी हो गये हैं, अब इसे प्रवृत्तिमार्गका उपदेश देकर लोकधर्ममें प्रवृत्त कराओ। देवि! ऐसा करनेसे कर्ममार्गका उच्छेद नहीं होगा तथा पितरोंके पिण्डदानका लोप नहीं होगा, देवताओं तथा अतिथियोंको उनका भाग मिलेगा और संसारके जीवोंका कल्याण होगा, अतः इसे क्षत्रियोचितधर्मका ठीक-ठीक कर्तव्य-ज्ञान कराओ। मदालसाने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली और उन्होंने पुत्र 'अलर्क' को बचपनमें ही व्यवहारशास्त्र, राजशास्त्र, धर्मशास्त्रका पूर्ण ज्ञाता तथा महान् सदाचारी बना दिया।

मदालसा बालक अलर्कसे कहने लगीं—बेटा! तू धन्य है, जो शत्रुरहित होकर अकेला ही चिरकालतक इस पृथ्वीका शासन करता रहेगा। तुम पर्वोंके दिन ब्राह्मणोंको भोजन कराना, बन्धु-बान्धवोंकी इच्छा पूर्ण करना, अपने हृदयमें दूसरोंकी भलाईका ध्यान रखना, परायी स्त्रीकी ओर कभी मनको न जाने देना। अपने मनमें सदा विष्णु भगवान्‌का चिन्तन करना और उनके ध्यानसे अन्तःकरणके काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीतना। तात! राज्य करते हुए तुम अपने सुहृदोंको प्रसन्न रखना, साधु पुरुषोंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करना, संग्राममें दुष्ट शत्रुओंका संहार करते हुए गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राणतक निछावर कर देना—

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥

(मार्क०पु० २६।४१)

इस प्रकार बालक अलर्कके मनमें सदाचार और सद्धर्मके बीजका वपन करके अलर्कके कुछ बड़े हो जानेपर माता-पिताने उसका उपनयन-संस्कार कर दिया, एक दिन राजकुमार अलर्कने माताके चरणोंमें प्रणाम करके पूछा—

माँ! मुझे इस लोक तथा परलोकमें सुख प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये तथा मुझे अपनी जीवनचर्या कैसी बनानी चाहिये, इसके लिये मुझे आप उपदेश प्रदान करनेकी कृपा करें। यह सुनकर माताको बड़ी प्रसन्नता हुई। तब माताने जो जीवनचर्याका स्वरूप अलर्कको बतलाया, वह बड़ा ही अद्भुत और आनन्द प्रदान करनेवाला है। माताने पुत्र अलर्कको प्रथम तो राजाके सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंका उपदेश दिया, वर्णाश्रम-धर्मका रहस्य बतलाया तथा विस्तारसे गृहस्थधर्मका निरूपण किया। तदनन्तर श्राद्धकर्मकी विशेष महिमा तथा विधि बतलायी।

पुनः अलर्कने कहा—माता! आपने मुझे बहुत-सी उत्तम बातें बतायीं, अब मैं सदाचारमय जीवनचर्याके विषयमें सुनना चाहता हूँ कि मनुष्यको यह शरीर प्राप्त करके कौन-से उत्तम कर्मोंका अनुपालन करना चाहिये।

इसपर माता मदालसाने कहा—बेटा! मनुष्यको सदा ही सदाचारका पालन करना चाहिये। आचारहीन मनुष्यको न तो इस लोकमें सुख मिलता है, न परलोकमें। जो सदाचारका उल्लंघन करके मनमाना बर्ताव करता है, उस पुरुषका कल्याण यज्ञ, दान, तपस्यासे भी नहीं होता। दुराचारी पुरुषको इस लोकमें बड़ी आयु नहीं मिलती। अतः सदाचार के पालनका सदा ही यत्न करे। सदाचार बुरे लक्षणोंका नाश करता है—

गृहस्थेन सदा कार्यमाचारपरिपालनम्।
न ह्याचारविहीनस्य सुखमत्र परत्र वा॥
यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये।
भवन्ति यः सदाचारं समुल्लङ्घ्य प्रवर्तते॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।
कार्यो यत्नः सदाचारे आचारो हन्त्यलक्षणम्॥

(मार्क०पु० ३४।६—८)

वत्स! अब मैं सदाचारका स्वरूप बतलाती हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो और उसका पालन करो।

मनुष्यको धर्म, अर्थ, काम—तीनोंके साधनका यत्न करना चाहिये। उनके सिद्ध होनेपर उसे इस लोक और परलोकमें भी सिद्धि प्राप्त होती है। मनको वशमें करके अपनी आयका एक चौथाई भाग पारलौकिक लाभके लिये संगृहीत करे। आधे भागसे नित्य-नैमित्तिक कार्योंका निर्वाह करते हुए अपना भरण-पोषण करे। एक चौथाई भाग अपने लिये मूल पूँजीके रूपमें रखकर उसे बढ़ाये। बेटा! ऐसा करनेसे धन सफल होता है। इसी प्रकार पापकी निवृत्ति तथा पारलौकिक उन्नतिके लिये विद्वान् पुरुष धर्मका अनुष्ठान करे। ब्राह्ममुहूर्तमें उठे। उठकर धर्म और अर्थका चिन्तन करे। अर्थके कारण जो शरीरको कष्ट उठाना पड़ता है, उसका भी विचार करे। फिर वेदके तात्त्विक अर्थ—परब्रह्म परमात्माका स्मरण करे। इसके बाद शयनसे उठकर नित्यकर्मसे निवृत्त हो स्नान आदिसे पवित्र होकर मनको संयममें रखते हुए पूर्वाभिमुख बैठे और आचमन करके सन्ध्योपासन करे। प्रातःकालकी सन्ध्या उस समय आरम्भ करे, जब तारे दिखायी देते हों। इसी प्रकार सायंकालकी सन्ध्योपासना सूर्यास्तसे पहले ही विधिपूर्वक आरम्भ करे। आपत्तिकालके सिवा और किसी समय उसका त्याग न करे*।

बुरी-बुरी बातें बकना, झूठ बोलना, कठोर वचन मुँहसे निकालना, असत्-शास्त्र पढ़ना, नास्तिकवादको अपनाना तथा दुष्ट पुरुषोंकी सेवा करना छोड़ दे।

असत्प्रलापमनृतं वाक्पारुष्यञ्च वर्जयेत्।
असच्छास्त्रमसद्वादमसत्सेवाञ्च पुत्रक॥

(मार्क०पु० ३४।१९)

मनको वशमें रखते हुए प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल हवन करे। उदय-अस्तके समय सूर्यमण्डलका दर्शन न करे। बाल सँवारना, आइना देखना, दातौन करना, देवताओंका तर्पण करना, यह सब पूर्वाह्णकालमें ही करना चाहिये।

ग्राम, निवासस्थान, तीर्थ, क्षेत्रोंके मार्गमें, जोते हुए खेतमें, गोशालामें मल-मूत्र न करे। परायी स्त्रीको नग्नावस्थामें न देखे। अपनी विष्ठापर दृष्टिपात न करे। रजस्वला स्त्रीका दर्शन, स्पर्श तथा उसके साथ भाषण भी वर्जित है। पानीमें मल-मूत्रका त्याग, मैथुन न करे। बुद्धिमान् पुरुष

* पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकराम्। उपासीत यथान्यायं नैनां जह्यादनापदि॥ (मार्क०पु० ३४।१८)

मल-मूत्र, केश, राख, खोपड़ी, भूसी, कोयले, हड्डियोंके चूर्ण, रस्सी, वस्त्र आदिपर, केवल पृथ्वीपर, मार्गमें कभी न बैठे। मनुष्य अपने वैभवके अनुसार देवता, पितर, मनुष्य, अन्यान्य प्राणियोंका पूजन करके पीछे भोजन करे। भलीभाँति आचमन करके, हाथ-पैर धोकर, पवित्र हो, पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके भोजनके लिये आसनपर बैठे और हाथोंको घुटनोंके भीतर करके मौनभावसे भोजन करे। भोजनके समय मनको अन्यत्र न ले जाय। यदि अन्न किसी प्रकारकी हानि करनेवाला हो तो उस हानिको ही बतावे, उसके सिवा अन्नके और किसी दोषकी चर्चा न करे। भोजनके साथ पृथक् नमक लेकर न खाय। अधिक गरम अन्न खाना भी ठीक नहीं है। मनुष्यको चाहिये कि खड़े होकर चलते-चलते मल-मूत्रका त्याग, आचमन तथा कुछ भी भक्षण न करे। जूठे मुँह वार्तालाप न करे तथा उस अवस्थामें स्वाध्याय भी वर्जित है। जूठे हाथसे गौ, ब्राह्मण, अग्नि, अपने मस्तकका स्पर्श न करे। जूठी अवस्थामें सूर्य, चन्द्रमा, तारोंकी ओर जान-बूझकर न देखे। दूसरेके आसन, शय्या, बर्तनका भी स्पर्श न करे।

गुरुजनोंके आनेपर उन्हें बैठनेके लिये आसन दे, उठकर प्रणामपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार करे। उनके अनुकूल बातचीत करे। जाते समय उनके पीछे-पीछे जाय, कोई प्रतिकूल बात न करे। एक वस्त्र धारण करके भोजन तथा देवपूजन न करे। बुद्धिमान् पुरुष ब्राह्मणोंसे बोझ न ढुलाये। आगमें मूत्र-त्याग न करे। नग्न होकर कभी स्नान या शयन न करे। दोनों हाथोंसे सिर न खुजलाये। बिना कारण बारम्बार सिरके ऊपरसे स्नान न करे। सिरसे स्नान कर लेनेपर किसी अंगमें तेल न लगाये। सब अनध्यायोंके दिन स्वाध्याय बन्द रखे। ब्राह्मण, अग्नि, गौ, सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब न करे। दिन में उत्तरकी ओर और रात्रिमें दक्षिणकी ओर मुँह करके मल-मूत्रका त्याग करे। जहाँ ऐसा करनेमें कोई बाधा हो, वहाँ इच्छानुसार करे। गुरुके दुष्कर्मकी चर्चा न करे। यदि वे क्रुद्ध हों तो उन्हें विनयपूर्वक प्रसन्न करे। दूसरे लोग भी यदि गुरुकी निन्दा करते हों तो उसे न सुने। ब्राह्मण, राजा, दुःखसे आतुर मनुष्य, विद्यावृद्ध पुरुष, गर्भिणी स्त्री, बोझसे व्याकुल मनुष्य, गूँगा, अन्धा, बहरा, मत्त, उन्मत्त, व्यभिचारिणी स्त्री, शत्रु, बालक, पतित—ये यदि सामनेसे आते हों तो स्वयं किनारे हटकर इन्हें जानेके लिये मार्ग देना चाहिये। विद्वान् पुरुष देवालय, चैत्यवृक्ष, चौराहा, विद्यावृद्ध पुरुष, गुरु, देवता—इनको दाहिने करके चले—

देवालयं चैत्यतरुं तथैव च चतुष्पथम्।
विद्याधिकं गुरुं देवं बुधः कुर्यात् प्रदक्षिणम्॥

(मार्कण्डेयपुराण)

दूसरोंके धारण किये हुए जूते, वस्त्र स्वयं न धारण करे। दूसरोंके उपयोगमें आये हुए यज्ञोपवीत, आभूषण और कमण्डलुका भी त्याग करे। चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी, पर्वके दिन तैलाभ्यङ्ग एवं स्त्रीसहवास न करे। बुद्धिमान् पुरुष कभी पैर और जाँघ फैलाकर न खड़ा हो। पैरोंको न हिलाये तथा पैरको पैरसे न दबाये। किसीको चुभती बात न कहे। निन्दा-चुगली छोड़ दे। दम्भ, अभिमान, तीखा व्यवहार कदापि न करे। मूर्ख, उन्मत्त, व्यसनी, कुरूप, मायावी, हीनांग, अधिकांग मनुष्योंकी खिल्ली न उड़ाये। आसनको पैरसे खींचकर न बैठे। सायंकाल, प्रातःकाल पहले अतिथिका सत्कार करके फिर स्वयं भोजन करे।

वत्स! सदा पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके ही दातौन करे। दातौन करते समय मौन रहे। दातौनके लिये निषिद्ध वृक्षोंका त्याग करे। उत्तर-पश्चिमकी ओर सिर करके कभी न सोये। दक्षिण या पूर्व दिशाकी ओर सिर करके ही सोये। जहाँ दुर्गन्ध आती हो, ऐसे जलमें स्नान न करे। रात्रिमें न नहाये। ग्रहणके समय रात्रिमें भी स्नान करना बहुत उत्तम है। इसके सिवा अन्य समय दिनमें ही स्नानका विधान है। स्नान कर लेनेके बाद हाथ या कपड़ेसे शरीरको न मले। बालों और वस्त्रोंको न फटकारे। विद्वान् पुरुष बिना स्नान किये कभी चन्दन न लगाये। लाल, रंग-बिरंगे, काले रंगके कपड़े न पहने। जिसमें बाल, थूक या कीड़े पड़ गये हों, जिसपर कुत्तेकी दृष्टि पड़ी हो, जिसको किसीने चाट लिया हो, जो सार भाग निकाल लेनेके कारण दूषित हो गया हो, ऐसे अन्नको न खाये। बहुत देरके बने हुए और बासी भातको त्याग दे। पिट्ठी, साग, ईखके रस,

दूधकी बनी हुई वस्तुएँ भी यदि बहुत दिनोंकी हों तो उन्हें न खाय। सूर्यके उदय-अस्तके समय शयन न करे, बिना नहाये, बिना बैठे, अन्यमनस्क होकर शय्यापर बैठकर या सोकर, पृथ्वीपर बैठकर, बोलते हुए, एक कपड़ा पहनकर तथा भोजनकी ओर देखनेवाले पुरुषोंको न देकर मनुष्य कदापि भोजन न करे। सबेरे-शाम दोनों समय भोजनकी यही विधि है।

समझदार पुरुषको कभी परायी स्त्रीके साथ समागम नहीं करना चाहिये। परस्त्री-संगम मनुष्योंके इष्ट, पूर्त और आयुका नाश करनेवाला है। इस संसारमें परस्त्री-समागमके समान मनुष्यकी आयुका विघातक कार्य दूसरा कोई नहीं है। देवपूजा, अग्निहोत्र, गुरुजनोंको प्रणाम और भोजन भलीभाँति आचमन करके करना चाहिये। स्वच्छ, फेनरहित, दुर्गन्धशून्य, पवित्र जल लेकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके आचमन करना चाहिये। जलके भीतरकी, घरकी, बाँबीकी, चूहेके बिलकी, शौचसे बची हुई—ये पाँच प्रकारकी मिट्टी त्याग देने योग्य है। हाथ-पैर धोकर एकाग्र-चित्तसे मार्जन करके घुटनोंको समेटकर दो बार मुँहके दोनों किनारोंको पोंछे; फिर सम्पूर्ण इन्द्रियों और मस्तकका स्पर्श करके जलसे भलीभाँति तीन बार आचमन करे। इस प्रकार पवित्र होकर समाहित-चित्तसे सदा देवताओं, पितरों, ऋषियोंकी क्रिया करनी चाहिये। थूकने, खँखारने, कपड़ा पहननेपर बुद्धिमान् पुरुष आचमन करे। छींकने, चाटने, वमन करने, थूकनेके पश्चात् आचमन, गायकी पीठका स्पर्श, सूर्यका दर्शन तथा दाहिने कानको छू लेना चाहिये। इनमें पहलेके अभावमें दूसरा उपाय करना चाहिये।

दाँतोंको न कटकटाये। अपने शरीरपर ताल न दे। दोनों सन्ध्याओंके समय अध्ययन, भोजन, शयनका त्याग करे। सन्ध्याकालमें मैथुन, रास्ते चलना भी मना है। बेटा! पूर्वाह्णकालमें देवताओंका, मध्याह्नकालमें मनुष्योंका (अतिथियोंका), अपराह्णकालमें पितरोंका भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये। सिरसे स्नान करके देवकार्य या पितृकार्यमें प्रवृत्त होना उचित है। पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके क्षौर कराये। उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेपर भी जो कन्या किसी अंगसे हीन, रोगिणी, विकृतरूपवाली, पीले रंगकी, अधिक बोलनेवाली तथा सबके द्वारा निन्दित हो, उसके साथ विवाह न करे। जो किसी अंगसे हीन न हो, जिसकी नासिका सुन्दर हो, जो सभी उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित हो, वैसी ही कन्याके साथ कल्याणकामी पुरुषको विवाह करना चाहिये। पुरुषको उचित है कि स्त्रीकी रक्षा करे। दिनमें शयन-मैथुन न करे। दूसरोंको कष्ट देनेवाला कार्य न करे, किसी जीवको पीड़ा न दे। रजस्वला स्त्री चार रातके लिये सभी वर्णोंके मनुष्यके लिये त्याज्य है।

बेटा! हजामत बनवाने, वमन होने, स्त्री-प्रसंग करने, श्मशानभूमिमें जानेपर वस्त्रसहित स्नान करे। देवता, वेद, द्विज, साधु, सच्चे महात्मा, गुरु, पतिव्रता, यज्ञकर्ता, तपस्वी—इनकी निन्दा तथा इनका परिहास न करे। अपनेसे श्रेष्ठ, अपनेसे नीचे व्यक्तियोंकी शय्या-आसनपर न बैठे। अमंगलमय वेश न धारण करे, मुखसे अमांगलिक वचन न बोले। स्वच्छ वस्त्र धारण करे, श्वेत पुष्पोंकी माला पहने। साधु, सदाचारी, विद्वान्, चुगली न करनेवाले, सामर्थ्यवान्, उद्योगी पुरुषोंसे मित्रता स्थापित करे। विद्वान् पुरुष वेद-विद्या एवं व्रतमें निष्णात पुरुषोंके साथ बैठे। मित्र, दीक्षाप्राप्त पुरुष, राजा, स्नातक, श्वशुर, ऋत्विक्—इन छः पूजनीय पुरुषोंका घर आनेपर पूजन करे।

दाहिने हाथमें अँगूठेके उत्तरकी ओर जो एक रेखा होती है, वह ब्राह्मतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है, उसीसे आचमन करना उचित है। तर्जनी और अँगूठेके बीचका भाग पितृतीर्थ कहलाता है। नान्दीमुख-पितरोंको छोड़कर अन्य सब पितरोंको उसी तीर्थसे जल आदि देना चाहिये। अँगुलियोंके अग्रभागमें देवतीर्थ है। उससे देवकार्य करनेका विधान है। कनिष्ठिकाके मूलभागमें कायतीर्थ है, जिससे प्रजापतिका कार्य किया जाता है।

विद्वान् पुरुष एक साथ जल और अग्नि न ले। गुरुजनों, देवताओंकी ओर पाँव न फैलाये। बछड़ेको दूध पिलाती हुई गायको न छेड़े। अंजलिसे पानी न पिये। शौचके समय विलम्ब न करे। मुखसे आग न फूँके। बेटा! जहाँ ऋण देनेवाला धनी, वैद्य, श्रोत्रिय ब्राह्मण, जलपूर्ण नदी—ये चार न हों, वहाँ निवास नहीं करना चाहिये। जहाँ

शत्रुविजयी, बलवान्, धर्मपरायण राजा हो, वहीं विद्वान् पुरुषको निवास करना चाहिये। दुष्ट राजाके राज्यमें सुख कहाँ? जहाँ दुर्धर्ष राजा, उपजाऊ भूमि, संयमी एवं न्यायशील पुरवासी एवं ईर्ष्या न करनेवाले लोग हों, वहींका निवास भविष्यमें सुखदायक होता है। जिस राष्ट्रमें किसान बहुत अधिक हों, पर वे अधिक भोगपरायण न हों, जहाँ सब तरहके अन्न पैदा होते हों, वहीं बुद्धिमान् पुरुषको निवास करना चाहिये। बेटा! जहाँ विजयका इच्छुक, पहलेका शत्रु तथा सदा उत्सव मनानेवाले लोग— ये तीन सदा रहते हों, वहाँ निवास न करे। विद्वान् पुरुषको ऐसे ही स्थानोंपर सदा निवास करना चाहिये, जहाँके सहवासी सुशील हों—

वसेन्नित्यं सुशीलेषु सहवासिषु पण्डितः।

(मार्क०पु० ३४।११८)

हे पुत्र! गृहस्थको चाहिये कि अपनी नित्यचर्यामें धनका धर्मानुसार उपार्जन करे और यत्नपूर्वक सत्कार्यमें, देवकार्यमें लगाये। जिस कर्मको करते समय अपने मनमें घृणा न हो और जिसे महापुरुषोंके सामने प्रकट करनेमें कोई संकोच न हो, ऐसा कर्म निःशंक होकर करना चाहिये। बेटा! ऐसे आचरणवाले गृहस्थ पुरुषको धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है तथा इस लोक और परलोकमें भी उसका कल्याण होता है—

एवमाचरतो वत्स पुरुषस्य गृहे सतः।
धर्मार्थकामसम्प्राप्त्या परत्रेह च शोभनम्॥

(मार्क०पु० ३५।५७)

माताके उपदेशसे बालक अलर्क धर्म, अर्थ और काम—तीनों शास्त्रोंमें प्रवीण बन गया। बड़े होनेपर माता-पिताने अलर्कको राजगद्दीपर बिठाया और स्वयं तपस्या करने वन चले गये।

माताका अन्तिम उपदेश—वनगमनसे पूर्व माता मदालसाने अपने पुत्रकी विषयभोगजनित आसक्तिको हटानेके लिये उसे प्रेमसे अपने पास बुलाया और उसे एक अँगूठी दिखाते हुए कहा—वत्स! सत्कर्मानुष्ठान करते हुए भी, सदाचारका परिपालन करते हुए भी यदि तुमपर कोई संकट आये तो इस अँगूठीको खोलना और इसके अन्दर रेशमी वस्त्रपर सूक्ष्माक्षरोंमें लिखे गये उपदेशको पढ़ना और तदनुसार आचरण करना, तुम्हारा कल्याण हो। ऐसा कहकर माताने वह अँगूठी अलर्कको दे दी।

अलर्कने भी माता-पिताकी संस्कारशिक्षाके अनुसार ही अपनी जीवनचर्या बनायी। गंगा-यमुनाके संगमपर अलर्कपुरी नामक अपनी राजधानी बनायी और वे न्यायपूर्वक प्रजापालनके कार्यमें लग गये। बहुत समय हो गया। अलर्कका मन राज्यकार्यमें ही लगा रहा, उनका मन भोगोंसे विरत न हो सका, राज्य भी शत्रुओंसे घिर गया। उस समय जब अलर्क बहुत दुःखी हुए तो उन्हें माताद्वारा दी गयी अँगूठीका स्मरण आया और उचित अवसर जानकर उन्होंने अँगूठी खोली तो उसके अन्दर रखे रेशमी वस्त्रमें निम्न सन्देश लिखा हुआ था—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मा हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

(मार्क०पु० ३७।२३-२४)

अर्थात् संग (आसक्ति)-का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग ही उसकी (आसक्ति-त्यागकी) औषधि है। कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये, परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मोक्षकी इच्छा)-के प्रति कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।

माताके इस उपदेशका अलर्कपर ऐसा अमोघ प्रभाव पड़ा कि उनमें मुमुक्षा जाग्रत् हो उठी, उन्होंने अवधूत भगवान् दत्तात्रेयकी शरण ली और वहाँ विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश पाकर वे महायोगी अलर्क सदाके लिये कृतार्थ हो गये।

इस प्रकार महासती माता मदालसाने अपने उपदेशोंसे अपने चारों पुत्रोंका उद्धार कर दिया। माताकी शिक्षा बालकोंके लिये कैसी होनी चाहिये, इसका यह चूडान्त निदर्शन है। आज माता मदालसा हमारे समक्ष नहीं हैं, किंतु उनके अमृतमय उपदेश आज भी अमर हैं, इन उपदेशोंका किंचित् भी पालन हम अपनी जीवनचर्यामें कर सकें तो फिर लोक और परलोक दोनों सुधर जायँगे।

भगवान् आदि शंकराचार्य और आध्यात्मिक जीवनचर्याका तत्त्व-रहस्य

'शङ्करः शङ्करः साक्षात्' अर्थात् भगवान् शंकर ही शंकराचार्यके रूपमें अवतरित हैं—यह देवी सरस्वतीकी उक्ति है। श्रीमदाद्य शंकराचार्यका चरित्र कौन नहीं जानता! आचार्यचरणका जिस समय आविर्भाव हुआ, उस समय भारतकी स्थिति ही विचित्र थी। सनातन धर्म प्रायः लुप्त हो चला था। वेदकी मर्यादा खण्डित हो चुकी थी। आचार्यने अपने प्रातिभ ज्ञान, तपोबल और पुरुषार्थसे थोड़ी ही आयुमें सनातन वेदधर्म तथा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी पुनः प्रतिष्ठा की और आध्यात्मिक जीवनचर्याका स्वरूप विश्वके समक्ष स्थापित किया। आचार्य शंकर दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न थे और साक्षात् बोधविग्रह थे। उन्होंने वैदिक सनातन आचार, धर्म-मर्यादा तथा शास्त्रीयचर्याको अपने जीवनमें उतारा और तप, संयम, धर्म-सेवन तथा सदाचारमय जीवन जीनेकी सीख दी। जैसी उनमें अद्वैत ज्ञानकी प्रतिष्ठा थी, वैसी ही थी उनकी भक्तिनिष्ठा। निर्गुण ब्रह्म और ज्ञानस्वरूपके निरूपणमें जहाँ वे स्वयं अद्वितीय ज्ञानके रूपमें प्रतिभासित होते दीखते हैं, वहीं सगुण रूपकी ऐकान्तिक उपासनामें वे देवशक्तियोंको प्रत्यक्ष देखते हुए-से प्रतीत होते हैं। उनमें उत्कट वैराग्य, अगाध भगवद्भक्ति और अद्भुत योगैश्वर्य आदि अनेक गुणोंका दुर्लभ सामंजस्य था। यही कारण है कि केवल ३२ वर्षकी आयुमें ही उन्होंने बड़े-बड़े अनेक ग्रन्थ रच डाले। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता, विष्णुसहस्रनाम आदिके भाष्य बड़े ही विलक्षण हैं। ऐसे ही सौन्दर्यलहरी, प्रपंचसार, विवेकचूडामणि, प्रबोधसुधाकर, उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह तथा आत्मबोध आदि ग्रन्थ बड़े ही उपयोगी तथा महत्त्वके हैं। देवताओंकी स्तुतिमें रचे गये उनके स्तोत्र तो भक्तिसाहित्यके लिये सिरमौर ही हैं। उन्होंने सारे भारतमें भ्रमणकर शास्त्रार्थमें सबको परास्तकर अद्वैतकी प्रतिष्ठा की, भारतके चारों कोनोंमें धर्म-संरक्षणके लिये चार मठोंकी स्थापना की और सर्वत्र वैदिक धर्मकी ध्वजा फहरायी।

इनके माता-पिताको प्रौढ़ावस्थामें भगवान् शंकरकी कृपासे पुत्ररूपमें इनकी प्राप्ति हुई, अतः बालकपर माता-पिताका बड़ा ही स्नेह था। उन्हींके नामपर ये शंकर नामसे प्रसिद्ध हुए और गुरुपदभाक् होनेसे आचार्य कहलाये। इन्होंने केवल ८ वर्षकी अवस्थामें ही समस्त वेद-वेदान्त एवं वेदांगोंको अधिगमकर सबको चमत्कृत कर डाला।

विद्याध्ययन समाप्तकर जब इन्होंने संन्यास लेना चाहा और माताकी आज्ञा चाही तो वात्सल्यस्नेहवश माताने मना कर दिया। इनमें तो वैराग्यकी प्रतिष्ठा हो गयी थी, फिर इनका मन संसारमें कैसे लगता? ये माताके बड़े ही भक्त थे, माताको कष्ट देकर संन्यास नहीं लेना चाहते थे, अतः ये बड़े ही धर्मसंकटमें पड़ गये। एक दिनकी बात है, माताके साथ ये स्नान करने नदीमें गये थे। वहाँ एक मगरने इन्हें पकड़ लिया। पुत्रको संकटमें देखकर माता रुदन करने लगीं। शंकरने मातासे कहा—'माँ! मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दो तो यह मगर मुझे छोड़ देगा।' माताका वात्सल्य उमड़ पड़ा। पुत्रके जीवनकी रक्षा हो जाय इससे बड़ा सुख माताके लिये और क्या हो सकता है, माताने आज्ञा दे दी। मगरने छोड़ दिया। फिर मातासे यह कहकर और यह वचन देकर वे संन्यासधर्ममें प्रवृत्त हो गये कि 'माँ! तुम्हारे अन्तिम समयमें मैं तुम्हारे पास रहूँगा।' शंकर अब आचार्य हो गये और धर्मरक्षणका अनुवर्तन चल पड़ा,

समय बीतता चला गया, जब ये शृंगेरीमें थे, उन्हें अनुभव हुआ कि माता मृत्युशय्यापर हैं और उनका स्मरण कर रही हैं। उन्हें माताको दिये वचनोंकी स्मृति हुई, फिर क्या था, वे शीघ्र ही अपने योगबलसे माँके पास पहुँच गये। माताके इच्छानुसार इन्होंने उन्हें विष्णुधाम प्राप्त कराया। माँकी अन्त्येष्टि-क्रियाकी बारी आयी तो इनका यह कहकर भारी विरोध हुआ कि 'संन्यासीका इस कृत्यमें अधिकार नहीं है', किंतु इन्होंने माताको दिये वचनकी सत्यताको सिद्ध किया और माताका संस्कार सम्पन्न किया। इनकी अनन्य मातृभक्ति जीवनमें सभीके लिये अनुकरणीय है।

एक संन्यासीमें किस प्रकारका तीव्र वैराग्य होना चाहिये; शम, दम, तितिक्षा और उपरतिका कैसे निर्वाह करना चाहिये; उसमें कैसी ज्ञाननिष्ठा होनी चाहिये तथा धर्मरक्षार्थ उसे क्या-क्या करना चाहिये—इसे जानना हो तो आचार्यचरणकी अध्यात्मपरकचर्याका अवलोकन करना चाहिये। ऋषिचर्याके वे आदर्श रूप हैं।

आचार्य बताते हैं कि संसारमें ये तीन चीजें अत्यन्त दुर्लभ हैं—पहला है—मनुष्ययोनिमें जन्म होना, दूसरा है—संसारबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा करना और तीसरा है—महान् पुरुषोंका संग—ये भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती हैं—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

(विवेकचूडामणि ३)

आचार्य शंकर ब्रह्मको ही सत्य बताते हुए उसकी प्राप्तिके साधनोंके विषयमें कहते हैं कि जो सदसद्विवेकी, वैराग्यवान्, शम-दमादि षट् सम्पत्तियुक्त और मुमुक्षु हो—उसीमें ब्रह्मजिज्ञासाकी योग्यता आती है। इसके लिये चार बातोंका होना आवश्यक है, पहला है नित्यानित्य-विवेक अर्थात् ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है—यह निश्चय, दूसरा है लौकिक एवं पारलौकिक सुख-भोगमें वैराग्य, तीसरा है—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान (बुद्धिको ब्रह्ममें स्थिर रखना)—यह षट्सम्पत्ति और चौथा है मुमुक्षुता। जिसमें वैराग्य और मुमुक्षत्व तीव्र होते हैं, उसीमें शम-दमादि चरितार्थ होते हैं—

वैराग्यं च मुमुक्षत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥

(विवेकचूडामणि ३०)

अपने एक उद्‌बोधनमें वे मुमुक्षुको लक्ष्यकर कहते हैं—यदि तुझे मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान दूरसे ही त्याग दे और संतोष, दया, क्षमा, सरलता, शम तथा दमका अमृतके समान नित्य आदरपूर्वक सेवन कर—

मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति
त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-
प्रशान्तदान्तीर्भज नित्यमादरात्॥

(विवेकचूडामणि ८४)

देह-गेहादिमें आसक्तिकी निन्दा करते हुए वे कहते हैं—देह, स्त्री और पुत्रादिमें मोहरूप महामृत्युको छोड़ दो, जिसको जीतकर मुनिजन भगवान्‌के उस परम पदको प्राप्त होते हैं—

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(विवेकचूडामणि ८८)

उन्होंने भक्तिको ही ज्ञानोत्पत्तिका प्रधान साधन माना है और भक्तिका लक्षण करते हुए वे कहते हैं कि अपने स्वरूपका अनुसन्धान करना ही भक्ति है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥

(विवेकचूडामणि ३८२)

प्रबोधसुधाकरमें तो उन्होंने यहाँतक बताया है कि भगवान्‌के चरणोंकी भक्तिके बिना चित्त शुद्ध हो ही नहीं सकता। भक्तिविषयक उनके निरूपणसे तो यही प्रतीत होता है कि आचार्य भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे और उनकी वनभोजन-लीलाका ध्यान किया करते थे। एक स्थलपर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके बालसुलभ स्वरूपका ध्यान करते हुए कहा है—जो अपने हाथमें दही-भात, मक्खन और मुरली लिये हुए हैं और अपने स्नेही सखाओंके साथ बालोचित क्रीड़ाएँ करते हैं, वे सजल जलधरके समान कान्तिवाले श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण सदा सेवन करनेयोग्य हैं—**'सदा सेव्यः कृष्णः सजलघननीलः करतले दधानो दध्यन्नं तदनु नवनीतं मुरलिकाम्।'''' स्निग्धैः सह शिशुविहारं विरचयन्॥'** (भगवन्मानसपूजा १०)

आध्यात्मिक जीवनचर्याका स्वरूप तथा उसके तत्त्वरहस्यके निरूपण करनेवाले उनके दो लघु ग्रन्थ विशेष महत्त्वके हैं। उनमें एक है प्रश्नोत्तरमणिरत्नमाला (प्रश्नोत्तरी)

और दूसरा है प्रश्नोत्तररत्नमालिका। यद्यपि ये परिमापमें लघु हैं, किंतु अर्थगौरव और उपयोगकी दृष्टिसे इनका महत्त्व बहुत अधिक है। इनके श्लोकोंका एक-एक वचन जीवनमें काममें लानेलायक है। शंकराचार्यजीने व्यवहार-सुधार तथा व्यवहारमें परमार्थको उतारनेके लिये इनमें बहुत-सी सुन्दर बातें बतायी हैं, जो न केवल प्रवृत्ति-मार्गीके लिये ही उपयोगी हैं, अपितु निवृत्तिमार्गीके लिये भी सतत ध्येय हैं। श्लोकोंमें आचार्य स्वयं प्रश्न करते हैं और स्वयं उसका समाधान भी देते हैं। ये श्लोक कण्ठ करनेयोग्य हैं।

प्रारम्भिक श्लोकमें ही उन्होंने प्रश्न किया है कि बन्धनमें पड़ा हुआ कौन है? स्वयं उत्तर देते हैं—जो विषयोंमें आसक्त है, वही बद्ध है। मुक्ति क्या है? विषयोंसे वैराग्य होना ही मुक्ति है—'**बद्धो हि को यो विषयानुरागी, का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः।**' (प्रश्नो० २) तात्पर्य यह है कि जीवनमें इन्द्रियोंके विषयोंमें अनुराग होना ही सबसे बड़ा बन्धन है और विषयोंसे वैराग्य होना ही मुक्ति है। इन्द्रियोंका निग्रह होनेपर वे अपनी मित्र हो जाती हैं और उनके वशमें होनेपर वे शत्रुका रूप धारण कर लेती हैं, अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपने दैनन्दिन-क्रिया-कलापोंमें अत्यन्त सावधानी बरते। तृष्णाकी निन्दा करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो तृष्णाको वशमें नहीं कर सकता, वह सदा दरिद्र रहता है और जिसे सब प्रकारसे सन्तोष है, वही वास्तवमें सच्चा श्रीमान् है, सम्पत्तिवान् है और धनवान् है। जीवनमें पुरुषार्थका विशेष महत्त्व बताते हुए वे कहते हैं, जो पुरुषार्थहीन अर्थात् निरुद्यम है, वह वास्तवमें जीते-जी मरा हुआ है और जो आशाओं (भोगों)-से रहित है, वह अमृत है अर्थात् उसका जीना ही वास्तविक जीना है, प्रश्नोत्तरशैलीमें वे कहते हैं—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः।
जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः
किं वामृतं स्यात्सुखदा निराशा॥

(प्रश्नो० ५)

जीवनमें व्यक्तिका सर्वोपरि आभूषण क्या है, इसके उत्तरमें आचार्यका कहना है कि शील—अर्थात् उत्तम चरित्र ही सर्वोपरि भूषण है—'**किं भूषणाद्भूषणमस्ति शीलम्**' (प्रश्नो० ८)। भोग-वासनाको दुःखका हेतु बताते हुए वे कहते हैं कि जो संसारके भोगमें आसक्त है, वह सदा दुःखी रहता है और जो अपनी जीवनचर्याको परोपकारमय बनाता है, वह धन्य है—'**दुःखी सदा को विषयानुरागी। धन्योऽस्तु को यस्तु परोपकारी॥**' (प्रश्नो० १३)

आचार्य बताते हैं कि जीवनमें देवता, गुरु, वृद्धजन तथा माता-पिता—ये सब उपासना करनेके योग्य हैं, पूजनीय हैं, इनकी उपेक्षा कभी भी नहीं करनी चाहिये—'**के के ह्युपास्या गुरुदेववृद्धाः॥**' (प्रश्नो० २३)

मनके निग्रहपर विशेष बल देते हुए वे बताते हैं कि मन ही सभी अनर्थोंका मूल है। अतः जीवनमें मनको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये, जिसने मनको जीत लिया, उसने सम्पूर्ण संसारको जीत लिया—

'**जितं जगत्केन मनो हि येन।**'

(प्रश्नो० ११)

उनका कहना है कि जो जीवनमें सत्य भाषण करता है तथा विनयी है, उसके वशमें संसारके सब प्राणी हो जाते हैं—'**कस्य वशे प्राणिगणः सत्यप्रियभाषिणो विनीतस्य।**' (प्र०रत्न०मा० २०) जो आँखोंसे रहित है, वह अन्धा नहीं, बल्कि अन्धा वह है जो आँख रहते हुए भी निन्दित कर्मोंको करता है। बधिर वह नहीं है, जिसको कानोंसे सुनायी नहीं देता, बल्कि बधिर वही है, जो हितकर बातको नहीं सुनता। वाणीसे गूँगा होना गूँगापन नहीं है, बल्कि गूँगा तो वही है, जो समयपर प्रिय वचन बोलना नहीं जानता—

कोऽन्धो योऽकार्यरतः को बधिरो यो हितानि न शृणोति।
को मूकः यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति॥

(प्र०रत्न०मा० २१)

आचार्य बताते हैं कि जीवनमें चार कल्याणकारी बातों (चतुर्भद्र)-का होना बड़ा दुर्लभ है। पहला है प्रिय वचनसहित दान, दूसरा है अहंकाररहित ज्ञान, तीसरा है क्षमायुक्त वीरता और चौथा है त्यागशक्तियुक्त दान—

दानं प्रियवाक्यसहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
वित्तं त्यागसमेतं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम्॥

(प्र०रत्न०मा० २५)

व्यक्तिको कहाँ निवास करना चाहिये और कहाँ रहनेसे कल्याणकी प्राप्ति होती है—इस सम्बन्धमें वे बताते हैं कि या तो जहाँ सज्जन पुरुष रहते हों, उनके समीप रहना चाहिये या फिर काशीमें रहना चाहिये—'**कुत्र विधेयो**

वास: सज्जननिकटेऽथवा काश्याम्।' (प्र०रत्न०मा० ३०) मनुष्यजन्म पाकर रात-दिन किसका चिन्तन करना चाहिये? इसके उत्तरमें वे कहते हैं कि केवल भगवान्‌के चरणारविन्दोंका ही निरन्तर स्मरण करना चाहिये, संसारका तनिक भी चिन्तन नहीं करना चाहिये—'**किमहर्निशमनुचिन्त्यं भगवच्चरणं न संसार:।**' (प्र०रत्न०मा० ३३) वस्तुत: संसारका चिन्तन संसारी बना देता है और भगवान्‌का चिन्तन उसे भगवद्धाममें पहुँचा देता है।

भगवान्‌का विशेष प्रियपात्र कौन बनता है? इस सन्दर्भमें वे कहते हैं कि जो व्यक्ति न तो स्वयं सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंसे उद्विग्न होता है अर्थात् समताकी स्थितिमें रहता है और न किसी दूसरेको उद्वेलित ही करता है, वह भगवान्‌का प्रिय बन जाता है—'**को हि भगवत्प्रिय: स्याद्योऽन्यं नोद्वेजयेदनुद्विग्न:।**' (प्र०रत्न०मा० ४२) विनयी व्यक्तिका सदा अभ्युदय होता है और जो अभिमानके मदमें सदा डूबा रहता है, उसका पतन होता है, इसी प्रकार जो सदा मिथ्याभाषण करता है, विश्वासके योग्य नहीं रह जाता।

को वर्धते विनीत: को वा हीयते यो दृप्त:।
को न प्रत्येतव्यो ब्रूते यश्चानृतं शश्वत्॥

(प्र०रत्न०मा० ६२)

आचार्य सदाचारकी महिमाका निरूपण करते हुए कहते हैं कि लोकमें कर्म तो सभी करते हैं, किंतु उसी व्यक्तिकी क्रिया सफल होती है, जो सदाचारवान् तथा शिष्ट हो, पुन: शिष्ट कौन है, इसके उत्तरमें वे कहते हैं कि जो वेदादि-शास्त्रोंको प्रमाण मानता है, वही शिष्ट है। इसके विपरीत जिसकी क्रिया भ्रष्ट है अर्थात् जो अविधि-पूर्वक कर्मोंको करता है, वह तो मरे हुएके समान है—

कस्य क्रिया हि सफला य: पुनराचारवाञ्शिष्ट:।
क: शिष्टो यो वेदप्रमाणवान्को हत: क्रियाभ्रष्ट:॥

(प्र०रत्न०मा० ५०)

वे आगे बताते हैं—मुक्ति किससे मिलती है? मुकुन्दभक्तिसे। मुकुन्द कौन है? जो अविद्यासे तार देता है। अविद्या क्या है? आत्माकी स्फूर्ति न होना—

मुक्तिं लभेत कस्मान्मुकुन्दभक्तेर्मुकुन्द: क:।
यस्तारयेदविद्यां का चाविद्या यदात्मनोऽस्फूर्ति:॥

(प्र०रत्न०मा० ५६)

शंकराचार्यजी माता, पिता और गुरुका स्वरूप क्या है, इसे निरूपित करते हुए प्रश्नोत्तरशैलीमें कहते हैं—प्रत्यक्ष देवता कौन है? माता। पूज्य और गुरु कौन है? पिता। सर्वदेवताका स्वरूप कौन है? विद्या एवं कर्मसे युक्त ब्राह्मण—

प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तात:।
क: सर्वदेवतात्मा विद्याकर्मान्वितो विप्र:॥

(प्र०रत्न०मा० ६२)

एक उद्‌बोधनमें वे कहते हैं कि धन, यौवन और आयु—ये विद्युत्‌की भाँति अत्यन्त चंचल हैं, नाशवान् हैं और इनकी सत्ता नहीं है—'**विद्युच्चलं किं धनयौवनायु:।**' (प्रश्नो० ३०) अत: इसे ठीक-ठीक समझकर प्राप्तधन, प्राप्तयौवन और प्राप्त-आयुका सदा सदुपयोग करना चाहिये और प्राण कण्ठगत हो जानेपर भी पापाचरणसे सदा दूर रहना चाहिये। जीवनमें वास्तविक कर्म वही है, जो भगवान् मुरारिको प्रिय हो—'**किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारे:**' (प्रश्नो० ३१)। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्रीतिकर सत्कर्मोंको ही करना चाहिये। यही उत्तम जीवनचर्याका तत्त्वरहस्य है।

इसी प्रकार 'उपदेशपंचक' में भी जीवनचर्याको सँवारनेवाली मूल्यवान् बातें बताते हुए वे कहते हैं—प्रतिदिन वेदादि सत्शास्त्र और रामायण, गीता आदि सद्‌ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो। वेदविहित शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करो और उन्हीं कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करो, सकाम कर्ममें मन न लगाओ, पवित्र कर्मोंद्वारा पापराशिको धो डालो, सांसारिक सुखमें दोषका विचार करो, आत्मज्ञानकी इच्छा दृढ़ करो और देह-गेहकी ममता त्यागकर परमार्थमार्गमें प्रवेश करो—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचिति: काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघ: परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात् तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥

(उप०पं० १)

आगे वे कहते हैं कि सत्-शास्त्र और सत्-पुरुषोंका ही संग करो तथा अपने हृदयमें भगवान्‌की सुदृढ़ पराभक्ति—प्रपत्तिका व्रत धारण करो—'**सङ्ग: सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयताम्**' (उप०पं० २)।

इस प्रकार आचार्यकी आध्यात्मिक जीवनचर्या और समस्त उपदेशोंमें यही शिक्षा प्रदान की गयी है कि ज्ञान

अधिगम हो जानेपर सारे विश्वके प्राणी अपनेसहित परमात्मामें दिखते हैं। ऐसी दृष्टि होनेपर सारे रोग, शोक, दोष, दुःख, व्याधियाँ सदाके लिये समाप्त हो जाती हैं और साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदाके लिये सर्वत्र दीखने लगते हैं—प्राप्त हो जाते हैं और फिर **'नाहं न त्वं नो जगत्'** को भूलकर केवल एक ज्ञानानन्द-परमानन्द अखण्ड ज्ञानस्वरूप परमात्माका ही भान होने लगता है, यही आचार्यकी भैक्ष्यचर्याका सारसर्वस्व है। इसीमें जीवनकी कृतकृत्यता है।

आज उनके उपदेशोंके अनुसार अपनी जीवनचर्याको सुधारनेकी आवश्यकता है, तभी सच्ची सुख शान्ति प्राप्त हो सकती है, कल्याणका दूसरा और कोई उपाय नहीं है—**'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'**

रामानुज सम्प्रदायमें जीवनचर्याके सिद्धान्त

रामानुज सम्प्रदायका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस मतके प्राचीन आचार्योंमें श्रीकण्ठका नाम लिया जाता है। आगे चलकर श्रीयामुनाचार्य, श्रीनाथमुनि तथा श्रीरामानुजाचार्यके द्वारा इस मतका विस्तार हुआ। श्रीयामुनाचार्य श्रीरामानुजाचार्यके परम गुरु थे। श्रीरामानुजाचार्यने इस मतका इतना अधिक प्रचार किया कि विशिष्टाद्वैत मत श्रीरामानुज मतके नामसे प्रसिद्ध हो गया। श्रीरामानुजजीका आविर्भाव १०७४ वि० सं० में दक्षिण भारतमें हुआ। उन्होंने कांची आकर श्रीयादवप्रकाशसे वेदान्तका अध्ययन किया, बादमें उन्होंने ब्रह्मसूत्रपर श्रीभाष्य नामक ग्रन्थका प्रणयन किया। आचार्यने अपने मतकी पुष्टिमें श्रीभाष्यके अतिरिक्त वेदान्तसंग्रह, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, गीताभाष्य, गद्यत्रय आदि अनेक प्रौढ़ ग्रन्थोंकी रचना की।

श्रीरामानुज मतके अनुसार स्थूल-सूक्ष्म, चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। अनन्त जीव और जगत् उन्हींका शरीर है। वही उस शरीरके आत्मा हैं। आचार्यके अनुसार अपौरुषेय और नित्य वेदवाक्य ही प्रमाण हैं। अविद्याकी निवृत्ति ही प्रयोजन है। जीवको अज्ञान है। उपासनाद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर अज्ञान दूर हो जाता है। मुक्त जीव ईश्वरके दासके रूपमें स्थित रहता है। वह ईश्वरकी नित्यलीलामें अपार आनन्दका भोग करता है।

श्रीरामानुजके मतानुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष है, ब्रह्मकी शक्ति माया है। ब्रह्म अशेष कल्याणकारी गुणोंके आलय हैं। वे गुणोंमें अद्वितीय हैं, नारायण विष्णु ही सबके अधीश्वर हैं। जगत् जड़ है, जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्तकारण हैं, ब्रह्म ही जगत् रूपमें परिणत हुए हैं, फिर भी वे ब्रह्म और जीव दोनों चेतन हैं। ब्रह्म ईश्वर है जीव दास है, जीव कार्य है ईश्वर कारण है। भगवान्‌का दासत्व ही मुक्ति है। श्री, भू लीलादेवियोंके साथ नारायणकी सेवा करना ही परम पुरुषार्थ है और यही जीवनचर्याका लक्ष्य भी है। उपासनात्मक भक्ति ही मुक्तिका श्रेष्ठ साधन है। मुक्तिका उपाय भक्ति है। इस मतके अनुसार दैनिकचर्यामें सदा प्रपत्ति ग्रहण करना ही जीवका मुख्य कर्तव्य है। न्यासविद्या ही प्रपत्ति है, आनुकूल्यका संकल्प तथा प्रातिकूल्यका वर्जन ही जीवका मुख्य ध्येय है। जीवको वही कार्य करना चाहिये जो नारायणके अनुकूल हो, जिससे प्रभुको प्रसन्नता होती हो, नारायणकी रुचिके प्रतिकूल कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण हो जाना ही प्रपत्तिका लक्षण है। प्रभुके चरणोंकी सर्वांशमें शरण-ग्रहण करना ही आत्मसमर्पण है। सभी सांसारिक विषयोंका परित्याग करके

अपने आचार-विचारका परिपालन करते हुए भगवान्‌के शरणागत हो जाना ही जीवनका साफल्य है। भगवान्‌के शरण हुए बिना किसी प्रकार कल्याण होना सम्भव नहीं है। श्रीरामानुजजीने गद्यत्रयमें दीनता, दासता तथा शरणागतिका ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप सामने रखा है, जो अन्यत्र दुर्लभ है, इस सम्प्रदायमें शरणागति, दास्यभाव और भगवत्कैंकर्यकी विशेष महिमा है। आठों याम भगवान्‌की सेवा-पूजा करना नित्यचर्या है। एक प्रार्थनामें आचार्य कहते हैं—

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

हे प्रभो! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, सब रत्न, धन-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अक्षरसहित सम्पूर्ण कामनाओंका त्यागकर समस्त ब्रह्माण्डको आक्रान्त करनेवाले आपके दोनों चरणोंकी शरणमें आया हूँ।

रामानुजीय जीवनचर्याके सिद्धान्तोंका सार यह है कि भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही प्रत्येक शरीरमें साक्षीरूपमें विद्यमान् हैं, वे जगत्‌के नियन्ता, शेषी (अवयवी) एवं स्वामी हैं और जीव उनका नियम्य, शेष तथा सेवक है। अपने व्यष्टि अहंकारको सर्वथा मिटाकर भगवान्‌की सर्वतोभावेन शरणग्रहण करना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। भगवान् नारायण ही सत् हैं, उनकी शक्ति महालक्ष्मी चित् हैं और यह जगत् उनके आनन्दका विलास है, रज्जुमें सर्पकी भाँति असत् नहीं है। भगवान् अपनी चित्-शक्तिके द्वारा संसारमें अवताररूपमें प्रकट होते हैं। भगवान् लक्ष्मी-नारायण जगत्‌के माता-पिता हैं और जीव उनकी सन्तान है। माता-पिताका प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त करना ही सन्तानका धर्म और उसकी जीवनचर्या है। नित्य-निरन्तर भगवान् नारायणके नामका उच्चारण और मन-वाणी-शरीरसे उनकी सेवा ही जीवकी दैनिक चर्या है।

श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें जीवनचर्याके सूत्र

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥

भारतवर्षमें अनेक सन्त, महन्त, आचार्य, ज्ञानी एवं भक्त समय-समयपर प्रकट हुए हैं। उन्होंने अपने ज्ञान, वैराग्य, भक्तिसे समग्र समाजको प्रभावित किया है। उन्हीं परमादरणीय आचार्योंमें श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी भी एक हैं। उनकी जीवनयात्राका दर्शन, स्मरण करनेका एक नम्र प्रयास प्रस्तुत है—

श्रीवल्लभके पूर्वज दक्षिण भारतके आन्ध्रप्रदेशमें कृष्णानदीके तटपर बसे हुए काँकरवाड नामक ग्राममें निवास करते थे। उनके पिताजीका नाम श्रीलक्ष्मणभट्ट एवं माताका नाम श्रीइलम्मागारु था। वे कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय-शाखाध्यायी तैलंग ब्राह्मण थे। उनके पूर्वजोंने वैदिक दीक्षा प्राप्त की थी, अतः वह कुल दीक्षित कहलाता था।

श्रीवल्लभके पूर्वज बालगोपालकी भक्ति करते थे। उनके कुलमें परम्पराप्राप्त सोमयागका आयोजन होता था। ऐसे ३२ सोमयाग पूरे हुए तब यज्ञकुण्डमेंसे दिव्य वाणी प्रकट हुई कि जब १०० सोमयाग पूर्ण होंगे तब आपके कुलमें साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम प्रकट होंगे। श्रीलक्ष्मणभट्टजीके समयमें १०० सोमयाग सम्पन्न हुए।

एक समय श्रीलक्ष्मणभट्ट अपनी धर्मपत्नीके साथ काशीकी यात्रा पूर्ण करके वापस लौट रहे थे। तब चम्पारण्य (मध्यप्रदेश)-में विक्रम संवत् १५३५ के वैशाख कृष्ण एकादशी शनिवारको श्रीवल्लभका प्राकट्य हुआ। तेजस्वी बालकके प्राकट्यसे माता-पिता परम प्रसन्न हुए।

ब्राह्मणों, भिक्षुकोंको दान दिया गया।

पाँच वर्षकी वयसे श्रीवल्लभने पिताजीके पास विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। षष्ठ वर्षमें उन्हें पिताजीने श्रीगोपालमन्त्रसहित विष्णुस्वामी सम्प्रदायकी दीक्षा प्रदान की। कुछ समय माधवेन्द्र यतिकी पाठशालामें अध्ययन किया। विद्याभ्यासमें आप बहुत ही तेजस्वी थे। आपकी दिव्य मेधा एव प्रतिभाके समक्ष गुरुजन भी अवाक् रह जाते थे। अत: अध्यापकगण इन्हें बालसरस्वती कहा करते थे। बालक वल्लभकी शिशुक्रीडाएँ भी अनेक चमत्कारोंसे भरपूर थीं। दक्षिणके विजयनगरमें श्रीवल्लभका मातुलगृह था। वहाँपर रहकर इन्होंने दार्शनिक ग्रन्थोंका अध्ययन किया। आपकी अवस्था जब षोडश वर्षकी हुई तब पिताजी लक्ष्मणभट्टका वैकुण्ठवास हो गया।

पिताकी उत्तर क्रिया पूरी करके वे अपनी माताजीके साथ जगन्नाथपुरी आये। वहाँ कुछ समय ठहरे। कुछ समयसे वहाँ विद्वानोंमें विवाद चल रहा था कि कौन-सा शास्त्र, वेद, मन्त्र एवं कर्म सर्वश्रेष्ठ है। श्रीवल्लभने प्रस्ताव रखा कि श्रीजगन्नाथप्रभु जिसे सम्मति दें, वही मान्य है। उन्होंने पत्रमें एक श्लोक लिखकर पुजारियोंद्वारा प्रभुके सम्मुख रखा और मन्दिरके कपाट बन्द करवाये। प्रभु श्रीजगन्नाथजीने श्रीवल्लभके मन्तव्यको स्वीकार किया एवं पण्डितोंने उनका जयघोष किया। वह श्लोक निम्नलिखित है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

अर्थात् शास्त्र एक गीता ही है, जिसको कि देवकीनन्दन श्रीकृष्णने गाया। देव भी एक देवकीसुत कृष्ण ही हैं, मन्त्र भी बस उनके नाम ही हैं और कर्म भी केवल उनकी सेवा ही है।

जगन्नाथपुरीमें श्रीवल्लभको दो अनुयायी मिले। दामोदरदास हरसानी एवं कृष्णदास मेघन। उन दोनोंको साथ लेकर वे तीर्थाटनके लिये निकले।

एक समयपर विजयनगरमें महाराज कृष्णदेवरायकी धर्मसभामें बड़ा शास्त्रार्थ हुआ। पण्डितगण दो यूथमें विभाजित हो गये थे। यह समाचार जानकर श्रीवल्लभ अपने अनुयायियोंके साथ वहाँ पधारे। पण्डितों एवं विविध मतावलम्बियोंके साथ २७ दिनतक शास्त्रचर्चा चली। श्रीवल्लभने मायावादका खण्डन करके शुद्धाद्वैतब्रह्मवादकी स्थापना की।

श्रीवल्लभकी विजयसे प्रसन्न होकर राजाने उनका भक्तिभावपूर्वक सविधि पूजन किया एवं कनकाभिषेक किया। स्वयं परिवारसमेत पुष्टि वैष्णवधर्मके अनुयायी हुए। उपस्थित पण्डितों एवं मठाधीशोंने उन्हें आचार्यकी उपाधि ससम्मान प्रदान की। श्रीवल्लभने कनकाभिषेकका सारा सुवर्ण स्नानजलवत् समझकर ब्राह्मणोंको दान कर दिया।

अपनी पूज्या माताजीकी इच्छासे एवं पण्ढरपुरके भगवान् श्रीविठोबाके निर्देशसे श्रीवल्लभने ३० वर्षकी आयुमें काशीस्थित श्रीदेवेनभट्टकी सुपुत्री श्रीमहालक्ष्मीजीके साथ लग्न किया।

श्रीवल्लभाचार्यजीने तीन बार खुले पैरोंसे समग्र भारतवर्षकी परिक्रमा अपने अनुयायियोंके साथ की थी। उस समय सभी श्रद्धालु पुरुष-स्त्री उनका उपदेशामृत श्रवण करनेको एकत्रित होते थे।

कतिपय पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने आते थे और पराजित होकर अनुयायी बन जाते थे। उन्होंने देशके विभिन्न ८४ स्थानोंमें श्रीमद्भागवतसप्ताहका पारायण किया। जो प्राय: सभी तीर्थस्थान थे। आज वे स्थान ८४ बैठकजीके रूपमें सुप्रसिद्ध हैं। पुष्टिमार्गीय वैष्णव बड़ी श्रद्धाके साथ इन स्थानोंका दर्शन, झारी भरना, चरणस्पर्श आदि करते हैं।

पवित्र व्रजभूमिमें श्रीवल्लभ पधारे तब उन्होंने लोगोंके मुखसे सुना कि एक गाँवमें प्रभुकी भुजाका प्राकट्य हुआ है। श्रीवल्लभ वहाँ पधारे और प्रभु श्रीनाथजीके श्रीविग्रहको प्रकट किया एवं श्रीगोवर्धन पर्वतपर स्थापित किया। प्रभुकी सेवा-पूजाका क्रम निर्धारित किया। बादमें उनके प्रतापी पुत्र श्रीविट्ठलनाथ गुँसाईंजीने प्रभुकी सेवामें राग, भोग, शृंगार, कीर्तन इत्यादिका सुन्दर विस्तार किया। अधुना श्रीनाथजी प्रभु राजस्थानके मेवाड़ प्रदेशमें श्रीनाथद्वारामें विराजते हैं। श्रीवल्लभ-विट्ठलजीके समीप श्रीनाथ प्रभु प्रत्यक्ष बालसुलभ लीलाएँ करते थे।

श्रीवल्लभको संसारके अज्ञानी, मायासंलग्न जीवोंके उद्धारकी बहुत चिन्ता रहती थी। एक समय श्रावण शुक्ला

एकादशी गुरुवारको वे यमुनाजीके तटपर गोविन्दघाटपर विश्राम कर रहे थे। तब मध्यरात्रिमें उनके समक्ष प्रभु श्रीकृष्ण रासविहारी गोकुलचन्द्रमाजीके रूपमें प्रकट हुए। आचार्यजीने प्रभुके दर्शन करके सूतका पवित्रा (माला) प्रभुको समर्पित किया। श्रीमधुराष्टकद्वारा प्रभुकी स्तुति की। श्रीकृष्ण प्रभुने आज्ञा की आप ब्रह्मसम्बन्धद्वारा दैवी जीवोंको दीक्षा दीजिये एवं शरणमें लीजिये—

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि ....॥

(सिद्धान्तरहस्यम् श्लोक १-२)

यह एकादशी आज भी पुष्टिसम्प्रदायमें पवित्रा एकादशीके रूपमें विशिष्ट माहात्म्य रखती है। उस दिन सभी वैष्णव श्रीठाकुरजीको रंग-बिरंगे पवित्रा धारण करवाते हैं।

दूसरे दिन श्रीवल्लभाचार्यजीने दामोदरदास हरसानीको विधिवत् ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी। तत्पश्चात् अनेक नर-नारी आचार्यजीके शरणमें आये एवं दीक्षा ग्रहण की। इनमें ८४ वैष्णव मुख्य हैं। ब्रह्मसम्बन्धी मन्त्रका सार यही है कि 'मैं हजारों वर्षोंसे श्रीकृष्णसे बिछुड़ गया हूँ, उनके विरह-तापसे क्लेश, आनन्द तिरोहित हो गया है। गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णको देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण एवं उनके धर्म, स्त्री, गृह, पुत्र एवं स्वयंको समर्पित करता हूँ। हे प्रभु श्रीकृष्ण! मैं आपका दास हूँ।' यह दीक्षामन्त्रद्वारा प्रभुको सर्वसमर्पणका भाव है। वैसे श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' इस अष्टाक्षरमन्त्रका भी सविशेष माहात्म्य है।

व्रजभाषाके विख्यात महाकवि श्रीसूरदासजी, कुम्भनदासजी, परमानन्ददासजी एवं श्रीकृष्णदासजी श्रीवल्लभके शिष्य थे। इन कवियोंने आचार्यजीकी आज्ञासे भगवल्लीलाके अनेक पदोंकी रचना की एवं उन्हें श्रीनाथजीकी प्रातःसे शयनतककी सेवामें समर्पित किया। अद्यापि हवेलीमन्दिरमें प्रभुके सम्मुख समय, ऋतु, उत्सव आदिके अनुसार ये कीर्तन गाये जाते हैं। इन महानुभावोंको प्रभु श्रीकृष्णकी लीलाका स्वयं अनुभव होता था।

श्रीआचार्यजीका सम्प्रदायमें महाप्रभुजीके अभिधानसे भी उल्लेख किया जाता है। उन्होंने लघु, बृहत् अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है, जिनमें गायत्रीभाष्य, पूर्वमीमांसाभाष्य, पूर्वमीमांसाकारिका, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, श्रीमद्भागवतपर सुबोधिनीजी टीका, ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य, षोडश ग्रन्थ, पत्रावलम्बन, विविध स्तोत्र आदि मुख्य हैं। श्रीमहाप्रभुजी जब काशीमें निवास करते थे तब अनेक विद्वान् उनसे विचार करने आते थे। उन सबके समाधानके लिये आचार्यजीने पत्रावलम्बन ग्रन्थ लिखकर श्रीकाशीविश्वनाथ-मन्दिरमें रखा था। जिसपर शिवजीने स्वयं सम्मति प्रदान की थी। श्रीवल्लभका वाङ्मय अत्यन्त विशाल है, किंतु सम्पूर्णरूपसे प्राप्य नहीं है। प्राप्त साहित्यसे आपका प्रचण्ड पाण्डित्य, विशदतापूर्ण प्रौढ शैली, सर्वग्राही निरीक्षण एवं गहन चिन्तनके दर्शन होते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी पुष्टिमार्गके प्रवर्तक हैं। उनका परिवार प्रायः प्रयागतीर्थके समीप अडेल ग्राममें निवास करता था। आपके यहाँ दो पुत्र प्रकट हुए— श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीविट्ठलनाथजी।

श्रीविट्ठलनाथजीको गुँसाईंजी भी कहते हैं। जो श्रीविठोबाके अवतार भी माने जाते हैं। श्रीगुँसाईंजीके यहाँ सात लाल प्रकट हुए। इन सबको एक-एक गृहका अधिपति बनाया गया एवं एक-एक भगवत्स्वरूपकी सेवा सौंपी गयी। जो आज सात गृह एवं सात स्वरूपके रूपमें माने जाते हैं। वे विभिन्न स्थानोंपर विराजते हैं, जहाँ पुष्टिसम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार सेवा होती है। वैष्णव परिवार इन स्वरूपोंके प्रति अमूल्य श्रद्धा एवं आस्था रखता है। वे निधिस्वरूप माने जाते हैं। अपने सेव्य प्रभुको आरती, स्नान, भोग, वस्त्रालंकार, पुष्पमाला, कीर्तन, विविध उत्सव आदिसे रिझाया जाता है। सम्प्रदायमें बालभाव एवं गोपीभावसे प्रभुकी सेवा होती है। श्रीमहाप्रभुजीने तनु-वित्तजा एवं मानसी सेवाको महत्त्व दिया है। तनु-वित्तजासे मानसी सेवा सिद्ध होती है। प्रेमलक्षणा भक्ति पुष्टिसम्प्रदायका हृदय है।

सेवाके अनवसरमें श्रीमद्भागवत, वैष्णवोंकी वार्ता, षोडशग्रन्थ, वचनामृत आदि ग्रन्थोंका स्वाध्याय होता है। प्रसंगोचित अष्टसखाओंके कीर्तनोंका भी सविशेष महत्त्व है।

वेद, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भागवत यह प्रस्थानचतुष्टय पुष्टिमार्गमें मान्य है। पुष्टि अर्थात् भगवदनुग्रह, प्रभुकी कृपा। निःसाधन जीव भगवत्कृपासे लीलारसका अनुभव प्राप्त करता है। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे पुष्टिमार्गमें

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद स्वीकार्य है। श्रीवल्लभ विवर्तवादके स्थानपर अव्याकृत परिणामवाद स्वीकारते हैं। उनके अनुसार—

(१) ब्रह्म सत्य है, जगत् भी सत्य है, किंतु उसमें स्थित अहंता-ममतामूलक दृष्टि मिथ्या है।

(२) अन्याश्रय त्याग अर्थात् इष्ट प्रभु श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीका आश्रय नहीं करना चाहिये।

(३) असमर्पित त्याग अर्थात् अपने सेव्य श्रीठाकुरजी-को समर्पित किये बिना कुछ भी खाना-पीना नहीं चाहिये।

(४) भगवन्मार्गसे विचलित होनेपर कालप्रवाहमें बह जाना है।

(५) देह, सम्पत्ति, परिवार आदिका प्रभुसेवार्थ विनियोग करना चाहिये।

(६) श्रीठाकुरजीसे कुछ याचना नहीं करनी चाहिये, रोना-गिड़गिड़ाना नहीं, प्रभुकी मधुर लीलाका मंगलगान करना चाहिये।

ऐसे महान् वैष्णवाचार्य श्रीवल्लभने विक्रम संवत् १५८७ की आषाढ़ शुक्ल द्वितीया, रथयात्राके दिन काशीमें श्रीहनुमानघाटपर गंगाजीके प्रवाहमें स्थिर रहकर अपने तेज:पुंजको परमज्योतिके साथ सम्मिलित कर दिया।

अज्ञानी, नि:साधन जनोंके उद्धारकके रूपमें श्रीमहाप्रभुजीकी कीर्तिगाथा सदैव अक्षुण्ण रहेगी। वैष्णवसृष्टिमें श्रीवल्लभ विभुवदनावतार, वैश्वानरावतार एवं कृष्णावतार वस्तुतस्तु कृष्णके ही स्वरूपमें प्रतिष्ठित हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजीकी शुद्धाद्वैत परम्परा उनके सुपुत्र श्रीविट्ठलनाथ गुँसाईजी उनके सात पुत्र एवं उनके वंशज गोस्वामी परिवारद्वारा सात पीठोंके माध्यमसे, ८४ बैठकजीके माध्यमसे एवं समग्र भारतके हवेली मन्दिरोंद्वारा सुचारु रूपसे अविरल बहती रही है। व्रजजनोंकी सेवारीति भी अखण्ड प्रवाहित होती हुई वैष्णवहृदयोंको आनन्दित करती रही है।

श्रीवल्लभाचार्यजीके अगाध ज्ञानराशिका सम्पूर्ण अवगाहन करना अशक्य है, हम तो उन्हें सादर प्रणामकर विनती करते हैं—

श्रीवल्लभयशोगाथां गातुं को शक्नुयाज्जनः।
प्रणम्य शिरसा पादौ कृपां याचे शुभात्मिकाम्॥

महानुभाव श्रीसूरदासजीने अपने अन्तिम समयमें श्रीवल्लभकी शरणागतिमें निम्न प्रसिद्ध पद रचा था—

दृढ़ इन चरनन केरो, भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभनख चन्द्र छटा बिनु, सब जग माँझ अन्धेरो॥
भरोसो..............
साधन और नहीं या कलिमें, जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहे द्विविध आँधरो बिना मोल को चेरो॥
भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।

[श्रीशास्त्री जयन्तीलालजी त्रि० जोषी]

श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें जीवनचर्या
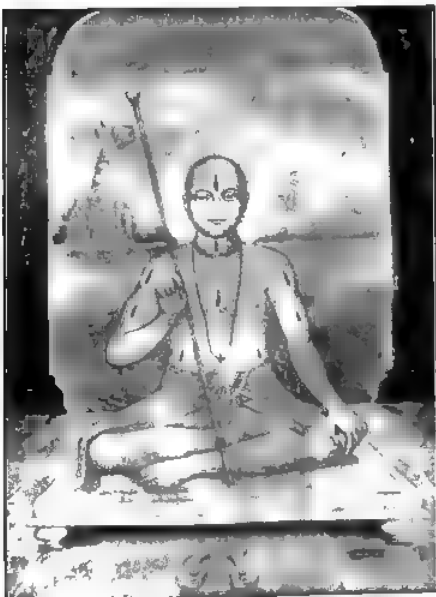
वैदिक सनातनधर्मकी परम्पराओंमें वैष्णवीय श्रीरामा-नन्दसम्प्रदाय अपनी उदारता एवं भगवत्कैंकर्यनिष्ठाके लिये परम विश्रुत है। वैष्णवधर्मके समग्र सिद्धान्तोंका प्रगाढ़तापूर्वक ग्रहण इस सम्प्रदायकी महती विशिष्टता है। वैष्णवधर्मके सिद्धान्तोंकी छायामें सम्प्रदायके आचार्योंने वेदविहित कर्मोंके आचरणकी अपरिहार्यता अपने-अपने ग्रन्थोंमें स्थापित की है। सम्प्रदायाचार्योंका वह दृढ़ आदेश श्रुतिमूलक है, जिसमें यह विवेचन किया गया है कि जीवनमें प्रत्येक क्षण धर्मका आचरण करना ही भगवान्‌की प्रसन्नताका मुख्य कारण है। मानवजातिको परमप्रभु श्रीरघुनाथजीकी परमकृपासे सहज ही प्राप्त भगवान् वेद स्मृतियों, पुराणों तथा इतिहासके साथ जीवनमें सतत

सदाचरण करनेहेतु प्रेरित करते हैं। परमपुरुषार्थ निःश्रेयस मोक्षकी प्राप्तिमें जीवनचर्याका महत्त्व प्रमुख है। भगवती श्रुति कहती हैं—**शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्।** (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२३) अर्थात् आभ्यन्तरेन्द्रियों तथा बाह्येन्द्रियोंका पूर्णतः निरोध करके ध्यान करते समय उत्पन्न श्रमको सहन करते हुए विषयोंसे विरक्त होकर एकाग्रचित्तसे आत्माको परमात्माके शरीररूपमें देखना चाहिये। आत्मदर्शनका बारंबार प्रयास करनेसे मनुष्य सत्कर्मोंके आचरणकी ओर अग्रसर होता है।

श्रीरामभक्तिभागीरथीके महान् प्रवाहक जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने ग्रन्थ वैष्णवमताब्जभास्करमें इस बातको स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित किया है, जिसमें कहा गया है कि पंचसंस्कारसम्पन्न वैष्णवजन प्रतिक्षण परमात्मा श्रीरामजीका मंगलमय ध्यान अविच्छिन्नरूपसे करें—

एवं महान्भागवतः सुसंस्कृतो
रामस्य भक्तिं च परां प्रकुर्यात्।
महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः
श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य ॥

(वैष्णवमताब्जभास्कर ६३)

पंचसंस्कारोंसे सुसंस्कृत महान् वैष्णव सर्वश्रेष्ठ महानीलमणिवत् श्यामल, कृपासागर श्रीजानकीजी एवं श्रीलक्ष्मणजीसहित परमप्रभु श्रीरघुनाथजीकी (तैलधारा-वदविच्छिन्न स्मृतिसन्तानरूपा) भक्ति करें। श्रीरघुनाथजीमें भक्ति होनेके पूर्ववृत्त जो साधन हैं, वे कर्मयोगजनित तथा निष्ठापूर्वक किये गये सत्कर्म हैं। ये सत्कर्म जीवद्वारा जब अनेक बार सम्पन्न होते हैं, तभी उस जीवमें ज्ञानस्वरूपा भक्तिका उदय होता है। श्रीवेदान्तमहादेशिकने 'न्यायसिद्धाञ्जनम्' में '**महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः**' अर्थात् महान् विषयमें की गयी प्रीतिको भक्ति कहा है। महनीय विषय तो परमात्मा श्रीरामजीके अतिरिक्त कोई हो ही नहीं सकता। विशिष्टाद्वैतवेदान्तके आचार्योंने भक्तिका उदय श्रेष्ठ एवं तपःपूर्वक किये गये शुद्धाचरणसे माना है और यही शास्त्रानुमोदित आचरण ही जीवनचर्या कहा जाता है।

वाक्यकार भगवान् श्रीबोधायनने विवेकादि सप्त साधनोंके पालनसे जीवनमें ध्रुवानुस्मृति (भक्ति)-की उत्पत्ति बतायी है। ये सप्तसाधन ही मुख्यरूपसे सम्प्रदायके प्रत्येक भक्त-वैष्णवकी जीवनचर्या है। बोधायनवृत्तिमें ये सप्तसाधन निम्न हैं—'**तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रिया-कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्च।**' विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष—इन सात साधनोंसे मनःशुद्धिके अनन्तर जीवमें भक्तिके संस्कार उत्पन्न होते हैं। जो अन्न दुष्टजाति, दुष्ट-आश्रय और दुष्टनिमित्तक नहीं है, उससे शरीरका संशोधन करना 'विवेक' है। 'विमोक' कामके अनभिष्वंगको कहते हैं। शुभाश्रयके लिये बारम्बार अनुशीलन करनेको 'अभ्यास' कहते हैं। पंचमहायज्ञादिके अनुष्ठानको 'क्रिया' कहते हैं। सत्य, आर्जव, दया, दान और अहिंसाका परिपालन करना 'कल्याण' है। शोक और दीनतासे रहित प्रकाशयुक्त मनको 'अनवसाद' कहते हैं। देश-कालकी विषमता एवं शोकप्रद वस्तुकी प्राप्तिके बाद भी प्रसन्न रहना ही 'अनुद्धर्ष' है। भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर भगवत्सायुज्य-प्राप्तिपर्यन्त—इन सप्तसाधनोंका दृढ़तापूर्वक पालन आचार्योंद्वारा सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें भूरिशः आदेशित है।

श्रीरामानन्दसम्प्रदायके वैष्णवोंकी जीवनचर्यामें प्रातःजागरणसे रात्रिशयनतक जो चर्या है, उनमें इन सभी साधनोंका परिपालन अपरिहार्य है। सम्प्रदायमें विरक्त एवं गृहस्थ वैष्णवोंके लिये सतत ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक एवं श्रीतुलसीजीकी युगलमालाको धारण करना आवश्यक है। आर्ष एवं सम्प्रदायके ग्रन्थों तथा संतवचनोंका स्वाध्याय भी भगवत्प्रीतिहेतु कारणरूपसे शास्त्रोंमें उपदिष्ट हुआ है। सदा भगवन्मय रहना ही जीवनका परमोद्देश्य है। पुराणोंमें वर्णित भगवदपराधों और भागवतापराधोंसे अपने-आपको बचाते हुए पूर्ण वैराग्यके साथ शास्त्रानुशीलन करते हुए सदैव श्रीसीतारामनाम-जप करना ही सम्प्रदायके वैष्णवोंकी मुख्य दैनिकचर्या एवं जीवनचर्या है।

जगत्पते श्रीश जगन्निवास
प्रभो जगत्कारण रामचन्द्र।
नमो नमः कारुणिकाय ते सदा
पदाब्जयुग्मे तव भक्तिरस्तु मे॥

इत्यादि मन्त्रोंके माध्यमसे स्वदैन्यभावको प्रकट करते हुए श्रीभगवच्छरणागतिको प्राप्त करना ही जीवनका परमोद्देश्य तथा जीवनचर्याका मूल है।

[शास्त्री श्रीकोसलेन्द्रदासजी 'विशिष्टाद्वैतवेदान्ताचार्य']

श्रीचैतन्य महाप्रभुद्वारा उपदेशित वैष्णवोंकी जीवनचर्या

कलियुग-पावनावतार श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु श्रीश्रीराधा-कृष्णके मिलित विग्रह हैं। आप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और श्रीराधा-प्रेमका आस्वादन करनेहेतु इस पृथ्वीतलपर अवतार ग्रहण करते हैं।

आप स्वयं कृष्णरूपमें श्रीराधाके भावको अंगीकार करके श्रीराधाके आनन्दका आस्वादन करते हैं। इस आस्वादनके साथ-साथ आपने कलिहत जीवोंको जो एक महावदान प्रदान किया—वह है 'श्रीहरिनाम-संकीर्तन', इसीलिये आपको 'संकीर्तनैकपिता' कहा गया है। नाम-ग्रहण या हरिनाम-संकीर्तन कोई ऐसी नयी चीज या नया साधन नहीं था, जिसका उन्होंने आविष्कार किया हो, अपितु उन्होंने विभिन्न वैदिक, पौराणिक; विशेषत: श्रीमद्भागवतादि महापुराण-ग्रन्थोंका आधार लेकर सभीका ध्यानाकर्षण किया कि कलियुगमें श्रीहरिनाम-संकीर्तन एवं श्रीहरिनामका आश्रय ही जीवका परमधर्म है, परम मंगलकारी है। यह सब साधनोंमें श्रेष्ठ साधन-शिरोमणि है और इस श्रीनाम-संकीर्तनद्वारा श्रीहरिको अथवा श्रीहरिकी प्रेमाभक्तिको अति सहजतासे प्राप्त किया जा सकता है—**'कलौ केशवकीर्तनात्।'**

श्रीमहाप्रभुका अनुयायी ही नहीं, जीवमात्र उस परम प्रभु सत्-चित्-आनन्दघनका अंश है। प्रभु स्वयं सत् हैं, चित् हैं और आनन्दघन विग्रह हैं। घनका अर्थ है कि वे इससे ओत-प्रोत हैं और यह जीव उन्हींका ही अंश है और उनकी अनेक शक्तियोंमें-से एक 'तटस्थाशक्ति' है। उनका अंश होनेके कारण उनके इन तीनों गुणोंका कुछ अंश इस जीवमें भी है ही। जैसे एक आममें जो स्वाद, जो गुण, जो रंग, जो मिठास होता है, बिलकुल वही स्वाद आदि उस आमकी एक फाँक या टुकड़ेमें भी होता है; क्योंकि वह टुकड़ा उसीका ही अंश है।

प्रभुमें सत्-चित्-आनन्द अनन्त मात्रामें है, लेकिन जीवमें यह सीमित मात्रामें है। साथ ही अंशका यह स्वाभाविक गुण होता है कि वह अपने अंशीकी ओर आकृष्ट होता है और उसे प्राप्तकर परम सुख-शान्तिको प्राप्त करता है। यही बात हमारे साथ है। हम यदि चिन्तन करें कि हम क्या चाहते हैं तो हम वास्तवमें आनन्द चाहते हैं। यह अलग बात है कि किसी व्यक्तिने अपने आनन्दको धनमें स्थापित किया हुआ है, किसीने पुत्र-पत्नी आदि में, किसीने सुस्वादु भोजन, मदिरादिमें और किसी अन्यने किसी अन्यमें।

लेकिन इन लौकिक वस्तुओं तथा परिस्थितियोंमें जो आनन्द है, वह क्षणिक है, वह स्थायी नहीं है। वह प्रेय तो हो सकता है—लेकिन श्रेय नहीं। प्रेय यानी प्रिय। जैसे किसी विद्यार्थीको पढ़ाईकी कक्षाओंसे भागकर मौज-मस्ती करना प्रिय तो लग सकता है, लेकिन यह कृत्य उस विद्यार्थीके लिये कदापि श्रेय यानी हितकारी नहीं हो सकता।

तो फिर प्रश्न है कि श्रेय क्या है, जो हमारे लिये हितकारी हो। इसके लिये शास्त्रोंमें चार पुरुषार्थोंका वर्णन है। वे चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

(१) **'धर्म'** अर्थात् मौलिक स्वभाव। जैसे अग्निका धर्म है जलाना, पुत्रका धर्म है पिताकी आज्ञाका पालन करना, कर्मचारीका धर्म है मालिकका हित करना और साथ ही जीवमात्रका धर्म है अपने प्रभुकी सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करना—***'जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्णदास।'***

(२) **अर्थ**—यानी न्यायपूर्वक, धर्मपूर्वक अर्थका उपार्जन करना। एक कर्मचारी अपने मालिकका हित करते हुए तनख्वाह लेता है तो वह धर्मपूर्वक अर्जित अर्थ है। रिश्वत लेकर मालिकका अहित करके जो तनख्वाह लेता है, वह अन्याय और अधर्मपूर्वक अर्जित अर्थ है।

(३) **काम**—यानी धर्मका पालन करते हुए अर्जित धनसे अपनी उचित कामनाओं, जैसे शरीर-रक्षाहेतु भोजन, परिवारका पालन-पोषण आदि अन्य उचित कामनाओंकी पूर्ति करना।

(४) **मोक्ष**—इन कामनाओंकी पूर्ति करते हुए अन्य-अन्य कामनाओंसे मुक्त होकर, अनासक्त होकर, उस परम प्रभु अपने अंशीको प्राप्तकर संसारमें पुनः-पुनः आवागमनसे मुक्त हो जाना यानी मोक्षको प्राप्त करना।

इन चार पुरुषार्थोंके अतिरिक्त श्रीमहाप्रभुने एक पंचम पुरुषार्थ 'प्रेम' का परिचय जीवजगत्को दिया; क्योंकि अपने प्रभुको प्राप्तकर आवागमनसे मोक्ष होना तो कहा

गया, लेकिन अपने प्रभुको प्राप्त कैसे करें? प्रभु-प्राप्तिका वास्तविक अर्थ क्या है? प्रभुको प्राप्त करनेका सरल सहज-सदातन साधन क्या है? इसका परिचय महाप्रभुने जीवजगत्‌को दिया और महाप्रभुके अनुयायी ही नहीं, अपितु सभीके लिये यह एक जीवनचर्या बन गया। महाप्रभुके अनुयायियोंका तो यह जीवातु (जीवनदायक औषध) ही है।

हमें भगवान्‌की प्राप्ति नहीं करनी है; क्योंकि भगवत्-प्राप्ति तो रावण, कंस एवं अनेक अन्य दैत्य आदिकोंको भी हुई थी। उन्होंने प्रभुको साक्षात् अपने आमने-सामने देखा। चाणूर-मुष्टिक नामक मल्लोंने तो कुश्तीमें अंग-से-अंग मिलाकर उनकी प्राप्ति की। हमें उनकी प्राप्तिमात्र नहीं; हमें उनके प्रेमकी प्राप्ति करनी है। प्रेम यानी भक्ति। भक्ति यानी सेवा। **'भज् सेवायाम्'** भज् धातु सेवा अर्थमें प्रयुक्त होती है। सेवा यानी उनका सुख-सम्पादन। जी हाँ, केवल उनका ही सुख-सम्पादन, अपना नहीं।

कृष्णेन्द्रिय सुख वासना तारे बलि 'प्रेम'।
आत्मेन्द्रिय सुख वासना तारे बलि 'काम'॥

'काम' और 'प्रेम' का यही मौलिक अन्तर है। श्रीकृष्णके सुखके लिये किया गया प्रयास 'प्रेम' है और अपने सुखके लिये किया गया प्रयास 'काम' या कामना है। वैसे भी 'प्रेम' के एकमात्र विषय श्रीकृष्ण ही हैं। यानी यदि श्रीकृष्णसे है तो 'प्रेम' और यदि किसी अन्यसे है—मातासे है, पितासे है, मित्रसे है, पत्नीसे है, प्रेमी या प्रेमिकासे है तो वह प्रेम नहीं 'काम' ही है। प्रेम यदि हो सकता है तो वह केवल श्रीकृष्णसे ही हो सकता है।

इस प्रेमको भक्तिके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है या यों कहिये कि ये दोनों पर्यायवाची हैं और इसके लिये महाप्रभुके परिकरभूत गोस्वामिगणोंने ६४ प्रकारकी भक्तिका उद्घोष किया। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थकी रचनाद्वारा श्रीरूपगोस्वामिपादने भक्तिको एक रसरूपमें प्रस्थापित किया। भक्तिके सदातनत्व यानी भक्ति सर्वदेशोंमें, सर्व-अवस्थाओंमें, सर्व-समयमें, सभी युगोंमें, सभी परिस्थितियोंमें की जा सकती है। यह निरपेक्ष है—इसके लिये किसी विशेष देश, काल, आयु, परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं है। यही भक्ति समस्त श्रीचैतन्य-अनुयायियोंकी जीवनचर्या है। भक्तिके ६४ अंगोंमें फिर नवविधा भक्तिका वर्णन किया है—

'नवविधा भक्ति 'नाम' हैते पूर्ण हय।'

यह नवविधा भक्ति श्रीहरिनाम-संकीर्तन, श्रीहरिनाम-स्मरणसे पूर्ण होती है और आज सम्भवतः शायद ही ऐसा कोई श्रीचैतन्य महाप्रभुका अनुयायी होगा जो श्रीनामका येन केन प्रकारेण आश्रय नहीं लेता होगा; क्योंकि श्रीनाम-जप-स्मरण ही उनकी जीवनचर्या है। उनका जीवातु है और भगवद्-प्रेम-प्राप्ति ही उनके जीवनका परम लक्ष्य है।

श्रीहरिनामके आश्रयसे थोड़ा इधर-उधर जायँ तो भी श्रीमहाप्रभुके उपदेशके सारका सार है—

नामे रुचि जीवे दया वैष्णव सेवन।
गौर मते धर्मसार करि आचरन॥

अर्थात् श्रीहरिनाममें उत्कट रुचि, जीवोंपर दया। दया यानी मायाग्रस्त जीवोंकी दुर्दशा देखकर-जानकर उन्हें येन-केन-प्रकारेण भगवदुन्मुख करना—यही जीवोंपर वास्तविक दया है। यह और बात है कि भगवदुन्मुख करनेके लिये उसपर कुछ अन्य दया भी कर दी जाय और अगली बात जो है—वह अति महत्त्वपूर्ण है—वह है वैष्णव-सेवा। यानी जिसकी सेवा करनी है, उसका वैष्णव होना आवश्यक है। यहाँ मानव या मानवताकी सेवाकी बात नहीं कही है। मानव यदि आलसी है, मानव यदि शराबी है तो उसकी सेवा नहीं करनी, उसपर दया करनी है और दया भी यही कि वह किसी भी प्रकारसे इन झंझटोंसे छूटकर भगवद्भक्तिकी ओर उन्मुख हो जाय—वैष्णव बन जाय। वैष्णव बननेपर हम वैष्णवकी सेवा करेंगे और वैष्णव भगवान्‌की सेवा करेगा, तो हमारी सेवा अन्ततोगत्वा ठाकुरकी ही सेवा हो जायगी। उपदेश कुछ भी हो, कैसा भी हो केन्द्रमें भक्ति, भगवद्सेवा ही है। श्रीचैतन्यके मतानुसार सर्वधर्मोंका यही सार है—इसीका आचरण करना विधेय है और यही श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुयायी वैष्णवोंकी जीवनचर्या है—

॥ अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

[डॉ० श्रीगिरिराजकृष्णजी नांगिया]

समर्थ गुरु स्वामी श्रीरामदासजीकी दृष्टिमें आदर्श दिनचर्या

हमारी भारतीय संस्कृति अति प्राचीन है। वह वेदमान्य है, व्यासमान्य संस्कृति है। विश्वकी अधिकांश संस्कृतियाँ कालके उदरमें समा गयीं, परंतु हमारी हजारों वर्षोंकी भारतीय संस्कृति परकीय शासनकालमें भी शासकोंके जबरदस्त आक्रमणोंके प्रहारोंको झेलकर भी आज जीवित है और अपना सिर ऊँचा किये हुए है।

यह संस्कृति मानवमात्रको उसके जीवनको आदर्शरूपमें खड़े होनेका साहस और उसकी समस्याओंका समाधान प्रस्तुत करती है। सांस्कृतिक संकटकी ओर बढ़ते विश्वको भारतीय संस्कृतिके विचारोंसे ही समाधान प्राप्त हो सकता है।

हमारे प्राचीन मनीषी कहते हैं कि संस्कृति विचारप्रणाली (वे ऑफ थिंकिंग) जीवनप्रणाली (वे ऑफ लाइफ) और उपासना—भक्तिप्रणाली (वे ऑफ वर्शिप)-का समन्वित रूप है।

भगवान्‌ने गीतामें मानवको स्वयंका एक अंश माना है। जीवको उन्होंने **'ममैवांशः'** कहा है। मानव भगवान्‌की श्रेष्ठ कृति है। भारतीय संस्कृति मानवको निरन्तर उच्च और उन्नत शिखरपर स्थिर रहनेका मार्गदर्शन करती है। मनुष्यदेहकी प्रशंसा करते हुए समर्थ स्वामी रामदासजी महाराज कहते हैं कि मनुष्यजीवनके साध्यको प्राप्त करनेके लिये यह नरदेह अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है; क्योंकि यह सबका मत है कि पशुदेहमें गति नहीं है। परलोक नरदेहमें ही मिलता है। नरदेह स्वाधीन है, यह सहसा पराधीन नहीं होती। इसे परोपकारमें लगाकर कीर्तिरूपसे अमर कर देना चाहिये—

पशु देहीं नाहीं गती। ऐसे सर्वत्र बोलती॥
म्यणोन नरदेहीं च प्राप्ती। परलोकची ॥
नरदेह हा स्वाधीन। सहसा नव्हे पराधीन॥
परंतु हा परोपकारीं झिझवून। कीर्तिरूपें उर वावा॥

(दासबोध १। १०। २१,२५)

परंतु आज सम्पूर्ण संसारमें जीवन जटिल हो गया है। हमारे भारतवर्षकी आज वर्तमानमें परिस्थितिका अवलोकन करें तो भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। आज हम पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यताको आत्मसात् करनेमें स्वयंको गौरवान्वित समझ रहे हैं।

हमारी संस्कृतिके चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, परंतु आजकी हमारी युवा पीढ़ी केवल अर्थ और काम—इन्हीं दो पुरुषार्थोंके आधारपर भौतिक सुखके पीछे हाथ धोकर पड़ी हुई है, मानो वही उसका जीवनलक्ष्य है। वस्तुतः यही विनाशका कारण है, पतनका कारण है।

इस विनाशसे बचनेका एकमात्र उपाय भगवान बताते हैं—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** अर्थात् अपने उद्धारके लिये स्वयं प्रयास करे। मानवशरीर अनित्य, क्षणभंगुर और अशाश्वत है। किसी भी क्षण इसका विनाश हो सकता है। अतः ईश्वरकृपासे प्राप्त मानवजीवनके प्रत्येक क्षण और प्रत्येक श्वासका सदुपयोग करना ही बुद्धिमत्ता है। समर्थ स्वामी रामदासजी महाराज आत्मोद्धारका उपाय बताते हुए कहते हैं कि वास्तवमें बन्धन किसीको नहीं है—कोई भी बद्ध नहीं है सारे प्राणी भ्रान्तिमें भूले हुए हैं; क्योंकि वे देहाभिमान—अहन्ताके गर्वको दृढ़तासे पकड़े हैं, इस भ्रमका निरसन ही आत्मोद्धार है—

कोणासीच नाहीं बन्धन। भ्रान्तिस्तव भुलले जन॥
दृढ़ घेतला देहाभिमान। म्हणोनियाँ ॥

(दासबोध ५। ६। ५७)

इसी दृष्टिसे हमारे आचार्योंने—महान् सत्पुरुषोंने शास्त्रोंके आधारपर एक ऐसी जीवनशैली अपनानेका प्रशस्त मार्ग बताया है, जिस मार्गको प्रथमतः उन्होंने स्वयं अपनाया और स्वानुभवोंके आधारपर वह आदर्श जीवनशैली हमारे समक्ष रखी। भगवान् श्रीरामके अनन्य भक्त समर्थ स्वामी रामदासजी महाराज ऐसे ही सत्पुरुष थे। उनके ग्रन्थ दासबोधमें आदर्श दिनचर्याका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

मनुष्यकी दिनचर्या प्रातःकाल जागरणसे ही आरम्भ होती है। इस सन्दर्भमें समर्थ रामदास स्वामी कहते हैं—

प्रातःकालीं उठावे। कांही पांठातर करावे।
येथानुशक्ति आठवावे। सर्वोत्तमा सी॥

(दासबोध ११। ३। १५)

भाव है—हमें प्रातःकालमें ही उठना चाहिये, जाग्रत् होना चाहिये; क्योंकि प्रातःकालके समय मनुष्यका मन

शान्त और विकाररहित होता है। इसलिये प्रात:कालमें शय्या त्याग देनी चाहिये। प्रात:काल उठते ही सर्वशक्तिमान् ईश्वरका, प्रभुका स्मरण करते हुए अपने ही हाथोंका दर्शन करना चाहिये; क्योंकि मानवके हाथमें ही पुरुषार्थ समाविष्ट है।

इसके पश्चात् दूसरे क्रममें है भूमिवन्दना पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी जननी है। जड़, चेतन सभी पदार्थोंको वह अपनी गोदमें स्थान देती है। यह माता अपने सभी लाडलोंका भरण, पालन और पोषण करती है। अत: उसकी कृतज्ञतापूर्वक वन्दना करना हमारा परम कर्तव्य है।

पृथ्वीमें क्षमा करनेका एक अद्वितीय गुण है। वह गुण मुझमें आये, मेरा भी जीवन सुगन्धित बने, इसी अभिलाषाके साथ मातृभूमिकी भाववन्दना करनी चाहिये।

समर्थ स्वामी रामदासजी महाराज कहते हैं कि इसके बाद ऐसी जगह दिशा (मलत्याग)-के लिये जाय, जो किसीको मालूम न हो और निर्मल जलसे शौच तथा आचमन करना चाहिये—

मग दिशेकडे जावें। जे कोणासिच नव्हे ठावें॥
शौच्य आच्मन करावें। निर्मळ जळें॥

(दासबोध ११।३।१६)

तत्पश्चात् मुखमार्जन, प्रात:स्नान, सन्ध्या, तर्पण, देवतार्चन करके अग्निपूजन और उपासना सांगोपांग करनी चाहिये—

मुखमार्जन प्रात:स्नान। संध्या तर्पण देवतार्चन॥
पुढें वैश्यदेव उपासन। येथा सांग॥

(दासबोध ११।३।१७)

स्वामीजीका कथन है कि धौतवस्त्र निचोड़कर डालनेके पश्चात् पैर धोना चाहिये और फिर यथाविधि देवदर्शन और देवार्चन करना चाहिये—

धूतवस्त्रें घालावीं पिळून। करावें चरणक्षाळण॥
देवदर्शन देवार्चन। येथा सांग॥

(दासबोध १२।९।१२)

इसके बाद कुछ जलपान, फलाहार आदि करके गृहकार्य करना चाहिये और मधुर भाषणसे सबको राजी रखना चाहिये—

कांहीं फळाहार घ्यावा। मग संसारधंदा करावा॥
सुशब्दें राजी राखावा। सकळ लोक॥

(दासबोध ११।३।१८)

मनुष्यको अपने कार्य-व्यापारमें सावधान रहना चाहिये अन्यथा दुष्ट लोग धोखा दे देते हैं—

ज्या ज्याचा जो व्यापार। ते थें असावें खबर्दार॥
दुश्चितपणें तरी पोर। वेढा लावी॥

(दासबोध ११।३।१९)

इसके बाद भोजन करना चाहिये, भोजनके समय मन सावधान और एकाग्र रखना चाहिये, तभी खाना-पीना अच्छा लगता है—

या कारणें सावधान। येकाग्र असावें मन॥
तरी मग जेवितां भोजन। गोड वाटे॥

(दासबोध ११।३।२१)

समर्थ स्वामीजीका कहना है कि पेटभर भोजन करके बाकी अन्न बाँट देना चाहिये, व्यर्थ फेंक देना धर्म नहीं है—

आपण येथेष्ट जेवणें। उरलें तें अन्न वाटणें॥
परंतु वाया दवडणें। हा धर्म नव्हे॥

(दासबोध १२।१०।१)

भोजनके बाद कुछ पढ़ना और चर्चा करना चाहिये या एकान्तमें जाकर नाना प्रकारके ग्रन्थोंका मनन करना चाहिये—

पुढें भोजन जालियांवरी। काहीं वाची चर्चा करी॥
येकांतीं जाऊन विवरी। नाना ग्रंथ॥

(दासबोध ११।३।२२)

इस बातका सदैव ध्यान रखना चाहिये कि जो कुछ है सब ईश्वरका है। इस प्रकार अपनी दिनचर्या और जीवनचर्या बनानेसे उद्वेग समूल नाश हो जाता है—

काहे तितुके देवाचें। ऐसे वर्तणें निश्चयाचें॥
मूळ तुटें उद्वेगाचें। येणें रीतीं॥

(दासबोध ११।३।२८)

इस प्रकार अपनी दिनचर्या समर्थ स्वामी रामदासजी महाराज-जैसे सत्पुरुषोंके वचनोंके अनुसार निश्चित करनी चाहिये। यही मानव और मानवताके हितमें है और यही कल्याणका अन्तिम सत्य है।

[डॉ० श्रीकेशवरघुनाथजी कान्हेरे, एम०ए०, पी-एच०डी०]

गृहस्थजनों, विरक्तों तथा साधुओंकी जीवनचर्या कैसी हो ?

[संत श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सदुपदेश]

परम विरक्त तथा ब्रह्मनिष्ठ सन्त पूज्य उड़ियाबाबाजी महाराज अपने सत्संगमें, उपदेशोंमें सन्त-महात्माओं तथा गृहस्थजनोंको अपना एक-एक क्षण भगवद्भक्ति तथा सत्कर्मोंमें लगानेकी प्रेरणा दिया करते थे। वे कहा करते थे कि मानव-योनि अनेक जन्मोंके संचित पुण्योंसे प्राप्त होती है। अतः मानवको एक-एक पल, एक-एक क्षण शास्त्रानुसार व्यतीत करके अपने जीवनको सार्थक करना चाहिये।

देशके शीर्षस्थ सन्त-महात्मा समय-समयपर पूज्य बाबाका सत्संग करने, उनका मार्गदर्शन प्राप्त करने कर्णवास (बुलन्दशहर)-में श्रीगंगाजीके किनारे स्थित उनकी कुटियामें पधारा करते थे। वे सन्तों अथवा गृहस्थजनोंके बीच प्रवचन करते थे और उनकी जिज्ञासाओंका समाधान करते थे।

पूज्य श्रीउड़िया बाबाजी महाराज प्रायः कहा करते थे कि जो अभ्यासमय जीवन बिताता है, जिसकी जीवनचर्या शास्त्रोक्त है, उसका लोक-परलोकमें कल्याण होता है।

एक दिन उन्होंने प्रवचनमें कहा—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता ८।८)

जिसने अभ्यासमय जीवन बिताया, उसीने परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति की है।

अतः सन्त-महात्मा हो या गृहस्थ सभीको आदर्श जीवन-यापन करनेका अभ्यास करना चाहिये।

श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, उत्साह, धैर्य, मिताहार, आचार, शरीर, वस्त्र और गृह आदिकी पवित्रता, इन्द्रियसंयम और सदाचरणका सेवन तथा कुसंगका सर्वथा परित्याग—ये सब सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेवाले हैं। मानव-जीवन, जीवनका प्रत्येक पल भगवान्‌की सम्पत्ति है, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। भगवान्‌की सम्पत्तिका अपव्यय करना महापाप है।

भगवच्चिन्तनमें समयका सदुपयोग करना चाहिये। सर्वथा नियम-निष्ठामें तत्पर रहना चाहिये। भगवान्‌को सर्वव्यापक समझकर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, शत्रुता और कुत्सित भावका त्याग करना चाहिये। 'भगवान् सर्वदा मेरे समीप हैं' ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर अनावश्यक तथा निन्दित कर्मोंसे बचना चाहिये। सरलता तथा श्रद्धा भक्तिमार्गका सोपान है तथा सन्देह और कपट अवनतिका चिह्न है। प्रतिदिन सबेरे विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये—

'हे परमपिता! मेरी वाणी आपके गुण-कीर्तनमें, कर्ण महिमा-श्रवणमें, हाथ युगल चरण-सेवामें, चित्त चरण-चिन्तनमें, मस्तक प्रणाममें और दृष्टि आपके स्वरूपभूत साधुओंके दर्शनोंमें नियुक्त रहे।'

भगवान्‌का नित्य स्मरण ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्यका उपाय है।

मौन, चेष्टाहीनता और प्राणायामसे शरीर, मन और वाणी वशीभूत होते हैं। गार्हस्थ्य सम्बन्धी कार्य यथासमय नियमानुकूल सम्पादन करनेसे भजनमें सहायता मिलती है। जबतक क्रोध, द्वेष, कपट, स्वार्थपरता एवं अभिमान हमारे हृदयमें विद्यमान रहेगा, तबतक कठोर तप करनेपर भी भक्तिलाभ करना दुष्कर है।

सद्भाषण, सद्विचार, सद्भावना और न्यायनिष्ठाका परित्यागकर बाह्य आडम्बरसे कोई भी धर्मात्मा नहीं बन सकता।

रसास्वादके लोभसे भोजन करनेसे तमोगुण बढ़ता है। रसनेन्द्रिय वशीभूत न होनेसे अन्य इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं होतीं।

सन्ध्या समय भोजन नहीं करना चाहिये। भोजनके समय बोलना नहीं चाहिये। भोजनसे पहले हाथ-पैर धोना चाहिये। पवित्र आसनपर बैठकर उत्तर अथवा पूर्वमुख होकर भगवान्‌को भोग लगाकर भोजन करना चाहिये।

भोजनमें कोई भी तामसिक वस्तु जैसे—प्याज, लहसुन आदि नहीं होनी चाहिये।

सत्य, दया, संयम, शिष्टाचार, सदाचार—ये गुण भगवान्‌की भक्तिमें सहायक होते हैं। हास परिहास करना, मनोरंजनके नामपर तमाशा तथा सिनेमा देखना, अश्लील उपन्यास पढ़ना, अन्यायसे दूसरोंका धन हरण करना—अभक्तोंका लक्षण है। समय-समयपर विधिवत् श्रद्धापूर्वक तीर्थ-भ्रमण करनेसे चित्त-शुद्धि होती है। तीर्थोंमें रहकर परनिन्दा करनेसे, कुभावनाके उदय होनेसे संचित पुण्य क्षीण होते हैं, पाप-संग्रह होता है।

काम, क्रोध, लोभपर नियन्त्रण करनेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोधादि मनकी तरंगें हैं। मन शान्त हो जानेसे हृदयमें भक्ति-भावना बलवती होती है।

भजन, भोजन और निद्रा प्रतिदिन नियत समयमें ही होना चाहिये। आलस्य सबसे अधिक विघ्नकारक है। आलस्यसे प्रतिदिनकी जीवनचर्यामें विघ्न पड़ता है। आलस्यसे शरीर और मन—दोनों ही दुर्बल होते हैं।

समय अमूल्य तथा दुर्लभ होता है। समय व्यर्थ कदापि नहीं बिताना चाहिये। जिस समय कोई काम न हो, उस समय जप, मानस-पूजा अथवा सद्ग्रन्थोंका पाठ करना चाहिये। भगवान् तथा भक्तोंका जीवन-चरित्र पढ़ना चाहिये। निद्रा, घृणा, द्वेष और अभिमान जीवके लिये बन्धनकी शृंखला है।

जो परमात्माके दर्शन करना चाहे, उसे शास्त्रानुसार जीवन बिताना चाहिये। गो-ब्राह्मणों तथा साधु-सन्तोंके प्रति श्रद्धा-भावना रखनी चाहिये। कामिनी और कांचनमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। जो सांसारिक सुख-सुविधाओंमें मन लगाये रखते हैं—वे न मनकी शान्ति पा सकते हैं और न भगवान्‌की कृपाके अधिकारी बन पाते हैं। जगत्‌का कोई पदार्थ नित्य नहीं है। धन, विद्या, बुद्धि, गुण, गौरव आदि सभी मृत्युके साथ धूलमें मिल जाते हैं। अपने जीवनमें सांसारिक वस्तुओंको महत्त्व नहीं देना चाहिये। भगवान्‌का भजन, असहायोंकी सेवा-सहायता करनेवाला तथा शास्त्रानुसार सरल सात्त्विक जीवन जीनेवाला ही अपना मानव-जीवन सफल कर पाता है।

नशा—पतनका कारण

शराब, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, हुक्का, भाँग आदि नशीली वस्तुएँ भजन तथा सदाचारमें सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। गृहस्थ ही नहीं साधुओंको भी नशेकी लत पड़ जाती है। कुछ साधु तम्बाकू आदि पीने लगे हैं, अपने पास पैसे भी रखने लगे हैं। अगर कोई कहता है कि साधु-सन्तोंको नशा नहीं करना चाहिये, धन नहीं रखना चाहिये तो झटसे अपनेको वेदान्ती, ब्रह्मज्ञानी बताने लगते हैं और '**अहं ब्रह्मास्मि**' कहने लगते हैं। यह कितना बुरा है। साधु-सन्त या सद्‌गृहस्थको यदि सच्चे नशेमें डूबनेकी इच्छा है तो भगवान्‌के नामके नशेमें डूबे। नानकदेवजीने ठीक कहा है—*'नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात।'* मांस, मदिरा तथा नशेके सेवनने बड़े-बड़े राजा-शासकोंका पतन कर डाला। साधना तथा भक्तिकी कामना रखनेवालोंको किसी भी तरहका नशा कदापि नहीं करना चाहिये। मानवमात्रको नशेसे सर्वथा बचना चाहिये।

साधु-संन्यासीकी जीवनचर्या कैसी हो?

पूज्य उड़ियाबाबाजी महाराज प्रायः गंगाके पावन तटपर किसी कुटियामें रहकर साधना किया करते थे। उस युगके महान् सन्त स्वामी उग्रानन्दजी महाराज, हीरादासजी महाराज, स्वामी शास्त्रानन्दजी महाराज, पूज्य श्रीहरिबाबाजी महाराज आदि पूज्य बाबाके अनन्य श्रद्धालुजनोंमें थे। सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजीपर उनकी अनूठी कृपा थी। स्वामी करपात्रीजी महाराज प्रायः नरवरमें पढ़ते समय पूज्य बाबाका सत्संग किया करते थे। स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी प्रायः पूज्य बाबाके साथ महीनों-महीनों रहकर सत्संग किया करते थे। पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजने एक लेखमें लिखा है कि पूज्य उड़ियाबाबाने विरक्तों-सन्तोंकी जीवनचर्याके विषयमें कहा था—

रोटी के सिवा कुछ न माँगे, चाहे मर जाय। जितना हो सके तितिक्षा करे, सहन करे। कोई कितना ही दुःख दे, आनन्दपूर्वक सहे। संसारसे वैराग्य और साधनसे प्रेम करे। किसीको औषध आदि न बताये। कितना भी चमत्कार हो अपने लक्ष्यसे न हटे। कामिनी और कंचनका सम्बन्ध न करे। किसी प्रकारका नशा न करे। व्यर्थ

प्रलापका सर्वथा त्याग करे।

साधुको न तो भिक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये और न संकल्प करके किसी खास दरवाजेपर ही जाना चाहिये। भिक्षान्न सोम-अन्न है। इसके बराबर शुद्ध कोई अन्न नहीं है।

रुपया-पैसा लेनेसे साधुका तप क्षीण हो जाता है, तपका नाश हो जाता है। अगर रुपये-पैसेकी ही इच्छा है तो गृहस्थमें क्यों न रहे तथा कार्य क्यों न करे?

माया, मंदिर, स्त्री, धरती और व्यौहार।
ये संतन को तब मिले, कोपे जब करतार॥

जब भगवान्का कोप होता है, तभी साधुको ये वस्तुएँ मिलती हैं। जिस साधुपर भगवान्की कृपा हो तो ये संसारी वस्तुएँ कभी नहीं मिलेंगी।

साधुके तीन लक्षण मुझे बहुत अच्छे लगते हैं—

१-जीवनभर कामिनीको कभी स्वीकार न करे।

२-कंचनको स्वीकार न करे और रेलयात्राके लिये, खानेके लिये, वस्त्रके लिये भी किसीसे कुछ न ले। साधु यदि पैसा अपने पास रखेगा तो वह अपने साधु-धर्मसे गिर जायगा।

३-साधुको हर पल भगवान्का चिन्तन करते रहना चाहिये। एक जगह न रहकर घूमते रहकर धर्म, भगवान्की भक्ति, सदाचार तथा सेवा, परोपकारका उपदेश देते रहना चाहिये। किसी विशेषके प्रति मोह-ममता नहीं रखनी चाहिये। [**गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी**]

जीवनचर्याका उपदेश-वचनामृत

(अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

मनुष्यको चाहिये कि वह शुभ, परहितकारी एवं पवित्र वचन बोले।

बलका अहंकार, तपस्याका अहंकार, धन इत्यादिका अहंकार मनुष्यको पतनकी ओर ले जाता है।

चिन्ताओं, नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे सांसारिक प्राणी दुःखी रहते हैं, परंतु भगवत्कृपासे ये एक क्षणमें ही मिट जाते हैं। अतः उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये।

जबतक अहंकार रहता है, प्रभु नहीं आते। गजेन्द्रने सहस्र दिव्य वर्षोंतक अपने बलके अहंकारपर ग्राहसे युद्ध किया। जब उत्साह भंग हो गया, तब प्रभुकी शरणमें जानेपर ही उसका मोक्ष हुआ।

दो ही वस्तुएँ प्राणीको इस संसार-सागरमें डूबनेसे बचाती हैं—अपना पुण्य और भगवान्। अतः शुभ कर्मोंके द्वारा पुण्य संचय करो और उन अकारण-करुणकी शरणमें जाओ।

मन संसारको सत्य समझता है, इसीलिये भजनमें नहीं लगता। यदि कोई मस्तकपर मृत्युको देखता रहे तो उसे संसारके विषय तो क्या, भूख-प्यास भी न रहेगी और झूठ, परस्त्रीगमन इत्यादि तो सूझेंगे भी नहीं।

संसारमें लोग धनवानोंकी स्तुति करते हैं। वे यदि धनवानोंके बजाय भगवान्की स्तुति करें तो बन्धनसे ही छूट जायँ।

भगवान्के बलका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। जिसे जितना विश्वास हो, उसे उतनी ही शक्ति-सिद्धि मिल जाती है। प्रभुके बलका पता किसे चल सकता है।

प्रातः सूर्योदयसे पूर्व उठकर स्नान, सन्ध्या-वन्दनादि करके जो सूर्यको नमस्कार करता है, वह एक सहस्र जन्ममें भी कभी दरिद्री नहीं हो सकता। अतः चाय, बिस्कुट, अण्डे, अखबार इत्यादि सर्वथा परित्यागकर ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर उक्त कार्योंका सम्पादन करो।

भगवान्की प्रसन्नता-अप्रसन्नताकी जाँचकी कसौटी मालूम है? अरे! जब मनुष्यको चिन्ताएँ सतायें तो जानो प्रभु नाराज हैं तथा चिन्ताएँ न सतायें तो समझना चाहिये कि वे प्रसन्न हैं।

गुरुके समक्ष कभी अपना महत्त्व प्रकट न करो। उनके समक्ष तो नम्र रहनेमें ही कल्याण है।

देवताओंका पूजन करने जाना हो तो पवित्र देवतावत् होकर ही जाना चाहिये। मलिन-वस्त्र, म्लानमुख होकर देवताके समीप जानेसे पाप लगता है।

मनुष्यके भीतर है क्या, सिवा दोषोंके, काम-क्रोध, मद-लोभके। अतः बुद्धिमानी यही है कि प्रभु-भजनमें लगकर मनुष्य इस शरीरका सदुपयोग कर ले।

ब्राह्मणसे कभी उसके धन एवं विद्याके सम्बन्धमें न पूछे, अपितु आपका तप तो बढ़ रहा है, त्रिकाल सन्ध्या-वन्दनादि तो ठीक चल रहा है, गायत्रीका जप तो खूब चल रहा है न? इत्यादि, इस प्रकारके प्रश्न करने चाहिये।

जो लोग गंगाजीपर जाकर श्राद्ध, तर्पण इत्यादि नहीं करते उन्हें पाप लगता है, तीर्थदेवता उन्हें शाप दे देते हैं।

जिस वस्तुको दान कर दिया जाता है, संकल्प कर दिया जाता है, उसे घरमें न रखे। उसे छूना भी नहीं चाहिये। यह नहीं कि धर्मादेके धनको ब्याजपर लगाकर फिर उसमेंसे दान-दक्षिणा इत्यादि दे। इससे पाप लगता है।

संसारकी वस्तुओंमें नीयतकी प्रधानता रहती है। जब नीयत अच्छी रहती है, सब वस्तुएँ सुलभ रहती हैं। नीयत खराब होते ही वस्तुएँ संसारसे लुप्त हो जाती हैं। अतः संसारमें ईमानदारीका महत्त्व है, बेईमानी-बदनीयतीका नहीं।

संसारमें मनुष्य वही है, जिसके कुछ नियम हों। बिना नियमके जो जीवन-यापन करते हैं, उन्हें मनुष्य नहीं कहा जा सकता।

भगवान्‌ने जितनी भी योनियाँ बनायी हैं, उनमें कुछ-न-कुछ विशेषता—विलक्षणता रखी है, अतः किसी भी प्राणीका अपमान नहीं करना चाहिये।

धर्मका बल बहुत बड़ा होता है। जिसके भीतर धर्मका बल होता है; वह कभी, कहीं भी नहीं घबराता।

सत्यवादीको कभी भय नहीं होता, वह निर्भय विचरता है। अतः सत्य बोलनेका अभ्यास करना चाहिये।

भगवान् भक्तके पुरुषार्थकी ख्याति बढ़ाते हैं, उसका यश फैले—ऐसे उपाय करते हैं। भक्तका अपमान उन्हें कथमपि सहन नहीं होता। अतएव साधुओं एवं भक्तोंका कभी अपमान न करे।

कथा-श्रवणसे श्रद्धा बढ़ती है, भक्ति दृढ़ होती है। अतः नित्य कथा-श्रवण-सत्संग किया करो।

मनुष्यको चाहिये कि सदा पवित्र रहे; श्राद्ध-तर्पण, सन्ध्या-वन्दनादि शुभ कृत्य पवित्र होकर किया करे। सनातनधर्ममें शौचाचारका विशेष महत्त्व है। अतः सदा शरीरसे शुद्ध एवं मनसे पवित्र रहना चाहिये।

भगवान्‌को प्रसन्न करना हो तो सदाचारका पालन करो, तप करो। दुराचारीके भाग्यमें प्रभुदर्शन कहाँ?

जो तप करता है, कष्ट सहन करता है, प्राणोंको संकटमें डालता है, वही आगे चलकर कल्याणका दर्शन करता है। यह नहीं कि संसारमें मौज-मजे भी लेते रहो और कल्याण भी प्राप्त कर लो। अतः तप, त्याग, व्रत, जप इत्यादिमें मनुष्यको लगे रहना चाहिये।

संसारमें एक वह मनुष्य है, जो नोट बटोरे और इधर-उधर खाक छानता भटका करे और एक वह है, जो रामका भजन करे। मरते समय कौन आनन्दपूर्वक देह-त्याग करेगा और मरनेके बाद किसको क्या मिलेगा—यह स्वयं ही सोच ले।

युद्धसे जो न घबराता हो, वही शासक होनेयोग्य है। राजा होकर भी जो युद्धसे डरता है, पृथ्वी उसे निगल जाती है, पर युद्ध धर्म्य युद्ध होना चाहिये—स्वार्थप्रेरित नहीं।

राजा (शासक)-को कभी शान्तिपूर्वक नहीं बैठना चाहिये। सदा-सर्वदा (धर्म तथा धर्मराज्यके रक्षार्थ) धर्म्य युद्धके लिये तत्पर, सन्नद्ध रहना चाहिये।

युद्ध कोई बुरी वस्तु नहीं है, अपितु बड़ी उत्तम वस्तु है। कर्तव्यसे जो गति वेदज्ञ ब्राह्मणको मिलती है, वही धर्मयुद्धमें प्राण न्यौछावर करनेवालेको मिलती है। रण भी रणमेधयज्ञ ही है। आजका युद्ध अधिकतर स्वार्थ-प्रेरित होनेसे उचित नहीं है।

राष्ट्र सदा बलि चाहता है, जबतक उसके निवासी बलि देते रहते हैं, वह सुरक्षित रहता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है, अतः राष्ट्रनिवासियोंको सदा बलिदानके लिये तैयार रहना चाहिये।

शासक राष्ट्रकी दुर्बलतापर दृष्टि रखे और राजधानीमें तब प्रवेश करे जब सारे राष्ट्रको सुरक्षित समझे, अन्यथा रामके समान राष्ट्रमें घूमता रहे, कण्टकोंको हटाता रहे, राजधानीके भवनोंमें शान्तिसे कदापि न बैठे।

जो स्वयं आनन्दमें निमग्न है, कर्तृत्वविहीन है, निर्विकार है, सर्वदा वही अन्योंकी सच्ची सेवा कर सकता है।

जो जितना महान् होता है, उसे उतना ही कम तथा

उतनी ही अधिक देरमें क्रोध आता है और उतनी ही सरलता-शीघ्रतासे वह प्रसन्न हो जाता है।

जो संसारमें आकर कामसेवनसे बचेगा, वही अमृत पी सकता है। काम दुरासद शत्रु है।

आप हम सब अपने आत्माके बलको भूले हुए हैं तभी तो केवल अर्थोपार्जनमें फँसे हैं। चोर-बाजारी, गोहत्या, रिश्वत, भ्रष्टाचार जारी हैं। मन्दिरोंकी मर्यादा भ्रष्ट हो रही है, देशमें अनाचार फैल रहा है और सब कुछ सहन कर रहे हैं। सबकी आँखें मुँदी हैं।

मनुष्योंको धर्मात्मा, महामना, उदारचेता होना चाहिये कृपण, अधर्मी नहीं।

जिन बातोंको सुनने-कहनेसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, उत्पन्न हों, उनसे पाप लगता है और जिनके सुननेसे भगवान्‌की भक्तिका प्रादुर्भाव हो, बुद्धि निर्मल हो, वे ही पुण्यात्मक हैं। अतः कथा-श्रवण-कीर्तनमें ही रत रहना चाहिये।

कलियुगमें मनुष्योंके कल्याणके लिये भगवान् श्रीरामसे अधिक किसीका चरित्र हो नहीं सकता। रामके चरित्रसे मनुष्योंका सर्वविध कल्याण होता है, पतनके लिये रामचरित्रमें स्थान ही नहीं है, उससे न काम उत्पन्न होगा, न क्रोध, न लोभ और न मोह। अतः कल्याणेच्छुकोंको रामका चरित्र सुनना और रामके शरण जाना चाहिये।

मनुष्य-जीवनकी सफलता, सार्थकता इसीमें है कि कम-से-कम भारतवर्षमें जन्म लेकर तो भगवान् श्रीरामकी भक्ति करे, उनकी शरणमें जाय।

तीर्थयात्रा भी एक यज्ञ है। तीर्थकी ओर धीरे-धीरे यात्रा करे, प्रत्येक चार कोसपर विश्राम करे। सन्ध्या-वन्दन, बलिवैश्वदेव, दान इत्यादि करते हुए शान्तिपूर्वक प्रसन्नचित्त होकर यात्राकी ओर चले।

जो तीर्थयात्राको जाता है, उसके पितर साथ जाते हैं। जो तीर्थमें जाकर श्राद्ध-तर्पणादि नहीं करता, उसके पितर उसे शाप दे देते हैं।

भगवान्‌को वेदोंकी रक्षाकी चिन्ता रहती है और आजकल वेदोंकी भाषा संस्कृतको शीघ्रातिशीघ्र मिटाकर अंग्रेजीको रखनेकी चेष्टाएँ हो रही हैं, अतः भगवान् हम-आप—सबसे अप्रसन्न हैं, उन्हें प्रसन्न करना हो तो वेदोंका प्रचार करो, संस्कृत पढ़ो। संस्कृतके ग्रन्थोंका उद्धार करो। संस्कृति और भाषाको उन्नत करो।

मानवका लक्ष्य

श्रीमद्भागवतके श्लोक '**ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः**' इस चौथे पादमें यह कहा गया है कि ब्रह्मके अवलोकनकी क्षमता मानवमें है। परब्रह्मके साक्षात्कारका अर्थ है—स्वात्मदर्शन। इस आत्म-दर्शनके अनेक साधन शास्त्रकारोंने बताये हैं। उनमें व्याप्य-व्यापकरूपसे अनेक साधनों तथा उपायोंका वर्णन है। वर्णधर्म एवं आश्रमधर्म इसकी प्रधान भित्तियाँ हैं। जहाँ वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म नहीं हैं, वहाँ आत्मसाक्षात्काररूप मानवलक्ष्यकी पूर्तिकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। शंखस्मृतिमें आया है—

परान्नं परवस्त्रं च परपानं पराः स्त्रियः।
परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥

इसी प्रकार—

लाक्षालवणमांसानि पतनीयानि विक्रये।
पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि च॥

अर्थात् जिन-जिन वस्तुओंके निषेवनका निषेध शास्त्रकारोंने लिखा है, उसको उसी प्रकार मानना तथा आचरण करना कल्याणका हेतु और लक्ष्यका साधक है। इसके साथ-साथ जो सार्वभौम धर्म हैं, उनका भी आचरण करना चाहिये।

सार्वभौम धर्म—सत्य, चोरी न करना, अक्रोध, लज्जा, पवित्रता, बुद्धि, मनःसंयम, इन्द्रियसंयम, विद्या आदि सार्वभौम धर्म हैं—

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सार्व उदाहृतः॥

इन धर्मोंके पालन किये बिना मानव लक्ष्य-सिद्धिपर नहीं पहुँच सकता। जिन देशोंमें तथा जिन वर्गोंमें वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं है, वहाँ आध्यात्मिक सुख स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं हो सकता—यह ध्रुव सत्य है।

कुछ लोग समयके साथ-साथ मानव-व्यवस्थापक धर्मशास्त्रोंके परिवर्तनकी बात कहते हैं, यह उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि शास्त्रोंका सिद्धान्त सार्वभौम और अपरिवर्तनीय है, यह बात अनेक बार सिद्धान्त-सिद्ध हो चुकी है। मनुष्य अपनी दुर्बलताका आच्छादन इस प्रकारसे करनेकी चेष्टा करता है, जो सर्वथा व्यवहारके अयोग्य है। अतएव धर्मपूर्वक व्यवहार करनेसे गृहस्थ भी मुक्त होनेका

अधिकारी बन जाता है—

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥

अर्थात् न्यायपूर्वक धनार्जन करनेवाला, तत्त्व-ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाला, सत्यभाषी, अतिथिसेवी और देव-पितरोंको हवि और कव्यद्वारा प्रसन्न करनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है! यही आध्यात्मिक जीवन है और इसीकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेमें 'मानवता' की सार्थकता है।

छीना-झपटी

आज भौतिकवादसे आक्रान्त मनुष्यका दृष्टिकोण धर्म और ईश्वरसे हटकर अनधिकार चेष्टाओंमें अनवरत रत देखा जा रहा है। वर्ण और आश्रमकी मर्यादाओंको तोड़नेके लिये आन्दोलन चल रहे हैं। सब एक प्रभुकी संतान हैं, यों कहकर 'मानव-मानव एक समान' का ढोल पीटा जा रहा है। आखिर यह सब है क्या? यह है पतनकी ओर दौड़। जब मानव अपने देश, अपनी जाति, अपने धर्मग्रन्थोंपर अविश्वास करके अन्य देश, जाति और धर्मकी बात करता है, तब इसका सीधा अर्थ है कि वह कहीं भी सफल नहीं हो सकता। इसीलिये गीतामें भगवान्ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अपना धर्म ही सब कुछ है। उसमें किसी प्रकारका कष्ट भोगते हुए भी परधर्मकी अपेक्षा सौष्ठव है। इसीलिये भारतीय इतिहासके समुज्ज्वल रत्न अपनी मर्यादाओंकी रक्षाके लिये बलिवेदीपर चढ़े, उन्होंने प्राणतक दिये और अपना सब कुछ खोकर भी मर्यादाओंकी रक्षा की। प्रवाहमें बहना मुर्दोंका कार्य है। साहसी और जिन्दादिल प्रवाहके प्रबल पातसे अपनेको सुरक्षित करते हुए मानवताका संरक्षण करते हैं तथा सदैव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहते हैं।

उपसंहार

मानव-जीवनकी सार्थकता और कृतकृत्यता आध्यात्मिक सुख-शान्तिमें है। उसके लिये सदैव जागरूक रहना चाहिये। चित्तका संशोधन अनेक उपायोंसे करना चाहिये। परदोष, परनिन्दा, परस्वापहरणकी भावनाएँ—जो आज मानवको दानव बना रही हैं, इनसे बचना चाहिये। असत्यभाषणका अवरोध और सत्यभाषणकी चेष्टा सदैव करनी चाहिये; तभी मनुष्य अपने लक्ष्यकी पूर्ति कर सकता है और मानव-शरीरकी सफलता प्राप्त कर सकता है। अन्यथा—

तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्।

—के अनुसार मानव अमृतके आये हुए घटको अपने हाथसे गिराकर प्रमादका परिचय देगा। अतः आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिके लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये।

संकल्पबल और जीवनचर्या

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

शास्त्र कहते हैं—'**क्रतुमयोऽयं पुरुषः**'—पुरुष क्रतुमय है—'**स यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।**' अतएव 'वह जैसा संकल्प करने लगता है, वैसा ही आचरण करता है और जैसा आचरण करता है, फिर वैसा ही बन जाता है।' जिन बातोंका प्राणी बार-बार विचार करता है, धीरे-धीरे वैसी ही उसकी इच्छा हो जाती है; फिर इच्छानुसारी वार्ता, आचरण, कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है। अतः स्पष्ट है कि अच्छे आचरण एवं चारित्र्यके लिये अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। बुरे कर्मोंको त्यागनेके पहले बुरे विचारोंको त्यागना चाहिये। जो बुरे विचारोंका त्याग नहीं करता, वह कोटि-कोटि प्रयत्नोंसे भी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। कर्मका आधार विचार है।

कितने ही व्यक्ति दुराचार, दुर्विचारजन्य दुर्व्यसन आदिको छोड़ना चाहते हैं। मद्यपायी, वेश्यागामी व्यसनके कारण दुःखी होता है। वह व्यसनको छोड़ना चाहता है, उपाय भी ढूँढ़ता है, महात्माओंके पास रोता भी है, छोड़नेकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, परंतु जो सावधानीसे मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुराचारोंके बराबर चिन्तन और मननका परित्याग करता है, उनका स्मरण ही नहीं होने देता, विचार आते ही उसे विचारान्तरोंसे काट देता है, वह तो छुटकारा पा जाता है, परंतु जो बुरे विचारोंको न छोड़कर

उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता, वह बार-बार भग्नप्रतिज्ञ होकर रोता है। वह विचारोंके समय असावधान रहता है। विचारसे क्या होता है? बुरा कर्म न करूँगा, उसीके त्यागकी मैंने प्रतिज्ञा की है, इस तरह अपनेको धोखा देकर विचारके रसका अनुभव करता हुआ वह कभी व्यसनसे आत्मत्राण नहीं कर पाता। इसीलिये पुरुषको चाहिये कि वह किसी तरह बुरे विचारोंको हटाये, उन्हें अपने पास कभी फटकने ही न दे।

जिस समय बुरे विचार आने लगें, उस समय वह अन्यमनस्क होनेका प्रयत्न करे। भगवद्ध्यानसे, मन्त्र-जपसे, श्रवणसे, सत्संगसे बुरे विचारोंकी धाराको तोड़ देना चाहिये। भले ही उपन्यास, नाटकों, समाचार-पत्रोंको पढ़ना पड़े, परंतु बुरे विचारोंकी धारा अवश्य तोड़नी चाहिये और उत्तरोत्तर उत्तम विचारोंका आश्रय लेना चाहिये। इसी तरह अच्छे कर्मोंके लिये पहले अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। इसीलिये अच्छे शास्त्रोंका अभ्यास, अच्छे पुरुषोंका संग करने और पवित्र वातावरणमें रहनेसे अच्छे विचार बनते हैं, बुरे विचार और बुरे कर्म छूट जाते हैं। अतः श्रेयस्कामीको सदा वेदान्तादिके सच्चिन्तनमें ही लगे रहना चाहिये। कहा भी गया है—

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया।
दद्यान्नावसरं किंचित् कामादिभ्यो मनागपि॥

वैसे मनका सहसा संकल्प-विकल्पसे रहित होना असम्भव है, पर प्रयास मनोनिग्रहका चलता रहना चाहिये। जैसे भाद्रपदमें सिन्धु, शतद्रु, गंगा आदि नदियोंका वेग रोककर उनके उद्गम-स्थानमें लौटाकर उन्हें सुखा देना असम्भव है, परंतु सामान्य ऋतुओंमें उनसे नहर आदिको निकालकर जलप्रवाहको मोड़ा तो जाता ही है। उसी प्रकार बुरे विचारोंको रोककर, सात्त्विक विचारोंकी धाराओंको चलाकर, सात्त्विक वृत्तियोंसे तामस वृत्तियोंको काटकर सदाचरणपूर्वक शनैः-शनैः अन्तरंग-सूक्ष्म-सात्त्विक वृत्तियोंसे स्थूल-बहिरंग-सात्त्विक वृत्तियोंको भी काटकर निर्वृत्तिकता सम्पादन की जा सकती है।

शास्त्रोंमें बालकोंके विचारोंको सँभालनेका बड़ा ध्यान रखा गया है। स्त्रियों और बालकोंके निर्मल कोमल पवित्र अन्तःकरणोंमें पहलेसे ही जो बातें अंकित हो जाती हैं, वे ही उनका चरित्र-निर्माण करती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्रुत लाक्षा (लाख)-के समान कठोर होता है तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता और जब वह द्रुत लाक्षाके समान कोमल रहता है तो लाक्षापर मुहरके अक्षरोंके समान निर्मल कोमल उस पवित्र अन्तःकरणपर उत्तम आचरणों और उपदेशोंसे प्रभाव पड़ जाता है। पहलेसे ही बुरे संगों और ग्रन्थोंसे बालकोंके हृदयमें कूड़ा-करकटका भरा जाना अत्यन्त हानिकारक है। इसीलिये अच्छे पुरुषोंका संग तथा सच्छास्त्रोंके अभ्यासमें ही उन्हें लगाना अच्छा है—

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥

जैसे लोगोंका सहवास होता है और जैसे लोगोंका सेवन होता है, जैसा होनेकी उत्कट वांछा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धेय प्राणीके प्रति श्रद्धालुका अन्तःकरण, प्राण, देह आदि झुक जाते हैं, अतएव श्रद्धेयके उपदेशों और आचरणोंका प्रभाव श्रद्धालुओंके अन्तःकरणमें पड़ता है। यद्यपि सात्त्विकी श्रद्धा उत्तम व्यक्तियोंमें ही हुआ करती है, तथापि तामसी, राजसी श्रद्धा कहीं भी उत्पन्न हो सकती है। बुरे लोगोंके सहवाससे बुरी इच्छा, बुरे कर्म बन पड़ते हैं, जिनसे प्राणीका पतन हो जाता है, परंतु अच्छे संगों, अच्छी इच्छाओं, अच्छे कर्मोंसे प्राणी सम्राट्, स्वराट्, विराट्, अनन्त, धन-धान्य-सम्पन्न इन्द्र, महेन्द्र, ब्रह्मा आदितक बन सकता है। अच्छे संग, अच्छी इच्छा और शास्त्रोक्त उत्तम साधनोंका सहारा लेकर प्राणी मनचाही वस्तुको प्राप्त कर सकता है। एक जन्म या अनेक जन्मोंमें प्राणी अवश्य ही अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकता है, अगर बीचसे लौट न पड़े। अन्यान्य वस्तुओंके समान ही सद्विचारोंके भी आदान-प्रदानसे श्रेष्ठ चरित्र और श्रेष्ठ जीवनचर्याका निर्माण किया जा सकता है तथा इससे साध्य—मोक्षतककी प्राप्ति भी सम्भव है।

चरित्र—भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन

(ब्रह्मलीन पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम अखण्ड सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वरकी कृपाप्राप्तिके बिना प्राणीका कल्याण कदापि सम्भव नहीं। परम निःश्रेयसका एकमात्र आधार उन्हीं अशरणशरण,अकारणकरुणावरुणालय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान भगवान्की कृपा है; इस लोकमें भी सर्वविध सर्वांगीण समुन्नतिका एकमात्र साधन भगवत्कृपा ही है। उसके बिना सुखोंके सभी साधन सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इतना ही नहीं, उलटे वे घोर दुःखके कारण बन जाते हैं। अतः भगवान्की कृपाप्राप्तिपूर्वक उनका सांनिध्य प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। तदर्थ सद्धर्माचरण—चरित्रानुष्ठान सर्वोत्तम कार्य है। विष्णुपुराणमें कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(विष्णुपु० ३।८।९)

शास्त्र उनकी आज्ञा हैं। लोकमें भी यदि हम किसीका कृपाप्रसाद चाहें तो उसका सीधा-सा साधन उसका आज्ञापालन है। कठोर-से-कठोर हृदयवाले पुरुष भी निरन्तर अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले व्यक्तिपर कृपादृष्टि बनाये रखते देखे जाते हैं। फिर अत्यन्त कोमल स्वभाववाले प्रभुका तो कहना ही क्या?

भगवान्की कोमलता लोकोत्तर है। समस्त संसारकी ऐश्वर्य-माधुर्याधिष्ठात्री जगज्जननी भगवती पराम्बा महालक्ष्मी अपने कमलसे भी कोमल हाथोंसे भगवान्के श्रीचरणारविन्दोंका संवाहन करनेकी इच्छासे जब उनका स्पर्श करनेके लिये अग्रसर होती हैं तब मन-ही-मन सकुचाती हैं कि कहीं मेरे इन कठोर हाथोंसे श्रीचरणारविन्दोंको कष्ट न हो जाय।

यद्यपि लौकिक मनुष्योंकी तरह भगवान् प्रत्यक्ष होकर आज्ञा नहीं देते, फिर भगवान्की आज्ञाका पालन कैसे किया जाय? तथापि विश्वजनीन, सर्वहितकारी, सर्वजनसुखकारी सनातनधर्मकी यह एक अद्भुत विशेषता है कि उसमें स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे ही अपनी आज्ञाका स्पष्ट निर्देश करते हैं। अनादि अपौरुषेय विश्वकल्याणकारक वेदवाक्य और धर्मशास्त्र ही भगवान्की आज्ञाएँ हैं। उनका पालन करना ही उन प्रभुकी आज्ञाका पालन और उनका उल्लंघन करना ही भगवान्की आज्ञाका उल्लंघन करना है। लौकिक व्यक्ति भी अपने स्वामीकी आज्ञाकी उपेक्षा करनेपर जैसे सांसारिक सुखोंसे वंचित रहता है, ठीक वैसे ही श्रीभगवदाज्ञास्वरूप वेदशास्त्रों (धर्मशास्त्र-स्मृतियों)-के विधानका उल्लंघन करनेवाला व्यक्ति भी इहलोक और परलोकमें कभी किसी प्रकारकी भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जो वेद-शास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघन करता है, वह न तो भगवद्भक्त कहलानेका अधिकारी है और न उसे वैष्णव ही कहा जा सकता है। स्वयं श्रीभगवान्के वचन हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

(वाधूलस्मृति १८९)

वेद-शास्त्रप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मका उल्लंघन करनेवाला व्यक्ति मेरी आज्ञाका पालन नहीं करता, इसलिये वह मेरा भक्त नहीं, अपितु मेरा द्रोही है; फिर उसे वैष्णव कहलानेका अधिकार कहाँसे मिल सकता है?

सच्चारित्र्यद्वारा श्रीभगवत्कृपा प्राप्त करनेका भी यही एकमात्र उपाय है कि अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार यथाशक्ति, यथासम्भव स्वधर्मानुष्ठान किया जाय तथा उसके फलकी इच्छाका परित्यागकर अपने किये हुए सत्कर्म, सद्धर्मको भगवान्के श्रीचरणारविन्दोंमें अर्पण कर देना चाहिये। शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंमें अपने मनको कभी प्रवृत्त न होने देना ही भगवद्भक्तिका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। अन्यथा भगवान् प्रसन्न नहीं होते—

स्वधर्मकर्मविमुखा रामकृष्णेति राविणः।
ते हरेर्द्वेषिणो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥

भगवान् कहते हैं—यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यकर्मका अनुष्ठान करो तथा बिना फलकी इच्छा रखे उन कर्मोंको मेरे चरणोंमें अर्पित कर दो। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय मुझे सन्तुष्ट करनेका नहीं है। स्पष्ट है कि सच्चारित्र्यसे भगवान्के सन्तुष्ट होनेपर ही उनकी कृपा प्राप्त होगी तथा भगवत्कृपा-प्राप्तिसे ही सर्वविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी।

जीवनमें शान्ति भगवत्प्राप्तिसे ही हो सकती है और यह होती है—निष्काम भावयुक्त सदाचारके अनुष्ठानके द्वारा

चित्तकी शुद्धिसे, उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रतासे तथा ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर। श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार मनसे होता है। मनमें मल, विक्षेप और आवरण—तीन दोष हैं। पहला दोष मनकी मलिनता (मल) है, जिसका कारण है—जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरमें किये गये शुभाशुभ कर्मोंकी वासना। मैले कपड़ोंको साबुन या क्षारसे धोनेपर जैसे उसमें स्वच्छता आती है, ठीक वैसे ही मनके मलिन संस्कारोंको धोनेके लिये निष्कामभावसे शास्त्रविहित सदाचार-सद्धर्मके अनुष्ठानकी आवश्यकता है।

मनका दूसरा दोष है—विक्षेप, अर्थात् चित्तकी चंचलता। उसके दूर करनेका एकमात्र उपाय है, शुभाचारयुक्त भगवान्‌की भक्ति—दूसरे शब्दोंमें श्रीभगवान्‌में शुद्ध प्रेम। प्रेम उसी वस्तुमें उत्पन्न होता है, जिसके रूप और गुणोंका ज्ञान हो। लौकिक पदार्थोंमें भी उनके रूप और गुणोंका ज्ञान होनेपर ही प्रेम उत्पन्न होता है, इसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम उत्पन्न करनेके लिये भगवान्‌के रूप और गुणोंका ज्ञान आवश्यक है और भगवद्रूप तथा गुणोंके ज्ञानका साधन है—इतिहास-पुराणद्वारा भगवान्‌के पवित्र चरित्रका श्रवण अथवा पठन। भगवान्‌के चरित्रका जितना ही अधिक श्रवण अथवा पठन होगा, उतना ही अधिक भगवान्‌में प्रेम बढ़ता चला जायगा। जैसे-जैसे प्रेम बढ़ेगा, वैसे-वैसे ही भगवान्‌में मन भी लगने लगेगा। स्त्री-पुत्रादिमें भी प्रेम बढ़नेसे ही मन लगता है और प्रेम बढ़ानेका उपाय—जिसमें प्रेम हो, उसके रूप और गुणोंका ज्ञान ही है। अत: रामायण-महाभारत आदि इतिहास तथा पुराणोंके श्रवण अथवा पठनके द्वारा भगवान्‌के रूप और गुणोंके ज्ञानकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। भगवच्चरित्र ही भगवद्भक्ति एवं सभी सदाचारोंकी जननी है—

जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥

(रा०च०मा० १।३१।२)

भगवच्चरित्र-श्रवणसे भक्ति और सदाचार दोनों बढ़ते हैं। सदाचाररहित भक्तिसे भी भगवान् प्रसन्न नहीं होते और भक्तिहीन सदाचार भी अकिंचित्कर है (नारदपुराण पूर्वभाग)। सदाचारपूर्ण भक्ति ही भगवान्‌को प्राप्त करनेका साधन है।

इस तरह सदाचारके बिना भगवद्भक्ति भी नहीं हो सकती और भगवद्भक्तिके बिना चित्तकी चंचलता नहीं मिटती। भक्ति और सदाचार—इन दोनों साधनोंसे चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्तके एकाग्र हो जानेपर शान्त मन विषयोंके प्रति उपराम हो जाता है। फिर सुख-दुःख, भूख-प्यास और सर्दी-गरमीके सहन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। क्रमशः गुरु और शास्त्रोंके वाक्योंमें श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न होने लगते हैं, जिनसे चित्तका समाधान हो जानेपर मोक्षकी इच्छा होती है। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप सदाचारके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

यही प्राणीके जीवनका मुख्य उद्देश्य है, जिसमें सदाचार सर्वत्र परम सहायक है।

भारतीय हिन्दूधर्म सनातन-संस्कृतिमें मानव-जीवनचर्याका महत्त्व

[ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजीके अमृतोपदेश]

भक्तिरसमय श्रीवृन्दावनधाममें यमुनानदीके तटपर मंचासीन श्रीदेवराहा बाबाजीका अमृतोपदेश चल रहा था।

पूज्य बाबाश्रीने कहा—बच्चा! मानवकी जीवनचर्याका अर्थ मानवका शास्त्रानुमोदित धर्म है। मानवकी मानवता ही उसका धर्म है। धर्मकी शिक्षा देनेके लिये ही भगवान्‌का अवतार होता है। अवतार भक्तोंकी उपासनाके लिये होता है। भगवान्‌की उपासना करना मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठ जीवनचर्या है। भगवान्‌के भजनसे आत्मज्ञान तथा वैराग्यके दिव्य गुण स्वत: ही आते हैं। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तिकी महिमा दर्शायी गयी है। ज्ञान और वैराग्यके बिना भक्तिदेवीको रोते हुए बताया गया है। एक ही भगवतत्त्वका

वर्णन अनेक ढंगसे अनेक रूपोंमें किया जाता है, लेकिन बिना सन्त-महात्मारूपी गुरुदेवकी शरणमें आये धर्मशास्त्रोंका मर्म प्रायः समझमें नहीं आता है। मानव-जीवनको सफल बनानेके लिये धर्मशास्त्रोंमें वर्णित आदर्श जीवनचर्याको जानकर इसका अनुष्ठान बचपनसे ही करना चाहिये। प्राचीन समयमें लोग स्वधर्मका महत्त्व भलीभाँति जानते थे, अतः स्वधर्मके अनुसार ही वे अपनी जीवनचर्याका पालन श्रद्धाभक्तिपूर्वक करते थे, लेकिन आज मनुष्य स्वधर्मको भूल गये हैं। मानव-जीवनके लिये आदर्श जीवनचर्याका उपदेश सन्त-महात्मा अनादिकालसे देते आये हैं; जिनका पालन करनेसे ही उनका जीवन सफल तथा धन्य बन पाता है। आचारहीन प्राणीका कल्याण नहीं होता है।

आचार सभी धर्मोंसे श्रेष्ठ तथा परम तप है। उसीको ज्ञान कहा जाता है। शास्त्रानुमोदित आचारके बिना ज्ञान विष है। इस प्रसंगमें उपदेश देते हुए पूज्य बाबाश्रीने कहा— सामान्य मानवधर्म शिष्टाचार है। विशेष मानवधर्म सदाचार है। लोककी भावनासे आदर्श आचार शिष्टाचार है। भगवान्‌की भावनासे दिव्याचार सदाचार है। आत्मभाव भगवान्‌का भाव है। देहभाव लोकभाव है। आदर्श भक्त अपने शरीरमें ही भगवान्‌का साक्षात् अनुभव करता है। मानव-शरीर पाकर भी यदि मनुष्य सांसारिक विषयोंमें इसका दुरुपयोग करता है तो उसका दुर्भाग्य है। तुलसीदासजीने सत्य ही कहा है—

काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं॥

(रा०च०मा० ७।१२१।१२)

'मनि' का अर्थ भगवद्भक्ति है। यह मानवशरीर केवल भगवद्भक्तिमें लगानेके लिये प्राप्त होता है। हिरण्यकशिपु अपने बेटे प्रह्लादको रामनाम लेनेसे मना करता था, लेकिन प्रह्लादने शिष्टाचारका त्यागकर सदाचारका पालन किया; क्योंकि शिष्टाचारसे अधिक महत्त्वपूर्ण सदाचार है। बड़े-बड़े विद्वान् भी सदाचार तथा शिष्टाचारके गूढ़ रहस्यको नहीं समझ पाते हैं। इसी प्रकार श्रीभरतजीने भगवान् श्रीरामको वनवास देनेके कारण अपनी माता कैकेयीको बुरा-भला कहा था। सदाचारका महत्त्व शिष्टाचारसे अधिक है। धर्मशास्त्रोंमें शिष्टाचारको लौकिक धर्म ही बताया गया है, लेकिन सदाचार भगवान्‌की भावनामें होनेके कारण पारमार्थिक धर्म है।

भक्त स्वाभाविक रूपमें सभी जीवोंके हृदयमें भगवान्‌का अधिष्ठान जानकर स्वयं मानरहित होकर सबका सम्मान करते हैं। निरभिमानिता तथा दूसरोंकी सेवा करनेका दिव्य गुण भक्तमें ही होता है। श्रीहनुमान्‌जीके जीवन दर्शनमें दिव्य सेवा-भावनाका महत्त्व दर्शाया गया है। भक्त और भगवान्‌की जीवनचर्या आदर्शरूप होती है। जीवनमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, यह धर्मशास्त्र एवं सन्त-महापुरुष ही बताते हैं। ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब मनुष्योंके गुण और कर्मके अनुसार मिलते हैं। जिसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो, उसे अपनी जीवनचर्याको सत्संग, स्वाध्याय, नामकीर्तन और भगवान्‌की लीलाओंका गुणगान करनेमें व्यतीत करना चाहिये। भगवत्प्राप्तिके लिये आदर्श दिनचर्या ही आदर्श जीवनचर्या है। भारतके सारे ऋषियोंने भगवद्भक्तिको मानव-जीवनका सर्वश्रेष्ठ संस्कार कहा है। मानवजीवनमें स्वधर्मका कल्याणमय स्थान है। अज्ञानी, परमात्मभावके विरोधी प्राणी परधर्ममें ही व्यर्थ जीवन खोते हैं। स्वधर्मका पालन करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि अपना कल्याण करनेमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी आवश्यकता नहीं है। परधर्मका पालन करनेमें मनुष्य परतन्त्र है। आत्मभावसे कर्म करना स्वधर्म है। शरीरभावमें कर्म करना परधर्म है। स्वधर्म कल्याणकारक है और परधर्म भयावह है। भगवान्‌ने मानवमात्रके कल्याणकी भावनासे कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३।३५)

तुलसीदासजीकी भावना भी कल्याणमयी है। उनका कहना पूर्ण सत्य है—

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥

(रा०च०मा० ६।८०।७)

भगवान् सद्भावमें बसते हैं, दुर्भावमें नहीं। कृपालु प्रभु अपनेमें हैं और सारे प्राणियोंमें हैं। संसारकी भावना अज्ञानमयी है, अतः इसका त्याग मनसे करना आवश्यक है। इसी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीतामें संसारको अपना

माननेसे मना किया है। अपने तो भगवान् हैं और विश्वास करनेसे ही उनकी अनुभूति अपनेमें होती है। अत: अपनेमें उनकी अनुभूति करना ही उनकी भक्ति है तथा उनकी प्राप्ति भी है। सर्वत्र भगवान् हैं, ऐसा विश्वास होना ही उनकी प्राप्ति है। सत्संग तथा शास्त्रोंके अध्ययनसे भगवान्में अटल विश्वास होता है, जिसे भगवत्प्राप्ति कहते हैं। परम सन्त तुलसीदासजीने सत्य ही कहा है—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(रा०च०मा० ७। ९०क)

श्रीमद्भगवद्गीता (१५। ४)-के अनुसार केवल कर्म और साधनासे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती है। साधन-भजन करनेसे अन्त:करण अवश्य पवित्र होता है और सन्तोंकी कृपासे ही भगवान्में विश्वास होता है। सभी प्राणियोंमें एक आत्माकी सत्ता है और एक ही भगवान्की सत्तामें विश्वास करना हिन्दूधर्मकी आध्यात्मिक संस्कृति है। हिन्दूधर्मकी संस्कृति अपनानेमें कितना सुगम है; लेकिन श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामचरितमानस तथा श्रीमद्भागवतके मूलतत्त्व अध्यात्मको नहीं समझनेके कारण सर्वत्र अशान्ति, दुराचार, दुर्भावनाकी वृद्धि हो रही है। इसी भावको दर्शाते हुए परम सन्त श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे॥

(रा०च०मा० ७। १२०। १२)

भगवत्प्रेममें **'वासुदेव: सर्वम्'** की भावनासे सबका हित चाहना हिन्दूधर्मकी सच्ची जीवनचर्या है। संसारके कर्म तो मनुष्यके मरनेके बाद भी दूसरोंके द्वारा किये जा सकते हैं। सदाचारमय जीवन ही सच्ची जीवनचर्या है। इसी मंगलमय भावको दर्शाते हुए तुलसीदासजी महाराजने सत्य ही कहा है—

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥

(रा०च०मा० ७। १२०। १०-११)

भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी दिव्य भावनाओंसे भगवत्प्रेमकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अज्ञानी मनुष्य उनकी दिव्य भावनाओं और उनके दिव्य गुणोंकी ओर दृष्टि न डालकर केवल उन्हें मनुष्यरूपमें देखते हैं, इसे भगवान्ने मनुष्योंकी मूढ़ता ही बताया है। भगवान्ने आध्यात्मिक ज्ञान देते हुए कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

आध्यात्मिक ज्ञान होनेपर ही कोई मनुष्य भगवत्प्रेमी, सुचरित्रवान् और सुसंस्कृत बन सकता है। प्राणिमात्रके कल्याणकी भावना ही सच्चे भगवत्प्रेमका स्वरूप है।

जब कर्ममें कल्याणकी भावना हो तभी कोई कर्म भजनका रूप धारण करता है। रावणकी भावना आसुरी और अकल्याणमयी थी, अत: उसके सारे पूजा-पाठ, शास्त्र-अध्ययन, तप आदि कर्म आसुरीभावसे पूर्ण थे। मनुष्यका आसुरीभाव दैवीभावकी अधिकतासे ही मिट सकता है। अत: श्रीमद्भगवद्गीतामें दैवीभावके विकासपर अधिक बल दिया गया है। दैवीभावसे अपने वर्ण-धर्मका पालन करना ही पूजा और भगवद्भक्ति है। भगवान्की दिव्यवाणी गीतामें देखी जाय—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:॥

(१८। ४६)

भगवान्से रहित कोई प्राणी नहीं है। अपनेमें भगवान् हैं और सभी प्राणियोंमें भगवान् हैं। भगवान्की भावनामें जीवन जीना सच्ची मानवता है। भगवद्भावमें स्थित होकर सबसे प्रेम करते हुए निष्काम सेवा करना भगवत्प्रेमका सच्चा स्वरूप है।

वास्तवमें भगवत्प्रेम विश्वप्रेम है और यही परमानन्दस्वरूप है। आनन्द और प्रेम दोनों एक ही हैं। आनन्दमें दूषित अहं-भाव समाप्त हो जाता है और भगवत्प्रेममें भेद-भावकी दृष्टि समाप्त हो जाती है; क्योंकि भगवान्की भावना भेद-भावसे रहित होती है। सारे संसारमें भगवान्को देखनेका सन्देश भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गीतामें दिया है।

भगवत्प्रेम ही आध्यात्मिक संस्कृति है। सब कोई भगवान्से प्रेम करें और अपना कल्याण करें।

[प्रेषक—श्रीरामानन्दजी चौरासिया]

श्रीअरविन्दके योगमें जीवनचर्या

जीवन भगवान्‌के द्वारा आत्माको प्रकृतिके विकासहेतु प्रदत्त साधन है। इस योगके साधनहेतु ही जीवनकी उपादेयता है। सम्पूर्ण जीवनचर्या ही योग है और श्रीअरविन्दके अनुसार केवल जीवन ही योगका क्षेत्र हो सकता है। इस शारीरिक यन्त्रको ही प्रकृतिने सृष्टिके विकासके प्रथम साधनके रूपमें दिया है। मानव-शरीरकी गतिविधि आत्माके अनुसार विकासका क्षेत्र है, अतः जीवनको यदि इसलिये व्यवहार किया जा सके कि वह मानव-चेतनामें भगवान्‌को केवल प्राप्त करनेका साधनमात्र नहीं, बल्कि उन्हें अभिव्यक्त करनेका माध्यम भी हो सके तो उसी जीवनकी सार्थकता है। नैसर्गिक जीवन तो सभी सत्ताओंमें है। भौतिक पदार्थ, प्राणिजगत्, मनोमय सत्ताएँ—सभीमें जीवन तो है, पर आत्माके प्रकाशमें जीवनको संचालित करनेकी प्रणाली नहीं है। केवल मानवको ही इस चुनावकी क्षमता प्राप्त है कि वह जीवनकी पद्धतिको दिव्य जीवनमें उन्नीत होनेके लिये व्यवहार कर सकता है या नहीं?

आत्मा तो भगवान्‌का अंश है और वह अपने मूल स्वरूपमें है किन्तु जब वह पार्थिव, प्राणिक और मानसिक सत्ताओंको भागवत चेतनामें रूपान्तरित करना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम अपने जीवनको नियन्त्रित करनेकी आवश्यकताका अनुभव होता है।

जीवनचर्या केवल विधि-निषेधोंके पालनमें ही सीमित नहीं है। यह मानव-चेतनाको उच्चतर चेतनामें उन्नीत करनेका साधन है। यह केवल स्थूल और प्राणिक सत्ताको ही प्रभावित नहीं करती, बल्कि अन्नमयकोष और प्राणमयकोषके आगे मनोमयकोषको भी सन्तुलित और व्यवस्थित करती है। इसीसे विज्ञान और आनन्दमयकोषका अधिष्ठान तैयार होता है।

मानवमें ही भौतिक प्रकृतिका पूर्ण विकास सम्भव है। वह पार्थिव, मानसिक और आनन्दमयकोषोंमें एक ही साथ सचेत होकर जीवनमें आचरण कर सकता है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणमें व्यवहार कर सकता है।

'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥'

(माण्डूक्योपनिषद् ४)

अर्थात् मानवात्मा ही स्वप्नमें निवास कर सकता है। वह आन्तरिक रूपसे चेतन है, सात अंगोंसे युक्त है, उन्नीस द्वारोंवाला है और तैजसको अनुभव कर सकता है।

ऐसी आत्माके शुद्ध रूपको प्रकट करनेके लिये शुद्ध जीवनकी आवश्यकता है। यह शुद्धता आचारसे प्रारम्भ होती है। मानवको पशुतासे ऊपर उठानेके लिये कदाचरण कभी भी सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। जीवनपर युग और कालका प्रभाव होता है, किन्तु जीवन इनसे बँधा नहीं है। यदि लक्ष्य स्पष्ट हो तो जीवनकी गतिविधि सभी बाधाओंको पार कर सकती है, प्रकृतिपर नियन्त्रण कर सकती है और साधना बन जाती है। जीवनचर्या प्रकृतिको भी परिवर्तित करनेकी क्षमता रखती है।

लक्ष्यहीन जीवनमें हम जड़ प्रकृतिमें निवास करते हैं। आन्तरिक जीवन हमें लक्ष्य प्रदान करता है। जीवनचर्या प्रकृतिके संशोधनका प्रयास है। उच्चतर गुणोंके विकासका मार्ग है। जीवनचर्याकी विकृतियोंसे यह मार्ग कुछ समयके लिये अवरुद्ध हो सकता है, पर रुक नहीं सकता। प्रकृतिकी चर्याका लक्ष्य ही है भागवत-व्यक्तित्व। आचार और विचारको दिव्य बनानेके लिये चेतनाको ऐसे स्तरपर प्रतिष्ठित कर देना, जहाँ सामाजिक नियमोंकी आवश्यकता ही न रहे और नैतिक नियमोंका प्रश्न ही समाप्त हो जाय।

जीवनचर्याका प्रथम चरण है प्राकृतिक जीवन। इसी स्तरपर जीवनचर्यामें संयमका प्रारम्भ होता है। जीवनकी क्रियाओंपर तर्कके प्रकाशमें विचार करनेकी शक्ति आती है। साथ ही विवेक और बोधका जागरण भी प्रारम्भ होता है, जो आगे चलकर आत्माके अनुसार जीवनचर्याका मार्ग प्रशस्त करता है। जीवनचर्याके साधारण कार्य शुद्ध रीतिसे प्रतिपादित होनेपर वे अन्तरात्मामें ऐसी ऊर्जाका निर्माण करते हैं, जो ऊर्जा हमें आत्मबोध करानेमें सहायता करती है।

मानव एक सत्ता नहीं, बल्कि अनेक सत्ताओंका समूह है और शरीर, प्राण, मन आदि स्तरोंकी सत्ताएँ मानवचर्याको प्रभावित करती हैं। केवल एक सत्ता है, जो गुप्त और वास्तविक है। श्रीअरविन्द जीवनचर्याको शिक्षाका अंग मानते हैं, जिससे शिशु विकसित होकर मनुष्य बनता है और मनुष्यमें पुरुष होनेकी क्षमताका निर्माण होता है।

जीवनचर्या ही बर्बरको सभ्यताका पाठ पढ़ाती है। प्राण और मनको उपयोगी बनाती है। जीवनको सौन्दर्य, सुषमा और सन्तुष्टि प्रदान करती है; पर यह स्थिति नैसर्गिक नहीं होती, इसके लिये उचित संस्कार और प्रशिक्षण आवश्यक हैं। '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' जीवनका लक्ष्य तो है, पर इसकी चर्चा नहीं, इसतक पहुँचनेका प्रयास ही जीवन-प्रकृतिकी खोजका आध्यात्मिक अर्थ है।

जीवनचर्या सभ्यता और बर्बरताको समझनेके विवेकसे निर्धारित होती है। दूसरी ओर संस्कृतिका विकास जीवनचर्याके माध्यमसे ही होता है। यह साधन है, जिससे आत्मा भावी विकासके लिये सृष्टिके दिव्यीकरणकी ओर अग्रसर होती है, पार्थिवके बन्दीगृहसे चेतनाको मुक्त करती है और उसे सौन्दर्य, सामंजस्य और आत्मशासक संकल्पका वाहक बनाकर मानवको पुरुष बनाती है।

इसी पृष्ठभूमिमें श्रीअरविन्द और श्रीमाँ सम्यक् जीवनचर्याको योग-साधनका अपरिहार्य अंग मानते थे। श्रीमाँका कहना था कि यदि तुम किसीको जानना चाहते हो तो उसकी बड़ी-बड़ी बातोंको सुननेके बजाय उसकी जीवनचर्या देखो और तब तुम उसके वास्तविक रूपको पहचान पाओगे। [**प्रेषक—श्रीदेवदत्तजी**]

मानवजीवनका उद्देश्य

[श्रीमाँ, अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी]

(१) लक्ष्यहीन जीवन सदैव दु:खद जीवन होता है। तुममेंसे प्रत्येकका एक लक्ष्य होना चाहिये। लेकिन यह न भूलो कि तुम्हारे लक्ष्यके स्वरूपपर ही तुम्हारे जीवनका स्वरूप निर्भर करेगा।

(२) क्या सुखी होना जीवनका लक्ष्य है?

यह चीजोंको किंचित् उलट-पुलटकर रखना है। मानवजीवनका लक्ष्य भगवान्‌को खोजना और उसे व्यक्त करना है। स्वभावतः यह खोज सुखकी ओर ले जाती है; लेकिन यह सुख एक परिणाम है, स्वयंमें लक्ष्य नहीं। मात्र परिणामको जीवनका लक्ष्य समझ लेनेकी भूल ही है, जो अधिकांश दु:खोंका कारण रही है और वही मानवजीवनको कष्ट पहुँचा रही है।

(३) साधारण जीवनका लक्ष्य है अपने कर्तव्यको पूरा करना, आध्यात्मिक जीवनका लक्ष्य है भगवान्‌को पाना।

(४) धरतीपर हमारे जीवनका लक्ष्य है भगवान्‌के बारेमें सचेतन होना।

(५) जीवनका सच्चा लक्ष्य है अपने भीतर गहराईमें भागवत-उपस्थितिको खोजना और इसके प्रति समर्पित हो जाना, जिससे कि यह जीवनका, सब अनुभूतियोंका और शरीरकी सभी क्रियाओंका नेतृत्व कर सके।

(६) जीवनका सच्चा उद्देश्य भगवान्‌के लिये जीना या 'सत्य' के लिये जीना या कम-से-कम अपनी अन्तरात्माके लिये जीना है और सच्ची निष्कपटता है भगवान्‌से बदलेमें किसी लाभकी आशा किये बिना 'उनके' लिये जीना।

(७) जीवनका सच्चा लक्ष्य है अपने अन्दरकी गहराइयोंमें 'भगवान्‌की उपस्थिति' को पाना और 'उसके' प्रति समर्पण करना ताकि 'वह' जीवनका, सभी भावनाओं और शरीरकी क्रियाओंका मार्गदर्शन करे। यह चीज जीवनको सच्चा और प्रकाशमय लक्ष्य प्रदान करती है।

(८) जीवनका एक प्रयोजन है। यह प्रयोजन है भगवान्‌को खोजना और उनकी सेवा करना। भगवान् दूर नहीं हैं, 'वे' हमारे अन्दर हैं, अन्दर गहराईमें भावनाओं और विचारोंके ऊपर। भगवान्‌के साथ है शान्ति, निश्चिंति और साथ ही सभी कठिनाइयोंका समाधान। अपनी

समस्याएँ भगवान्‌को सौंप दो और 'वे' तुम्हें कठिनाइयोंसे बाहर निकाल लेंगे।

(९) जीवन सत्य और मिथ्यात्वके बीच, प्रकाश और अन्धकारके बीच, प्रगति और अवनतिके बीच, शिखरोंपर उत्थान या खाईमें पतनके बीच सतत चुनाव है। इसमें हर एकको खुलकर चुनाव करनेका अधिकार है।

(१०) मनुष्य भगवान्‌को अभिव्यक्त करनेके लिये बनाया गया था। इसलिये उसका कर्तव्य है कि भगवान्‌के बारेमें सचेतन हो और अपने-आपको पूरी तरह 'उनकी इच्छा' के प्रति अर्पण कर दे। बाकी सब, चाहे कुछ भी क्यों न दीखता हो, मिथ्यात्व और अज्ञान है।

(११) पार्थिव जीवन प्रगति-स्थल है। पार्थिव अस्तित्वकी अवधिके दौरान यहींपर—पृथ्वीपर प्रगति सम्भव है। यह चैत्य ही है, जो स्वयं अपने विकास एवं परिवर्धनको संघटितकर प्रगतिको एक जीवनसे दूसरे जीवनमें ले जाता है।

(१२) धरतीपर जीवनका उद्देश्य ही है चेतनामें वृद्धि करना। उत्तरोत्तर जीवनोंकी अनुभूतिद्वारा धीरे-धीरे अवचेतनाका क्षेत्र कम होता है।

योगद्वारा अपने अन्दर और जीवनमें भगवान्‌को खोजनेके प्रयासद्वारा तुम इस कामको काफी तेज चला सकते हो और यह कुछ वर्षोंमें भी हो सकता है।

(१३) जो स्थायी, शाश्वत, अमर और अनन्त हो, वस्तुतः वही पानेयोग्य है, जीतनेयोग्य है, अधिकृत करनेयोग्य है। वह है 'दिव्य ज्योति', 'दिव्य प्रेम', 'दिव्य जीवन'—वह 'परम शान्ति', 'पूर्ण आनन्द' और धरतीपर 'पूर्ण प्रभुत्व' भी है और इसका मुकुट है 'पूर्ण भागवत अभिव्यक्ति।'

(१४) व्यष्टिगत आत्मा और समष्टिगत आत्मा एक ही है, हर एक जगत्‌में, हर एक सत्तामें, हर एक वस्तुमें, हर अणुमें 'भागवत-उपस्थिति' मौजूद है और मनुष्यका लक्ष्य है उसे अभिव्यक्त करना।

(१५) हम जिसकी खोज करते हैं, वे भगवान् बहुत दूर और अगम्य नहीं हैं। वे अपनी सृष्टिके ठीक केन्द्रमें स्थित हैं और वे हमसे चाहते हैं कि हम उनको प्राप्त करें और व्यक्तिगत रूपान्तरके द्वारा उनको जानने, उनसे जुड़ने तथा अन्ततः सचेतन रूपसे उनको अभिव्यक्त करनेमें सक्षम हों। इसीके प्रति हमें स्वयंको समर्पित करना चाहिये—यही हमारे अस्तित्वका सच्चा कारण है।

(१६) मनुष्यका जीवन तबतक अपूर्ण है, जबतक उसने भगवान्‌को न पा लिया हो।

[प्रेषक—सुश्री सुधाकेड़िया]

जीवनमें संस्कारोंसे लाभ

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दसरस्वतीजी महाराज)

जीव और बीज, स्वर-वर्णकी दृष्टिसे अत्यन्त समान हैं। केवल वर्ण-विन्यासका ही अन्तर है—'ज्'+'ई'+'व्'; 'ब्'+'ई'+'ज'। बीजांकुर-न्यायसे ही वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्षके समान जीवसे देह और देहसे जीवका क्रम चलता रहता है। चेतन और जड़, आत्मा तथा देह इतने घुल-मिल गये हैं कि जड़ अपनी मृत्यु, अज्ञान एवं दुःखरूपताको चेतनपर थोप देता है और चेतन अपनी प्रियता, ज्ञान एवं सत्ताको जड़में डाल देता है। यह अनादि-अनन्त अध्यास, यद्यपि मिथ्याज्ञान-मूलक है तथापि प्रत्यगात्माकी अद्वितीय ब्रह्मसे एकताका बोध न होनेतक प्रवाहित होता ही रहता है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं द्विपाद मनुष्य प्राणीके अतिरिक्त सबमें जड़ताकी प्रधानता होती है। केवल इस मानव शरीरमें ही जड़ताके शिथिलीकरण अथवा निवारणका सामर्थ्य उदय होता है। इस जीवनमें ही समग्र अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी प्राप्तिकी योग्यता आती है।

मनुष्यमें भी अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके संस्कार तो रहते ही हैं। गर्भके, पिता-माताके, उनके वंशानुगत क्रमधाराके भी संस्कार रहते हैं। संस्कार कुछ अच्छे होते हैं, कुछ बुरे। बुरे संस्कारोंको विकार कहते हैं। जो जड़ताकी ओर ले जाय सो विकार। जो जीवमें लिप्त विकारोंको मिटा दे सो संस्कार। संस्कार माने सँवारना,

सुधारना। जैसे दर्पणको स्वच्छ करना, चमकाना। यह जीव एक रत्न है। जैसे रत्न जब खानसे निकाला जाता है तो उसमें मिट्टी लगी रहती है, बेडौल होता है। उसको निर्मल करते हैं, चमकाते हैं, छँटाई-घिसाई भी करते हैं और पालिश भी। उसकी चमक-चिलक—रश्मियोंके धूप-छाँव प्रकट हो जानेपर भी, उसे पिरोनेके लिये जो छिद्राभाव होता है, उसकी भी पूर्ति छिद्र करके की जाती है। जीवके संस्कार भी इसी प्रकारके हैं। बीजगत एवं गर्भगत दोषोंको मिटाना और जीवनको चेतनोन्मुख करके पुरुषार्थकी प्राप्तिके योग्य बनाना संस्कारोंका प्रयोजन है। मनुजीने कहा है—बैजिक एवं गार्भिक दोषोंकी निवृत्तिके साथ-साथ इस जीवनको ब्रह्म-प्राप्तिके योग्य बनाना भी संस्कारोंका उद्देश्य है। इसीको प्राचीन शास्त्रोंमें दोषापनयन, गुणाधान एवं हीनांग-पूर्तिके नामसे कहा गया है।

माताके गर्भाशयमें जीव-बीजकी स्थापनाके लिये भूमिशुद्धि अथवा पीठशुद्धि करना आवश्यक है। बाह्य भूमिशुद्धिकी जैसे अनेक प्रक्रियाएँ हैं, उसी प्रकार अन्तःपीठशुद्धिके लिये शास्त्रीय संस्क्रिया है। शुभ समय, शुभ स्थल और सदाचारी ब्राह्मणोंके द्वारा मन्त्रोच्चारण, देवताका अनुग्रह एवं गर्भाधानके पूर्वांग, जिनका वर्णन शतपथ-ब्राह्मण आदिमें भी आता है—का अनुष्ठान, जीव-चैतन्यरूप महती शक्तिके प्रतिष्ठापनकी योग्यता उत्पन्न करते हैं। मन्दिरमें देवताकी स्थापनाके लिये जैसी शुद्धि की जाती है, वैसी ही शुद्धि गर्भमें भी होनी चाहिये। यह शब्द-शक्तिके प्रवाह-प्रभाव एवं संकल्पयुक्त क्रियाके द्वारा सम्पन्न होती है।

पुंसवन-संस्कारमें मन्त्र, देवानुग्रह, माता-पिताके शुभ संकल्पके साथ-साथ ओषधि-विशेषका भी प्रयोग होता है। इससे सन्तान दीर्घायु, स्वस्थ, सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ, तेजस्वी, बुद्धिमान् एवं सदाचार-सम्पन्न होती है। वह पुत्र हो या पुत्री, इस संस्कारसे सदाचार, सद्भाव एवं सद्‌गुणकी सम्पदा निश्चित रूपसे प्राप्त होती है। 'सीमन्तोन्नयन-संस्कार' से माताके चित्तका प्रसादन होता है। माताका मन तृप्त, सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहे, उनका प्रभाव गर्भस्थ शिशुपर पूर्ण रूपसे पड़ता है और उसके शरीरमें सुखी रहनेकी क्षमता उत्पन्न होती है। यदि माता उदास, निराश, दुःखी, रोती-कलपती एवं भविष्यके प्रति घबराहट लिये हुए रहे तो बालकपर उसका प्रभाव पड़ता है। इसलिये इस संस्कारमें पिता उसके सुख-सौमनस्यका सारा उत्तरदायित्व सँभाल लेता है, जिससे वह निश्चिन्त रहे।

गर्भावस्थाके ये तीन संस्कार मुख्यतः गर्भस्थ शिशुकी शारीरिक पूर्णताकी दृष्टिसे होते हैं; क्योंकि अन्तःस्थ शिशुके लिये उसके प्रत्येक अवयव अर्थात् सर्वांगकी पुष्टिकी आवश्यकता रहती है। यदि क्रिया न भी हो सके तब भी मन्त्रोंमें जो अलौकिक, अचिन्त्य शक्ति रहती है, केवल उसका श्रवण और उच्चारण ही अपना प्रभाव डालते हैं। शास्त्रोक्त क्रियाका अनुष्ठान मन्त्र न बोलनेपर भी एक विशेष भावको जन्म देता है, जिससे गर्भस्थ शिशुकी पुष्टि होती है।

जातकर्म-संस्कार शिशुके उत्पन्न होनेपर होता है, किंतु नालच्छेदनसे पूर्व। अपने माता-पिताके साथ उसके सम्बन्धको दृढ़ करनेकी यह एक पद्धति है। पुत्र पिताके अंग-अंगका प्रवाह-प्रभाव है। वह पिताके हृदयका ही मूर्तपिण्ड है। पिता ही पुत्रके रूपमें प्रकट हुआ है। उपनिषद्‌में इसीसे पत्नीको 'जाया' कहा गया है। पिता पत्नीके द्वारा पुत्रके रूपमें प्रकट होता है। 'बीज' पिता, 'क्षेत्र' माता। यह जातकर्म-संस्कार पुत्रके हृदयमें माता-पिताके प्रति श्रद्धा एवं आदरयुक्त सम्बन्ध उत्पन्न करता है। यही संस्कार विकसित होकर '**मातृदेवो भव**', '**पितृदेवो भव**' के भावको दृढ़ करता है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि गर्भस्थ शिशुके संस्कार स्थूल शरीरकी पुष्टिके लिये होते हैं और जातकर्म आदि संस्कार जीवनकालीन भावोंकी परिपुष्टिके लिये होते हैं।

अपने पूर्वजोंके साथ सम्बन्धकी परिपुष्टिके अनन्तर स्व-विषयक योग्यताका आधान करनेके लिये नामकरण आदि संस्कार होते हैं। नाम ऐसा होना चाहिये जो अपनी प्राचीन परम्पराके साथ कड़ी जोड़कर नवीन-नवीन गुणोंका समोन्मेष करनेवाला हो। प्राकृत वस्तुओंके नाम और परिणाम क्रमसे होते हैं। प्राकृत परिणामके अन्तिम रूप पंचभूत हैं। अन्य सब रूप कार्याभास ही हैं। समष्टिसे पृथक्

व्यष्टिका नामकरण देश, काल, जाति, सम्प्रदाय, परिवार-परम्पराके अनुरूप रखे जाते हैं। ये नाम जब शास्त्रोक्त रीतिसे रखे जाते हैं तो यज्ञ-यागादि कार्यमें इनके द्वारा संकल्प करनेकी योग्यता आती है। जैसे, अमुक गोत्रः, अमुक पुत्रः, अमुक शर्मा इत्यादि। नक्षत्र-नाम, राशि-नाम ग्रहोंके चार तथा फलादेश आदिको सूचित करते हैं। नाममें अचिन्त्य शक्ति होती है। वह सूक्ष्म शरीरमें सुषुप्त सद्गुणोंको जगाता है, प्राचीन इतिहास एवं सदाचारका बोधक भी होता है, वर्ण-विभागको सूचित करता है—शर्मा, वर्मा, गुप्त आदि। यह कल्याण, गुण, रक्षा एवं पालनका संकेत भी करता है। मन्त्रपूत नाम, अन्तःकरणकी शुद्धिमें भी सहायक होता है। इसीसे तुरीय आश्रममें प्रवेश करनेपर प्रायः सच्चिदानन्द-वाचक नाम रखे जाते हैं। दुराचार, दुर्भाव, दुर्गुण एवं पशुत्व-सूचक नाम नहीं रखना चाहिये।

माताके रस-रक्तसे ही शरीरकी पुष्टि होती है। अतः माताका दूध शिशुके लिये सर्वापेक्षा अधिक हितकारी होता है। परंतु अन्तःस्थ भावनाकी परिपुष्टिके लिये अन्नकी विशेष आवश्यकता होती है। अन्नसे ही मन बनता है। 'जल' से 'प्राण' और 'तेज' से 'वाक्'। अन्नमें इन तीनोंका ही समावेश है। यदि अन्न पवित्र एवं योग्य होगा तो शरीरमें मन, प्राण एवं वाणीका विकास होगा। अतएव 'अन्नप्राशन' केवल लौकिक बलकी वृद्धि एवं संरक्षणके लिये ही आवश्यक नहीं है, इसके द्वारा अध्ययन एवं चिन्तनके बलकी भी प्राप्ति होती है। व्यावहारिक जगत्का मूलभूत उपादान अन्न ही है। अतएव अन्नप्राशन एक संस्कार है एवं मनुष्यकी उन्नतिमें सहायक है। मन्त्र, देवता, पारस्परिक संस्कार एवं ब्राह्मण, माता-पिताके आशीर्वादसे अन्नमें बल, बुद्धि एवं भोजन-मर्यादाकी प्रतिष्ठा होती है। **'अन्नं बहु कुर्वीत'**—अन्नका आदर करना चाहिये। यह संस्कार बाल्यावस्थामें ही होना आवश्यक है।

फैशनसे बचो

(परमहंस स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

अध्यात्मयोगका मार्ग विलासिताप्रिय, फैशनप्रिय, अत्यन्त कोमल और सुकुमार शरीरवाले फूलबाबुओंके लिये नहीं है। सादा किंतु उच्च जीवन व्यतीत करनेवाले ही विलासिता-राक्षसी या फैशनके भूतोंको दूरसे ही प्रणाम करते हुए सच्चे कर्मवीर, आत्मत्यागी और लोकसंग्रही बन सकते हैं। ऐसा आदर्श और सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य ही परम पुनीत लोकसंग्रहात्मक देशरूपी 'विराट् ब्रह्मकी' समुचित सेवा, अर्चा और पूजा कर सकता है। सर्वसाधारणको भी इस विलासिता-राक्षसीकी मायामयी गोदमें पलने और खेलनेवाले फैशनके भूतसे सदा सावधान और सचेत ही रहना चाहिये।

वर्तमानकालकी सभ्यतामें प्रतिपालित फूलबाबुओं और सभ्यताभिमानी सुशिक्षित नवयुवकों तथा कोमल हृदयवाली सुकुमार रमणियोंका जीवन भी इन दिनों आदिसे अन्ततक 'फैशन' के ही रंगमें रँगा हुआ है! ये मनुष्यजन्म धारण करते ही 'फैशन' की ही गोदमें पलते, फैशनके पलने वा झूलेपर ही झूलते और खेलते हुए, फैशनकी ही डारमें फूलते-फलते और अपने मनुष्यजीवनका अन्त भी फैशनकी चिताभूमिपर ही कर डालते हैं! पाश्चात्य सभ्यताके रंगमें रँगे हुए भद्र पुरुषों और महिलाओंका तो कहना ही क्या? ये तो फैशनके बेदामके गुलाम ही हैं। फैशनप्रेमी यह नहीं सोचते कि न तो हमारा यौवन ही स्थिर है और न फैशन ही सदा एक-सा रहता है। यह तो सदा बदलता ही रहता है। जिसे कल फैशन या सौन्दर्यकी पराकाष्ठा समझ रहे थे, वही दो दिनोंके बाद ही असभ्यतासूचक जंगलीपनेका बर्बरतापूर्ण घृणित और कुत्सित बर्ताव समझा जाता है। एक समय था कि फैशनके बाजार लन्दन और पेरिसमें भी सर्वांगको ढाँकनेवाली लम्बी-लम्बी गाउनें सभ्यताका चिह्न समझी जाती थीं, पर अब नग्न-सौन्दर्य ही फैशनका चरम लक्ष्य बन रहा है। अर्धनग्नता ही फैशनकी पराकाष्ठा और निष्ठा मानी जा रही है। लोग इसके समर्थनमें विज्ञानकी ही दुहाई देते हुए यह भी कहा करते हैं कि स्वास्थ्य, आरोग्य, शरीररक्षा और दीर्घायुप्राप्ति तथा दीर्घ जीवनके लिये इस मनुष्यशरीरका

जो अंग जितना अधिक प्रकृतिके खुले हुए वातावरणकी शुद्ध और खुली वायुमें रहा करता है, वह उतना ही पुष्ट और सुन्दर भी हुआ करता है। तभी तो भारतके ऋषि-महर्षियोंने भी अवधूत और परमहंस संन्यासियोंके लिये **'जातरूपधरो भूत्वा जडवल्लोकमाचरेत्'** नवजात शिशुका ही नग्न वेश धारणकर लोकमें जड़वत् प्रपंचमय दृश्य जगत्के प्रति संज्ञारहित होकर विचरण करनेका विधान श्रुतियोंमें प्रतिपादित किया है, पर इतना अन्तर अवश्य है कि इनके लिये अट्टालिकाओं अथवा विलासिताकी गोदमें रहनेकी आज्ञा नहीं। इन्हें तो वन-वनकी धूल छानने, प्रारब्धसे ही प्राप्त कन्द-मूलपर जीवननिर्वाह करने और शरीराध्यास या देहाभिमानतकको त्याग देनेका ही कठोर विधान है। इन्हें तो प्रकृतिका दास या गुलाम नहीं, बल्कि प्रकृतिका प्रभु ही बनना है। अस्तु, इस पाश्चात्य सभ्यताके युगमें स्त्रियोंका अर्धनग्न वक्ष:स्थल और पुरुषोंकी आधी खुली बाँह, आधी खुली टाँगें, आर्मकट वेस्टकोट (बिना बाँहकी आधी बण्डी) तथा हाफपैंट (घुटनेदार पायजामे) आदि ही शिष्टाचार और सभ्यताके आदर्श नमूने हैं। यदि मस्तिष्कपर नहीं तो सिरके बालोंपर ही पूर्ण अधिकार अवश्य होना चाहिये, यही पाश्चात्य युगकी सिद्धि है। ये जिस प्रकार चाहें अपने बालों या केशोंको काट-छाँटकर अपने मनके अनुरूप बालभवन या केशकर्तनमन्दिरमें बैठे हुए ही बना सकते हैं। तभी तो बेचारे देहाती ग्रामीण नाऊको जो नयी फैशनके अनुसार दाढ़ी, मूँछ और सिरके केशका उचित रूपसे काटना, सँवारना या सजाना नहीं जानता, आज मुश्किल हो रही है। फैशनका यह भूत अपने साथ-साथ फैशनरूप कामवासनाओंका सूत्र भी मनुष्यके गलेमें ही बाँध रखता है। तभी तो फैशनकी गुलाम एक दरिद्रातिदरिद्र धनहीन नारी भी एक साधारण-से 'फ्राक' के लिये पाँच सौ रुपयेतक खर्च करनेका दुस्साहस कर लेती है। उसे इस बातकी क्या चिन्ता कि उसके परमाराध्य पतिदेवको इस नगदनारायणकी आराधनाके लिये कौन-कौन-सी तीव्र साधनाओंकी अग्निमें अपने-आपको तपाना पड़ता है। वर्तमान सुशिक्षित समाजके इस 'अग्निकुण्ड' की भीषण भयंकरताका 'अन्दाज' भी कौन लगा सकता है? इसी भयंकर फैशनके फेरमें पड़ा हुआ आजका युवक आत्महत्या, विश्वासघात, बुद्धिकी प्रतारणा और धर्मभ्रष्टताकी ही शरण लेता हुआ निरा दुराचारी, अत्याचारी या व्यभिचारीका ही जीवन व्यतीत करता हुआ समाज और धर्मका कट्टर शत्रु भी बन जाता है! और अपने इस दुराचारके भयंकर परिणामस्वरूप भयंकर जानलेवा रोगोंका शिकार बनकर अकालमें ही कराल कालके गालमें अपने प्राणतक गँवा बैठता है। दु:खकी दावाग्निमें जलता हुआ वह निरन्तर उच्च स्वरसे फूट-फूटकर रोता, चिल्लाता और अरण्यरोदन करता हुआ भगवान्से बड़े ही करुण स्वरमें प्रार्थना किया करता है—'नाथ! मैं पापी हूँ, अब पापके इस भयंकर परिणामोंके सहनेमें नितान्त असमर्थ हो रहा हूँ। बहुत हो चुका, अब तो दया करो। पूर्वजन्ममें न जाने मैंने कौन-से कुकर्म या पाप किये हैं। भगवन्! क्षमा करो! त्राहि माम्! त्राहि माम्! रक्ष माम्! रक्ष माम्!' पर वह अपने जीवनको सुधारने या कर्तव्यपथकी ओर लानेका उचित उद्योग कभी नहीं करता। माया! तेरी बलिहारी है!'

इन दिनों एकमात्र फैशनके लिये ही कपड़ोंकी काट-छाँट और कतरनमें ही जितने टुकड़े नष्ट होते हैं, यदि उनका ही संग्रह कर लिया जाय तो देशके किसी विचक्षण राजनीतिज्ञका कहना है कि उतनेसे भारतके लाखों नग्न या अर्धनग्न रहनेवाले दरिद्रनारायणोंका वस्त्राच्छादन—शरीर ढाँकनेका काम पूरा हो सकता है।

क्या यह इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि फैशन या विलासिताकी ही रक्षाके लिये देशके करोड़ों जीवोंका बलिदान फैशनकी बलिवेदीपर किया जा रहा है और देशका जो धन फैशन या विलासिताकी ही द्रुत वेगसे बहनेवाली भयंकर नदीमें जलकी तरह बहाया जा रहा है, उससे आज भारतके कई करोड़ नित्य उपवाससे ही जीवन व्यतीत करनेवालोंकी उदरपूर्तिका साधन भी अवश्य हो जाता।

यदि विचारपूर्वक देखिये तो संसारमें मनुष्यको जीवननिर्वाह और शरीरकी रक्षाके लिये रोटी, दाल, घी, दूध, शाक और फल, एक गिलास ठंडा जल तथा शरीरको शीतोष्णसे बचानेके लिये दो-चार कपड़ोंके अतिरिक्त और अधिककी आवश्यकता ही क्या है? यदि यह धन जिसका दुरुपयोग फैशन वा विदेशीय और विजातीय सभ्यता एवं

विलासिताकी रक्षामें किया जाता है उसे धर्म, लोकहित वा देशसेवाके सार्वजनिक कार्योंमें सात्त्विक दान और सहायताके रूपमें व्यय किया जाता तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मनुष्योंका यह निवासस्थान देवलोकमें परिणत हो जाता और मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्वका अधिकारी बन जाता। नित्य और शाश्वत सुख, परम शान्ति, सत्यं शिवं सुन्दरम् और परमानन्दका रूप धारण कर लेता और प्रेमपूर्वक **'सच्चिदानन्दस्वरूपोऽहम्'** की ही सुमधुर ध्वनि करता हुआ **'अहं ब्रह्मास्मि'** पदपर अभिषिक्त हो जाता। पर हमारी वर्तमान परिस्थिति क्या है? अशान्ति, उद्विग्नता, भय, निराशा, चिन्ता और उदासीनताके ही काले बादल मुखमण्डलपर घिर आये हैं, चेहरा फीका और पीला पड़ गया है। प्रसन्नचित्तताका लवलेश या बिन्दु-विसर्ग भी नहीं है। आप इस स्थूल शरीरको बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों वा फैशनेबल कपड़ोंसे ही क्यों न आच्छादित कर लें, शरीरपर रत्नजटित सुवर्ण और मोती-हीरा आदिके बहुमूल्य आभूषण ही क्यों न लाद रखें, नयी-नयी स्टाइलके वस्त्र ही क्यों न पहन लें, पर चेहरेपर तो पीलियाका रोग ही उदासीनता, कुरूपता, असन्तुष्टता, अप्रसन्नता, अभाग्यता, निराशा-परायणता, हतभाग्यताके रूपमें अपना ज्वलन्त और देदीप्यमान रूप धारण किये रहता है। चिन्ता, दुःख, लोभ, काम, क्रोध और ईर्ष्या-द्वेषके भयंकर कीटने ही हमारे हृदय-पटलपर अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा है।

इसका कारण क्या है कि आज स्त्री अथवा पुरुष भड़कीले और फैशनेबल कपड़ोंके पीछे दीवाने-से हो रहे हैं। क्या यह ठीक नहीं है कि वे इस फैशनके बलपर अपने भाइयों—जिन्हें वे 'अन्य' समझा करते हैं-की दृष्टिमें अपेक्षाकृत बहुत बड़े प्रतिष्ठित या सम्मानास्पद हुआ चाहते हैं। उनकी यह मिथ्या धारणा ही उनके इस आडम्बरपूर्ण जीवनका आधार बन जाती है कि बहुमूल्य फैशनेबल या भड़कीले ठाट-बाटके वस्त्रोंसे समाजमें उनकी विशेष प्रतिष्ठा हो जायगी और मूर्खोंके समाजमें वे इस मिथ्या प्रतिष्ठाके पात्र बन भी जाते हैं। यह सब क्या है? धोखेकी टट्टी और मायाका भ्रमात्मक जाल ही तो है। भला, वस्त्र या आभूषणोंसे भी किसीको सच्चा सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है? यह तो सौन्दर्य नहीं, सौन्दर्यका बनावटी दिखावा, सजावट वा शृंगारमात्र है। यह क्षणिक और झूठी

चमक-दमक, किंचित् कालके लिये भी कभी स्थिर नहीं रहनेवाली। मिथ्या रूप-राशिका सौन्दर्य कितने दिनोंके लिये है? यदि इसके बजाय तुम्हारे हृदयमें करुणा, क्षमा, दया, सहानुभूति, प्रेम, सहनशीलता, धैर्य और भक्ति आदि सद्गुणोंका सद्भाव उत्पन्न हो जाता तो निश्चय जानो कि तुम अखिल जगत्के ही प्राणोंके प्राण, परमप्यारे लाडले लाल और दुलारे तथा 'सम्मान' रूप नक्षत्रजगत्के उज्ज्वल तारे भी बन जाते और चिथड़ोंमें लिपटे रहनेपर भी तुम उस नित्य और शाश्वत 'सौन्दर्य' के अधिकारी बनकर **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** का ही आदर्श रूप धारण कर लेते।

भारतवर्षके लिये फैशन तो एक भयंकर अभिशाप है, विलासिता देशकी सुखशान्तिके लिये सर्वसंहारकारिणी कराल कालिका है। जहाँ फैशन है वहाँ मलिन वासनाएँ, अशुभ विचार, काम-क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या, राग-द्वेष, अहंकार और देहाभिमान आदि राक्षसोचित कुप्रवृत्तियोंका ही साम्राज्य है। फैशनमें पड़ना सांसारिकताके ही दलदलमें फँसना है। विलासिता दरिद्रताकी जननी और सजीव चिताका ही ज्वलन्त रूप धारण करनेवाली चिन्ताराक्षसीकी चिरसंगिनी ही है। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो अपने शरीरमें फैशनकी गन्धतक न आने दो। इसका पूर्ण बहिष्कार और समूल नाश ही कर दो। आध्यात्मिक उन्नति या आत्म-

कल्याणके पथपर अग्रसर होनेके लिये एक दिन '**कौपीनवन्तं खलु भाग्यवन्तम्**' का ही आदर्श वेश धारण करना पड़ेगा। अतएव अभीसे ही सादे वस्त्रोंसे ही सरल जीवन व्यतीत करनेका अभ्यास क्यों नहीं करते? सादा पर उच्च जीवन ही ब्रह्मपदकी 'निसेनी' है। विलासिताकी गोदमें पले और फैशनके 'गुलाम' बने हुए विजातीय और विदेशीय भावपूर्ण मनुष्योंकी संगति भूलकर भी न करो। सादा पर उच्च और सरल जीवन व्यतीत करनेवाले, स्वदेशीयता और स्वजातीयताके ही भावोंमें ढले हुए तथा मोटे खादीके वस्त्रोंको धारण करनेवाले विद्वान्, साधु, भक्त, सन्त, संन्यासी, महात्माओं और देश एवं धर्मकी सेवा करनेवाले आदर्श धर्माचार्यों और सत्पुरुषोंका ही आदर्श अनुकरण करो। सरल या साधु जीवन ही सर्वांगसुन्दर मनुष्य-शरीरका प्रधान आभूषण है। साधुता या सरलता ही पवित्रताकी जननी है। साधु जीवन ही देवताओंका दिव्य जीवन है। तुम्हारे इस दिव्य जीवनमें चिन्ता आदि व्यर्थके कुत्सित और कलुषित विचारोंकी गन्धतक नहीं रहेगी और तब तुम अपना जीवन अध्यात्मयोगके ब्रह्मात्मचिन्तन, आत्मकल्याण या ईश्वरके ध्यानमें भी व्यतीत कर सकोगे।

इस हमारी विलासप्रियताने ही आज हमें 'अहंभाव' का निर्जीव कठपुतला ही बना रखा है। आज हममें अपने-आपका, देश, भाषा, जाति, धर्म या गौरवका कोई अभिमान ही नहीं रहा।

यह विदेशीय फैशन हृदयमें 'अहंभाव', 'शरीरभाव' और देहात्मवादके ही मिथ्या असद्भावोंको भरनेवाला है। भक्ति या ज्ञानके मार्गमें विघ्न पहुँचानेवाली यह फैशनपरस्ती भयंकर डाकिनी और कंकालिनी ही है। 'फैशन' अन्य शब्दोंमें विषयवासना या कामलिप्साका रूपान्तरमात्र है।

स्त्री या पुरुषके स्थूल और पांचभौतिक शरीरका सच्चा सौन्दर्य उसके सद्‌गुण वा सात्त्विक विचारोंमें ही निहित है। उस सत्पुरुष या सती स्त्रीके लिये इन बनावटी रूप, रंग और शरीरकी सजावटके लिये सोनेकी पिन, रिंग, चेन, हार, लौंग, कंकण, सींक आदि आभूषण या भड़कीले और बहुमूल्य विदेशी वस्त्रों और विजातीय वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं है। अज्ञानियों और मूर्खोंकी दृष्टिमें बड़े और धनी समझे जाने और फैशनपर ही मर मिटनेवाले इन पतनकारियोंकी ही देखादेखी बेचारे मोटे वस्त्र धारण करनेवाले धनहीन और दरिद्र भी संसर्गदोषसे फैशनकी ओर ही दौड़ने लग गये हैं। तभी तो भगवान् कृष्णने कहा है कि 'जैसा प्रमाणरूप आचरण समाजके श्रेष्ठ लोग किया करते हैं, वैसा ही आचरण उनका अनुकरण करते हुए देशके इतर जन (जनसाधारण) भी किया करते हैं।'

रक्त, चर्म और अस्थिसे बना हुआ यह शरीर विष्ठा, मूत्र, श्लेष्मा, लार, थूक [खखार] आदि दुर्गन्धिपूर्ण पंचनद वा पंच आबोंसे भरा हुआ एक अत्यन्त घृणित मांस-पिण्ड, फोड़ा या पीबभरा घाव ही है। इसे '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'के नाते ही एक पट्टी या वस्त्रसे ढाँककर सुरक्षित रखना है, इसके लिये रेशमी फीतों या किनारियोंसे सुसज्जित बारीक और रेशमी वस्त्रोंकी कोई आवश्यकता नहीं। इस क्षणिक, नश्वर, दुर्गन्धिपूर्ण, घृणित अस्थि और मांससे बने हुए मांसपिण्डको भाँति-भाँतिके गहने-कपड़ोंसे सजाकर रखना मूर्खताकी चरम सीमाका ही परिचय देना है। अपने हृदयपर हाथ रखकर सत्यभावसे कहिये कि क्या यह आपके मिथ्या अहंकार, दम्भ और मूर्खताका ही परिचायक नहीं है? क्या अब भी अपनी इस भयंकर मूर्खताको आपने नहीं समझा है? अब आप अधिक विलम्ब न करें! इस सर्वनाशकारी 'फैशन' का पूर्ण परित्याग कर दें। बस, इसी क्षण भगवान् जनता-जनार्दनके इस विशाल जनसमाजरूप मन्दिरमें भगवान् जनार्दनको ही, अपनी अन्तरात्माका एकमात्र साक्षी बनाकर, इस बातका दृढ़ संकल्प कर लें, देर न करें। इस बातका दृढ़ संकल्प कर लीजिये कि बस अभीसे ही शुद्ध, पवित्र और सादे स्वदेशी वस्त्रोंका ही उपयोग किया करेंगे।

याद रखिये, आप इस संसारमें नंगे ही आये थे और यहाँसे नंगे ही जायँगे भी! और तो क्या, आपके शरीरकी वह बहुमूल्य कंचुकी और कटिवस्त्रका भी अपहरण कर लिया जायगा, घर और परिवारवाले इन बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंको अपने नाती और पोतोंके लिये सुरक्षित रख छोड़ेंगे और आपकी कमरमें कपड़ेका एक टुकड़ा वा धेला भी नहीं रहेगा। भला बताओ तो सही कि संसारमें आकर बहुमूल्य वस्त्रादिके लिये एक दिन नष्ट हो जानेवाले या सदाके लिये छूट जानेवाले ही 'धन' के संग्रहमें इतना

अधिक अथक परिश्रम, मेहनत और हाय-हाय क्यों और किसके लिये कर रहे हो? क्या कोई परलोकमें भी तुम्हारे साथ जायगा? अब भी अपनी मूर्खताको समझो! बुद्धि, विवेक और विचारसे काम लो। अपने-आपको पहचानो। आत्मज्ञान प्राप्त करो, ईश्वरप्राप्ति या आत्मसाक्षात्कारके सहारे 'स्वस्वरूप' में ही स्थित और अपने सच्चिदानन्दस्वरूप या 'आनन्द ब्रह्म' में ही लीन होकर चिरशान्ति प्राप्त कर लो और '**यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**' को ही अपना परमधाम बना लो।

फैशन और विलासिताके पुतले बने हुए और 'मायाजाल' में विमोहित स्त्री-पुरुष-नामधारी अबोध मनुष्यो! अविद्याकी बलिवेदीपर अपनी अन्तरात्माकी 'बलि' देनेवाले मायामुग्ध मूढ जीवो! सचेत हो जाओ! अब भी समय है। सावधान! विलम्ब न करो! अपने अमूल्य समय, अक्षय आत्मबल और आदर्श विद्याशक्तिको अविद्यामायाके इस फैशन और विलासितारूप मिथ्या बाह्याडम्बरमें व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो? इससे बढ़कर अधिक शोचनीय स्थिति और क्या होगी? '**ज्योतिर्ज्योतिः स्वयंज्योतिः**'-रूप तुम्हारी 'आत्मा' की अन्तर्ज्योतिसे बढ़कर अधिक ज्योतिपूर्ण और प्रकाशमान 'सौन्दर्य' को ढूँढ़नेके लिये तुम अन्यत्र कहाँ भटक रहे हो? वह स्वयंप्रकाश है और सौन्दर्य तथा माधुर्यकी खान है। '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' के रूप में '**आनन्दं ब्रह्म**' बना हुआ वह तुम्हारी हृदयगुहामें ही विराजमान है।

वह '**दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्**' और '**ईश्वरः सर्वभूतानां**' बना हुआ '**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' तुम्हारी हृदयगुहामें ही—साक्षीरूपसे [**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**] निर्गुण होकर भी सगुण बना हुआ है। अखिल ब्रह्माण्डका यह 'ज्योतिरूप सौन्दर्य' उस 'आत्मसौन्दर्य' के '**यस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' (जिसके स्वयंप्रकाशसे ही यह अखिल विश्व प्रकाशित है) अनुपम माधुर्य छायामात्र है। बस, अपने हृदयको '**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' और '**वस्त्रशुद्धौ शरीरशुद्धिः**' से ही शुद्ध करो, मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखो। हृदयरूप अपने एकान्त 'उपासनामन्दिर' में मौन और आत्मस्थ होकर शान्तिपूर्वक बैठ जाओ और उस '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' का ही निरन्तर ध्यान करते रहो। वही तुम्हारा अमर सखा, बन्धु और 'आत्मा' भी है। सर्वभावसे इस 'आत्मा' की प्राप्तिमें ही लग जाओ और तभी तुम 'सर्वांगसुन्दर' और चिरसुखी भी हो सकोगे। फिर तो नित्यानन्दकी धारा ही उमड़ पड़ेगी और वह तुम्हें ब्रह्मानन्दके आनन्दसागरमें बहा ले जायगी। आत्मधनके सच्चे 'धनी' भी तभी बन सकोगे और तभी तुम सबसे 'बड़े' या 'महान्' (महात्मा) भी बन जाओगे! हरिः ॐ!

अच्छा बननेका उपाय

(ब्रह्मलीन महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

अच्छा बनोगे, क्या इसकी चिन्ता है?

बतलाओ, कैसे अच्छा बनूँगा?

किसीका भी दोष न देखो, इसीसे अच्छा बन जाओगे। जो दूसरोंके दोषोंको देखता है, वह उन दोषोंको आकृष्टकर स्वयं दोषमय बन जाता है। यदि सचमुच अच्छा बनना चाहते हो तो अदोषदर्शी बनो। दूसरोंके दोष देखनेके समान कोई पाप नहीं है। जो अन्याय करता है, वह तो करता ही है, तुम उसके अन्यायको देखकर, ढोल बजाकर, अपनी आँख और जीभको कलंकित करते हो, इसीसे रोते-कलपते हो। आँखें मिली हैं सबको भगवान्के रूपमें दर्शन करनेके लिये, प्रणाम करनेके लिये। जीभ मिली है श्रीभगवान्के नाम-रूप-लीला-गुणका गान करनेके लिये, उस आँख और उस जीभको यदि दूसरोंके दोष देखने और बतलानेमें लगाते हो तो बतलाओ, तुमसे बड़ा अभागा संसारमें दूसरा कौन है?

मुझे दूसरेके दोष दीखते हैं। तब कैसे नहीं कहूँगा?

दूसरोंका दोष देखनेसे पहले तुम अपने दोष देखो। तुम जीवनभर कितने सैकड़ों दोष कर चुके हो, अब भी करते हो, अपने दोषोंको एक-एक करके चुन-चुनकर दूर कर डालो, बस बिलकुल निर्मल हो जाओगे, फिर दूसरोंके

दोष नहीं देख पाओगे। तुम्हारे भीतर दोष है, इसीसे दूसरोंके दोष देख पाते हो। जिस दिन तुम दोषशून्य हो जाओगे, उस दिन किसीका दोष नहीं देख पाओगे। मनुष्य जिस प्रकार बारीकीसे दूसरोंके दोष देखता है, उसी प्रकार जिस दिन वह अपने दोषोंको देखेगा, उसी दिन निर्मल—एकदम दोषशून्य हो जायगा। शिक्षित लोगोंमें भी ऐसे अभागे आदमी मिलते हैं, जो दूसरोंके लेखोंमें केवल दोष ही निकालते हैं। सम्भव है, दूसरे लेखकके लेखमें कितने ही सुन्दर भाव हैं पर उन्हें न देखकर कहाँ दोष है, कौन लेखक कहाँ भूल करता है, वे यही खोजते रहते हैं और उसे जनसमाजमें प्रकाशित करके अपना कृतित्व प्रदर्शन करते हैं। शिव, शिव! उनका दोष देखना कृतित्व नहीं, महान् अकृतित्व है।

बतलाओ, फिर कैसे हमारे दोष दूर होंगे?

न चक्षुषा मनसा वा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित्॥

(अध्यात्ममुक्तावलीधृत हारीत-गीता)

'चक्षु, मन या वाक्यके द्वारा किसीका दोष-दर्शन, चिन्तन या वर्णन न करे। प्रत्यक्षमें हो या परोक्षमें, कभी किसीकी निन्दा न करे।'

इच्छा न होते हुए भी दूसरोंके दोष दीख जाते हैं, यह दारुण रोग कैसे दूर होगा?

रजोगुण और तमोगुणसे ही दोष दीखते हैं।

गुणे प्रवृद्धे वर्धन्ते गुणा दोषजयप्रदाः।
दोषे विवृद्धे वर्धन्ते दोषा गुणविनाशनाः॥

(योगवासिष्ठ २।१६।३२)

'संयमके अभ्यास और सात्त्विक आहार आदिके द्वारा जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तब दोषपर विजय प्रदान करनेवाले गुण बढ़ जाते हैं और राजसिक-तामसिक आहार तथा असंयमसे दोषके बढ़ जानेसे गुणोंका नाश करनेवाले दोष अत्यन्त बढ़ जाते हैं।'

यथाऽऽत्मनि पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥

(विष्णुपुराण ३।८।१७)

'जैसे मनुष्य अपनी और अपने पुत्रकी हितकामना करता है, उसी प्रकार जब वह सर्वभूतोंका हितकामी बनता है, तब उसके द्वारा हरि सर्वदा सुखपूर्वक तुष्ट होते रहते हैं।'

यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥

(श्रीमद्भा० ४।७।५३)

'पुरुष जिस प्रकार अपने सिर, हाथ आदि अंगोंको कभी भी दूसरेका नहीं समझता, उसी प्रकार जो मत्परायण (भगवत्परायण) है, मुझे (भगवान्‌को) परात्पर समझता है, वह किसी भी प्राणीके ऊपर 'यह प्राणी तथा इसके सुख-दुःख आदि मुझसे भिन्न हैं'—ऐसी परकीय बुद्धिका आरोप नहीं करता।'

दोषदर्शन करना अतिशय दोषावह है—यह तो मैं समझता हूँ, तथापि दोषदर्शन कर बैठता हूँ—इससे छूटनेका क्या उपाय है?

इस युगमें उपायकी तो कोई चिन्ता नहीं है, केवल भगवान्‌का नाम लो।

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

'अत्यन्त दुष्ट कलियुगका यह एक महान् गुण है कि श्रीकृष्णका नामकीर्तन करनेसे सारे बन्धनोंसे मुक्त होकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

अनुक्षण कर तुमि नामसंकीर्तन। हेलाय लभिबे प्रिय प्रेम महाधन॥

'तुम प्रतिक्षण नाम-संकीर्तन करो, इससे प्रिय-प्रेमरूपी महाधन सहज ही पा जाओगे।'

केवल नाम लो, नाम लेते-लेते वैराग्य स्वयं आ उपस्थित होगा।

वैराग्यबुद्धिसततमात्मदोषव्यपेक्षकः।
आत्मबद्धविनिर्मोक्षं करोत्यचिरादेव सा॥

(अ० मु० धृ० महाभारत)

विषयोंसे वैराग्य उपस्थित होते ही अपने ही दोषोंकी ओर दृष्टि जाती है और वह अति शीघ्र ('अहं-मम रूप') बन्धनसे मुक्त कर देती है। नाम लो और सबको भगवत्स्वरूप समझकर प्रणाम करो।

उठते और बैठते, खाते, पीते, सोते सारे दिन।
सतत नाम-संकीर्तन करता, तर जाता तुरंत वह जन॥
नामरूपसे हैं जगमें अवतीर्ण स्वयं वे श्रीभगवान।
नाम-गानमें, नाम-दानमें सौंपो तुम अपने मन-प्रान॥

सार्ववर्णिक धर्म

(गोलोकवासी सन्त पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥*

(श्रीमद्भा० ११।१७।२१)

छप्पय

सत्य, अहिंसा शुद्ध चित्ततें मनमहँ धारैं।
कबहुँ न चोरी करैं काम बड़ रिपुकूँ मारैं॥
क्रोध लोभतें रहित होहिं प्रिय करहिं सबनिको।
प्राणिमात्रतें प्रेम करैं हित सब जीवनिको॥
सुखी होहिं परसुख निरखि, पर संपति लखि नहिं जरैं।
स्वयं न प्रिय व्यवहार जो, तिहि औरनि संग नहिं करैं॥

कुछ लोग धर्मको अलग मानते हैं और चरित्र तथा सदाचारको अलग। उनके मतमें उपासनागृहमें जाना, पूजा-पाठ करना, परमात्माकी प्रार्थना करना यह तो धर्म है और सत्य, अहिंसा परोपकारादि सदाचार हैं। इनका मत है सदाचारके लिये धर्मकी धार्मिक क्रियाओंकी कोई आवश्यकता नहीं। धार्मिक भी दुराचारी हो सकता है और अधार्मिक भी सदाचारी हो सकता है। किंतु हमारे यहाँ सदाचार और धर्म दो वस्तु नहीं हैं। सदाचार धर्मका ही एक अंग है। हमारे यहाँ तो चरित्र, सदाचार ये सब धर्मके ही अन्तर्गत हैं, जो सदाचारी नहीं, वह धार्मिक कैसे हो सकता है, धर्मका ढोंग भले ही बना ले। आजीविकाके लिये धार्मिक क्रियाओंका आश्रय भले ही ले ले, पर वह धार्मिक नहीं। जो आचारहीन है, उसे तो वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो सदाचारी है, वह अधार्मिक बना रहे यह असम्भव है। हमारे यहाँ धर्मकी व्याख्या विस्तृत है। वैयक्तिक धर्म, कौटुम्बिक धर्म, जाति धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, देश धर्म तथा सार्ववर्णिक धर्म। सब पृथक्-पृथक् हैं। यह नहीं कि हम ब्राह्मण हैं और दूसरा शूद्र है, तो दोनोंके पृथक्-पृथक् धर्म होनेसे हम कभी मिल ही नहीं सकते। अपने-अपने धर्मोंका पालन करते हुए हम सामाजिक क्षेत्रमें एक होते हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं, जो सभी वर्णोंपर सभी आश्रमोंपर यहाँतक मनुष्यमात्रपर एक से लागू हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—'मुनियो! जब भगवान्ने सभी वर्णोंके धर्मका निरूपण कर दिया, तब उद्धवजीने उनसे सार्ववर्णिक धर्मके सम्बन्धमें प्रश्न किया।' उसका उत्तर देते हुए वे कह रहे हैं—'उद्धव! कुछ धर्म ऐसे हैं, जिनका सभी लोग समान भावसे पालन कर सकते हैं।' वे ये हैं—

(१) अहिंसा—अहिंसा कहते हैं, तनसे, मनसे और वाणीसे किसीको कष्ट न पहुँचाना। यों संसारमें हिंसाके बिना तो कोई जीवित रह ही नहीं सकता। जीव ही जीवोंका जीवन है। एक जीव दूसरे जीवको खाकर ही जी रहा है। अंडज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार प्रकारके जीव हैं। एक-दूसरेको खाकर ही सबका जीवन है। स्वेद (पसीना)-से उत्पन्न होनेवाले खटमल, जूएँ मनुष्योंका रक्तपान करके ही जीते हैं। अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी एक-दूसरेको खाते हैं। मोर सर्पको खा जाता है। मेढ़क छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ोंको भक्षण कर जाता है। गाय-भैंस घासको खाकर जीती हैं। घासमें जीव है। मनुष्य अन्न-फल खाता है, इनमें भी जीव है। दूध पीता है, दूधमें भी जीव है। माताका रक्त ही सफेद होकर दूध बन जाता है। दूधको जलाइये तो चरबी-जैसी गन्ध आयेगी। ये सब हिंसाएँ स्वाभाविक हैं। जीव इनसे बच नहीं सकता। मनुष्य प्राणी पशु नहीं है, बुद्धिमान् है। उसे जहाँतक हो हिंसासे बचना चाहिये। बिना मांसके निर्वाह होता हो, तो अपने मांसको बढ़ानेके लिये दूसरोंका मांस न खाना चाहिये। कर्तव्यबुद्धिसे धर्मकी रक्षाके लिये किसीको मारना हो यह दूसरी बात है, किंतु यों व्यर्थमें किसीको कभी भी न मारना चाहिये। जब हम जीवन प्रदान नहीं कर सकते तो हमें किसीको मारनेका अधिकार ही क्या है। इसलिये कभी किसीको मारे नहीं। मनसे

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—'उद्धव! अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभसे रहित होना तथा प्राणियोंकी हितकारी और प्रिय चेष्टाओंमें संलग्न रहना—ये सामान्यतया सभी वर्णोंके धर्म हैं।'

किसीका अनिष्ट न सोचे। मानसिक हिंसा भी बड़ी भारी हिंसा है। हम वाणीसे भले ही न बोलें, शरीरसे भी कोई कार्य न करें। किंतु मनसे किसीका अनिष्ट चिन्तन करते रहे, तो यह बहुत बड़ी हिंसा है। अतः मनसे भी किसीका अनिष्ट चिन्तन न करे। किसीको वाणीसे भी कटु वचन न कहे। वाणीकी हिंसा शारीरिक हिंसासे बहुत बड़ी है। बाणका घाव तो पूरा भी हो जाता है, किंतु वाग्बाण सदा हृदयमें चुभता रहता है, इसलिये वाणी बहुत विचारकर बोले। जिस बातमें दूसरोंका हित होता है। जो सत्य हो, मधुर हो और निश्छल भावसे कही गयी हो, ऐसी वाणीको बोले। इस प्रकार जो तन, मन और वाणीसे अहिंसाका आचरण करता है, वह स्वर्गका अधिकारी होता है। इसमें वर्ण-आश्रमका कोई नियम नहीं। मनुष्यमात्र इस धर्मका पालन कर सकता है।

उद्धवजीने पूछा—'भगवन्! किसीको कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है।'

भगवान्ने कहा—'नहीं, यह बात नहीं है। कभी-कभी कष्ट न पहुँचाना भी हिंसा हो जाती है। कभी कष्ट पहुँचानेसे भी अहिंसा होती है, कोई आततायी है, किसीकी बहन-बेटीपर बलात्कार कर रहा है, हम यह सोचें कि इसे रोकें तो इसको कष्ट होगा, तो हमारा यह विचार हिंसायुक्त हुआ। हिंसा-अहिंसाका विशेष सम्बन्ध भावसे है। शास्त्रोंमें इसका वृहद्रूपसे विवेचन है। अहिंसा न मारनेसे ही नहीं होती। अर्जुनको भी यही भ्रम था, कि मैं राज्यके लिये अपने सम्बन्धियोंकी हिंसा क्यों करूँ? इससे तो भीख माँगकर खाना अच्छा। तब मैंने उसे हिंसा-अहिंसाका मरम समझाया। धर्मकी रक्षा करते हुए दूसरोंको मनसा-वाचा-कर्मणा कष्ट न देना—यही अहिंसा है। इस धर्मका पालन मनुष्यमात्र कर सकते हैं।'

(२) **सत्य**—दूसरा सार्ववर्णिक धर्म है—सत्य। यथार्थ भावोंको बिना छल-कपटके व्यक्त करना सत्य है। कभी-कभी सत्य-सा दीखनेवाला व्यवहार असत्य हो जाता है, कभी असत्य-सा दीखनेवाला व्यवहार सत्य हो जाता है। सर्व भूतोंके हितकी भावनासे यथार्थ व्यवहार सत्य है। समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, श्रेष्ठता, धैर्य और दया—ये सत्यके ही अन्तर्गत हैं। कहना चाहिये सत्यके ही प्रकार हैं।

(३) **अस्तेय**—जिस वस्तुको सबके सम्मुख छू नहीं सकते, उसे छिपकर छूना, जिसका व्यवहार निन्दित माना जाता है, उसका छिपकर व्यवहार करना—ये सब चोरीके ही अन्तर्गत हैं। चोरी न करना यही अस्तेय है, दूसरेकी भोग-वस्तुको न अपनाना—इसीका नाम चोरी न करना है।

(४) **काम**—क्रोध-लोभादिसे रहित होना—ये असद् वृत्तियाँ हैं। जैसे समुद्रमें लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही काम-क्रोधादि की ऊर्मियाँ हृदयमें उठती रहती हैं। अपनेको इनसे पृथक् समझकर इनके वशमें न होना।

(५) **भूतप्रियहितेहा**—प्राणियोंकी हितकारिणी तथा प्रिय लगनेवाली चेष्टाओंमें निरन्तर तत्पर रहना अर्थात् जो व्यवहार अपने लिये अच्छा लगे उसीका व्यवहार दूसरोंके साथ करना, जो अपनेको अप्रिय लगे उसे कभी किसीके साथ न करना अर्थात् सर्वभूतोंको आत्मवत् मानना।

ये सब ऐसे गुण हैं कि इन्हें चाण्डालसे लेकर श्रोत्रियतक समान भावसे कर सकते हैं। ये सब वर्णोंके सामान्य धर्म हैं। यहाँ उन्हें संक्षेपमें कहा है, नहीं तो सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्तायुक्त विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शित्व, सन्त-सेवा, सांसारिक भोगोंसे शनैः-शनैः निवृत्ति, प्रारब्ध-निर्भरता, आत्मचिन्तन, मौन, प्राणियोंको अन्नादि बाँटकर खाना, प्राणिमात्रमें विशेषकर मनुष्योंमें भगवद् भाव रखना, भगवत्-कथा-श्रवण, नामगुण-कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, अपनेको भगवान्का दास मानना, सख्यभाव तथा आत्मसमर्पण करना—ये तीस लक्षणवाला धर्म है। इनका आचरण सभी कर सकते हैं। किसी वर्णका हो, किसी आश्रमका हो, किसी देशका हो, किसी पन्थ, सम्प्रदाय, मत-मतान्तरका व्यक्ति क्यों न हो—इन तीस धर्मोंका पालन करनेसे वह सद्गतिको प्राप्त हो सकता है। मान्यता तो अपनी है। ऐसा आग्रह नहीं है कि इस सम्प्रदायको छोड़कर इसमें जाओगे, तभी उद्धार होगा। आपकी जो मान्यता हो, उसे ही मानो। इन धर्मोंका पालन करो, तुम जहाँ हो वहाँ ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो जायगी।

मैं किसी सम्प्रदायविशेषका नहीं हूँ, जो मुझे जिस भावसे भजते हैं मैं भी उन्हें उसी भावसे भजता हूँ, जो मुझमें वात्सल्य रखते हैं, मैं भी पिता-माताका भाव रखता हूँ, जो मुझे सखा मानते हैं, मैं उन्हें अपना सखा मानता हूँ, जो मुझे स्वामी मानकर पूजते हैं, मैं भी उनकी सेवा-भावसे सब देख-रेख करता हूँ, उनके छोटे-से-छोटे कामको स्वयं करता हूँ। जो मुझमें पतिभाव रखते हैं, उन्हें मैं अपनी प्राणप्रियाकी भाँति प्यार करता हूँ। उन्हें अपने हृदयका हार बना लेता हूँ; सब समय सोते-जागते, उठते-बैठते उनका स्मरण करता हूँ। मैं भावका भूखा हूँ। यदि भाव नहीं तो उच्च-से-उच्च वर्णका नीच है, यदि भाव है तो चाण्डाल भी श्रेष्ठ है। सत्य-अहिंसादि धर्मोंका पालन करनेके लिये ही सब विधि-विधान हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेपमें समस्त वर्णोंके धर्म बताये। [**प्रेषक—श्रीश्यामलालजी पाण्डेय**]

श्रीश्रीमाँ आनन्दमयीकी दृष्टिमें मानवजीवनका उद्देश्य

श्रीश्रीमाँ आनन्दमयीके अनुसार मानवजीवनका उद्देश्य है अपनेको पाना, अपनेको जानना।

श्रीश्रीमाँके शब्द हैं, मनुष्यमात्रको ही मनुष्यत्वलाभकी इच्छा प्रमुखरूपसे रखनी चाहिये। दूसरे प्राणियोंसे मनुष्यका पार्थक्य यही है कि मनुष्यमें एक विशेष प्रकारकी शक्ति है, जिसके द्वारा वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। मनुष्यके लिये यह शरीर कहता है—जिसे मनका होश हुआ है, वही मानुष। जिसको मनका होश नहीं है, जो विषय-वासनामें तन्मय रहते हैं, उनको क्या मनुष्य कह सकते हैं?

मनुष्यको अपने कर्तव्य तथा मानवदेह धारणके उद्देश्यके प्रति पुनः-पुनः सचेत करती हुई श्रीश्रीमाँकी अमृतवाणी कहती है—दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है, एक मुहूर्त वृथा न जाय, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सृष्टि करके संसारसे विदा लेते हैं, तुमलोग भी यदि वही करो तो और प्रभेद क्या हुआ? जिससे रिटर्न टिकट काटना न पड़े, उसकी कोशिश करना। जन्म-जन्मान्तरके सैकड़ों कर्म मनुष्यके अज्ञात, अगम्य हैं। मनुष्यजन्म भाग्यके जन्मकी सफलता है। उनकी कृपासे ही मनुष्यजन्म है, मनुष्यजन्म दुर्लभ है। इसीलिये मनुष्यजन्ममें मनुष्यत्व-जागृतिकी दिशा ग्रहण करनी चाहिये।

मनुष्यको अपने कर्तव्यके प्रति कैसे सचेत रहना चाहिये। श्रीश्रीमाँका निर्देश मिलता है—सर्वदा याद रखना भगवत्कर्म-साधनके लिये ही यह शरीर है। इसीलिये देह, प्राण, मन देकर उनको पकड़कर रखनेकी सर्वक्षण चेष्टा करना।

गुरुने जो मार्ग बताया है उसी पथपर चलनेकी कोशिश करना, कर्म यदि अच्छा लगे तब तद्बुद्धि भगवद्बुद्धिसे कर्म करना, देश-सेवा, गृहलक्ष्मीकी सेवा, बालगोपालकी सेवा, पति-सेवा, वे ही अनेक रूपोंमें हैं। केवल खाने, सोनेमें समय व्यतीत मत करना, अमूल्य मनुष्य-जन्म, वृथा चिन्तामें नष्ट न हो, धर्मशालामें और न रहकर अपने घर जानेकी कोशिश करना।

जीव-जगत्‌में मनुष्यको सहनशक्ति, धैर्यका आश्रय लेनेके सिवाय और क्या उपाय है? स्वयं ही स्वयंकी सान्त्वना, स्वस्थ रहना, अपना-अपना कर्तव्य सत्-अनुष्ठानके भीतर पूर्ण करानेकी चेष्टा करना, मानवमात्रके लिये भगवान् चिन्तनीय हैं।

परमार्थपथमें सहनशक्तियुक्त, धैर्यशाली, स्थिर, धीर, गम्भीर, स्वयंको पानेकी क्रियामें स्वयं व्रती रह सकनेसे लहर आनेसे भी छू नहीं सकती। इस स्थितिको पानेकी कोशिश करना मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्य ही सब ओर जयलाभ कर सकता है। मनका होश होना प्रयोजनीय है। जन्मजन्मान्तरके अज्ञानमें पड़े रहना, वही दिशा ही अच्छी लगती है। इस दिशाको बदलना पड़ेगा, सब बात सीना तानकर मुँह खोलकर कहना, इससे सत्यके तेजकी वृद्धि होती है। सत्य ही सत्पथका दीपक, दिग्दर्शक है। अपना व्यक्तित्व रखकर अभीष्ट व्यवहारसे जययुक्त होकर चलना। किसीके कब्जेमें नहीं पड़ना। अपने सुन्दर भाव जैसे हैं—नित्य शुद्ध सच्चिन्तामें उनको पुष्ट रखना, विक्षेप स्पर्श भी न कर सके।

मानवमात्रके प्रति मातृवाणीका डिण्डिम घोष है—अमृतकी सन्तान, अमर पथिक, अमरपन्था, अमृतत्त्वका सन्धान, सत्यानुसन्धान ही तुम्हारा परम-चरम कर्तव्य।

[**ब्रह्मचारिणी सुश्री गुणीता**]

दिनचर्याका सुधार

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अति निद्राको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय इन सबमें बितानेके लिये कदापि नहीं है। करनेयोग्य काममें विलम्ब करना, शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मकी अवहेलना तथा मन, वाणी, शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना 'प्रमाद' है; स्वाद-शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलासिता और विषयोंमें रमण करना 'भोग' है; झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि 'पाप' हैं और छः घण्टेसे अधिक शयन करना 'अतिनिद्रा' है। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे बचकर अपने सारे समयको साधनमय बना ले और एक क्षण भी व्यर्थ न बिताकर प्राणपर्यन्त साधनके लिये ही कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे।

बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह अपने अमूल्य समयको सदा कर्ममें लगाये। एक क्षण भी व्यर्थ न खोये और कर्म भी उच्च-से-उच्चकोटिका करे। जो कर्म शास्त्रविहित और युक्तियुक्त हो, वही कर्तव्य है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(६।१७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

तात्पर्य यह है कि हमारे पास दिन-रातमें कुल चौबीस घण्टे हैं, उनमेंसे छः घण्टे तो सोना चाहिये और छः घण्टे परमात्माकी प्राप्तिके लिये विशेषरूपसे साधनरूप योग करना चाहिये; इसके लिये प्रातःकाल तीन घण्टे और सायंकाल तीन घण्टेका समय निकाल लेना चाहिये। शेष बारह घण्टोंमें मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा शास्त्रानुकूल क्रिया करनी चाहिये, जिसमेंसे छः घण्टे जीविका-निर्वाहके लिये न्याययुक्त धनोपार्जनके काममें और छः घण्टे स्वास्थ्य-रक्षाके लिये शास्त्रविहित शौच-स्नान, आहार-विहार, व्यायाम आदिमें लगाने चाहिये; अथवा यदि छः घण्टेमें न्याययुक्त धनोपार्जन करके जीविकाका निर्वाह न हो तो आठ घण्टे धनोपार्जनमें लगाकर चार घण्टे स्वास्थ्यरक्षा आदिके काममें लगाने चाहिये।

समयका विभाग करके देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और अपनी सुविधाके अनुसार अपना कार्यक्रम बना लेना चाहिये। साधारणतया निम्नलिखित कार्यक्रम बनाया जा सकता है—

रात्रिमें दस बजे शयन करके चार बजे उठ जाना, उठते ही प्रातःस्मरण करते हुए चारसे पाँचतक शौच-स्नान, व्यायाम आदि करना; पाँचसे आठतक सन्ध्या-गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका एवं उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना; आठसे दसतक स्वास्थ्यरक्षाके साधन और भोजन आदि करना, दससे चारतक धनोपार्जनके लिये न्याययुक्त प्रयत्न करना, चारसे पाँचतक पुनः स्वास्थ्यरक्षार्थ घूमना-फिरना, व्यायाम और शौच-स्नान आदि करना, पाँचसे आठतक पुनः सन्ध्या, गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका, उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना एवं आठसे दसतक भोजन तथा वार्तालाप, परामर्श और सत्संग आदि करना—इस प्रकार दिन-रातके चौबीस घण्टोंको बाँटा जा सकता है। इस कार्यक्रममें अपनी सुविधाके अनुसार हेर-फेर कर सकते हैं; किंतु भगवान्के नाम और स्वरूपकी स्मृति हर समय ही रहनी चाहिये; क्योंकि भगवान्की सहज प्राप्तिके लिये एकमात्र यही परम साधन है। भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'जो पुरुष नित्य-निरन्तर मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें

युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ'—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

यदि कहो कि काम करते हुए भगवान्‌के नामरूपकी स्मृति सम्भव नहीं तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब युद्ध करते हुए भी निरन्तर भगवान्‌की स्मृति रह सकती है तो दूसरे व्यवहार करते समय भगवत्स्मृति रहना कोई असम्भव नहीं। यदि यह असम्भव होती तो भगवान् अर्जुनको ऐसा आदेश कभी नहीं देते। यदि कहो कि हमसे तो ऐसा नहीं होता तो इसका कारण है श्रद्धा तथा प्रेमके साथ होनेवाले अभ्यासकी कमी। श्रद्धा-प्रेमकी उत्पत्तिके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये तथा भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान्‌के नामरूपकी स्मृति निरन्तर बनी रहे, इसके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक सदा-सर्वदा प्रयत्न भी करते रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका संग इसके लिये विशेष लाभकर है। अतः सत्संगके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। सत्संग न मिले तो भगवान्‌के मार्गमें चलनेवाले साधक पुरुषोंका संग भी सत्संग ही है और उनके अभावमें सत्-ग्रन्थोंका अनुशीलन भी सत्संग ही है।

मनुष्य अपने समयका यदि विवेकपूर्वक सदुपयोग करे तो वह थोड़े ही समयमें अपने आत्माका उद्धार कर सकता है; मनुष्यके लिये कोई भी काम असम्भव नहीं है। संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष-प्रयत्नसाध्य कार्य नहीं, जो पुरुषार्थ करनेपर सिद्ध न हो सके। फिर भगवत्कृपाका आश्रय रखनेवाले पुरुषके लिये तो बात ही क्या है!

भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति चौबीसों घण्टे ही बनी रहे और वह भी महत्त्वपूर्ण हो, इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। जिह्वाद्वारा नाम-जप करनेकी अपेक्षा श्वासके द्वारा नामजप करना श्रेष्ठ है और मानसिक जप उससे भी उत्तम है। वह भी नामके अर्थरूप भगवत्स्वरूपकी स्मृतिसे युक्त हो तो और भी अधिक मूल्यवान् (महत्त्वपूर्ण) चीज है; और वह फिर श्रद्धापूर्वक निष्काम-प्रेमभावसे किया जाय तो उसका तो कहना ही क्या है। सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समानभावसे आकाशकी भाँति व्यापक हैं, वे ही निर्गुण-निराकार परमात्मा स्वयं भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण-साकार रूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार—किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, सभी कल्याणकारक हैं; किंतु निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभावको समझते हुए स्वरूपका स्मरण किया जाय तो वह सर्वोत्तम है।

संसारमें अधिकांश मनुष्योंका समय तो प्रायः व्यर्थ जाता है और उनमेंसे कोई यदि अपना श्रेष्ठ ध्येय बनाते भी हैं, तो उसके अनुसार चल नहीं पाते। इसका प्रधान कारण विषयासक्ति, अज्ञता और श्रद्धा-प्रेमकी कमी तो है ही; परंतु साथ ही प्रयत्नकी भी शिथिलता है। इसी कारण वे अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें सफल नहीं होते। अतः लक्ष्यप्राप्तिके लिये हर समय भगवान्‌को स्मरण करते हुए समयका सदुपयोग करना चाहिये, फिर भगवान्‌की कृपासे सहज ही लक्ष्यतक पहुँचा जा सकता है।

चौबीसों घण्टे भगवान्‌की स्मृति किस प्रकार हो, इसके लिये उपर्युक्त छः घण्टे साधनकाल, बारह घण्टे व्यवहारकाल और छः घण्टे शयनकाल—इस प्रकार समयके तीन विभाग करके उसका निम्नलिखित रूपसे सदुपयोग करना चाहिये।

(१) मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल नियमित रूपसे जो साधन करते हैं, वह साधन इसीलिये उच्चकोटिका नहीं होता कि वे उसे मन लगाकर विवेक और भावपूर्वक नहीं करते। ऊपरसे क्रिया कुछ ही होती

है और मन कहीं अन्यत्र रहता है। ऐसा नहीं होना चाहिये। साधनके समय मनका भी उसीमें लगना परमावश्यक है। जैसे—सन्ध्या करनेके समय मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता और प्रयोजनका लक्ष्य करते हुए विधि और मन्त्रके अर्थका ध्यान रहना चाहिये। गायत्रीमन्त्र बहुत ही उच्चकोटिकी वस्तु है, उसमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है। अतः गायत्री-जपके समय उसके अर्थकी ओर ध्यान रखना चाहिये। यह न हो सके तो गायत्री-जपके समय भगवान्‌का ध्यान तो अवश्य ही होना चाहिये। इसी प्रकार गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ भी अर्थसहित या विवेकपूर्वक अर्थका ध्यान रखते हुए करना चाहिये। भगवान्‌की मूर्ति-पूजा या मानस-पूजा करते समय भगवान्‌के स्वरूप और गुण-प्रभावको स्मरण रखते हुए श्रद्धा-प्रेमके साथ विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। शास्त्रज्ञानकी कमीके कारण विधिमें कहीं कमी भी रह जाय तो कोई हर्ज नहीं, किंतु श्रद्धा-प्रेममें कमी नहीं होनी चाहिये। किसी भी मन्त्र या नामका जप हो, उच्चभाव तथा मनःसंयोगके द्वारा उसे उच्च-से-उच्च कोटिका बना लेना चाहिये एवं ध्यान करते समय तो संसारको ऐसे भुला देना चाहिये कि जिसमें भगवान्‌के सिवा अपना या संसारका किसीका भी ज्ञान ही न रहे।

हम प्रातः-सायं जितना समय नित्य नियमितरूपसे साधनमें लगाते हैं, उसे यदि उपर्युक्त प्रकारसे लगाया जाय तो उतने ही समयके साधनसे छः महीनोंमें वह लाभ हो सकता है जो बिना भावके करनेके कारण पचास वर्षोंमें भी नहीं होता। वस्तुतः जिस समय हम साधनके लिये बैठते हैं, उस समय तो हमारा प्रत्येक क्षण केवल साधनमें ही बीतना चाहिये। हम यदि अपने पारमार्थिक साधनके समयको ही समुचितरूपसे साधनमय नहीं बना लेंगे और उसे शीघ्र सफल बनानेके लिये तत्पर नहीं होंगे फिर अन्य समयमें भगवच्चिन्तन करते हुए कार्य करना तो और भी कठिन है। अतएव हमें इसके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये। इस बातका पता लगाना चाहिये कि वे कौन-सी अड़चनें हैं, जिनके कारण नियमितरूपसे साधन करनेके लिये दिये हुए समयमें भी मन उसमें नहीं लगता और समय यों ही बीत जाता है तथा प्रयत्न करनेपर भी उसमें कोई सुधार नहीं होता एवं पता लगनेपर उन अड़चनोंको तुरंत दूर करनेका सफल प्रयास करना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि 'तुम ऐसे अपने परम हितके कार्यमें भी साथ नहीं दोगे तो इसका परिणाम तुम्हारे लिये बहुत ही भयानक होगा। हजार काम छोड़कर पहले इस कामको करना चाहिये। यह काम तुम्हारे बिना और किसीसे सम्भव नहीं, इसके सामने दूसरे-दूसरे कामोंमें हानि भी हो तो उसकी परवा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे तो तुम्हारे न रहनेपर भी हो सकते हैं, उन्हें दूसरे भी कर सकते हैं; किंतु तुम्हारे कल्याणका काम तो दूसरे किसीसे सम्भव नहीं।' इसपर भी यदि दुष्ट मन दूसरे कामकी आवश्यकता बतलाये तो उसे फिर समझाना चाहिये कि इससे बढ़कर और कोई आवश्यक काम है ही नहीं।

(२) आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अतिनिद्रामें जीवनके एक क्षणको भी नहीं बिताना चाहिये। सामाजिक, धार्मिक, शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी एवं स्वास्थ्यरक्षा आदिके जो भी व्यवहार हों, सभी शास्त्रानुकूल और न्याययुक्त ही होने चाहिये। प्रत्येक क्रियामें निष्कामभाव और भगवदर्पण या भगवदर्थबुद्धि रहनी चाहिये। इस प्रकार किये जानेपर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

हमारी सारी क्रियाएँ जब भगवान्‌की प्रेरणा और

आज्ञाके अनुसार निरभिमानिता और निष्कामभावसे भगवान्‌की स्मृति रहते हुए होने लगें, तब समझना चाहिये कि हमारी क्रियाएँ भगवदर्पण हैं। जो क्रियाएँ भगवत्प्राप्त्यर्थ या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवान्‌की आज्ञापालनके उद्देश्यसे भगवान्‌को स्मरण रखते हुए निष्कामभावसे की जाती हैं, उन्हें भगवदर्थ कहा जाता है। हमारा सारा समय जब इसी भावमें बीतने लगे, तब उसे उच्च-से-उच्च कोटिका समझना चाहिये। मनुष्य चाहे तो प्रयत्न करनेपर भगवत्कृपासे व्यवहारके बारह घण्टोंके समयको भी सदा-सर्वदा इसी प्रकार बिता सकता है। भगवान्‌का आश्रय लेकर उनके नाम-रूपको याद रखते हुए सदा-सर्वदा कर्मोंकी चेष्टा करनेपर मनुष्य भगवान्‌की कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८।५६)

व्यवहारकालके सुधारके लिये दो बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(क) प्रत्येक क्रियामें निष्कामभावसे स्वार्थका त्याग और (ख) भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति। ये सब काम भी वैराग्य और अभ्याससे ही सिद्ध होते हैं। वैराग्यसे निष्कामभाव और स्वार्थत्याग होता है और तीव्र अभ्याससे भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति रहती है।

अतः हमें अपने उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌के शरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे परमात्माकी कृपासे हम शीघ्र ही कृतकार्य हो सकते हैं।

(३) साधन तथा व्यवहारकालमें तो कुछ होता भी है; परंतु शयनका समय तो नासमझीके कारण अधिकांशमें सर्वथा व्यर्थ ही जाता है। मनुष्य जिस समय सोने लगता है, उस समय उसके चित्तमें जिन सांसारिक संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, उसे निद्रामें प्रायः वैसे ही स्वप्न आते हैं—संकल्पोंकी दृढ़ता ही स्वप्नमें सच्ची घटनाके रूपमें प्रतीत होने लगती है और इस प्रकार उसका रातभरका सारा समय व्यर्थ चला जाता है। इस कालका सुधार भी वैराग्य और अभ्याससे हो सकता है। हमें चाहिये कि सोनेसे पूर्व कम-से-कम पन्द्रह मिनट शयनकालके संकल्पोंके सुधारके लिये संसारको नाशवान्, क्षणभंगुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर उसके संकल्पोंका त्याग करके भगवान्‌के निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारमेंसे जिस स्वरूपमें भी अपनी श्रद्धा-रुचि हो, उसी नाम-रूपका या भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सगुण-साकार स्वरूपके गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन करते हुए सोयें। विवेक-वैराग्यपूर्वक तत्परतासे तीव्र चेष्टा करनेपर कुछ दिनोंमें यह अभ्यास दृढ़ हो सकता है। दृढ़ अभ्यास हो जानेपर स्वप्नमें भी भगवद्विषयक ही संकल्प होंगे और तदनुसार स्वप्नमें भी हमारे सामने भगवान्‌के नाम, लीला, रूप, गुण और प्रभावके दृश्य आते रहेंगे। यों स्वप्न-जगत् भी साधनमय हो जायगा। अतएव वह समय भी साधनका ही एक अंग बन जायगा।

मनुष्य-जन्मका प्रत्येक क्षण मूल्यवान् है। इस रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति एक क्षणको भी व्यर्थ कैसे खो सकता है? परलोक और परमात्मापर विश्वास न होने और भगवत्प्राप्तिका माहात्म्य न जाननेके कारण ही मनुष्य अपने उद्धारकी आवश्यकता ही नहीं समझता। इसी कारण वह संसार-सुखकी अभिलाषामें मानव-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ खो देता है; परंतु सच्ची बात तो यह है कि संसारका सम्पूर्ण सुख मिलकर भी परमात्माकी प्राप्तिके सुखकी तुलनामें समुद्रमें एक बूँदके तुल्य भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाशके किसी एक अंशमें नक्षत्र हैं, उसी प्रकार विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है। जीवको यदि संसारका सम्पूर्ण सुख भी मिल जाय तो भी वह उस ब्रह्मसुखके अंशका एक आभासमात्र ही है और वह सुखाभास भी वस्तुतः सच्चिदानन्दमय परमात्माके संयोगसे ही है। अतः मनुष्यको उस अनन्त सुखरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही अपना सारा समय लगाना चाहिये। तभी समयका सदुपयोग है और तभी जीवनकी सार्थकता है।

जीवनका चरम लक्ष्य

(महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज)

मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य क्या है? जीवात्मा अनादिकालसे प्रकृतिके प्रवाहमें सिवारके समान अणुरूपमें नानाविध शरीर धारण करते हुए कालकी गतिसे बह रहा है। न जाने, किस जगह पहुँचनेपर इस अविरल प्रवाहसे छुटकारा प्राप्त होगा एवं सागर-संगममें पहुँचकर जैसे नदी कृतार्थ होती है, वैसे ही मनुष्यका आत्मा अपनी परम काम्य वस्तुको प्राप्तकर चिरकालके लिये शान्ति प्राप्त करेगा। नाना सम्प्रदायोंमें विविध भावोंद्वारा इस लक्ष्यके निर्धारणके लिये प्रयत्न हुए हैं एवं इन प्रयत्नोंद्वारा दार्शनिक साहित्यमें विविध प्रकारके मतवादोंकी सृष्टि हुई है। विचार करनेपर प्रतीत होगा कि इन सभी सिद्धान्तोंमें कोई भी सिद्धान्त भ्रान्त नहीं है, तो भी यह सत्य है कि चरम सिद्धान्त कभी एकके सिवा दो नहीं होते।

जबतक ज्ञान प्राप्त न हो, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती एवं अज्ञानकी निवृत्ति हुए बिना भ्रमका विनाश भी नहीं होता, किंतु इस ज्ञान-प्राप्तिके प्रसंगोंमें ज्ञानोंके भेद भी जान लेना आवश्यक है। जो ज्ञान बुद्धिका धर्म है, उससे हमलोगोंका थोड़ा-बहुत आंशिक रूपमें परिचय है। उसी ज्ञानके प्रभावसे बुद्धिके धर्म अज्ञानकी निवृत्ति होती है। किंतु उस अज्ञानके निवृत्त होनेपर भी मूलमें ऐसा एक अज्ञान रह जाता है, जिसके निवृत्त हुए बिना जीवनका यथार्थ कल्याण आविर्भूत नहीं हो सकता। आकाशमें बादल रहनेपर बादलोंके मध्यमें स्थित सूर्यबिम्ब दिखायी नहीं देता। सूर्यका उदय होनेके बाद आकाशके मेघावृत रहनेपर मेघके हटनेके साथ ही सूर्यका दर्शन होता है एवं उसकी किरण और धूपकी भी प्राप्ति होती है किंतु अर्धरात्रिमें जब आकाशमें सूर्यका प्रकाश नहीं रहता, तब आकाशमें बादलोंके रहनेपर एवं उन बादलोंके हटनेपर सूर्यबिम्ब दृष्टिगोचर होगा, यह कहना सम्भव नहीं। ठीक उसी प्रकार बौद्ध ज्ञानके द्वारा बौद्ध अज्ञानके मिट जानेपर भी हृदयमें अन्धकार रहता ही है, यदि उसके पहले हृदयसे मूल अज्ञानकी निवृत्ति न हुई तो इसीलिये आगमवेत्ता योगी कहते हैं कि बौद्ध अज्ञानकी निवृत्तिका उतना मूल्य नहीं है, जितना कि पौरुष अज्ञानकी निवृत्तिका, अर्थात् जबतक पुरुषके स्वरूपगत अज्ञानकी निवृत्ति न हो जाय, तबतक वास्तवमें बौद्ध अज्ञानकी निवृत्तिका प्रश्न ही नहीं उठता। आत्माके प्राक्तन (पूर्वजन्मोंके) कर्मोंसे देह-ग्रहण करनेपर उस देहका अवलम्बनकर उसमें एक कृत्रिम अहं-प्रतीतिका उदय होता है; इस अहं-प्रतीतिका आधार है बुद्धि। इस बुद्धिमें जो अज्ञान धर्मरूपसे भासता है, वही बौद्ध अज्ञान है एवं उसमें जो ज्ञानका उदय होता है, वही बौद्ध ज्ञान है। किंतु इसका मूल्य कितना है? जिस अज्ञानके प्रभावसे आत्मा मायाके अधीन होकर देह ग्रहण करनेके लिये बाध्य होता है, उस अज्ञानकी निवृत्ति न होनेतक आत्माका नैसर्गिक शिवत्वरूप धर्म अभिव्यक्त नहीं हो सकता। उस मूल अज्ञानको पौरुष अज्ञान कहा जा सकता है। इस अज्ञानकी निवृत्तिके लिये जो अत्यन्त आवश्यक उपाय है, वह कर्म नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, यहाँतक कि भक्ति भी नहीं है। इन सबकी उपायरूपमें गणना होनेपर भी ये बुद्धिके व्यापार हैं। बुद्धिके पहले जो हो चुका, उसे दूर करनेकी क्षमता इनमेंसे किसीमें भी नहीं है। इसलिये, जबतक मनुष्यकी आत्मासे वह मूल अज्ञान न हट जाय तबतक मनुष्य-जीवनका परम आदर्श कदापि साक्षात् रूपसे प्राप्त नहीं हो सकता। वह मूल अज्ञान आत्माद्वारा स्वेच्छासे गृहीत आत्मसंकोचके सिवा और कुछ नहीं है। वास्तवमें, शिवरूपी आत्मा सब प्रकारसे संकोचरहित है, उसमें कालका संकोच न होनेसे वह नित्य है, देशका संकोच न होनेसे वह विभु है, क्रियाका संकोच न होनेसे वह सर्वकर्ता है, ज्ञानका संकोच न होनेसे वह सर्वज्ञ है एवं आनन्दका संकोच न होनेसे वह नित्य-तृप्त है। वही आत्माका शिवत्व है, किंतु जब लीलाके बहाने स्वेच्छासे आत्मा अपनेको संकुचित करते हैं और अभिनयके लिये जीवभाव ग्रहण करते हैं, तब उनके स्वाभाविक सभी धर्म संकुचित होनेको बाध्य होते हैं। तब यह परिच्छिन्न शक्तिवाले क्षुद्र आत्मा मायाके अधीन होकर कर्ताका स्वाँग धारण करते हैं, अर्थात् कर्मजगत्में प्रवेश करते हैं एवं कर्म करना और किये हुए कर्मोंका फलभोग करना—इन दो व्यापारोंमें लिप्त होकर एक योनिसे दूसरी योनिमें भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करते हैं और त्याग करते हैं। उनके संसारचक्रमें परिभ्रमणका यही संक्षिप्त इतिहास है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मशुद्धिके हेतु सच्चारित्र्यका संग्रह करना अनिवार्य कर्तव्य है। इसे कदापि भूलना नहीं चाहिये। देह-सम्पन्न आत्माकी अभिमान-सामग्रीमें बुद्धि (समझ-शक्ति) एक प्रधान अंग है। ज्ञान और अज्ञान दोनों ही उसके धर्म हैं। बौद्ध ज्ञानसे बौद्ध अज्ञान नष्ट हो जाता है, यह सत्य है, किंतु यह तो बहुत नीचेकी बात है—इससे मूल अज्ञानके विनष्ट होनेकी कोई सम्भावना नहीं है।

इसलिये, सबसे पहले, जिससे मूल अज्ञान मिट जाय उसीपर विचार करना चाहिये। पहले यह कहा जा चुका है कि इस अज्ञानको मिटानेके मार्गमें कर्म, ज्ञान और भक्ति किसीकी भी वैसी उपयोगिता नहीं है; क्योंकि ये सब मूलका स्पर्श ही नहीं करते। एकमात्र भगवान्‌की कृपाशक्तिके द्वारा ही इस मूल अज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है, अन्य उपायोंसे नहीं। भगवत्कृपा स्वभावसिद्ध है एवं वह अहैतुक होनेपर भी आधारकी योग्यताके अनुसार उसमें कार्यक्षमता प्रतिविम्बित होती है। कृपाके नित्य होनेपर भी जबतक जीवात्माका मूल आवरणरूप मल परिपक्व नहीं हो जाता, तबतक वह उसमें संचालित नहीं हो सकती। किंतु मल परिपक्व होनेपर मलपाकके तारतम्यके अनुसार कृपा संचारित हुए बिना नहीं रहती है। जिसे लौकिक जगत्‌में दीक्षा कहते हैं, वह उसीका फल है। यह दीक्षा स्थूल भी हो सकती है और सूक्ष्म भी; किंतु यह है अत्यन्त आवश्यक। इसके न होनेतक साधनाका असर उतना अधिक नहीं होता, जितना होना चाहिये; क्योंकि साधना बुद्धिका व्यापार है। साधना अथवा उपासना आदिसे बौद्ध ज्ञानका उदय होता है और बौद्ध अज्ञानकी निवृत्ति होती है; तब उस मुक्त हृदयमें गुरु-कृपाका अर्थात् परमेश्वरके अनुग्रहका फल प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। इस अनुभवका रूप है अपनेको शिवरूपमें जानना। यह अनुभव अमूलक नहीं है; क्योंकि शिवत्वके आचरणरूपी मलकी निवृत्ति होनेके साथ ही जिस स्वरूपका प्रकाश होता है, वह बौद्ध-ज्ञानजनित बौद्ध अज्ञानकी निवृत्तिके बाद हृदयमें प्रकाशित हो उठता है। यही जीवन्मुक्तिकी सूचना और मानव-जीवनकी परिपूर्ण सार्थकता है। देहान्त होनेपर बुद्धिरूपी घड़ेके फूट जानेपर आत्मा शिवरूपमें विराजमान होता है, बुद्धिका प्रश्न तब फिर नहीं रहता। यह प्राप्ति किसी नूतन वस्तुकी प्राप्ति नहीं है। आत्मा जो स्वयं शिवरूपी है, विस्मृत हो गया था, विस्मृतिके हटनेपर स्मृतिका पुनः उदय होनेसे आत्मा शिवरूपमें प्रतिष्ठित होता है। यह उसका परमलाभ है। इसके लाभके बिना केवल कैवल्य-अवस्थामें स्थित होकर कर्मके अतीत होनेपर भी पशुत्वके निवृत्त न होनेसे पूर्णत्व-लाभ शेष रह जाता है। कालान्तरमें उस मलको हटाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है; क्योंकि जबतक वह मल नहीं हटाया जाता, तबतक आत्माका अपना स्वरूपभूत शिवत्व अप्राप्त ही रह जाता है। आत्मस्वरूपकी उपलब्धि ही जीवनकी साधना—सच्चारित्र्यका वास्तविक लक्ष्य है। इसी चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सच्चारित्र्य उपजीव्य है। सच्चारित्र्यसे ही बौद्ध एवं आनुभविक ज्ञानका मार्ग प्रशस्त होता है तथा मलमूलक अज्ञान नष्ट होकर आत्म-साक्षात्कार फलीभूत होता है।

संयम-सदाचारसे युक्त जीवन ही कल्याणका साधन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

हमारा प्राचीन समाज शास्त्रीय नियमोंपर ही निर्मित हुआ था। हिन्दूशास्त्र प्रायः प्रत्येक मानवको ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि तपका ही आदेश देते हैं। ये परिणाममें मधुर और मंगलमय हैं। यही कारण था कि पूर्वकालके बड़े-बड़े वैभवशाली राजर्षि अपनी लौकिक सुख-समृद्धिपर लात मारकर इनकी साधनाके लिये वनमें चले जाते थे। वे जानते थे कि इस संसारका जीवन क्षणिक है, यहाँके सुख-भोग नश्वर हैं। वे जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके चक्रमें फँसानेवाले हैं। इन भोग-विलासोंके मोहमें पड़कर नारी और नर ऐसे पाप-पंकमें निमग्न हो जाते हैं, जिससे उनका उद्धार होना कठिन हो जाता है। वे प्रायः सूकर-कूकर और कीट-पतंग आदि योनियोंमें पड़नेकी स्थितिमें आ जाते हैं।

सुख तो वही चाहनेयोग्य है, जो मिलकर फिर कभी खो न जाय, जो नित्य, सनातन और एकरस हो। ऐसे सुखके निकेतन हैं—एकमात्र मंगलमय भगवान्। अतः

प्रत्येक स्त्री-पुरुषका प्रयत्न उन्हीं परम प्रभुको प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये। वे संयम और सदाचारपूर्वक प्रेमनिष्ठासे ही प्राप्त होते हैं और उनसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है। इसीलिये शास्त्र संयम और सदाचारपर अधिक बल देते हैं; क्योंकि इन्हींमें जीवका कल्याण भरा है। वह प्रारम्भिक अनुष्ठानमें कठिन और दु:खसाध्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें परम कल्याणकारी है। अत: इनकी साधनासे साध्य प्रभुकी संनिधि प्राप्तकर शाश्वत-सुखकी प्राप्तिका प्रयास करना चाहिये।

कहा जाता है कि नयी अवस्थामें सुख-भोग और उम्र ढलनेपर धर्मका सेवन करना चाहिये, किंतु यह कौन कह सकता है कि किसकी आयु कब समाप्त हो जायगी? काल नयी और पुरानी अवस्थाका विचार करके नहीं आता। उसकी दृष्टि शिशु, तरुण, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध सबपर समानरूपसे पड़ती है। आयुके समाप्त होनेपर वह किसीको एक क्षण भी अधिक जीनेका अवसर नहीं देता। फिर धर्मका कब संचय होगा और कैसे नित्य-सुखकी प्राप्ति होगी? जन्मान्तरमें पुन: मानवशरीर मिलेगा या नहीं, कौन कह सकता है? दूसरे किसी शरीरसे आत्माके लिये कल्याणकारी धर्मोंका सम्पादन सम्भव नहीं है। अत: स्त्री-पुरुष सभीको अपने, सबके परमपति परमेश्वरका स्मरण-ध्यान करते हुए संयम एवं सदाचारपूर्ण जीवन बिताना चाहिये। इसके लिये वे सद्ग्रन्थका स्वाध्याय करें, गुरुजनोंकी यथायोग्य और यथाशक्ति सेवा करें। उस सेवाको भगवान्‌की सेवा मानें। घरके बालकोंका लालन-पालन करें और सदा भगवान्‌का चिन्तन करते रहें। उन्हें भोग-विलासके साधनों तथा भड़कीले वस्त्राभूषणोंसे सदा दूर रहना चाहिये। इन्द्रियके घोड़ोंपर लगाम कसे रहना चाहिये। मनोनिग्रहपर सदैव सतर्क रहना चाहिये।

घर-परिवारका पालन, कुल-जातिकी सेवा और स्वदेशप्रेम सभी आवश्यक हैं; यथायोग्य सबको इनका आचरण अवश्य करना चाहिये, परंतु ऐसा न होना चाहिये कि अपने घर-परिवारके पालनमें दूसरोंके घर-परिवारकी उपेक्षा, अपने कुल-जातिकी सेवामें दूसरे कुल-जातियोंकी हानि और स्वदेशके प्रेममें अन्य देशोंके प्रति घृणा हो। सच्चा पालन, सच्ची सेवा और सच्चा प्रेम तभी समझना चाहिये, जब अपने हितके साथ दूसरेका हित मिला हुआ हो। जिस कार्यसे दूसरोंकी उपेक्षा, हानि या विनाश होता है, उससे हमारा हित कभी नहीं हो सकता। भगवान् सम्पूर्ण विश्वके समस्त जीवोंके मूल हैं, भगवान् ही सबके आधार हैं, भगवान्‌की सत्तासे ही सबकी सत्ता है, समस्त जीवोंके जीवनरूपमें भगवान्‌की ही भगवत्ता काम कर रही है। इस तथ्य बातको ध्यानमें रखते हुए सबकी सेवाका, सबके हितका और सबकी प्रतिष्ठाका विचार रखकर अपने कुटुम्ब, जाति और देशसे प्रेम करना तथा उनकी सेवा करनी चाहिये। किसीको दु:ख पहुँचाकर अथवा किसीको दु:खी देखकर सुखका अनुभव करना बहुत बड़ी भूल है।

मनुष्यका शरीर इसलिये नहीं मिला है कि वह अन्यायसे, पापसे और झूठ-कपटसे धन इकट्ठा करनेका प्रयत्न करके अपने भावी जीवनको नरककी प्रचण्ड अग्निमें झोंक दे। दयासागर दीनबन्धु भगवान्‌ने जीवको मानव-जीवन देकर यह एक अवसर प्रदान किया है। जीव मानव-शरीरको पाकर यदि सत्कर्ममें लगता और भगवान्‌का भजन करता है तो वह सदाके लिये भवबन्धनसे मुक्त हो परमानन्दमय प्रभुके नित्यधाममें चला जाता है। (और यही तो मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य अथवा चारितार्थ्य है।) यदि भोगोंकी आसक्तिमें पड़कर वह सारा जीवन पापमें बिता देता है तो नरकोंकी प्रचण्ड ज्वालामें झुलसनेके पश्चात् उसे चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ता है। यह मानवका महान् पतन है। क्षणिक विषय-सुखके लिये बहुत-बहुत जन्मोंतक दु:ख और कष्टमें जलते रहना कहाँकी बुद्धिमानी है? परंतु हम इसके ऐसे भयंकर परिणामको जानते हुए भी ऐसी भूल क्यों करें? धर्मका पालन उस भूलका सुधार है। सदाचार और संयमका जीवन ही धर्मका पालन है। सदाचारमें सब कुछ आ जाता है—सत्य, अहिंसा, परोपकार, क्षमा, अस्तेय, शौच आदि-आदि; और संयममें इन्द्रियमनोनिग्रह, धैर्य, दम, धी-विद्या आदि-आदि।

सभी भोग नश्वर और क्षणिक हैं। यह दुर्लभ मानव-शरीर भी पता नहीं, कब हाथसे चला जाय। यह समझकर अब भी चेतना चाहिये। जो समय प्रमादमें बीत गया, सो तो बीत गया, अब आगे नहीं बीतना चाहिये—*'अबलौं नसानी अब न नसैहौं। राम-कृपा भव-निसा*

सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥' (विनयप०) ऐसा निश्चय करके बुरे कर्मोंकी ओरसे मनको खींचे। इन्द्रियोंपर, मनपर नियन्त्रण करे।

अपने दोषोंको नित्य-निरन्तर बड़ी सावधानीसे देखते रहना चाहिये। ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिये कि मन कभी धोखा न दे सके और क्षुद्र से क्षुद्र दोष भी छिपा न रह सके, साथ ही यह हो कि दोषको कभी सहन न किया जाय, चाहे वह छोटासे छोटा ही क्यों न हो। इस प्रकार प्रयास करनेपर अपने दोष मिटते रहेंगे और दूसरोंके दोषोंका दर्शन और चिन्तन क्रमशः बन्द हो जायगा। अपने दोष एक बार दीखने लगनेपर फिर वे इतने अधिक दीखेंगे कि उनके सामने दूसरोंके दोष नगण्य प्रतीत होंगे और उन्हें देखते लज्जा आयगी। इसी बातको प्रकट करते हुए कबीरजीने कहा है—

> **बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।**
> **जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥**

अतएव प्रत्येक मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उन लोगोंको तो विशेषरूपसे करना चाहिये, जो समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं। वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है। स्वयंके सदाचारका प्रभाव अतुलनीय होता है। यहाँतक कि फिर उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती। महापुरुषोंके आचरण ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। इसीलिये महापुरुषोंको यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा कोई ऐसा कार्य न हो जाय, जो नासमझीके कारण जगत्के लिये हानिकर हो। इसलिये वे उन्हीं निर्दोष कर्मोंको करते हैं, जो उनके लिये आवश्यक न होनेपर भी जगत्के लिये आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकारसे हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें। स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीतामें इसी दृष्टिसे कहा है—

> **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
> **स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥**
> (३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वे अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जनसमुदाय उसीका अनुकरण करने लगता है।'

इससे पता लगता है कि श्रेष्ठ पुरुषोंपर कितना बड़ा दायित्व है और उन्हें अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये एवं किस प्रकारसे स्वयं आचरण करके लोगोंके सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिये। सत्पुरुषोंद्वारा आचरणीय सदाचार इस प्रकार हैं—

मनका सदाचार—(१) कभी किसीका बुरा न चाहे, बुरा होता देखकर प्रसन्न न हो। (२) व्यर्थ चिन्तन दूसरेका अनिष्ट चिन्तन, काम क्रोध लोभ आदिके निमित्तका चिन्तन न करे। (३) किसीकी कभी हिंसा न करे (किसीको किसी प्रकार कष्ट पहुँचाना हिंसा है)। (४) विषयोंका चिन्तन न करके भगवान्का चिन्तन करे। (५) भगवान्की कृपापर विश्वास रखे। उनकी लीलाका उनके नाम, गुण, तत्त्वका चिन्तन करे। सन्तोंके चरित्रोंका उनके उपदेशोंका चिन्तन करे। (६) पुरुष स्त्री चिन्तन और स्त्री पुरुष-चिन्तन न करे (यह सदाचार नहीं है)। (७) नास्तिक, अधर्मी, अनाचारी, अत्याचारी तथा उनकी क्रियाओंका चिन्तन न करे। (उनकी आलोचनाओंसे भी सूक्ष्म चिन्तन हो जाता है, अतः उनसे भी बचे)।

वाणीका सदाचार—(१) किसीकी निन्दा चुगली न करे। यथासाध्य परचर्चा तो करे ही नहीं। किसीकी भी व्यर्थ आलोचना न करे। आलोचक दूसरेको तो सुधारता है, पर स्वयं दोष-दृष्टिका अभ्यासी बनकर बिगड़ता जाता है। (२) झूठ न बोले। असत्य पापोंका बाप है और नरकका खुला द्वार है। (३) कटु शब्द, अपशब्द न बोले। किसीका अपमान न करे। किसीको शाप न दे। अश्लील शब्दका उच्चारण न करे। अश्लील शब्दके उच्चारणसे सरस्वती कुपित होती हैं। (४) नम्रतायुक्त मधुर वचन बोले। मीठा वचन वशीकरण मन्त्र कहा गया है। मधुर वचनसे चारों ओर सुख उपजता है। सुख ही तो मनुष्यका साध्य है न? (५) हितकारक वचन बोले। वाणीसे भी किसीका अहित न करे। बातसे ही बात बिगड़ती है। (६) व्यर्थ न बोले। अभिमानके वाक्य न बोले। अनर्गल, अहंकारकी वाणी बोलनेवालेकी महिमा घटा देती है।

(७) भगवद्गुण-कथन, शास्त्रपठन, नामकीर्तन, नामजप करे। पवित्र पद-गान करे। स्वस्तिवाचन, मंगलपाठ आदि सदा कल्याणदायक होते हैं। (८) अपनी प्रशंसा कभी न करे। आत्मश्लाघा अपने-आपको तिनकेसे भी हल्का बना देती है। आत्मप्रशंसककी सर्वत्र निन्दा होने लगती है। (९) जिससे गौ-ब्राह्मणकी, गरीबकी या किसीके भी हितकी हानि होती हो, ऐसी बात न बोले। यह प्रयत्न करे कि जो हितकर और प्रिय हो उसे ही बोले। (१०) आवश्यकता होनेपर दूसरोंकी सच्ची प्रशंसा भले ही करे, किसीकी भी व्यर्थ खुशामद न करे। प्रशंसा या स्तुति अच्छे गुणों और कार्योंमें प्रवृत्ति कराती है और खुशामद झूठी महिमाको उत्पन्नकर दम्भको उभारती है। (११) गम्भीर विषयोंपर विचारके समय विनोद न करे। ऐसा हँसी-मजाक न करे, जो दूसरोंको बुरा लगे या जिससे किसीका अहित होता हो। व्यर्थ हँसी-मजाक तो करे ही नहीं। हँसी-मजाकमें भी अशिष्ट एवं अश्लील शब्दोंका प्रयोग न करे। हँसी-मजाक भयंकर अनर्थके कारणतक बन जाते हैं।

शरीरका सदाचार—(१) किसी प्राणीकी हिंसा न करे। किसीको किसी प्रकारका कष्ट न दे। (२) अनाचार-व्यभिचारसे बचे। ये दोनों समाजसे और स्वर्गसे गिरा देते हैं। (३) सबकी यथायोग्य सेवा करे। सेवा धर्म है और सेवासे मेवा (परम सुख) मिलता है। (४) अपना काम अपने हाथसे करे। स्वावलम्बित्व आत्मशक्तिका सदुपयोग है। (५) गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करे। अभिवादनसे आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं। (६) पवित्र स्थानोंमें, तीर्थोंमें, सत्संगोंमें सन्तोंके दर्शन-हेतु जाय। इससे संयम और सदाचारका बल मिलता है। (७) मिट्टी, जल आदिसे अपने शरीरको पवित्र रखे। शुद्ध जलसे स्नान करे। (८) पाखानेमें नंगा होकर न जाय। टबमें बैठकर अथवा नंगा होकर स्नान न करे। यह सब हमारे शिष्टाचारके विरुद्ध हैं। (९) मलत्यागके लिये बाहर जाय तो नदी या तालाब आदिके किनारे भूलकर भी मलत्याग न करे। मलपर मिट्टी, बालू आदि डाल दे, जिससे दुर्गन्ध न फैले। शौचाचारकी यह भारतीय पद्धति अत्यन्त उत्तम है। (१०) मल-मूत्रका त्याग करके भलीभाँति हाथ-पैर धोये, कुल्ला करे। (११) खड़ा होकर पेशाब न करे। खड़े होकर पेशाब करनेका स्वभाव पशुओंका होता है। (१२) जहाँ-तहाँ थूके नहीं; अपवित्र, दूषित पदार्थोंका स्पर्श न करे। (१३) रोगकी, जहाँतक हो, आयुर्वेदिक चिकित्सा कराये। आयुर्वेद-चिकित्सा अपने देशकी जल-वायु और संस्कार-संस्कृतिके अनुरूप है। (१४) देशी दवाइयोंमें भी तथा आवश्यक होनेपर एलोपैथिक आदि दवाका सेवन करना पड़े तो उनमें भी जिनमें कोई जान्तव पदार्थ हो, उनका प्रयोग बिल्कुल ही न करे। प्राकृतिक चिकित्सापर, खान-पानके संयम आदिपर विशेष ध्यान रखे। रामनामकी दवा ले। जब नाम भवरोगका नाशक है तो साधारण रोगकी तो बात ही क्या? पर इसके लिये नाम-प्रभावपर अटूट नैष्ठिक विश्वास होना चाहिये।

जो साधनसम्पन्न बड़भागी पुरुष अपने दोष देखने लगते हैं, उनके दोष मिटते देर नहीं लगती। फिर यदि उनको अपनेमें कहीं जरा-सा भी कोई दोष दीख जाता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते और पुकार उठते हैं कि 'मेरे समान पापी जगत्में दूसरा कोई नहीं है।' एक बार महात्मा गांधीजीसे किसीने पूछा था कि 'जब सूरदास, तुलसीदास-सरीखे महात्मा अपनेको महापापी बतलाते हैं, तब हमलोग बड़े-बड़े पाप करनेपर भी अपनेको पापी मानकर सकुचाते नहीं, इसमें क्या कारण है?' महात्माजीने इसके उत्तरमें कहा था कि 'पाप मापनेका उनका पैमाना दूसरा था और हमारा दूसरा है।' सारांश यह कि दूसरोंके दोष तो उनको दीखते न थे और अपना क्षुद्र-सा दोष वे सहन नहीं कर सकते थे। मान लीजिये, भक्त सूरदासजीको कभी क्षणभरके लिये भगवान्की विस्मृति हो गयी और जगत्का कोई दृश्य मनमें आ गया, बस, इतनेसे ही उनका हृदय व्याकुल होकर पुकार उठा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी॥

× × ×

मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता रहे और घण्टे-घण्टेमें बड़ी सावधानीसे यह देखता रहे कि इतने समयमें मन, वाणी, शरीरसे मेरे द्वारा कितने और कौन-कौनसे दोष बने हैं और भविष्यमें दोष न बननेके लिये भगवान्के बलपर निश्चय करे तथा भगवान्से प्रार्थना करे कि वे ऐसा बल दें।

यह हमेशा याद रखना चाहिये कि जिसमें दूसरेका अकल्याण है, उससे हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता! अतः सबके कल्याणकी भावना करते हुए इन्द्रियों और मनपर संयमका नियन्त्रण रखकर सबके साथ साधु-शिष्ट व्यवहार करना संयम और सदाचार है। इसीसे मानवका कल्याण हो सकता है।

जीवनचर्याके दो आवश्यक कृत्य—यज्ञ और तप

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)

यज्ञ शब्दके गीतामें दो प्रकारके अर्थ हैं—एक तो विद्वानोंके अनुसार शब्दके पूर्वापर सम्बन्धको देखकर बुद्धिके अनुसार किया जाता है। इनमें अनेक अर्थ विवादास्पद भी होते हैं, दूसरा अर्थ है तात्त्विक अर्थ। अनुष्ठान अथवा तपसे जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है—एकदम पवित्र हो जाता है तब श्लोक सामने आते ही जैसे वीणाके तारोंको छेड़ते ही स्वर निकलता है—वैसे ही आत्मामेंसे अर्थ निकलता है। वह अर्थ बिलकुल शुद्ध होता है। परंतु वह राग-द्वेषरहित हृदयमें ही स्फुरित होता है। द्वैत-अद्वैत, भक्ति, कर्म, योग आदिपर विवाद करनेवाले विद्वानोंके हृदयमें वैसा अर्थ स्फुरित नहीं होता।

जैसे-जैसे भक्तिसे, जपसे, तपसे हृदय निष्पाप होता जाता है—वैसे-वैसे ही ज्ञानका झरना आत्मामेंसे बहने लगता है; क्योंकि वास्तविक ज्ञानका झरना तो आत्मामें ही विद्यमान है।

यज्ञका अर्थ समझना हो तो अपनी आँखोंके सामने तीन वस्तुएँ रखे। एक तो प्रकृतिका विशाल समुद्र। जैसे समुद्रमें तरंगें उठती रहती हैं और शान्त होती रहती हैं, वैसे ही इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें अनेक आकार खड़े होते हैं और फिर उसीमें समा जाते हैं। यह दृश्य विशाल है। प्रभुप्रेरणासे यह होता रहता है। प्रत्येक आकारको उत्पन्न होते और नष्ट होते देखनेके लिये परमात्मा उन सब आकारोंमें बैठकर उन्हें देखता है। प्रकृति, प्रकृतिके प्रेरक प्रभु और प्रकृतिके दृश्य देखनेवाला उसमें सर्वत्र व्याप्त आत्मा—यह त्रिपुटी है। प्रकृति अर्थात् हवन-सामग्री, होता अर्थात् परमात्मा, हवन-अग्नि अर्थात् सर्वत्र व्याप्त आत्मा। इन त्रिपुटियोंका यज्ञ। प्रकृतिकी आहुति दी जाती है, होता होम करता है और पुनः प्रकृतिमेंसे नया दृश्य उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रकृतिके प्रत्येक दृश्यको परमात्मामें हवन करना—यह यज्ञ है। खाना यज्ञ, जल पीना यज्ञ, श्वास लेना यज्ञ, खेती यज्ञ, व्यापार यज्ञ और युद्ध भी यज्ञ। इस प्रकारकी सभी क्रियाएँ, जिनमें किसी एक प्रकृति-समुदायका हवन किया जाय और उसका रूप परिवर्तित हो जाय—वह सब यज्ञ है। इन सब यज्ञोंके दो फल हैं, एक तो प्रकृतिका स्वयंका रूपान्तरण तथा दूसरा होताकी भावनानुसार भोगोंकी प्राप्ति।

जैसे महाराज श्रीदशरथजीने पुत्रेष्टियज्ञ किया, उसमें काष्ठ तथा हवनसामग्रीका जलकर प्रकृतिमें घुल मिल जाना एक फल और महाराज दशरथ होता थे, उनकी भावनानुसार उन्हें पुत्रोंकी प्राप्ति यह दूसरा फल। पहला फल तो प्रकृतिके गुणोंके अनुसार चलता रहता है, दूसरा फल श्रद्धा और विधिके अनुसार प्राप्त होता है। यदि यज्ञ श्रद्धा और शास्त्रसम्मत विधिसे हो तो उसका इच्छित फल मिलता है, नहीं तो उलटा फल मिलता है। फलकी इच्छासे जो यज्ञक्रिया की जाती है, वह बन्धनकारक है, कर्ताको फल भोगना पड़ता है। इसके विपरीत फलेच्छारहित होकर अपना कर्तव्य समझकर जो यज्ञ करता है और उसका फल ईश्वरको अर्पण कर देता है—वह स्वतः मुक्त रहता है।

इन सब यज्ञोंमें किसी प्रकारकी फलेच्छा न रखकर जपयज्ञ करे तो सर्वश्रेष्ठ है—ऐसा भगवान्ने कहा है और वह ठीक ही है—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।**'

समुद्रके तटपर बैठा व्यक्ति चाहे या न चाहे वायुके झोंकोंसे समुद्रमें लहरें तो उठेंगी और शान्त होंगी। इसमें तटपर बैठे द्रष्टाकी कोई कारीगरी काम नहीं आयेगी। उसी प्रकार यहाँ भी परमात्माप्रेरित इस प्रकृतिरूपी सागरमें अनेक दृश्य उत्पन्न होंगे और नष्ट होंगे—इसमें हमारी

चेष्टासे यत्किंचित् भी अन्तर नहीं पड़ सकता। इस विशाल क्रियामें अन्तर डालनेकी चेष्टा करनेवाले, अन्तर डालते दीखनेवाले, सुधार करनेवाले, परमात्मा तथा मृत्युकी हँसी करनेवाले—सब-के-सब इसमें समा गये—लीन हो गये। सब कहानीके रूपमें रह गये, बहुत-से तो इस प्रकृति, सागरके थपेड़ोंमें कहाँ खो गये, पता ही नहीं चलता।

जीवात्माके दो काम हैं—एक तो देखना और दूसरा उसका फल हँसना या रोना। परमात्माके निमित्त—परमात्मासे ही सब चल रहा है, मैं भी उन्हींके वश होकर चल रहा हूँ—यह जो जानता है, वह हँसता है। लेकिन जो यह मानता है कि यह सब मुझसे अथवा दूसरे लोगोंसे चल रहा है—वह रोता है। तत्त्वज्ञान ग्रन्थोंमें नहीं है, ग्रन्थोंमें तो बहुत अल्प ज्ञान है। आत्मामेंसे जब ज्ञानकी लहरें निकलती हैं, तब उनके स्वरसे हमें आश्चर्य होता है। परमात्माके नामका जप श्रद्धापूर्वक करो। तीन बात तय कर लो—मैं हूँ, जगत् है और परमात्मा हैं। परमात्मा जगत्के कर्ता हैं। मनुष्यजन्ममें अथवा अन्य किसी भी जन्ममें शरीर धारण करते ही—फिर चाहे वह ब्रह्मा या इन्द्रका ही शरीर क्यों न हो—सुख-दुःख पीछे लग जाते हैं। इसका कारण है कि शरीरमें रहनेवाले जीवको—चाहे कोई भी शरीर क्यों न हो, शरीरके अनुकूल सुख और शरीरके प्रतिकूल दुःख होता ही है। यह शरीर तो हमने धारण कर लिया अब दूसरा शरीर धारण न करना पड़े—ऐसा विचार होनेपर—ऐसा निश्चय होनेपर ही सुख-दुःखसे मुक्त हुआ जा सकता है। शरीर हमें कोई अन्य नहीं देता है, वह तो हम स्वयं खड़ा करते हैं और वह भी अपनी इच्छासे, अपनी वासनासे। अपनी वासना, इच्छा परमात्मामें समा जाय। हम परमात्माको छोड़कर अन्य कोई इच्छा न रखें तभी हम मुक्त होंगे। इसलिये हम गृहस्थियोंके लिये तो परमात्मामें समानेके लिये सतत नामजप—सतत नामस्मरण ही सरल और अचूक उपाय है। अकेले अभ्याससे हम तर नहीं सकते। अभ्यास और वैराग्य दोनों चाहिये। गृहस्थाश्रम वैराग्य साधने और वासना निर्मूल करनेका अमोघ साधन है। हाँ, इसमें अभ्यासकी अनुकूलता कम रहती है, परंतु वैराग्य सम्पूर्ण सध जाय तो अभ्यास भले ही आधा क्यों न हो, तब भी उसे पूरा समझ लेना चाहिये। गृहस्थाश्रममें धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ता है और धीरे-धीरे वृत्तियाँ विषयभोगोंसे उपराम होती हैं। इसके उपरान्त भी वृत्तियाँ भोगोंकी ओर जाती हैं, तो विषय सहज प्राप्त रहनेसे—उन्हें त्यागपूर्वक भोग लेनेसे वासना क्षय होती है। इसलिये विषयोंको धीरे-धीरे भोगते हुए, उनसे वृत्तियोंको उपराम करते हुए, वैराग्यकी सीढ़ियाँ एक-एक चढ़ते हुए और साथ ही अभ्यास करते हुए अर्थात् नामस्मरण धीरे-धीरे सतत बढ़ाते हुए अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति होनी ही है—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

प्रश्न—गीताजीमें भगवान्‌ने शरीर-तपके अन्तर्गत देव और द्विज-पूजनका वर्णन किया, माता-पिताके पूजनका वर्णन क्यों नहीं किया?

उत्तर—तप कहते ही उसे हैं जो क्रिया सामान्य न होकर विशेष हो। दिनमें दो बार भोजन कर लेना तप नहीं है—यह तो सामान्य बात है। दिनमें एक बार भोजन करना अथवा अन्न न लेकर फलाहार करना तप होगा। उसी प्रकार माता-पिताकी सेवा-शुश्रूषा आर्योंकी दैनिक चर्या है—नित्य कर्म है। वह तपमें नहीं आयेगी।

तपके जो मार्ग शास्त्रोंमें वर्णन किये गये हैं, वे महात्माओंने आचरण किये हैं। तपका मार्ग विधि-भावनायुक्त (श्रद्धायुक्त) अन्तःकरणमें स्वयं प्राप्त होता है और वह निष्पाप हृदयसे निकलकर आचरणद्वारा सिद्ध किया हो तो वह तप दूसरोंके आचरणमें लानेयोग्य होता है, दूसरोंके आचरण करनेयोग्य होता है, इसका यह अर्थ कि उसे दूसरे आचरणमें न ला सकें, ऐसा असाध्य नहीं होता। बहुत-से व्यक्तियोंने वह तप तपा है, इससे सुसाध्य है। वह तप केवल दिमागकी कसरत नहीं है, कल्पनामात्र नहीं है बल्कि आचरण करके उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त होनेपर ही वह दूसरोंको बताया गया है। इसलिये हमलोगोंके भी कामका है। जो आचरणमें लाना चाहें वे सुखपूर्वक आनन्दपूर्वक उसे काममें ले सकते हैं। परमात्मा सबका मंगल करें। [**प्रेषक—श्रीरजनीकान्तजी शर्मा**]

गीतोक्त सदाचार

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर मनुष्यमात्रको सदाचारयुक्त जीवन बनाने तथा दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करनेकी अनेक युक्तियाँ श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलायी हैं। वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्तव्य कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हुए भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

(गीता ३।२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं।

वस्तुतः मनुष्यके आचरणसे ही उसकी वास्तविक स्थिति जानी जा सकती है। आचरण दो प्रकारके होते हैं—१-अच्छे आचरण, जिन्हें सदाचार कहते हैं और २-बुरे आचरण, जिन्हें दुराचार कहते हैं।

सदाचार और सद्‌गुणोंका परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सद्‌गुणसे सदाचार प्रकट होता है और सदाचारसे सद्‌गुण दृढ़ होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण-दुराचारका भी परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सद्‌गुण-सदाचार (सत् होनेसे) प्रकट होते हैं, पैदा नहीं होते। 'प्रकट' वही तत्त्व होता है, जो पहलेसे (अदर्शनरूपसे) रहता है। दुर्गुण-दुराचार मूलमें हैं नहीं, वे केवल सांसारिक कामना और अभिमानसे उत्पन्न होते हैं। दुर्गुण-दुराचार स्वयं मनुष्यने ही उत्पन्न किये हैं। अतः इनको दूर करनेका उत्तरदायित्व भी मनुष्यपर ही है। सद्‌गुण-सदाचार कुसंगके प्रभावसे दब सकते हैं, परंतु नष्ट नहीं हो सकते, जब कि दुर्गुण-दुराचार सत्संगादि सदाचारके पालनसे सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। सर्वथा दुर्गुण-दुराचाररहित सभी हो सकते हैं, किंतु कोई भी व्यक्ति सर्वथा सद्‌गुण-सदाचारसे रहित नहीं हो सकता।

यद्यपि लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि मनुष्य सदाचारी होनेपर सद्‌गुणी और दुराचारी होनेपर दुर्गुणी बनता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सद्‌गुणी होनेपर ही व्यक्ति सदाचारी और दुर्गुणी होनेपर ही दुराचारी बनता है। जैसे—दयारूप सद्‌गुणके पश्चात् दानरूप सदाचार प्रकट होता है। इसी प्रकार पहले चोरपने (दुर्गुण)-का भाव अहंता (मैं)-में उत्पन्न होनेपर व्यक्ति चोरीरूप दुराचार करता है। अतः मनुष्यको सद्‌गुणोंका संग्रह और दुर्गुणोंका त्याग दृढ़तासे करना चाहिये। दृढ़ निश्चय होनेपर दुराचारी-से-दुराचारीको भी भगवत्प्राप्तिरूप सदाचारके चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।

तात्पर्य है कि बाहरसे साधु न दीखनेपर भी उसको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने यह पक्का निश्चय कर लिया है कि अब मेरेको केवल भजन ही करना है। स्वयंका निश्चय होनेके कारण वह किसी प्रकारके प्रलोभनसे अथवा विपत्ति आनेपर भी अपने ध्येयसे विचलित नहीं किया जा सकता।

साधक तभी अपने ध्येय—लक्ष्यसे विचलित होता है, जब वह असत्—संसार और शरीरको 'है' अर्थात् सदा रहनेवाला मान लेता है। असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी भूलसे मनुष्यने उसे सत् मान लिया और भोग-संग्रहकी ओर आकृष्ट हो गया। अतः असत्—संसार, शरीर, परिवार, रुपये-पैसे, जमीन, मान, बड़ाईसे विमुख होकर (इनसे सुख न लेकर और सुख लेनेकी इच्छा न रखकर) इनका यथायोग्य सदुपयोग करना है तथा सत्-तत्त्व (परमात्मा)-को ही अपना मानना है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार असत् (संसार)-की सत्ता नहीं है और सत्-तत्त्व (परमात्मा)-का अभाव नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२।१६)

जिस वास्तविक तत्त्वका कभी अभाव अथवा नाश नहीं होता, उसका अनुभव हम सबको हो सकता है। हमारा ध्यान उस तत्त्वकी ओर न होनेसे ही वह अप्राप्त-सा हो रहा है। उस सत्-तत्त्वका विवेचन गीतामें भगवान्‌ने पाँच प्रकारसे किया है—

(१) **सद्भावे।** (१७। २६)

(२) **साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।** (१७। २६)

(३) **प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥** (१७। २६)

(४) **यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।** (१७। २७)

(५) **कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।** (१७। २७)

यह सत्-तत्त्व ही सद्‌गुणों और सदाचारका मूल आधार है। अतः उपर्युक्त सत् शब्दका थोड़ा विस्तारसे विचार करें।

(१) '**सद्भावे**'—सद्भाव कहते हैं—परमात्माके अस्तित्व या होनेपनको। प्रायः सभी आस्तिक यह बात तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता कोई विलक्षण शक्ति सदासे है और वह अपरिवर्तनशील है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदल रहा है, उसे 'है' अर्थात् स्थिर कैसे कहा जाय? यह तो नदीके जलके प्रवाहकी तरह निरन्तर बह रहा है। जो बदलता है, वह 'है' कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि इन्द्रियों, बुद्धि आदिसे जिसको जानते, देखते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी जा रहा है—यह सभीका अनुभव है। फिर भी आश्चर्य यह है कि 'नहीं' होते हुए भी वह 'है' के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है। ये दोनों बातें परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। वह होता, तब तो बदलता नहीं और बदलता है तो 'है' अर्थात् स्थिर नहीं। इससे सिद्ध होता है कि यह होनापन संसार-शरीरादिका नहीं है, प्रत्युत सत्-तत्त्व (परमात्मा)-का है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार 'है' दीखता है। परमात्माके होनेपनका भाव दृढ़ होनेपर सदाचारका पालन स्वतः होने लगता है।

भगवान् हैं—ऐसा दृढ़तासे माननेपर न पाप, अन्याय, दुराचार होंगे और न चिन्ता, भय आदि ही। जो सच्चे हृदयसे सर्वत्र परमात्माकी सत्ता मानते हैं, उनसे पाप हो ही कैसे सकते हैं?* परम दयालु, परम सुहृद् परमात्मा सर्वत्र हैं, ऐसा माननेपर न भय होगा और न चिन्ता होगी। भय लगने अथवा चिन्ता होनेपर मैंने भगवान्‌को नहीं माना—इस प्रकार विपरीत धारणा नहीं करनी चाहिये, किंतु भगवान्‌के रहते चिन्ता, भय कैसे आ सकते हैं—ऐसा माने। दैवी सम्पत्ति (सदाचार)-के छब्बीस लक्षणोंमें प्रथम 'अभय' है (गीता १६।१)।

अच्छे आचरण करनेवालेको कोई यह नहीं कहता कि तुम अच्छे आचरण क्यों करते हो, पर बुरे आचरण करनेवालेको सब कहते हैं कि तुम बुरे आचरण क्यों करते हो? प्रसन्न रहनेवालेको कोई यह नहीं कहता कि तुम प्रसन्न क्यों रहते हो, पर दुःखी रहनेवालेको सब कहते हैं कि तुम दुःखी क्यों रहते हो? तात्पर्य है कि भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें दैवी सम्पत्ति स्वाभाविक है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'*** (मानस ७। ११७। १)। आसुरी सम्पत्ति स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक है और नाशवान्‌के संगसे आती है। जब जीव भगवान्‌से विमुख होकर नाशवान् (असत्)-का संग कर लेता है अर्थात् शरीरमें अहंता-ममता कर लेता है, तब उसमें आसुरी सम्पत्ति आ जाती है और दैवी सम्पत्ति दब जाती है। नाशवान्‌का संग छूटते ही सद्‌गुण-सदाचार स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

(२) '**साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते**'—अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावोंको 'साधुभाव' कहते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे श्रेष्ठ भावोंके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ भाव अर्थात् सद्‌गुण-सदाचार

* जो व्यक्ति भगवान्‌को भी मानता हो और असत्-आचरण (दुराचार) भी करता हो, उसके द्वारा असत्-आचरणोंका विशेष प्रचार होता है, जिससे समाजका बड़ा नुकसान होता है। कारण कि जो व्यक्ति भीतरसे भी बुरा हो और बाहरसे भी बुरा हो, उससे बचना बड़ा सुगम होता है; क्योंकि उससे दूसरे लोग सावधान हो जाते हैं। परंतु जो व्यक्ति भीतरसे बुरा हो और बाहरसे भला बना हो, उससे बचना बड़ा कठिन होता है। जैसे, सीताजीके सामने रावण और हनुमान्‌जीके सामने कालनेमि राक्षस आये तो उनको सीताजी और हनुमान्‌जी पहचान नहीं सके; क्योंकि उनका वेश साधुओंका था।

दैवी सम्पत्ति है। 'देव' नाम भगवान्‌का है और उनकी सम्पत्ति 'दैवी सम्पत्ति' कहलाती है। भगवान्‌की सम्पत्तिको अपनी माननेसे अथवा अपने बलसे उपार्जित माननेसे अभिमान आ जाता है, जो आसुरी सम्पत्तिका मूल है। अभिमानकी छायामें सभी दुर्गुण-दुराचार रहते हैं।

सद्‌गुण-सदाचार किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। अगर ये व्यक्तिगत होते तो एक व्यक्तिमें जो सद्‌गुण-सदाचार हैं, वे दूसरे व्यक्तियोंमें नहीं आते। वास्तवमें ये सामान्य धर्म हैं, जिनको मनुष्यमात्र धारण कर सकता है। जैसे पिताकी सम्पत्तिपर सन्तानमात्रका अधिकार होता है, ऐसे ही भगवान्‌की सम्पत्ति (सद्‌गुण-सदाचार)-पर प्राणिमात्रका समान अधिकार है।

अपनेमें सद्‌गुण-सदाचार होनेका जो अभिमान आता है, वह वास्तवमें सद्‌गुण-सदाचारकी कमीसे अर्थात् उसके साथ आंशिकरूपसे रहनेवाले दुर्गुण-दुराचारसे ही पैदा होता है। जैसे, सत्य बोलनेका अभिमान तभी आता है जब सत्यके साथ आंशिक असत्य रहता है। सत्यकी पूर्णतामें अभिमान आ ही नहीं सकता। असत्य साथमें रहनेसे ही सत्यकी महिमा दीखती है और उसका अभिमान आता है। जैसे, किसी गाँवमें सब निर्धन हों और एक लखपति हो तो उस लखपतिकी महिमा दीखती है और उसका अभिमान आता है। परंतु जिस गाँवमें सब-के-सब करोड़पति हों, वहाँ लखपतिकी महिमा नहीं दीखती और उसका अभिमान नहीं आता। तात्पर्य यह है कि अपनेमें विशेषता दीखनेसे ही अभिमान आता है। अपनेमें विशेषता दीखना परिच्छिन्नताको पुष्ट करता है।

सद्‌गुण-सदाचारकी स्वतन्त्र सत्ता है, पर दुर्गुण-दुराचारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कारण कि असत्‌को तो सत्‌की जरूरत है, पर सत्‌को असत्‌की जरूरत नहीं है। झूठ बोलनेवाला व्यक्ति थोड़े-से पैसोंके लोभमें सत्य बोल सकता है, पर सत्य बोलनेवाला व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोल सकता।

(३) **'प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते'**—तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। दान, पूजा, पाठादि जितने भी शास्त्रविहित शुभकर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं, किंतु इन प्रशस्त कर्मोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं रखनेसे वे 'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्रविहित कर्ममात्रमें रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव भी प्रशंसनीय कर्म तपस्यादि करते हैं, परंतु असद् भाव—दुरुपयोग करनेसे इसका परिणाम विपरीत हो जाता है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

(गीता १७।१९)

जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है। वस्तुतः प्रशंसनीय कर्म वे होते हैं, जो स्वार्थ और अभिमानके त्यागपूर्वक **'सर्वभूतहिते रताः'** भावसे किये जाते हैं। शास्त्रविहित सत्कर्म भी यदि अपने लिये किये जायँ तो वे असत्कर्म हो जाते हैं, बाँधनेवाले हो जाते हैं। उनसे यदि ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो वहाँसे लौटकर आना पड़ता है—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** (गीता ८।१६)

भगवान्‌के लिये कर्म करनेवाले सदाचारी पुरुषका कभी नाश नहीं होता—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

(गीता ६।४०)

'हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे! कल्याणकारी (भगवत्प्राप्तिके लिये) कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।'

(४) **'यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते'**—(गीता १७।२७)। 'यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्'—कही जाती है।' सदाचारमें यज्ञ, दान और तप—ये तीनों प्रधान हैं, किंतु इनका सम्बन्ध भगवान्‌से होना चाहिये। यदि इन (यज्ञादि)-में मनुष्यकी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) हो जाय तो स्वप्नमें भी उसके द्वारा दुराचार नहीं हो सकता। ऐसे दृढ़निश्चयी सदाचारी पुरुषके

विषयमें ही कहा गया है—

निष्पीडितोऽपि मधु ह्युद्गमतीक्षुदण्डः।

ईखको पेरनेपर भी उसमेंसे मीठा रस ही प्राप्त होता है।

(५) **'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'**— (गीता १७। २७) 'उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।' अपना कल्याण चाहनेवाला निषिद्ध आचरण कर ही नहीं सकता। जबतक अपने जाननेमें आनेवाले दुर्गुण-दुराचारका त्याग नहीं करता, तबतक वह चाहे कितनी ज्ञान-ध्यानकी ऊँची-ऊँची बातें बनाता रहे, उसे सत्-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। निषिद्ध और विहित कर्मोंके त्याग-ग्रहणके विषयमें भगवान् कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।' विहित कर्म करनेकी अपेक्षा निषिद्धका त्याग श्रेष्ठ है। निषिद्ध आचरणके त्यागके बाद जो भी क्रियाएँ होंगी, वे सब भगवदर्थ होनेपर सत्-आचार (सदाचार) ही कहलायेंगी। भगवदर्थ कर्म करनेवालेसे एक बड़ी भूल यह होती है कि वे कर्मोंके दो विभाग कर लेते हैं। (१) संसार और शरीरके लिये किये जानेवाले कर्म अपने लिये और (२) पूजा-पाठ, जप-ध्यान, सत्संगादि सात्त्विक कर्म भगवान्‌के लिये मानते हैं; वास्तवमें जैसे पतिव्रता स्त्री घरका काम, शरीरकी क्रिया, पूजा-पाठादि सब कुछ पतिके लिये ही करती है, वैसे ही साधकको भी सब कुछ केवल भगवदर्थ करना चाहिये। भगवदर्थ कर्म सुगमतापूर्वक करनेके लिये पाँच बातें (पंचामृत) सदैव याद रखनी चाहिये—(१) मैं भगवान्‌का हूँ, (२) भगवान्‌के घर (दरबार)-में रहता हूँ, (३) भगवान्‌के घरका काम करता हूँ, (४) भगवान्‌का दिया हुआ प्रसाद पाता हूँ और (५) भगवान्‌के जनों (परिवार)-की सेवा करता हूँ। इस प्रकार शास्त्र-विहित कर्म करनेपर सदाचार स्वतः पुष्ट होगा। श्रीमद्भगवद्गीता (९। २७)-में भगवान् आज्ञा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो यज्ञ करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।' यहाँ यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त **'यत्करोषि'** और **'यदश्नासि'**—ये दो क्रियाएँ और आयी हैं। तात्पर्य यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त हम जो कुछ भी शास्त्रविहित कर्म करते हैं और शरीर-निर्वाहके लिये खाना, पीना, सोना आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब भगवान्‌के अर्पण करनेसे 'सत्' हो जाती हैं। साधारण-से-साधारण स्वाभाविक-व्यावहारिक कर्म भी यदि भगवान्‌के लिये किया जाय तो वह भी सत् हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' जैसे, एक व्यक्ति प्राणियोंकी साधारण सेवा केवल भगवान्‌के लिये ही करता है और दूसरा व्यक्ति केवल भगवान्‌के लिये ही जप करता है। यद्यपि स्वरूपसे दो प्रकारकी छोटी-बड़ी क्रियाएँ दीखती हैं, परंतु दोनों (साधकों)-का उद्देश्य परमात्मा होनेसे वस्तुतः उनमें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है; क्योंकि परमात्मा सर्वत्र समानरूपसे परिपूर्ण हैं। वे जैसे जप-क्रियामें हैं, वैसे ही साधारण सेवा-क्रियामें भी हैं।

भगवान् 'सत्' स्वरूप हैं। अतः उनसे जिस किसीका भी सम्बन्ध होगा, वह सब 'सत्' हो जायगा। जिस प्रकार अग्निसे सम्बन्ध होनेपर लोहा, लकड़ी, ईंट, पत्थर, कोयला—ये सभी एक-से चमकने लगते हैं, वैसे ही भगवान्‌के लिये (भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे) किये गये छोटे-बड़े सब-के-सब कर्म 'सत्' हो जाते हैं, अर्थात्

सदाचार बन जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें सदाचार-सूत्र* यही बतलाया गया है कि यदि मनुष्यका लक्ष्य (उद्देश्य) केवल सत् (परमात्मा) हो जाय तो उसके समस्त कर्म भी 'सत्' अर्थात् सदाचार-स्वरूप ही हो जायँगे। अतएव सत्स्वरूप एवं सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ओर ही अपनी वृत्ति रखनी चाहिये, फिर सद्गुण, सदाचार स्वतः प्रकट होने लगेंगे।

धर्मशास्त्रानुसार जीवनचर्यासे ही कल्याण होता है

[ब्रह्मलीन संत स्वामी श्रीचैतन्यप्रकाशानन्दतीर्थजी महाराजके सदुपदेश]

मनुष्य-जीवनका क्षण-क्षण अमूल्य है। उसे ईश्वर-साक्षात्कारके लिये ही लगाना चाहिये। सर्वव्यवहार बहिरंग तथा अन्तरंग परमेश्वरकी इच्छाके लिये करना चाहिये, जो मानव अपने समस्त कार्योंको, व्यवहारको परमात्माके लिये समर्पित कर देता है, उसे भगवान्‌के प्रसादके रूपमें स्फूर्ति, बल, बुद्धि, प्रसन्नता, निर्भयता स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।

जिस व्यवहारसे अपने द्वारा सबका हित होता है, वह व्यवहार भजनरूप हो जाता है और आत्मबल बढ़ाता है।

यह जन्म केवल भजनके लिये मिला है। दूसरे प्रपंचोंमें समय गँवाना मात्र मूर्खता ही है। अतः गृहस्थका पालन करते हुए भी अधिकांश समय भगवान्‌के भजन-चिन्तनमें लगाना चाहिये। अपनी जीवनचर्या ऐसी बनानी चाहिये कि एक क्षणके लिये भी प्रभुका विस्मरण न हो। एक क्षणका भी दुरुपयोग न हो।

ज्ञानवान्‌की दृष्टिमें संसार कल्पनामात्र है। संसारके प्रपंचोंसे दूर रहकर भजन, शुभ कर्म तन, मन, धन और वाणीसे करते रहनेवालोंका लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है।

जैसे स्वच्छ दर्पणमें अपना मुख स्पष्ट दिखता है, वैसे ही शुद्ध आत्माको भक्ति और ज्ञान शीघ्र तथा सहजतासे प्राप्त होते हैं। हृदयशुद्धि तब जानी जाती है, जब विषय-वासनासे वैराग्य हो। विषयसे वैराग्य विषयमें दोष-दर्शनसे होता है। दोष दर्शनका कारण विचार है और विचारकी उत्पत्ति विरक्त, ज्ञानवान् और भगवद्भक्त सन्तोंके सत्संगसे होती है। अतः प्रतिदिन सन्तों, सत्पुरुषोंका सत्संग अवश्य करना चाहिये। शास्त्रोंके बताये मार्गपर चलते हुए प्रतिदिन सत्कर्म, सन्त-सेवा, अतिथि-सेवा, भगवान्‌के नामका स्मरण, सत्साहित्यका अध्ययन करनेका नियम बना लेना चाहिये।

श्रीमद्भागवत महापुराण है। यह ग्रन्थ-रत्न परम भक्तिसे सराबोर है। इसका पठन-पाठन तथा श्रवण करनेवाला भगवत्-प्रेमी प्रेम-रसमें मग्न हो जाता है। मानव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका श्रवण करके समस्त प्रकारके सुख-दुःखसे ऊपर उठ जाता है। जैसे भीषण गर्मी तथा तापकी जलनसे पीड़ित मनुष्य पर्वतपर जाकर विश्रान्ति पाता है, अनूठा सुख अनुभव करता है, वैसे ही भक्तजन श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णकी पावन लीलाओंका रसास्वादन करके अनूठी तृप्तिकी अनुभूति करते हैं।

दुःख-सुख चक्रकी धुरीकी भाँति जीवनमें आते रहते हैं, घूमते रहते हैं किंतु आत्मा निश्छल निरीक्षक द्रष्टा है। उसी आत्मारूप ब्रह्मको जानना है, उसीकी उपासना करनी

* यद्यपि गीता सर्वशास्त्रमयी है और उसमें सर्वत्र सदाचारकी ही चर्चा है, फिर भी भगवान्‌ने कृपा करके इतने छोटेसे ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे कई स्थानोंपर सदाचारी पुरुषके लक्षणोंका विभिन्न रूपोंमें वर्णन किया है, जिनमें निम्नलिखित स्थल प्रमुख हैं—(१) दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकसे ७१वें श्लोकतक स्थितप्रज्ञ-सदाचारीका वर्णन, (२) बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भक्तसदाचारीका वर्णन, (३) तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक ज्ञानके नामसे सदाचारका वर्णन, (४) चौदहवें अध्यायके २२वें श्लोकसे २५वें श्लोकतक गुणातीत सदाचारीके लक्षण, आचरण और प्राप्तिके उपायका वर्णन और (५) सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकसे तीसरे श्लोकतक दैवी (भगवान्‌की) सम्पत्तिरूप सदाचारका वर्णन।

है जीवनको सफल और कृतार्थ करनेके लिये।

जो कुछ हो रहा है, उसमें सम्यक् शान्त रहकर अपने कार्य-कर्तव्यको करता रहे। समस्त कर्मफल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये अर्पण करे। शुभ कर्म करे; किंतु निष्काम अर्थात् स्वार्थरहित। तब जीवनमें सम्यक् सुखकी अनुभूति स्वतः होने लगती है।

धर्मप्राण भारतमें मनकी पवित्रता, वाणीकी शुद्धि, शरीरकी शुद्धि, आहारकी शुद्धिके कारण विचारोंमें पावनता तथा महानता उत्पन्न होती है। इस सब प्रकारकी पवित्रताके कारण ही भारतका संसारमें अलग स्थान रहा है। भारत भक्तिप्रधान ज्ञानप्रधान देश है, जबकि संसारके अन्य देश भोगप्रधान हैं। इसीलिये हमें अपनी जीवनचर्या शास्त्रानुसार बनानी चाहिये। भारतकी विशिष्टताके कारण ही भगवान् यहाँ अवतार धारण करते हैं। भारत भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् आशुतोष आदिकी लीलाभूमि होनेके कारण परम पावन है। हमें अपने अवतारों, सन्त-महात्माओं, धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गपर चलना चाहिये। वेदों-शास्त्रों, उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत-महापुराण, रामायण आदिसे प्रेरणा लेकर अपना मानव-जीवन सफल बनाना चाहिये।

'नीतिशतक' में श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥

वे वन्दनीय हैं, जिन सज्जनोंमें निम्न गुण हैं—सन्त पुरुषसे मिलनेकी उत्कण्ठा, दूसरोंके गुणोंको सुननेमें रुचि, गुरुदेवके सामने नम्रता, विनय, विद्या, शास्त्रज्ञानमें आसक्ति, स्वभार्यामें ही सुख-सन्तोष, लोकापवादसे भय, भगवान् शंकरमें भक्ति, अपनी इन्द्रियोंको वशमें करनेकी सामर्थ्य तथा दुर्जनोंका त्याग—इन गुणोंको जीवनमें आत्मसात् कर लेनेवाला सदैव सुखी, समृद्ध रहता है।

'**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि**' मन और इन्द्रियोंकी बागडोर भगवान् श्रीकृष्णके करकमलोंमें समर्पित कर देनेसे हम सर्वप्रकारसे निश्चिन्त हो सकते हैं। प्रत्येक कार्यको हमें धर्मशास्त्रोंकी कसौटीपर कसकर ही करना चाहिये। धर्मशास्त्रोंका नियन्त्रण ही हमें संयमी और सन्मार्गी बनानेमें सक्षम है।

मनको एक मिनट भी भगवत्स्मरणसे विमुख न रखना ही निष्काम कर्मयोगका रहस्य है। कर्मयोगी सतत मनसे भगवत्स्मरण करे, यही कर्मोंमें कुशलता अर्थात् बुद्धिमत्ता तथा यथार्थ योग है।

वह कार्य परम उज्ज्वल फल देता है, जो शास्त्रानुसार विचार करके किया जाता है। मनमें उद्वेगके आनेपर जो कार्य किया जाता है वह सर्वनाश करता है। इसीलिये कहा गया है—'**पाशनात् इति पशुः**' जो उद्वेगोंके अधीन हैं, वे पशु हैं। जो श्रेष्ठ पुरुष भगवान् तथा शास्त्रोंके बताये मार्गपर चलते हैं, वे उद्वेग तथा अधम विचारोंपर विजय पाते हैं। वही मनुष्य चिरस्थायी शान्ति, सुख तथा यश पाता है, जो मनके उद्वेगोंके अनुसार कार्य न करके धर्मशास्त्रोंके अनुसार कार्य करता है।

जीवका सच्चा मित्र परमात्मा है। पुण्य कर्मोंकी पराकाष्ठा विचारमें है। विचारका आधार रामायण, श्रीमद्भगवद्गीता, वेद-उपनिषद्, श्रीमद्भागवत आदि शास्त्र एवं पुराण हैं।

जब मन निर्मल होता है तब बिना इच्छा किये हमारी सारी आवश्यकताएँ-सदिच्छाएँ पूर्ण होने लगती हैं। जब मन विक्षिप्त रहता है तब समीपकी, हाथ आयी वस्तु भी चली जाती है। इसलिये मनको सदा शान्त, धर्ममें दृढ़, विचारमें परिपक्व रखनेका साधन करना चाहिये। साधनाका परिणाम अथवा फल निश्चयात्मिका बुद्धिकी प्राप्ति है। पहले साधन विषके समान कटु लगता है, परंतु परिणाममें साधन अमृत-फलको देता है। शरीर, स्त्री, धन, नाम, मान, मनकी प्रफुल्लता कुछ समयके ही साधन हैं। '**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते**' स्थिर बुद्धि, शान्त चित्त ही सच्ची विभूति है तथा झूठा वैभव जन्म, मरण और नरकका कारण है।

लोक-परलोकमें कल्याण गृहस्थमें रहते हुए, गृहस्थधर्मका पालन करते हुए सहजतासे सम्भव है। विचारपूर्वक आहार-विहार, आचार-विचार, नियमपूर्वक नियत कर्म, नाम-जप, सत्संग तथा सेवा-परोपकार करनेवाला सद्‌गृहस्थ सहजहीमें भगवान्‌की कृपा प्राप्त कर लेता है। शास्त्रानुसार आदर्श जीवनचर्यावाले मनुष्यका लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। [**श्रीत्रिलोकचन्द्रजी सेठ**]

सुगमतम साधन

(गोलोकवासी पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

हमें जो मानव-शरीर मिला है, यह हमारे लिये बहुत ही सुयोगकी बात है।[१] इसे हम अपने प्रयाससे नहीं प्राप्त कर सकते। यह तो भगवान्‌की अहैतुकी करुणासे ही प्राप्त होता है।[२] इस तरह हमारा यह मानव-तन अत्यन्त दुर्लभ है।[३] इसका पुनः मिलना उतना कठिन है, जितना पके फलके गिर जानेपर फिर उसका डालमें आ लगना।[४]

इस मानव-तनका महत्त्व भी अद्वितीय है। चौरासी लाख योनियोंमें केवल मानव-योनि ही ऐसी योनि है, जिसमें आत्माका मुख्यतया त्राण किया जा सकता है।[५] कीट-पतंग, पक्षी, पशु आदि प्राणी भला ईश्वर, जीव और प्रकृतिके सम्बन्धमें क्या विचार कर सकते हैं? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंमेंसे कुछ कोष ही इन प्राणियोंमें होते हैं। कोषोंका समग्र विकास तो केवल मनुष्य-शरीरमें ही होता है। इसलिये मनुष्य ही 'आत्मा-नित्य है, इसके अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि सब अनित्य हैं'—ऐसा विवेक कर सकता है, इसका अभ्यासकर सांसारिक भोगोंसे विरक्त हो सकता है, इस वैराग्यको दृढ़कर शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान-रूप षट् सम्पत्तियोंको प्राप्त कर सकता है; तब मुमुक्षुता आती है और तब कहीं जाकर ब्रह्मविचारका अधिकारी बन सकता है।[६] मनुष्यसे भिन्न पशु आदि योनियोंमें साधन-चतुष्टयका यह तारतम्य सम्भव नहीं है। उनके पास वह बुद्धि नहीं होती, जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है।[७] अतः मनुष्य-शरीरमें ही चौरासी लाख योनियोंके प्रवाहके थपेड़ोंसे उत्पीडित आत्माका त्राण सम्भव है।

आत्माका त्राण होता है—भगवान्‌की प्राप्तिसे। आत्मा पूर्ण अमरता, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण सुख चाहता है। इसकी पूर्ति सच्चिदानन्द ब्रह्मकी प्राप्तिसे ही सम्भव है; क्योंकि भगवान्‌के अतिरिक्त कोई पूर्ण अमर, पूर्ण ज्ञानस्वरूप और पूर्ण आनन्दस्वरूप नहीं है। इस तरह यह स्पष्ट है कि मानव-तनका एकमात्र लक्ष्य है—भगवत्प्राप्ति। इस लक्ष्यकी पूर्तिके लिये भगवान्‌ने अनादिकालसे चेतावनी भी दे रखी है। कह रखा है कि इस शरीरके रहते-रहते भगवान्‌को अवश्य प्राप्त कर लो; नहीं तो विनाश-ही-विनाश हाथ लगेगा—

(क) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
नोचेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

(ख) तूर्णं यतेत न पतेदनु-
मृत्युयावन्निःश्रेयसाय''' ।[८]

किंतु मायाके चक्करमें पड़कर हमने भगवान्‌की इस चेतावनीपर कभी ध्यान नहीं दिया। परिणामतः अबतक हमें विनाश-ही-विनाश हाथ लगता आया है। अनादिकालसे हम भटकते, ढहते, ढुलमुलाते चले आ रहे हैं। कभी-कभी घोर यन्त्रणाओंके मध्यसे होकर गुजरना पड़ता है। गणितके पास वह अंक नहीं है, जिससे हमारे भटकावके लम्बे वर्षोंकी गणना की जा सके। इस लम्बी अवधिमें कई बार भगवान्‌की दया प्राप्त हुई होगी, कई बार हमें मानव-तन मिले होंगे; किंतु तबसे विनाश-ही-विनाश झेलते आ रहे हैं—पूर्ण सुख, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण अमरताकी प्राप्ति तो दूरकी बात रही। यह परिणाम है भगवान्‌की चेतावनीको अनसुनी करनेका।

प्रश्न उठता है कि मानव मायाकी इस लपेटसे निकले कैसे? मायाकी असीम ऊँचाईके सामने बौना

१-बड़ें भाग मानुष तनु पावा। (रा०च०मा० ७। ४३। ७)
२-कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (रा०च०मा० ७। ४४। ६)
३-लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते। (श्रीमद्भा० ११। ९। २९)
४-मानुष तन दुर्लभ अहै, होय न दूजी बार। पक्का फल जो गिरि पड़ा, बहुरि न लागै डार॥ (साखी ११५)
५-इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते। आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥ (महाभारत)
६-ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य (१। १। १) ७-ब्रह्मावलोकधिषणम्। (श्रीमद्भा० ११। ९। २८)
८-'जबतक मृत्यु आ उपस्थित नहीं हो जाती, तभीतक आत्मकल्याणके लिये यत्न कर लेना चाहिये।'

मानव खड़ा भी कैसे हो? जिस मायाने अपनी लपेटसे आजतक हमें निकलने न दिया, वह इस बार भी कैसे निकलने देगी? क्या ऐसा कोई उपाय है, जिससे हमपर मायाका वश न चले?

इसका उपाय भी उसी करुणा-वरुणालयने अनादिकालसे बता रखा है, जिसने हमें मानव-तन प्रदान किया है और जिसने उसके उपयोगके लिये सतर्क भी किया है। वह उपाय बहुत ही सरल है और व्यापक इतना है कि मानव-जीवनका प्रत्येक क्षण उसके दायरेमें आ जाता है। तब प्रत्येक श्वास साधनामय बन जाता है। माया भी इस दायरेमें पैठ नहीं पाती—वह उपाय है—अजपाजप।

'अजपा' उस जपको कहते हैं, जो बिना उच्चारण किये, केवल श्वास-प्रश्वासके आने-जानेसे सम्पन्न होता है—'**न जप्यते—नोच्चार्यते अपितु श्वास-प्रश्वास-योर्गमनागमनाभ्यां सम्पाद्यते, इति 'अजपा'**।'[१] हम जो श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं, इससे '**हंसः**' या '**सोऽहम्**' इस रूपसे ब्रह्मका उच्चारण होता रहता है। इस तरह हमारे बिना जपे भी निरन्तर भगवान्‌के नामका जप हमसे हो सकता है। इससे बढ़कर और सुविधा क्या हो सकती है? भगवान्‌की करुणाकी कोई सीमा नहीं। उन्होंने आत्माके त्राणके लिये हमें मानव-तन दिया, उसके उपयोगके लिये चेताया, उपयोग न करनेपर होनेवाले कटु परिणामोंको दरसाया और ऐसा सुगम साधन दिया, जिससे बढ़कर और कोई साधन हो नहीं सकता। इतना करके भी वह निश्चिन्त न हो सका; क्योंकि हमारी कमजोरीको वह जानता है। जानता है कि मोहकी नींदमें पड़कर हम सबको भूल जायँगे। इसलिये श्वासोंके द्वारा '**हंसः**' का उच्चारण कराता है और बोधित करता है कि 'मैं तुम्हारे सारे भटकावका हनन कर दूँगा।[२] उठो तो, जागो तो।[३] 'अजपा' जपो।'[४]

इतना करनेके बाद भी वंचित मानव अपना प्यार भगवान्‌को नहीं दे पाता, प्यार देता है मायाको। आज मानवोंकी आधी आबादीने भगवान्‌को काला झंडा दिखा दिया है। लगभग सवा अरब आबादी अनीश्वरवादके विचारसे शासित है और शेष आबादीमेंसे अधिकतर उससे प्रभावित हैं। जो ईश्वरको मानते हैं, वे भी भिन्न-भिन्न खेमोंमें बँट गये हैं। सनातन-वाणी सुननेको कितने तैयार हैं? जो सुननेको तैयार हैं, उनमें कितने 'अजपा' से परिचित हैं? मायाकी यह कैसी विडम्बना है?

'अजपा' है तो सरल, फिर भी शास्त्रका आदेश है कि इसे गुरुसे प्राप्त कर लिया जाय।[५] विधि यह है। प्रातःकाल उठे, हाथ-पैर धो, कुल्लाकर रातके कपड़े बदल दे। आचमन करे। तब भगवान्‌का ध्यान करते हुए निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर सभी अंगोंपर जल छिड़के—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

इसके बाद हाथमें जल लेकर अजपाका संकल्प करे—'हे भगवन्! आज (संवत्……मास……पक्ष……तिथि ……वारको) सूर्योदयसे प्रारम्भकर कल सूर्योदयतक जानमें या अनजानमें, श्वास-प्रश्वास-क्रियाके द्वारा होनेवाला अजपाजप, इक्कीस हजार छः सौ[६] की संख्यामें, आपकी प्रसन्नताके लिये करूँगा।'

दूसरे दिन किये हुए अजपाजपको संकल्पके द्वारा भगवान्‌को अर्पण करे। उसके बाद अजपाजप करनेका नया संकल्प बोले।

समर्पणका संकल्प इस तरह बोले—

'हे भगवन्! कल सूर्योदयसे आज सूर्योदयतक श्वास-प्रश्वास-क्रियाके द्वारा, जानमें या अनजानमें, जो इक्कीस हजार छः सौ अजपा-जप बन पड़ा है, उसे मैं आपको समर्पण करता हूँ।'

१-शब्दकल्पद्रुम।
२-हन्ति ज्ञातृसंसारमिति हंसः। (उत्तरगीता १।५ गौड़पादाचार्य)
३-उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत। (कठोप० १।३।१४)
४-अजपां जपते यस्तु तस्य पुनर्जन्म न विद्यते। (अग्निपु० २१४।२६)
५-एवं यस्तु विजानाति मन्त्रमाचार्यपूर्वकम्। सो जपन्नपि हंसाख्यं जपत्येव न संशयः॥ (सूतसं०)
६-अयुते द्वे सहस्रैकं षट्शतानि तथैव च। अहोरात्रेण योगीन्द्र जपसंख्यां करोति सः॥ (अग्निपु० २१४।२५)

गृहस्थमें साधुतामय जीवनचर्या

[व्रजभाषामें]

(गोलोकवासी पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

पापसे बचें

(१) गृहस्थमें रहते भये अपने प्रारब्धवश दु:ख आवैं तौ दु:ख सह लें, अभाव एवं कष्ट भोग लें, किंतु अधर्म, अन्याय, असत्य, चोरी, छल, कपट, दम्भसौं सर्वथा बचें। कबहूँ, कैसी हू परिस्थितिमें पाप न करैं।

यह कलिकाल है। अत्यन्त दुस्तर समय है। भविष्य अच्छौ नहीं है। सर्वत्र कुसंगकी भरमार है। बहिर्मुखता बढ़ रहीं है। सबकौ ध्यान भौतिकताकी ओर है। ऐसे समयमें उत्तम पुरुषनकी वृत्ति हू पापमय बनवेकी सम्भावना रहै है, अत: बहुत ही सावधानीसौं चलवेकी आवश्यकता है। जो पापसौं डरते भये श्रीभगवद्‌भजन एवं सत्संग करते रहेंगे, वही या दुस्तर समयकूँ पार कर पावेंगें। अन्यथा, मनुष्यनकौ पतन ही विशेष होयगौ।

(२) पाप न बनै और धर्मपै चलै तौ आगे उठवेकौ मार्ग अपने आप बन जायगौ। पाप करकैं पाप काटवेके लिये दान-पुण्य, व्रतादिक धर्मनकौ आचरण करनौ, परन्तु पापवृत्तिकूँ न त्यागनौ, यह तौ और अधिक पाप बढ़ानौ है।

(३) पाप कर्म तत्काल ही मानसिक अशान्ति उत्पन्न करैं हैं। शरीरकौ कष्ट भोग लेय, किंतु वह काम न करै जाके परिणाममें मनमें अशान्ति और क्लेश होय। शरीरकौ कष्ट इतनौ दु:खद नहीं होय है, जितनौ भयंकर कष्ट मानसिक अशान्तिसौं होय है।

(४) अज्ञानवश अपनेसौं पाप कर्म कबहूँ बन चुके हौंय तौ जब उन खोटे कर्मनके फल-भोगकौ समय आवै, तब श्रीभगवान्‌कौ मंगल विधान मानकैं चुपकेसौं भोग लेय, श्रीभगवान्‌सौं कुछ न कहै। श्रीभगवान् जीवमात्रकी अम्मा हैं। अम्माद्वारा कियौ गयौ दण्डविधान शिशुके हितके लिये ही होय है। हाँ, आगे पाप न बनै। यह सावधानी रहै।

दूसरी बात यह है कि जब पापके फल-भोगकौ समय आवै है तब तम बढ़ जाय है। वह उत्तम विचार नहीं आवन देय है। या समय वृत्ति गिरवेकी आशंका रहै है। शरीर, संसारमें आसक्ति बढ़वे लगै है। ऐसे समयपै काहू सन्तमें दृढ़ श्रद्धा होयवेपै सन्त-कृपासौं ही मायाके जाल—पाप, प्रपंच, कामना एवं आसक्तिसौं बच सकै है।

ऊँचे कर्म ही करे

यह संसार कर्मके अधीन है। हमने कर्म करते भये देखे हैं, भोगते भये हू देखे हैं, दूसरौ जन्म हू देखौ है। उत्तम कर्म करोगे तौ यहाँ सुख पाओगे और परलोक हू बनेगौ। जीव कर्म करवेमें स्वतन्त्र है—पानीमें हाथ डारेगौ तौ ठण्डौ होयगौ, आँचमें हाथ डारैगौ तौ जरैगौ। जल और अग्नि दोनों परमात्माके बनाये भये हैं। यह मनुष्यके विवेकपै निर्भर है कि वह काहेमें हाथ डारै। संसारमें सत्, असत् दोऊ हैं, सत्‌की ओर बढ़ोगे, सत्कर्म करोगै तौ परिणाममें सुख-शान्ति, स्वर्ग, मोक्ष और श्रीभगवद्धामकी प्राप्तितक है सकै है। असत्कर्मकौ परिणाम—अशान्ति, नीच पशु-पक्षी, तिर्यक् योनि और नरकको प्राप्ति है। मनुष्यजन्म पायकैं हू बुरे कर्म क्यों किये जायँ? बुरे कर्म सर्वथा त्याग देने चाहिये। असत् संसारके प्राणी-पदार्थनकी चाह एवं आसक्ति ही पापमें कारण है। कामासक्तकूँ कुत्ता, सूअर बननौ परै है। धनासक्त लोभी प्राणीकूँ सर्प बननौं परै है।

ऊँचे कर्म ही करौ। श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही समस्त कर्म करनौ यही सबसौं ऊँचे कर्म हैं। श्रीभगवान् एकमात्र उद्देश्यकूँ ही देखैं हैं कि यह काहेके लिये कार्य कर रह्यौ है। यदि उद्देश्यमें श्रीभगवान् हैं तौ क्रिया बिगड़ जायवेपै हू भावग्राही श्रीभगवान् वाकूँ अपनाय लेय हैं।

सतयुगी रहनी

गृहस्थीमें रहते भये हू ऊँचे महात्मा बन सकैं हैं। महात्मा कैसे बन सकैं हैं? याके लिये आवश्यक है कि जो काम करैं संसारकूँ दिखायवेके लिये नहीं, सत्यतासौं ईश्वरकूँ रिझायवेके लिये बनै। आपलोग कलियुगमें रहते भये हू सतयुगी रहनीसौं रहैं। हमने ऐसे सद्‌गृहस्थ देखे हैं जिनकौ जीवन कलियुगमें रहते भये हू सतयुगी रह्यौ।

सतयुगी रहनी है—

(१) शास्त्रसम्मत सदाचारकौ पूरौ पालन करै।

(२) सात्त्विक आहार, सात्त्विक आचरण एवं

सात्त्विक व्यवहार ही करै। काहू काममें भूलसौं हू तमोगुण न आवन पावै।

(३) सदा सत्य बोले। झूठ, छल, कपटसौं बचतौ रहै।

(४) काहूकी निन्दा, अपमान एवं अवज्ञा न करै। काहूँकूँ दुःख न देय। कबहू क्रोध न करै। क्रोधके स्थानपै समझायवेसौं काम लेय। यदि काहूके सुधारके लिये, हितके लिये, हितकी भावनासौं क्रोध करनौ आवश्यक जान परै तौ हू अन्तःकरणमें क्षोभ न आवन पावै।

(५) काहूमें ममता-आसक्ति न होन पावै। काहूसौं वैर-विरोध न करै।

(६) संसारमें रहैंगे तौ संसारके काम करने ही परैंगे, संसारी दायित्व हू निभाने परैंगे। हौं, संसारमें रहते भये शुद्ध पवित्र कर्म ही करै। अधर्म, अन्याय, पापकौ कोई काम अपनेसौं न बनै। यह शरीर श्रीभगवान्‌कौ है। खोटे काम करकैं या शरीरकूँ अपवित्र न बनावै। याकूँ श्रीभगवान्‌की सेवाके योग्य ही बनौ रहन देय।

(७) सबसौं प्रेम, सबकौ हित तथा सबके साथ सत्य एवं सरल व्यवहार ही करै।

(८) काहू बातकौ अहंकार न करै। सदैव दैन्य भाव ही बनौ रहै।

(९) बनै जहाँतक हम सबके काम आवैं, परंतु काहूसौं अपनौ स्वार्थ न साधैं।

(१०) गुरुजननके प्रति सम्मानकौ भाव, बराबर वारेनसौं प्रेम तथा अपनेसे छोटेनसौं दयाकौ व्यवहार करनौ।

(११) माता-पिता, गुरु इनकी भगवद्भावसौं सेवा करै।

(१२) सज्जननके साथ सम्पर्क राखै।

(१३) गृहस्थमें रहते भये आवश्यक कर्त्तव्यकौ सत्यतापूर्वक पालन करते भये हू नित्य नियमित निष्काम भावसौं श्रीभगवद्भजन करै।

(१४) स्वयं श्रीभगवान्‌कौ बनै और अपने आश्रित घर-परिवारके समस्त जननकूँ इनकौ बनावै। बालककूँ बालकपनसौं ही श्रीभगवान्‌में लगायवेकौ प्रयत्न करै।

(१५) परचर्चा, परनिन्दा, वाद-विवाद एवं व्यर्थ बात न करै। जहाँ ताँई बनै सच्चर्चा ही करै, सच्चर्चा ही सुनै।

यह सद्‌गृहस्थकी रहनी है। या रहनीसौं घरमें सुख, शान्ति एवं आनन्दकी बाढ़ आ जाय है। घरमें रहते भये ही लोक-परलोक दोऊ बन जायँ हैं

गृहस्थमें साधुतामय व्यवहार

(१) सबसौं प्रेमकौ बर्ताव करै। सदैव यही ध्यान राखै कि हमसौं कोई दुःख न पावै।

(२) जहाँ ताँई है सकै सबकूँ सुख पहुँचायवे कौ, सबकी सेवा, सहायता करवेकौ ही प्रयत्न रहै। अपने सुख एवं अपनी सेवा, सहायता लैवे कौ कम विचार राखै।

(३) सन्त श्रीकबीरदासजीकौ एक दोहा है—

चार वेद छह शास्त्रमें बात सुनी है दोय।
सुख दीन्हे सुख होत है दुःख दीन्हे दुःख होय॥

(४) सबकौ हित ही सोचै, हित ही करै, हितभरी बात ही कहै। काहूकौ अनिष्ट न सोचै, न करै, न अनुमोदन ही करै।

(५) दूसरेकौ अनिष्ट सोचवेसौं, अनिष्ट करवेसौं और अनिष्टकौ अनुमोदन करवेसौं दूसरेकौ अनिष्ट होयगौ कि नहीं, यह तौ वाके प्रारब्धपै निर्भर है, किंतु हमने अपने अनिष्टकूँ आमन्त्रण दै दियौ। वह शीघ्र ही हमारे समीप आयवे वारौ है।

(६) जहाँ ताँई बनै सबकौ सम्मान ही करै। अपनौ सम्मान न चाहै। जहाँ ताँई बन सकै काहूकौ अपमान न करै। अपनौ अपमान होयवेपै असन्तुष्ट न हो, दीनता धारण करै।

(७) अपनी उन्नति सोचनौ उचित है, किंतु काहूकी अवनति न सोचै। काहूकी उन्नतिसौं ईर्ष्या न कर बैठे, अपितु दूसरेनकी उन्नतिकूँ देखकैं सदैव प्रसन्न रहै।

(८) काहूके दोष न देखै, न सुनै और न कहै।

जो बुरे व्यक्तिमें हू अच्छाई देखै है, वही सबसौं उत्तम व्यक्ति है और जो उत्तम व्यक्ति में हू बुराई ढूंढ़ै है, वही सबसौं बुरौ है।

(९) संसारमें कहूँ राग अथवा द्वेष न रहै।

(१०) मित्र भले ही अनेकन होंय, किंतु या भगवत्सृष्टिमें अपनौं एक हू शत्रु न बनावै।

(११) दो बातनकूँ सदा भूलातौ रहै—

(अ) अपनेसौं काहूकौ उपकार बन गयौ होय।

(ब) अपने साथ काहूने अपकार कियौ होय।

(१२) दो बातनकूँ कबहूँ न भूलै—

(अ) अपने साथ यदि काहूने उपकार कियौ होय।

(ब) दुर्भाग्यवश अपनेसौं काहूकौ अपकार बन गयौ होय।

(१३) प्राणिमात्रके प्रति हित, सुख, सम्मानकी भावना तथा सहानुभूति, सेवा एवं प्रेम अन्तःकरणकी शीघ्र शुद्धि एवं श्रीभगवत्कृपा-प्राप्तिकौ अचूक साधन है।

सद्गृहस्थ साधकके लिये उपदेश

(१) ऐसौ अभ्यास बढ़ाऔ कि निरन्तर श्रीनाम-जप होयवे लगै।

(२) परधन, परस्त्रीके परित्यागकी बात तुमसौं कहवेकी आवश्यकता नहीं है। ये दुर्गुण तौ तुममें है ही नहीं। हाँ, या बातकौ बहुत ही ख्याल रहै कि हमसौं काहूकौ अनिष्ट न होन पावै।

(३) जब तुम गृहस्थ हौ, तब गृहके समस्त प्राणीनकौ पालन-पोषण, सन्मार्गमें लगानौ तथा श्रीभगवद्भक्त बनानौ यह कर्तव्य है।

सत्प्रयत्नद्वारा द्रव्य-संचय करनौ यहू कर्तव्य है।

हाँ, यह सब करते भये हू इनमें ही आसक्त न है जानौ।

सन्त श्रीकबीरदासजीकौ यह पद सदैव ध्यान राखनौ कि—

'रहना नहिं देश विराना है।'

योग्य डॉक्टर अपने अस्पतालमें आये भये रोगीकी आरोग्यताकौ जैसे पूरौ ख्याल राखै है, अपनौ पूर्ण कर्तव्यपालन करै है, किंतु काहू रोगीमें आसक्त नहीं होय, एवमेव रहनी बनाऔ।

जानै इतनौ बड़ौ संसार रचौ है, वह याके पालन-पोषणमें पूर्ण समर्थ है। तुम तौ निमित्तमात्र हो।

(४) उचित यह है कि संसारी वस्तुनकूँ प्रारब्धकी देन समझकैं इनके यथालाभमें ही सन्तोष करौ। हाँ, पूर्ण प्रयत्न करौ अपने सच्चे घरके ताँई सामान जुटायवेमें। सच्चौ घर तौ सदैव एक ही है—परलोक। जो समस्त जीवन अपने समय, विद्या, चातुर्य, शरीर तथा सबरे अन्तःकरणकूँ संसारी कामनमें ही जुटायकैं थकाय डारै हैं, वे परलोकके सुधारसौं वंचित रह जायँ हैं। यह मूर्खता तुम मत कर बैठियौं।

(५) सबके प्यारे, सबसौं न्यारे, ऐसी रहनी रहिये।

(६) परलोकके सुधारकूँ आगेके लिये मत टालते जइयौं। कौन जाने भविष्यमें कैसौ समय आवै। पूर्ण तत्परता, पूरी लगन, पूरौ उत्साह तथा पूर्ण उल्लासके साथ जुट परौ जीवनकी सफलतामें।

हमारे कहवेकौ यह तात्पर्य कबहूँ नहीं है कि घरके प्राणीनकौ पालन-पोषण न करौ। यद्वा घर त्यागकैं दिखाऊ विरक्त बन जाऔ। नहीं, कदापि नहीं। जब ताँई भोग्य है—रहौ गृहस्थमें ही किंतु अपने पूर्वजन्मनकी कमाई संसारी कामनमें ही मत खोय दीजौ।

(७) परदोषदर्शन, परनिन्दा, द्रोह, कठोरता तथा हिंसा इनकौ सर्वथा परित्याग कर देव।

(८) जब संसारी काम करौ हौ तौ पूरी लगनसौं जुट परौ हौ। ऐसे ही जब भजनमें लगौ तब पूरे उल्लाससौं यामें जुट परौ। ईमानदारी तौ तब है जब भजनमें सौ गुनौ उत्साह अधिक होय।

(९) श्रद्धावान्, गम्भीर, सरल, पूर्ण सदाचारी, सुशील, नम्र, गुरुजनसेवी, दीन-सहायक, परोपकारी, उदार, एवं क्षमाशील बनवेकौ अभ्यास बढ़ाऔ।

(१०) श्रीजीवनधनमें प्रेम बढ़ायवेकौ पूर्ण प्रयत्न करते रहौ। इनसौं कबहूँ कछु काम मत करइयौं। ये तौ केवल आत्मीयता तथा प्रियताके पात्र हैं।

(११) परम कल्याणके लिये जीवनमें दो बातें परम कर्तव्य हैं—

(अ) सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान तथा संयोग-वियोग आदिक द्वन्द जो आ जायँ, उनकूँ सहतौ जाय।

(ब) हाँ, आगेके लिये अपनौ मार्ग परिमार्जित तथा उज्ज्वल बनातौ जाय।

(१२) जहाँ ताँई है सकै परिश्रम तथा यथासाध्य सत्यताके साथ व्यापार करते रहियौं। कैसी हू परिस्थिति आ जाय, अपनी सत्यताकौ त्याग मत करियौं। श्रीभगवद्-विधानकी मंगलमयतापै पूर्ण विश्वास बनाये रहियौं। मनमें अशान्ति न होन पावै।

(१३) यदि नेकहू अवकाश मिलै तौ भजन करवेमें मत चूकियौ।

या जीवनकूँ अधिक झंझटनमें मत फाँसियौं।

यही विचारते रहियौं तथा पूर्ण प्रयत्न करते रहियौं कि याही जीवनमें भजन बन जाय।

जीवनचर्यासे आत्मोद्धार

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

मातृगर्भस्थ जीवको अपने पूर्वकर्मोंका ज्ञान रहता है और वह सोचता है कि इस बार गर्भसे बहिर्गत होनेपर मैं कोई दुष्कर्म नहीं करूँगा, किसीकी बुराई नहीं करूँगा, सत्कर्मोंके आचरणद्वारा सुकृतका भागी होकर समस्त बन्धनोंसे विमुक्त होकर सद्गति प्राप्त करूँगा, जिससे भववारिधिमें पुनः मुझे पड़नेका अवसर न हो। कहा जाता है कि ऐसा सोचनेवाला जीव गर्भसे बाहर आते ही अपनी समस्त स्मरणशक्ति खो बैठता है और छटपटाता, रोता है, चिल्लाता है, किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और असहाय स्थितिका अनुभव करता है। ऐसा क्यों होता है? सांसारिक माया उसे इस अवश स्थितिमें पहुँचा देती है। उसको ज्ञात भी नहीं होता कि वह मातृगर्भमें रहते समय क्या-क्या सोचता था, अब क्या हो गया? माताकी ममता, पिताका प्रेम तथा बन्धुजनका स्नेह प्राप्त हो जाय तो वह उसीको सत्य मानता है, उसीको शाश्वत मानता है और क्षणिक, अस्थिर जीवनको सर्वाधिक महत्त्व देता है।

जीव नानायोनियोंमें भ्रमण करनेके बाद भगवदनुग्रह तथा पुण्यविशेषसे मनुष्यका जन्म प्राप्त करता है। मनुष्यजन्मको प्राप्तकर जबतक वह जाग्रत् नहीं होता, तबतक उसके जीवनकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। जब मन:प्रबोध होता है, तब वह अपने जीवनके उद्देश्यको समझने लगता है।

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते॥

उसका मन उसे जाग्रत् करता है कि अत्यधिक पुण्यरूपी मूल्य देकर तुमने इस शरीररूपी नावको खरीदा है, किसलिये? दुःखरूपी समुद्रसे पार होनेके लिये, अतः जबतक यह नाव नष्ट न हो जाय, उससे पहले ही पार हो जाओ।

मनुष्य सृष्टिका सुन्दर—अतिसुन्दर पुष्प है। इस बातको समझनेसे जीवनकी समस्याएँ सुलझ जाती हैं और वास्तविक सुखकी प्राप्ति होती है। श्रीभगवत्पाद शंकराचार्यजीने विवेकचूड़ामणिमें लिखा है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मनुष्यत्व अर्थात् मनुष्यका जन्म, मोक्षकी इच्छा और महात्मा लोगोंका सम्पर्क—ये तीनों बहुत कठिनाईसे मिलनेवाले हैं, भगवान्‌के अनुग्रहमात्रसे मिलनेवाले हैं।

स्पष्ट है कि भगवान्‌के अनुग्रहके बिना उपर्युक्त तीनोंमेंसे किसी एककी प्राप्ति भी दुष्कर है। भगवत्पादजीने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यमें श्रुतिवाक्यका उद्धरण देते हुए लिखा है—'**पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीक्षतीत्येवं सम्पन्नः। अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिविज्ञानम्।**' पुरुषोंमें ही (अर्थात् मानवमें ही) आत्माका पूर्णरूपसे विस्तार है, उत्कृष्ट ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण वह जो जानता है, उसे बोलता है और जो कुछ जानता है, उसे देखता है; वह कल होनेवाली अर्थात् भविष्यकी बात जानता है, लोक-परलोक इन सबका उसे ज्ञान है, वह मर्त्य अर्थात् नश्वर साधनोंसे युक्त होकर भी विशुद्ध आचरण, अनुष्ठान और ज्ञानसे दिव्यत्व अर्थात् अमरत्व प्राप्त करनेकी अभिलाषा करता है। इस प्रकार वह विवेकसम्पन्न है। अन्य जीवोंमें, पशु-पक्षियोंमें मात्र भूख-प्यास मिटानेतकका ही ज्ञान रहता है।

इससे स्पष्ट है कि सकल चराचर सृष्टिमें मानव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राणी है। वह अत्यन्त चतुर, विवेकशील, प्रज्ञावान्, दूरदर्शी और बुद्धिमान् है। वह आकाश और अन्तरिक्षमें बहुत दूरतक संचार कर सकता है, ऊपर बहुत ऊपर उड़ान भरनेकी शक्ति रखनेवाले यानोंको बनाकर वहाँके रहस्योंको जाननेका प्रयत्न कर सकता है, समुद्रके अन्तरालमें पहुँचकर जलचरोंके रूपोंके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेके साथ-ही-साथ यन्त्रोंके आविष्कारद्वारा समुद्रमें होनेवाले परिवर्तन, आँधी आदिके बारेमें जानकर अपने-

आपको उनसे बचानेके उपाय सोच सकता है। वैज्ञानिक आविष्कारके नामसे वह जो कुछ करता है, वह उसकी बुद्धि-शक्तिकी विशेषताका ही परिणाम है। केवल सभ्यसमाजका मानव ही नहीं, सामान्य स्तरका मानव भी, अरण्य-पर्वतनिवासी मानव भी यही सोचता है और अनुभव करता है कि वह प्राणियोंसे—जीव-जन्तुओंसे सर्वथा श्रेष्ठ है, सबसे ऊपर है। ऐसी स्थितिमें उसके जीवनका मूल उद्देश्य क्या होना चाहिये? खाना-पीना और मौज उड़ाना—यही जीवन है, यही लक्ष्य है?

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।

इतना ही उसके जीवनका लक्ष्य है तो उसमें और पशुमें क्या अन्तर है? जन्म लेना और मर जाना यही तो जीवन नहीं है। इसका निदान क्या है? **महाजनो येन गतः स पन्थाः**। बड़े-बड़े महात्माओंने, सत्पुरुषोंने अनुभववेद्य साधकोंने और जीवनके रहस्योंको जाननेवाले सत्पुरुषोंने जिस मार्गको अपनाया है तथा अन्य लोगोंके लिये जिस मार्गको श्रेयस्कर बताया है, उस मार्गको अपनानेसे हमारी जटिल समस्याएँ दूर होनेकी सम्भावना ही नहीं, निश्चित विचार है। हाँ, मनमें दृढ़ता और संशयहीनता होनी चाहिये। अतएव हमको चाहिये कि जीवनचर्या पवित्र और निर्मल रखें।

देश-काल आदि जीवनचर्या जाननेके लिये आधार होते हैं। सभी देशोंकी जन-जीवन-स्थिति-विधि समान नहीं होती। सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर विभिन्नता होती है। परंतु सामान्यरूपसे देखनेपर समानता और सारूप्यताका अभाव नहीं होता। हम यहाँके लोगोंकी जीवनचर्यापर विशेष दृष्टि डालेंगे तो यहाँकी प्राचीन परम्परा और सांस्कृतिक भव्यताके कारण जीवनचर्यामें एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा कौन है जो अपना उद्धार नहीं चाहता! स्वस्थ जीवनसे इह-परकी प्रगति और सफलता अर्थात् श्रेयकी सम्भावना है। अच्छे विचार, अच्छे आचार इत्यादिसे हमारा जीवन दुःख, शोक आदि बन्धनोंसे मुक्त होकर हम अपने लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं। अच्छे विचार देशकालातीत होते हैं। परोपकार करना चाहिये—यह सभी मानवोंके लिये समान है। कोई नहीं कहता कि यह इस देशके लिये ठीक है, अन्य देशके लिये उचित नहीं है। इसी प्रकार सत्य बोलनेकी बात है। कोई नहीं कहता कि असत्य बोलो; क्योंकि इससे सब लोगोंकी और व्यक्तिकी भी हानि होती है। वस्तुतः सत्य बोलना तपस्या है। कबीरदासने कहा है—

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप॥

क्रोधका त्याग, दम, शम आदिसे सम्बन्धित विचार भी इसी प्रकारके हैं। अतएव जीवनचर्या पवित्र होती है तो व्यक्तिका उद्धार हो सकता है।

जीनेकी रीति

यूनानके प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भ्रमण करते हुए एक शहरमें पहुँचे, वहाँ उनकी एक वृद्ध व्यक्तिसे भेंट हुई, दोनों काफी घुलमिल गये। उन्होंने काफी खुलकर बात की।

सुकरातने पूछा—इस वृद्धावस्थामें आपका जीवन कैसे चल रहा है?

वृद्ध मुसकराकर बोला—मैं अपना पारिवारिक उत्तरदायित्व अपने समर्थ पुत्रोंको देकर निश्चिन्त हूँ, वे जो कहते हैं; कर देता हूँ, जो खिलाते हैं, खा लेता हूँ और अपने पौत्र-पौत्रियोंके साथ हँसता-खेलता रहता हूँ। बच्चे कुछ भूल करते हैं। मैं चुप रहता हूँ। मैं उनके किसी कार्यमें बाधक नहीं बनता। जब कभी वे परामर्श लेने आते हैं, मैं अपने जीवनके अनुभवोंको उनके सामने रख देता हूँ। वे मेरी सलाहपर कितना चलते हैं, यह देखना मेरा काम नहीं है। यह आग्रह नहीं कि वे मेरे निर्देशोंपर चलें। यदि फिर भी भूल करते हैं तो मैं चिन्तित नहीं होता। हाँ, यदि वे पुनः मेरे पास आते हैं तो भी मैं क्रुद्ध नहीं होता, बल्कि अपनी सलाह देकर उन्हें विदा करता हूँ।

वृद्धकी बात सुनकर सुकरात बहुत प्रसन्न हुए और बोले—इस आयुमें जीवन कैसे जिया जाय, यह आपने बहुत अच्छी तरह समझ लिया है। [**श्रीओमप्रकाशजी बजाज**]

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दसरस्वतीजी महाराज)

संस्कृत व्याकरणके अनुसार 'श्रेष्ठ' शब्द अतिशायी अर्थमें इष्ठन् प्रत्ययान्त है, जिसका अर्थ होता है सर्वाधिक अथवा सर्वोत्कृष्ट होना। लोकमें जो लोग प्रायः सुदीर्घ जीवन, प्रकृष्ट ज्ञान, प्रशस्त कीर्ति और जन, धन आदि प्रबल शक्तियोंसे सम्बद्ध होते हैं, वे अन्योंके द्वारा अनुकरणीय होते हैं; न केवल अनुकरणीय प्रत्युत प्रणम्य भी होते हैं। मनुस्मृतिकार कहते हैं कि—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

आधुनिक वैज्ञानिक यह मानते हैं कि ऊर्जाका प्रवाह अधिक मात्रासे अल्पमात्राकी ओर गतिशील होता है। आयु, विद्या, यश और बलका संस्कार जिन श्रेष्ठजनोंमें होता है, उनके चरणोंको स्पर्श करनेपर आयु, विद्या, यश और बलकी ऊर्जाका प्रवाह (संस्कार) श्रेष्ठजनसे कनिष्ठके अन्तर्गत आता है, जो श्रेष्ठद्वारा कनिष्ठके सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद देनेपर अपना विद्युत्-चक्र पूर्ण करता है तथा प्रणम्यका संस्कार अभिवादकमें भौतिक रूपमें सूक्ष्मतया प्रवेश कर जाता है, जिससे कनिष्ठ व्यक्ति ऊर्जाके इन संस्कारोंसे सम्पन्न हो जाता है। प्रतिदिन ऐसा करनेपर धीरे-धीरे ऊर्जाका प्रभाव कनिष्ठमें दिखायी भी देने लगता है। अतः आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धिहेतु प्राचीन सनातन वैदिक संस्कृतिमें पुरुषार्थचतुष्टयकी कल्पना की गयी है, वे पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यहाँ धर्मको प्रथम स्थान प्राप्त है अर्थात् अपनी परम्परामें जो लोग धर्मानुमोदित रीतिसे उपार्जित धनके द्वारा धर्मशास्त्र-निर्दिष्ट सिद्धान्तसम्मत इच्छाओंकी पूर्ति करते हैं, वे ही मोक्ष-पथके पथिक बन पाते हैं। अर्थात् यहाँ मात्र अधर्मका आचरण ही वर्जित नहीं है, प्रत्युत अधर्म-मार्ग या साधनोंके द्वारा न तो अर्थोपार्जन स्वीकृत है और न तद्द्वारा इच्छाओंकी पूर्ति ही; क्योंकि धार्मिक सिद्धान्तोंसे पथभ्रष्ट रीति या साधनोंद्वारा यदि अर्थोपार्जनका मार्ग प्रशस्त किया गया तो समूचे विश्वमें आर्थिक असन्तुलन हो जायगा और यदि धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तोंको छोड़कर इच्छाओंकी पूर्ति की गयी, तो वैश्विक स्तरपर विधिसम्मत व्यवस्थाएँ दुर्व्यवस्थामें परिवर्तित हो जायँगी। नैतिकताविहीन जन मानवीय आचारोंसे च्युत होकर धर्मभ्रष्ट हो जायँगे और सृष्टिमें देवत्व या मनुष्यताके स्थानपर राक्षसी परिवेश उपस्थित हो जायगा, इसीलिये कहा गया है कि—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

(हितोपदेश)

जिस प्रकार वयोवृद्धकी अपेक्षा ज्ञानवृद्ध श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार अर्थ और काम नामक पुरुषार्थोंसे युक्त होनेपर भी धार्मिक ही श्रेष्ठ माना जाता है। इसीलिये मनुष्यको सभी प्राणियोंमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है—'**न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।**'

क्योंकि उसे धर्माचरणका अधिकार प्राप्त है। वह '**धृतिः क्षमा""लक्षणम्**' अर्थात् धर्मके दस लक्षणोंको जानता है जबकि अन्य प्राणी नहीं जानते। शास्त्रोंमें धर्मके सिद्धान्तोंके ज्ञाताको ही धर्मज्ञ कहा जाता है तथा उसका आचरण सभीका आदर्श माना जाता है। यही कारण है कि युद्धवीर, दानवीरके साथ-साथ धर्मवीरको श्रेष्ठ माना गया है।

तात्पर्य यह है कि आयु, विद्या, यश, बल और धर्माचरणमें लोग समुन्नत महापुरुषका अनुकरण करते हैं। महाभारतकारका इस सन्दर्भमें बहुत स्पष्ट मत है कि—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

लोकमें जो व्यक्ति जितना ही उच्चस्थानीय होता है, जिसे जितना अधिक महत्त्व प्राप्त होता है, समाजको उससे उतनी ही अधिक अपेक्षा होती है। ऐसी स्थितिमें उसके आहार-विहार, आचार-विचार और वाग्-व्यवहार

आदि सभी सामान्यजनके लिये अनुकरणके विषय होते हैं। इसलिये संस्कृत-कथा-साहित्यमें उक्त '**यथा राजा तथा प्रजाः**' सदृश उक्तियाँ चिरकालसे प्रसिद्ध हैं। इतना ही नहीं विगत पाँच हजार वर्षोंके सर्वोत्कृष्ट मेधापरम्पराके सर्वविध मनीषीशिरोमणि भगवान् वेदव्यासके मतमें भी यही सिद्धान्त मान्य है कि लोकके व्यवस्थित संचालनहेतु प्रशासकका सन्तुलित, संयमित, आचारशील और गुणशील होना अनिवार्य है। अन्यथा असावधान, प्रमादी गोपालकी गायें जिस प्रकार अनियन्त्रित होकर इतस्ततः पलायित हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रमादी राजाकी प्रजा भी विशृंखल हो जाती है। न केवल इतना ही, प्रत्युत ऐसा राजा प्रजाके साथ-साथ समग्र कालखण्डों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान)-को भी प्रभावित करता है; क्योंकि वह अपने पूर्वजोंके संस्कार, यश और पराक्रमका संसूचक, वर्तमानका निर्वाहक और भविष्यत्का निर्माता होता है। यदि एक सामान्य व्यक्तिकी आचारशीलता खण्डित होती है तो उससे अत्यन्त सीमित परिवेश प्रभावित होता है, किंतु यदि राजा, गुरु या अन्य कोई शक्तिसम्पन्न महापुरुष पथच्युत होता है तो उससे व्यष्टि नहीं समष्टि प्रभावित होती है और चूँकि अनेक समाजोंका समुदाय ही राष्ट्र होता है। इसलिये राष्ट्राध्यक्षके आचारका प्रभाव सीधा राष्ट्रपर पड़ता है। कहना न होगा कि दायित्वकी गुरुताके अनुरूप ही वह व्यक्ति पाप-पुण्यका भागी भी बनता है। इसीलिये महाभारतकार राज्यके उत्कर्षापकर्ष, आचार-विचार, धर्माधर्म, पाप-पुण्य, यशापयश—सभीका श्रेय राजाको प्रदान करते हैं। आपका मानना है कि जिस प्रकार सभी नदियाँ अपने लघु प्रवाहोंके साथ सागरमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार राष्ट्रके सर्वविध हिताहितकी चिन्तनधाराओंका सागर राष्ट्रस्वामी है; क्योंकि वह सभीका आदर्श है, सभी उसीका अनुसरण करते हैं—

कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति मे संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम्॥

इसी प्रकार कुलगुरु, शिक्षक, धर्माचार्य, अधिकारी—कोई भी अध्यात्म पुरुष, गृहस्वामी आदि भी अपनी-अपनी क्षेत्रीय सीमाओंमें अनुकरणके विषय हैं। एतावता अपने-अपने स्थानपर रहते हुए हम सभीको अपने कर्तव्योंका पालनकर भविष्यके लिये आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये। हम सभी व्यष्टि नहीं, समष्टिके प्रतिनिधि हैं।

आचार ही जीवको महान्से महत्तर और लघुसे लघुतर, शत्रु-मित्र, उन्नत-अवनत बना देता है, पदासीन तथा पदभ्रष्ट भी करा देता है। जो व्यष्टिगत स्वार्थोंके प्रति चिन्तन करता है, वह वही चिन्तन करते-करते मात्र व्यष्टि रह जाता है और जो उदार हृदयसे सभीके हित और विकासका चिन्तन करते हैं, कार्य करते हैं, वे समष्टिके प्रतीक बन जाते हैं। ध्यातव्य है कि हम उस समुन्नत तथा समृद्ध परम्पराके प्रतिनिधि हैं, जहाँके पशु-पक्षी भी समष्टि हितके सिद्धान्तसे सुपरिचित हैं—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(पंचतन्त्र)

शत्रु-मित्र भी अपनी आचारशीलतासे उत्पन्न होते हैं। सदाचारसे मित्र (शुभचिन्तक) और तदितर आचारसे शत्रुओंका निर्माण होता है। पंचतन्त्रकार कहते हैं—

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
व्यवहारेण जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥

भारतीय सनातन-परम्परामें हनुमान्जी-सदृश व्यक्तित्व भी आचारके कारण न केवल देवता, प्रत्युत मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राघवेन्द्र सरकारका परम प्रिय बन जाता है, अन्योंको वरदान देनेमें समर्थ हो जाता है। सुन्दरकाण्डमें हनुमान्जी स्वयं कहते हैं—

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

(रा०च०मा० ५।७।७-८, ५।७)

ध्यातव्य है कि एवंविध निरभिमानिता-वैशिष्ट्य-विशिष्ट हनुमान्जीकी आचारशीलता अर्थात् प्रभुके प्रति भक्ति, समर्पण, श्रद्धा, शील, विनय और साधना ही वे गुण हैं, जो अशरणशरण अकारणकरुण सच्चिदानन्दघन परब्रह्म

परमेश्वर भगवान् श्रीरामको भी यह कहनेके लिये बाध्य कर देते हैं कि—'*सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं*'। क्योंकि हनुमान्‌जी मनसा-वाचा-कर्मणा सर्वतोभावेन सदाचारके सागर हैं। इसीलिये उनकी वाणीके प्रभाववश रावणभ्राता विभीषण भी कहने लगता है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

(रा०च०मा० ५।७।४)

शास्त्रकार कहते हैं कि '**मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्**' और '**मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्**' अर्थात् सज्जन मन, वाणी और कर्मसे एक होते हैं और दुर्जन मन, वाणी और कर्मसे पृथक्-पृथक् होते हैं।

अतः श्रेष्ठ आचारका तात्पर्य है मन, वाणी और कर्मसे एक होना। यदि किसी व्यक्तिमें तीनों पृथक्-पृथक् हों तो उसे श्रेष्ठ नहीं कह सकते। मनुष्य अपने आचारसे आयु, धन एवं संसारकी अन्य सर्वविशिष्ट वस्तुओंसे न केवल सम्पन्न हो जाता है, प्रत्युत भौतिक वस्तुएँ उसकी शरणागत भी हो जाती हैं।

भारतीय वैदिक चिन्तन नचिकेता, ध्रुव, प्रह्लाद, श्वेतकेतु, जटायु, भगवान् श्रीकृष्ण, नल-नील, भगवान् परशुराम, सावित्री, शबरी, अनसूया, माता सीता और पार्वतीके दृष्टान्तोंसे भरा हुआ है। जो आज भी संसारके प्रत्येक बालक, युवा, भक्त, नारी, पशु-पक्षी और सभी वर्गोंके लोगोंके लिये आदर्श बने हुए हैं। अपनी आचारशीलताके बलपर कोई समुद्रको लाँघ जाता है तो कोई सेतुनिर्माण कर लेता है, कोई भगवान्‌को अपने घर बुलाकर बेर खिला लेता है तो कोई खम्भा फाड़कर प्रकट होनेके लिये भगवान्‌को तैयार कर लेता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेशको कोई शिशु बना लेता है तो कोई रावण-जैसे महारथीको नारी-रक्षाका व्रत पालन करते हुए चंचुके प्रहारसे घायल कर देता है, कोई पतिव्रता पतिके प्राण यमराजके पाससे वापस ला देती है तो कोई अमृत-द्रवसंयुत प्रभुके स्वरूपभूत भगवद्रसालय श्रीमद्भागवतका अति मधुर, अक्षुण्ण एवं मोक्षपदसे भी विशिष्ट रसपान करा देता है।

सनातनविचारसरणिने जहाँ शिवि, दधीचि, पृथु, भगीरथ, दानवीर कर्ण एवं आद्यशंकराचार्य-सदृश व्यक्तित्व देकर जनमें उत्तम विचार एवं गुणोंके प्रति आस्था उत्पन्न की है; वहीं रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्यकशिपु, कंस, शिशुपाल, जरासन्ध, दन्तवक्त्र और कालयवनसदृश ऐसे पात्रोंको भी उपस्थापित किया है, जिनके कर्मों और तज्जन्य परिणामोंसे लोग बच सकें। यही कारण है कि भौतिकवादके चाकचिक्यजन्य परिवेशमें भी महापुरुषोंके आचारोंका आदर्श भारतकी रक्षा कर रहा है और कोटि-कोटि जन अयोध्या, काशी, बदरीनाथ, हरिद्वार, रामेश्वरम्, केदारेश्वर एवं द्वारकाकी यात्रा प्रतिवर्ष कर रहे हैं तथा भगवन्नाम-संकीर्तनकर, भगवद्दर्शनकर और दान, जप, तप आदिका आचरणकर अपने जीवनको सफल बना रहे हैं।

भगवान्‌ने मानवजातिको अनेक जन्मोंके पुण्योदयके परिणामस्वरूप धर्माचरणका सुअवसर और धर्माधर्म उभयविध आचारका अधिकार दिया है। उन्हें कर्तव्याकर्तव्यके बोधहेतु सत्संगति, धर्मशास्त्र और अन्य धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन, प्रभुनामसंकीर्तन, श्रवण, मनन, जप और अपने गुरु आदि श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठजनसे शिक्षा लेकर उत्तम आचरण करना चाहिये। इससे लोकमें यश, पुण्य और परलोकमें सद्गति प्राप्त होगी।

जहाँतक श्रेष्ठजनके अनुकरणीय व्यवहारकी उपयोगिताकी बात है, व्यक्ति अपनी शैशवावस्थासे ही किंवा गर्भस्थ होनेकी अवस्थासे ही सुन-सुनकर सीखना आरम्भ कर देता है। अभिमन्यु आदिके दृष्टान्त इस विचार-सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये पर्याप्त हैं। तत्पश्चात् जन्मान्तरके संस्कार, अपनी प्रज्ञा, भगवत्कृपा, सन्तकृपा, दैवी आशीर्वाद, सत्संगति, साधना एवं अनुकरणके द्वारा मनुष्य अपने चिन्तन, वाणी और उद्देश्यको व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। कभी-कभी लोकोपकारक संस्कारके व्यक्तिका भी आगे चलकर अनेक प्रभावों जैसे—शाप, गलत अनुकरण और कुसंगति आदिके कारण स्वरूप परिवर्तित हो जाता है और कभी-कभी तदितर संस्कारसंवलित व्यक्तित्व भी उचित अनुकरण, सत्संगति एवं आशीर्वचनके प्रभाववश सुधर जाते हैं। कहना न होगा कि इन उभयविध

व्यक्तित्वोंके असंख्य उदाहरण अपनी पौराणिक परम्परामें सरलतया देखे जाते हैं। इसीलिये पूर्वमनीषी निर्देश देते हैं—'**रामादिवद्वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्**'।

परवर्तीकालमें वृद्ध और शवके दर्शनसे गौतम बुद्धके मनमें वैराग्यजागरण, सत्य हरिश्चन्द्र और श्रवणकुमारके नाटकद्वारा गांधीजीका प्रभावित होना, पूर्वपुरुषोंकी तपश्चर्याके अनुकरणसे भगीरथद्वारा गंगाको पृथ्वीपर लाना, असंख्य पूर्व राजाओंद्वारा पूर्वजोंके अनुकरण और शास्त्रके आदेशवश वानप्रस्थका आश्रय लेना, पूर्व राष्ट्रभक्तोंके प्रभाववश परवर्ती क्रान्तिकारियोंद्वारा स्वतन्त्रताका शंखनाद फूँकना, पूर्ववर्ती आचार्योंके आदेशानुसार तत्तत् सम्प्रदायोंके आचार्यों और महात्माओंद्वारा तदनुरूप वेश-विन्यास, आचार, आहार-विहार आदि अपनाना, राष्ट्रकी रक्षाके लिये सैनिकोंद्वारा पूर्व सैनिकोंकी वेशभूषा धारण करना '**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**' के प्रमाण हैं। इसे शास्त्रीय भाषामें कहें तो हम कह सकते हैं कि श्रेष्ठजनका आचार वर्तमानके लोगोंके लिये प्रत्यक्ष, भूतकालमें घटित उनके हेतुभूत उत्तम संस्कारके लिये अनुमान तथा भविष्यत्कालके लिये शब्दप्रमाणके समान हैं, जिसके आधारपर वर्तमान और भावी पीढ़ीके संस्कार और आचार आदर्श बन पाते हैं।

पुराणोंमें यह देखनेको मिलता है कि दुष्कर्मोंके लिये प्रभुने असुरोंको दण्ड और सत्कर्मोंके लिये सत्पात्रोंको वरदान दिया। सम्भवतः इसी अनुकरणको ध्यानमें रखकर विश्वमें न्यायालयोंकी व्यवस्था की गयी होगी और गरुडपुराण आदि ग्रन्थोंमें भी दण्डादिकी व्यवस्था वर्णित है। आचारशास्त्र वह व्यावहारिक शास्त्र है, जिसमें किसी भी वर्ग, जाति, वय, काल, भूगोल या परिस्थितिका प्रतिबन्ध नहीं है। पशु, पक्षी, कीट, पतंगसे लेकर श्रोत्रिय ब्राह्मणपर्यन्त सभीके लिये यह निकषसमान है। इस निकषपर खरा उतरनेवाला अर्थात् उत्तम कार्य करनेवाला समाजके द्वारा स्वीकार्य और अनुत्तम अस्वीकार्य होता है। धुन्धुकारी ब्राह्मण होकर भी त्याज्य है, किंतु जटायु पक्षीवर्ग और शबरी सामान्य वर्गके होनेके बावजूद सर्वथा अनुकरणीय हैं; क्योंकि वे मनसा, वाचा, कर्मणा श्रेष्ठ हैं।

कर्मयोग वह पथ है, जिसपर चलकर विश्वामित्र नयी सृष्टिकी रचना करते हैं, किंतु इतने बड़े तपस्वी होनेके बावजूद लोभ, ईर्ष्या आदिके कारण ब्रह्मर्षि वसिष्ठसे पराजित हो जाते हैं। अतः इस पथका कोई भी पथिक किसी भी समय अपने कर्मोंद्वारा उत्तमसे अधम और अधमसे उत्तम बन सकता है। चूँकि परवर्ती या वर्तमानके लोग पूर्ववर्ती जन या उत्तम जनका अनुकरण करते हैं। एतावता हमें उत्तमताके लिये अहर्निश सतर्क और सचेष्ट रहना चाहिये; क्योंकि अपने कर्मोंसे हम मात्र अपना ही लाभ या हानि नहीं करते, अन्य भी इससे प्रभावित होते हैं।

सभी भक्तों, राजनेताओं एवं राष्ट्रके सभी नागरिकोंमें सत्कर्मकी भावना जाग्रत् हो, राष्ट्र और भारतीय सनातन वैदिक संस्कृति अपने पथपर अविरत गतिशील रहे और अपना देश सर्वतोभावेन इतनी प्रगति करे कि अन्य देश भी हमारा अनुकरण करें, जिससे हम कह सकें कि '**यद्यदाचरति भारतदेशः तत्तदेवेतरे देशाः**'। इस प्रकार हम समग्र विश्वके कल्याणकी कामना करते हुए भगवान् चन्द्रमौलीश्वर एवं भगवान् द्वारकाधीशसे प्रार्थना करते हैं।

सदाचारका पालन

निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता। सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति। नालं स दुःखमोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणः॥

पाप-कर्मसे दूर रहना, सदा पुण्यका संचय करते रहना, साधु पुरुषोंके बर्तावको अपनाना और उत्तम सदाचारका पालन करना—यह सर्वोत्तम श्रेयका साधन है। जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे मानवशरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहमें डूब जाता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप है, वह कभी दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकता। (ना०पूर्व० ६०।४४-४५)

मानवोचित शीलसम्पन्न आदर्श जीवनपद्धति

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्दसरस्वतीजी महाराज)

यह सृष्टि स्रष्टाकी अभिव्यक्ति और उसका अभिव्यंजक संस्थान है। सर्वेश्वरने स्वयंको ही सर्वरूपोंमें व्यक्त किया है। अतः सृष्टि सर्वेश्वरतक पहुँचनेका सुगम सोपान है। अभ्युदय और निःश्रेयस (भोग तथा मोक्ष)-के अनुरूप स्फूर्ति सृष्टि है। महाप्रलयमें महेश्वरकी शक्ति महामाया स्वयंमें जीव तथा जगत्को सन्निहितकर स्वयं महेश्वरसे एकीभूत होकर अवशिष्ट रहती है। अतः जीव मृत्यु, जड़ता और दुःखसे अतिक्रान्त सत्-चित्-आनन्दस्वरूप सर्वेश्वरसे सर्वतोभावेन एकीभूत होता है। महाप्रलय महासुषुप्तिस्वरूप होता है। सुषुप्तिमें जीव राग-द्वेष तथा मृत्यु-मूर्खता और दुःखके अभिनिवेशसे सर्वथा अतीत होता है। वह भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, हर्ष-अमर्ष आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा असंस्पृष्ट होता है। तथापि सुषुप्ति पुरुषार्थभूमि नहीं है। गाढ़ी नींदमें धर्मानुष्ठान, अर्थोपार्जन, विषयोपभोग तथा कृतार्थतारूप मोक्ष सम्भव नहीं है। महाप्रलयमें प्राणी पुरुषार्थसाधक देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरणसे विहीन होनेके कारण पुरुषार्थ-सिद्धिमें सर्वथा असमर्थ होता है। कार्यात्मक स्थूल शरीर, करणात्मक सूक्ष्म शरीर तथा व्यष्टि-अविद्यात्मक कारण शरीरसे रहित जीवनकी सहिष्णुता एवं महाकारण शरीर महामायाके अतिक्रमणकी शिक्षा प्रदान करनेकी भावनासे जीवोंको सर्वेश्वरकी कृपासे सुषुप्ति और महाप्रलयकी अवस्था प्राप्त होती है। असत् (अनित्य), अचित् और दुःखप्रद जीवन तथा जगत्का उपयोग और विनियोग मृत्यु, मूर्खता (जड़ता) और दुःखके बीजभूत अज्ञानके विध्वंसका बल और वेग प्राप्त करनेकी भावनासे सर्वेश्वर सर्गकालमें पूर्ववत् सृष्टिसंरचना करते हैं। जीवोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षसंज्ञक पुरुषार्थचतुष्टयकी सिद्धिके अनुरूप देह-इन्द्रिय-प्राण और अन्तःकरणसे युक्त जीवन प्रदान करते हैं—

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।२)

विषयोपभोगकी सामग्री **अर्थ** है। विषयोपभोग **काम** है। विषयोपार्जन एवं विषयोपभोगकी तथा इनसे अनासक्तिकी स्वस्थ विधा **धर्म** है। अनात्म वस्तुओंके अनुरूप आत्ममान्यताका उच्छेदकर सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माके अनुरूप आत्मस्थिति **मोक्ष** है।

शरीर और संसार पंचभूतात्मक है। आत्मा सच्चिदानन्दात्मक है। तथापि वेदादिशास्त्रोंमें सम्प्राप्त और आर्यजीवनमें व्याप्त वर्णाश्रमोचित भेद समस्त भेदभूमियोंका अतिक्रमणकर निर्भेद आत्मस्थितिके लिये अनिवार्य है—

विशेषेण च वक्ष्यामि चातुर्वर्ण्यस्य लिङ्गतः।
पञ्चभूतशरीराणां सर्वेषां सदृशात्मनाम्॥
लोकधर्मे च धर्मे च विशेषकरणं कृतम्।
यथैकत्वं पुनर्यान्ति प्राणिनस्तत्र विस्तरः॥

(महा०, अनु० १६४।११-१२)

सनातनधर्ममें आहारादिरूप कामकी सिद्धिके लिये अनिन्द्य कर्मरूप धर्मका सम्पादन विहित है। आहारादिमें प्रवृत्ति विषयोपभोगकी लम्पटताके लिये नहीं है, अपितु प्राणरक्षार्थविहित है। प्राणसन्धारण भगवत्तत्त्वकी जिज्ञासाके लिये विहित है। तत्त्वजिज्ञासा तत्त्वबोध प्राप्तकर दुःखोंके आत्यन्तिक उच्छेदकी भावनासे विहित है।

अत्राहारार्थं कर्मकुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं प्राणसन्धारणार्थम्।
प्राणाः सन्धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम्॥

(योगवासिष्ठ-निर्वाणप्रकरण २१।१०)

'तदर्थेऽखिलचेष्टितम्' (श्रीमद्भागवत ११।३।२७)-के अनुसार सनातनधर्ममें भगवदर्थ सर्वचेष्टाओंका सम्पादन भोगसाधक व्यवहारको योगसाधक परमार्थके अभिमुख करनेकी अद्भुत विधा है। भगवान्‌के अर्चाविग्रहको स्नान करानेकी भावनासे स्नान विहित है। भगवान्‌को भोग लगानेकी भावनासे भोजन-निर्माण विहित है। श्रीहरिको शयन कराकर शयनका विधान है। प्रभुको समयपर जगानेके लिये जागरणादि विहित है। तद्वत् यज्ञादि सर्वकर्मोंका निर्वाह भगवदर्थ ही सन्निहित है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

सनातनधर्ममें सबको सुबुद्ध, स्वावलम्बी और

सत्यसहिष्णु बनानेकी स्वस्थ विधा वर्णाश्रमव्यवस्था है। शिक्षा, न्याय, रक्षा, अर्थ और सेवादि-व्यवस्था समाजमें सबको सदा सुलभ रहे, इसकी अनादि परम्पराप्राप्त सनातन वैज्ञानिक विधाका नाम वर्णव्यवस्था है। वंशपरम्परासे इसे न स्वीकार करनेपर वैकल्पिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिकी संरचनामें समय तथा सम्पत्तिका अनावश्यक उपयोग एवं अपेक्षित संस्कारका संकोच और शिक्षा-रक्षादि-विभागोंमें व्यक्तिकी संख्याका असन्तुलन और वर्णसंकरता एवं कर्मसंकरतासुलभ रुग्णतादि अन्य दोषोंका प्रादुर्भाव सुनिश्चित है।

वैज्ञानिक अनुसन्धानों और आविष्कारोंको समुचित दिशा देनेकी क्षमता सनातनधर्मके अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। यान्त्रिक युगमें पृथ्वीके धारक गोवंश, विप्र, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभ, दानशील एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके अनुकूल वातावरणकी सुरक्षा सर्वथा असम्भव है। प्रगतिके नामपर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थसे विहीन जीवन तथा प्रतिभाके नामपर मृत्युग्रस्त, जड़ और दुःखप्रद शरीर तथा संसारकी दासता ही सनातनधर्मविहीन विकासका पर्यवसान है। सनातन शास्त्रोंमें पृथ्वीके धारक तत्त्वोंकी मुख्य संख्या चौदह है, जिनसे यज्ञादि धर्मोंकी निष्पत्ति और पुरुषार्थचतुष्टयकी सिद्धि सम्भव है—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

(स्कन्दपु०, काशीखण्ड २।९०)

गायों, विप्रों, वेदों, सतियों, सत्यवादियों, लोभरहितों और सातवें दानशीलोंके द्वारा पृथिवी धारण की जाती है।

धर्मः कामश्च कालश्च वसुर्वासुकिरेव च।
अनन्तः कपिलश्चैव सप्तैते धरणीधराः॥

(महा०, अनु० १५०।४१)

धर्म, काम, सर्वार्थसाधक काल, अर्थसाधक वसु और वासुकि, मोक्षसाधक अनन्त और कपिल—ये सात धरणीके धारक तत्त्व हैं।

ब्राह्मणानां मतिर्वाक्यं कर्म श्रद्धां तपांसि च।
धारयन्ति महीं द्यां च शैक्यो वागमृतं तथा॥

(महा०, शान्ति० ३४२।१७)

जैसे शैक्य (छींका) दुग्ध, दधि आदि गोरसको धारण करता है, वैसे ही ब्राह्मणोंकी बुद्धि, लिपिबद्ध वाक् (ग्रन्थाकार वाक्य), उनके द्वारा अनुष्ठित कर्म, उनकी ईश्वर तथा धर्मादि सनातन मानबिन्दुओंमें आस्था, उनके द्वारा निष्पन्न विविध तप और उनका वचनामृत पृथ्वी और स्वर्गका धारक है।

केवल अर्थ और काम अर्थात् धन और मानके लिये विद्या या शिक्षाका उपयोग करनेवाले धर्मद्रोही हैं। कारण यह है कि धर्म तो धर्म है ही, उससे अर्थ, काम ही नहीं, अपितु मोक्षरूप चरम पुरुषार्थकी सिद्धि भी सम्भव है—

आजिजीविषवो विद्यां यशःकामौ समन्ततः।
ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः॥

(महा०, शान्ति० १४२।१२)

नृप! जो जीविकाकी इच्छासे विद्याका उपार्जन करते हैं, सम्पूर्ण दिशाओंमें उसी विद्याके बलसे यश और मनोवांछित पदार्थोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं, वे सभी पापात्मा और धर्मद्रोही हैं।

धर्मादर्थश्च कामश्च मोक्षश्च त्रितयं लभेत्।
तस्माद्धर्मो समीहेत विद्वान् स बहुधा स्मृतः॥

(शिवपुराण, धर्मसंहिता २९।१)

धर्मसे अर्थ और काम तथा मोक्ष तीनोंकी समुपलब्धि सम्भव है। अतएव विद्वान् धर्ममें आस्थान्वित रहता हुआ उसके समाचरणमें स्वयंको संलग्न रखे। वह धर्म, यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, आत्मानुशीलनादि-भेदसे विविध प्रकारका मान्य है।

सनातनधर्ममें सबकी जीविका जन्मसे सुरक्षित है। वर्तमान आरक्षणपद्धतिसे प्रतिभा और प्रगतिका नाश, प्रतिशोधकी भावना और परतन्त्रता तथा पतन सुनिश्चित है।

पाश्चात्य शिक्षापद्धति और तदनुरूप जीविकोपार्जनकी विधासे संयुक्त परिवारका पाश्चात्य जगत्के तुल्य उच्छेद सुनिश्चित है। संयुक्त परिवारके उच्छेदसे सनातन कुलधर्म, जातिधर्म, कुलदेवी, कुलदेवता, कुलगुरु, कुलाचार, कुलसंस्कृतिका विलोप तथा वर्णसंकरता और कर्मसंकरता सुनिश्चित है। इस प्रकार सनातनधर्मकी रक्षाके लिये पाश्चात्य शिक्षापद्धति और जीविकोपार्जनकी विधाका सनातन संस्कृतिके अनुरूप उपयोग और विनियोग नितान्त अपेक्षित है। तदर्थ धर्मनियन्त्रित पक्षपातविहीन शोषणविनिर्मुक्त शासनतन्त्रकी स्थापनाका स्वस्थव्यूह-रचनापूर्वक अथक

और अमोघ प्रयास अत्यावश्यक है।

स्वतन्त्र भारतमें सत्तालोलुपता और अदूरदर्शिताके वशीभूत शासनतन्त्रने पार्टी और पन्थोंमें देशको विभक्तकर तथा देशवासियोंको स्वयं और गिने-चुने सगे-सम्बन्धियोंतक सीमित स्वार्थान्ध बनाकर राष्ट्रकी विशेषकर हिन्दुओंके अस्तित्व और आदर्शकी हत्या की है। व्यासपीठ और शासनतन्त्रकी दिशाहीनताने हमें पुनः भगवत्पाद आद्यशंकराचार्य और राजा सुधन्वाकी शैलीमें कार्य करनेके लिये विवश किया है। सर्वपन्थों, वादों, मतोंमें सामंजस्य-साधनके लिये सनातनधर्मके इस आदर्शको विश्वस्तरपर स्वीकारकर क्रियान्वित करनेकी आवश्यकता है—

दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः॥

(महा०, शान्ति० २९०। २०)

इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, सन्तोष, सत्यवादिता, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनका त्याग तथा दक्षता—ये सब सुखप्रद हैं।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

(महा०, शान्ति० १६२। २१)

मन, वाणी और कर्मद्वारा सर्वप्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

(महा०, शान्ति० २५९। २०)

मनुष्य दूसरोंद्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने लिये वांछनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वह वैसा न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार आदि बर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकता।

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥

(महा०, शान्ति० २९०। २४)

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरेकी निन्दा तो करता है, किंतु स्वयं उसी निन्द्य कर्ममें संलग्न रहता है, वह उपहासका पात्र होता है।

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथञ्चन॥

(महा०, शान्ति० १२४। ६७)

अपना जो पौरुष और कर्म अन्योंके लिये हितकर न हो अथवा जिसे करनेमें संकोचका अनुभव होता हो, उसे किसी तरह न करना चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैतत्प्रधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(पद्मपुराण, सृष्टि० १९। ३५५; विष्णुधर्मोत्तर० ३। २५३। ४४)

धर्मका सार सुनें और सुनकर इसे धारण करें। दूसरोंके द्वारा किये हुए जिस बर्तावको अपने लिये नहीं चाहते, उसे दूसरोंके प्रति भी नहीं करना चाहिये।

ध्यान रहे, लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष तथा अपवर्गसंज्ञक मोक्षके सनातन मार्गका त्यागकर विश्वने विकासके नामपर विनाशकी ओर और समृद्धिके नामपर दरिद्रताकी ओर द्रुतगतिसे प्रयाण करना प्रारम्भ किया है।

परमेश्वर, प्रकृति, आकाश-वायु-तेज-जल और पृथ्वीके निसर्गसिद्ध स्वरूपसे और धर्म तथा धर्मशीलसे विमुखता ही आज विकासकी परिभाषा है, जो कि वस्तुतः विनाशका विन्यास है। इसी प्रकार मद्य, चौर्य, असत्य, असंयम और अशुचिमें अनुरक्ति एवं स्नेह-सेवा-सहानुभूति तथा आत्म-स्मृतिके त्यागमें प्रीति और प्रवृत्तिको समृद्धिका स्रोत माना जा रहा है, जो कि दरिद्रताका स्रोत है।

चोरी, हिंसा, अनृत, दम्भ, लोभ, क्रोध, गर्व, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, द्यूत और मद्य— इन पन्द्रह अनर्थों (श्रीमद्भागवत ११। २३। १८-१९)-से मुक्त अर्थ ही अर्थसंज्ञक और काम ही कामसंज्ञक पुरुषार्थ कहनेयोग्य है। फलेच्छा धर्मका मल है। संग्रह अर्थका मल है। आमोद-प्रमोद कामका मल है। निर्मल धर्म, अर्थ और कामके सेवनसे ही सुखमय जीवन और कैवल्य—मोक्ष सम्भव है—

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः॥

(महा०, शान्ति० १२३। १०)

ध्यान रहे—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

जितने अन्नसे उदरपूर्ति हो जाय और जितने वस्त्रसे तन ढक जाय, शीत-उष्णका निवारण तथा शील-स्नेहादिकी रक्षा हो जाय, देव-पितृ-अतिथि-सेवादि कार्यका सम्पादन हो जाय, मनुष्यका अधिकार अपने लिये उतनी ही सम्पत्तिपर है। शेष धनपर अपना अधिकार माननेवाला परस्वत्वापहारी होनेके कारण स्तेन (चोर) है। वह दण्डाधिकारीके द्वारा दण्ड पानेयोग्य है।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥

(महा०, उद्योग० ३३।६०)

दो प्रकारके व्यक्ति गलेमें दृढ़ पत्थर बाँधकर गम्भीर जलाशयमें डुबा देनेयोग्य हैं—एक वह जो धनी होनेपर भी अपेक्षित और अधिकृत स्थलोंपर दान न दे और दूसरा वह जो दरिद्र होकर भी तपःशील—उद्योगपरायण न हो।

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते॥

(श्रीमद्भा० ११।१८।३४)

युक्त आहारके लिये यत्न अवश्य करना चाहिये। कारण यह है कि प्राणधारण आहारसे ही सम्भव है। प्राणधारण भी तत्त्वविचारके लिये कर्तव्य है। तत्त्वविचारसे तत्त्वविज्ञान सुनिश्चित है। तत्त्वज्ञानसे मोक्ष सुनिश्चित है।

विश्वकल्याणकी भावनासे श्रीप्रभुकी प्रार्थना अवश्य-कर्तव्य है—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।९)

हे प्रभो! विश्वका कल्याण हो। दुष्ट दुष्टताका परित्यागकर प्रसन्न हो। प्राणियोंमें परस्पर सद्भाव हो। सब एक-दूसरेका हित-चिन्तन करें, हमारा मन सुमार्गमें प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्कामभावसे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीहरिमें सन्निविष्ट हो।

तत्त्वदर्शी महर्षियों और मुनियोंद्वारा दृष्ट और प्रयुक्त लौकिक तथा पारलौकिक उत्कर्षके साधनोंको परिष्कृत और क्रियान्वित करनेमें हम अवश्य ही अधिकृत हैं; परंतु कृषि, भवन, वाणिज्य, यज्ञ, दान, तप आदिसे सम्बद्ध सनातन विज्ञानका परित्यागकर नवीन उद्भावना और प्रयोगका आलम्बन लेनेपर विकासके स्थानपर विनाशका पथ ही प्रशस्त कर सकते हैं। अतएव प्राचीन दर्शनका देश, काल, परिस्थितिके अनुरूप अवबोध और क्रियान्वयनका प्रक्रम ही सर्वहितप्रद और सुखप्रद है—

अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये॥
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥
ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥

(श्रीमद्भा० ४।१८।३—५)

तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस लोक और परलोकमें मनुष्योंके कल्याण करनेके लिये कृषि, अग्निहोत्रादि बहुतसे उपाय निकाले और काममें लाये हैं। उन प्राचीन ऋषियोंके बताये हुए उपायोंका इस समय भी जो श्रद्धापूर्वक भलीभाँति आचरण करता है, वह सुगमतासे अभीष्ट फल प्राप्त कर लेता है, परंतु जो अज्ञानी उनका अनादर करके अपने मनःकल्पित उपायोंका आश्रय लेता है, उसके सभी उपाय और प्रयत्न पुनः-पुनः निष्फल होते हैं।

सनातनधर्ममें फलचौर्य नहीं है। ब्राह्मणादि अपने-अपने कर्मोंका भगवत्समर्पण-बुद्धिसे अनुष्ठानकर सद्गति प्राप्त करते हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८।४५)

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

सनातनधर्ममें फलचौर्य न होनेपर तथा भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, उत्सव-त्योहार, रक्षा, सेवा, न्यायकी व्यवस्था सदा सबको सन्तुलितरूपसे सुलभ होनेपर भी इसके प्रति विश्वस्तरपर अविश्वसनीयताका और अनास्थाका मुख्य हेतु योजनाबद्ध ढंगसे दुष्प्रचार तथा स्वतन्त्रताके बादसे अबतककी सत्तालोलुपता और अदूरदर्शिता-पूर्ण भारतका शासनतन्त्र एवं दिशाहीन व्यापारतन्त्र है।

शुभाशंसा

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ कांचीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराज)

विशेषाङ्कं वितन्वाना कल्याणाख्या सुपत्रिका।
चन्द्रमौलिकृपादृष्ट्या वर्धतामभिवर्धताम्॥

विश्वस्मिन्विश्वे मानव एव संस्कारादिना इतरमृगानतिशेते। संस्कारहीनो मानवः पशुतुल्य एवेति सच्छास्त्राणां निर्णयः। तत्रापि धर्ममूलकसंस्कारा एव मानवत्वपरिपोषकास्सन्ति। अस्माकं सनातनधर्मः अहिंसादिरूपेण दैनन्दिनकर्मस्वपि विश्वहितमेवारचयन् मानवत्वविकासस्य मूलस्थानमिवाभाति। विषयमेनमधिकृत्य सुप्रसिद्धा कल्याणाख्या पत्रिका जीवनचर्याङ्कं तनोतीति ज्ञात्वा नितरां मोदाम्बुधौ गाहते इव मनः। सोऽयं विशेषाङ्कः श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यम्बासमेतश्रीचन्द्रमौलीश्वरकृपया सफलो भवत्विति, अस्याः निर्वाहकाश्च ऐहिकामुष्मिकश्रेयःपरम्परा आप्नुयुरिति चाशास्महे। नारायणस्मृतिः।

विशेषांकका प्रस्तार एवं विस्तार करनेवाली '**कल्याण**' नामक यह उत्तम पत्रिका चन्द्रशेखर भगवान् शिवकी कृपादृष्टिसे निरन्तर अभिवृद्धिको प्राप्त होती रहे।

सम्पूर्ण जगत्में मनुष्य संस्कार आदिके द्वारा ही अन्य सभी प्राणियोंसे उत्कृष्ट है। सत्शास्त्रोंका निर्णय है कि संस्कारविहीन मानव पशुतुल्य ही है; उनमें यह भी व्यवस्था है कि धर्ममूलक संस्कार ही सब प्रकारसे मानवताका पोषण करनेवाले हैं। हमारा सनातनधर्म अहिंसा आदिके माध्यमसे दैनिक कर्मोंमें भी विश्वकल्याणका ही चिन्तन करता हुआ मानवताके विकासके मूलस्थानकी भाँति सुशोभित होता है। इसी विषयको लेकर इस वर्ष सुप्रसिद्ध 'कल्याण' पत्रिकाका '**जीवनचर्या-अङ्क**' प्रकाशित हो रहा है—यह जानकर मन अगाध आनन्दसागरमें निमग्न-सा हो गया। यह विशेषांक भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरी तथा भगवान् चन्द्रमौलिकी कृपासे सफल हो और इस पत्रिकाका निर्वहन करनेवाले लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय-परम्पराको प्राप्त करें—यह हमारी शुभकामना है। नारायणस्मृति।

'जीवनके हंस मुस्काते हैं'

(पं० श्रीदेवेन्द्रकुमारजी पाठक 'अचल' रामायणी)

**भोर होत लखन कुमार के समेत राम मात-पिता गुरु पद सीस को नवाते हैं।
खेलने को जाते हैं सखाओं के समेत जब प्रेम मदमाते घर-द्वार भूल जाते हैं॥
माताजी बुलातीं करो भोजन लघुन्ह संग आते न सखों को छोड़ और को बुलाते हैं।
भक्त कलिकाल केरी सपथ दिलातीं जब कौशिला के चरणों में आन लपटाते हैं॥
गुरु गृह जाते ग्यान गरिमा बढ़ाते राम अनुजों को साथ लिये सुजस बढ़ाते हैं।
बात करते ही नर-नारिन्ह को मोह लेत बार-बार बोलन को मन ललचाते हैं॥
पूछे बिनु स्यानों से न करते हैं कोई काम मान-मर्याद का विशेष ध्यान लाते हैं।
नाते और नेह को सँभारते सदैव रहें बालपन में भी प्रौढ़ ज्ञान दरसाते हैं॥
चलते सुपंथ का सदैव सन्मान किए समय का स्वर्णरथ हाथ से सजाते हैं।
कर्म की कसौटी पर रहते सचेष्ट सदा क्षणमात्र को न कभी हिय से हटाते हैं॥
आते हैं उतार और चढ़ाव के भी अवसर में कर्मशीलियों के पद बहक न पाते हैं।
पाते हैं न हार हारकर भी जगत बीच चर्या से जीवन के हंस मुस्काते हैं॥**

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्योपदिष्ट जीवनचर्यामें मनोनिग्रह परमावश्यक

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज)

प्रत्येक मानवमात्रकी दैनन्दिन जीवनचर्यामें मनोनिग्रह नितान्तरूपेण अनिवार्य है। जिसका स्वकीय मनपर नियन्त्रण नहीं है, उसकी समग्र जीवनचर्या निष्फल है, अतः सर्वविधरूपसे सर्वप्रथम अपने अन्तर्मनको सर्वात्मना सुनियन्त्रित रखना अत्यन्त अपेक्षित है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** यह शास्त्रीय वचन सर्वदा स्मरणीय है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अखिलान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे वीरशिरोमणि अर्जुनने कुरुक्षेत्रके रणांगणक्षेत्रमें यही जिज्ञासा उपस्थित की थी—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(गीता ६। ३४)

हे सर्वेश्वर श्रीकृष्ण! इस मनकी चंचलता और विनाशपरायणता तथा अतीव बलवत्ता एवं तीव्र स्वभावशीलता है, अतः इसका निग्रह (निरोध) करना नितान्त कठिन है। उत्कट वायुके वेगके समान इसे नियन्त्रित कर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

इसी जिज्ञासाका समाधान करते हुए परम कृपार्णव सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इंगित करते हुए निर्देश किया कि हे महाबाहो अर्जुन! निश्चय ही यह अतीव चंचल मन बड़ी दुष्करतासे अधीन होता है तथापि हे कौन्तेय अर्जुन! यह मन अनवरत अभ्यास एवं वैराग्य-वृत्तिके धारण करनेपर स्वाधीन हो जाता है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यने अपने स्वप्रणीत 'प्रातःस्तवराज' में 'मनसा' इस प्रयुक्त वचनसे मनका ही प्राधान्य व्यक्त किया है—

सञ्चिन्तनीयमनुमृग्यमभीष्टदोऽहं
संसारतापशमनं चरणं महार्हम्।
नन्दात्मजस्य सततं मनसा गिरा च
संसेवयामि वपुषा प्रणयेन रम्यम्॥

(प्रातःस्तवराज १)

श्रीब्रह्मादिक देववृन्दोंद्वारा जिनके सुन्दर स्वरूपका दर्शनार्थ अन्वेषण किया जाता है, उन अभिवांछित मनोरथको प्रदान करनेवाले और जागतिक त्रिविध तापोंका निराकरण करनेवाले तथा अतीव उत्कृष्ट परम मनोहर अपने अन्तःकरणसे ध्यान किये जानेवाले परमानन्दकन्द नन्दनन्दन सर्वेश्वर श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके श्रीयुगलचरणारविन्दोंका मन, वाणी और शरीरसे प्रेमानुरागपूर्वक सेवापरायण रहता हूँ।

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्कभगवान्की आचार्य-परम्परामें परमाचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराजने अपने स्वप्रणीत 'श्रीपरशुरामसागर' ग्रन्थमें मानवकी जीवनचर्यामें मनके सम्बन्धमें जो भाव व्यक्त किये हैं, वे सर्वदा साधकजनोंके लिये अपने जीवनमें अनुकरणीय हैं—

मन चंचल मन चपल, मन राजा मन रंक।
'परसा' मन हरि सौं मिलै, तौ हरि मिलै निसंक॥
आवणजाणा तब लगै, जब लग मन थिर नाहिं।
मन थिर राखै 'प्रसराम', रहे सदा सुख माहिं॥
सो मन थिर जो हरि भजै, हरि भजि अनत न जाय।
'परसराम' ता दास कौ, आवागवण बिलाय॥

उपर्युक्त इसी आचार्य-परम्परामें आचार्यप्रवर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराजका स्वकीय प्रणीत 'श्रीगीतामृतगंगा' वाणी-साहित्यमें मनविषयक यह निम्नांकित पद पठनीय एवं साधकसमुदायके लिये सदा स्मरणीय और ज्ञातव्य है।

प्रस्तुत पदोंमें व्रजांगनाओंका अपने अन्तर्मानसका अनुपम भाव परिलक्षित है—

मदनगोपाल तेरे हित, मैं गृह वित तजि दीन।
बिन देखें तेरी मूरति तलफौं, ज्यौं जल बिनु छिन मीन॥
अलबेली तेरी बंक विलोकनि, मो मन तो हरि लीन।
'वृन्दावन प्रभु' सुध्यो बिसारी, महाकठिन हिय कीन॥

तथा

अहो पिय महाकठिन मन कीनौं।
जब ते सिधारे यहाँ ते लालन, कबहुँ पत्र नहीं दीनौं॥
जो तुम्हें ऐसी करनी ही बलि, क्यौं चितवित हरि लीनौं।
'वृन्दावन प्रभु' हम तन तुम, बिन होत दिनैं दिन छीनौं॥

(श्रीगीतामृतगंगा, पद-सं० ५२-५३)

इसी प्रसंगपर पूर्वाचार्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराजके वाणी-साहित्यके इन मधुर पदोंसे मनका स्वरूप-चित्रण अतीव मननीय है—

अरे मनवा हरि भजियो तो भली।
श्रीव्रजराज कुँवर पद अंबुज, पी मकरंद अली॥
भूत पितर अरु देव सबन के, घर घर रंगरली।
भूरि भाग हरि-हरिजन जन की, बिगसत चित्त कली॥
यह औसर दुल्लभ पुनि पैहौ, नर तन मुक्ति गली।
'गोविन्दसरन' सरिता के जल ज्यौं बय बिति जात चली॥

मनुवाँ मेरे करि माधौ सौं प्रीति।
विषै विषम विष ज्यौं तजि भाई, छाँड़ि सकल विपरीति॥
जगत मोह कैं जाल परै जिन, करि हरि चरन प्रतीति।
'गोविन्दसरन' तजि के कुकरम, गति गहि हंसन की रीति॥

(गोविन्दशरण-वाणी पद-सं० ५६, ६१)

परिवर्णित इन सभी वचनोंसे यह सुस्पष्ट है कि इस मानवके मनको नियन्त्रित रखना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे मानवमात्रकी दैनन्दिन जीवनचर्या अबाधगतिसे सुव्यवस्थित रहे। संसारके समस्त कार्य मनपर ही आधारित हैं। जीवनके यावन्मात्र जितने भी कर्म सम्पादनजन्य सत्कार्य किंवा असत्कार्य हैं, ये सभी मनके संकल्पानुसार ही निष्पन्न होते हैं, अतः यदि मानवकी मनोवृत्ति सात्त्विक है, उच्चतम है, उत्तमोत्तम कर्म-सम्पादनमें प्रवृत्त है तो वह निःसन्देह श्रीभगवत्कृपाभाजन हो जाता है और इस भवाटवीके आत्यन्तिक दुःख-द्वन्द्वोंसे निवृत्त होकर श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्षको सुलभतासे प्राप्त कर सकता है। अतएव सभी शास्त्रोंने यही इंगित किया है कि समग्रविधा इस मनको उत्तमोत्तम कार्योंमें श्रीहरि-चिन्तनमें संलग्न करे, जिससे इस मानव-जीवनकी चरितार्थता सार्थक हो।

श्रीसुदर्शनचक्रावतार परमाद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यने एवं तत्परम्परानुवर्ती आचार्यप्रवरोंने इस मानवके मनको ही प्रमुख रूपसे प्रतिपादित किया है। 'केनोपनिषत्' के इस वचनसे मनका ही सर्वप्रथम संकेत हुआ है '**केनेषितं पतति प्रेषितं मनः**' अर्थात् किस दिव्य शक्तिसे यह मन अपने कर्ममें प्रवृत्त होता है इत्यादि बहुविध वचन चित्तपरक हैं।

अपने सर्वाराध्य अखिलब्रह्माण्डाधीश्वर वृन्दावनविहारी नित्यनिकुंजविहारी सर्वेश्वर युगलकिशोर श्यामाश्याम श्रीराधामाधव प्रभुके श्रीपदाम्बुजोंमें मनको अभिरत करना ही मानव-जीवनका सारसर्वस्व है और यही श्रीभगवन्निम्बार्काचार्योपदिष्ट अपनी जीवनचर्यामें मनोनिग्रहका सर्वोत्कृष्ट सदुपदेश निरूपित हुआ है, जो सर्वदा अपने मानसमें अवधारणीय है।

ब्रह्मनिष्ठ पूज्य श्रीलक्ष्येश्वराश्रमजी महाराजका उपदेशामृत

शुभाशुभ कर्म और परमात्मप्राप्ति—चित्तकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता ही शुभ और अशुभ कर्मोंकी प्रकाशिका है, मुखकी अभिनयात्मक प्रसन्नता नहीं। अन्त:करणसे समुद्भूत वास्तविक प्रसन्नता, जिससे शरीरका रोम-रोम पुलकित हो उठे—ऐसा कोई सत्कर्म हो तो वह शुभ कर्म है। संसार चाहे नहीं जान पाये, किंतु किसी अपकर्मसे चित्त ग्लानिसे भर उठे तो वह अशुभ कर्म है।

किंतु योगी शुभाशुभ कर्मोंसे विनिर्मुक्त, निर्द्वन्द्व, परिग्रहशून्य और ममता तथा अहंतासे रहित होता हुआ परम गति (परमात्मा)-को प्राप्त कर लेता है।

दानसे उत्तम भोगोंकी प्राप्ति—दान करनेसे उत्तम भोगोंकी प्राप्ति होती है, तीर्थोंका सेवन करनेसे सर्वविध सुखकी प्राप्ति होती है और धर्मवेत्ता विद्वान् शास्त्राभ्यास तथा व्यवहारकालमें शब्दोंके सुष्ठु प्रयोगसे अमृतत्वको प्राप्त करता है।

असत्कारपूर्वक किया गया दान व्यर्थ है—असम्मान एवं कठोरतापूर्वक क्रोधाग्निदग्ध अन्त:करणवाले मनुष्यका किया दान मालिन्ययुक्त होनेके कारण व्यर्थ ही है। वह धन धन नहीं, वह प्रीति प्रीति नहीं और वह धर्म भी धर्म नहीं, जिसमें आत्मीयताका अभाव हो। दान, प्रकृष्टदान, नियम, यज्ञ, ध्यान, हुत और तप—इन्हें यत्नपूर्वक करनेपर भी यदि ये क्रोध (असम्मान, अनात्मीय भाव)-पूर्वक किये गये हैं, तो सब निष्फल हैं।

मनुष्यमें देवत्व और पशुत्व—सज्जन और असज्जनके प्रति प्रिय वाणीका व्यवहार करनेवाला मनुष्य देवता है और क्रूरतापूर्वक वाणीका व्यवहार करनेवाला पशु होता है।

सम्पत्तिके हेतुभूत गुण—शास्त्रज्ञान, धैर्य, दक्षता, प्रगल्भता, धारण करनेका सामर्थ्य, उत्साह, वाग्मिता (वक्तृत्व शक्ति), दृढ़ता, आकस्मिक क्लेश सहन करनेकी क्षमता, प्रभाव, शुचिता, मैत्री, त्याग, सत्य, कृतज्ञता, कुल, शील एवं दम (इन्द्रियोंका निग्रह)—ये गुण सम्पत्ति-समर्जनमें हेतु (उपाय) हैं।

लोभ एक महाग्राह है—एकमात्र लोभ ही पापका अधिष्ठान है, वह मनुष्यको निगल जानेके लिये एक बड़ा ग्राह है। लोभसे ही पापकी प्रवृत्ति बनती है। अत: लोभसे ही पाप, अधर्म तथा महान् दु:खकी उत्पत्ति होती है।

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि धर्मकी मर्यादाको स्थिर बनाये रखनेवाले महापुरुषोंकी संगतिमें रहकर इस लोभरूपी महाग्राहका ग्रास बननेसे बचनेका प्रयास करे। नारायणकी कृपा ही इस जीवरूपी गजको लोभके इस महाग्राहसे मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ है।

पुत्र और शिष्य—'पुं' नामक नरकसे रक्षा करता है, इसलिये उसे पुत्र कहते हैं। 'पुं' नाम उपलक्षण है अर्थात् पिताको नरक जानेसे रोके और यदि पिता नरकमें पहुँच गया है तो नरकोंसे उसका उद्धार (श्राद्ध-तर्पणादिके द्वारा) करके पिताको सद्गति प्राप्त करा देना—पुत्रका स्वाभाविक कर्तव्य है, इसलिये ही उसे पुत्र कहा जाता है।

गुरुके जो भी पाप शेष रह गये हैं, उन पापोंका हरण करनेवाला शिष्य होता है। पुत्र और शिष्यमें कोई भेद नहीं है।

संसार-मृत्यु—संसाररूपी मृत्युमें बलवानोंके प्रवेशके लिये तीन् महान् द्वार हैं—स्त्री, जिह्वा और धन। जो इन द्वारोंको बन्द कर देता है, वह मृत्युके भयसे मुक्त रहता है।

त्रिविध वचन—लोकमें एवं वेदमें तीन प्रकारके वचन कहे गये हैं—

१-जो वचन सुननेमें सुन्दर लगें, किंतु असत्य और अहितकारी हों।

२-जो वचन सुननेमें कठोर हों, किंतु परिणाममें सुखकारी हों।

३-जो सुननेमें अमृतके समान हों और सभी कालोंमें सुखदायक हों।

प्रथम प्रकारका वचन बुद्धिमान् शत्रु बोलता है, दूसरा वचन दयालु, धर्मशील अथवा बन्धुजन बोलते हैं, तीसरे प्रकारके वचन श्रेष्ठजन बोलते हैं।

योगवासिष्ठके ज्ञान-बिन्दु—चिरकालसे चिन्ताचक्रमें बँधा हुआ तथा पापकर्मोंके आचरणमें संलग्न हुआ चित्त समुद्रके गम्भीर आवर्तमें पड़कर चक्कर काटते हुए तृणकी भाँति संसारमें भटकता रहता है।

मनके क्षुब्ध होनेपर (यहाँ मनका तात्पर्य देहसे है) भले ही देह दु:खसे क्षुब्ध हो जाय, उससे आत्माको कौन-सी क्षति पहुँचती है? जलमें तरंग उठनेसे क्या समुद्रमें कोई वैपरीत्य आ जाता है?

सरिताओंका जल कमलोंको अपनी गोदमें धारण किये रहता है, फिर भी वे कमल उस जलसे कोई सम्बन्ध न रखकर निर्लेप बने रहते हैं, उसी प्रकार इस जगत्में शरीरका भी आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कहाँ निरहंकारिता, चित्तशान्ति, उदारता एवं धीरता और कहाँ वासनाके आवेशसे मिथ्या अहंकार-कुकल्पनासे संयुक्त होना।

अहंकारके अंकुरसे ही संसाररूपी विषवृक्षकी मंजरी, शाखा-प्रशाखा बढ़ी है। अर्थात् संसाररूपी वृक्षका बीज अहंकार ही है, जबतक अहंकार है तबतक दु:ख है।

अहं असत् वृत्ति है, इसलिये अहं नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। मैं नहीं हूँ—ऐसा मानकर सुखी होओ।

यह मैं-मेरा, तू-तेरा भाव भी मिथ्या भासित होता है। अनुभूत होते हुए भी यह असद्रूप है। जैसे स्वप्नमें अपना मरना भासता है, जो कि असत् है।

सन्ध्या, यज्ञोपवीतसंस्कार और आचमन—प्रतिदिन नियमित रूपसे सन्ध्याकी उपासना करनी चाहिये, जो सन्ध्योपासना करता है, वह उस ब्रह्मकी ही उपासना करता है।

यज्ञोपवीत-संस्कारके उपरान्त ही वेदका अध्ययन करना चाहिये, यज्ञोपवीती होकर ही सविधि यज्ञकी अभिवृद्धिहेतु यज्ञ करे और कराये।

निश्चित ही पुरुष अमेध्य है अर्थात् अपवित्र है; क्योंकि झूठ बोलता है। असत्यभाषणसे उत्पन्न अशुचिताके निवारणके लिये नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मोंसे पूर्व आचमनका विधान है, जलके उपस्पर्शन अर्थात् आचमनका जल हृदयतक जानेसे अन्त:करण अन्दरतक पवित्र हो जाता है; क्योंकि जल निश्चय ही पवित्र है।

धर्मके सहचर—तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, इन्द्रिय-संयम, दान, क्षमा, शान्ति, लज्जा, अहिंसा, अकल्पना, बुद्धि, दया, श्रद्धा, मेधा, सत्कृति, यज्ञ, वेद, वेदांग, शुश्रूषा और सरस्वती—ये सब धर्मके अनुचर हैं। अर्थात् धर्मके पीछे-पीछे चलते हैं। जहाँ धर्म होगा, वहाँ ये सब अवश्य होंगे।

सभी वर्णोंके धर्म—किसीपर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धनको बाँटकर भोगना, क्षमाभाव रखना, अपनी ही पत्नीके गर्भसे सन्तान उत्पन्न करना, बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, किसीसे द्रोह न करना, सरल स्वभाव रखना और भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करना—ये नौ धर्म सभी वर्णोंके लिये उपयोगी हैं।

तप:प्रधान नारी और यज्ञप्रधान पुरुष—मनुष्योंका धर्म यज्ञप्रधान है। इसलिये पुरुषको यज्ञप्रधान कहा गया है। वेदोक्तवर्णके अनुसार जितने भी पुरुषके कर्तव्य हैं, उनका निष्ठापूर्वक परिपालन ही भगवान्‌का यजन है, इसलिये पुरुषको जीवनपर्यन्त यजनरूप स्वकीय धर्मका आचरण करना चाहिये।

नारीका धर्म तप:प्रधान है। नारीके द्वारा विधिपूर्वक अपने धर्म (कर्तव्य)-का परिपालन करना एक तपस्या ही है। नारीका तपोमय जीवन है। पति, पुत्रादिसे हरा-भरा घर किसी तपोवनसे कम नहीं है। नारीकी विलक्षण तपस्याके बलपर ही कुटुम्ब फूलता-फलता है, अत: नारी तप:प्रधान है।

[चिन्तामणि]

दैनिक चर्या-प्रार्थना

(श्रीरायबिहारीजी टण्डन)

उदय प्रात के साथ हो भाग्य मेरा।
जगाये मुझे नाथ कर कंज तेरा॥
गहूँ श्रीचरण देव यह भावना हो
बसे तू दृगों में सफल जागना हो।
भुवन मोहिनी मूर्ति उर में सँवारे
मुदित मन करूँ मैं दिवस कार्य सारे।
कि सन्ध्या समय हो मिलन श्यामसुन्दर
मिटें ताप त्रय प्रेमपीयूष पीकर।
शयन हित मिले रात्रि को अंक तेरा
ये साकार हो शीघ्र प्रभु स्वप्न मेरा॥

[प्रे०—सुश्री सुधा टण्डन]

भारतीय जीवनचर्याके अमृत-सूत्र

(पंचखण्डपीठाधीश्वर आचार्य स्वामी श्रीधर्मेन्द्रजी महाराज)

हिन्दुत्वके पंचप्राण एवं गोमाता

भारतीय जीवनचर्याका आधार भारतकी सनातन संस्कृति है और भारतीय संस्कृतिका मूल सत्य सनातन हिन्दूधर्म है। हिन्दूधर्म एवं संस्कृतिके पंच-प्राण हैं—गीता, गंगा, गायत्री, गाय और गोविन्द।

इन पाँचोंके केन्द्ररूपमें गोमाता प्रतिष्ठित हैं—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

उपनिषद् कामधेनु हैं, दुहनेवाले नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा अर्थात् निमित्त हैं, पीनेवाले संसारके समस्त विवेकीजन हैं और दूध श्रीमद्भगवद्गीता है। गीताको कामधेनुके दुग्धामृतकी उपमा देनेका निहितार्थ है कि गोदुग्ध गीताके समान और गीता गोदुग्धके समान है।

इसी प्रकार गंगा गोमूत्रमें समाहित हैं। कलियुगमें गंगाजल प्रदूषित हो जाय तो भी गोमूत्र गंगोदकका कार्य करता रहेगा।

गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत, गोमय और गोमूत्रके पंचगव्यको ग्रहण किये बिना यज्ञोपवीत सम्भव नहीं और यज्ञोपवीतके बिना गायत्री-ग्रहण करनेका अधिकार नहीं मिलता। अतः गोमाता ही गायत्री-सिद्धिका अधिकारी बनाती हैं।

पाँचवें प्राण गोविन्द हैं, जो गोमाता और उसके वंशकी सेवा एवं रक्षाका मानवताको पाठ पढ़ानेके लिये ही पृथ्वीपर अवतरित होते हैं। इस प्रकार हिन्दुत्वके पंच-प्राणोंमें गोमाताकी महत्ता सर्वोपरि और असंदिग्ध है।

संस्कारोंकी महत्ता

अबोध शिशुको जैसे संस्कार प्राप्त होंगे, उन्हींके अनुसार उसकी वृत्ति, स्वभाव, चरित्र, व्यवहार और जीवन विकसित और व्यक्त होंगे। दुर्भाग्यवश स्वाधीनताके पश्चात् स्वतन्त्र भारतमें भारत-सन्तानोंको भारतीयताके संस्कार दिये जानेकी कोई व्यवस्था नहीं की गयी। शिक्षाको संस्कारोन्मुखी न बनाकर रोजगारोन्मुखी बना दिया गया, इसी कारण भारतकी नयी पीढ़ी भारतीय जीवन-दर्शन एवं भारतीय जीवनचर्यासे सर्वथा अनभिज्ञ है। 'कान्वेण्ट कल्चर' में पले और ढले युवक-युवतियोंमें भारतीय जीवनकी सुगन्ध ढूँढ़ना व्यर्थ है।

इसलिये अपनी सन्तानोंको भारतीयताके सुसंस्कार देनेका कार्य माता-पिता, दादा-दादी अर्थात् वरिष्ठ अभिभावकोंको तत्परतापूर्वक करना चाहिये।

पर्व, उत्सव एवं परम्परा

माता-पिताका प्राथमिक कर्तव्य है कि वे अपने शिशुओंको भारतीय पर्वों, उत्सवों तथा धर्म-संस्कृतिकी परम्पराका परिचय करायें। वरिष्ठजन, गुरुजन एवं अतिथियोंके प्रति सम्मानका व्यवहार सिखायें और यदि वे स्वयं असमर्थ हैं तो ऐसे विद्यालयोंमें उन्हें भेजें, जहाँ सुसंस्कारोंको ही महत्त्व दिया जाता हो।

प्रणाम कल्पवृक्ष है

प्रतिदिन प्रातःकालीन दिनचर्याका प्रारम्भ पृथ्वीमाता, गोमाता, भगवान्‌की प्रतिमा, माता-पिता, वरिष्ठजन एवं भगवान् सूर्यको प्रणाम करनेसे होना चाहिये। प्रणाम भक्ति-भावसे किया जाय, अनिच्छापूर्वक नहीं, औपचारिकतावश भी नहीं। प्रणाम करनेसे आशीर्वाद मिलता है। आशीर्वादोंसे दिन आरम्भ करना परम सौभाग्यकी बात है। इसी प्रकार रातमें सोनेके पूर्व परिवारके सभी वरिष्ठ सदस्योंको प्रणाम करके उनकी अनुमति लेकर सोनेसे बुरे स्वप्न नहीं आते, तनाव नष्ट होता है और आयुकी वृद्धि होती है। निस्सन्देह प्रणाम कल्पवृक्ष है, जो परिवारकी, पारिवारिकताकी एवं सम्बन्धोंकी रक्षा करता है एवं उन्हें सुदृढ़ बनाता है।

गुड मार्निंग बोलनेसे क्या होगा?

गुड मार्निंग, गुड नून, गुड ऑफ्टर नून, गुड डे, गुड इवनिंग या गुड नाइट बोलनेसे कुछ भी 'गुड' उसी प्रकार नहीं होता, जैसे स्वादिष्ट व्यंजनों, मिष्टान्नों अथवा फलोंका स्मरण करनेसे वे मुँहमें नहीं आ जाते। जिन्हें मंगलमय प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न, दिवस या रात्रिकी कामना हो, उन्हें सदा और सर्वत्र केवल भगवान्‌को ही स्मरण करना चाहिये; क्योंकि सभी अमंगलोंका नाश एवं मंगलोंकी सृष्टि करनेवाले केवल भगवान् हैं।

अतएव अपनी ओरसे 'गुडनेस' का 'मैनेजमेण्ट' करनेके अहंकारको छोड़कर 'जय श्रीराम', 'जय श्रीकृष्ण', 'जय रामजीकी', 'जय सियाराम', 'राम-राम' या 'वन्दे मातरम्' कहकर ही सामान्य अभिवादन करना चाहिये।

मूर्खतापूर्ण है 'बर्थ-डे सैलिब्रेशन'

रातके १२ बजे, अन्धकारके साम्राज्यमें, सूर्यकी अनुपस्थितिमें नये दिनके प्रारम्भकी कल्पना अविवेककी पराकाष्ठा है। एक अरब हैलोजन लाइटें भगवान् सूर्यके एक प्रतिशत प्रकाशकी बराबरी नहीं कर सकतीं। भगवान् सूर्य केवल प्रकाश ही नहीं देते; वे ऊष्मा, ऊर्जा, उत्साह, बल, स्फूर्ति, बुद्धि, प्रसन्नता और जीवन भी देते हैं।

वे ही पर्यावरणको जीवनके अनुकूल बनाते हैं। वे ऋतुकर्ता हैं, वे ही जलदाता हैं; समस्त अन्नों, फलों, वृक्षों, वनस्पतियों, औषधियों और धातुओं तथा खनिजोंका सृजन एवं विकास उन्हींकी कृपासे होता है। भगवान् सूर्यके अस्तके छः घंटे पश्चात् एवं उनके उदय के छः घंटे पूर्व नये दिनका प्रारम्भ हुआ मान लेना पश्चिमकी अवैज्ञानिक, अप्राकृतिक मनमानीका ज्वलन्त प्रमाण है। सारे संसारमें भारतीय कालगणना-पद्धति ही वैज्ञानिक है और विश्वसनीय है, वही तर्कसम्मत एवं तर्कसंगत है और उसके अनुसार दिनका शुभारम्भ भगवान् सूर्यके उदय तथा समापन उनके अस्तसे होता है, इसलिये जन्मदिन या अन्य संस्कारोंको सम्पन्न करनेकी भारतीय परम्परा दिनमें ही है, परंतु पश्चिमकी रात्रिप्रधान निशाचरी कल्चरका अन्धानुकरण करके रातके बारह बजे केक कटवाकर, मोमबत्तियाँ बुझाकर 'बर्थ-डे' सैलिब्रेट करना और स्वस्तिवाचनके स्थानपर 'हैप्पी बर्थ-डे' चीखना मूढ़ताकी पराकाष्ठा ही तो है।

प्रातःस्नान करके भगवान् सूर्यको अर्घ्य देकर मन्दिरमें भगवान्‌की पूजा करके सभी गुरुजनोंके आशीर्वाद ग्रहण करके, हवन करके, दीनों-दुखितों, वंचितों, पीड़ितों एवं गोमाताकी सेवा-सहायता करके महोत्सवपूर्वक जन्मदिवस मनाना चाहिये।

उत्सव मनाना हो तो सन्ध्यामें गणपति-प्रतिमाके सम्मुख अपने जीवनके विगत वर्षोंकी संख्याके बराबर दीपक जलाकर, स्वस्तिवाचन कराकर, प्रसाद—मोदक वितरण करके जन्म-दिवसका उल्लास व्यक्त करें और मधुर स्वरसे बधाई दे—'जन्म-जयन्ती मंगलमय हो।'

वर्षारम्भ चैत्रसे ही होता है

हिमाच्छादित ठिठुरती धरतीपर पतझड़के मौसममें ३१ दिसम्बरकी रात १२ बजे, शोर मचाकर, शराब पीकर, परपुरुषों या परस्त्रियोंके साथ नाच-गाकर वर्षारम्भ भारतीय जीवनचर्या तथा वैज्ञानिकताके विपरीत है।

वर्षारम्भ वसन्त ऋतुमें नवपल्लवित वृक्षों और नवरागपूर्ण पुष्पोंके प्राकृतिक उल्लासमें चैत्रशुक्ल प्रतिपदासे होता है। भारतीय मास-पक्ष सर्वथा वैज्ञानिक हैं। शुक्लपक्ष विकासका तथा कृष्णपक्ष क्षयका प्रतीक है। सातों वार ग्रहोंपर एवं बारह मास चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढ़, श्रवण, भद्रा, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा और उत्तराफाल्गुनी-जैसे नक्षत्रोंपर आधारित हैं।

चैत्र शुक्ल प्रतिपदाके दिन सृष्टिका, पृथ्वीका सृजन भगवान्‌ने किया था; इसलिये भगवती पृथ्वीके जन्ममहोत्सवके रूपमें नवदिवसीय मातृपूजनका अनुष्ठान करते हुए नववर्षका स्वागत करना ही तर्कसंगत और प्रकृति-सम्मत है।

लक्ष्मी-पूजन

भारतीय प्रज्ञाने सर्वत्र मातृ-सत्ताके दर्शन किये हैं। पृथ्वीमें, नदियोंमें, वृक्षोंमें, गीता, श्रुति आदि ग्रन्थोंमें, गायत्री-जैसे मन्त्रोंमें मातृदर्शन करना, धनमें लक्ष्मीमाता, ज्ञानमें सरस्वतीमाता तथा शस्त्रोंमें शक्ति या दुर्गा-कालीमाताके दर्शन करना हिन्दूदर्शनकी अद्वितीय विशेषता है। इसलिये वसन्तपंचमीपर सरस्वती-पूजन, विजयादशमीपर दुर्गापूजन एवं दीपावलीपर लक्ष्मी-पूजनका आयोजन भारतीय जीवनचर्याके महत्त्वपूर्ण उपक्रम है।

सम्पूर्ण सृष्टिके विशेषतया मानवीय सृष्टिके संचालनकी प्रक्रियामें धनकी भूमिका सर्वोपरि है, किंतु उसके निरंकुश संग्रह और दुरुपयोगसे केवल वैषम्य और विषाद ही उत्पन्न होता है, इसलिये भारतीय महर्षियोंने कहा—धन लक्ष्मी है और लक्ष्मी माँ है, माँ सबका पालन करती है, पोषण करती है, सबको विकसित करती है, वह प्रणम्या

है, उससे प्रसाद ग्रहण करोगे और उसे सबतक पहुँचाओगे तो सुखी रहोगे, किंतु यह ध्यानमें रखो कि वह भोग्या नहीं है, उसे भोगनेकी लालसा मत रखना, अन्यथा नष्ट हो जाओगे।

कर्तव्यपालनके विशिष्ट दिन

'मदर्स-डे', 'फादर्स-डे', 'वर्कर्स-डे' या 'वैलेण्टाइन-डे' इसी प्रकारकी मूर्खताएँ हैं। जीवनका प्रत्येक दिन माता-पिता, गुरुजन, मित्र, अतिथि, अध्यापक, श्रमिक, कर्मचारी या ग्राहकजनके प्रति निरन्तर सद्व्यवहार एवं सम्मान व्यक्त करनेका, उनकी यथोचित सेवा-सहायता करनेका दिन होना चाहिये।

भारतीय जीवनचर्या जन्मसे मृत्युपर्यन्त सतत एवं निरन्तर मन-वचन और कर्मसे सबके प्रति सदा सद्व्यवहार करनेके संस्कारोंसे प्रेरित, प्रोत्साहित और अनुप्राणित होती है। औपचारिकता-पूर्तिहेतु यन्त्रवत् प्रदर्शनकी प्रवृत्ति 'वेस्टर्न कल्चर' की देन है।

एकनिष्ठ प्रेम और परिवार-संस्कृति

भारतीय जीवन-दर्शन या भारतीय संस्कृतिका मूल परिवार है। जबकि पश्चिमी सभ्यताका आधार बाजार है। परिवारमें सब कुछ टिकाऊ और बाजारमें सब कुछ बिकाऊ होता है। पश्चिमका बाजारवाद भारतीय जीवनचर्याको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये कटिबद्ध है।

बाजारमें किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं। वहाँ सब कुछ पैसा है। परिवारमें सबसे सबके अटूट सम्बन्ध होते हैं और उनका आधार निःस्वार्थ स्नेह एवं प्यार होता है।

भारतीयताकी भावनात्मक आत्मीयताके द्योतक हमारे यहाँ प्रचलित सम्बन्धसूचक सम्बोधन हैं। माँ, अम्मा, पिताजी, बाबूजी, दादाजी, दादीजी, नानाजी, नानीजी, भाई-बहन-जैसे सम्बन्धसूचक नाम और सम्बोधनोंकी तुलनामें पश्चिम और अंग्रेजी—दोनों कितने दरिद्र हैं? केवल अंकल एवं आंटीसे वहाँका काम चल जाता है।

क्या पश्चिमी जीवनमें समधी, समधिन, जेठ, जेठानी, देवर, देवरानी, आचार्यश्री, आचार्यपत्नी, गुरुदेव, गुरुमाता-जैसे सम्बन्धों और सम्बोधनोंकी सुगन्ध किसीने अनुभव की है? अध्यक्षकी गरिमा 'चेयरमैन' (कुर्सी-आदमी)-में कहाँसे आयेगी? 'श्रीमान्' या 'श्रीमन्' के सामने 'सर' फटीचर नहीं लगता? 'महोदया' में क्या कमी है, जो 'मैडम' बोला जाय? 'महिला' का मुकाबला 'लेडी' कैसे करेगी? 'देवियो' और 'सज्जनो' की भावना 'लेडीज़ एण्ड जेण्टिलमैन' में कैसे व्यक्त होगी?

इसलिये जो लोग अपने परिवारको बाजार नहीं बनाना चाहते, उन्हें परिवारके प्रत्येक शिशु, बालक, किशोर और युवा सदस्यको भारतीय सम्बन्धों एवं सम्बोधनोंका तन्त्र समझाना और उसीके अनुसार सम्बन्धितोंको सम्बोधित करने तथा आदर देनेके संस्कार देने चाहिये।

वेशभूषा, भोजन और भावना

भारतीय वेशभूषा भारतकी जलवायु एवं प्राकृतिक पर्यावरणके अनुरूप हमारे पूर्वजोंने निर्धारित की थी। उसकी व्यावहारिकता, उपयोगिता एवं सौन्दर्यके प्रति अपने बच्चोंके मनमें आकर्षण और अनुराग उत्पन्न न करके उन्हें शैशवसे ही जीन्स, पैंट और सिंथेटिक रेडिमेड टाइट कपड़ोंसे लादे रखना और असंगत, अप्रासंगिक अंग्रेजी वाक्यों, अक्षरों एवं डिजाइनोंसे भरपूर गारमेण्ट्स पहनाना अत्यन्त शर्मनाक बात है। यही बात भोजनके विषयमें समझी जानी चाहिये।

संसारका सर्वश्रेष्ठ भोजन भारतीय भोजन है। स्वादमें, सुरुचिमें, पौष्टिकतामें, सात्त्विकता और सुपाच्यतामें भारतके भोजनों, व्यंजनों एवं मिष्टान्नोंकी कहीं कोई तुलना नहीं है। अपनी सन्तानोंमें भारतीय भोजन और व्यंजनोंके प्रति अटूट रुचि और निष्ठा उत्पन्न करना प्रत्येक माता-पिता और अभिभावकका कर्तव्य है। भोजन भी हाथ-पैर धोकर पवित्र आसनपर बैठकर ही होना चाहिये।

भारतीय भावना भोगोंपर नहीं भक्तिपर केन्द्रित है। प्रत्येक प्राणी और पदार्थमें भगवान्‌की या भगवत्कृपाकी झलक पाना भारतीय भावनाका मूल है। अन्नमें भी यही भाव रहना चाहिये। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश भगवद्रूप हैं। वृक्ष, वनस्पति, अन्न, फल, शाक, पशु, पक्षी, जीव, जन्तु, पर्वत, सर, सागर एवं सरिताएँ—सभी भगवत् स्वरूप हैं, यह भावना ही भारत-भारती है, इसे विकसित करोगे तो जग और जीवन दोनों धन्य हो जायँगे।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते

भारतीय भावना नारीके सर्वोच्च सम्मानकी भावना है। भारतीय समाज पुत्रीको भी जगज्जननी माता दुर्गा अथवा लक्ष्मीके रूपमें देखता है। हमारे द्वारपर हमारी बेटीको ले जानेके लिये सुसंस्कारसम्पन्न कुलका वर बारात लेकर आये—यह कामना परम पावन कामना है। इसी प्रकार अपने वंशके विस्तार तथा कुलके गौरवको बढ़ानेवाली वधूका हमारे कुलमें पदार्पण हो—यह अभिलाषा अपने तथा सम्पूर्ण समाजके लिये मंगलमयी है।

इसलिये प्रत्येक विवेकी भारतीय परिवारको भावी कुलवधूके पिताके द्वारपर विनम्रतापूर्वक उपस्थित होकर वहीं पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न करके वधूको ससम्मान अपने घर लाना चाहिये। वधूका अपने घरमें आगमन लक्ष्मीका आगमन है और लक्ष्मीको उसके घर जाकर आदर-सम्मानपूर्वक अपने घरमें लाना—यही शिष्ट और सज्जनोचित आचरण है।

दहेजकी वसूली और कन्याको उपहार

अपनी बेटीको प्रसन्नतापूर्वक अधिक-से-अधिक उपहार देना भारतीय माता-पिताका कर्तव्य है, किंतु अपने समधीसे दहेज माँगना, अपने पुत्रके पालन-पोषण या शिक्षा-दीक्षापर व्यय किये गये एक-एक पैसेको वसूल करना अशिष्टता, अकुलीनता तथा अभद्रताका ही परिचायक है। पिताकी सम्पदामें विवाहिता बेटियोंका समान अधिकार घोषित करके शासनने सनातन स्नेह, आत्मीयता और निष्काम सम्बन्धोंमें विष घोल दिया है; भारतीय समाजको नष्ट होनेसे बचानेके लिये बेटियोंको आजीवन देते रहने और उन्हें सँभालते रहनेकी सनातन परम्पराकी रक्षा की जानी चाहिये।

शिखा, सूत्र और तिलक

मस्तकपर रखी गयी शिखा अन्तरिक्षमें व्याप्त ऊर्जादायिनी विद्युत् तरंगोंको ग्रहण करके मस्तिष्कको आरोग्य और ऊर्जा प्रदान करती है।

यज्ञोपवीतके तीन सूत्र देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋणको चुकानेके लिये यज्ञकर्म, परोपकार, स्वाध्याय, ज्ञानार्जन एवं सत्कर्म करते रहनेकी प्रेरणा देते हैं। प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य-बालकको यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञके यजनका अधिकारी बनना चाहिये।

महिलाएँ एवं शूद्र ऋणी नहीं हैं, ये दोनों समाजकी इतनी अधिक सेवा करते हैं कि समाज ही इनका ऋणी है; अतः इन्हें ऋण-सूचक यज्ञोपवीत धारण करनेकी आवश्यकता नहीं होती। विवाहिता महिलाओंको मंगलसूत्र और सिन्दूर तथा शूद्रोंको तुलसीकी कंठी या माला धारण करना चाहिये।

तिलक प्रत्येक भारतीय सन्तानके ललाटकी शोभा है। उससे भाग्य चमकता है और दुर्भाग्यका प्रभाव क्षीण होता है।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके द्वार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धको ग्रहण करनेवाले कान, नेत्र, जिह्वा (मुख) एवं नासिका तथा त्वचाके कोटिशः रोमकूप ललाटके नीचे ही रहते हैं। इन सबके शीर्षपर पुरुषोंद्वारा शिखा एवं तिलक तथा महिलाओंद्वारा सिन्दूर और बिन्दीको यदि यथोचित स्थानपर स्थापित किया जाता है तो किसी भी देहद्वारसे अनिष्ट, अमंगल और अशुभ अन्तःकरणमें उसी प्रकार प्रवेश नहीं कर पाते, जिस प्रकार निवास-स्थानके द्वारपर स्थापित गणपतिके नीचेसे कोई अनिष्ट-अमंगल भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाते।

यह सदा स्मरण रखा जाना चाहिये कि सुहाग-सिन्दूर मस्तकके बीचोंबीच निकाली गयी सीधी माँगमें भरा जाना चाहिये और बिन्दी लाल ही होनी चाहिये। सुहागसिन्दूर एवं सुहागबिन्दी आस्था तथा मंगलका प्रतीक है।

भगवान्‌के श्रीविग्रह एवं चित्र कहाँ हों ?

अखबारोंमें बेरोकटोक भगवान्‌के चित्र छापना, लेने-देनेके लिफाफोंपर गणपतिके चित्र छापना प्रतिबन्धित किया जाना चाहिये; क्योंकि अखबारोंकी रद्दी एवं उपयोगमें लिये गये गिफ्ट कवर्सको फाड़ा जाना तथा उनका जैसा-तैसा उपयोग होना स्वाभाविक है। उस स्थितिमें भगवान्‌के चित्रोंका अपमान होता है।

दूकानों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानोंके नामकरणमें भी भगवान्‌का अपमान न हो—यह ध्यान रखा जाना चाहिये। बजरंगबली शू हाउस, दुर्गा मीट शॉप, बालाजी पोल्ट्री फॉर्म, विष्णु वाइन स्टोर, तुलसी जाफरानी जर्दा, हनुमान्

वनस्पति, छत्रपति शिवाजी छाप सिलर बीड़ी, गोपाल छाप जर्दा-जैसे ब्राण्ड हिन्दुओंकी पतित मनोवृत्तिके ही परिचायक हैं।

स्वरुचिभोज या कुरुचिभोज ?

जन्मदिवसों, विवाहों अथवा उद्‌घाटनों-जैसे अवसरोंपर स्वरुचिभोजके नामसे कुरुचिभोजों, गिद्धभोजों या पशुभोजोंका आयोजन भारतीय संस्कृतिकी कपालक्रिया है। खड़े-खड़े भोजन करना केवल पशुओंका लक्षण है। आदरपूर्वक अच्छे आसनोंपर बैठाकर सम्मानजनक ढंगसे जो आयोजक अपने अतिथियोंको भोजन नहीं करा सकता, उसके निमन्त्रणको स्वीकार करना भी पड़े तो वहाँ भोजन कदापि नहीं करना चाहिये।

ऐसे आयोजक तर्क देते हैं कि इतने जन-समूहको परोसनेके लिये लोग कहाँसे लायें, इसका उत्तर यही है कि तुम किसीके यहाँ सेवा-सहयोगके लिये जाओगे तभी तो कोई तुम्हारे यहाँ सहयोगके लिये आयेगा।

यह नहीं भूलना चाहिये कि भगवान् कृष्णने राजसूय यज्ञमें भोजन करनेवाले अतिथियोंकी जूठी पत्तलें उठायी थीं।

स्थिरतापूर्वक हाथ-पैर धोकर जमीनपर आसन बिछाकर, बैठकर भोजन करना तथा कराना संसारकी सर्वश्रेष्ठ भोजनपद्धति है।

महत्त्वपूर्ण नियम

प्रतिदिन प्रातः भगवान् सूर्यको जल चढ़ाना, देवमन्दिरमें दर्शन करना, गोग्रास एवं अतिथिको भोजन कराकर भोजन करना, तुलसीके सम्मुख सन्ध्यामें दीपक जलाना, प्रभात एवं सन्ध्यावेलामें विषयभोगोंसे दूर रहना—ये सब मंगलमय नियम हैं।

किसी भी स्थितिमें मांस, मछली, अण्डा, शराब, गाँजा, भाँग, अफीम और हिंसासे प्राप्त चमड़ेकी वस्तुओंका उपयोग न करनेवाला सद्‌गृहस्थ सत्पुरुष ही भगवान्‌की विशेष कृपाका पात्र बनता है।

गृहस्थोंके लिये साधारण नियम

१-प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठो।

२-उठते ही भगवान्‌का स्मरण करो।

३-शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर भगवान्‌की उपासना, सन्ध्या, तर्पण आदि करो।

४-बलिवैश्वदेव करके समयपर सात्त्विक भोजन करो।

५-रोज प्रातःकाल माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंको प्रणाम करो।

६-इन्द्रियोंके वश न होकर, उनको वशमें करके उनसे यथायोग्य काम लो।

७-धन कमानेमें छल, कपट, चोरी, असत्य और बेईमानीका त्याग करो। अपनी कमाईके धनमें यथायोग्य सभीका हक समझो।

८-माता-पिता, भाई-भौजाई, बहन-फूआ, स्त्री-पुत्र आदि परिवारका आदर और प्रेमसे पालन करो।

९-अतिथिका सच्चे मनसे सत्कार करो।

१०-अपनी हैसियतके अनुसार दान करो। पड़ोसियों तथा ग्रामवासियोंकी सत्कारपूर्ण सेवा सदा करो।

११-सब कर्मोंको बड़ी सुन्दरता, सफाई और नेकनीयतीसे करो।

१२-किसीका अपमान, तिरस्कार और अहित न करो।

१३-अपने किसी कर्मसे समाजमें विशृंखलता और प्रमाद न पैदा करो।

१४-मन, वचन और शरीरसे पवित्र, विनयशील और परोपकारी बनो।

१५-सब कर्म नाटकके पात्रकी भाँति अपने न मानकर करो, परंतु करो ठीक सावधानीके साथ।

१६-विलासितासे बचे रहो—अपने लिये खर्च कम लगाओ। बचतके पैसे गरीबोंकी सेवामें खर्च करो।

१७-स्वावलम्बी बनकर रहो—दूसरेपर अपने जीवनका भार न डालो।

१८-निकम्मे कभी मत रहो।

१९-इस बातका पूरा ख्याल करो—अन्यायका पैसा, दूसरेके हकका पैसा घरमें न आने पाये।

२०-सब कर्मोंको भगवान्‌की सेवाके भावसे—निष्कामभावसे करनेकी चेष्टा करो।

२१-जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, भोग नहीं—इस निश्चयसे कभी न टलो और सारे काम इसी लक्ष्यकी साधनाके लिये करो।

वर्तमानकालमें आश्रम-व्यवस्थाकी प्रासंगिकता

(स्वामी श्रीविवेकानन्दजी सरस्वती)

किसी भी कार्यको सम्यक् रूपसे सुसम्पादित करनेकी विधापर कार्य प्रारम्भ करनेसे पूर्व ही यदि उस कार्यके सम्पन्न करानेवाले कारणोंपर विचार किया जाय और उसके निमित्त उपादान—सहयोगी कारणोंपर विचारकर, उनके विविध पक्षोंकी समीक्षाकर प्रारम्भसे कार्यके पूर्ण होनेतक कार्यके फलाफलका समीक्षण कर लिया जाय, तो कार्य निर्विघ्नरूपसे सम्पन्न होता है।

कोई व्यक्ति यदि भवनका निर्माण कराना चाहता है तो वह वास्तुविशारदके पास जाकर अपनी इच्छा व्यक्त करता है। वास्तुविशारद उसके इच्छानुसार भवननिर्माणका एक चित्र निर्मित करता है, जिसमें भवननिर्माणमें प्रयुक्त होनेवाली सभी प्रकारकी आवश्यक सामग्रियोंका तथा उसके कर्मकरों एवं उसकी निर्मितिके समयका भी सम्यक् आकलन होता है। अभियन्ता भवननिर्माताके समक्ष भवनकी सारी रूपरेखा प्रस्तुत कर देता है। वह यह भी बता देता है कि इस-इस प्रकार इन-इन साधनोंसे निर्मित भवनकी आयु इतनी है।

उपरिनिर्दिष्ट उदाहरणके अनुसार मनुष्य-जीवनरूपी भवनके निर्माणके विषयमें हमारे प्राचीन वैदिक मनीषियोंने प्रारम्भमें ही गहन चिन्तन किया। वे यह मानकर चले कि मनुष्यजीवनकी आयु सौ वर्ष है—'**शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रियः**' (श०ब्रा० का० १२, प्र० ७, ब्रा० २, कं० १३)। '**पश्येम शरदः शतम्**' (यजु० ३६।२४)-को उन्होंने अपने चिन्तनका आधार बनाया। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यकी पूर्ण आयु सौ वर्ष है तथा सुविधार्थ कार्यकी दृष्टिसे उन्होंने इसको चार भागोंमें विभक्त किया—शैशव, यौवन, प्रौढ़ता एवं वार्धक्य। महाकवि कालिदासने रघुवंशी राजाओंके जीवन-चरित्रोंका वर्णन करते हुए इनके कार्यका भी स्पष्ट निर्देश कर दिया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

(रघुवंश १।८)

अर्थात् शैशवकालमें जीवनक्षेत्रमें आवश्यक विद्याओंका अभ्यास, यौवनावस्थामें गृहस्थधर्मका पालन, प्रौढ़ावस्था एवं वार्धक्यमें राज्यका परित्यागकर वानप्रस्थका समाश्रयण और अन्तमें इन सबका न्यास-परित्यागकर योगारूढ़ हो नश्वर शरीरका परित्याग करना।

नीतिकारोंने इसी बातको दूसरे प्रकारसे कहा है—

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥

(चाणक्यनीति ९३)

वास्तवमें यह सृष्टिकी स्वाभाविक प्रक्रिया है। महाभाष्यकार पतंजलि एवं यास्काचार्यने पदार्थोंके सम्बन्धमें भी कुछ ऐसा ही कहा है—

षड्भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति॥ (निरु० १।१)

इस प्रकारसे यदि **अस्ति** और **विपरिणमते**का समावेश क्रमशः **जायते** और **वर्धते**में कर दिया जाय तो ये भी चार ही होंगे। इस प्रकारसे यह निसर्गसिद्ध-अवस्था है। इस अवस्थामें व्यवस्था लानेका प्रयास (उपक्रम) हमारे वैदिक मनीषियोंके द्वारा किया गया है, जिसे उन्होंने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमकी व्यवस्थाके नामसे उद्घोषित किया। इस व्यवस्थाका स्वरूप काल्पनिक नहीं है, अपितु निसर्गके तुल्य है। तत्त्वदर्शी महर्षियोंके द्वारा निर्मित आगमों तथा ईश्वरकी शाश्वतिक वाणी-निगमोंमें भी इसका स्पष्ट समुल्लेख किया गया है। यथा—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।

(श०ब्रा० का० १४, जाबालोपनिषद् खण्ड ४)

ब्रह्मचर्य समाप्तकर गृहस्थ होवे, गृहस्थ समाप्तकर वानप्रस्थी तथा वानप्रस्थ-आश्रम समाप्तकर संन्यासी होवे।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्। वनाद् वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्। (अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद् खण्ड ४)

जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन घर या वन अर्थात्

गृहस्थसे या वानप्रस्थसे अथवा इन दोनोंको न करके सीधे ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास ले ले।

वेदोंमें **ब्रह्मचर्येण** (अथर्व० ११।५।१७), **ब्रह्मचारी** (अथर्व० ११।५।१) शब्दोंके प्रयोगके द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम, **गृहपते** (ऋक्० ६।१५।१९), **गृहपत्नी** (ऋक्० १०।८५।२६) शब्दोंके प्रयोगके द्वारा गृहस्थाश्रम तथा **यतयः** (ऋक्० ८।६।१८) एवं **विजानतः** (यजु० ४०।७) शब्दोंके प्रयोगके द्वारा वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रमका संकेत प्राप्त होता है।

शतपथब्राह्मणमें तो एक स्थानपर कहा गया है—

पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। (श०ब्रा० का० १४, प्र० ६, ब्रा० ४ कं० १)

अर्थात् लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणाका परित्यागकर संन्यास-आश्रमका आश्रय लेते हैं।

इस प्रकार यह आश्रम-परम्परा शास्त्रसम्मत एवं लोकसम्मत व्यावहारिक परम्परा है। एक स्थलपर विद्याकी परिपूर्णताका ज्ञापन कराते हुए महर्षि पतंजलिने लिखा है—

चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

यहाँ भी लगभग उन चार अवस्थाओंका ही वर्णन किया गया है। इसके द्वारा जीवनको इस रूपमें विभक्त किया जा सकता है—**आगमकाल**—विद्याका अर्जन, **स्वाध्यायकाल**—इसका परिवर्धन और संकलन, **प्रवचन-काल**—संकलनका आवण्टन एवं **व्यवहारकाल**—उसका जीवनमें साक्षात् प्रयोग।

मनुष्यकी जीवनयात्रा सौ वर्षकी मानकर ऋषियोंने इसको चार भागोंमें विभक्त किया, जिसको पड़ाव कह सकते हैं अर्थात् यहाँ रुककर (ठहरकर) या विश्रामकर अगली यात्राकी पूरी साजसज्जा (तैयारी) करते हैं। **आ+श्रम्+घञ्= आङ्** उपसर्गपूर्वक **श्रम् (श्रमु तपसि खेदे च)** धातुसे **घञ्** प्रत्यय करके आश्रम शब्द निष्पन्न होता है। आश्रम शब्दका शाब्दिक अर्थ है—**'आश्रम्यन्ति स्वं स्वं तपश्चरन्ति यत्र'** अर्थात् जहाँ रुककर मनुष्य अपने भावी जीवनके अभ्युदयके लिये पुरुषार्थ करता है। इस आश्रम-व्यवस्थाकी धार्मिक दृष्टिसे ही नहीं, अपितु सामाजिक दृष्टिसे, राष्ट्रीय दृष्टिसे या यों कहें कि मानवीय (वैश्विक) दृष्टि अर्थात् विश्वकी समस्त मानवजातिके उत्थानकी दृष्टिसे रचना की गयी है। यह आश्रमव्यवस्था एक सोपान है, जिसपर आरूढ़ होकर मनुष्य अपने अन्तिम लक्ष्य—स्वात्मानन्दमें अवस्थित हो जाता है, उसको सहजतासे प्राप्त कर लेता है। इस आश्रमव्यवस्थारूपी सोपान-परम्पराके द्वारा वह सांसारिक ऐहिक कार्योंको सम्पन्न करता हुआ राग-द्वेष, मोह-ममताका परित्यागकर अशेष प्रपंचका उपशमन करता हुआ द्वन्द्वातीत—निर्द्वन्द्व होकर अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है।

सृष्टिमें स्वाभाविक रूपसे सभी प्राणियोंमें या सभी स्थलोंपर एक प्रक्रिया दिखायी देती है। अरण्यमें वृक्ष, वनस्पति, औषधि तथा उसके अनुकूल, प्रतिकूल सभी जीव-जन्तु अवस्थित रहते हैं, वहाँ सब कुछ होनेपर भी कोई जीव निश्चिन्त एवं निर्भय नहीं है। उनका विकास वहाँ उस प्रकार नहीं हो पाता, जिस प्रकार उद्यानमें होता है। कारण स्पष्ट है—अरण्यमें सभी वस्तुएँ अवस्थित हैं, व्यवस्थित नहीं हैं। जैसे—वृक्षोंका अत्यधिक पार्श्व-पार्श्व एवं अव्यवस्थित रूपमें होना उनके सर्वांगीण विकासमें साधक न होकर बाधक ही होता है। यथासमय उन वृक्षोंको जल तथा उर्वरक भी प्राप्त नहीं होते हैं, उनके विकासमें विलम्बके साथ अपूर्ण विकासकी भी सम्भावना बनी रहती है। दूसरी ओर यदि हम उद्यानकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो उद्यानके स्वामीके द्वारा विविध वृक्ष, वनस्पति, औषधियोंका यथास्थान आरोपण, प्रत्यारोपण एवं यथाकाल जलसिंचन, उर्वरक एवं उनके विरोधी तत्त्वोंसे उनको सुरक्षा प्रदान की जाती है; इसीलिये उसमें रहनेवाले सभी प्राणी निर्भय होकर सुखपूर्वक विचरते हैं।

जिन वृक्षादिके विकासके लिये अरण्यमें अधिक समय लगता है, उद्यानोंमें उससे कम समयमें ही उन वृक्षोंका विकास हो जाता है। इसमें मुख्य कारण है—जंगलों तथा अरण्योंमें ये सभी चीजें अवस्थित हैं, व्यवस्थित नहीं। दूसरे शब्दोंमें इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जंगलोंमें अवस्था है, व्यवस्था नहीं। मानव- जीवनको इस आरण्य-अवस्थासे मुक्त कराकर उद्यानकी सुखद, सुरम्य व्यवस्था प्रदान करना ही आश्रम-व्यवस्थाका मुख्य ध्येय है।

अब प्रश्न होता है कि क्या यह आश्रम-व्यवस्था वर्तमान कालमें भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी अपने उद्भवकालमें थी? हमारा कहना यह है कि वर्तमान समयमें मानवजातिकी अवस्था सर्वथा आरण्यकी-अवस्थासे भिन्न नहीं है। इसका प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तमान कालकी सामाजिक अवस्थाको देखनेसे होता है। नवयुवकोंका अनियन्त्रित जीवन, वृद्धोंके लिये वृद्धाश्रम तथा शिशुओंके लिये पृथक् स्थानका निर्माण करना आदि हमें यह बता रहा है कि वर्तमान अवस्थाको व्यवस्था कहना ही अनुचित है। नित्यके नये-नये असन्तोष, अशान्ति और विद्रोह इस बातको साक्ष्य प्रदान करते हैं कि इस समय पूर्ववत् या पूर्वकालकी भाँति आश्रम-व्यवस्थाका पुनः शुभारम्भ होना चाहिये। जब रोग अधिक बढ़ता है तो उस रोगके उपशमनार्थ रोगीको उचित औषधि देनेका वही उचित काल होता है। रोगीके लिये कल्याणकारी उचित औषधिको यह कहकर नहीं प्रदान करना कि यह औषधि तो पुराने युगकी है, बुद्धिमत्ताका कोई लक्षण नहीं है।

प्राचीन आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार प्रारम्भिक अवस्थामें अर्थात् पचीस वर्षतक बालकको अपनी विद्या तथा भावी जीवनके उत्थानके उपयोगमें आनेवाली प्रत्येक वस्तुके विकासका पूर्ण सुनियोजित, सुव्यवस्थित, सुरक्षित सुअवसर प्रदान किया जाता था। उसके चतुर्दिक् विकासके लिये उसको इस प्रकारके परिसर, वातावरणमें रखा जाता था, जिससे उसे उस अवस्थाकी विरोधी शक्तियोंका सामना न करना पड़े और ऐसी ही सुव्यवस्था वैदिक मनीषियोंकी भाषामें ब्रह्मचर्य-आश्रम-व्यवस्था कही जाती थी। इसी प्रकारसे गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमकी व्यवस्था भी थी। इस प्रकारकी व्यवस्थाके कारण सभी उद्यानकी भाँति अन्योन्य (एक-दूसरेके) सहयोगी बने रहते थे। वर्तमान अवस्थामें इस आश्रम-व्यवस्थाकी महती आवश्यकता है। यदि आलस्य, प्रमाद, अज्ञानताके कारण पूर्वकी कही जानेवाली आश्रम-व्यवस्थामें कोई दोष आ गया है, तो इस दोषका परिमार्जनकर उसके अवदात्त रूपमें उसको पुनः संचालित करना चाहिये। प्रतिश्याय (जुकाम) होनेपर उसका समुचित निदान न कर नाक कटवा देना कोई समुचित उपचार नहीं है।

आक्रान्ता जब आक्रमण करता है तो उसके आक्रमणके प्रभावको रोकनेके लिये उचित उपाय करना ही बुद्धिमानी है। वर्तमान समयमें सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैश्विक अवस्था विरोधी अवस्थाओंसे आक्रान्त है, उनकी सुरक्षाका साधन एकमात्र वैदिक मनीषियोंद्वारा सुचिन्तित आश्रम-व्यवस्था ही है, दूसरी व्यवस्था नहीं। वृक्षसंवर्धनके लिये उसके मूलमें ही उर्वरक, पानी देना उसके विकासमें सहयोगी हो सकता है, पत्तोंपर जलसिंचन करना तो क्षणिक लाभदायक प्रतीत होता है।

आज हमें विश्वके पुनरुद्धारके लिये इस आश्रम-व्यवस्थाके मूलको जलसे सिंचित करनेके प्रयासमें जुट जाना चाहिये—'**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**'

ठहरो, थोड़ा सोचो

(श्रीप्रशान्तजी अग्रवाल, एम०ए०, बी०एड०)

क्यों जन्मे क्यों जिये जा रहे, ठहरो, थोड़ा सोचो।
क्या आयेगा साथ तुम्हारे, जिसको निसि-दिन जोड़ो॥
सारी उमर बितायी तुमने, गुणा-भाग ही करते।
अन्तकाल सब शून्य हो गया, रिक्त पोटली चलते॥
क्षणभंगुर सुखों की खातिर, लाखों दुःख उठाते।
स्वर्ण छोड़कर पीतल को ही, अपना ध्येय बनाते॥
दुर्लभ मानव तन ये पाया, फिर भी व्यर्थ गवाँते।
तुम भी ये सब जानो, फिर भी जाने क्यों बिसराते॥
बचा हुआ जो समय कीमती, उसका लाभ उठाओ।
भौतिकता के पथ से लौटो, मूल तत्त्व को ध्याओ॥
परमारथ के पथ पर चलकर, मिलता सच्चा सुख है।
बाकी सब इस माया-जग में, सुख के भ्रम में दुःख है॥

आश्रम-चतुष्टयपर एक विहंगम दृष्टि

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

चार वर्ण और चार आश्रम प्राचीनकालिक हैं अर्थात् वैदिक कालीन हैं। इसलिये मनुस्मृतिमें कहा भी है कि—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥

(मनुस्मृति १२। ९७)

वेदके कथनानुसार चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), तीनों लोक (भूलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक), चार आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम) तथा भूत, भव्य और भविष्य—ये तीनों काल वेदसे ही सिद्ध होते हैं, परंतु इस प्रसंगमें हम केवल आश्रम-चतुष्टयके सम्बन्धमें ही संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करनेका प्रयास करेंगे।

आश्रम शब्द '**आ+श्रम्+आधारे घञ्**' से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम आदि। इनके अतिरिक्त ऋषि-मुनियोंका निवासस्थान, साधु-संन्यासियोंका मठ, तपोवन तथा विद्यार्थियोंका निवासस्थान आदि यह भी आश्रमपदका अर्थ है। मनुष्य-जीवनमें भी साधारणतः चार अवस्थाएँ होती हैं—किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। इसी प्रकारसे चार आश्रम भी हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम।

शास्त्रमें कहा है कि '**शतायुर्वै पुरुषः**' मनुष्यकी आयु अन्यून सौ वर्ष मानी गयी है, परंतु सौ वर्षोंतक मनुष्य एक ही अवस्थामें बना रहे—यह हमारे आर्य ऋषियोंको मंजूर नहीं था। यही कारण है कि उक्त सौ वर्षके कालको २५-२५ वर्ष करके चार आश्रमोंके रूपमें विभाजित किया गया। जैसे २५ वर्षतक ब्रह्मचर्याश्रम, २५ वर्षतक गृहस्थाश्रम, २५ वर्षतक वानप्रस्थाश्रम और २५ वर्षतक संन्यास-आश्रम निर्धारित किया गया है। कारण यह है कि मानव-जीवन केवल जागतिक भोग-विलासके लिये नहीं मिला है, प्रत्युत अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये मिला है। इसलिये ऐसा विधान किया गया है।

(१) ब्रह्मचर्याश्रम—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। प्राचीन वैदिक कालकी मर्यादाके अनुसार बालकको यज्ञोपवीत-संस्कार करके विद्याध्ययनके लिये आचार्यकुल या गुरुकुलमें भेज दिया जाता था। आचार्यकुलमें ब्रह्मचारीको नियम-संयमपूर्वक रहकर विद्याध्ययन करना होता था। ब्रह्मचारीको आलस्य, प्रमाद तथा दीर्घसूत्रता आदि दोषोंका परित्याग कर देना होता था। ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक ही उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेनी होती थी। विद्या और ब्रह्मचर्यके पालनसे ही आयु, बल, पराक्रम, कीर्ति, यश तथा ब्रह्मवर्चस आदि गुण प्राप्त करने होते थे। इसलिये शास्त्रमें कहा भी है—

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥

(चाणक्यनीति ९३)

जिसने प्रथम अवस्थामें अर्थात् किशोर-अवस्थामें विद्या नहीं पढ़ी, द्वितीय अवस्था यानी युवावस्थामें धन नहीं कमाया और तृतीय अवस्थामें अर्थात् प्रौढ़ावस्थामें धर्म नहीं कमाया है अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये कोई उपाय नहीं किया है, वह भला चौथी अवस्थामें यानी बुढ़ापेमें क्या कुछ कर सकेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकेगा। इसलिये मनुमहाराजजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(मनुस्मृति २। १७६)

ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह नित्य प्रातःकाल उठकर नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर शुद्ध-पवित्र होकर देवता, ऋषि और परलोकवासी पितरोंका तर्पण करे तथा देवताओंकी पूजा-अर्चना करे। सन्ध्या-वन्दन तथा अग्निहोत्रादि यज्ञकार्य अवश्य किया करे। ब्रह्मचारी दो तरहके होते हैं—एक उपकुर्वाण और दूसरा नैष्ठिक। इसलिये गरुडपुराणमें कहा भी है कि—

ब्रह्मचार्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्मतत्परः॥
योऽधीत्य विधिवद्वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत्।
उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तकः॥

(४९। ६-७)

जो विधिवत् वेद-वेदांग आदि विद्याओंका अध्ययन पूर्ण करनेके बादमें गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है, उसे उपकुर्वाण ब्रह्मचारी कहा जाता है, परंतु जो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर

समस्त वेद-वेदान्तादिक विद्याओंका अध्ययन पूर्ण करके ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासाश्रममें प्रवेश कर जाता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है। इसलिये समस्त वेदादिक शास्त्रोंका अध्ययन करा करके आचार्य-गुरु स्वयं समावर्तन-संस्कार करा करके अपने अन्तेवासी उपकुर्वाण ब्रह्मचारियोंको लक्ष्य करके दीक्षान्त भाषण करते हुए गृहस्थसम्बन्धी कुछ खास-खास बातोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं—'**सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः**''''' (तै०उप० १। ११)।

हे सौम्य! तू सदा सत्य बोलना, धर्मका आचरण करना, स्वाध्यायमें कदापि प्रमाद मत करना। आचार्यको जो प्रिय हो उसे ही दक्षिणामें देना और उसीके आदेशानुसार गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना। गृहस्थाश्रममें प्रवेशकर सन्ततिसूत्रको अक्षुण्ण बनाये रखना, उसे कभी भी लोप होने न देना। धर्मपालनमें प्रमाद न करना और जिससे तुम्हारा कल्याण हो, ऐसे कार्योंमें प्रमाद मत करना। अपने ऐश्वर्यको बढ़ानेमें प्रमाद मत करना। देवताओं और पितरोंके प्रति जो तुम्हारा कर्तव्य है, उसे सदा ध्यानमें रखना और यथासमय उनके उद्देश्यसे कार्य सम्पन्न करना इत्यादि। उसके बाद समावर्तन-संस्कार किये गये उपकुर्वाण ब्रह्मचारीगण अपने-अपने घरमें जाकर विवाह-संस्कार आदि करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं।

(२) गृहस्थाश्रम—गृहस्थाश्रम दूसरा आश्रम है, जिसमें लोग विवाहादि करके गृहस्थ-धर्मका पालन करते हैं। विवाह-संस्कार पितृ-ऋणसे उऋण होनेके लिये किया जाता है। कारण यह है कि मनुष्य तीन ऋणोंसे ऋणी बनकर जन्म लेते हैं। अर्थात् देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण—ये तीन ऋण हैं। इन ऋणोंको चुकानेके लिये—हवन-यज्ञादिके द्वारा देव-ऋण, वेद-शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापन आदि कार्योंके द्वारा ऋषि-ऋण और विवाहित पत्नीमें पुत्रोत्पत्ति आदि कार्यके द्वारा पितृ-ऋण चुकाया जाता है। मनुष्य कर्मयोनिमें होनेके कारण उसीपर—ये तीनों ऋण लागू होते हैं, इतर योनियोंमें नहीं।

विवाह-संस्कार हमारे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनको सुव्यवस्थित बनाये रखनेके लिये एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। इसीसे स्त्री-पुरुष सुसंस्कृत तथा सभ्य बनते हैं और धर्मात्मा बनते हैं। अतः विवाह-संस्कारका मुख्य उद्देश्य है—सन्तान उत्पन्न करना और धीरे-धीरे उन्हें जीवनोन्नतिकी ओर ले जाकर निवृत्तिमार्गकी ओर अग्रसर करना, जिससे आगे चलकर वह मुक्ति—मोक्षको प्राप्तकर मनुष्य-जीवनको धन्य बना सके—सार्थक बना सके।

(३) वानप्रस्थाश्रम—वानप्रस्थाश्रम तीसरा आश्रम है। गृहस्थाश्रमका कार्य पूर्ण हो जानेपर इस आश्रममें प्रवेश करनेका विधान है। गृहस्थाश्रमके संस्कार नितान्त प्रबल होनेके कारण संन्यास-धर्मका ठीक-ठीक पालन नहीं हो सकता। इसीलिये गृहस्थाश्रमके संस्कारोंको निस्तेज दुर्बल बनानेके लिये ही बीचमें यह वानप्रस्थाश्रमका विधान किया गया है। अपने पुत्रका पुत्र अर्थात् पौत्रका मुख देख लेनेपर पितृ-ऋण चुक जाता है। वानप्रस्थाश्रम सबसे कठोरतम है; इसमें तप, त्याग, व्रत, अग्निहोत्र, जप, ध्यान तथा समाधि आदिका पर्याप्त मात्रामें अभ्यास करना होता है। तप और साधनाके द्वारा शरीरको सुखा देना होता है। केवल यही नहीं, किंतु आरण्यक, उपनिषद् तथा दर्शन, पुराण आदि ग्रन्थोंका अध्ययन, ग्रन्थ-निर्माण, देश-सुधार, राष्ट्र-निर्माण आदि कार्योंमें योगदान करना आदि भी इसी वानप्रस्थाश्रममें रह करके ही होता है। अरण्यमें वास करनेसे आत्मबल बढ़ता है, इससे मोक्ष-साधना तीव्रगतिसे आगे बढ़ती है, जिससे यतिधर्मके लिये वह अधिकारी बन जाता है।

(४) संन्यासाश्रम—संन्यास शब्द '**सम्+नि+अस्+घञ्**' से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है सम्यक् प्रकारेण परित्याग। अर्थात् जागतिक विषय-वस्तुओंसे पराङ्मुख हो जाना, छोड़ना या पूर्णतया परित्याग कर देना। दारा, पुत्र, इष्ट-मित्र आदि सभी सम्बन्धियोंसे सम्बन्ध तोड़ देना आदि सब संन्यास-धर्मके अन्तर्गत आ जाते हैं। समस्त सांसारिक कामनाओं-वासनाओं तथा एषणाओंका परित्याग करके पूर्ण वैराग्य धारण करना ही संन्यास है। गीतामें भी कहा है—'**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः**' (१८। २)। समस्त काम्य कर्मोंका परित्याग कर देनेका नाम ही संन्यास है। वेदमें भी कहा है कि—

य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः।
ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥ (ऋक्० ८। ६। १८)

हे इन्द्र! परमात्मन् प्रभो! जो '**यतयः**' वैदिक संन्यासीगण और भृगुवंशी श्रेष्ठ पुरुषगण आत्मकल्याण (आत्मोद्धार)-के लिये आपकी स्तुति-उपासना करते हैं—भजते हैं, मोक्षकी इच्छा करनेवाले हम भी आपकी उपासना करते हैं। आप हमारी स्तुतिको सुनें और हमारी आध्यात्मिक साधनामें सफलता प्रदान करें—सिद्धि दें। अन्यत्र भी कहा है—

'यद्देवा यतयो तथा भुवनान्यपिन्वत्॥'

(ऋक्० १०।७२।७)

इस मन्त्रमें भी **'यतयः'** शब्द संन्यासीके लिये आया हुआ है; क्योंकि संन्यासीको ही यति—संन्यासी तथा परिव्राजक आदि नामोंसे कहते हैं। इसी ऋग्वेदमें ही आगे भी कहा है—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ॥

(ऋक्० १०।१३६।२-३)

वातरशनके वंशज संन्यासीगण कषायवस्त्र धारण करते हैं। वे सब यति—संन्यासीगण देवस्वरूपको प्राप्त होकर हिरण्यगर्भकी गतिके अनुगामी हुए हैं। हम संसारके समस्त लौकिक व्यवहारोंका परित्याग करके उन्मत्तवत् आनन्दपरिपूर्ण परमहंस दशाको प्राप्त हो गये हैं। हम प्राणके जन्म-मरणरूप धर्मके ऊपर जन्म-मरणसे रहित ब्रह्मके लोकमें चढ़ गये हैं। हे मनुष्यो! तुमलोग हमारे (ब्रह्मलोकमय) शरीरको ही देखते हो, वास्तवमें तो हमारा व्यष्टि-उपाधिक आत्मतत्त्व तो समष्टि ब्रह्मस्वरूप ही हो गया है। अतः संन्यासधर्म वैदिक है, इसमें किंचित् मात्र सन्देह नहीं है। मनुस्मृति (६।३३) में भी कहा है कि— **'चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्॥'** आयुके तीसरे भागको वनमें बिताकर आयुके चौथे भागमें सर्वसंगका परित्यागकर संन्यास धारण करें।

उक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि संन्यास-धर्म वैदिक है, अवैदिक नहीं। अतः **'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥'** (नारदपरिव्राजकोप० ३।७७) अर्थात् जिस दिन तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी दिन संन्यास धारण करें। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आदि तीनों आश्रमोंका क्रमशः अतिक्रम करते हुए अन्तिम संन्यास-आश्रममें प्रवेश करनेके लिये कहा गया है। परंतु ऐसा विधान तो उपकुर्वाण ब्रह्मचारीवालोंके लिये है, क्योंकि वे ही प्रत्येक आश्रममें निवास करते हुए अन्तमें संन्यास-आश्रममें प्रवेश करते हैं, किंतु नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये ऐसा नियम नहीं है, उसे तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासाश्रममें प्रवेश करनेका विधान है। जैसे कहा है— **'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत।'** अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासाश्रममें प्रवेश करें—ऐसा विधान है।

बृहदारण्यक श्रुतिमें महर्षि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीका एक लम्बा संवाद आया है, जो उनके संन्यास-धारणके सम्बन्धमें है। महर्षि याज्ञवल्क्यकी दो पत्नियाँ थीं—कात्यायनी और मैत्रेयी। याज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीसे कहा—'हे कल्याणि! अब मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर उठकर संन्यास-आश्रममें प्रवेश करना चाहता हूँ। अतः तुम दोनोंसे मैं अनुमति चाहता हूँ और सम्पत्तिका भी तुम दोनोंमें बँटवारा भी कर देना चाहता हूँ। उसके बाद फिर मैं वनको चला जाऊँगा।'

यह सुनकर मैत्रेयीने याज्ञवल्क्यसे कहा कि 'भगवन्! यदि धन-धान्यसे परिपूर्ण सारी पृथ्वी मेरी हो जाय, तो क्या उससे मैं अमर बन सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं मैत्रेयी, नहीं। धनसे तो अमरत्वकी प्राप्तिकी आशा नहीं की जा सकती। धनसे तो तुम्हारा जीवन धनिकों-जैसा बीतेगा, अमरत्व या अमृततत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। तब मैत्रेयीने याज्ञवल्क्यसे कहा—

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति॥ (बृहदा०उप० ४।५।४)

जिस धन-सम्पत्तिसे मैं अमर नहीं बन सकती तो उसको लेकर मैं क्या करूँगी? अतः भगवन्! जो कुछ अमरत्वके विषयमें आप जानते हैं, उसीका मुझे उपदेश करें। तब याज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीको एक लम्बा सारगर्भित उपदेश देकर अपनी विपुल सम्पत्तिको दोनों पत्नियोंमें उचित बँटवारा करके अपने वचनके अनुसार घरका परित्यागकर विद्वत्-संन्यास धारण किया और परिव्राज्य जीवन व्यतीत किया।

संन्यासीके आवश्यक कर्तव्य

ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता।
भिक्षोश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते॥

संन्यासीका प्रथम कर्तव्य है ध्यान। अतः नित्यप्रति पर्याप्तमात्रामें ब्रह्मका ध्यान करे। दूसरा कर्तव्य है आत्मशुद्धि करना अर्थात् मल, विक्षेप तथा आवरण आदिका दूरीकरण करना। संन्यासीका तीसरा कर्म है क्षुधाकी निवृत्तिके लिये भिक्षा ग्रहण करना और चौथा कर्म है एकान्तवास करना; क्योंकि एकान्तमें ही ब्रह्मध्यान-रूप ब्रह्माभ्यास ठीकसे हो पाता है। पाँचवाँ कर्म संन्यासीका नहीं बताया है; पर हाँ, मनुस्मृति (६।४४—६०) में कथित नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये, जिससे यति—संन्यासी कैवल्यमोक्षको अनायास प्राप्त हो सके; क्योंकि इसीमें मानव-जीवनकी परिपूर्णता निहित है।

श्रेष्ठजनोंके अनुकरणीय व्यवहारकी उपयोगिता

(म०मं० गीतामनीषी स्वामी श्रीज्ञानानन्दजी महाराज)

मनुष्यजीवन अनमोल है, दुर्लभ है। इसके लिये देवता भी लालायित रहते हैं; क्योंकि कल्याण, उद्धार, परम शान्ति, परम गति केवल मनुष्यजीवनमें ही सम्भव है। अन्य सब भोगयोनियाँ हैं। उन्हें अपना-अपना प्रारब्ध ही पूरा करना है। मनुष्येतर निम्न योनियोंको पापकर्मोंका अपना प्रारब्ध भोगना है तथा देवयोनियोंको पुण्यकर्मोंका प्रारब्ध। इसके अतिरिक्त वे सब और कुछ नहीं कर सकते। पिछले पुण्य क्षीण होनेपर देवशरीरप्राप्त जीवोंको भी मृत्युलोकमें आना पड़ता है; क्योंकि पुण्य-अर्जन न तो और किसी लोकमें सम्भव है, न अन्य किसी शरीरमें। यह सौभाग्य केवल मनुष्यको ही प्राप्त है—*'बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥'* **'दुर्लभो हि मानुषो देहः'**, **'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्'**, *'नर तन सम नहिं कवनिउ देही'* इत्यादि। अनेक प्रकारसे शास्त्रोंने नरदेहकी महिमा गायी। क्यों? विचार करनेके लिये तथा मनुष्यशरीरके रूपमें प्राप्त सुरदुर्लभ अवसरका पूरा लाभ लेनेके लिये। जीवनका प्रत्येक दिन, प्रत्येक क्षण मेरे लिये महत्त्वपूर्ण है—ऐसा मानना चाहिये। जीवनचर्या ऐसे आदर्श साँचेमें ढल जाय, जिससे व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्मोंकी ओर तनिक भी फिसलनेका कोई अवसर ही न बचे।

जीवनचर्या कैसी हो? जीवन अच्छे, शान्त-प्रशान्त, आदर्श ढंगसे कैसे जीया जाय—इसके लिये सामने कोई आदर्श होना आवश्यक है। हमारे श्रुति-स्मृति सनातन वैदिक धर्मग्रन्थोंमें दो रूपोंमें प्रस्तुति है। एक चेतावनीके रूपमें तथा दूसरी प्रेरणाके रूपमें। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, शिशुपाल, दुर्योधनकी दुर्गति—ये हमारे लिये चेतावनियाँ हैं। भूलकर भी ऐसा जीवन न हो; क्योंकि परिणाम सामने है। बुद्धिमान् किसी स्थितिको परिणामसे ही आँकता और स्वीकारता है। प्रह्लाद, विभीषण, शबरी, अर्जुन, सुदामा आदि जीवनकी आदर्श प्रेरणा हैं। इन्होंने किसी भी स्थिति-परिस्थितिमें धर्मको नहीं छोड़ा। सत्‌में रहे, सत्‌में जीये। विपरीत परिस्थितिमें भी सदाचरण, सन्मार्गपर दृढ़ता, परमात्मापर अटल विश्वास—इनके जीवनका आदर्श रहा।

जीवन अच्छे ढंगसे जीना है तो सामने अच्छा आदर्श होना ही चाहिये। मुखाकृति, वस्त्राभूषण आदिमें कोई कमी हो तो सामने दर्पण देखा जाता है। दर्पण कमी दिखा देता है। जिनका जीवन श्रेष्ठ है, उन्हें दर्पणकी भाँति सामने रखकर अपने जीवनकी कमियोंको देखा, ढूँढ़ा एवं सुधारा जा सकता है। अनेकानेक कष्ट आनेपर भी मीराने अपनी सत्यनिष्ठा, कृष्णनामनिष्ठा तनिक भी विचलित नहीं होने दी तभी तो विष अमृत बना। हम तनिक-सी विपरीततामें ही अपने श्रद्धा-विश्वासको अस्थिर कर लेते हैं, बस यही कमी है, जो पूजा-पाठ, जप-तप करते हुए भी हम उस अमृततत्त्वसे वंचित रहते हैं। प्रह्लादके जीवनमें कितने कष्ट आये। पग-पगपर प्रताड़नाएँ, लेकिन नारायणभावमें दृढ़ता बढ़ती रही। प्रारम्भ कष्टमय रहा, किंतु उसका भी प्रभाव प्रह्लादपर नहीं पड़ा। परिणाम तो पूरी तरह प्रह्लादके पक्षमें ही रहा। वह परिणाम आजतक भी एक अमर प्रेरणा बना हुआ है। आदर्श जीवनकी आदर्श प्रेरणा किसी भी रूपमें, कभी भी मनसे विचलित नहीं हो, इसमें विश्वास दृढ़ रहे। विपरीत वातावरणमें भी मानसिक शान्ति सुरक्षित रखी जा सकती है।

नेत्रहीन होते हुए भी सूरदासकी भावभक्ति इस बातका एक आदर्श ही तो है—यदि लक्ष्य अच्छा, भाव सच्चा और विश्वास पक्का है तो शारीरिक विकलांगता भी महानतामें बाधा नहीं बन सकती। अर्जुनकी अनन्यता, युधिष्ठिरकी सत्यनिष्ठा, एकनाथका अक्रोध, नरसीकी निश्चिन्तता, तुकारामकी सहजता, नामदेवकी निश्छलता, ऋषि दधीचि, रन्तिदेव, शिबि आदिकी परदुःखकातरता—कष्ट सहकर भी दूसरोंको सुख पहुँचानेकी भावना कैसे अनूठे आदर्श हैं जीवनको आदर्श बनानेके लिये। विशाल साम्राज्यका सजग दायित्व उसमें भी पूर्ण निर्लिप्तता। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णको भी उदाहरण देना पड़ा—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३।२०)

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेके ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।

तुलाधार वैश्य, परमेष्ठी दर्जी, गोरा कुम्हार, सेना नाई, नरहरि सुनार, दामाजी पन्त, चोखामेला, जनाबाई, सखूबाई—अपने-अपने क्षेत्रमें अपने निर्धारित कर्म करते हुए भी परम सिद्धिको प्राप्त कर गये। केवल कथनीकी बात नहीं—ऐसे महापुरुषोंके जीवन-चरित्र बार-बार पढ़ें, सुनें, अध्यात्मका जो तत्त्व बहुत प्रयास करनेपर भी जीवनचर्यामें नहीं उतरता, वह सहज सम्भव होता अनुभव होगा। ऐसा करके देखें। महापुरुषोंके जीवन-चरित्र सदैव आदर्श रूपमें सामने रखें। मान्यताएँ, अवधारणाएँ अनेक हैं, दुविधा हो सकती है। कहाँ जायँ? किधर चलें? यक्षके प्रश्नपर युधिष्ठिरका सीधा-सा उत्तर है—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।

धर्मका तत्त्व गहन है। मार्ग एक ही है, जिसपर महापुरुष चलकर गये हैं। उन्हींके चरण-चिह्न ही अनुकरणयोग्य हैं। भौतिकवाद चरमपर है। बाह्य आकर्षण सर्वत्र सुरसाकी तरह मुँह खोले खड़े हैं। विषयासक्तिके साथ-साथ धर्मके मार्गकी ऊहापोह, भ्रमित करनेकी स्थितियाँ भी आज कम नहीं हैं। गीतावक्ता पहले ही चेता चुके हैं। सांसारिक मोहके साथ-साथ भाँति-भाँतिके वचनोंको सुनकर विचलित हुई बुद्धि जब परमात्मामें अचल स्थिर होगी, तभी सम्भव है योगकी प्राप्ति (गीता २।५२-५३) और इसी अवस्थाके लिये आगे है गीताका आदर्श महापुरुष स्थितप्रज्ञ। सारकी बात एक ही है। अनमोल दुर्लभ मानव-जीवनको आदर्श बनाना है तो ऐसे ही आदर्श महान् पुरुषको अपने जीवनका आदर्श बनाना होगा—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३।२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार वर्तने लग जाता है।

श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणकी बात कही गयी है, केवल प्रवचन या कथनीकी नहीं। एक दायित्व समाजके श्रेष्ठजनोंपर भी है। केवल श्रेष्ठ कहलाने अथवा दिखलाने या श्रेष्ठ भाषण ही नहीं—श्रेष्ठ आचरण, श्रेष्ठ उदाहरण (**यद्यदाचरति श्रेष्ठः**)। दूसरोंकी प्रेरणासे पूर्व अपने जीवनका आकलन करना आवश्यक है। इसके लिये गीतामें अनेक आदर्श लक्षणोंका वर्णन है। गीताका स्थितप्रज्ञ (२।५५—७२), गीताका भक्त (१२।१३—२०), गीताका ज्ञानी (१३।७—११), गीताका गुणातीत (१४।२२—२६), गीतामें दैवी सम्पदाके लक्षण (१६।१—३) श्रेष्ठताकी यह आदर्श कसौटी है। श्रेष्ठ जनोंके लिये भी और जनमानसकी प्रेरणाके लिये भी।

समय अपनी द्रुतगतिसे निकल रहा है। बीता समय लौटेगा नहीं और हाथका समय हाथमें रहेगा नहीं। विलम्ब न करें, जीवन अनमोल और दुर्लभके साथ क्षणभंगुर भी है। कौन-सा क्षण अन्तिम क्षण बन जाय, निश्चित नहीं कहा जा सकता। इसलिये अविलम्ब आदर्श जीवनचर्या बनानेका निश्चय करें। श्रेष्ठ, आदर्श महापुरुषोंके आदर्श व्यवहारको अपने सामने रखें, जहाँ-जहाँ जो-जो कमी स्वयंमें दीखे, उसे उन महापुरुषोंकी जीवन-प्रेरणासे दूर करनेका प्रयास करें। असम्भव कुछ नहीं, यदि वे महापुरुष ऐसा कर गये हैं, तो हम भी कर सकते हैं—ऐसा विश्वास रखें। कर्म करते हुए कर्म-बन्धनसे मुक्ति मिल जायगी। जीवन सहज, शान्त, निश्चिन्त हो जायगा। प्राप्त अवसरका सदुपयोग हो जायगा और मिलेगा अवसरका पूरा लाभ भी—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

(गीता ४।१५)

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर।

जय श्रीकृष्ण! जय भगवद्गीते!!

जीवनमें दैवी-सम्पत्तिका महत्त्व

(श्रीनिजानन्दजी सरस्वती, एम०ए० (दर्शन), मानसभूषण)

मानव-जीवन संसार-सागरसे पार होनेके लिये भगवान्की अहैतुकी कृपासे प्राप्त हुआ है, जैसा कि श्रीरामचरितमानसमें प्रातःस्मरणीय भक्त संत श्रीतुलसीदासजीने उत्तरकाण्डमें दर्शाया है—

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

आगे कहा है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इस दोहेके आधारपर हम गम्भीरतासे देखें तो हमारा मूल कर्तव्य भवसागरसे पार होना ही है, हम इस उद्देश्यको भूलकर विषय-भोगोंके संग्रहमें लग जाते हैं, उनकी प्राप्ति करनेमें उचित-अनुचितके निर्णयका विवेक भी हममें नहीं रहता। हम पतंगेके समान विषयोंके क्षणिक लुभावने तेजमें जलने-भुननेको उद्यत होकर पतनके गहरे गर्तमें गिर जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें दैवी और आसुरी-सम्पदाका वर्णन किया है। उनमें हम आसुरी सम्पदासे दूर रहकर दैवी-सम्पदाको अपने जीवनमें उतारकर मानव-जीवनको सफल बनाते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं—यही हमारे धर्मग्रन्थोंका सार है। मानव-जीवनका लक्ष्य भी मोक्ष-प्राप्ति है, भोग-प्राप्ति नहीं; जैसा कि प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें बताया है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

अर्थात् मनुष्यशरीरकी प्राप्ति भोगोंके भोगनेको नहीं। मनुष्य-लोकके भोग तो तुच्छ हैं, स्वर्गके भोग भी अन्तमें दुःखकी जड़ ही हैं। गीतामें भी इन भोगोंको दुःखोंका हेतु ही बताया गया है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

अर्थात् जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, यद्यपि वे विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। इस उपर्युक्त कथनके द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि मानवका लक्ष्य भोगोंकी प्राप्ति नहीं। अब हमें दैवी-सम्पदा और आसुरी-सम्पदाको समझना है कि हमारे जीवनका उत्थान किस सम्पदाको धारण करनेमें है? गीताके सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें ही इन दोनों सम्पदाओंका वर्णन आया है तथा उनके गुण-दोषोंका भी कथन है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

अर्थात् भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा, अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवन्नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन एवं शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता दैवी-सम्पदाएँ हैं।

इनमें अन्तःकरणकी पवित्रता हमारे भोजनपर आधारित है। हम जैसा भोजन करेंगे, उसके अनुसार ही हमारा अन्तःकरण बनेगा। हमारे भोजनमें सात्त्विक पदार्थोंका जितना समावेश होगा, अन्तःकरण उतना ही निर्मल होगा और अन्तःकरण निर्मल होनेसे आगे बतायी गयी सम्पदाएँ स्वतः प्राप्त होने लगती हैं। आगे अन्य दैवी-सम्पदाओंके विषयमें बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन-वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण करना, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रुद्ध न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रविरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ

चेष्टाओंका अभाव—ये सब दैवी-सम्पदाएँ हैं—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

तात्पर्य यह है कि हमें अपने जीवनके क्रिया-कलापोंमें अहिंसाका ध्यान रखना जरूरी है। किसीका जीवन नष्ट करना ही हिंसा नहीं, उसे कष्ट पहुँचाना भी हिंसाके क्षेत्रमें ही आता है। हमारे आचार्योंने अहिंसाके महान् गौरवका वर्णन किया है। महर्षि पतंजलिने योगशास्त्रमें इसका साधनपादमें वर्णन किया है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस साधकके समीप सब प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें इसी अहिंसाकी महिमाका वर्णन किया है—

खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥

अर्थात् प्रभु श्रीरामने देखा कि मुनि वाल्मीकिजीके आश्रममें पशु-पक्षी आनन्दपूर्वक कोलाहल करते हुए विचरण कर रहे हैं। ऐसा मुनिके प्रभावसे हुआ था; क्योंकि मुनिकी हिंसावृत्ति शान्त हो गयी थी और वे अहिंसा धर्ममें पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गये थे। इसके अतिरिक्त श्रीभगवान्ने अन्य जो दैवी-सम्पदाएँ बतायीं, वे हैं—तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंके अनुसार साधककी दिनचर्या होगी तो इस तीसरे श्लोकमें वर्णित लक्षण उसमें स्वतः ही आ जायँगे यानी साधकमें तेजका प्रादुर्भाव होगा, जिससे मलिन हृदयके प्राणी उसका सामना करनेमें भयभीत होंगे। साधकमें क्षमा, धैर्य और कष्ट सहन करनेमें अदम्य साहसका प्राकट्य होगा। पवित्रता, प्रेमभाव, अभिमानका अभाव आदि ऐसे गुण हैं, जिन्हें अपनाकर सामान्य मनुष्य भी महापुरुष बन सकता है।

आसुरी-सम्पदाका भी लक्षण देखिये और इनसे हर समय दूर रहनेका प्रयत्न करते रहना ही मानव-जीवनकी सफलता है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

उपर्युक्त श्लोकमें आसुरी-सम्पदाके लक्षण हैं। हे अर्जुन! धार्मिक कृत्योंमें ढोंग, मिथ्याभिमान, अभिमान और क्रोध करना, कठोर शब्दोंका प्रयोग, अज्ञान—ये सब चिह्न आसुरी-सम्पदामें उत्पन्न जीवके हैं। इनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि साथका प्रभाव अवश्य ही जीवको प्रभावित करता है। इसका प्रमाण श्रुतियोंमें और गीताशास्त्रमें भी मिलता है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

(कठोपनिषद् २।२।७)

कर्म और शास्त्रादिके श्रवणसे जैसा भाव प्राप्त है, तदनुसार शरीर धारण करनेके लिये जीवात्मा नाना प्रकारकी योनियोंको प्राप्त होते हैं, दूसरे स्थाणुभावका अनुसरण करते हैं।

हमारा भावी जीवन वर्तमानके ऊपर निर्भर है, इसका स्पष्ट प्रमाण उपर्युक्त मन्त्रमें मिलता है।

दैवी और आसुरी-सम्पदाका परिणाम

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

दैवी-सम्पदा तो मुक्ति देती है, यानी भवसागरका नाश करती है। आसुरी-सम्पदा हमें आवागमनके चक्करमें डालती है, जहाँ विविध प्रकारके कष्टोंकी सीमा नहीं, भवसागर यानी मोहका फन्दा, जिसमें बुरी तरहसे जीवको फँसाकर अनेक यातनाओंमें सदैव दुःख भोगना रहता है।

मानव-जीवनका लक्ष्य स्वरूपकी प्राप्ति है। इसके अभावमें मानव-जीवनका दुरुपयोग है, इसलिये अतिशीघ्र उस सत्यको जान लेना ही हमारा लक्ष्य है।

परमार्थ-पथगामिनी जीवनचर्याका वैशिष्ट्य

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरंगबलीजी ब्रह्मचारी)

मानवको पूर्ण मानव बनानेवाली, परमार्थ-पथगामिनी जीवनचर्याकी गरिमा-महिमा, सत्ता-महत्ता, उपयोगिता, आवश्यकता एवं वैशिष्ट्यको अनादिकालसे सभी ग्रन्थों और पन्थोंने विशेष आदर और सम्मानके साथ स्वीकार किया है।

यही कारण है कि ऐसी उत्तम जीवनचर्याको मूर्तस्वरूप प्रदान करनेके लिये औरोंकी कौन कहे, वह जगन्नियन्ता, जगदाधार, सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान्, स्वयं प्रकाशमान्, प्रभु, परमात्मा स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूप धारणकर पारमार्थिक जीवनचर्याका उच्च-उदात्त उदाहरण प्रस्तुत करता है।

वेदोंकी ऋचाएँ, पुराणोंकी गाथाएँ, उपनिषदोंके मन्त्र, दक्षिणपन्थी तन्त्र, सूत्रग्रन्थोंका सार, भाष्य-ग्रन्थोंका विस्तार, सत्साहित्यकी पुकार, काव्यकारों की ललकार, रामायणकी प्रीति और श्रीमद्भगवद्गीताकी ध्रुवानीति—ये सभी समवेत स्वरसे परमार्थ-पथगामिनी जीवनचर्याको जानने, मानने और अपनानेका आवाहन करते हैं।

सुन्दर जीवन-निर्माणकी आधारशिला भावशुद्धि है। भावशुद्धिके बिना कर्मशुद्धि असम्भव है। भावकी अशुद्धिसे भ्रान्ति और भावशुद्धिसे शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। हीरेकी प्राप्तिके पश्चात् काँचके मनकेसे मोह अपने-आप कम हो जाता है। जाग जानेपर स्वप्नका भ्रम स्वयमेव दूर हो जाता है। इसी प्रकार जीवनचर्याकी शुद्धिसे सभी प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति सरलता और सुगमतासे हो जाती है।

सभी नीति-ग्रन्थोंमें इस जीवनचर्याका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। धौम्यनीति, कणिकनीति, शुक्रनीति तथा रामोक्तनीति आदिमें व्यावहारिक जीवनचर्या और पारमार्थिक जीवनचर्या दोनोंका सन्देश विस्तृतरूपसे पाया जाता है।

आचार्य बृहस्पतिद्वारा वर्णित जीवनचर्याका आश्रय लेकर इन्द्रने देवराज-पद प्राप्त किया और असुरोंपर विजय पायी

तथा चिरकालतक स्वर्गका शासन किया। इनकी कही हुई बातें बड़ी मार्मिक, तर्कसंगत एवं तत्काल लाभ पहुँचानेवाली हैं। इसीलिये विदुरनीति, चाणक्यनीति, पंचतन्त्र, हितोपदेश, पुरुषपरीक्षा, कामन्दकनीतिसार तथा भर्तृहरि-नीतिशतकपर इनका प्रचुर प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। न केवल भावमात्र अपितु कई श्लोक भी यथावत् इनके प्राप्त होते हैं।

गरुडपुराणके आचारकाण्डमें अध्याय १०८ से ११५ तकके अध्यायोंमें लगभग ४०० श्लोक विशेष महत्त्वके हैं। इन सातों-आठों अध्यायोंमें बृहस्पतिनीतिका सार संग्रहीत है। जैसे—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथास्य मेधा स्याद्विज्ञानं चास्य रोचते॥

अर्थात् जैसे-जैसे व्यक्ति शास्त्रोंका स्वाध्याय करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी ज्ञानशक्ति और धारणाशक्ति बढ़ती जाती है तथा उसका वैदुष्य चमत्कृत होता जाता है। और भी कहा है—

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मतिम्।
तथा तथा हि सर्वत्र श्लिष्यते लोकसुप्रियः॥

भाव यह है कि जैसे-जैसे व्यक्ति परोपकार और सदाचारमें मन लगाता है, वैसे-वैसे उसकी लोकप्रियता बढ़ती है और वह सौभाग्यका भाजन बन जाता है।

सदाचार, सद्विचार, समता और मानवतामूलक जीवनचर्याके धारण, पोषण एवं क्रियान्वयनसे ही लघुसाधन भी महान् कल्याणकारी हो जाता है।

मानव-जीवन ही सृष्टि-निर्माताकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसलिये हमारी जीवनचर्या अर्थात् हमारे रहन-सहन, आचार-विचार, संयम-साधना, भाषा-भाव, सभ्यता-संस्कृतिकी प्रत्येक ईंट आस्तिकता, आध्यात्मिकता, नैतिकता और धार्मिकताकी शुद्ध भावमयी सीमेण्टयुक्त जलधारसे सनी हुई होनी चाहिये, जिससे हमारे वज्रवत् सुदृढ़ लोक-कल्याणकारी चरित्ररूप प्रासादका निर्माण हो सके। ऐसी ही जीवनचर्याकी आज सर्वत्र अपेक्षा और आवश्यकता है।

शास्त्रविरुद्ध अधोमुखी जीवनचर्या-यापनके कारण महान् पण्डित होते हुए भी रावण राक्षस कहा गया और प्रजापति बन करके भी दक्ष दम्भी हो गये। अनीतियुक्त जीवनचर्या अपनानेके कारण कंस आततायी (कसाई) बन गया और धृतराष्ट्र-पुत्र सुयोधनसे हो गया दुर्योधन।

ठीक इसके विपरीत शास्त्रसम्मत धर्मयुक्त ऊर्ध्वमुखी जीवनचर्या अपनाने और तदनुसार चलनेके कारण नारद दासीपुत्र हो करके भी देवर्षि बन गये और आदिकवि व्याधसे बन गये वन्दनीय महर्षि वाल्मीकि। विभीषण राक्षससे रामदास हो गये और शबरी बन गयी भीलनीसे भामिनी।

रोमके एक चित्रकारके मनमें एक बार अपने देशके सबसे सुन्दर व्यक्तिका चित्र बनानेकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। बहुत खोज करनेके पश्चात् उसने अपने देशके सबसे सुन्दर व्यक्तिका चित्र बनाया। उस सुन्दर व्यक्तिके चित्रकी इतनी माँग हुई कि चित्रकार धन-धान्यसे परिपूर्ण हो गया। बारह वर्षके पश्चात् पुनः उसी चित्रकारके मनमें अपने देशके सबसे निकृष्ट, हेय, असुन्दर व्यक्तिका चित्र बनानेका भाव उत्पन्न हुआ। बहुत खोजनेके पश्चात् एक कारागारमें उसे सबसे कुरूप, हेय, असुन्दर व्यक्ति दिखायी पड़ा।

कारागार-अधिकारीकी आज्ञा लेकर जैसे ही वह चित्रकार उसका चित्र बनाने लगा, उस कुरूप व्यक्तिने चित्रकारसे अपना चित्र बनानेका कारण पूछा। चित्रकारने पूरी कहानी पहलेसे लेकर अबतककी दोहरा दी। उस अपराधी व्यक्तिने चित्रकारसे उस सबसे सुन्दर व्यक्तिके चित्रको दिखानेके लिये कहा, किंतु उस अपराधीने जैसे ही उस सबसे सुन्दर व्यक्तिका चित्र देखा—वह सिसक-सिसककर, फफक-फफककर रोने लगा। चित्रकारद्वारा रोनेका कारण पूछनेपर उसने कहा कि यह रोमके सबसे सुन्दर व्यक्तिका चित्र मेरा ही है। ऊर्ध्वमुखी कल्याणकारी साधना-आराधनायुक्त जीवनचर्याको छोड़कर कुसंगमें पड़कर मैंने अधोमुखी निन्दनीय जीवनचर्या अपना ली, जिससे आज मेरी यह दुर्गति और दुर्दशा हुई है।

किंतु ध्यान रहे, हमारा हिन्दूधर्म निराशावादी नहीं है। महापापियोंको भी आश्वस्त-विश्वस्त करते हुए कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुम् सक्षम-समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

अर्थात् महापापी भी इस आत्मज्ञान, अध्यात्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञानकी नावमें बैठकर सभी पाप-ताप और सन्तापोंसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त कर लेता है।

किंतु इसके लिये जीवनचर्यामें संशोधन और परिवर्तन आवश्यक है। भगवान्का आश्वासन है कि जीवनचर्यामें सुधार

करते ही अनन्य भजनसे महापापी भी भक्त बन जाता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

तात्पर्य यह है कि अकारणकरुण, करुणावरुणालय, परात्पर परब्रह्म, परमात्मा, सर्वात्मा, विश्वात्मा इतने दयालु-कृपालु हैं कि जीवनचर्यामें सुधार लानेका संकल्प लेते ही वे भक्तको इच्छानुसार भक्ति, मुक्ति, शक्ति और शान्ति प्रदानकर उसे निर्भय बना देते हैं।

इसीलिये यदि हम अपने जीवनके साथ-साथ अपने समाजको, राष्ट्रको भी नित्य-निरन्तर उत्तरोत्तर गति, प्रगति और उन्नतिकी ओर ले जाना चाहते हैं, यदि हम असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमरत्वकी ओर अग्रसर होना चाहते हैं, यदि हम दाम, काम, आरामके साथ इसी जीवनमें उस दुर्लभ रामको भी सुलभ बनाकर प्राप्त करना चाहते हैं; तो हमें अपनी दैनिक जीवनचर्यामें धनसे अधिक धर्मको, भोगसे अधिक योगको, स्वार्थसे अधिक परमार्थको और विचारके साथ-साथ आचारको अर्थात् ऊर्ध्वमुखी पारमार्थिक जीवनचर्याको विशेष महत्त्व देना ही होगा। तभी त्राण, तभी कल्याण, तभी अभ्युदय, तभी उत्थान, तभी विकास, तभी प्रकाश, तभी भौतिक श्रीसमृद्धिके साथ-साथ आध्यात्मिक और पारमार्थिक उन्नतिकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो सकेगी।

जीवनचर्याका अर्थ एवं उसका उद्देश्य

(डॉ० श्रीजितेन्द्रकुमारजी)

जीवनमें मनुष्य अपनी छोटी-बड़ी सभी प्रकारकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये जो आचरण करता है—व्यवहार प्रदर्शित करता है, वह जीवनचर्या कहलाती है। मोटे रूपमें जीवनचर्याका अर्थ है—दैनन्दिन व्यवहारमें किया जाने वाला आचरण। उस व्यवहार अथवा आचरणसे ही यह पता चलता है कि व्यक्तिका उद्देश्य क्या है? अनेक बार व्यक्ति वाणीसे जो प्रकट करता है, उसे वह परिस्थितिवश, परवशतासे अथवा मनोनिहित स्वार्थको ध्यानमें रखकर याथातथ्य रूपसे व्यवहारमें नहीं ला पाता या नहीं लाना चाहता अथवा नहीं लाता, तब हम उसकी कथनी-करनीके अन्तरको देखकर आकलन अथवा मूल्यांकन करते हैं।

मनुष्यको जाननेके लिये, उसके अन्तर्मनमें झाँकनेके लिए जीवनचर्या, व्यवहार अथवा आचरणके अतिरिक्त सटीक, प्रामाणिक उदाहरण या उद्धरण अन्य कोई नहीं है। व्यक्ति जो कार्य करता है, वह अपनी बुद्धिसे अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये ही विचारपूर्वक करता है। बिना विचारके कोई भी कार्य सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि आचरणसे ही व्यक्ति महान् बनता है, ऊँचा उठता है, मनुष्यत्वको धारण करता है। आचरणहीन व्यक्ति कितना ही पढ़ा लिखा हो, शास्त्रोंका मर्मज्ञ हो, व्याख्यान करनेवाला हो, लेखक हो, वेदज्ञ हो, वह मनुष्य होकर भी पशु ही है। उसका जीवन पशुत्वसे पृथक् नहीं है। संस्कृतकी सूक्ति भी इस तथ्यको पुष्ट करती है—

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' आचरणसे हीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं। अर्थात् उत्तमसे उत्तम ज्ञान भी बिना आचरणके फलदायी नहीं हो

सकता। यह नीतिवाक्य भी उक्त बातको प्रणाणित करता है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।

(हितोपदेश, मित्रलाभ श्लोक १७१)

शास्त्रोंका अध्ययन करनेके पश्चात् भी लोग मूर्ख ही रह जाते हैं। जो इस ज्ञानका व्यवहार करता है, वास्तवमें वह विद्वान् होता है। अतः समस्त ज्ञान एक ओर तथा उसपर किया गया व्यवहार या आचरण एक ओर—इन दोनोंमें आचरणकी ही महत्ता अधिक है।

मनुष्य-जीवनमें ऐसा कभी नहीं होता कि व्यक्ति कोई दिनचर्या नहीं अपनाये, परंतु जीवनचर्या किस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये अपनाता है, यह महत्त्वपूर्ण है। आज संसारमें देखनेमें आता है कि लोग केवल धनके लिये जीवनचर्याका निर्माण और निर्वाह कर रहे हैं। कुछ सजग और सचेत हैं तो शरीरको भी ध्यानमें रखकर दिनचर्याका अनुकरण करते हैं, किन्तु बहुत कम लोग ऐसे हैं जो आत्मिक, हार्दिक, मानसिक सुख-शान्तिके लिये जीवनचर्याका निर्माण करके पालन करनेमें तत्पर होते हैं। यह पृथक् बात है कि बहुत लोग धन, वैभव, ऐश्वर्य, भोग-विलास, पद, प्रतिष्ठामें ही सुख-शान्तिकी खोज करते हैं। इसलिये ऐसी दिनचर्याका आजीवन निर्वाह करते रहते हैं, जिससे उक्त सारी वस्तुएँ प्राप्त होती रहें, परंतु अन्ततः जब उक्त वस्तुओंकी प्राप्तिके पश्चात् भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त होती तब पछतानेके अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाता। अतः समय रहते ही हमें सुख और शान्तिके मूल घटक तत्त्वोंके लिये जीवनचर्याका निर्माण एवं निर्वाह करना चाहिये।

वे सुख-शान्तिके मूल घटक तत्त्व निम्न प्रकार हैं—

१. आस्तिकता-कृतज्ञता, २. उदारता-सहिष्णुता, ३. सेवा-समर्पण, ४. अहिंसा-सत्य, ५. विनम्रता-सरलता।

ये दस तत्त्व पाँच जोड़ोंमें विभक्त किये गये हैं। इनका पालन जीवनमें जिस प्रकार सम्भव हो, वैसी जीवनचर्याका निर्माण करना लक्ष्य होना चाहिये। इनमें परस्पर अन्तःसम्बन्ध भी दिखायी देता है, इसीलिये इनको क्रमशः यहाँपर विचारके लिये रखना अभीष्ट प्रतीत हो रहा है।

१. आस्तिकता-कृतज्ञता—आस्तिकताका सीधा और स्पष्ट अर्थ है ईश्वरके अस्तित्वपर अटूट एवं अविचलित विश्वास। कृतज्ञताका अर्थ ईश्वर और अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओंसे प्राप्त सुखको, उपकारको हृदयसे, आत्मीय भावसे स्वीकार करना है, साथ ही समय आनेपर अपने व्यवहारसे प्रत्युपकार करना कृतज्ञता कहलाती है।

ईश्वर-विश्वास हमें अनेक दुःखोंसे, दुर्व्यसनोंसे, कष्टोंसे, पीड़ाओंसे बचाता है। ईश्वरकी स्वीकार्यता हमें पापसे परे धकेलती है और पुण्यकी ओर प्रेरित करती है। भाग्य, समय और ईश्वर—ये तीनों तत्त्व भारतीय जनमानसके दुःसह्य दुःखोंको सहनेकी, सन्तोष करके शान्त बैठनेकी एवं पुनर्जीवनकी सम्भावनाओंको जन्म देनेकी सशक्त विधा हैं। यह आस्तिकताका सबसे बड़ा लाभ है। आस्तिकताके बिना कृतज्ञता अपूर्ण है। ईश्वरने स्वस्थ तन, मन और प्रकृतिप्रदत्त समस्त भोग्य पदार्थ हमें दिये हैं। उनके लिये ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करना ही पर्याप्त न होगा, अपितु उसके प्रति धन्यवाद अर्पित करनेके लिये परस्पर हमें सहायता करनी चाहिये। यही ईश्वरके प्रति सही रूपमें कृतज्ञता होगी; क्योंकि हम सभी ईश्वरके ही पुत्र-पुत्रियाँ हैं। यजुर्वेद इस बातका उद्घोष करता है—'**शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः।**'

हे अविनाशी जीवात्माओ! अमृतके पुत्रो! ईश्वरके भक्तो! तुम सब सुनो। तुम उस कभी न लुप्त होनेवाले ईश्वरके वत्स हो। अतः उसकी आज्ञाका पालन करना, प्रकृतिके माध्यमसे प्राप्त भोग-पदार्थोंका उपयोग करना और परस्पर एक-दूसरेकी उन्नतिमें सहायता करना—ईश्वरके प्रति विश्वास एवं कृतज्ञताका भाव प्रकट करना ही है। यही ईश्वरकी यथार्थमें पूजा है। अन्य बाह्य आराधनाके अनेक प्रकार उसके सामने तुच्छ अथवा फीके हैं। इसलिये हमें सतत सावधान होकर अपनी दिनचर्या ऐसी बनानी चाहिये, जो हमारी जीवनचर्यामें सुख और शान्तिको प्रदान करनेवाली, बढ़ानेवाली और आजीवन रहनेवाली हो सके।

२. उदारता-सहिष्णुता—उदारता और सहिष्णुताके बिना जीवनमें आचरण करना न केवल कठिन है वरन् असम्भव है। ऐसा व्यक्ति संसारमें ढूँढ़ना अत्यन्त दुष्कर

है, जो कहीं भी और कभी भी उदारता एवं सहिष्णुताका व्यवहार न करता हो। उस उदारता एवं सहिष्णुताका विस्तार करना जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। जिस उदारता और सहिष्णुताको व्यक्ति अपने बेटे-बेटियोंके प्रति, परिवारके अन्य निकटतम सदस्योंके प्रति व्यवहृत करता है, उसी उदारता, सहिष्णुताका प्रयोग अन्योंके साथ किया जाना ही उद्देश्य होना चाहिये। इसी बातको ध्यानमें रखकर संस्कृतके एक प्रसिद्ध श्लोकमें अपने और परायेकी व्याख्या करके उदारताको परिभाषित किया गया है। वह श्लोक निम्न रूपमें है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(हितोपदेश, मित्रलाभ श्लोक ७०)

यह अपना है तथा वह पराया है, इस प्रकारकी दृष्टि छोटे चित्तवाले लोग रखते हैं। जो उदारतापूर्वक जीवनचर्याका निर्वाह करते हैं, उनके लिये सम्पूर्ण पृथिवी ही परिवारके समान है अथवा परिवार ही है।

जीवनमें अधिकांश विवादोंके मूलमें उदारता और सहिष्णुताका अभाव ही है। हम सोचते हैं कि दूसरा व्यक्ति तो उदार है ही नहीं, सहिष्णुताका व्यवहार करता नहीं, बल्कि हमारी उदारता और सहिष्णुताका लाभ उठा रहा है। जब कि सामनेवाला व्यक्ति भी ऐसा ही मनमें विचार रखता है, तब दोनों ओरसे उदारता एवं सहिष्णुताका अभाव पनपने लगता है। ऐसे ही अवसरपर हमें अधिक उदार और सहिष्णु होनेकी आवश्यकता है। उदार, सहिष्णु व्यक्ति सबका प्रियपात्र बनने लगता है। अतः हमारी दिनचर्यामें इन दोनोंका स्थान सुनिश्चित होना चाहिये, जिससे हम मनुष्यत्वके योग्य हो सकें और आस्तिकता-कृतज्ञताको सार्थक एवं चरितार्थ कर सकें। उदार और सहिष्णु व्यवहार परस्पर विश्वास उत्पन्न करता है तथा उसे बढ़ाता भी है।

३. सेवा-समर्पण—सेवा समर्पित होना सिखाती है। प्राणियोंकी सेवासे सुखकी प्राप्ति होती है। समर्पण अहंका नाश करता है। समर्पित व्यक्ति अहंकारी नहीं हो सकता है। जैसे-जैसे सेवाका कार्य अविरोधी भावसे बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे समर्पण स्वतः होने लगेगा और

निरभिमानिता आने लगेगी। सेवा हमें ईश्वरके समीप ले जाती है। समर्पण जीवनमें ईश्वरका वरदान है। जीवनचर्याका प्रयोजन मनुष्योंके निकट पहुँचकर ईश्वरका सान्निध्य और समर्पणरूप वरदान प्राप्त करना है। वह सेवासे ही सम्भव है। राजा भर्तृहरि सेवाके सम्बन्धमें बड़ी व्यावहारिक और विलक्षण बात कह गये हैं। सेवा ऐसा धर्म है जो योगियोंके लिये भी अगम्य है। श्लोक इस प्रकार है—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतस्त्वप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

(नीतिशतक)

सेवक यदि कम बोलता है तो स्वामी उसे गूँगा कहता है और बोलता है तो बातूनी बताता है, पासमें रहता है तो ढीठ कहता है, दूर-दूर रहता है तो कोई काम न बता दे इसलिये कामचोर कहलाता है, डाँटनेपर यदि सहन कर ले तो डरपोक कहलाता है, यदि नहीं सहनकर उत्तर देता है तो अकुलीन कहलाता है। ऐसा जो सेवाधर्म है वह परम गम्भीर है, योगियोंको भी यह कठिनाईसे ही प्राप्त होता है अर्थात् योगीजन भी इस सेवारूपी धर्मका ठीक-ठीक पालन नहीं कर पाते अथवा उनके लिये भी अप्राप्त

ही रहता है। सेवाका इतना बड़ा स्थान है।

हमारी जीवनचर्या सेवामय होनी चाहिये। जिस जीवनमें विकाररहित सेवाका स्थान है, वास्तवमें वही जीवन सफल है। निर्विकार सेवा हमारे जीवनकी अमूल्य निधि है और ईश्वरके प्रति सम्पूर्ण समर्पण उसकी विधि है। वेदमन्त्रांश इसी ओर संकेत कर रहा है—'**अग्ने नय सुपथा राये**' हे अग्निरूप प्रभो! हमें धनार्जनके लिये अच्छे रास्तेसे ले चलो। यह समर्पण ही है।

४. अहिंसा-सत्य—अहिंसक व्यक्तिको सभी पसन्द करते हैं। फिर चाहे वह मिथ्याभाषी ही क्यों न हो? बादमें पता चलनेपर उसके मिथ्या-भाषणकी निन्दा होती है। अरे! मैं तो उसकी मीठी-मीठी बातोंमें आ गया; परंतु अब उसकी मिठासका असली रूप सामने आ चुका है। ये बातें बहुत लोगोंको कहते हुए सुनते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मीठी अहिंसक बातें सबको अच्छी लगती हैं और न केवल अच्छी लगती हैं अपितु विश्वासकी जन्मदात्री होती हैं। यही बातें यदि सत्य भी हों तो कितनी श्रेष्ठ, सुन्दर, आकर्षक और मनोहारिणी होती हैं। इसकी कल्पनामात्रसे सुखकी वर्षा होती है। यदि इनका प्रयोग आचरणमें, व्यवहारमें करे तो व्यक्ति सर्वप्रिय प्रतिष्ठाको स्वतः प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है। व्यक्ति अहिंसा और सत्यके प्रयोगद्वारा जिस पद, पैसा, प्रतिष्ठाके लिये अनेक प्रकारके जैसे-तैसे उपाय करता है, वह सहजता एवं सुगमतासे प्राप्त होती है। जो व्यक्ति अपने जीवनमें जितनी मात्रामें सत्य एवं अहिंसाका प्रयोग प्रारम्भ कर देता है, वह उतनी ही मात्रामें स्थायी सुख और शान्ति प्राप्त करने लग जाता है और वह थोड़ी मात्रा सम्पूर्ण सत्य एवं अहिंसाकी ओर निरन्तर प्रेरित करती रहती है।

सत्यको अहिंसक, मिठाससे भरा ही होना चाहिये। जो कार्य सत्यके कठोर प्रयोगसे नहीं हो सकता, वह अहिंसाके द्वारा शीघ्र सफल होता है, किन्तु हमें अहिंसापर सम्पूर्ण विश्वास करनेकी आवश्यकता है। अहिंसा सत्यात्मक होनी चाहिये। सत्य अहिंसात्मक होना चाहिये। महर्षि पतंजलिने योगदर्शनमें अहिंसाका फल वैरत्याग लिखा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

(योगसूत्र २। ३५)

अहिंसाके प्रतिष्ठित हो जानेपर उसके समीपस्थका भी वैरत्याग हो जाता है। अहिंसा बहुत सूक्ष्म है। द्वेष करना भी हिंसा है। अपनी बात बलपूर्वक कहना हिंसा है। मनमें बुरा-भला सोचना हिंसा है। अनेक दुविधायुक्त आशंकाओंको पालना हिंसा है। मिथ्याभाषण हिंसा है। मारना हिंसा है।

अतः अहिंसाके पालनसे सत्यका भी प्रयोग होता है और ये अहिंसा एवं सत्य हमारी जीवनचर्याका जब अंग बनते हैं तब आस्तिकता-कृतज्ञता, उदारता-सहिष्णुता, सेवा-समर्पण सम्पुष्ट होकर जीवनको सुवासित करते हैं।

५. विनम्रता-सरलता—ऋजुताके अभावमें विनम्रता बड़ी बीभत्स दिखायी पड़ती है। विनम्रताका आवरण ओढ़कर व्यक्ति अपनेको सरल दिखानेकी चेष्टा करता है। जो स्वयंको भी धोखा देता है और दूसरोंको भी। विनम्रताके सुन्दर आकर्षक शुभ्र वस्त्रोंमें सरलताके दर्शन करना कठिन नहीं है, परंतु विनम्रताके पीछे कुटिलताको देखना अत्यन्त कठिन है। कड़वी दवाईका तो रोगको दूर करनेके लिये शर्कराका लेप करके देना समझमें आता है किन्तु वक्रताके आवरणको विनम्रताकी आवश्यकताका प्रदर्शन परिष्कृत छल या कपटसे भिन्न और कुछ कैसे समझा जा सकता है? आजकल पढ़े-लिखे, बुद्धिमान् लोग, उच्च पदासीन, प्रतिष्ठित जन भी सरलताको छोड़कर बाह्य विनम्रताके द्वारा झूठी सरलताका दिखावा करनेसे नहीं चूकते। जबकि ज्ञानका उद्देश्य ही ऋजुतापूर्ण विनम्रताका आधान करना है। सरलता हमें ईश्वरके निकट ले जाती है तो विनम्रता मनुष्योंके।

विनम्रता सरलताका बाह्य रूप है। बाह्य रूपसे अन्तरके स्वरूपको पहचाना जाना नियम है। किन्तु बहुधा ऐसा नहीं होता, बाह्य रूप ओढ़ा गया भी होता है तब अन्दरके स्वरूपको पहचाननेमें भूल होना अस्वाभाविक नहीं है। अन्दरके—भीतरके स्वरूपसे बाह्य रूपको समझना व्यतिक्रमको जन्म देनेवाला नहीं होगा। अतः स्वभावका सरल होना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। बाह्य विनम्रता उस स्वाभाविक सरलताकी सशक्त अभिव्यक्ति है।

जीवनचर्याको ऐसा स्वाभाविक बनाया जाना चाहिये, जिससे सरलता और विनम्रताका उद्देश्य पूर्ण हो सके। विनम्रता सरलताको प्रकट करती है अथवा विनम्रता सरलताके लिये है। वक्रताको छिपानेके लिये विनम्रताका प्रयोग दुरुपयोग है। इससे हमें अपने जीवनको बचाना

चाहिये और सरलता एवं विनम्रताको यथातथ्य रूपमें ग्रहण करना चाहिये।

जीवनमें आचरणका जो महत्त्व है, वह आचरणमें सरलता एवं विनम्रताका है। आस्तिकता कृतज्ञता, उदारता-सहिष्णुता, सेवा-समर्पण, अहिंसा-सत्य बिना सरलता और विनम्रताके सफल नहीं हो सकते। उक्त पाँचों जोड़ोंमें अन्तर्निहित दसों घटक तत्त्व जीवनचर्याके उद्देश्य होने चाहिये।

जीवनमें नियमोंकी उतनी ही आवश्यकता होती है, जितनी भोजनकी। जिस प्रकार भोजनके बिना जीवनका निर्वाह नहीं होता, उसी प्रकार नियमोंके बिना वह उच्छृंखल, स्वच्छन्द एवं निरंकुश हो जाता है। नियम अनेक अवसरोंपर टूटते-बिखरते दिखाई देते हैं, तब हम हताश हो जाते हैं तथा उन नियमोंको छोड़ देते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि नियम शिष्टाचारके लिये टूटा है, आतिथ्यके लिये शिथिल हुआ है अथवा परोपकारके लिये, दूसरोंकी सुविधाके लिये या प्रमादवश पालन नहीं हुआ है। तब उस नियमका पुनः प्रारम्भ करना उद्देश्य होना चाहिये।

नियम तो वैसे कभी न कभी टूट ही जाते हैं, उस टूटनेकी बहुत परवाह न करके उनका पुनः पालन करना लक्ष्य है। नियम होते ही टूटनेके लिये हैं, यह कहना अच्छा नहीं लगता; परंतु ऐसा जीवनमें प्रायः होता रहता है। अकारण अथवा अवसर होनेपर भी नियमोंकी अवहेलना या उपेक्षा कथमपि नहीं की जानी चाहिये और न ही नियमोंको तोड़नेके लिये बहाने या कारण ढूँढ़ते रहने चाहिये। नियमोंको तोड़नेमें व्यक्तिगत कारण न होकर यदि समष्टिगत, समाजगत कारण हैं तो वे नियम टूटकर भी अपने प्राप्तव्यतक पहुँच रहे हैं। व्यक्तिगत नियमोंके कारण सामाजिक नियमोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि व्यक्ति समाजके लिए समर्पित है।

दिनचर्याके अभावमें उत्तम जीवनचर्याका होना असम्भव है। इसलिये अपने दिनको कार्योंके आधारपर घण्टोंमें विभक्त करके यथासम्भव उस समयपर वही कार्य करनेका प्रयत्न करना उत्तम है। उन नियमोंमें उपर्युक्त उद्देश्योंके पालनका ही अन्तर्भाव होना आवश्यक है और कभी वे नियम उद्देश्योंकी पूर्तिमें सहायक न होकर बाधक बन रहे हों तो उद्देश्य चूँकि प्रमुख है और नियमोंका पालन भी लक्ष्यके लिये ही है, अतः उन्हें रूढ़ि बनाकर ढोनेसे अच्छा है कि वे नियमोंकी शृंखलाएँ टूटें और नदीकी धाराके प्रवाहको आगे बढ़नेका, अन्य नगरोंकी प्यास बुझानेका, खेतोंको सींचनेका अवसर मिल सके; पानीको बहने दिया जाना चाहिये। बाँध बनाकर उपयोगमें लेना भी उत्तम है। वैसे ही जीवनमें नियम परोपकारार्थ ही हैं तथा परोपकारार्थ ही नियम विशृंखलित भी हों तो वे भी श्रेयस्कर ही हैं। अन्ततः नियमोंके पालनसे ही जीवनके उद्देश्योंतक पहुँचा जाना उचित है। नियम जीवनको भटकनेसे रोकते हैं और उद्देश्योंकी ओर आगे बढ़ाते हैं। अतः जीवनमें उद्देश्योंके अनुकूल दिनचर्याका होना सब प्रकारसे स्वहित और परहितमें होता है।

सद्गृहस्थकी जीवनचर्या

(शास्त्रार्थपंचानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

भारतीय सनातन संस्कृति जिन उदात्त गुणोंके कारण विश्वमें समादरणीय है, उनमें जीवनचर्याका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवनचर्या अर्थात् उद्देश्यपूर्ण जीवन जीनेकी कला। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानवजीवनका गम्भीर अध्ययन करके महर्षियोंने उसके सम्पूर्ण विकास—ऐसा सर्वविध विकास, जिसमें शरीर, मन एवं आत्मा तीनोंका सर्वांगीण विकास हो, के लिये जिन स्वर्णिम नियमोंकी रचना की है, उन्हीं नियमोंको जीवनचर्या कहा जाता है। जीवन-पद्धतिके आधारभूत ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम नामक इन चार आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम ही अपने साथ-साथ इतर तीनों आश्रमोंका चूँकि पोषक-संवर्धक है; अतः उसे ही सँवारने-सँभालनेका धर्मशास्त्रोंका मुख्य उद्देश्य रहा है। समस्त विधि-निषेध अधिकांश रूपमें गृहस्थको ही सम्बोधित करते हुए लिखे गये हैं। जीवनचर्याके उन शास्त्रोक्त नियमोंका निष्ठापूर्वक अक्षरशः पालन करनेवाले सद्गृहस्थके लिये ही तो '**धन्यो गृहस्थाश्रमः**' अथवा '**त्रयाणामाश्रमाणां तु गृहस्थो योनि-रुच्यते**'-जैसे प्रशंसा-वचन उदारतापूर्वक कहे गये हैं।

यूँ तो गृहस्थके लिये पालनीय नियमोंकी कोई इयत्ता नहीं है। वेदोंसे लेकर स्मृति एवं पुराणेतिहासादि ग्रन्थोंतक समस्त आर्ष वाङ्मयमें गृहस्थ-जीवनके लिये उपयोगी तत्त्वोंके दिशा-निर्देश दिये गये हैं तथापि निम्नांकित श्लोकमें अत्यन्त सारगर्भित पद्धतिसे जीवनचर्याके उन सभी सूत्रोंका संकेत कर दिया गया है, जिन्हें अपनाकर एक सामान्य गृहस्थ भी 'सद्‌गृहस्थ' कहलानेका गौरव अनायास ही प्राप्त कर सकता है—

न विप्रपादोदककर्दमानि
न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥

यहाँ महर्षियोंने उन घरोंको 'श्मशान' के समान सर्वथा अपावन स्थान कहा है, जिन घरोंमें श्लोकमें कहे गये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीन कार्य न किये जाते हों। आइये, उन तीनों कार्योंको समझनेका प्रयास करें।

१. '**अतिथिदेवो भव**' अर्थात् अतिथिको देवताके
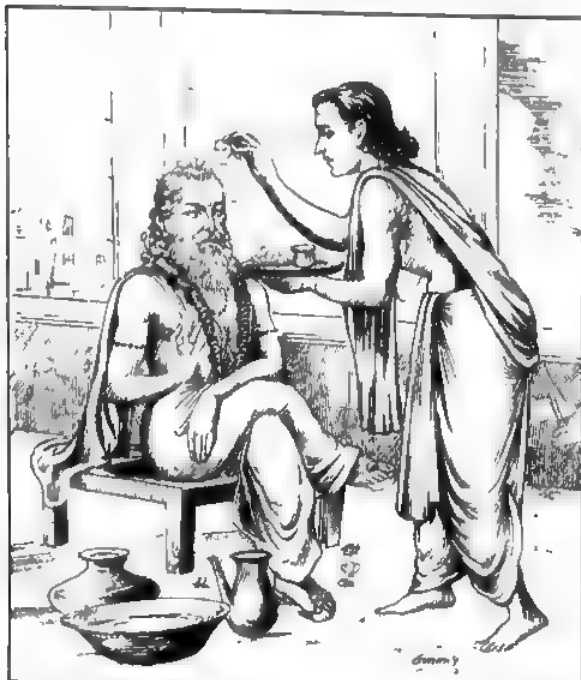
तुल्य समादरणीय मानो, इस वेदाज्ञाके अनुसार अतिथि-सेवा भारतीय संस्कृतिके आधारभूत मौलिक सिद्धान्तोंमें परिगणित है। हमारी दैनन्दिन प्रार्थनाओंमें '**अतिथींश्च लभेमहि किं वा याचितारश्च नः सन्तु**' अर्थात् अतिथियोंकी सेवा करनेका सौभाग्य हमें नित्य प्राप्त होता रहे, याचकवर्ग हमारे द्वारपर आते-जाते रहें, जैसी प्रार्थनाएँ बहुलतासे पायी जाती हैं। स्मृतियोंके रचयिता महर्षियोंने तो '**सर्वस्याभ्यागतो गुरुः**'—कहकर अतिथिको मानवमात्रका 'गुरु' ही घोषित कर डाला है। निश्चितरूपसे इस घोषणाद्वारा ही अतिथि-सेवाकी भावना जन-जनमें सुप्रतिष्ठित होकर अपने चरमपर पहुँची है। इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्रोंमें कतिपय ऐसे वचन भी उपलब्ध होते हैं, जिन्हें पढ़कर शास्त्र-विश्वासी मनुष्य चौकन्ना हो जाता है और फिर वह स्वप्नमें भी अतिथि-सेवासे विरत होनेकी नहीं सोचता है। उदाहरणके रूपमें निम्न वचन मननीय है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गेहात् प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

अर्थात् जिस गृहस्थके द्वारसे उचित स्वागत-सम्भारके न मिलनेसे निराश होकर अतिथि खिन्न होकर लौट जाता है तो वह अपने दुष्कर्म उस गृहस्थके द्वारपर डालकर उसके पुण्य (सत्कर्म) बटोरकर ले जाता है। इन्हीं सब सन्दर्भोंको ध्यानमें रखते हुए सद्‌गृहस्थकी जीवनचर्यामें अतिथि-सेवाको सर्वोपरि स्थान दिया गया है। ऊपर उद्धृत श्लोककी प्रथम पंक्तिके '**विप्रपादोदककर्दमानि**' इस अंशमें पठित 'विप्र' शब्दका अर्थ केवल 'वेदज्ञ ब्राह्मण' नहीं है अपितु यह शब्द अभ्यागतमात्रका द्योतक उपलक्षण शब्द है। इसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थके द्वारपर वेदपाठी ब्राह्मण, तपस्वी, सन्त-महात्मा, आचारनिष्ठ संन्यासी अथवा अन्य कोई विशिष्ट महानुभाव पधारें या फिर सामान्यसे सामान्य सर्वथा अपरिचित व्यक्ति भी यदि आये तो सभीका समान रूपसे यथोचित स्वागत-सत्कार किया जाना चाहिये और उनके चरण-प्रक्षालित-जलसे गृहस्थका आँगन सिंचित होना चाहिये।

२. सद्‌गृहस्थकी जीवनचर्याका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है—'**वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि**' अर्थात् वेदपाठ, श्रीमद्‌भागवत, देवीभागवत, शिवपुराण आदि पुराणोंका क्रमिक पारायण, श्रीरामचरितमानसका अखण्ड अथवा नवाह्नपाठ, वाल्मीकीय रामायण, महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थों तथा गीता आदि का प्रवचन, श्रवण किंवा भगवन्नामसंकीर्तनकी मधुर मांगलिक ध्वनिसे घरका कोना-कोना गुंजायमान रहना चाहिये। श्रीउद्धव वृन्दावनधाममें प्रवेश करनेसे पूर्व ही जान गये थे कि मैं वृन्दावन पहुँच गया हूँ। कैसे भला? क्योंकि उनके कानोंमें दिशाओंका अमंगल दूर करनेवाले भगवन्नामसंकीर्तनकी मधुर ध्वनि

प्रवेश करने लगी थी। भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें अहर्निश विभोर रहनेवाली ब्रज-गोपांगनाएँ दही भी बिलो रही थीं और ऊँचे स्वरमें श्रीकृष्णनामका दिव्य-संकीर्तन भी कर रही थीं। श्रीवेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतमें इस सन्दर्भका अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है। यथा—

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥

यही कारण है कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा होते हुए भी गृहस्थोचित व्यवहारकी सिद्धिके लिये अपने गुरुवर्य श्रीवसिष्ठजीके मुखारविन्दसे वेदों और पुराणोंका पारायण प्रतिदिन श्रवण किया करते थे—जैसा कि श्रीरामचरितमानसकी इस चौपाईसे ज्ञात होता है—

बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥

वैसे भी जीवनचर्याके परमोपयोगी सूत्रोंको एक गृहस्थ व्यक्ति बिना सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायके जान भी कैसे सकता है? उदाहरणके लिये 'सन्तोष' को ही लें, जो गृहस्थद्वारा पालनीय व्यवहारोंमें मूर्धन्य स्थान रखता है। 'यथालाभ सन्तुष्ट' होते हुए न्यायोपार्जित धनके द्वारा ही अपने कुटुम्बके भरण-पोषणकी प्रेरणा प्रदान करनेमें अधोलिखित नीतिवचनोंका कितना बहुमूल्य योगदान हो सकता है, यह अनायास ही समझा जा सकता है—

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुल्लंघ्य सतां मार्गं यत् स्वल्पमपि तद् बहु॥

अर्थात् किसी दूसरेका दिल दुखाये बिना, दुष्ट पुरुषोंकी चौखटपर नाक रगड़े बिना और धर्मज्ञ सज्जनोंद्वारा अपनाये गये सन्मार्गका उल्लंघन किये बिना जीवनमें यदि कुछ थोड़ा भी मिलता है तो उसे 'बहुत' मानकर सन्तुष्ट रहना चाहिये।

और, सन्तोष! उसका तो क्या कहना? वह तो एक अनुभवसिद्ध, अचूक, दिव्य, रामबाण महौषधि है, जिसका सेवन करते ही अर्थोपार्जनके लिये रात-दिनकी हाय-हाय, तज्जन्य दिमागी अशान्ति, कुटुम्ब-कलह, पारस्परिक वैमनस्य, कुण्ठा, फ्रस्ट्रेशन-जैसे भयावह दुश्चिकित्स्य महारोग पलभरमें सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं।

इसी प्रकार घूसखोरी, जमाखोरी, भ्रष्टाचार-जैसे जघन्य राष्ट्रीय अपराधोंसे गृहस्थ व्यक्ति स्वयंको सर्वथा बचाये रख सकता है, यदि वह श्रीमद्भागवतके इस उद्बोधनको हृदयंगम कर लेता है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

अर्थात् मनुष्योंको अपने पास उतने ही अन्न-धन आदिको रखनेका अधिकार है, जितना उनके परिवारके भरण-पोषणके लिये आवश्यक हो। जो अपनी आवश्यकतासे अधिक इकट्ठा करनेकी चेष्टा करता है वह चोर है, उसे दण्ड दिया जाना चाहिये।

ऐसे ही गुरुशुश्रूषा, शिष्टाचार, नित्यकर्म, व्रतोपवास, तीर्थयात्रा, इन्द्रियसंयम, शास्त्रविरुद्ध कर्मोंका परित्याग, भगवदुपासना, सात्त्विक आहारप्रभृति अगणित उपयोगी कृत्य हैं, जिनका परिज्ञान पुराणादि सद्ग्रन्थोंके नियमित स्वाध्यायसे ही सम्भव है। अतएव समयानुकूल विविध शास्त्रोंका पारायण सद्गृहस्थकी जीवनचर्याका अपरिहार्य अंग होना चाहिये।

३. '**ऋणैस्त्रिभिर्भवति जायमानः**' इस शास्त्र-वचनानुसार प्रत्येक मानव देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीनों ऋणोंसहित जन्म लेता है और उन ऋणोंसे मुक्त होनेके बाद ही वह मोक्षप्राप्तिका अधिकारी हो पाता है—

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।'

इस शास्त्रीय व्यवस्थाके परिप्रेक्ष्यमें ऋषिप्रणीत दिव्य ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना एवं तदनुकूल अपना जीवन-व्यवहार बनाना ऋषि-ऋणसे मुक्त होनेका सुगम उपाय है, जिसे '**वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि**' कहकर गृहस्थकी जीवन-चर्यामें समाविष्ट कर दिया गया है।

अब शेष रहे देव-ऋण और पितृ-ऋण। इनसे मुक्त होनेके लिये देवयज्ञ तथा पितृयज्ञ अर्थात् श्राद्धादि कर्म किये जाने चाहिये। सो, एतदर्थ गृहस्थकी जीवनचर्यामें स्वाहाकार और स्वधाकारको विशिष्ट कृत्योंके रूपमें सम्मिलित किया गया है। देवताओंके निमित्त किये जानेवाले यज्ञोंमें 'स्वाहा' शब्दका तथा पितरोंकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले यज्ञोंमें 'स्वधा' शब्दका प्रयोग करनेकी शास्त्राज्ञा है, यह सर्वविदित ही है।

यह तो यथार्थ ही है कि विष्णुयज्ञ, महाविष्णुयज्ञ, रुद्रयज्ञ, महा-अतिरुद्रयज्ञ, लक्षचण्डी, चतुर्वेद-पारायण-प्रभृति बृहद् यज्ञोंके सम्पादनके लिये पुष्कल धनराशिकी अनिवार्य आवश्यकता रहती है, अतः प्रत्येक गृहस्थके लिये इन्हें कर पाना सम्भव नहीं है, तथापि श्रीमद्भागवतसप्ताह-कथा, नवरात्रोंमें कलशस्थापनपूर्वक दुर्गासप्तशतीका पाठ, प्रत्येक पूर्णिमाको सत्यनारायणव्रतकथा, श्रीरामचरितमानसका अखण्ड पारायण, रुद्राभिषेक, हनुमानचालीसाका सपरिवार सामूहिक पाठ, यदा-कदा विष्णुसहस्रनामसे सहस्रार्चन-जैसे अल्पव्यय-साध्य मांगलिक कृत्य तो सामान्य गृहस्थ भी सरलताके साथ सम्पन्न कर ही सकता है।

इतनेपर भी यदि अर्थसंकोच आदि कारणोंसे उक्त छोटे-मोटे अनुष्ठान कर पाना भी गृहस्थको भारी मालूम पड़ता हो तो पूज्य महर्षियोंने अत्यन्त सरलतम, परंतु **'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त'** ब्रह्माण्डके समस्त प्राणियोंको परितृप्त कर देनेकी उदात्त भावना जगा देनेवाला एक संक्षिप्त कृत्य **'बलिवैश्वदेव'** नामसे प्रत्येक गृहस्थके लिये बताया है, जो बिना किसी कठिनाईके प्रतिदिन सरलतासे किया जा सकता है।

बलिवैश्वदेवमें प्रत्याहार-प्रणालीसे प्रत्येक प्राणीवर्गके सर्वोत्तम और सामान्य प्राणियोंको चुनकर उनकी तृप्तिकी भावनासे पक्व भोजनके ग्रास निकालनेका विधान है। जैसे मनुष्योंमें सर्वोत्तम वेदपाठी ब्राह्मण और सामान्य श्वपाक हो सकता है, पशुओंमें सर्वोत्तम गाय और सामान्य कुत्ता, पक्षियोंमें गरुड़ और काक—इस प्रकार सब जीवोंको यथायोग्य भोजन-ग्रास दिये जाते हैं। यद्यपि यह सब प्रक्रिया भी विधिवत् मण्डल बनाकर तत्तत् स्थानोंपर अमुक-अमुक देवताओंके नामपर अमुक-अमुक संख्यामें ग्रास रखनेपर पूरी होती है तथापि मण्डल आदि बनाना यदि कठिन प्रतीत होता हो तो 'पंचग्रासी' विधिसे केवल पाँच ग्रास निकालकर भी उक्त शास्त्र-विधानका पालन किया जा सकता है।

परंतु ध्यान रहे 'बलिवैश्वदेव' ऊपर बताये गये बृहत् अथवा लघु देवयज्ञोंका विकल्प सर्वथा नहीं है। अर्थात् ऐसा नहीं है कि केवल बलिवैश्वदेव कर लेनेभरसे अन्य यज्ञोंके करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। 'प्रतिदिन' बलिवैश्वदेव करते हुए भी गृहस्थ व्यक्तिको अन्य देवयज्ञोंको भी करनेका यथासामर्थ्य प्रयास करना चाहिये।

पितर यदि प्रसन्न हैं तो समझो सभी देवता प्रसन्न हैं, शास्त्रोंका ऐसा ही सारगर्भित कथन है—

पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः।

और वंशवृद्धिके लिये तो पितरोंकी आराधना ही एकमात्र उपाय बताया गया है—**'तन्तून् तन्वन् पितॄन् यजेत्।'**

ऐसी स्थितिमें प्रत्येक गृहस्थको यथासमय अपने-अपने पितरोंका एकोद्दिष्ट एवं पार्वणश्राद्ध करते हुए पितृ-यज्ञका सम्पादन करना चाहिये, जिससे वह पितृ-ऋणसे मुक्त हो सके। तर्पण, पिण्डदान, हवन और ब्राह्मण-भोजन—श्राद्धके इन चारों अंगोंको पूर्ण श्रद्धाभावसे सम्पन्न करना चाहिये। क्रोध, त्वरा अर्थात् जल्दबाजी और किसी भी अंगमें अत्यधिक विस्तार—ये तीन कार्य श्राद्धके समय सर्वथा वर्जित हैं। इनसे बचनेके लिये कर्ताको सावधान रहना चाहिये। **'त्वराक्रोधविवर्जितः'** तथा **'श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम्'** इत्यादि शास्त्रवचनोंका यही अभिप्राय है। घरमें यदि विवाह, यज्ञोपवीत, नूतन गृह-प्रवेश, श्रीमद्भागवत सप्ताह-जैसा मांगलिक कार्य सम्पन्न होना हो तो उस समय भी पितरोंकी आराधनाके लिये शास्त्राज्ञा है। इसी प्रकार तीर्थयात्राके अवसरपर भी तीर्थ-श्राद्धकी संक्षिप्त विधिका यथासम्भव पालन करना चाहिये।

लेखके प्रारम्भमें यह संकेत किया गया है कि जिन घरोंमें उपर्युक्त धार्मिक कृत्य नहीं किये जाते हों, उन घरोंको घर नहीं; अपितु श्मशानके सदृश अपवित्र स्थान मानना चाहिये। इस प्रकरणमें ऋषियोंने 'श्मशान'-जैसे कठोर शब्दका प्रयोग किस अभिप्रायसे किया है—यह जान लेना भी नितान्त आवश्यक है। यह बात तो आबालवृद्ध सभी जानते हैं कि जिस स्थानपर मुर्दा जलाया जाता हो उसको श्मशान कहा जाता है, तो फिर जिन घरोंकी रसोईमें अण्डा, मुर्गा, मछली-जैसे अमेध्य और सर्वथा अखाद्य वस्तुएँ तली और भूनी जाती हों, भगवान्को भोग आदि लगानेकी परम्परा न हो, ***'देव पितर सब पेट भीतर'*** नियमपर चलते हुए बस, जैसे-तैसे अपना पेट पालनेवाले प्राणी जहाँ रहते हों; उस स्थानको श्मशानके अतिरिक्त और कहा भी क्या जा सकता है?

गृहस्थोचित शिष्टाचार

(आचार्य श्रीरामदत्तजी शास्त्री)

जगत्के कल्याण करनेवाले ब्रह्माजीने धर्मकी रक्षाके लिये चार आश्रमोंका उपदेश किया था, (१) ब्रह्मचर्याश्रम, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) संन्यासाश्रम। इनमें गृहस्थाश्रम द्वितीय आश्रम बतलाया गया है। प्रथम आश्रममें सदाचारका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर गुरुकुलमें रहनेकी अवधि पूरी कर ले और समावर्तन-संस्कारके पश्चात् स्नातक हो जाय, उस समय यदि उसे पत्नीके साथ रहकर धर्मका आचरण करने तथा पुत्रादिरूप फल पानेकी इच्छा हो तो उसके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेशका विधान है। इसमें धर्म, अर्थ, काम तीनोंकी प्राप्ति होती है।

'त्रयाणामाश्रमाणां तु गृहस्थो योनिरुच्यते।'

(दक्षस्मृति २।४८)

गृहस्थाश्रमको तीनों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास)-का बीज कहा गया है। गुरुकुलमें वास करनेवाले ब्रह्मचारी, वनमें रहकर संकल्पके अनुसार व्रत, नियम, धर्मोंका पालन करनेवाले वानप्रस्थी और सर्वस्व त्यागकर विचरनेवाले संन्यासीको भी गृहस्थ-आश्रमसे ही भिक्षा आदिकी प्राप्ति होती है। वेदोंका अभिमत है कि केवल गृहस्थाश्रममें ही अन्य तीनों आश्रमोंका समावेश है। अतः एकमात्र गार्हस्थ्यको ही धर्मका साधक जानना चाहिये।

प्रतिदिन यथाशक्ति वेदका स्वाध्याय, श्राद्ध, अतिथि-सेवा तथा देवताओंकी पूजा—यह गृहस्थका श्रेष्ठ धर्म है। धर्मसे रहित जो अर्थ एवं काम नामक पुरुषार्थ है, उसका परित्याग करना चाहिये। जो सभी प्रकारसे लोकविरुद्ध हो, उस धर्मका भी आचरण नहीं करना चाहिये। धर्मसे अर्थकी प्राप्ति होती है, धर्मसे ही कामकी सिद्धि होती है, धर्मसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, अतः धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये। धर्म, अर्थ और कामरूपी त्रिवर्ग क्रमशः सत्त्व, रज और तमरूपी त्रिगुणसे युक्त है, इसलिये धर्मका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। जिस गृहस्थमें धर्मसे समन्वित अर्थ एवं काम प्रतिष्ठित रहते हैं, वह इस लोकमें सुखोंको भोगकर मृत्युके उपरान्त सद्गति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। धर्मके द्वारा ही स्थावर-जंगमात्मक सारा विश्व धारण किया जाता है। कर्म एवं ज्ञान—दोनोंके द्वारा धर्मकी प्राप्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं, इसलिये धर्मज्ञानके साथ ही कर्मयोगका भी आचरण करना चाहिये। क्षमा, दम (इन्द्रिय-निग्रह), दया, दान, अलोभ, त्याग, आर्जव (मन-वाणी आदिकी सरलता), अनसूया, तीर्थानुसरण अर्थात् गुरु एवं शास्त्रका अनुगमन या तीर्थसेवन, सत्य सन्तोष, आस्तिकता (वेद-शास्त्रोंमें श्रद्धा), जितेन्द्रियत्व, देवताओंका अर्चन, विशेषरूपसे ब्राह्मणोंकी पूजा, अहिंसा, मधुर भाषण, अपिशुनता तथा पापसे राहित्य—मनुने चारों वर्णोंके लिये ये सामान्य धर्म कहे हैं। स्वधर्मका पालन करनेवाले क्रियानिष्ठ ब्राह्मण प्राजापत्यलोक तथा स्वधर्मरत संग्राममें पलायन न करनेवाले क्षत्रियके लिये इन्द्रलोक सुरक्षित है। स्वधर्मरत वैश्यको मारुत-स्थान (वायुलोक) और परिचर्यारूप स्वधर्मका पालन करनेवालोंके लिये गन्धर्वलोक सुनिश्चित है।

गृहस्थाश्रमी दो प्रकारके होते हैं—१. उदासीन और २. साधक—'**उदासीनः साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत्।**' जो कुटुम्बके भरण-पोषणमें लगा रहता है, उसका नाम साधक है। जो देव-ऋण, पितृ-ऋण एवं ऋषि-ऋणोंसे उऋण होकर स्त्री, धन आदिका परित्याग कर देता है तथा एकाकी विचरण करता है, वह मोक्षप्राप्तिकी इच्छावाला गृहस्थ उदासीन कहलाता है।

गृहस्थ-आश्रममें जिस प्रकार सदाचारका पालन होता है, वैसा दूसरे आश्रममें नहीं। अतः विद्याध्ययन पूर्ण करके अन्तमें गृहस्थ-आश्रमकी शरण लेनी चाहिये। गृहस्थाश्रममें आकर सर्वप्रथम अपने ही वर्णकी शुभलक्षणा स्त्रीके साथ विवाह करे। वह स्त्री अपने पिताके गोत्रकी न हो और माताकी सपिण्ड न हो। यदि स्त्री शुभलक्षणा हो तो गृहस्थ पुरुष सदा सुख भोगता है। शरीर, आवर्त, गन्ध, छाया (कान्ति), सत्त्व, स्वर, गति और वर्ण—विद्वानोंद्वारा स्त्रीके

लक्षणोंकी परीक्षाके लिये ये आठ प्रकारके आधार बताये गये हैं। उक्त लक्षणों एवं सामुद्रिक शास्त्रीय उत्तम लक्षणोंसे युक्त स्त्रीसे विवाह करना चाहिये।

पिता, पितामह, भ्राता, कुल का कोई भी पुरुष तथा माता—ये क्रमशः कन्यादानके अधिकारी हैं। इनमें पहले-पहलेके न रहनेपर दूसरे-दूसरे कन्यादान कर सकते हैं। स्त्रियोंके सत्कारका अवसर आनेपर तथा उत्सवोंमें उन्हें वस्त्र, आभूषण और उत्तम अन्न आदि देकर सदा
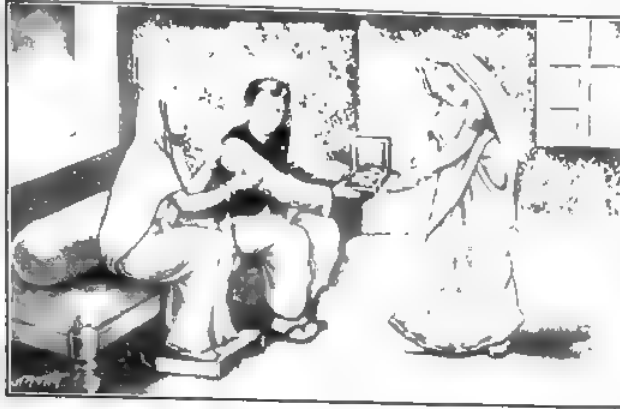
सम्मानित करना चाहिये। जहाँ भूषण, वस्त्र और अन्न आदिसे सम्मानित होकर स्त्रियाँ प्रसन्न रहती हैं, वहाँ सब देवता सुखपूर्वक निवास करते हैं—'**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**' तथा उस गृहमें किये हुए समस्त सत्कर्म सफल होते हैं। जिस घरमें पतिसे पत्नी और पत्नीसे पति सन्तुष्ट रहते हैं, वहाँ पग-पगपर कल्याणकी प्राप्ति होती है—

यत्र तुष्यति भर्त्रा स्त्री स्त्रिया भर्ता च तुष्यति।
तत्र वेश्मनि कल्याणं सम्पद्येत पदे पदे॥

(स्क०पु०का०पू० ४०।६०)

निषिद्ध कर्मोंके सेवनसे और विहित कर्मोंके त्यागसे कलि और काल छिद्र देखकर सद्‌गृहस्थको नष्ट कर देते हैं। आयु तथा स्वर्गकी इच्छा करनेवाले गृहस्थको माँसका त्याग करना चाहिये। जो अज्ञानी अपने शरीरकी पुष्टिके लिये दूसरे जीवोंकी हत्या करते हैं, उन दुराचारियोंको न तो इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। जो मांस खाता है, जो जीवोंको मारनेकी अनुमति देता है, जो मांस पकाता है, जो उसको खरीदता और बेचता है, जो अपने हाथसे मारता है, जो बाँटता-परोसता है तथा जो आज्ञा देकर जीवहिंसा कराता है—ये आठ प्रकारके मनुष्य हिंसक माने गये हैं। (स्क०पु०का०पू० ४०।२१-२२) जो सौ वर्षोंतक प्रत्येक वर्ष अश्वमेधयज्ञ करता है तथा जो मांसभक्षण नहीं करता है, इन दोनोंमें परस्पर तुलना की जाय तो माँसका त्याग करनेवाला ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

सुखकी इच्छा रखनेवाले गृहस्थको चाहिये कि वह जैसे अपने-आपको सुखी देखना चाहता है, उसी प्रकार दूसरेको भी देखे। अपने और दूसरेमें बराबर सुख और दुःख होते हैं। दूसरे किसी जीवको सुख या दुःख दिया जाता है, वह सब पीछे चलकर अपनेपर ही संघटित होता है। जो कर्म नहीं कर सकता, उसके द्वारा धर्मका अनुष्ठान कैसे सम्भव है और जो धर्महीन है, उसे सुख कहाँसे मिलेगा? सुखकी अभिलाषा सभी रखते हैं, परंतु सुख धर्मसे ही प्राप्त होता है। अतः चारों वर्णोंके मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये। न्यायोपार्जित द्रव्यसे पारलौकिक कर्म करना चाहिये और उसीसे उत्तम देश, काल और पात्रमें विधि एवं श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये। जो अपने धनसे माता-पितासे हीन बालकोंका यज्ञोपवीत और विवाह आदि संस्कार करवाता है, उसे अक्षय कल्याणकी प्राप्ति होती है।

गाय दुहनेमें बछड़ेका मुख पवित्र और फल गिरानेमें पक्षीकी चोंच पवित्र मानी गयी है। बकरे और घोड़ेका मुख पवित्र है। गौएँ पीठकी ओरसे पवित्र हैं, इसलिये उनका मूत्र, गोमय, दूध एवं दूधसे निर्मित पदार्थ—सभी पवित्र हैं। ब्राह्मणोंके चरण पवित्र हैं, अतः उनका स्पर्श करना चाहिये।

१. अहुत, २. हुत, ३. प्रहुत, ४. प्राशित तथा ५. ब्राह्महुत—ये पाँच यज्ञ शुभ बताये गये हैं। इनमें जपको अहुत यज्ञ कहते हैं। होम करनेको हुत यज्ञ कहते हैं। बलि वैश्वदेवको प्रहुत नामक यज्ञ कहते हैं। पितरोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध आदि करना प्राशित यज्ञ है और ब्राह्मणोंका सत्कार करके उनको भोजन कराना ब्राह्महुत यज्ञ कहलाता है। इन पाँचों यज्ञोंका करनेवाला सद्‌गृहस्थ

कभी दुःखी नहीं होता और इनके न करनेपर वह पाँच प्रकारकी हिंसाका भागी होता है। आचारादर्श आदिमें वर्णित पंचमहायज्ञ गृहस्थके कल्याणकी वृद्धि करनेवाले हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. ब्रह्मयज्ञ, २. पितृयज्ञ, ३. देवयज्ञ, ४. भूतयज्ञ और ५. मनुष्ययज्ञ। वेद और शास्त्रोंके पठन-पाठनका नाम ब्रह्मयज्ञ है। तर्पणको पितृयज्ञ कहते हैं। होम करनेको देवयज्ञ और बलिवैश्वदेवको भूतयज्ञ तथा अतिथि-सत्कारको मनुष्ययज्ञ कहते हैं।

जो अपनेद्वारा पोषण करनेयोग्य कुटुम्बीजन और सेवक आदि हैं, उनका पालन पोषण लौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंको देनेवाला है। १. माता, २. पिता, ३. गुरु, ४. पत्नी, ५. सन्तान, ६. शरणागत व्यक्ति, ७. अभ्यागत, ८. अतिथि और ९. अग्नि—ये नौ पोष्य वर्गके अन्तर्गत हैं, अतः इनका भरण-पोषण करना चाहिये। जो गृहस्थ इस जीवनमें अनेक व्यक्तियोंकी जीविका चलाता है, उसका जीवन सफल है। जो देवता, पितर आदिको उनका यथायोग्य भाग अर्पण करता है, दयावान्, सुशील, क्षमाशील और देवता एवं अतिथियोंका भक्त है, वह गृहस्थ धार्मिक माना गया है। अभ्यागतके आनेपर गृहस्थको सदा ये नौ बातें करनी चाहिये, जो अमृतके समान मंगलकारक हैं—१. सौम्य वचन, २. सौम्य दृष्टि, ३. सौम्य मन, ४. सौम्य मुख, ५. उठकर स्वागत करना, ६. 'आइये बैठिये' ऐसा कहना, ७. स्नेहपूर्वक वार्तालाप करना, ८. अतिथिके समीप बैठकर उसकी सेवा करना, ९. जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे पहुँचानेके लिये कुछ दूरतक जाना—ये नौ बातें गृहस्थकी उन्नति करनेवाली हैं। १. चुगली, २. परस्त्रीसेवन, ३. द्रोह, ४. क्रोध, ५. असत्यभाषण, ६. अप्रिय वचन बोलना, ७. द्वेष, ८. दम्भ (पाखण्ड), ९. माया (छल-कपट)—ये नौ दुर्गुण स्वर्गके मार्गके बाधक हैं। अतः इन दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये। अब नौ आवश्यक कर्म बतलाये जाते हैं, जो सद्-गृहस्थियोंको प्रतिदिन करनेयोग्य हैं—१. स्नान, २. सन्ध्या, ३. जप, ४. होम, ५. स्वाध्याय, ६. देवपूजा, ७. बलिवैश्वदेव, ८. अतिथि-सत्कार और ९. पितृ-तर्पण। गृहस्थके लिये नौ धर्मसाधन हैं—१. सत्य, २. शौच, ३. अहिंसा, ४. क्षमा, ५. दान, ६. दया, ७. दम (इन्द्रिय-निग्रह), ८. अस्तेय (चोरीसे दूर रहना), ९. प्रत्याहार (इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर अपने भीतर स्थापित करना)।

जिस गृहस्थकी जिह्वा, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, सेवक और आश्रित मनुष्य—ये सभी विनयशील हों, उसका सर्वत्र गौरव है। मदिरापान, दुष्टोंका संग, पतिसे अलग रहना, स्वच्छन्द घूमना, अधिक सोना, दूसरेके घरमें निवास करना—ये छः बातें स्त्रियोंको दूषित करनेवाली हैं—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगृहवासश्च नारीणां दूषणानि षट्॥

(स्क०पु०का०पू० ४०।८९)

देवताके धनको बाँटकर लेने, ब्राह्मणका धन अपहरण करने तथा ब्राह्मणका तिरस्कार करनेसे समूचे कुलका शीघ्र विनाश हो जाता है। जो वाणीसे प्रतिज्ञा करके क्रियाद्वारा पूर्ण नहीं किया जाता, वह धर्मयुक्त ऋण इहलोक तथा परलोकमें भी बढ़ता है। श्रेष्ठ द्विज स्नान करके जलद्वारा जो पितरोंका तर्पण करता है, उसीसे पितृयज्ञका सारा फल पा लेता है। अग्निशाला, गोशाला, देवता और ब्राह्मणके समीप तथा स्वाध्याय एवं जलपानके समय खड़ाऊँ (चप्पल-जूते) उतार देने चाहिये। गृहस्थको नीलमें रँगा वस्त्र कभी भी नहीं पहनना चाहिये। जो गृहस्थ नीलसे रँगा हुआ वस्त्र पहनता है, तो उसके स्नान, ध्यान, पूजन, तप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण एवं पंचमहायज्ञ—ये सभी व्यर्थ हो जाते हैं। बलिवैश्वदेव, होम, पूजा, जप तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कृत होनेसे द्विजका अन्न अमृत कहा गया है।

श्रेष्ठ मनुष्य छोटी-छोटी बातोंके लिये शपथ न ले। व्यर्थ शपथ करनेवाला मनुष्य इहलोक एवं परलोकमें भी नष्ट होता है। माता, पिता एवं गुरुमें सद्गृहस्थको देवभावना रखनी चाहिये। ये तीनों ही प्रत्यक्ष देवता हैं तथा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इनकी आज्ञाका पालन, सेवा-शुश्रूषा तथा पालन-पोषण यत्नपूर्वक करना चाहिये। जो सदा एकान्तमें रहनेवाला, देवताकी आराधनामें तत्पर,

सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी प्रीतिसे दूर रहनेवाला तथा स्वाध्याययोगमें मनको लगानेवाला और कभी किसी जीवकी हिंसा नहीं करता, ऐसे पुरुष निश्चय ही मोक्षके भागी हैं। जो गृहस्थ यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे, अध्ययनके द्वारा ऋषि-ऋणसे और तर्पण-श्राद्धादिद्वारा पितृ-ऋणसे उऋण हो गया है, जो न्यायसे धनका उपार्जन करता है, तत्त्वज्ञानमें स्थित है, अतिथियोंको प्यार करनेवाला है तथा श्राद्धकर्ता और सत्यवादी है, वह गृहस्थ होकर भी इस जगत्में मुक्त हो जाता है। गृहस्थ पुरुष दीनों, अन्धों, दरिद्रों एवं याचकोंको विशेष रूपसे अन्नदान करके गृह-कर्मोंका अनुष्ठान करता रहे, तो वह सद्गृहस्थ कल्याणका भागी होता है। इस प्रकार सदाचारका पालन करनेवाले सद्गृहस्थपर भगवान् सदाशिव प्रसन्न होते हैं एवं उसका कल्याण करते हैं।

जीवनका आनन्द है जीवनचर्या

(श्रीकृष्णचन्द्रजी टवाणी)

जीवनमें सफलताका एक महान् सूत्र है समयका प्रबन्धन करके प्रतिदिनकी लिखित दिनचर्या बनाकर यथासम्भव उसके अनुसार सभी कार्य सम्पन्न करना। धर्मानुकूल जीवन ही हमें आत्मिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत बल प्रदान करता है। संस्कार, संस्कृति, प्रकृति और प्रवृत्ति मनुष्यके जीवन-निर्माणमें मुख्य भूमिका निभाते हैं। जिनका जीवन संयमित, अनुशासित और नियमित है, उन्हें ही परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है। समयके प्रत्येक क्षणका सदुपयोग करके ही जीवनको सफल बनाया जा सकता है। क्षणभर भी प्रमाद (आलस्य) नहीं करना चाहिये; क्योंकि कब मृत्यु आ धमके।

एक दार्शनिकने ठीक ही कहा है 'समय वह धन है, जिसे अगर बरबाद करोगे तो समय ही एक दिन आपको बरबाद कर देगा।' जीवनका आनन्द लेना है तो जीवनचर्याको नियमित एवं योजनाबद्ध तरीकेसे जीकर ही ले सकते हैं और तभी समयका सदुपयोग सम्भव है। हम जितने समयतक जीयें धुआँ बनकर न जीयें, ज्योति बनकर, लपट बनकर जीयें। ज्योति आत्म-शुद्धिसे आती है और आत्म-शुद्धितक पहुँचनेका बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है सत्साहित्यका स्वाध्याय। सत्साहित्यके स्वाध्यायसे सद्विचार आते हैं और सद्विचारोंसे ही सद्बुद्धि आती है और फिर उसके अनुसार सत्कार्य होते हैं। अतः अपनी जीवनचर्यामें प्रतिदिन कमसे कम आधा घण्टा स्वाध्यायके लिये आरक्षित रखना चाहिये। जीवनमें अपने अज्ञानके कारण समस्याएँ आती हैं। धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे समस्याओंका निदान होता है, जिससे हमें अपने जीवन-दर्शनका पता चलता है, हमें आत्म-नियन्त्रण करना आता है, अपनी इच्छाओंपर संयम करना आता है; क्योंकि सुविधाभोगी कभी सुखी नहीं होता है। हमारा अज्ञान ही दुःख है। इस संसारमें सबसे ज्यादा सुखी व्यक्ति वह है जो सुखसे सोता है और सुखसे जागता है, जिसके जीवनमें नैतिकता है, ईमानदारी है, प्रामाणिकता है, वही धार्मिक व्यक्ति है। अपने-आपको जानना, अपने-आपको देखना और अपने-आपको समझना ही हमारी जीवनचर्याकी सच्चाई है, जीवनका आनन्द है। धर्मका पालन करनेवाला जीवित रहकर तो गुणोंका अर्जन करता है और मरनेके बाद सद्गतिको प्राप्त होता है। अपनी जीवनचर्याको इस तरह व्यवस्थित रखें कि वर्तमानमें ही जीना सीखें अर्थात् हमारा आज अच्छा है तो कल भी अच्छा होगा। दुःख कहींसे नहीं आता है, उसे व्यक्ति स्वयं पैदा करता है। अहिंसाका जीवन सीखें। अहिंसा जीवनकी ऊर्जा है, जीवनका आनन्द है। अपनी दिनचर्यामें स्वार्थसे हटकर परमार्थकी ओर ध्यान देनेका दृष्टिकोण रहना चाहिये।

समय सीमित है, परंतु जिम्मेदारियाँ असीम हैं। अतः हमें सदा यह विचार करते रहना चाहिये कि हमारी गृहस्थीका प्रबन्ध ठीक है या नहीं, बच्चोंकी शिक्षा ठीक हो रही है या नहीं, कुछ सत्कार्य किये हैं या नहीं। सज्जनतासे व्यवहार करनेवाला तथा पूर्ण मनोयोगसे तत्परता-पूर्वक काम करनेवाला अवश्य अपने जीवनमें सफल होता

है। न तो हमें बहुत आशावादी बनकर अपने-आपको धोखेमें डालना चाहिये और न ही किसी कारणवश हताश होकर घबराना चाहिये। अपने गुणोंके अनुसार लाभ उठाना चाहिये। अच्छा स्वास्थ्य और अच्छा व्यवहार—यही हमारे जीवनका ध्येय होना चाहिये। चिन्ता नहीं चिन्तन होना चाहिये, व्यथा नहीं व्यवस्था करनी चाहिये। समयपर सात्त्विक भोजन और शुद्ध जलका उपयोग करना चाहिये। हमारी जीवनचर्याकी सच्ची सम्पत्ति नेक काम ही है। सामर्थ्यसे अधिक शारीरिक श्रम नहीं करना चाहिये। किसीका तिरस्कार करना मानवताका अपमान है। आप जो कुछ हैं, वही रहें, सहज रहें, आडम्बर-दिखावा किसी दिन आपको संकटमें डाल सकता है। अत: अपनी आयसे अधिक खर्च न करें।

ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार हमारी उन्नतिमें बाधक हैं। जीवनमें जितनी सरलता होगी, उतना ही लोगोंसे प्रेम-व्यवहार ज्यादा रहेगा। जीवनका प्रत्येक क्षण अमूल्य है, इसके एक-एक पलका उपयोगकर विकासके शिखरपर पहुँचना चाहिये। प्रात:काल उठते ही सर्वप्रथम प्रभु-स्मरण करना चाहिये। घरमें अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करनेकी आदत डालकर आशीर्वाद ग्रहण करना चाहिये। अपने कर्तव्योंका पालन करते हुए अपने दैनिक कार्योंका शुभारम्भ करना चाहिये। अपने व्यक्तित्वको गौरवशाली बनाना चाहिये। समयकी एवं वचनकी पाबन्दी एक ऐसा चारित्रिक गुण है, जो हर समय और हर अवस्थामें अनुकरणीय है। जिस प्रकार भी हो सके कुछ हानि सहकर भी अपने वचन एवं समयकी पूर्ति करना हमारा दायित्व है।

हमें जीवनको हँसते-मुसकराते हुए जीना है। एक अंग्रेजीकी कहावत है 'हँसोगे तो सम्पूर्ण संसार आपके साथ हँसेगा, किन्तु यदि रोओगे तो आपके साथ रोनेवाला कोई नहीं मिलेगा।' हँसना जीवनका आनन्द है। बड़े बुजुर्गोंका आदर रखते हुए हँसते-हँसाते रहिये। हमारी जीवनचर्यामें तीन गुण अवश्य रहें—(१) क्षमा करना, (२) सहन करना और (३) सेवा करना।

जीवनमें वास्तवमें आवश्यकताएँ तो बहुत कम होती हैं, अपेक्षाएँ ही अधिक होती हैं। व्यसनके जैसा कोई पाप नहीं। व्यसनको छोड़े बिना ईश्वर-भक्ति हो ही नहीं सकती। रोज दूसरोंमें अगर हम गुण देखते हैं तो यह हमारी सज्जनता एवं उदारता है। किसी भी सुख-भोगके परिणामको देखना ही मानवता है। किसीको ऐसी बात कभी नहीं कहनी चाहिये, जिससे उसका जी दु:खे। सकारात्मक सोच ही जीवन है, नकारात्मक सोच मृत्युके समान है। जो स्नेहसे बँधा हो, वही बन्धु है, जो विपत्तिमें साथ दे, वही मित्र है।

शरीरका किसी भी क्षण नाश हो सकता है—इस बातका ख्याल रखते हुए प्रतिक्षणका उपयोग करते हुए वर्तमानको अपना बना लेना ही महान् कौशलवाली जीवनचर्या है, जीवन-शैली है।

प्रतिदिन प्रात:काल या सायंकाल एकान्त स्थानमें शान्तचित्त होकर नेत्र मूँदकर यदि आप कुछ क्षण शुभ संकल्प, शुभ विचार और शुभ भावनामें विचरण करें तो आपके भीतर ज्ञानका द्वार खुलेगा और आपको महसूस होगा कि आपके मनमें उत्तम संस्कारोंकी उत्पत्ति हो रही है, आप शिवसंकल्पद्वारा उत्तरोत्तर अध्यात्म चेतनाकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। यदि आप अपना प्रत्येक कार्य ईमानदारी एवं कर्तव्यपरायणताके साथ करेंगे तो आपके हृदयसे पश्चात्ताप, लोभ, निराशा, प्रलोभनकी भावनाएँ, चिन्ताएँ आदि दूर हो जायँगी और आप आध्यात्मिक उच्च शिखरपर आरूढ़ होकर दिव्य आनन्द, प्रेम, शान्ति और निर्भयताका अनुभव करेंगे।

अपनी जीवनचर्यामें निम्न बातोंका समावेशकर अपने जीवनको आनन्दमय बनायें—

१. प्रतिदिन सूर्योदयसे पहले उठकर माता-पिता एवं पूज्य जनोंको प्रणाम करें, उनका आशीर्वाद प्राप्त करें।

२. नियमित व्यायाम या प्रात:कालीन-भ्रमण करें एवं सदैव स्नान करें।

३. ईश्वरमें विश्वास रखें। अपने धर्मका पूर्ण पालन करें। प्रतिदिन नियत समयपर शान्त चित्तसे सन्ध्या, प्रार्थना, उपासना, ध्यान आदि करें।

४. प्रत्येक क्षणको अमूल्य समझकर समयका पूरा सदुपयोग करें।

५. आहार एवं आचरणसे सात्त्विक रहें, आमिष-

भोजन एवं नशीले पदार्थोंका सदा त्याग करें।
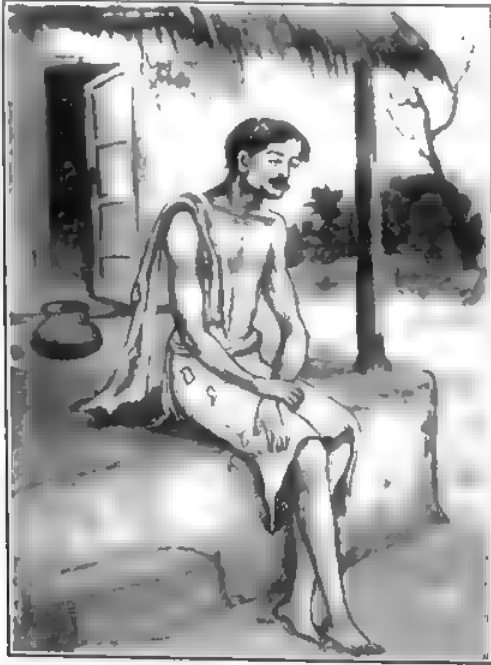
६. आलस्य एवं कर्तव्यहीनता ही दरिद्रता है और दुःखका कारण है। अपना कार्य पूर्ण ईमानदारीसे करें।

७. प्रतिमाह अपने आय-व्ययका बजट बनायें। आयसे अधिक खर्च नहीं करें।

८. पुरुषार्थसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है, हकसे कमायें और हकका खायें। पापकी कमाई शीघ्र नष्ट होती है।

९. झूठी प्रतिष्ठा, शान-शौकत, विलासितामें व्यर्थ धन खर्च नहीं करें।

१०. भगवान्‌की शरण ग्रहण करें, सद्ग्रन्थोंका प्रतिदिन स्वाध्याय करें, अश्लील साहित्य न पढ़ें एवं फिल्म आदि न देखें।

११. मनुष्य अपने भाग्यका स्वयं निर्माता है, अपने मनमें कभी हीनभावना न आने दें।

१२. सन्तोषी और अपरिग्रही बनें, किसी भी वस्तु या व्यक्तिमें अति आसक्त न हों।

१३. चरित्र ही सच्चा आभूषण है। अपने बच्चोंको प्रतिदिन चरित्र-निर्माण एवं सत्-संस्कारोंकी शिक्षा दें।

जीवन-कलाके ग्राह्य सूत्र

(डॉ० श्रीयमुनाप्रसादजी, अवकाशप्राप्त आचार्य एवं विभागाध्यक्ष)

मानव-जीवन ईश्वरकी उत्कृष्ट रचना है। यह मनुष्यके लिये अनुपम तथा अनोखा उपहार है। तुलसीदासजी कहते हैं—*'बड़ें भाग मानुष तनु पावा'* तथा *'नर तन सम नहिं कवनिउ देही'*। अतः प्रत्येक मनुष्यका यह परम कर्तव्य है कि वह प्रभुकृपासे प्राप्त इस भेंटको सँभाल तथा सहेजकर रखे।

जीवनको सार्थक तथा परिष्कृत ढंगसे जीनेके लिये संक्षेपमें कुछ सूत्र यहाँ दिये जाते हैं—

१-कर्तव्यपर ध्यान केन्द्रित करें—व्यक्तिका कर्तव्य ही उसकी पूजा है। यथार्थ जीवन जीनेकी कलाके ज्ञानके लिये गीतासे बढ़कर शायद ही कोई ग्रन्थ है। गीताके अनुसार जीवन एक कर्मयोग है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३।५)

कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।

मनुस्मृतिका कहना है कि अपना नियत कर्म किये बिना जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता है—**'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः'** (४।१४)। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

(गीता ३।८)

तू शास्त्रविहित कर्तव्य कर, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

कर्म ही स्वधर्म है और **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'**। व्यक्ति अगर अपने कर्मको धर्म तथा पूजा मानकर नैतिक भावना तथा ईमानदारीसे करे, तो उसका जीवन आनन्दमय हो जायगा।

२-वर्तमानमें जीना सीखें—भूत मृत है, वह कभी

लौटकर नहीं आयेगा। भविष्य चाहे कितना भी सुनहरा तथा स्वप्नभरा हो, अनिश्चित तथा अजन्मा है। बीते समयके पश्चात्ताप तथा भविष्यके ख्वाबमें व्यक्ति अपना बहुमूल्य वर्तमान नष्ट कर देता है। वर्तमान जीवन्त है तथा ऊर्जा एवं सम्भावनाओंसे भरा है। संसारमें जो भी व्यक्ति महान् बने हैं, उन्होंने वर्तमानमें ही जीना सीखा था। वर्तमान व्यक्तिकी मुट्ठीमें है, वह चाहे तो उसका सदुपयोगकर जीवनकी ऊँचाईको छू ले या अपनी बरबादीका मूक दर्शक बना रहे। वर्तमानको स्वीकारकर ही हम श्रेष्ठताको प्राप्त कर सकते हैं। अतः आवश्यकता है, वर्तमान जीवनके हरेक पलको, प्रत्येक क्षणको सहेजने, सँवारने और गढ़नेकी।

३-सहज तथा स्वाभाविक जीवन जीयें—जब व्यक्ति कई चेहरोंके साथ जीता है, जो नहीं है वह बननेका नाटक करता है, तो उसकी अपनी पहचान खो जाती है। अहंकार, मिथ्या आडम्बर, पाखण्डपूर्ण व्यवहार तथा 'मेरी कलाबाजी कोई नहीं समझता' की प्रवृत्तिके तप्त बालूमें उसकी सहजता, सरलता, सरसता तथा संवेदनशीलता पानीकी बूँदकी तरह खो जाती है। स्वाभाविक जीवन जीनेके लिये व्यक्तिको पद, प्रतिष्ठा, धन-दौलत, कुल-खानदान, जाति, विशिष्टता आदि मुखौटोंको फेंककर सहज होकर सीधे मनुष्यकी तरह जीना चाहिये। जैसी सहजता, संवदेनशीलता तथा समझदारी हम अपने प्रति दूसरोंसे अपेक्षा करते हैं, वैसा ही हमें दूसरोंके प्रति दिखानी चाहिये। जिस दृष्टिकोण तथा ढंगसे जीनेमें तनाव होता हो या दूसरोंका नुकसान होता हो, उसे बिलकुल बदल देना चाहिये। यही आध्यात्मिक विज्ञान तथा वैज्ञानिक अध्यात्म है। समयानुकूल लेकिन नैतिक मूल्योंको बरकरार रख, दो कदम आगे तथा एक कदम पीछेका सिद्धान्त सभीके लिये ग्राह्य होना चाहिये।

४-संयमित जीवन जीयें—सम्यक्, सन्तुलित तथा संयमित जीवन जीनेके लिये अपनी बलवती इच्छा, बहकाती इन्द्रियाँ तथा कुदानेवाली महत्त्वाकांक्षापर लगाम लगाना होगा। 'उसके पास है मेरे पास नहीं है।' 'मेरे पास है लेकिन कम है' की प्रवृत्तिसे छुटकारा पाना होगा। प्रतिस्पर्धाके युगमें अपनी सीमाको पहचानकर उस घुड़दौड़में शामिल होना चाहिये। भौतिक चीजोंसे ज्यादा लगाव होनेसे उन्हें पानेकी इच्छा तीव्र हो जाती है और उसे प्राप्त करनेके लिये व्यक्ति नैतिक तथा अनैतिक विचार भूल जाता है।

हम जीवनकी ऊँचाइयोंको सम्यक् विचार, सम्यक् व्यवहार, परिष्कृत तथा सकारात्मक सोच एवं दृष्टिकोणसे ही छू सकते हैं।

५-एकान्तमें रहना सीखें—भीड़में व्यक्ति बहिर्मुखी होता है। दूसरोंकी गलतियोंको ज्यादा देखता है। एकान्तमें व्यक्ति अन्तर्मुखी होता है। आत्मनिरीक्षण, आत्मविश्लेषण तथा आत्ममूल्यांकन करता है। एकान्तमें व्यक्ति अपने अन्दर यात्रा करता है। यह एकान्त व्यक्तिका सही आइना है। शान्ति व्यक्तिके अन्दरसे आती है। शान्तिके लिये व्यक्तिको शरीर-भावमें नहीं, आत्मभावमें जीनेकी कला सीखनी होगी। भगवान् श्रीकृष्णका कहना है कि अपने अन्दरके तहमें जाने तथा जीनेसे व्यक्तिका जीवन सम्यक् होता है, **'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'** की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिये। एकान्त ही सच्ची शान्तिकी गंगा है, जिसमें डुबकी लगाकर हम तनावोंसे मुक्त हो सकते हैं। **'अशान्तस्य कुतः सुखम्।'** एकान्तमें व्यक्तिके साथ केवल उसका स्व होता है, उसकी पहचान रहती है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि सही शान्तिकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिको कामना, स्पृहा, ममता, अहंकार तथा सारी लौकिक विशिष्टताओंसे मुक्त होना पड़ता है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

६-अच्छी पुस्तकोंका अध्ययन तथा अच्छे लोगोंकी संगति करें—डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌का कहना है कि इस जहररूपी संसार-वृक्षमें दो ही फल मीठे हैं—अच्छी किताबोंका अध्ययन तथा अच्छे लोगोंकी संगति। इसलिये हमें पढ़नेकी आदत डालनी चाहिये।

पढ़ना उसीको कहते हैं, जिससे हम सोचनेके लिये प्रेरित हों। मनुस्मृतिमें लिखा है कि हमें बुद्धि बढ़ानेवाली तथा उच्च शिक्षा देनेवाली पुस्तकोंका अध्ययन करना चाहिये—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥

(मनुस्मृति ४।१९)

हमें महान् पुरुषोंकी जीवन-कथा अवश्य पढ़नी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३।२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाणित कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है। अच्छी किताबोंके अध्ययन तथा महान् व्यक्तियोंकी संगतिसे वैज्ञानिक अध्यात्म तथा आध्यात्मिक विज्ञानका विकास होता है।

७-जीवन सामंजस्य है—सामंजस्य भी एक कला है। इसमें भावनासे ज्यादा विवेककी आवश्यकता होती है। अगर व्यक्ति केवल अपनी सुविधा, अपनी भावना तथा अपने अहंपर केन्द्रित रहे, तो उसे परेशानी होगी। सूझ-बूझ, सहानुभूति, सहनशीलता, संवेदनशीलता, भूलना तथा क्षमाकी प्रवृत्ति तथा सकारात्मक एवं परिष्कृत सोच विकसितकर ही हम सामंजस्य-कलाका व्याकरण सीख सकते हैं। कबीरकी उक्ति *'ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर'* हमारी जीवन-यात्रामें प्रकाशस्तम्भ साबित होगी। याद रखें —'**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः**' (गीता ६।५) मनुष्य अपना मित्र एवं अपना शत्रु स्वयं ही है।

जीवनचर्याके करणीय और अकरणीय कर्म

(डॉ० श्रीचन्द्रपालजी शर्मा, एम०ए०, पी-एच०डी०)

मूल अंकोंमें नौ जहाँ सबसे बड़ा है, वहाँ सबसे अधिक शुभ भी है। यह मूल अंकोंका बड़ा भाई है। शुभ संख्याके लिये सात या नौ ही मान्य हैं। नौ संस्कृतके 'नव' शब्दसे बना है, जिसका अर्थ नवीन या नूतन अथवा नया है। अंकोंकी गणनामें नौ जहाँ भी अन्तमें होगा, उसके बाद नवीनता ही मिलेगी। यह परिवर्तनकी सूचना लेकर आता है। धर्मप्रधान भारतमें करणीय-अकरणीय, सफल-असफल, गोपनीय-प्रकाश्य, आवश्यक अथवा निन्दित आदि धार्मिक बातोंमें नौका विशेष महत्त्व है।

शरीरकी नौ अवस्थाएँ—धर्मका आधार शरीर है—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**' सभी प्रकारके धार्मिक कार्य शरीरके द्वारा ही होते हैं। शरीरकी भी नौ अवस्थाएँ हैं—(१) गर्भाधान, (२) गर्भवृद्धि, (३) जन्म, (४) बाल्यावस्था, (५) कुमारावस्था, (६) यौवन, (७) प्रौढ़ावस्था, (८) वृद्धावस्था एवं (९) मृत्यु। इन नौ अवस्थाओंमें-से पहली दो गर्भाधान एवं गर्भवृद्धि माताके उदरमें होती हैं। जन्मके साथ ही मनुष्यका सम्बन्ध पृथ्वीसे जुड़ता है। दस-बारह वर्षकी आयुतक बाल्यावस्था रहती है। इसके बाद पन्द्रह-सोलह सालकी उम्रतक किशोरावस्था या कुमारावस्था रहती है। इसके बाद यौवनका प्रवेश दिखायी देने लगता है, जो प्रायः पैंतीससे चालीस वर्षतक चलता है। इसके बाद लगभग पचपन-साठतक प्रौढ़ावस्था रहती है। वृद्धावस्था आनेके बाद मृत्युपर्यन्त बनी रहती है। अन्य अवस्थाओंमें परिवर्तन आता है, परंतु वृद्धत्व अपरिवर्तनीय है। मृत्यु शरीरयात्राका अन्तिम अथवा नौवाँ पड़ाव है।

सामान्य धर्मके नौ भेद—महाभारतमें पितामह भीष्मने व्यक्तिके पालनके लिये सामान्य धर्मके नौ भेद बताये हैं—

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।

अर्थात् (१) किसीपर क्रोध न करना, (२) सत्य बोलना, (३) धनको बाँटकर भोगना, (४) समभाव रखना, (५) अपनी ही पत्नीसे सन्तान पैदा करना, (६) बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, (७) किसीसे द्रोह न करना, (८) सरल स्वभाव रखना एवं (९) भरण-पोषणयोग्य व्यक्तियोंका पालन करना—ये सभी मानवजातिके लिये पालनयोग्य सामान्य धर्म हैं। किसी भी पूजा-पद्धति अथवा धर्मग्रन्थमें विश्वास रखनेवाले व्यक्तिको इन नौ सामान्य धर्म-लक्षणोंको मानना मानव-कल्याणके लिये आवश्यक है।

नौ आवश्यक कर्म—सामान्य धार्मिक जनोंके लिये नौ ऐसे आवश्यक कर्म हैं, जो प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन करने अपेक्षित हैं। इनको नौ करणीय कर्म कह सकते हैं—(१) संध्या—प्रातः-सायं ईशवन्दना, (२) स्नान—शारीरिक पवित्रता एवं स्वच्छताके लिये स्नान आवश्यक है, (३) जप—किसी मन्त्रविशेष या पवित्र वचनोंका स्नानके बाद जप, (४) होम—देव-ऋणसे मुक्ति एवं पर्यावरणकी शुद्धताके लिये हवन अथवा यज्ञ करना, (५) स्वाध्याय—ऋषि-ऋणसे मुक्ति या ज्ञानार्जनके लिये धर्मग्रन्थोंका अध्ययन, (६) देवपूजन—अपने आराध्यदेवकी पूजा, (७) बलिवैश्वदेव—एक ऐसा यज्ञ जिसमें खाद्य पदार्थ (भात-रोटी आदि)-के कुछ भाग करके संक्षिप्त हवन तथा सबके निमित्त ग्रास पृथ्वीपर उनके प्राप्तकर्ताओंके निमित्त रखते हैं। इसके साथ ही पंचबलि निकाली जाती है, जिसमें गौ, श्वान, काक, देवादि एवं पिपीलिकाके निमित्त अन्न निकाला जाता है। बलिवैश्वदेव यज्ञका भाग निकालते समय यदि कोई अतिथि आ जाय तो पहले उसे भोजन देना चाहिये। आशय यह है कि भोजनका सर्वप्रथम हकदार व्यक्ति है। यदि अभावग्रस्त व्यक्ति सम्मुख नहीं है तो अन्यको मिलना चाहिये, (८) अतिथि सेवा—'**अतिथिदेवो भव**' की उक्ति इसी आवश्यक कर्मकी पुष्टि करती है, (९) पोष्यवर्गका भरण—माता-पिता, गुरु, दीन, अनाथ, सेवक आदिको भोजन आदिसे सन्तुष्ट करना चाहिये।

अतिथिके घर आनेपर भी नौ करणीय कर्म करने चाहिये—(१) अतिथिको बैठनेके लिये स्थान देना, (२) पीनेके लिये जल देना, (३) बैठनेके लिये आसन देना, (४) पैर धोनेके लिये जल देना या स्वयं पैर धोना—यदि अतिथि पूज्यवर्गका है तो गृहस्थ स्वयं पैर धोते हैं और अतिथि यदि अपनेसे छोटा या कम महत्त्वपूर्ण है, तो उसे पैर धोनेके लिये जल देना चाहिये, (५) अभ्यंग देना—तेल या उबटन देना, जिससे अतिथि अपने शरीरपर मालिस कर ले, (६) आश्रय—अतिथिको आवासीय सुविधा प्रदान करना, (७) शय्या—रात्रिको सोनेकी व्यवस्था करना, (८) यथाशक्ति भोजन—अपनी स्थितिके अनुसार सुरुचिपूर्ण भोजन, (९) मिट्टी, जल तथा अन्न—प्रक्षालन एवं शुद्धताके लिये मिट्टी एवं जल तथा मार्गके लिये अन्न।

नौ अकरणीय कर्म—इनको विकर्म या निन्दित कर्म भी कहते हैं—(१) असत्य भाषण—वाणीकी शुद्धिके लिये सदैव सत्य वचन ही बोलने चाहिये, (२) परदारसेवन—यह करणीय कर्मोंके एकदम विपरीत है। अतः निन्दित कर्म है, (३) अभक्ष्य-भक्षण—विधाताने मनुष्यको शाकाहारी लक्षण दिये हैं। अतः माँसादिका खाना अभक्ष्यभक्षण है, (४) अगम्यागमन—शास्त्र एवं समाजद्वारा वर्जित व्यक्तियोंसे यौन-सम्बन्ध जोड़ना विकर्म है, (५) अपेयपान—शराब आदि पेयोंका पान निन्दित कर्म है, (६) हिंसा—मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा बुरी बात है, (७) चोरी—यह महापातक है, (८) वेदबाह्य कर्मोंका आचरण—वेद या शास्त्रविरुद्ध कर्म वर्जित कोटिमें होते हैं तथा (९) मैत्री-धर्मका निर्वाह न करना—मित्र अपना ही स्वरूप होता है। दो मित्रोंमें एक-दूसरेपर परम विश्वास रहता है। अतः यदि संकटके समय मित्रका साथ नहीं दिया तो व्यक्ति निन्दितकर्मा माना जाता है। एक उक्ति देखें—

गुरु से कपट मित्र से चोरी। या हो निर्धन या हो कोढ़ी॥

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥

करणीय नौ मंगल बातें—अतिथिके घर आनेपर नौ करणीय कर्मोंकी चर्चा हम कर चुके हैं, किंतु भारतीय परम्परामें अतिथिको देवता माना गया है। अतः अतिथिके

घर आनेपर गृहस्थको नौ मंगलकारक करणीय बातोंका ध्यान रखना अपेक्षित होता है—(१) सौम्य मन, (२) सौम्य दृष्टि, (३) सौम्य मुख, (४) सौम्य वचन, (५) उठकर स्वागत, (६) कुशल पूछना, (७) प्रेमपूर्ण वार्तालाप, (८) सेवा तथा (९) जानेपर कुछ दूरतक साथ जाना अर्थात् सौम्य मन, सौम्य दृष्टि एवं सौम्यमुखसे सौम्य वचन कहते हुए उठकर अतिथिका स्वागत करे तथा उसके बाद कुशलक्षेम पूछकर स्नेहपूर्वक वार्तालाप करे। समीप बैठा हुआ अतिथि जब जाने लगे तो कुछ दूरतक अतिथिके पीछे-पीछे जाय।

नौ अविश्वसनीय—इन नौ-का विश्वास नहीं करना चाहिये—

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके॥

(१) स्त्री, (२) लम्पट, (३) आलसी, (४) डरपोक, (५) क्रोधी, (६) पुरुषत्वके अभिमानी, (७) चोर, (८) कृतघ्न और (९) नास्तिकका विश्वास करना अच्छा नहीं है। नारीके पेटमें गोपनीय बात छिप नहीं पाती। अतः विश्वास करके धोखा खाना पड़ेगा। लम्पट या धूर्त तो सदैव उलटा-सीधा ही बकते हैं। आलसीका क्या भरोसा, वह विश्वास देनेके बाद भी आलस्यमें डूबा रहे, डरपोकका क्या भरोसा, कब भाग खड़ा हो, क्रोधी कब काम बिगाड़ दे, पुरुषत्वके अभिमानी वास्तविकताको नहीं पहचान सकते, चोर तो स्वयं निकृष्ट जीव है, कृतघ्न तो अपने उपकारीका भी नहीं होता, वह अन्यकी क्या सहायता करेगा और नास्तिकका विश्वास करनेका अर्थ है—ईश्वरपर विश्वास न करना।

नवकुमारी, नवदुर्गा या नवशक्ति—भारतीय परम्परामें जब-जब पुरुषने अपनेको असहाय, निराश या हताश पाया है, तब-तब वह नारीकी शरणमें गया है। भले ही अपने अहंके कारण उसे अबला कहता रहा हो। अपनी असहाय अवस्थामें पुरुषने जिन देवियोंकी शरण ली है, उनको नवकुमारी, नवदुर्गा या नवशक्तिके नामसे जाना जाता है। इनकी पूजा-आराधनाके लिये वर्षमें चार बार नौ-नौ दिनका समय नवरात्रके रूपमें निश्चित किया गया है। जिनमें दो नवरात्र विशेष प्रचलनमें हैं—विक्रम संवत्का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे होता है। अतः वर्षके प्रारम्भके नौ दिन और ठीक छह मास बाद आश्विन मासके शुक्लपक्षके नौ दिन नवदुर्गाओंके व्रत, पूजन, अर्चनके निमित्त हैं। नवकुमारियोंमें कुमारिका, त्रिमूर्ति कल्याणी, रोहिणी, काली, चण्डिका, शाम्भवी, दुर्गा और सुभद्रा नामकी नौ देवियाँ हैं। (शाक्तप्रमोद, कुमारीतन्त्र)

चैत्र एवं आश्विनके नवरात्रमें नौ दुर्गाओंकी पूजा की जाती है, उनके नाम शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायिनी, कालरात्रि, महागौरी एवं सिद्धिदात्री हैं। पुराणोंमें इन देवियोंको प्रभा, माया जया, सूक्ष्मा, विशुद्धा, नन्दिनी, सुप्रभा, विजया और सर्वसिद्धिदा नामसे नौ शक्तियोंके रूपमें वर्णित किया गया है। देवी मूलतः भगवान् शिवकी शक्ति हैं, जिनका कोमल एवं भयंकर दो रूपोंमें वर्णन है। कोमल रूपमें कुमारिका, महागौरी, सिद्धिदा, जगन्माता, भवानी, पार्वती आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं और उग्र रूपमें काली, दुर्गा, चण्डी या चण्डिका, भैरवी आदि नाम प्रचलित हैं। वस्तुतः नवदेवी या नवदुर्गा शिव-पत्नीके ही विविध रूप हैं। कुछ नाम उनके कार्योंके आधारपर पड़े हैं और कुछ नाम उनको अपने पतिके परिवेशकी विभिन्नताके कारण मिले हैं।

वे हिमालयकी पुत्री हैं, अतः शैलपुत्री हैं। भगवान् शिवको तपस्या एवं ब्रह्मचर्यके बलपर प्राप्त करनेके कारण ब्रह्मचारिणी हैं। कण्ठमें चन्द्रमा स्थित होनेके कारण चन्द्रघण्टा हैं तथा त्रिविध तापयुक्त संसारको अपने उदरमें धारण करनेके कारण कूष्माण्डा हैं। स्कन्दकी माता होनेके कारण स्कन्दमाता हैं और जो कालके लिये भी कालके समान हैं, वे कालरात्रि हैं। देवताओंके कार्योंको भी सिद्ध करनेके कारण कात्यायिनी हैं और तपस्या एवं कान्तियुक्त गौरवर्णके कारण महागौरी हैं। सिद्धि एवं मोक्षको देनेवाली होनेके कारण सिद्धिदात्री हैं। वस्तुतः भगवान्की शक्ति ही उनकी पत्नीरूपमें

विविधसंख्यक बन गयी है।

नवधा भक्ति—परलोक-सुधार, ब्रह्मसामीप्य अथवा आवागमनसे छुटकारा पानेके लिये मनुष्य विविध प्रकारके साधना-पथ अपनाते हैं, किंतु उनमें भक्ति-भावनाका पथ अपनी सरलताके कारण अधिक आकृष्ट करता है। यह भक्ति भी नवधा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान्‌के नाम गुणोंका श्रवण, धर्मग्रन्थोंका पढ़ना एवं सुनना ही श्रवणभक्ति है। ईश्वरके नामों, लीलाओं एवं गुणोंका कीर्तन दूसरी भक्ति है। ईश्वरके नाम, गुण एवं लीलाओंका स्मरण तृतीय और उनके चरणोंका ध्यान, चिन्तन, पूजनादि चौथे प्रकारकी पादसेवनकी भक्ति है। अर्चनमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका विधि-विधानसे श्रद्धापूर्वक पूजन किया जाता है। जीवमात्रको भगवान्‌का स्वरूप मानकर सबको प्रणाम करना वन्दन कोटिकी भक्ति है। ये छः भेद साधन-भक्तिके हैं। इनके आचरण या पालनसे भक्तिका उदय होता है। इसके बाद उत्पन्न भक्तिका स्वरूप दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदनके द्वारा व्यक्त होता है। भगवान्‌को अपना स्वामी मानकर स्तुति करना दास्यभावकी भक्ति है। हनुमान्, भरत, लक्ष्मण, निषाद, शबरी आदिकी भक्ति इसी प्रकारकी है। गोस्वामी तुलसीदास तो अपनेको रामका गुलाम या चाकर ही मानते हैं। वस्तुतः भक्त भगवान्‌से अपना कोई न कोई सम्बन्ध बनाता है। कबीरदास अपनेको ***'रामकी बहुरिया'*** बताते हैं। दास्यभावके आवेगमें कभी-कभी इतनी तीव्रता आ जाती है कि कबीर अपने-आपको ***'रामका कुत्ता'*** तक कहते हैं—

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
राम नाम की जेवड़ी जित खैंचै तित जाउँ॥

मीरा सांसारिक पति होनेके बाद भी अपने उस परमात्मा पतिको पानेके लिये लोकलाजतककी चिन्ता नहीं करती। भगवान्‌से मित्रताका भाव रखना सख्यभावकी भक्ति है। गोप-गोपियाँ, सुदामा एवं द्रौपदीकी श्रीकृष्णके प्रति भक्ति इसी भावकी है। व्रजके ग्वाल एवं गोपियाँ कृष्णको अपना सखा मानते हैं—

जाति-पाँति हम ते बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ!

भगवान्‌के प्रति माधुर्यभावकी भक्तिमें उनसे पति-रूपमें भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। राधाकी कृष्णके प्रति भक्ति इसी भावकी है। कौसल्या एवं यशोदाकी भक्ति वात्सल्यभावकी है, किंतु ये सब भक्ति-भावनाएँ सख्यके अन्तर्गत ही समाहित रहती हैं। ईश्वरके सम्मुख अपनी पीड़ा निवेदन करना ही आत्मनिवेदन है। कबीर, सूर, तुलसी, मीराने बार-बार भगवान्‌के सामने अपनी पीड़ा व्यक्त की है।

भक्तिमें मन, कर्म एवं वाणीका सहयोग लिया जाता है। आत्मनिवेदन, सख्य, दास्य एवं स्मरण प्रकारकी भक्ति मनसे होती है जबकि वन्दन, अर्चन, श्रवण एवं पादसेवन कर्मसे होनेवाली भक्ति है। कीर्तन वाणीसे होनेवाली भक्ति है। परमात्माकी निकटता पाना ही नवधा भक्तिका साध्य है।

नवग्रह-पूजन—भारतीय परम्परामें किसी भी शुभ कार्यके प्रारम्भमें नवग्रहका पूजन किया जाता है। ज्योतिषकी मान्यता है कि सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतुकी गतिसे पृथ्वीनिवासी प्रभावित होते हैं। इन ग्रहोंकी पूजाके लिये उनकी मूर्तियाँ बनानेके भी नियम हैं। सूर्यकी ताम्रकी, चन्द्रमाकी स्फटिककी, मंगलकी लाल चन्दनकी, बुध एवं वृहस्पतिकी सोनेकी, शुक्रकी चाँदीकी, शनिकी लोहेकी, राहुकी सीसेकी एवं केतुकी काँसेकी प्रतिमा बनायी जाती है।

शरीरके नवद्वार—मनुष्यके शरीरमें नवद्वार या नवछिद्र हैं। शरीरमें दो नेत्र-गोलक, दो कर्णगह्वर, दो नासिकाछिद्र, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ—ये नौ इन्द्रियद्वार या नव छिद्र हैं। साधना-पथके पथिक सदैव इन इन्द्रियद्वारोंकी पहरेदारीकी आवश्यकता बताते हैं। रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद एवं स्पर्शकी आकांक्षा इनके द्वारा ही होती है और यह आकांक्षा ही मनको विचलित

करनेका मूल कारण है। शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और रसमें-से एक आकर्षणके प्रति आसक्त होकर क्रमशः मृग, हाथी, कीट-पतंग, भ्रमर और मत्स्य या तो बन्धनमें पड़ जाते हैं या मृत्युके ग्रास बनते हैं किंतु मनुष्यको तो ये पाँचों ही आकर्षित करते हैं। वह पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचोंका सेवन करता है, वह तो मारा ही जायगा—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

वस्तुतः ये नवद्वार शरीरकी विभिन्न प्रकारकी स्थूल गन्दगीको बाहर निकालनेके माध्यम हैं और शरीरस्थ पंचप्राण भी मृत्युके समय इन छिद्रोंसे ही बाहर निकलते हैं। इसी कारण योगीजन इन नवद्वारोंपर पहरेदारीकी बात करते हैं। इन नवद्वारोंको वशवर्ती बना लेना ही साधनाका मुख्य सोपान है।

नौसे विरोध उचित नहीं—समझदार व्यक्तिको नौ-का विरोध नहीं करना चाहिये। सीताहरणमें रावणका सहयोग करनेमें आना-कानी करनेवाले मारीचको जब

रावणने जानसे मारनेकी धमकी दी तो मारीच विचारकर मन ही मन सोचता है—

तब मारीच हृदयँ अनुमाना। नवहि बिरोधें नहिं कल्याना॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कबि भानस गुनी॥

शस्त्रधारी न जाने कब प्रहार कर दे, मर्मी हमारे किस गोपनीय रहस्यको खोल दे, स्वामी कब दण्डित कर दे, मूर्ख क्या अज्ञानता कर बैठे, धनवान्से कब सरोकार पड़ जाय, वैद्यसे शत्रुता तो प्राणघातक हो सकती है। कवि एवं भाट विरुदावली भी गा सकते हैं; किंतु कब निन्दापुराण लिख-बाँच दें, क्या पता तथा रसोइया विरोधी होकर कब क्या खिला दे?

शिष्यके नौ गुण—आज गुरु-शिष्य सम्बन्धोंमें यदा-कदा कटुता देखनेको मिलती है, जिसका कारण यह है कि शिष्य बनाते समय गुरुओंको उनके गुणोंके परीक्षणका अवसर नहीं मिलता। भारतीय परम्परामें नौ गुणोंके होनेपर ही शिष्यत्व मिलना चाहिये—

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्॥

शिष्यको (१) अभिमानसे रहित, (२) किसीका अहित-चिन्तन न करनेवाला, (३) कार्यमें निपुण, (४) ममतारहित, (५) गुरुप्रेममें दृढ़, (६) कार्यमें जल्दबाजी न करनेवाला, (७) परमार्थज्ञानका इच्छुक, (८) दूसरेमें दोष न निकालनेवाला तथा (९) व्यर्थकी बात न करनेवाला—नौ गुणोंसे युक्त होना चाहिये। तभी अर्जुन, एकलव्य, शिवाजी-जैसे शिष्य पैदा हो सकते हैं।

नौ गोपनीय एवं नौ प्रकाश्य बातें—नौ ऐसी गोपनीय बातें हैं, जिनका प्रकट करना हितकर नहीं है—(१) अपनी आयु, (२) धन, (३) घरका कोई रहस्य, (४) मन्त्र, (५) मैथुन, (६) औषधि, (७) तप, (८) दान तथा (९) अपमान, इनका प्रकट होना अपमान-जनक, हानिकारक, पीड़ादायक अथवा अनर्थकारी हो सकता है। नौ ऐसी बातें हैं जिनको प्रकट करना ही हितकर है—(१) ऋण लेनेकी बात, (२) ऋण चुकानेकी बात, (३) दानमें प्राप्त वस्तु, (४) विक्रय की गयी वस्तु, (५) कन्यादान, (६) अध्ययन, (७) वृषोत्सर्ग, (८) एकान्तमें किया गया पाप तथा (९) अनिन्दित कर्म, इन्हें

प्रकट कर देना ही उचित है। वृष साँड़को कहते हैं। मृत पुरुषके नामपर दागकर साँड़को छोड़ देना ही वृषोत्सर्ग है।

दानके लिये उपयुक्त एवं अनुपयुक्त नौ पात्र—सामान्य उक्ति है कि दान सुपात्रको ही देना चाहिये, कुपात्रको नहीं। नौ प्रकारके व्यक्तियोंको जो कुछ भी दिया जाता है, वह सफल एवं अक्षय हो जाता है। (१) माता, (२) पिता, (३) गुरु, (४) मित्र, (५) विनयी, (६) उपकारी, (७) दीन, (८) अनाथ तथा (९) साधु-सज्जनको जो भी दिया जाय, वह उत्तम है। साथ ही नौ प्रकारके व्यक्तियोंको जो भी दिया जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है। (१) धूर्त, (२) बन्दी, (३) मूर्ख, (४) अयोग्य वैद्य, (५) जुआरी, (६) शठ, (७) चाटुकार, (८) चारण तथा (९) चोरको कुछ भी दिया जाय, निष्फल ही रहता है।

नौ अदेय वस्तुएँ—नौ ऐसी अदेय वस्तुएँ हैं, जो आपत्तिकालमें भी किसीको नहीं देनी चाहिये—(१) जनताकी सम्पत्ति, (२) चन्देकी राशि, (३) धरोहरकी सम्पत्ति, (४) बन्धनकी वस्तु, (५) अपनी पत्नी, (६) पत्नीका धन, (७) जमानतकी सम्पत्ति, (८) अमानतकी वस्तु और (९) सन्तानके होनेपर भी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति—नौ ऐसी वस्तुएँ हैं कि ये अधिकारी पात्रको ही मिलनी चाहिये। यदि कोई व्यक्ति इन अदेय वस्तुओंको भी देता है, तो वह प्रायश्चित्त करनेके बाद ही शुद्ध हो सकता है।

अन्तमें नौ प्रजापतियों एवं नौ पवित्र नदियोंका स्मरण करते हुए आलेखको पूरा किया जाता है। (१) मरीचि, (२) अत्रि, (३) अंगिरा, (४) पुलस्त्य, (५) पुलह, (६) क्रतु, (७) भृगु, (८) वसिष्ठ और (९) प्रचेता—ये नौ ऐसे प्रजापति हैं, जिनको ब्रह्माजीने योगविद्याके द्वारा मानस-संकल्पसे पैदा किया था। इनसे सृष्टिका विस्तार और रक्षण होता है। नौ पवित्र नदियाँ पवित्र करें, ऐसी कामना सभीकी होती है—

गंगा सिन्धुश्च कावेरी यमुना च सरस्वती।
रेवा महानदी गोदा ब्रह्मपुत्रः पुनातु माम्॥

संयमित जीवनशैली और स्वास्थ्य

(श्रीरामनिवासजी लखोटिया)

ग्रीष्म ऋतुमें हमें अपने-आपको अधिक गर्मी या लूसे बचाना है और स्वास्थ्य भी ठीक रखना है तो इसी प्रकार वर्षा या सर्दीकी ऋतुमें भी, या यूँ कहा जाय कि प्रत्येक मौसममें हमें स्वस्थ रहना है। यद्यपि आजके प्रदूषणभरे वातावरण और तनावपूर्ण जिन्दगीमें स्वस्थ रहना आसान नहीं है, पर संयमित जीवनशैली अपनाकर हम स्वस्थ रह भी सकते हैं। कुछ छोटी-छोटी ऋतु-सम्बन्धी विशेष सावधानियोंके अलावा सारे वर्ष स्वस्थ जीवनशैली कैसी हो—यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। वस्तुतः उत्तम स्वास्थ्य जितना बाहरी कारणोंपर निर्भर रहता है, उससे अधिक यह हमारे ऊपर निर्भर रहता है। यदि हम चाहें तो अधिकांश समय अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं और बहुत आनन्दके साथ जीवन जी सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीता (६।५)-में कहा है—'**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः**' अर्थात् हे अर्जुन! अपना उद्धार स्वयंके सहारे ही करना चाहिये; क्योंकि हमारी आत्मा ही हमारी मित्र है और आत्मा ही हमारी शत्रु भी। अर्थात् हम ही अपने मित्र या शत्रु हैं। इसलिये उत्तम स्वास्थ्यकी प्राप्तिके लिये भी हमें स्वयंको ही इस दिशामें कारगर कदम उठाना होगा। आयुर्वेदमें कहा गया है—

दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा॥

यहाँ स्वस्थ एवं संयमित जीवनशैलीका एक व्यावहारिक स्वरूप दिया जा रहा है, जिसे अपनाकर उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है—

१. प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व उठना—'**ब्राह्मे**

मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः' यदि हम उत्तम स्वास्थ्यके इच्छुक हैं तो हमें अधिक राततक नहीं जागना चाहिये और हर दशामें प्रातःकाल जल्दी उठना चाहिये अर्थात् सूर्योदयसे पूर्व ही उठकर, कम-से-कम दो या तीन गिलास पानी पीकर नित्यकर्मके लिये तैयार होना चाहिये। इससे हम वात और पित्तके कई दोषोंसे बच सकते हैं और इस प्रकारसे अच्छे स्वास्थ्यके लिये हम प्रथम कदम उठाते हैं। कई व्यक्ति यह पूछते हैं कि हमें कितने बजे सोना चाहिये और कितने बजे उठना चाहिए। साधारणतः हम प्रातःकाल ५ बजेतक उठ जायँ और रातके १० बजेतक सोनेके लिये चले जायँ तो यह स्वास्थ्यके लिये बड़ा ही हितकारी है।

२. समुचित व्यायाम—

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥

अर्थात् शरीरकी जो चेष्टा देहकी स्थिरताको पैदा करे तथा शरीरके बलका वर्धन करे, उसे व्यायाम कहते हैं। उसे अपनी शारीरिक शक्तिके अनुसार करना चाहिये। प्रातः-भ्रमण भी एक प्रकारका व्यायाम ही है। मनुष्यको प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके पश्चात् जहाँतक सम्भव हो कम-से-कम एक घण्टेतक खुली हवामें अवश्य घूमना चाहिये। बड़े-बड़े नगरोंमें तो हर आवासीय बस्तीमें जगह-जगह पार्क बने हुए हैं, जहाँ लोग प्रातःकाल घूमने जाते हैं। वैसे उद्यान, नदीका किनारा या खुला स्थान प्रातः-भ्रमणके लिये उपयोगी होता है। इसके साथ ही यदि हम कम-से-कम आधा घण्टा योगासन और प्राणायाम करें तो यह हमारे स्वास्थ्यके लिये बहुत अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।

३. शाकाहारी भोजनमें बुद्धिमत्ता—शास्त्रोंमें आहारके विषयमें कहा गया है कि आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, स्निग्ध एवं मनको स्वाभाविक प्रिय लगनेवाला, स्थायी प्रभाववाला सात्त्विक आहार करना चाहिये—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

इस कसौटी पर दुग्ध, दधि, घृत, फल एवं शाकाहार ही खरे उतरते (पूर्णोपादेय) हैं। यह सर्वविदित है कि विश्वके सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों एवं डॉक्टरों जैसे—नील बर्नार्ड, डॉ० डीन औरनिश, डॉ० हार्वे डाइमन्ड आदि तथा विश्व-स्वास्थ्य-संगठनने अब यह सिद्ध कर दिया है कि भीषण बीमारियों जैसे—कैंसर, हृदय रोग, किडनीकी बीमारी आदिको रोकनेमें शाकाहार अति सक्षम है। वैसे भी नैतिकता, प्राकृतिक जीवन और आध्यात्मिक दृष्टिसे मानवका यदि कोई भोजन हो सकता है तो वह केवल शाकाहार ही है; क्योंकि जब हम किसीको प्राण-दान दे नहीं सकते तो हमें किसी भी जीवके प्राणको लेनेका अधिकार नहीं है। इस बातके अलावा भी वैज्ञानिक दृष्टिसे हम देखें तो संतुलित शाकाहारी भोजनमें हमें पर्याप्त प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट और खनिज पदार्थ आदि प्राप्त हो सकते हैं, जैसा कि निम्न तालिकासे स्पष्ट है—

प्रति १०० ग्राममें प्रतिशत मात्रा

खाद्यका नाम	प्रोटीन	खनिज लवण	कार्बोहाई-ड्रेट्स	कैलोरी
शाकाहारी खाद्य				
मूंग	२४.०	३.६	५६.६	३३४
सोयाबीन	४३.२	४.६	२०.९	४३२
मूंगफली	३१.९	२.३	१९.३	५४९
स्प्रेटा दुग्ध पाउडर	३८.३	६.८	५१.०	३५७
मांसाहारी खाद्य				
अण्डा	१३.३	१.९	शून्य	१७३
मछली	२२.६	०.८	शून्य	९१
बकरेका मांस	१८.५	१.३	शून्य	१९४

शाकाहारी लोगोंको भी संतुलित आहार ग्रहण करना चाहिये और भोजनके मामलेमें कुछ नियमोंका पालन करना चाहिये, जिससे स्वास्थ्य ठीक रहे। जैसे, जहाँतक सम्भव हो प्रातःकालके नाश्तेमें हमें केवल फलाहार ही करना चाहिये, जिसमें दोपहरतक पर्याप्त शक्ति बनी रहती है। जहाँतक सम्भव हो एक समयमें एक ही प्रकारके फल जैसे मीठे या खट्टे या फिर फीके फल ही लेने चाहिये। इससे उसका पाचन आसानीसे होता है। यदि किसी कारणवश प्रातःकाल फलाहार सम्भव न हो और हमें अन्न

ग्रहण करना पड़े तो दोपहर या शामके समय फलाहार लेना चाहिये ताकि तीन समयके मुख्य भोजनमेंसे कम-से-कम एक समयका भोजन फलाहार हो। फिर एक आवश्यक बात जो शाकाहारियोंको भी याद रखनी चाहिये—यह है कि फलाहारके साथ किसी भी प्रकारका अन्न कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि ज्यादातर फल लगभग आधे घण्टेमें ही आमाशयमें अपनी पाचनक्रिया समाप्तकर आँतोंमें चले जाते हैं जबकि दाल या अन्नको आमाशयकी पाचनक्रियामें लगभग ३ घण्टे लगते हैं। यदि हम अन्नके साथ फलाहार करेंगे तो जिस भोजनको आधे घण्टेमें आँतोंमें चले जाना चाहिये वह ३ घण्टे या उससे अधिक समयतक आमाशय में पड़ा रहेगा, जिससे गैस होनेका अन्देशा बना रहेगा। यदि प्रात:काल या किसी अन्य समय अन्न या फलाहार साथ-साथ लेनेकी इच्छा हो तो हम फलाहार करनेके आधे घण्टेके बाद अन्न ग्रहण कर सकते हैं। भोजनके समय प्रसन्नताका वातावरण रहना चाहिये। भोजन धीरे-धीरे खूब चबा-चबाकर करना चाहिये। पेटमें तीन चौथाई भागतक ही भोजन करना चाहिये और आमाशयका १/४ भाग खाली रखना चाहिये।

४. जलका सेवन—जीवधारियोंके जीवित रहनेके लिये जल अत्यावश्यक है, अतः इसका सम्यक् मात्रामें प्रयोग करते रहना चाहिये।

बहुतसे व्यक्ति पानी पीनेकी कला नहीं जानते हैं। हमें दिनभरमें या २४ घण्टेमें ८ से १० गिलास पानी अवश्य पीना चाहिये। भोजनसे कम-से-कम आधे घण्टे पहलेतक पानी नहीं पीना चाहिये। इसी प्रकार भोजनसे कम-से-कम एक घण्टे बाद ही जल पीना चाहिये। कई व्यक्ति भोजनके साथ कोला, चाय या काफी लेते हैं, जो कि पाचनक्रियाको बिगाड़ते हैं। इसके अतिरिक्त भी जहाँतक सम्भव हो हमें कोला, चाय और कॉफीपर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिये। वैसे तो इनका सर्वथा त्याग करना स्वास्थ्यके लिये सर्वोचित रहता है। अच्छे स्वास्थ्यके लिये व्यसन-मुक्त जीवन अति आवश्यक है। साथ ही हमें किसी भी दशामें मद्यपान नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार सिगरेट, बीड़ी, गुटका और किसी भी रूपमें तम्बाकूका सेवन नहीं करना चाहिये, ताकि हम स्वस्थ रह सकें।

५. उचित आराम—केवल शाकाहारी होनेसे ही हम स्वस्थ नहीं रह सकते। स्वास्थ्यके लिये आराम भी नितांत आवश्यक है। निद्राद्वारा दिनभर कार्य करके थका हुआ शरीर विश्राम पाता है—

देहं विश्रमते यस्मात्तस्मान्निद्रा प्रकीर्तिता।

हमें अपनी आयु और परिश्रमके अनुसार पर्याप्त निद्रा लेनी चाहिये। औसतन ७ घण्टेकी नींद अधिकांश व्यक्तियोंके लिये पर्याप्त रहती है। गर्मियोंमें दोपहरके भोजनके बाद थोड़ी देर विश्राम लेनेसे ताजगी प्राप्त होती है। यदि सम्भव हो सके तो भोजनके बाद हमें ५ मिनट 'वज्रासन' में बैठना चाहिये, जिससे पाचनक्रिया ठीक रहे। जब हम अपने व्यवसाय या व्यापारके कार्यक्रममें लगे हुए हों तो हमें यह सुध भी नहीं रहती कि दो या तीन घण्टेके बाद हम विश्राम कर लें। इसके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम प्रायः २ या ३ घण्टेके पश्चात् थोड़ी देर उठकर ताड़ासन कर लें या ५ से १० बार लम्बा श्वास ले लें या शवासन कर लें या अन्य किसी प्रकारसे आराम कर लें। इससे थकावट कम होती है, कार्यकुशलता बढ़ती है और स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

६. सकारात्मक विचार—अच्छे स्वास्थ्यके लिये विचारोंका बड़ा महत्त्व है। हमें पूर्ण प्रयत्न करके नकारात्मक विचारों जैसे—ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, लोभ आदिके स्थानपर सकारात्मक विचार जैसे—प्रसन्नता, प्रेम, सेवा एवं क्षमा आदिके विचार रखने चाहिये। आयुर्वेदमें बताया गया है कि मनमें इन गुणोंको रखना और आचरण करना रसायन-सेवनके समान लाभकारी है। यह नितान्त सत्य है कि यदि नकारात्मक विचार हमारे मनमें आयेंगे तो हम दु:खी होंगे और यदि सकारात्मक विचार आयेंगे तो हम प्रसन्न होंगे और जिसका अनुकूल प्रभाव हमारे जीवनपर पड़ेगा। इसलिये स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यह नितान्त आवश्यक है कि हम मानसिक सन्तुलन बनाये रखें। दु:ख-सुख, हानि-लाभ, यश-अपयश, निन्दा-स्तुति—सभीमें हमारी प्रतिक्रिया एक-सी हो तो हमारा मन

विचलित नहीं होगा। इसके साथ ही हमें यह याद रखना चाहिये कि हमारे स्वास्थ्यका शत्रु है क्रोध। जब कोई व्यक्ति हमारी निन्दा करता है या हमें अपशब्द कहता है तो हमें क्रोध आता है। जबतक हम उस क्रोधको भूल नहीं पाते अर्थात् उसे याद रखते हैं तो वह उसी प्रकारका होता है, जैसे घावको हरा रखना और ठीक नहीं होने देना। ऐसेमें भला आनन्दकी प्राप्ति कैसे होगी और किस प्रकार हमारा स्वास्थ्य ठीक रहेगा। हमें याद रखना चाहिये कि क्रोध तो वह तेजाब है, जो उस व्यक्तिको अधिक नुकसान करता है जो उसे अपने मनकी शीशीमें रखता है, बजाय उस व्यक्तिके, जिसपर क्रोध किया जाता है। इसलिये क्रोधको मिटाकर स्वस्थ-जीवनकी प्राप्तिका अचूक उपाय केवल एकमात्र है और वह है क्षमा एवं वह भी हृदयसे क्षमा—इसकी प्रतिष्ठाकी हमें प्रयत्नपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये। इसी प्रकार हमें निःस्वार्थ भावसे परोपकारकी भावना रखनी चाहिये, जिससे हम आनन्दकी तरंगें प्राप्त करते रहें। अच्छे स्वास्थ्य और आनन्दके लिये एक अनुभूत नुस्खा यह है कि हमें नकारात्मक दृष्टिकोणको हटाकर अपने जीवनमें आये आनन्दके क्षणोंको याद करना चाहिये। इसीके साथ हमें प्रातःकाल एक निश्चित समयपर ईश्वरका ध्यान करना चाहिये। अच्छे स्वास्थ्यके साथ जीना पूर्ण रूपसे तभी सम्भव होगा जब हम भजन, जप, कीर्तन या ध्यान आदिके द्वारा अपने हृदयके भीतर भी झाँकें और रोज कुछ समय निकालकर अपनी आत्माके स्वरूपको पहचाननेकी चेष्टा करें। तभी हम स्वस्थ जीवन जीनेमें सफल रहेंगे।

जीवनमें सदाचार, शौचाचार और शिष्टाचारकी महिमा

(श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु)

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

अपवित्र हो, पवित्र हो अथवा किसी भी स्थितिको प्राप्त हो, जो मनुष्य कमलनयन भगवान् विष्णुका स्मरण करता है, वह बाहर-भीतर—सभी ओरसे शुद्ध हो जाता है।

सत्पुरुषोंके आचारका नाम ही सदाचार है और सदाचार ही धर्मका मूल है। जीवनमें सदाचार, शौचाचार और शिष्टाचार ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस पुरुषार्थचतुष्टयका मूल है एवं वेदों, धर्मशास्त्रों तथा पुराणोंमें प्रतिपादित चारों वर्णों और चारों आश्रमोंको सुशोभित करनेवाला है। सदाचार, शौचाचार और शिष्टाचारकी महिमा अनिर्वचनीय है।

भगवत्प्राप्ति ही मानव-जीवनका मुख्य लक्ष्य है एवं इस क्षणभंगुर जीवनमें शौचाचारी, शिष्टाचारी एवं सदाचारी सत्-पुरुषोंको सहज ही शान्ति एवं मुक्ति मिलती है।

सदाचारकी मूल भित्ति सन्ध्योपासना ही है, ऋषिलोग सन्ध्याका दीर्घकालतक अनुष्ठान करते थे, इसीसे उनकी आयु लम्बी होती थी, सन्ध्यासे बुद्धि प्राप्त होती है, यश मिलता है, कीर्ति-लाभ होता है और ब्रह्मतेज भी सुलभ होता है। अर्कव्रती होकर प्रतिदिन त्रिकाल-सन्ध्यार्चना करनेवालेको सहज ही परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। यज्ञोपवीतकी पावनताकी रक्षाके निमित्त उसे दक्षिण कर्णपर चढ़ानेका आदेश है; क्योंकि द्विजातियोंके दक्षिण कर्णमें प्रभास आदि सभी तीर्थ, गंगादि नदियोंका निवास है—
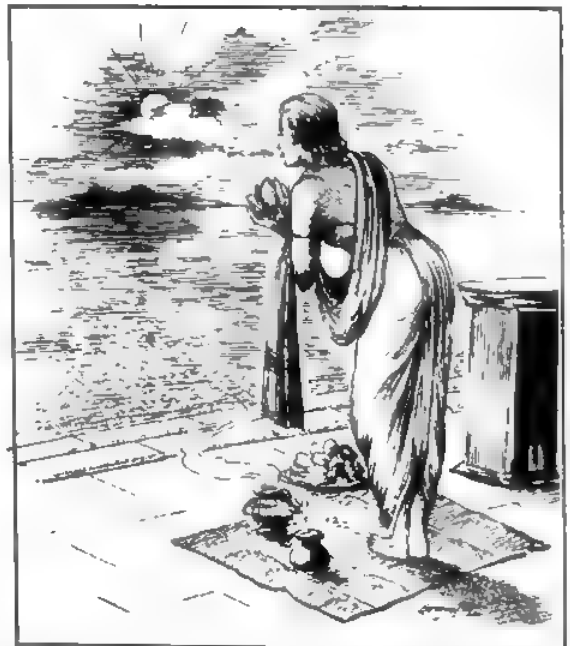
प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे निवसन्ति हि सर्वदा॥

इस आर्यावर्तमें जन्म लेनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोंसे ही पृथ्वीके अन्य सभी लोग अपने-अपने सदाचार, शौचाचार तथा शिष्टाचारकी शिक्षा लेते थे—ऐसा भगवान् मनुके कथनका तात्पर्य है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

सदाचार तथा शौचाचारमें आहारकी शुद्धिको विशेष महत्त्व दिया गया है। आहारकी पवित्रता शुचिताका उपलक्षण है। श्रुति कहती है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।**'

अर्थात् आहारशुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है, सत्त्वकी शुद्धि हो जानेपर स्मृति ध्रुव हो जाती है अर्थात् नित्य भगवदीय स्मृति बनी रहती है और फिर सभी बन्धनोंसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसीलिये सदाचार और शौचाचारमें आहार-शुद्धिको विशेष महत्त्व दिया गया है। उपर्युक्त सभी कर्म—सदाचार तथा शौचाचारके अन्तर्गत ही आते हैं।

मनुष्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहसे दीर्घायु-लाभ कर सकता है। ब्रह्मचर्य सदाचार, शौचाचार तथा शिष्टाचारका मुख्य अंग है। ब्रह्मचारी पृथ्वी और आकाशको धारण करनेवाला देवता होता है। वह अपने सदाचार, शिष्टाचार अथवा तपस्यासे आचार्य तथा राष्ट्रको परिपूर्ण करता है और उसीसे ज्येष्ठ ब्रह्मज्ञान पैदा होता है। ब्रह्मचर्यकी विधिसे सदाचार, शौचाचार तथा शिष्टाचाररूप नित्यकर्मके सम्पादनसे चित्तशुद्धि होती है तथा '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावना जाग्रत् होती है। सदाचार एवं शिष्टाचारद्वारा सनातनधर्मकी रक्षा और असदाचरणका निवारण करना चाहिये। दैनिकचर्यामें ब्राह्म मुहूर्तमें प्रातः-कालीन नित्यकर्म—सन्ध्योपासनाकी अनन्त महिमा है।

आतिथ्य-(अतिथि-सत्कार)-में सौम्य मन, सौम्य दृष्टि, सौम्य मुख, सौम्य वचन, अतिथिका स्वागत-वन्दन, कुशल-प्रश्न, सस्नेह वार्तालाप-सेवादि सनातन शिष्टाचारके अन्तर्गत हैं।

आज हमारी दिनचर्या केवल मनमाने ढंगसे चल रही है। अतः महापुरुषोंसे प्रार्थना है कि वे हमें विवेकशक्ति प्रदान करें ताकि हम उचित और अनुचितका निर्णय कर सकें एवं भारतीय सनातन-हिन्दूधर्मकी शास्त्रीय जीवनचर्याको पुनः सुरक्षित रख सकें।

आजीवनचर्या

(श्रीजगदीशप्रसादजी तिवारी)

मनुष्यकी जीवनयात्राके चार पड़ाव हैं। पहला पड़ाव है—धर्माचरण; अर्थात् धर्मके अनुकूल जीवनका प्रारम्भ। दूसरा पड़ाव है—अर्थोपार्जन; अर्थात् धर्मपूर्वक आचरण करते हुए सांसारिक संसाधनोंका न्यायपूर्वक अर्जन, संचयन और संरक्षण। तीसरा पड़ाव है—उपयोग, उपभोग; अर्थात् धर्मानुकूल अर्थोपार्जन करते हुए सांसारिक सुख-वैभवका मर्यादापूर्वक उपयोग-उपभोग और चौथा पड़ाव है—मोक्ष प्राप्त करना; अर्थात् धर्मानुकूल अर्थोपार्जनकर मर्यादित कामैषणाओंकी यथोचित पूर्ति करते हुए अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष प्राप्तकर मानव-जीवनको सफल बनाना।

जीवन-यात्राकी ये चारों डगर पार करनेकी समझ, शक्ति, सामर्थ्य और समय भगवान्‌ने हमें जन्मसे ही दी है। साथ-साथ, भगवान्‌ने अपनी कृपाका गुप्त हाथ बिना हमारे माँगे हमारे सिरपर यथावत् रख रखा है। हमसे यह भूल हो रही है कि हम अपने सिरपर रखे प्रभुके वरदहस्तको बिसरे हुए हैं और अपने बलबूतेपर हाथ-पैर मारते हुए अकेले-से जीवन-यात्रापर रेंग रहे हैं, जिसके कारण कभी हमारी यात्रा सरपट-सी दौड़ती दिखती है और कभी हिचकोले लेती हुई डगमगाती दिखायी देती है। यदि हमें यह दृढ़ विश्वास सदैव बना रहे कि अन्तर्यामी भगवान् हमारे शरीररूपी यन्त्रयानका संचालनकर स्वयमेव दौड़ा रहे हैं, तो हमें अपनी जीवनयात्राकी सफलता-विफलताके लिये चिन्तित नहीं होना पड़ेगा। इसके लिये हमें अपने भाव और दृष्टिकोणमें परिवर्तन लाकर यथार्थताको जानना होगा।

इस संसारमें भगवान्‌की प्रेरणासे अनेक धार्मिक आर्ष ग्रन्थ, शास्त्र और सन्त-महात्माओंकी शिक्षा तथा उपदेश भरे पड़े हैं। उन सब ग्रन्थों, शास्त्रों और शिक्षाओंको पढ़ना, समझना, मनन करना और उनके अनुकूल जीवन-यापन करना साधारण मनुष्यके लिये सहज तथा सरल नहीं है। जैसे-जैसे हम विभिन्न आर्ष ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों और सन्तोपदेशोंको पढ़ते जाते हैं, उनपर मनन करते हैं और अन्तमें अपने दैनिक व्यावहारिक जीवनमें उतारनेकी चेष्टा

करते हैं तो हमें तत्काल सफलता मिलती नहीं लगती। ज्यों-ज्यों नयी ज्ञानकी बातें बुद्धिमें उतरती हैं तो हम सोचते हैं कि ऐसा आचरण तो हमसे हो ही नहीं पा रहा और अबतक जीवनमें जो कुछ किया जा रहा था, वह तो बहुत अपर्याप्त तथा अधूरा था तथा जानने, समझने और व्यवहारमें आचरण करनेके लिये तो अभी बहुत कुछ शेष है। जैसे-जैसे हम स्वाध्याय अधिक करने लगते हैं तो हमें पता चलता है कि हम ज्ञान और कर्ममें बहुत पिछड़े हुए हैं, हमारी साधना बहुत अधूरी तथा अपर्याप्त है और आयु सीमित है, पता नहीं कब बुलावा आ जाय और हम मानव-जीवनका चरम लक्ष्य 'ईश्वरप्राप्ति' कर सकेंगे या नहीं? तब मनन करनेपर यह विचार आता है कि जीवनके प्रारम्भसे ही हममें ऐसी समझ रही होती कि यदि निम्न तीन बिन्दुओंके अनुसार जीवन जिया गया होता तो हमारे कल्याणका मार्ग शीघ्रतर प्रशस्त हो जाता।

पहला आचरण-बिन्दु हमारे व्यक्तिगत चरित्रसे सम्बन्धित है, जिसमें यौनाचार प्रमुख है। जबतक हम अविवाहित हैं, तबतक हम कठोर तथा अखण्ड ब्रह्मचर्यसे रहें। अपना संग-साथ, खान-पान, रहन-सहन तथा दिनचर्या सावधानीपूर्वक ऐसी रखें, जिससे हमारा ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं हो। विवाह हो जानेके बाद हम अपनी एकमात्र धर्मपत्नीसे ही संयमित यौन-सम्बन्ध रखें। पति-पत्नीका संयोग प्रारब्धके अनुसार मिलता है। अतः जैसी भी परिस्थिति आये हम परस्पर त्याग एवं स्नेहपूर्वक रहें।

वर्तमान सामाजिक परिस्थितियोंमें जहाँ घरोंमें रेडियो, टी०वी०, इण्टरनेट-जैसे उपकरणोंसे किशोर बालक-बालिकाओंकी कोमल तथा अपरिपक्व मानसिक भावनाओंपर ब्रह्मचर्यके विपरीत संस्कार पड़ रहे हैं और जहाँ स्कूल, कॉलेज, हॉस्टल तथा संस्थानोंमें समवयस्क युवक-युवतियोंको एक साथ रहकर अध्ययन या काम करना तथा रहना पड़ता है, वहाँपर किशोर बालक-बालिकाओंका ब्रह्मचर्यपूर्वक रह पाना बड़ा ही कठिन है। ऐसी परिस्थितिमें समझदार और अनुभवी माता-पिताका यह परमावश्यक कर्तव्य बन जाता है कि वे बड़ी सावधानीपूर्वक अपने बच्चोंके खान-पान, स्वास्थ्य, शिक्षा और चरित्रकी देखभाल करें। अभिभावकोंकी थोड़ी-सी भी लापरवाही बच्चों, किशोरों, युवाओंका भविष्य बिगाड़ सकती है।

दूसरा आचरण-बिन्दु हमारे ईमान एवं नेक नीयत अर्थात् अर्थोपार्जनसे सम्बन्धित है। हम जो कोई भी नौकरी, चाकरी, धन्धा, व्यवसाय, व्यापार, खेती-बाड़ी या मजदूरी करते हैं, उसमें पूरी ईमानदारी तथा मेहनत बरतें। अपने कार्यमें वेतन मिलनेसे अधिकका समय तथा परिश्रम लगायें। टैक्सचोरी, कामचोरी, लापरवाही या बेईमानी बिलकुल ही नहीं बरतें। कानूनन नियमानुसार जितना भी पैसा हमको मिलना चाहिये, उससे अधिक प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करें। हमारे साथी, सहयोगी, ऊपरवाले या नीचेवाले, चाहे कितनी भी बेईमानी करते हों, हमें ईमानदार और परिश्रमी बने रहना है, भले ही हमें उपेक्षा और अपमान सहना पड़े। अपनी ईमानदारी और मेहनतकी थोड़ी कमाईमेंसे दो पैसे भले ही औरोंके लिये खर्च हो जायँ, किंतु यह ध्यान रहे कि हमारे घरमें एक भी पैसा बेईमानी या मुफ्तका नहीं आ जाय। हम दूसरोंकी सेवा तथा मदद अपने तन-मन-धनसे करेंगे, परंतु दूसरोंकी सेवा-सहायता या कोई भी वस्तु-उपहार आदि हम मुफ्तमें बिलकुल ही नहीं लेंगे। हमारी कमाई पवित्र और शुद्ध होनी चाहिये। इसके लिये हम अपने खाने-पीने और रहन-सहनमें सादगी बरतें, दूसरोंकी होड़ नहीं करें। अपनी पत्नी तथा बच्चोंको ईमानदारी तथा सादगीका महत्त्व समझायें। अपने आचरणपर संयम बरतें।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

अर्थात् अर्थ (रुपया-पैसा)-की कमाईमें पवित्रता (ईमानदारी तथा परिश्रम) ही सब प्रकारके शौचाचारोंमें श्रेष्ठ है, जो अर्थ (धन)-के उपार्जनमें पवित्र है, वही वास्तवमें पवित्र है। मिट्टी या पानीकी पवित्रता पवित्रता नहीं है। (मनुस्मृति ५। १०९)

तीसरा आचरण-बिन्दु अपने खान-पानसे सम्बन्धित है। हम अपने खान-पानपर ध्यान रखें। कहावत है—*'जैसा खाएँ अन्न वैसा होवे मन्न। जैसा पीएँ पानी वैसी होवे बानी॥'*

हम ऐसा भोजन करें, जिससे हमारी बुद्धि भ्रष्ट न हो। हम ऐसा पेय पियें, जिससे अपनी वाणीमें सच्चाई और प्रियता बनी रहे। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम अण्डे-मछली-मांसका (आमिष-) भोजन बिलकुल ही नहीं करें। यदि करते हों तो आजसे ही छोड़ दें और फिर कभी नहीं करनेका दृढ़ संकल्प लें। शराब और तम्बाकूको

हाथ नहीं लगायें। किसी भी प्रकारका नशा नहीं करें। बाजारू पेय नहीं पियें। बाहरका खाना यथासम्भव टालें। अपने घरकी बनी छाछ, लस्सी, मौसमी फलोंका रस और ठंडई ही पियें। घरका रूखा-सूखा भोजन स्वास्थ्यप्रद एवं कल्याणकारी है। मांसाहार और शराबखोरीसे व्यभिचार और

बेईमानीकी लत पड़ती है, जिससे व्यक्तिका पतन हो जाता है। यदि मित्रों, परिचितों और सम्बन्धियोंके यहाँ परिस्थितिवश भोजन करना ही पड़े तो आमिष पदार्थ, शराब और बाजारू पेयकी तरफ देखें भी नहीं। दैनिक खान-पानमें बड़ी सावधानी बरतें। अपनी मेहनतकी खरी कमाईका ही खायें-पीयें, जिससे बुद्धि भ्रष्ट नहीं हो और रोग दूर रहे। याद रखें—मनुष्य-जीवन बार-बार नहीं मिलता। *'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* हम ही अपने मित्र हैं, हम ही अपने शत्रु हैं।

अन्तमें हमें जीवनके ये सूत्र सदैव याद रखने हैं—

(१) अपने चरित्रमें दाग नहीं लगने पाये। अपने दोष, दुर्गुण तथा कमियोंपर और दूसरोंके गुणों तथा अच्छाइयोंपर चिन्तन-मनन करते हुए अपने दैनिक जीवनका सुधार करते रहें। मुझमें क्या-क्या कमियाँ हैं, उनको कैसे दूर करूँ और दूसरेमें क्या-क्या खूबी है, वह कैसे ग्रहण करूँ।

परनारी निज मात सम, परधन धूरि समान।
सब प्रानी अपने सदृश, निश्चय हो कल्यान॥

(२) अपने काम-धन्धेमें कामचोरी, टैक्सचोरी, बेईमानी इत्यादि बिलकुल ही नहीं करें, चाहे धनकी कमाई थोड़ी ही होती हो। तीन बातोंपर सन्तोष करें—प्रारब्धसे प्राप्त धन, पत्नी और भोजन तथा तीन बातोंपर कभी सन्तोष न करें—ईश्वरभजन, परार्थसेवा और स्वाध्याय-सत्संग।

(३) अपना खान-पान अपनी खरी कमाईका और सात्त्विक हो। अभक्ष्य-भक्षण कभी स्वीकार नहीं करे।

जीवनचर्या और मानवता

(श्रीगुलाबरायजी, एम० ए०)

मनुष्यमें जबतक मानवीय गुणोंका समावेश न हो, तबतक वह सच्चे अर्थोंमें मनुष्य नहीं कहा जा सकता। इसीलिये मनीषियोंने मनुष्यको 'मनुर्भव'—मनुष्य बननेके लिये कहा है। जीवनचर्यामें मानवीय गुणोंका समावेश करके ही आदर्श मनुष्य बना जा सकता है। यहाँ मानवताके कतिपय गुणोंको प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसे अपनी जीवनचर्यामें समाविष्टकर कोई मनुष्य आदर्श मनुष्य बन सकता है—

मानवताके गुण

आत्माका प्रकाश और विकास तो सब स्थानोंमें है—मिट्टीके ढेलेसे लेकर सभी निर्जीव पदार्थोंमें और चींटीसे कुंजरतक सजीव पदार्थोंमें तथा उनके मुकुटमणि मानवमें वह सबसे अधिक है। नरत्व नारायणत्वकी श्रेणी है। आत्मा हमको विस्तारकी ओर ले जाती है, **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का पाठ पढ़ाती है। इसी व्यापक दृष्टिकोणसे मानवता-सम्बन्धी गुणोंपर यहाँ विचार किया जा रहा है—

सत्य

सत्य मानवताका एक मौलिक सिद्धान्त है। सत्य भीतर-बाहर उभयत्र वांछनीय है। सत्यको मनसा-वाचा-कर्मणा अपनाना चाहिये। सत्य बातका गोपन करना भी उतना ही असत्य है, जितना कि असत्य बोलना। शाब्दिक सत्यका ही निर्वाह आवश्यक नहीं, वरं उसके हार्द या उसकी आत्माका भी।

सत्यके ऊपर ही निजी, सामाजिक एवं अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध स्थिर रह सकते हैं। कथनोंकी पुष्टि करनीसे होनी चाहिये। सच्ची मानवता दिखावा नहीं स्वीकार करती। अपनी कमजोरीको स्पष्टरूपसे स्वीकार कर लेना सदाचारी

बननेकी विडम्बनासे कहीं श्रेयस्कर है। जो मनुष्य अपनी कमजोरीको स्वीकार कर लेता है, वह दूसरोंकी कमजोरियोंके प्रति सहानुभूति दिखा सकता है।

दूसरेके दृष्टिकोणको महत्त्व देना

मानवताके दृष्टिकोणसे सभी पक्षोंके सत्यको देखना चाहिये। हम यदि मालिक हैं तो नौकरके, यदि साहूकार हैं तो देनदारके, यदि अध्यापक हैं तो विद्यार्थीके दृष्टिकोणके विपरीत पक्षोंका अध्ययन करना आवश्यक है। सत्यके एक ही पक्षपर बल देनेसे मनुष्य दूसरेके साथ न्याय नहीं कर सकता। न्याय भी सत्यका ही एक व्यावहारिक रूप है। न्याय अपने और दूसरोंके कर्तव्यों और अधिकारोंके सत्यकी स्वीकृति है। न्यायका अर्थ अपने लिये ही न्याय नहीं, वरं दूसरोंके लिये भी—उसी मानदण्डसे, जिससे हम अपने लिये चाहते हैं। हमको बेचने और खरीदनेके बाट एक-से रखने चाहिये। जिस मानदण्डसे हम विदेशियोंसे न्यायकी अपेक्षा रखते थे, उसी मानदण्डसे आज हमको अन्य शोषित वर्गोंके साथ न्याय करनेको महत्त्व देना चाहिये। समस्याको दूसरोंकी आँखोंसे देखना भी आवश्यक है।

महात्मा गांधीकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वे दूसरेके पक्षको सबसे अधिक महत्ता देते थे। वे उसका पूरा-पूरा ईमानदारीके साथ अध्ययन करते थे। चम्पारनमें गोरे जमीदारोंके विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ करनेसे पहले उन्होंने उनके पक्षका पूरा अध्ययन कर लिया था।

अहिंसा

अहिंसा भी सत्यका पूरक रूप है। अहिंसा व्यावहारिक सत्य है। अहिंसामें दूसरेके अधिकारोंकी, विशेषकर जीवनाधिकारकी स्वीकृति रहती है। अहिंसा भी मनसा-वाचा-कर्मणा—तीनोंसे ही होती है। अहिंसाके पीछे 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त रहता है। सह-अस्तित्वका सिद्धान्त अहिंसापर ही आधारित है। जहाँ अहिंसाका मान नहीं, वहाँ मानवता नहीं। अहिंसा मानवताका पर्याय है। मनुष्यको उस जानके लेनेका कोई अधिकार नहीं, जिसको वह दे नहीं सकता। हिंसा केवल जान लेनेमें ही नहीं है, वरं दूसरोंके स्वत्वों और स्वाभिमानको आघात पहुँचानेमें भी होती है।

पर-स्वाभिमान-रक्षा

दूसरोंके स्वाभिमानकी रक्षा अर्थात् किसीमें हीनताका भाव उत्पन्न न होने देना मानवताकी प्रमुख माँग है। रंग, रोग, अकुलीनता और किसी अंशमें निर्धनता भी मनुष्यके हाथकी चीजें नहीं हैं, उनके कारण उसे नीचा समझना या उसे उसकी हीनताका अनुभव कराना जलेपर नमक छिड़कना है। नैतिक पतनके कारण हम किसीका बहिष्कार कर सकते हैं, किंतु उसमें भी सहृदयता अपेक्षित रहती है। उसके पतनके कारणोंको समझना और उनको दूर करना मानवताके अन्तर्गत है।

शिष्टता

यह गुण वचन और व्यवहार दोनोंसे सम्बन्धित है। यह भी सत्यका एक पूरक अंग है। '**सत्यं ब्रूयात्**' ही आवश्यक नहीं है, '**प्रियं ब्रूयात्**' भी अपेक्षित है। वचनकी प्रियता ही दूसरोंमें हीनता भावको उत्पन्न होनेसे रोकती है। जो लोग सत्यको प्रियरूप नहीं दे सकते, उनका अहं प्रबल हो जाता है। अहंभाव समाजमें टकराहटें पैदा करता है और संघर्षका जनक बन जाता है। विनय विद्याका ही भूषण नहीं वरं सत्यका भी भूषण है। शिष्टता विनयका ही दूसरा नाम है। हमारी शिष्टता सत्यसमन्वित होनी चाहिये। शिष्टता, दम्भ या धोखेबाजीका रूप न धारण कर पाये, इसका सदा ध्यान रखना चाहिये।

सहिष्णुता

सहिष्णुता एक ऐसा गुण है, जो सत्यवादीके लिये आवश्यक है। उसमें अपने सत्यके प्रतिपादनके लिये कष्ट-सहनकी ही क्षमता नहीं होनी चाहिये, वरं धैर्यपूर्वक दूसरोंकी बात सुननेकी और सोचनेकी भी क्षमता होनी चाहिये। जो इस प्रकारकी सहिष्णुता नहीं रखते, वे सत्यको एकांगी बना देते हैं। पर-धर्म-सहिष्णुता शान्तिका एक आवश्यक उपकरण है।

आत्मौपम्य-दृष्टि

श्रीमद्भगवद्गीता (६। ३२)-में आत्मौपम्य-दृष्टिकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

आत्माके दृष्टान्तसे जो सबको एक-सी दृष्टिसे देखता है और सोचता है कि जिस चीजसे मुझे सुख होता है, उससे दूसरेको सुख होगा और जिससे मुझे दुःख होता है, उससे दूसरोंको भी दुःख होगा, वही परम योगी है। इसीलिये कहा गया है—'**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**' जो सब मानवोंको समानरूपसे देखता है, वही

सच्चा मानव है। मानवताका गुण मानवोंके प्रति व्यवहारमें ही सीमित नहीं है, वरं मानवेतर सभी प्राणियोंके सम्बन्धमें भी लागू होता है। तभी भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात् पण्डितलोग विद्या और विनयसे सम्पन्न (विद्याके साथ विनयको ब्राह्मणके लिये भी आवश्यक माना गया है—) ब्राह्मणमें, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समान दृष्टि रखते हैं। सहानुभूति भी आत्मौपम्य-दृष्टिका ही एकरूप है। सहानुभूति आत्माके विस्तारका परिचायक है। जो मनुष्य सबमें एक ही आत्माका विस्तार जानते हैं, वे अवश्य दूसरोंके साथ सहानुभूति रखेंगे।

निर्बलपर बलप्रदर्शन न करना

निःशस्त्र, स्त्री और रोगीपर हथियार चलाना वीरताके विरुद्ध माना गया है। हमलोगोंकी यह साधारण-सी दुर्बलता है कि सबलके आगे दब जाते हैं और निर्बलपर अपना अधिकार जतानेका प्रयत्न करते हैं, उसको अपनी शक्तिसे आतंकित करनेसे भी नहीं चूकते। सच्चा मानवतावादी अपनी हानिकारक शक्तियोंपर भी गर्व नहीं करता। उनके कारण तो वह सदा लज्जित ही रहता है। हमें निर्बलको अपनी शक्तिका भय नहीं दिखाना चाहिये; क्योंकि भयकी प्रीति स्थायी नहीं होती और दूसरेको कमजोर बना देती है। सबलके भयसे असत्यको स्वीकार करना या उसमें सहयोग देना दुर्बलता और कायरता है। सत्यवादी सदा निर्भय रहता है। 'अभय' तभी दैवी गुण माना गया है। निर्बल और पतितोंका हमें सहानुभूतिपूर्ण आदर करना चाहिये।

अधिकार-भावनाका त्याग

सच्चा मानवतावादी अधिकृतको अपनी अधिकार-भावनासे कभी आतंकित नहीं करता। न वह विद्या और धनके वैभवसे दूसरोंको आक्रान्त करता है। शासित, सेवक तथा हिन्दू-समाजमें स्त्रियाँ, गरीब लोग और बेटीवाले प्रायः अधिकृत समझे जाते हैं और दूसरे पक्षवाले अपनेको अधिकारी समझकर अपनी इच्छाओंकी अनुचित पूर्तिको भी धर्म समझते हैं—यह दूषित मनोवृत्ति है। यह समत्व-भावना और मानवताके विरुद्ध है।

पर-गुण-ग्राहकता

गोस्वामी तुलसीदासजीने सन्तस्वभावकी प्राप्तिके लिये उत्कण्ठा प्रकट करते हुए कहा है—

'पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥'

तुलसीने अपनी दीनतामें अपने दोष गिनाये हैं। उनके अनुसार उनमें एक यह भी है कि ये अपने समुद्र-समान पापोंको जल-कण बराबर बतानेपर भी लड़ पड़ते हैं और दूसरोंके कण-समान अवगुणोंको पहाड़के बराबर बना लेते हैं तथा दूसरेके पहाड़-बराबर सद्‌गुणोंको रजःकणके समान समझते हैं—

जानत हौं निज पाप जलधि जिय, जल-सीकर सम सुनत लरौं।
रज-सम पर-अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि-सम रजतें निदरौं॥

दूसरोंके गुणोंकी अवमानना करना या अवगुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर कहना मानवताके विरुद्ध है। इसी प्रकार दूसरेके द्वारा किये हुए अपकारको याद रखना और उपकारको भूल जाना सज्जनताके विरुद्ध है। सज्जन लोग मित्रता और उपकारको पत्थरकी लकीरके समान; मध्यम लोग बालूकी लकीरकी भाँति, जो कुछ देरतक बनी रहती है और फिर मिट जाती है; और नीच लोग पानीकी रेखाके समान, जो तुरंत मिट जाती है, अपने मनपर अंकित रखते हैं। वैरके सम्बन्धमें सज्जन, मध्यम और नीच लोगोंका व्यवहार इससे विपरीत होता है। सज्जनोंके लिये वह पानीकी लकीरके समान होता है, मध्यम लोगोंके लिये बालूकी लकीरके समान और नीचके लिये पत्थरकी लकीरके समान होता है। कहनेका तात्पर्य यह कि सज्जन उपकार और मित्रताको अधिक याद रखते हैं और दुर्जन शत्रुताको। सज्जन शत्रुताको शीघ्र ही भूल जाते हैं।

उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुन की बैर बितिक्रम जानि॥

मानवताका व्यवहार सभी क्षेत्रोंमें अपेक्षित है, चाहे वह निजी सम्बन्ध हो, चाहे व्यापारिक और चाहे राजनीतिक। महापुरुषोंकी सबसे बड़ी यही विशेषता होती है कि वे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सत्य और मानवताका मानदण्ड ऊँचा करते हैं। ईश्वर हमको वह सद्‌बुद्धि दे कि हम उन महापुरुषोंके अपनाये हुए मार्गको अपना सकें और अपनी जीवनचर्यामें मानवीय गुणोंका समावेशकर उसे आदर्श बना सकें।

सदाचार और संयमसे लोक-परलोकमें कल्याण

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी)

धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि मानव-जीवन अनेक जन्मोंके संचित पुण्योंसे प्राप्त होता है। इसलिये मानवको अपने जीवनका एक-एक क्षण, एक-एक पल, धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गपर चलकर भगवद्भक्ति एवं सत्कर्मोंमें बिताना चाहिये। अपनी जीवनचर्या पूर्णरूपेण ऐसी बनानी चाहिये कि एक पलका भी दुरुपयोग न होने पाये। अपनी तमाम इन्द्रियोंका सदुपयोग करनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। जबतक इन्द्रियोंपर संयमका अभ्यास नहीं किया जायगा, तबतक इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूपसे हमारे मन-मस्तिष्कको, हृदयको डाँवाडोल बनाये रखेंगी। अत: सबसे पहले बालकपनमें ही आदर्श जीवनचर्याका पालन करनेकी धर्मशास्त्रोंमें प्रेरणा दी गयी है।

हमारे प्रात:स्मरणीय तपोव्रती ऋषि-मुनि त्रिकालदर्शी थे। वे यह भलीभाँति जानते थे कि आगे घोर कलिकालके कारण वातावरण ऐसा दूषित हो जायगा कि यदि बाल्यावस्थामें ही धर्मानुसार सरल-सात्त्विक जीवन बितानेका अभ्यास नहीं किया गया तो तमाम मर्यादाएँ भंग हो जायँगी तथा उस आसुरी वातावरणसे कोई अछूता नहीं रह पायेगा। इसीलिये उन्होंने बालकके जन्म लेते ही उसे संस्कार दिये जानेपर बल दिया। यदि हमें लोक-परलोक—दोनोंका कल्याण करना है तो अपनी जीवनचर्या ऐसी बनानी चाहिये कि परिवारके सभी सदस्य धर्मानुसार, मर्यादानुसार सरल-सात्त्विक जीवन जीना सीख लें। बालकोंको अवतारोंकी, ऋषि-मुनियोंकी, साधु-सन्तोंकी एवं धर्म तथा सत्यपर दृढ़ रहनेवाले महापुरुषोंकी गाथाएँ एवं जीवन-चरित्र सुनाकर उन्हें संस्कारित बनानेका सत्प्रयास किया जाना चाहिये।

आदर्श जीवन जीयें

धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि कलियुगमें सत्ययुग आदिकी तरह विधिवत् यज्ञ, कठोर तप आदिके माध्यमसे ईश्वरकी भक्ति प्राप्त करना कठिन है, अत: केवल सात्त्विक जीवन बिताकर भगवान्‌की नियमित पूजा-अर्चना करके, प्रतिदिन माता-पिता तथा वृद्धजनोंकी सेवाकर, उनका आशीर्वाद प्राप्त करके, परिश्रम तथा ईमानदारीसे अर्जित धनसे जीविका चलाकर, अतिथियोंको भोजन करानेके बाद भोजनको प्रसादके रूपमें ग्रहण करके, प्रतिदिन किसीकी अपने हाथोंसे सेवा करके तथा भगवन्नामजप, संकीर्तन करके लोक-परलोकको सफल बनाया जा सकता है।

प्रतिदिन सत्संग करने, कथा-कीर्तन करने तथा धर्मशास्त्रोंके अध्ययनका नियम बना लेना चाहिये। कुसंग भूलकर भी नहीं करना चाहिये। किसी भी दुर्व्यसनीका कुसंग इन्द्रियोंको चपल बनाकर पतनकी ओर ले जानेका कारण बनता है। साधु-सन्तोंका सत्संग संयम, सत्य तथा सदाचारपर दृढ़ रहनेकी प्रेरणा देनेवाला सिद्ध होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने लिखा है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

प्रत्येक सद्‌गृहस्थको गोमाताकी सेवाका नियम बनाना चाहिये। पूज्या गोमाता जहाँ इस लोकमें अमृततुल्य दूध देकर हमारा कल्याण करती हैं, वहीं परलोकमें भवसागरसे पार लगानेका साधन बनती हैं। नित्य-प्रति अपनी-अपनी श्रद्धा-भावनाके अनुसार श्रीशालग्रामजीकी, भगवान् श्रीरामकी, श्रीशंकरजीकी, श्रीहनुमान्‌जीकी, श्रीगणेशजीकी, भगवतीदेवीकी पूजा-उपासनाका नियम बना लेना चाहिये।

हमें धर्मशास्त्रोंके अनुसार ही अपनी जीवनचर्याका निर्धारण करना चाहिये। धर्मानुसार चलनेमें ही मानवका कल्याण निहित है।

धर्म ही मानव-जीवनको सफल बनानेका सच्चा साधन है। कहा गया है—**'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'** धर्मानुसार जीवनचर्यासे वंचित मानव और पशुमें कोई अन्तर नहीं है। धर्मशास्त्र ही सच्चे और आदर्श कर्तव्य-मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देते हैं। इन्द्रियोंका अनियन्त्रित भोग पशु-पक्षी करते हैं। पशु यह नहीं जानते कि किसके साथ क्या बर्ताव करना चाहिये। जीवनचर्या

कैसी होनी चाहिये। मानव धर्म तथा धर्मशास्त्रोंके माध्यमसे यह जानता है कि उसको माता, पिता, वृद्धजनों, पत्नी, बहन, पुत्रीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। पशु अविवेकके कारण सभी शुद्ध-अशुद्ध, तामसिक वस्तुओंका आहारके रूपमें उपभोग कर लेता है, जबकि मानवको धर्मके कारण यह विवेक होता है कि उसे क्या खाना चाहिये, क्या नहीं खाना चाहिये। अभक्ष्य, अपवित्र वस्तुओंके भोजनसे उसकी प्रवृत्ति आसुरी हो जाती है, यह विवेक उसे धर्मग्रन्थोंसे ही प्राप्त होता है। माता-पिता तथा पत्नीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—यह उसे धर्मशास्त्रोंसे पता चलता है। अपनी आदर्श जीवन-चर्या बनाकर मानव-जीवन सफल बनानेकी प्रेरणा उसे अपने शास्त्रोंसे ही प्राप्त होती है। इसलिये जीवनके एक-एक क्षणका धर्मानुसार सदुपयोग करनेको तत्पर रहना चाहिये।

सदाचारका नियमित पालन करें

जो अपना लोक-परलोक बनाना चाहता है, उसे परस्त्री तथा परधनके प्रति आसक्तिसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। कहा गया है—

परधन को मिट्टी गिने, पर तिय मातु समान।
इतने में हरि ना मिले, तुलसीदास जमान॥

आज प्रगतिशीलताके नामपर, महिलामुक्तिके नामपर युवतियोंमें मर्यादाहीनताकी होड़ लगी हुई है। अब तो कुछ तथाकथित प्रगतिशील लोग महिलाओंके साथ क्लबोंमें जाकर उनके साथ नाचनेमें भी संकोच नहीं करते। यह हमारे घोर पतनका कारण बनता जा रहा है। हमारे सनातनधर्ममें, धर्मशास्त्रोंमें नारीको भगवतीस्वरूपा पूज्या कहा गया है। लज्जा तथा मर्यादा नारीके शृंगार माने गये हैं। आज पूज्या देवीस्वरूपा नारीको जिस विकृत ढंगसे उपभोगकी वस्तुके रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है, उससे समाज पतनके गर्तमें गिर रहा है। मर्यादाहीनता, संयमहीनता, पश्चिमी देशोंकी विकृतियोंके अन्धानुकरणके कारण आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। कुछ परिवारोंमें तो विवाहके कुछ माह बाद ही पति-पत्नीमें तलाककी स्थिति पैदा हो जाती है। इस घोर
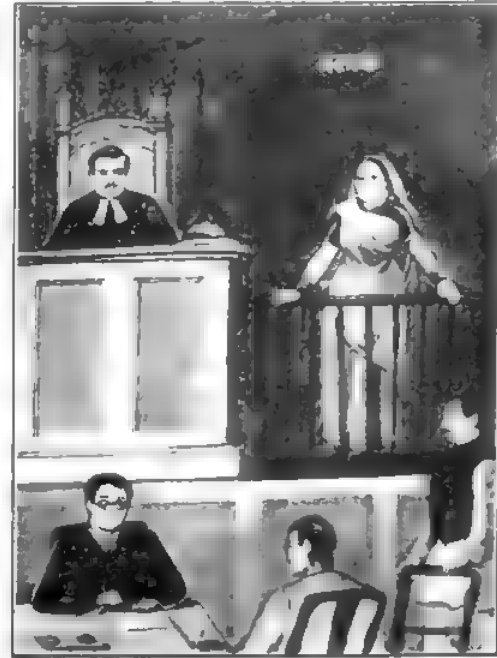
पतनको रोकनेके लिये स्त्रियोंको प्राचीन मर्यादाओं और सतीत्वके महत्त्वसे परिचित कराया जाना आवश्यक है। उन्हें जगन्माता सीताजी, पार्वतीजी, अनसूयाजी, सती सावित्री आदि महान् नारी विभूतियोंके पावन चरित्रसे अवगत कराया जाना चाहिये। माताओंको सिनेमा, क्लबों तथा टेलीविजनमें समय न गवाँकर रामायणके पाठ, तुलसीके पूजन, बालकोंको संस्कारित करने, भोजन-कलामें दक्ष बनने, व्रतों, पर्वोंमें रुचि लेनेमें व्यस्त रहकर समयका सदुपयोग करना चाहिये।

पुरुषोंको भी टेलीविजन देखने, गन्दी-गन्दी फिल्में देखने, अश्लील उपन्यास पढ़ने, ताश खेलने-जैसे दुर्व्यसनोंसे सर्वथा दूर रहकर ईमानदारीसे धनार्जन करके, प्रतिदिन नियमानुसार अपनेको भक्ति तथा सत्कर्मोंमें रत रखना चाहिये। प्रतिदिन सन्तोंका सत्संगकर सत्प्रेरणा ग्रहण करते रहना चाहिये। जिसे अपना मानव-जीवन सफल बनाना है, उसे वर्णाश्रमधर्मपर दृढ़ रहते हुए सदाचारका जीवन जीना चाहिये। मांस, मदिरा, तम्बाकू, भाँग, प्याज, लहसुन-जैसे तामसिक पदार्थोंको हाथ भी न लगानेका दृढ़ संकल्प लेना चाहिये।

भारत धर्मप्राण ऋषियोंकी दिव्यातिदिव्य देवभूमि है। भारत संसारका एकमात्र ऐसा दिव्य देश है, जहाँ भगवान्

श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा अन्य अनेक अवतारोंने जन्म लिया है। भारत ही ऐसा दिव्य देश है, जहाँ हम पतितपावनी गंगा, श्रीयमुना, श्रीसरयूके दर्शनकर, स्नानकर कृतकृत्य हो सकते हैं। व्रजकी, अन्य दिव्य तीर्थोंकी पवित्र धूलिको मस्तकपर लगाकर अपनी इक्कीस पीढ़ीतक तार सकते हैं। तुलसीजीका पूजन करके भवसागरसे पार हो सकते हैं। प्रतिदिन मन्दिर जाकर देवदर्शन करने, पीपल तथा तुलसीजीकी परिक्रमा करनेका नियम बना लेना चाहिये।

जिसे अपना लोक-परलोक बनाना है, अपना मानव-जीवन सफल बनाना है, उसे अहर्निश श्रीरामनामामृत, श्रीकृष्णनामामृत, श्रीशिवनामामृतका पान करते रहना चाहिये। कलियुगमें भगवन्नामको कल्याणका सबसे सरल साधन बताते हुए कहा गया है—

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥

शुद्ध चित्तसे श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन श्रीहरिका ध्यान, जप, कीर्तन करना चाहिये। सदाचारमें तनिक भी ढिलाई नहीं आने देनी चाहिये। सदाचारी आस्तिक पुरुष तथा सदाचारी, धर्मपरायण महिला दैवी-सम्पदाके अक्षत भण्डार होते हैं। सदाचार, भगवान् तथा धर्मके प्रति दृढ़ श्रद्धा-भावना, असहायों-अनाथोंके प्रति करुणा-भावना—ये ऐसे साधन हैं, जिनके माध्यमसे मानव ऊँचाईके शिखरपर पहुँच सकता है।

आजकल नये-नये मत-मतान्तर तेजीसे पनप रहे हैं। कुछ व्यक्ति प्रवचन-कलामें निपुणता प्राप्तकर अपनेको साक्षात् भगवान् बताकर, अवतारों तथा देवी-देवताओंकी पूजा-अर्चनाकी जगह अपनी पूजा कराकर, अपनी मूर्तियाँ स्थापितकर धर्मके नामपर शोषण करने लगे हैं। सच्चे गुरु तथा सन्त वे ही हैं, जो धर्मशास्त्रानुसार चलनेकी प्रेरणा देते हैं। शास्त्रीय मर्यादाओंका पालन करनेकी प्रेरणा देते हैं; श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशंकर, श्रीगणेश, देवी भगवती आदिकी परम्परागत पूजा-अर्चना करानेके लिये प्रेरित करते हैं। धर्मकी आड़में पाखण्ड, अन्धविश्वास पनपानेवालों, अपनेको अवतार बताकर पूजा करवानेवालोंसे सर्वथा सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण शास्त्रीय मर्यादाओंके पालनसे ही सम्भव है। इसलिये धर्मके नामपर पनप रहे प्रपंचोंसे दूर रहनेमें ही भला है।

दो नावोंमें सवारी करनेवाला डूबता है

कुछ व्यक्ति एक ओर मन्दिरोंमें जाकर दर्शन करते हैं, समय-समयपर तीर्थयात्रा भी कर लेते हैं, कथा-प्रवचनोंके आयोजनोंमें भी शामिल हो जाते हैं। मन्दिरों तथा धार्मिक आयोजनोंके लिये दान देनेमें भी तत्पर रहते हैं, किंतु आधुनिकताकी होड़में क्लबों एवं होटलोंमें जाकर खाने-पीनेकी मर्यादाओंका ध्यान नहीं रखते। लोभ-लालच तथा सम्पत्ति अर्जित करनेकी होड़में उन्हें यह आपत्ति नहीं होती कि धनार्जनका कौन-सा साधन उचित है, कौन-सा अनुचित। एक बार मैं परम विरक्त सन्त शंकराचार्य पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके श्रीचरणोंमें दिल्लीस्थित धर्मसंघ विद्यालयमें बैठा हुआ हुआ था। एक धनाढ्य व्यक्ति कारमेंसे उतरा—फलों तथा मेवोंसे भरे टोकरे पूज्य स्वामीजीके चरणोंके पास रखवाकर प्रणामकर बैठ गया। जेबमें से नोटोंकी गड्डी निकालकर उनकी खड़ाऊँके पास रख दी। पूज्य स्वामीजीने परिचय पूछा तो उसके साथ बैठे व्यक्तिने बताया—सेठजीके कपड़ेके कई कारखाने हैं, चीनी मिल है। बातों-बातोंमें मुँहसे निकल गया—चीनी मिल शराब भी तैयार करती है। उसे सरकारको बेचा जाता है। यह सुनते ही पूज्य शंकराचार्यजी महाराजने अपने ब्रह्मचारी सेवकसे कहा—भागीरथ! यह फल आदिके टोकरे वापस कर दो। सेठसे कहा—इन रुपयोंको उठा लो। एक ओर शराब-जैसा घोर विनाशकारी विष बनाकर उससे धनार्जन करते हो, दूसरी ओर सन्तोंके पास जाकर धार्मिक बननेका नाटक करते हो। दो नावोंमें सवारी कभी नहीं होती। दो नावोंमें सवारी करनेवाला डूब जाता है।

पूज्य शंकराचार्यजीके खरे शब्द सुनकर सेठ थर-थर काँप उठा। उसका उठना भारी हो गया।

वास्तवमें एक ओर चाहे जो भक्षण करते रहो, क्लबोंमें जाकर शराब पीकर, मुर्गे खाकर जश्न मनाते रहो, व्यापारके नामपर बेईमानी, मिलावट करते रहो, मांस-मदिराका व्यापारकर धन अर्जित करनेमें संकोच न करो, दूसरी ओर परलोकसे डरकर कुछ देर मन्दिरमें बैठकर, आँखें बन्दकर भगवान्के सामने मन्त्र गुनगुनानेका नाटक करो, परिणाम शून्य ही रहेगा। भगवान् ऐसे दो चेहरेवाले, दोहरे आचरणवाले दुर्व्यसनियों, पाखण्डियों तथा कुमार्गियोंके झाँसेमें आनेवाले कदापि नहीं हैं। वे सर्वज्ञ हैं। पल-पलके व्यवहारको, आचरणको जानते हैं। यमराजके खातेमें तमाम कारनामे दर्ज होते रहते हैं।

इसलिये सबसे पहले मानव-जीवनको सफल बनानेके लिये अपने चरित्र, मन तथा हृदयको परम पवित्र बनाना जरूरी है। सदाचार, सात्त्विकता एवं सरलताको जीवनमें उतारनेके लिये धर्मानुसार जीवनचर्या बनाना परम आवश्यक है। धर्मशास्त्रानुसार पवित्र जीवन जीनेवाला ही भगवान्‌की कृपाका अधिकारी बनता है। [प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

ब्रह्मचर्य-आश्रमका स्वरूप और उसकी सदाचार-मीमांसा

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूड़ामणि)

ब्रह्मचर्य-लक्षण (स्वरूप)—मानवजीवनका प्रथम सोपान ब्रह्मचर्य है, चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास)-में विभक्त जीवनका यह प्रथम आश्रम है। अतएव मानवधर्मशास्त्रप्रणेता मनुने कहा है कि—

'**अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्**' (मनु० ३।२)।

अविप्लुत ब्रह्मचर्यसे तात्पर्य सर्वतोभावेन अखण्डित ब्रह्मचर्यके ग्रहणसे है। जिस प्रकार मूलस्थान (जड़) सुदृढ़ होनेपर भवनकी चिरस्थायिनी शक्ति होती है, उसी प्रकार प्रासादरूप शरीरके लिये मूल दृढ़ होना आवश्यक है। जैसा कि कहा गया है—

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्षते॥

शरीरका मूल (जड़) ब्रह्मचर्यमें ही है। ब्रह्मचर्यमूलक शरीरमें चिरंजीवित्व रहता है। अतः जीवनचर्यामें ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा परमावश्यक है। अथर्ववेद (११।५।१७)-में इसकी महिमाको देखकर ब्रह्मचर्यसूक्त ही प्रतिष्ठित है। वहाँ कहा गया है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

ब्रह्मचर्य-पालनसे शक्ति आती है और शक्तिसे दुष्टदमन होता है, अतः राष्ट्ररक्षा कही गयी है। इस प्रकार राजनीतिकी शिक्षामें तो ब्रह्मचर्यकी प्रधानता थी ही, दूसरी सभी शिक्षाओंमें आचार्य ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ब्रह्मचारी (अन्तेवासी=छात्र)-का चयन करते थे।

ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये तो सनत्सुजातने स्पष्ट उद्घोषित किया है कि—

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छन्नति हृष्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या॥

इसका उदाहरण कठोपनिषद्‌के नचिकेता-यम-संवादमें है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

यहाँ '**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यम्**' का गुरुकुलवास अथवा ब्रह्मप्राप्तिसे तात्पर्य है। गुरुकुलवास लक्षण नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे सम्बन्ध रखता है। इन्द्र-विरोचन-आख्यायिका कथित—अभिहित ब्रह्मविद्याका अंग ब्रह्मचर्य है। अतः ब्रह्मचर्य तो वेदप्राप्तिके लिये चर्य-जीवनचर्याकी विधि कही जाती है।

'ब्रह्म' शब्दसे वेदका ग्रहण होता है और उसके अध्ययनके लिये जो व्रत लिया जाय, वह भी उपचारसे ब्रह्म ही है। ब्रह्मके आचरणके लिये जो तत्पर है अथवा ब्रह्म-तप-ज्ञान अर्जन करता है, वह ब्रह्मचारी है, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद्‌में कहा गया है—'**तपो ब्रह्म।**' इतना ही नहीं, आपस्तम्बधर्मसूत्रमें कथित है—

'**ब्रह्म वेदस्तदर्थं यद् व्रतं चरितव्यं तद् ब्रह्मचर्यं तदधिक्रियते।**'

अर्थात् ब्रह्मसे वेदका ग्रहण होता है और उसके अध्ययनके लिये जो व्रत ग्रहण किया जाय, वह ब्रह्मचर्य है।

प्राचीन समयमें कन्या भी ब्रह्मचर्यके द्वारा युवा पतिका वरण करती थी। जैसा कि अथर्ववेदमें कहा गया है—'**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।**' (११।५।१८)

इतना ही नहीं ब्रह्मचर्यसे अमरत्वकी भी प्राप्ति हो सकती है, जैसा कि देवताओंने प्राप्त किया, अथर्ववेद (११। ५।१९)-में कहा गया है—

'**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।**'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्मचर्यके भयसे मृत्यु भी सहसा मारनेको तैयार नहीं होती है, अतः ब्रह्मचर्य

जीवनचर्यामें वरेण्य है, सदाचारका प्रथम सोपान है। ब्रह्मचर्य क्या है एवं उसका लक्षण क्या है? इस जिज्ञासाके उत्तरमें गोत्रप्रवर्तक महर्षि शाण्डिल्यने कहा है—

'**ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः।**' अर्थात् ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं जहाँ सभी अवस्थाओंमें मन, वाणी, शरीर तथा कर्मसे सर्वत्र मैथुन-त्याग हो।

दक्षसंहितामें ब्रह्मचर्यको गुप्त-इन्द्रिय एवं उपस्थका संयम करना कहा गया है। विद्वानोंने आठ प्रकारके मैथुन बतलाये हैं। जैसे—स्मरण, कीर्तन (बार-बार कहना), केलि, देखना, गुह्यभाषण (एकान्तमें बातचीत करना), संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिर्वृत्ति।

पुराणमें तो ब्रह्मचर्यके सम्पादनमें सत्यनिष्ठाका उल्लेख विशेष रूपसे प्राप्त होता है—

नित्यं सत्ये रतिर्यस्य पुण्यात्मा तुष्टतां व्रजेत्।
ऋतौ प्राप्ते व्रजेन्नारीं स्त्रियां दोषविवर्जितः॥

(पद्मपुराण, भूमि० १३।२)

यह ब्रह्मचर्य गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट लोगोंके लिये है। यहाँ निष्कर्ष यह है कि—मनमें, प्राणमें उच्च भावोंका पोषण, शुभचिन्तनके द्वारा शरीर और मनमें क्रमशः उन्नतिशीलताका निर्माण करते हुए समस्त दोषोंसे अपनी रक्षा करते हुए समुन्नतिकी चेष्टा ही ब्रह्मचर्य है। अतः महर्षि पतंजलिके '**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**' सिद्ध है।

उपर्युक्त विवरणोंसे ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्यका साधारण अर्थ पवित्र जीवन-विधि है। इस पवित्र जीवन-विधि (चर्या)-में शुद्ध रूपसे यदि ब्रह्मचर्यपालन हो तभी ब्रह्मचारित्व है, अन्यथा नामधारणमात्र ही होगा। सौन्दरानन्दमें कहा गया है—

हृदि कामाग्निना दीप्ते कायेन वहतो व्रतम्।
किमिदं ब्रह्मचर्यं ते मनसा ब्रह्मचारिणः॥

(११।३०)

अर्थात् हृदय कामाग्निसे प्रज्वलित हो और शरीरसे व्रत धारण किया गया हो तो यह कैसा ब्रह्मचर्य है, जो केवल मनसे ब्रह्मचारी हैं। इन तथ्योंसे शारीरिक बल-सम्वर्धनके लिये ब्रह्मचर्यकी अत्यन्त उपयोगिता है। अतः शरीरके भीतर हड्डी, चमड़ी, मज्जा आदि छः कोशों और सात धातुओंको बढ़ानेके लिये और शारीरिक दृढ़ताके लिये ब्रह्मचर्यकी अत्यन्त आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्यकी उपयोगिता एवं महत्त्व—प्राचीन समयमें ब्रह्मचर्यसे ही ऋषि-महर्षियों, देवताओं एवं वीर पुरुषोंने लोकोत्तर कार्य संपादन किया है। पुराणों एवं उपनिषदोंमें इसका उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचर्यका पालनकर सदाचारी पुरुष सर्वोच्च स्थानको प्राप्त करते थे। ब्रह्मचर्य-पालनसे ही ब्राह्मणत्व रहता है। ब्रह्मचर्यमें ही धैर्य और तप स्थित है, ब्रह्मचर्य संसारमें यशका मूल है। इससे बढ़कर ब्रह्मचर्यका महत्त्व क्या होगा कि इसके बलपर कठिनसे भी कठिन कार्य सम्पन्न किया जा सकता है।

श्रीरामभक्त मारुति (हनुमान्)-ने वज्रदेहत्व प्राप्त किया था, दुष्ट रावणको निस्तेज करके राष्ट्रका कार्य किया था। ब्रह्मचर्यके प्रभावसे ही महाप्रतापी भीष्मने इच्छा-मृत्युकी प्राप्ति की थी। अतः इन कारणोंसे अभ्युदय एवं कल्याण चाहनेवाले लोगोंद्वारा ब्रह्मचर्यपालनसे बल-सम्वर्धन करना चाहिये।

यह सुनिश्चित है कि शारीरिक दृढ़ताके बिना धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कठोपनिषद्के अनुसार—'**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन**' की तरह '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।**' भी कहा गया है। अर्थात् यह आत्मतत्त्व बलहीन व्यक्तिके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मचर्यको शारीरिक तप कहा है (गीता-१७।१४)। इस शारीरिक तपसे बलकी प्राप्ति होती है और बललाभ वीर्यके धारणसे ही होता है, अतएव वीर्यधारणको 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है। ब्रह्मप्राप्तिका साधन शरीर है और शरीरकी शक्ति वीर्य है, वीर्यके धारणके बिना मनुष्यका जीवन भी सन्देहात्मक हो जाता है। भगवान् सदाशिवने मानव-कल्याणके लिये अपनी संहितामें कहा है कि—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम्॥

अर्थ स्पष्ट है कि वीर्यके बिन्दु-पातसे मरणके समान अर्थात् मुमूर्षु हो जाता है। देहका सारतत्त्व वीर्य है, अतः सर्वदा उसकी रक्षा करनी चाहिये, तभी मानवीय जीवनचर्या सार्थक होगी।

महात्मा गांधीजीने जो जीवनचर्याके लिये एकादश व्रतोंकी चर्चा की है, उनमें ब्रह्मचर्य भी है। उसमें उन्होंने

कहा है कि—ब्रह्मचर्यका अर्थ है ब्रह्मका सत्यके अन्वेषणमें चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार।

प्राचीनकालमें ऋषि अथवा अन्य लोग दीर्घजीवी क्यों होते थे? इस प्रश्नोत्तरमें कहा जाता है कि '**ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुरिति**' अर्थात् ऋषिगण अपने जीवनमें सदाचारमय जीवन बिताते हुए दीर्घ कालतक सन्ध्योपासन करते थे, अतएव दीर्घजीवी होते थे। यहाँ ब्रह्मचर्य-धारण भी प्रमुख कारण है। जिस प्रकार यज्ञक्रियाके सम्पादनसे देवता तृप्त होते हैं और पितर प्रजोत्पादन (पुत्रोत्पादन)-से तृप्त होते हैं, उसी प्रकार मुनिगण ब्रह्मचर्य-धारणसे तृप्त होते हैं। इस विषयमें किसी सन्देहका अवसर नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें इसकी चर्चा है। श्रुतिका अनुस्मरण पुराणोंमें होता है। शिवपुराणकी कैलाससंहितामें ब्रह्मचर्यसे मुनियोंका तर्पण होता है, ऐसा कहा गया है—

ब्रह्मचर्येण मुनयो देवा यज्ञक्रियाऽध्वना।
पितरः प्रजया तृप्ता इति हि श्रुतिरब्रवीत्॥

(१२।२६)

ब्रह्मचारीके चार किं वा दो भेद—ब्रह्मचर्योपासक ब्रह्मचारीके चार भेद (प्रकार) होते हैं—गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य और नैष्ठिक। किन्तु वीरराघवाचार्यजीने दक्षस्मृतिका अनुसरण करके भागवत-चन्द्रचन्द्रिका टीकामें कहा है कि ब्रह्मचर्य दो प्रकारके होते हैं—उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण या उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी वह होता है, जो वेद पढ़कर स्नातक हो अथवा वेदोंको पढ़कर जो विवाह और यज्ञादिका सम्पादन करे और नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह होता है, जो जीवनपर्यन्त विवाह न करे। इन दोनों लक्षणोंसे युक्त ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करके अपने तेजसे असाध्यको भी साध्य करनेमें सक्षम होता है। इसी प्रकारके ब्रह्मचारीका, जो ब्रह्मचर्याश्रमका शरीर धारण किया हो, महाकवि कालिदासने कुमारसम्भव नामक अपने महाकाव्यमें वर्णन किया है—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग् ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥

ब्रह्मचारी-चर्या—उपकुर्वाणक ब्रह्मचारीकी चर्या आपस्तम्ब और बौधायन-धर्मसूत्रोंमें विस्तारसे वर्णित है, तदनुसार संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचारी (उपनीत) मेखला (करधनी मौञ्जी), यज्ञोपवीत, मृगचर्म और दण्डधारी होकर स्नान करके तर्पण, ब्रह्मयज्ञ, सायं-प्रातः सन्ध्योपासन, समिधा-आहरण, गुरुकी वन्दना करके व्रतपूर्वक अध्ययन करे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रम और ब्रह्मचारीका स्वरूप एवं उसकी सदाचार-मीमांसा संक्षेपमें प्रस्तुत की गयी, जो प्राचीन भारतका आदर्श है। इस समय भी यदि इसका पालन किया जाय तो निःसन्देह ब्रह्मचर्य अमृतत्व-प्राप्तिके लिये पर्याप्त होगा।

हमारे जीवनका लक्ष्य क्या हो ?

(श्रीशिवरतनजी मोरोलिया 'शास्त्री')

शास्त्र कहते हैं कि जीवको मानव-शरीर भगवान्‌की कृपासे प्राप्त होता है और इस योनिमें उसे यह अवसर मिलता है कि वह अपने भविष्यका निर्माण करे। अपना हित-अनहित, स्वार्थ-हानि, उचित-अनुचित पहचानने, निर्णय करनेकी विवेक शक्ति भी मनुष्यको ही प्राप्त होती है, मनुष्येतर किसी अन्य योनियोंके जीवको नहीं। मानवके लिये प्रश्न उठता है कि वह जीवन कैसे बिताये। हमारे वेद, पुराणों तथा धर्मग्रन्थोंने जीवनचर्याका विशद विवेचन किया है। जन्मसे मृत्युतक क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, यह सविस्तार बताया गया है। यदि मनुष्य शास्त्रों, पुराणोंके कथनानुसार धर्मसे युक्त अपना जीवन चलाता है तो वह अपना कल्याणकर लक्ष्य प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है स्वयंका कल्याण करना। जीवका यथार्थ कल्याण है—जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना। जीव अज्ञानके वश होकर अनादि-कालसे दुःखमय संसार-सागरमें गोते लगाता है और नाना प्रकारकी भली-बुरी योनियोंमें भटकता हुआ भाँति-भाँतिके कष्ट सहता रहता है। भगवान् उसकी दुर्दशाको देखकर उसे साधनोपयोगी देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं और

उसे सुअवसर देते हैं, जिससे यदि वह चाहे तो साधनाके द्वारा एक ही जन्ममें संसार-समुद्रसे निकलकर सहज ही परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर ले। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न जाने दे और राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदिमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुष्कर्म करने और शूकर-कूकर आदि योनियोंमें जानेका कारण न बने तथा अधोगतिसे बचे।

जब मनुष्यका लक्ष्य भगवान् न होकर भोग हो जाता है, तब उसकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, उससे वह कर्तव्यके स्थानपर 'अधिकार' तथा त्यागके स्थानपर 'भोग' को अपनाकर अर्थकामपरायण हो जाता है। इसकी वजहसे उसके सभी कार्य अनर्गल, अवैध तथा आसुरीभावसे सम्पन्न होते हैं। साथ ही वह भगवान् तथा धर्मको न मानकर उच्छृंखल हो जाता है और अज्ञानयुक्त बुद्धिके कारण मनमाना आचरण करने लगता है। वह शास्त्रोंको नहीं मानता, देवताओं तथा ऋषियोंको नहीं मानता और भगवान्‌को मनुष्यके मस्तिष्ककी उपज बताकर कर्म तथा सदाचारका खण्डन करने लगता है। इस प्रकारके आचरणोंसे उसका चारित्रिक पतन होने लगता है। कहा गया है कि पाप करके दु:खसे बचनेकी आशा रखना और सुख चाहना वैसा ही है, जैसा धधकती हुई आगमें गिरा हुआ व्यक्ति न जलने और शान्ति पानेकी आशा रखता है।

मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेगा, वह उतना ही उन्नत होगा; क्योंकि मनुष्य आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है। उन्नति एवं उत्थानका वास्तविक अर्थ है चरित्रका उत्थान तथा व्यवहार आदिमें विशुद्धि। इसीसे हमारे अन्दरके दुर्विचारों, दुर्गुणों तथा दोषोंका नाश होकर आन्तरिक भावोंमें सात्त्विकता आती है। संसारमें ऐसे ही लोग आदर्श माने जाते हैं, जिनके आचरण, उपदेश, दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणोंसे दूसरोंका हित होता हो। जीवनको महान् बनानेके लिये उत्कृष्ट चिन्तन, परिष्कृत चरित्र और लोकमंगलके लिये उदार अनुदान—ये तीन बातें आवश्यक हैं। यदि हम पाप करें और फलस्वरूप पुण्य चाहें, दूसरोंको दु:ख दें और स्वयं सुख चाहें या दूसरोंकी निन्दा करें और अपनी प्रशंसा चाहें—यह बिलकुल उल्टी बात है। बुरे कर्मोंका फल तो बुरा ही होगा, अतः अच्छे कार्य करें।

हमारे दु:खोंका कारण यह है कि हम ईश्वरीय आदेशोंके प्रतिकूल चलना पसन्द करते हैं, साथ ही जगत्‌की मिथ्या वस्तुओंके प्रति व्यर्थके माया-मोहमें लिप्त हो जाते हैं। हम कल्याणकी कामना तो करते हैं, लेकिन पाप-कर्मोंसे दूर नहीं हो पाते। श्रेष्ठ पुरुषोंके जैसा बर्ताव चाहते हैं, लेकिन स्वयं नहीं करते। आज मनुष्य-जातिका पतन धर्मकी उपेक्षासे ही हुआ है। हमलोग प्रतिदिन अपने कर्मोंकी परीक्षा ही नहीं करते कि हमारे अन्दर पशुत्व कितना है और देवत्व कितना?

लोगोंकी ज्यों-ज्यों सांसारिक भोग और संग्रहमें आसक्ति बढ़ती है, त्यों ही-त्यों समाजमें अधर्म बढ़ता है। पापाचार, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं। इसीसे आज कथनी और करनीमें, वाणी और हृदयमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है।

वस्तुतः उन्नति तभी समझी जाती है, जब मनुष्यका मन केवल दैवीय सम्पत्तियोंका ही निवास-स्थान बन जाय और सभी एक-दूसरेका सुख तथा कल्याण चाहने लगें। घृणा और द्वेषके बदले प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें आत्मीयता और प्रेम आ जाय। स्वार्थ और अधिकारका त्याग और कर्तव्योंको स्थान मिल जाय एवं क्रोध तथा हिंसाकी जगह क्षमा और साधुता ग्रहण करने लगें।

हम मानवोंका कर्तव्य इन्द्रियजन्य वासनाकी मृगमरीचिकासे पृथक् हो करके सच्चिदानन्द भगवान्‌की प्राप्ति ही होना चाहिये। ईश्वर-प्राप्ति ही जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति है। ईश्वरकी प्राप्ति ही परम शान्ति और अविरल आनन्दमयी प्राप्ति है। प्रभु-कृपाके बिना कहाँ सुख है? कहाँ शान्ति है? सुविचार, सुप्रवृत्ति या परनिवृत्ति सब कुछ प्रभुकृपासाध्य है। जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरोंसे कल्प-कल्पान्तरोंतक भी विषयोंके भोगसे कभी शान्ति नहीं होती। हमारा कल्याण सर्वाधार, अशरणशरण, अकारण-करुणावरुणालय प्रभुका सहारा लेनेसे ही सम्भव है। जीवनमें भगवान्‌का आविर्भाव और उनकी प्रतिष्ठा—यही हमारा लक्ष्य होना चाहिये। इसीमें दैवी-जीवनचर्याका भाव अन्तर्निहित है।

जीवननिर्वाहकी श्रेष्ठतम शैली

[एक दृष्टान्त]

(श्रीजगदीशप्रसादजी गुप्ता)

जीवन कैसे जिया जाय, इस विषयमें लोक और समाजमें यही कहा जाता है कि *'जाहि बिधि राखे राम, ताहि बिधि रहिए।'* वस्तुत: यह यथार्थ बात है और यही आदर्श भी। एक किस्सा है, बहुत पुराना। ध्यान नहीं कि मैंने उसे कहीं पढ़ा था या किसी सन्तने अपने प्रवचनमें उसे कहा था। किस्सा यह है कि प्राचीन समयमें एक सेठ-सेठानी थे, सुखी-सम्पन्न थे, पर अकेले ही थे। एक गाय पाल रखी थी, उसकी देखभाल करना, चारा खिलाना और पानी पिलाना—इन सबका दायित्वनिर्वाह उनका रामू नामका एक सेवक सच्चे मन और निष्ठासे किया करता था। समयपर गायकी सभी सेवाएँ होतीं और उसका दूध निकाला जाता। सुबह-शाम दोनों समय उस गायका दूध निकालकर वह कर्मिष्ठ सेवक रामू अपने सेठजीके घर दे जाता। एक बार सेठजीको तीर्थयात्रा करनेकी इच्छा हुई। सेठ-सेठानीने यात्रापर चलनेकी तैयारी की और चलते समय सेठजीने अपने सेवक रामूको समझाया—भाया! हमारे पीछेसे गायका अच्छी तरहसे ध्यान रखना, चाराका पूरा प्रबन्ध है ही, दूध निकालकर अपने घर ले जाना, हमें यात्रासे वापसीमें एक महीना लग ही सकता है, चिन्ता नहीं करना, खर्चे और अपनी मजदूरी-मेहनतानाके बतौर ये कुछ रुपये रख लो और पीछेसे घरका भी ध्यान रखना।

सेठ-सेठानी तीर्थयात्रापर चले गये। सेठजीके कहे अनुसार उनका वह सेवक रामू उनके घर और गायकी अच्छी तरह देखभाल करता और गायका दूध निकालकर अपने घर ले जाता, लेकिन दूधको अपने घरके आँगनमें फैला देता और गली-मुहल्लेके कुत्ते-पिल्ले वहाँ आकर दूधको चाट-चाटकर पीते। रामूकी भोली-भाली पत्नीने अपने पतिके दूध फैलानेपर उसी दिन उन्हें टोका—दूधको फैलानेसे क्या लाभ? हमारे इन दोनों छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पीनेको मिल जाय, इससे अच्छी बात क्या हो सकती है? आपको सेठजी कहकर गये हैं कि दूध घर ले जाना। रामूने पूरा उत्तर नहीं दिया—नहीं-नहीं, इन बच्चोंको दूध पिलाकर....। पत्नीने पतिकी अधूरी बात पूरी की—'आदत खराब नहीं करनी'। उसे अपने पतिकी बात समझमें नहीं आयी। उसने कोई तर्क-वितर्क नहीं किया। अपना-अपना प्रारब्ध है, समझकर चुप रही। गृहशान्ति बनी रही। रामूका दूध निकालकर सेठजीके कहनेसे दूधको घर लाना और अपनी समझसे दूधको घरके आँगनमें डाल देना उसकी दैनिक क्रिया बन गयी। गली-मुहल्लेके कुत्ते, पिल्ले उस दूधको चट कर जाते।

लगभग एक महीना बीता। सेठ-सेठानी तीर्थयात्रासे वापस आये। रामूने गायका दूध निकाला और सेठजीके घरपर दूध रख दिया। रामू अपने घर आया, आज तो दूध ही नहीं था, आँगनमें क्या फैलाता? लेकिन गली-मुहल्लेके कुत्ते-पिल्ले रोजानाकी तरह समयपर उसके घरके आँगनमें इकट्ठे हुए, दूध न पाकर 'भौं-भौं' कर भौंकने लगे, रोने लगे। रामूकी पत्नीने भौंकने-रोनेका दारुण दृश्य देखा और पूछनेकी मुद्रामें पतिके मुखकी ओर देखने लगी। पतिने कहा—देवि! तुमने इन्हें देख लिया, अपने बच्चोंको वह दूध इसलिये नहीं पीने दिया, नहीं तो आज ये अपने बच्चे इसी तरहसे रोते, बिलखते। बात आज रामूकी पत्नीकी समझमें आयी—अपने हक-मेहनतका खायें-पीयें, स्वाभिमानसे जीयें और अपने सामर्थ्य तथा मर्यादामें रहें।

यह नि:स्पृहता है। तर्क-वितर्क किये जा सकते हैं, कोई अन्त नहीं है। *'जाहि बिधि राखे राम, ताहि बिधि रहिए।'* जीवननिर्वाहकी यही श्रेष्ठतम शैली है।

जीवनचर्यामें मर्यादा-पालन—एक आवश्यकता

(श्रीनरेन्द्रकुमारजी शर्मा, एम०ए०, बी०एड०)

भारत देश उत्कृष्ट संस्कृति एवं मर्यादा-पालनके लिये जाना जाता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम इस देशकी पहचान हैं और उनके कार्य इस देशके आदर्श हैं। पुराने समयमें छात्र विद्याध्ययनके लिये गुरुओंके आश्रममें जाया करते थे। वहीं गुरुकी देखरेखमें रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। अध्ययन पूरा कर लेनेपर गुरु उनकी परीक्षा लेते थे। इस परीक्षामें छात्रके ज्ञान और आचार-विचार सभीको कसौटीपर परखा जाता था। उत्तीर्ण होनेपर उसे उपाधिके योग्य माना जाता था। इसी क्रममें छात्रके आस-पासकी जानकारी भी गुरु प्राप्त कर लेते थे। ऐसी ही एक परीक्षाका रोचक आख्यान यहाँ प्रस्तुत है—पाटलिपुत्रसे एक आचार्यने अपने एक शिष्यको अन्य शिष्यके घर दूर पश्चिममें गंगा-यमुनाके क्षेत्रमें भेजा। जानेवाला शिष्य शरीरपर मात्र कटि-वस्त्र पहनकर हाथमें एक छड़ी तथा दूसरे हाथमें लाल कपड़ेमें बँधी एक हाँडी (मिट्टीका पात्र) लेकर चला। यह यात्रा उसने एक माहमें तय की थी, सो थककर पसीने-पसीने हो गया था। पूछता-पूछता वह गन्तव्यपर पहुँच गया। वहाँ गृहस्वामीके पास जाकर जोर-जोरसे रोने लगा। गृहस्वामीने इतना ही पूछा कि कौन हो और कहाँसे आये हो? शिष्यने बताया कि वह पाटलिपुत्रसे आया है और हाँडीकी ओर संकेत करके बोला कि इसमें आपके पुत्रकी भास्मिक अस्थियाँ हैं… और फिर जोर-जोरसे रोने लगा…। गृहस्वामीका पुत्र भी वहीं अध्ययनरत था, जहाँसे वह शिष्य आया था। परंतु इससे गृहस्वामी विचलित या हताश नहीं हुए। बड़ी शालीनतासे आनेवाले शिष्यसे बोले—आप बहुत लम्बी यात्रा करके यहाँतक पहुँचे हैं निश्चय ही आप थके होंगे, इसलिये पहले आप स्नानकर भोजन ग्रहण कर लें। शिष्य आश्चर्यसे गृहस्वामीको देखने लगा। गृहस्वामीने पुनः अनुरोध किया तो शिष्यने स्नान किया और भोजन भी तृप्त होकर किया। इस बीच कोई कुछ नहीं बोला। शिष्यने फिर रोना चाहा तो गृहस्वामीने कहा कि अब आप विश्राम कर लें। बादमें अन्य बातें करेंगे। शिष्य हैरान था कि युवा पुत्रकी मृत्युकी बातसे भी गृहस्वामी विचलित नहीं हैं, बल्कि मेरे खान-पान तथा विश्रामपर जोर दे रहे हैं। अस्तु विश्राम करनेपर शिष्यको नींद आ गयी, नींद पूरी होनेपर आँखें खुलीं। इसपर शिष्य स्वयंको लज्जित-सा अनुभव कर रहा था। नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर शिष्यने फिर बतानेकी इच्छा प्रकट की तो गृहस्वामीने सहमति दे दी कि अब अपने आनेका प्रयोजन बताओ। आगन्तुक शिष्य फिर पहलेकी भाँति कुछ रोया और लगभग रोते हुए ही बोला, श्रीमान्! आपका पुत्र आश्रमसे जंगलमें लकड़ियाँ लेने गया था, वहाँ वह एक विषधरका शिकार हो गया और मृत्युको प्राप्त हो गया…। शिष्यने देखा कि गृहस्वामीके चेहरेपर कोई विषाद या दुःखका भाव नहीं है। वह फिर बोला… श्रीमान्, आचार्यजीने हम सबके साथ मिलकर उसकी अन्त्येष्टि कर दी और उसकी अस्थि इस कलशमें भरकर आपके पास भेज दी है…। आपका पुत्र हमारा मित्र था, बहुत होनहार… और फिर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

गृहस्वामीने उसे ढाँढ़स बँधाया—वत्स! दुःखी मत होओ, जो हुआ ठीक हुआ। आप यहाँतक आये और भी अच्छा हुआ। परंतु मैं आपको यहाँकी कुछ बातें बताना उचित समझता हूँ, ध्यानसे सुनो—यहाँपर किसीको सताया नहीं जाता है। यहाँपर बन्धु-बान्धवोंमें आपसी सौहार्द बना हुआ है। यहाँपर आपसी झगड़े तो कभी होते ही नहीं हैं। पशु-पक्षी तथा मनुष्य आपसमें मित्रभावसे रहते हैं। प्रकृतिसे मातृवत् व्यवहार किया जाता है, तभी यहाँ मेघ समयपर बरसते हैं, अनुकूल हवाएँ चला करती हैं। मानव मानवके प्रति आदरयुक्त है, स्नेहयुक्त है। यहाँ कभी बाढ़ नहीं आती और बूढ़े लोगोंकी यादमें भी कभी अकाल या सूखा नहीं पड़ा है। लोग परिश्रमी हैं, राजा तथा घरका मुखिया न्यायप्रिय है। सभी लोग मर्यादित एवं अनुशासित हैं। यहाँका कोई व्यक्ति समाजकी मर्यादाको भूला नहीं है, बल्कि आदरके साथ मर्यादाओंका पालन करता है… और वत्स! जहाँ मर्यादाओंका पालन किया जाता है, लोग एक-

दूसरेके साथ प्रेमपूर्वक रहते हैं, प्रकृति भी जहाँ अपना स्नेह उड़ेलती हो—ऐसे स्थानपर पिताके सामने पुत्रकी मृत्यु नहीं हो सकती। मुझे इस बातका पूर्ण विश्वास है कि मेरे पुत्रकी मृत्यु हो ही नहीं सकती। अब तुम वास्तविकता बताओ।

इस बार शिष्य रोया नहीं, परंतु उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। गृहस्वामीके निकट बैठकर उनके पाँव छूकर बोला, क्षमा करें तात! यह सब नाटक था, परीक्षाका एक अंग था। आपका पुत्र सकुशल आचार्यजीके संरक्षणमें अध्ययनरत है। मुझे आचार्यजीने इसी उद्देश्यके लिये भेजा था। उस हाँडीमें कथाका प्रसाद है, यहाँ इस क्षेत्रमें आकर मैं स्वयं को धन्य मानता हूँ और मैं भी ये जान पाया कि जहाँ मर्यादाओंका पालन होता है, वहाँ अनिष्ट हो ही नहीं सकता।

परंतु आज परिस्थितियाँ एकदम विपरीत हैं। न कोई मर्यादाको जानना चाहता है और न कोई मर्यादित होना ही चाहता है। न जानते हुए भी भगवान् रामके चरित्र उनके मर्यादापूर्ण जीवनकी झलक भारतके बालकको किसी न किसी स्तरपर अवश्य मिलती है। फलस्वरूप बालक उन्हें सीखने-समझनेकी कोशिश भी करता है, परंतु जो कृत्य वह साक्षात् देखता है, यथा—एकल परिवारमें माता-पिताका अमर्यादित व्यवहार, विद्यालयोंमें आधुनिकताकी आड़में अमर्यादित कार्यकलाप, समाजका चरमराता नैतिक ढाँचा तथा दूरदर्शनके कुत्सित कार्यक्रम बालककी मर्यादाकी चाहको मिटाकर रख देते हैं। उसे फिर मर्यादा-जैसे शब्दोंसे सरोकार नहीं रहता। वह मर्यादा-पालनको पाखण्ड समझने लगता है। अतः अधिकांश बालक स्वच्छन्द हो जाते हैं, किसी नियम-उपनियमको नहीं मानते, फिर भी जो बालक या व्यक्ति मर्यादित रहे हैं, संस्कारित रहे हैं, उन्होंने उन्नति की है, वे सफलताके शिखरपर आरूढ़ हुए हैं और भविष्यमें भी होते रहेंगे; तो क्यों न हम सब यह निश्चय करें कि हम स्वयं मर्यादित रहकर दूसरोंके लिये उदाहरण बनें।

उत्तम स्वास्थ्य कैसे पायें ?

(डॉ० मधुजी पोद्दार, एम०डी०)

हर इन्सान जब मन्दिर जाता है या भगवान्‌की पूजा करता है तो प्रायः यह प्रार्थना करता है कि मुझे तन, मन और धनसे सुखी करो भगवान्! इस तन, मन, धनके सुखी होनेमें सभी कुछ आ जाता है, पर कुछ पानेके लिये कुछ करना पड़ता है। धनसे सुखी होनेके लिये इन्सान काम करता है, चाहे नौकरी करे या निजी व्यवसाय। मनसे सुखी होनेके लिये उसमें सहनशीलता, दया, सहिष्णुताके साथ-साथ क्रोध, ईर्ष्या, नफरत, बदलेकी भावना इत्यादिपर काबू पाना जरूरी है, जिन्हें मानवधर्मका लक्षण माना गया है एवं जिसके कारण इन्सान पशुसे भिन्न होता है; क्योंकि आहार, निद्रा, भय और मैथुनकी आवश्यकता तो पशुमें भी पायी जाती है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अतः मानसिक सुख मिलता है आत्मसंयमसे, योगसे, प्राणायामसे, वेदोंके ज्ञानसे तथा धर्मका पालन करनेसे; जो आजके युगमें थोड़ा कठिन है, पर अगर हम चाहें तो कोशिश करके पा सकते हैं। सबसे ज्यादा जरूरी है एवं आसान भी है तनसे सुखी रहना; क्योंकि यह इन्सानके स्वयंके हाथमें है और कुछ सावधानियोंसे ही तनको स्वस्थ रखा जा सकता है तथा बीमारियोंको आनेसे रोका जा सकता है। ये सावधानियाँ मुश्किल नहीं हैं, इसके लिये सिर्फ अपने रोजमर्राके जीवनमें कुछ बदलावकी जरूरत है और यह बदलाव किया जा सकता है खान-पान एवं रहन-सहनमें बदलावसे; क्योंकि अगर शरीर स्वस्थ रहता है तो मन भी स्वस्थ रहता है, परिवार सुखी रहता है, समाज सुखी रहता है एवं समाजके सुखी रहनेसे ही हमारा पूरा देश तथा संसार सुखी रहता है। जब

बीमारियाँ आयेंगी ही नहीं तो बीमारियोंपर होनेवाले खर्चेमें कमी आयेगी, जिससे देशकी अर्थव्यवस्थामें स्वयं ही सुधार आ जाता है। यह जानना जरूरी है कि शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये क्या-क्या करना चाहिये। सुबह जागनेसे रात सोनेतक, यानी पूरे दिनकी दिनचर्यामें क्या बदलाव लाने चाहिये—

सुबह सूर्योदयसे पहले उठकर घूमने अवश्य जाना चाहिये। सूर्योदयसे पहले शुद्ध तथा शीतल वायुके प्रवेशसे शरीरमें ताजगी तथा स्फूर्ति आती है एवं सारा दिन मन प्रसन्न रहता है।

सुबह सोकर उठनेके बाद, शौचके पश्चात् मंजन, ब्रश या नीमसे दाँत जरूर साफ करने चाहिये। पूरी रातकी गन्दगी दाँतों एवं मसूढ़ोंपर जमा रहती है, अगर उसे साफ नहीं करेंगे तो उनमें कीटाणु पनपते हैं तथा जड़ें कमजोर हो जाती हैं। रातको सोनेसे पहले भी दाँत साफ कर लेना चाहिये।

शौचके बाद साफ मिट्टीसे हाथ अवश्य धोने चाहिये, अन्यथा हाथोंकी गन्दगी खाना खाते समय मुँह तथा पेटमें जाती है एवं तरह-तरहके रोगोंको जन्म देती है, जैसे— उल्टी, दस्त, पीलिया, टायफायड, पेटमें कीड़े इत्यादि।

रोज सुबह शौच तथा दन्तमंजनके बाद स्नान जरूर करना चाहिये ताकि शरीर स्वच्छ एवं स्वस्थ रहे। वैसे भी बिना स्नानके स्फूर्ति तथा ताजगी नहीं आती है। गर्मी, सर्दी एवं बरसात हर मौसममें नहाना चाहिये।

नित्य लगभग आधा घण्टा योगासन एवं प्राणायाम करना चाहिये। योगसे अनेक शारीरिक तथा मानसिक बीमारियोंसे बचाव रहता है और शरीर स्वस्थ रहता है।

जीवनमें हँसना सेहतके लिये बहुत जरूरी है; साथ ही सकारात्मक विचारोंसे भी तन, मन स्वस्थ रहता है।

खाने-पीनेमें बदलावसे पहले पहनावा इत्यादिके बारेमें कुछ बातें जरूरी हैं, जैसे कि फैशनके चक्करमें कुछ लोग बहुत चुस्त तथा बेढंगे कपड़े पहन लेते हैं जो देखनेमें तो बुरे लगते ही हैं साथ ही चुस्त कपड़ोंसे त्वचापर रगड़ लगते रहनेसे त्वचाका कैंसर होनेका डर रहता है। अतः शरीरपर सही लगनेवाले ढीले परिधान पहनने चाहिये।

खान-पानमें बदलाव शरीर तथा मन दोनोंके स्वस्थ रहनेके लिये बहुत जरूरी है, जैसे कि कहा भी गया है *'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन।'*

सुबह हल्का नाश्ता, दोपहर तथा रातको सही समयपर भोजन करना चाहिये। जैसे कि सुबह ९ बजेतक नाश्ता, दो बजेतक दोपहरका भोजन एवं रात ८ बजेतक रातका भोजन करना चाहिये ताकि दो समयके भोजनके बीचमें खाना पचनेका सही समय मिल जाय।

खानेमें अगर भारतीय परम्परा तथा संस्कृतिके आधारपर दाल, चावल, रोटी, सब्जी, सलाद, दही एवं फलोंका सेवन करते हैं तो आधुनिक विज्ञानके आधारपर कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, मिनरल एवं विटामिनयुक्त सन्तुलित आहार मिल जाता है। हमें अलगसे विटामिनकी गोलियाँ लेनेकी जरूरत ही नहीं रहती है।

सुबह नाश्तेमें तथा रातको सोनेसे पहले दूधका सेवन अवश्य करें, खास तौरसे महिलाएँ, जिन्हें कैल्शियमकी ज्यादा जरूरत होती है, इससे हड्डियाँ मजबूत रहती हैं।

कच्ची सब्जियाँ, सलाद एवं फलोंमें मिनरल एवं विटामिन प्रचुर मात्रामें होते हैं। इन्हें प्रतिदिन अवश्य लेना चाहिये, परंतु उन्हें खानेसे पहले अच्छी तरह धो अवश्य लें।

मांसाहार न करें सिर्फ शाकाहार करें; क्योंकि मांसाहार शरीरके लिये बहुत नुकसानदायक होता है। अब वैज्ञानिक प्रयोगोंसे सिद्ध हो गया है कि शाकाहार सस्ता तथा पौष्टिक तो है ही लाभदायक भी है। मांसाहारसे हृदयरोग, लकवा, फालिज, शुगर, उच्च रक्तचाप एवं विभिन्न प्रकारके कैंसर एवं पथरियोंसहित करीब १६० बीमारियाँ हो सकती हैं। अतः शाकाहार ही लेना चाहिये।

साफ पानी पीयें तथा अगर किसी इलाकेमें गन्दा पानी आता है तो उसे उबालकर एवं छानकर रखें और फिर प्रयोग करें।

भारतीय पारम्परिक शर्बत, लस्सी, शिकंजी-जैसे पेयजलोंका प्रयोग करें, आजकलके पेप्सी, कोला-जैसे हानिकारक पेयजल न लें। वैज्ञानिक प्रयोगोंसे सिद्ध हो गया है कि पेप्सी व कोकमें इतना अधिक एसिड या तेजाब होता है जो हड्डी एवं दाँतोंको गला देता है तो पेट या आँतोंकी झिल्लीका क्या हाल होता होगा, यह विचारणीय है। इसका अधिक सेवन करनेसे पेट तथा आँतोंकी

एसिडिटी, अल्सर तथा कैंसर-जैसी बीमारियाँ हो सकती हैं, दाँत एवं हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं, जिससे जल्दी टूटनेका खतरा बढ़ता है एवं इन पेयजलोंमें पाये जानेवाले कीटनाशकों एवं सुरक्षित रखनेवाले रसायनोंसे विभिन्न प्रकारके कैंसर हो सकते हैं।

आटेकी रोटियाँ खासतौरसे ज्यादा चोकरवाले मोटे आटेकी रोटियाँ खायें तथा मैदेका सेवन कम करें। यह देखा गया है कि कम चोकरवाले आटेके खानेसे बड़ी आँतके कैंसरकी सम्भावना एवं कब्ज तथा बवासीरका खतरा बढ़ जाता है। इसीलिये जो आजकल पिज्ज़ा, बर्गर, नूडल्स (चाउमीन)-जैसे भोज्य पदार्थ हैं, वे मैदेके होते हैं तथा उनमें वसा भी अत्यधिक मात्रामें होती है, जिससे मोटापा, डायबिटीज, उच्च रक्तचाप-जैसी बीमारियाँ बढ़ती हैं।

शराब तथा सिगरेट, तम्बाकू, गुटखे एवं पानमसालेका सेवन न करें। ये सभी दुर्व्यसन सेहतके लिये ही नहीं, मन तथा धनके लिये भी नुकसानदायक होते हैं। इनसे शरीर तो खराब होता ही है, पैसेकी तंगी भी आती है, जिसका असर पूरे परिवारपर पड़ता है, घरमें कलह होता है, लड़ाई-झगड़े रहते हैं, मनकी शान्ति भंग होती है तथा तनमें अनेक रोग जैसे—फेफड़े एवं जिगरके कैंसर, मुँह एवं आमाशयका कैंसर, उच्च रक्तचाप, हृदयरोग, फालिज, लकवा, पैरोंका गैंग्रीन, लिवर फैल्योर तथा गुर्देकी बीमारियाँ भी होती हैं।

तन तथा मनको स्वस्थ रखनेके लिये अपने घर एवं घरके आस-पासकी स्वच्छताका ध्यान रखें; क्योंकि गन्दगीमें मक्खी, मच्छर तथा अन्य कीड़े पनपते हैं, जिससे मलेरिया, टायफाइड, पीलिया, कॉलरा-जैसी बीमारियाँ हो सकती हैं।

आस-पास पेड़-पौधे उगाकर पर्यावरण शुद्ध रखें, जिससे आस-पास अच्छी वायु यानी ऑक्सीजन रहे; क्योंकि पेड़-पौधे अपना भोजन बनानेके लिये गन्दी हवा कार्बन डाइ ऑक्साइडको अन्दर ले लेते हैं तथा शुद्ध वायु ऑक्सीजन छोड़ते हैं, जो जीव-जन्तुओंके लिये लाभदायक एवं आवश्यक होती है।

जीवनमें स्वस्थ रहनेके लिये यौनसे सम्बन्धित बातोंका ध्यान रखना भी उतना ही जरूरी है, जितना खान-पान तथा रहन-सहनका।

हमारी जीवनचर्या कैसी हो ?

(श्रीजगदीशप्रसादजी तिवारी)

मनन करनेपर विचार उठता है कि मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य क्या है? और उसकी प्राप्ति कैसे हो? इसका उत्तर है कि मनुष्य-जन्मका प्रमुख लक्ष्य सभी दुःखोंसे छुटकारा पाना है। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही 'मोक्ष' है। आत्माका बारम्बार शरीर धारणकर सुख-दुःख भोगना, अज्ञानके कारण है। इस अज्ञानका निवारण ही मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य है।

उक्त अज्ञानका निवारण और ज्ञानकी प्राप्ति सहज नहीं है। इसके लिये अपना भाव और दृष्टिकोण बदलना पड़ता है। अपने मन-बुद्धि-चित्तको सँवारना पड़ता है। अपनी दिनचर्या-जीवनचर्या साधनामय बनानी पड़ती है। लक्ष्यप्राप्तिसे पूर्व रुकना, थकना, उकताना या लौटना लक्ष्यप्राप्तिमें बाधक है। यह साधना जीवनपर्यन्त चलती है। सर्वोच्च पुरुषार्थ तभी मिलता है।

इसके लिये हम अपने जीवनमेंसे इन पाँच असन्तोषोंको पहले दूर करें।

पहला है—**'अर्जन'**—जीवन-यापनकी न्यूनतम आवश्यकताओंसे अधिक कमाने और संग्रह करनेके लिये दिन-रात की जा रही दौड़-धूपको विराम दें। लगन एवं परिश्रमपूर्वक अपने विहित कर्तव्यका ईमानदारीसे निर्वाह करते हुए प्रारब्धवश प्राप्त संसाधनोंपर सन्तोष करें।

दूसरा है—**'रक्षण'**—अनाप-शनाप एकत्रित की गयी धन-दौलत, परिवार-कुटुम्बके पालन-पोषण-संरक्षणमें व्यस्ततापूर्वक अमूल्य जीवनके समयकी बर्बादीको लगाम दें और उस समयको ईश्वर-आराधनामें लगायें।

तीसरा है—**'क्षय'**—शरीर, समय और सम्पत्तिका क्षण-प्रतिक्षण क्षय हो रहा है, अतः इनको अपनी लक्ष्य-पूर्तिके उद्देश्यमें लगायें।

चौथा है—**'भोग'**—सुख-सुविधाओं, तृष्णा-कामनाओंका एकके बाद एक भोगनेकी इच्छा-कामना-लालसा बनाये रखकर

अन्ततः अतृप्ति ही अतृप्ति प्राप्त हो रही है। अतः कामनाओंपर संयम बरतें।

अन्तिम है—'**हिंसा**'—बिना औरोंको सताये, बिना दूसरोंका हक मारे, लौकिक भोग-विलास भोगना सम्भव नहीं है। अतः लौकिक भोग-विलासोंसे दृढ़तापूर्वक मन हटायें। हमारी समृद्धि अनेकके लिये ईर्ष्या-द्वेष पैदा करनेका कारण बनती है। ये सभी असन्तोषी भाव आत्मोन्नतिमें बाधक हैं, अतः त्याज्य हैं।

उपर्युक्त पाँच असन्तोषी भावोंके अतिरिक्त निम्न चार सन्तोषी भाव भी मोक्षप्राप्तिमें बाधक हैं, अतः त्याज्य हैं।

[१] '**प्रकृतितुष्टि**'—प्रकृति हमें किसी-न-किसी जीवनमें मोक्ष दिला ही देगी। प्रयत्न, प्रयास, साधनाकी क्या आवश्यकता है?

[२] '**उपादानतुष्टि**'—गृहस्थ छोड़कर, साधु-संन्यासी, महन्त, उपदेशक, प्रचारक बन जानेमात्रसे मोक्ष मिल जायगा। धारणा, ध्यान, समाधि, संयम सब बेकार है।

[३] '**कालतुष्टि**'—जब समय आयेगा, तब बिना कुछ किये-कराये मोक्ष अपने-आप मिल जायगा।

[४] '**भाग्यतुष्टि**'—भाग्यमें होगा तो मोक्ष मिल जायगा, प्रयास करना व्यर्थ है। साधनामें बहुत झंझट है इत्यादि।

ये सभी नकारात्मक दृष्टिकोण हैं और प्रमाद एवं आलस्यके रूप हैं। अतः साधकको सावधानीपूर्वक इनको छोड़ देना चाहिये।

मोक्षमार्गमें निम्न साधनाएँ बहुत सहायक हैं—

जन्मजात योग्यता अर्थात् पिछले जन्मोंमें किये गये साधनाके संस्कार। सन्त-महात्मा-गुरुके उपदेश, मन्त्र-जप, अनुष्ठान, भजन-कीर्तनादि। स्वाध्याय, सत्संग और विद्याध्ययन। किसी योगी-सन्त-महात्मा, ज्ञानी, विद्वान्, सिद्ध व्यक्तिद्वारा साधनामें सहयोग, निर्देशन, मार्गदर्शन, आशीर्वाद, दीक्षा आदि। विद्यादान, समयदान, धनदान, गुणदान, परमार्थ, परोपकार, त्याग और सेवा। साधना-सिद्धिद्वारा दैहिक, भौतिक और दैविक दुःख-सन्ताप-विघ्नोंका नाश हो जाना।

मनुष्यका जीवन जिस उद्देश्यसे हुआ है, उसका सर्वोच्च पुरुषार्थ मोक्ष ही है। अज्ञानवश हम 'आत्मा' को शरीरके सम्बन्धसे शरीर ही मानकर सुख-दुःखका कर्ता-भोक्ता मानते हुए बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए हैं। इस चक्करको मिटाना ही 'मोक्षप्राप्ति' है। सभी सांसारिक आवश्यकताएँ एक बार पूर्णरूपसे मिल जानेपर भी दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। पदार्थों और परिस्थितियोंसे मिलनेवाले तथाकथित सुख अन्तमें दुःख ही देते हैं, यह हम सबका अनुभव है। मोक्ष मिल जानेसे सब दुःख एकबारगी ही छूट जाते हैं।

अज्ञान और अविद्या एक ही बात है। अज्ञान ही जीवके बन्धनका कारण है। जब अविद्या या अज्ञान मिट जाता है, तब ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे दीपक जलते ही अन्धकार मिट जाता है। तब जीवात्माके सही स्वरूपका पता चलता है और शरीर तथा संसारका मोह हटता है।

वास्तवमें आत्मा अविकारी और असंग है। इस अज्ञानको मिटाना ही मुख्य कर्तव्य है। मोक्षप्राप्तिकी अवस्था यही है।

जीना—एक कला

(डॉ० श्रीदेवशर्माजी शास्त्री, एम०ए०, एम०बी०एस०एच०, एम०आई०एम०एस०)

चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य योनि ही सर्वोत्तम है, जो प्रभुकी अहैतुकी अनुकम्पासे हमें प्राप्त हुई है। कितने मनुष्य हैं जो इसे प्रभुकृपा मानकर जीते हैं और कितने हैं जो कीट-पतंगवत् इसे बोझ समझकर मात्र धकेलते हैं। निश्चय ही प्रथम कोटिकी संख्या अत्यन्त अल्प ही मिलेगी। गोस्वामीजीने भगवान्‌के ही श्रीमुखसे कहलाया है—

कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥

(रा०च०मा० ४।१६।१०)

वानरजातिमें हनुमान्‌जी और राक्षसजातिमें विभीषणजी उन विरले प्रभु-प्रेमियोंमें गिने जाते हैं, जिन्होंने ऐसा जीना सीखा कि प्रभुकृपासे वे आज भी अमर हैं। उनके नाम उन आठ दीर्घजीवियोंमें सुशोभित हैं, जिनका पुण्य-स्मरण हम प्रतिदिन प्रातः उठते ही करते हैं—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।
जीवेद् वर्षशतं साग्रमपमृत्युविवर्जितः॥

वस्तुतः जिसने आठों प्रहर जीना सीख लिया, उसने जीवनकी शताब्दी जीत ली और गहराईसे देखें शताब्दी क्या, प्रभातकी पुण्यवेलामें चारों युग समाहित हैं—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति॥

जिसने प्रभातको जीत लिया, उसने जीवन जीत लिया—चारों युगोंको जीत लिया।

प्रातः उठकर 'करदर्शन' की अपनी ही महिमा है। सनातन प्रभुकी सनातनी शक्ति अपने तीनों रूपोंमें हमारे करतलमें विराजमान है और हृदयमें प्रभु विराजमान हैं। वेदका आदेश है—

'जीवेम शरदः शतम्' परंतु **'जीवेम'** से पूर्व कहा—**'पश्येम शरदः शतम्'** फिर आगे कहा—**'शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतम्'**—शतवर्षीय जीवनतक ही नहीं, बल्कि अदीन होकर जीना है, आगे कहा गया है—

'भूयश्च शरदः शतात्।'

'शताब्दी' जीवनकी सीमा नहीं है, आगे भी ऐसे ही जीना है। तन दुरुस्त अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य, मन दुरुस्त अर्थात् मानसिक स्वास्थ्य; तब होता है—जीवन दुरुस्त।

यह तो हुई सामान्य जनकी बात। योगियोंकी जीवनचर्या सामान्य जनसे पूर्णतया अलग होती है। योगचूड़ामणि उपनिषद्का श्लोक (५३) योगीश्वरोंका चित्र यों खींचता है—

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

हिमालयकी कन्दराओंमें शताब्दियोंसे बैठे योगीश्वर आज भी देखे जा सकते हैं।

इटलीमें एक पहाड़ीपर छोटा-सा गाँव है—कम्पोडी मेले, जहाँ प्रायः हर घरमें शतवर्षीय जवान मिलेंगे, जो स्वयं कृषिकार्य करते हैं। सारा गाँव शाकाहारी है। मदिराका कोई नामतक नहीं जानता। विगत बीस वर्षोंसे कोई बीमार ही नहीं हुआ। सरकारने गाँवमें अस्पताल बनाया हुआ है; परंतु बीस सालोंमें एक भी रोगी अस्पतालमें नहीं आया। गाँवमें कभी चोरी नहीं हुई। थानेके रजिस्टर भी कोरे पड़े हैं, कोई केस ही नहीं।

लास एंजिलिसकी एक वृद्धाने कुछ दिन पूर्व अपना ११५वाँ जन्मदिन मनाया है। एक अन्य महिला जो २७ मार्च १८७९ ई० को जन्मी, उसने अपना १३०वाँ जन्म दिन मनाया है। उसकी पोती भी अब दादी बन चुकी है।

एक अन्य महिला—ईसरो, जो होशियारपुर (पंजाब)-की रहनेवाली है, उसने अपना १२३वाँ जन्मदिन मनाया है। वह घरके सारे काम स्वयं करती है। रूसकी एक महिला ११७ वर्षकी हुई। रूसके वैज्ञानिकोंका निष्कर्ष है कि मनुष्यके मस्तिष्कका आपरेशनकर उसे ३०० वर्षोंतक जीवित रखा जा सकता है। हांगकांगकी एक महिलाका १४० वर्षोंकी आयुमें निधन हुआ।

बगदादका एक व्यक्ति १३६ वर्षकी आयुमें छतसे गिरकर मरा। मेकेनहाइम (प० जर्मनी)-के एक व्यक्तिने १५४वाँ जन्मदिन मनाया है। क्वालालम्पुर (मलयेशिया)-का हरिसिंह १८५१ ई० में पंजाबमें जन्मा और उसने १२७ वर्षकी आयु भोगी।

१९३३ ई० में एक समाचार छपा था कि दुनियाके सबसे वृद्ध व्यक्तिकी मृत्यु १५६ वर्षकी आयुमें हुई। तेहरान (ईरान)-के सबसे वृद्धकी मृत्यु १५३ वर्षकी आयुमें हुई। उसने कभी अस्पतालका मुँह न देखा था। टामस पार १५२ वर्षका स्वस्थ जीवन जीकर मरा। वह शुद्ध शाकाहारी था। मदिरा-मिठाईको छुआतक नहीं। डेनमार्कमें एक व्यक्ति १४६ वर्ष जीवित रहा।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे हमारा अभिप्राय मात्र यह दर्शाना है कि जीवन जीना समयको ढोना नहीं, बल्कि एक कला है। वर्षोंकी गणना भी जीवन नहीं है। वर्षोंमें करना क्या है, यह जीवनकी पहचान है। कछुआ ४०० वर्ष जीवित रहता है, यह शारीरिक जीवन है। मानवजीवन मात्र शारीरिक नहीं—उसमें मन और आत्माका निवास है, जो ईश्वरका अंश है। हम ठीकसे तभी जी सकते हैं, जब अपने आहार-विहार और रहनी-करनीकी कलाको भलीभाँति सीख लें। जीते तो सभी हैं पर जिसने अपना जीवन सार्थक बना लिया, उसीका जीना सही मायनेमें जीना है।

सुखद जीवन-सन्ध्या

(प्रो० डॉ० श्रीजमनालालजी बायती, एम०ए०, एम०कॉम०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

आजीविकाको सुचारु रूपसे चलानेके लिये व्यक्ति जो वृत्ति अपनाते हैं, उसे दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—सेवा तथा निजी व्यापार या अन्य धन्धा। सेवाको फिर उपविभागोंमें बाँटा जा सकता है—राजकीय सेवा, अर्ध राजकीय सेवा तथा निजी सेवा। सेवा कैसी भी हो, एक निश्चित समयके बाद उससे निवृत्ति पानी ही होती है, अवकाश लेना होता है। सेवाओंमें सेवानिवृत्तिकी आयु भी अलग-अलग होती है।

जब आप सेवानिवृत्तिके किनारेपर होते हैं तो आपको आनेवाले समयके लिये मनोवैज्ञानिक रूपसे तैयार हो जाना चाहिये। आपको ज्ञात है कि आपकी आमदनी कम हो गयी है या यह भी सम्भव है कि आपकी आमदनी कुछ समयके लिये बन्द ही हो जाय। यद्यपि सरकार सेवानिवृत्तिसे काफी पूर्व ही ऐसी व्यवस्था करती है कि आपको समयपर पेंशन मिल सके, फिर भी विलम्ब होनेकी सम्भावनासे इनकार नहीं किया जा सकता। सम्भव है, सेवावधिमें आपके कुछ अधीनस्थोंने आपके आदेशोंकी अवहेलना की हो या आपको उपयुक्त सम्मान न दिया हो या आपके प्रति या आपके कार्योंके प्रति उदासीनता बरती हो, आप इन सबको क्रमशः भूलनेका प्रयत्न कीजिये। यह भूलना ही आपको सन्तोष देगा, प्रसन्नता देगा। इसके दूसरी ओर यह भी हो सकता है कि अपने सर्विस कालमें आप अपने परिवारको पर्याप्त समय न दे पाये हों तो अब आप सपत्नीक तीर्थाटनके लिये निकल जाइये या घूमने निकल जाइये, जहाँ इच्छा हो रुक जाइये, देव-दर्शन कीजिये, प्राकृतिक छटा निहारिये। यदि आप मित्रोंसे मिलने भी जा सकें तो इसका भी लाभ उठाइये, इससे अनुभवोंका आदान-प्रदान होगा, विचार-विमर्श आगे बढ़ेगा तथा आपका जीवन प्रसन्नतासे भर जायगा।

अबतक आपने धन कमाया है, बच्चों-पौत्रोंके लिये खर्च किया है तो आपने परिवारमें भरपूर सम्मान पाया है, पर अब चूँकि वेतनकी जगह पेंशन मिलेगी तथा हो सकता है कि वह विलम्बसे मिलनी शुरू हो तो आपको यदा-कदा उलाहना भी सुनना पड़ सकता है, कभी आप पानी माँगें और ध्यान न दिया जाय या विलम्ब हो जाय या जल लानेमें उदासीनता बरती जाय। बहन या पुत्री ससुरालसे आयी है तो आप अपनी इच्छाके अनुसार उसकी आवभगत नहीं कर सकते; क्योंकि अब आपको पुत्रोंपर तथा बहूरानियोंपर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें आपको सहनशीलताका विकास कर लेना चाहिये, दूसरोंकी सुविधाका ध्यान रखिये, उनके विचारोंको भी महत्त्व दीजिये। सेवानिवृत्तिके बाद आप अपनी इच्छाके अनुसार स्कूल या अस्पताल या कार्यशाला या सामाजिक संस्थाको चन्दा या दान नहीं दे सकते, आपको बच्चोंसे पूछना होगा। ये कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हैं, जिन्हें आपको अपनेमें विकसित कर लेना चाहिये। उलाहनोंको आप गम्भीरतासे न लें, तभी आप प्रसन्नचित्त और हल्के-फुल्के रह सकते हैं।

यदि आपकी जिम्मेदारियाँ पूरी हो गयी हैं तो आपके पास समय-ही-समय है। यदि पुत्रों तथा पौत्रों आदिके विवाह हो चुके हैं तो आप निश्चिन्त हैं, पर यदि ऐसा नहीं है तो पुत्रों-पुत्रियों, पौत्रों आदिके विवाहके लिये अब विशेष प्रयत्न कर सकते हैं, क्योंकि अब आप इन कामोंको अधिक समय देनेकी स्थितिमें हैं।

सेवानिवृत्तिसे पूर्वतक आप अपने कार्योंमें, आदतोंमें नियमित थे, पर अब आपको फुरसत मिल रही है, आप अधिक विश्राम कर सकते हैं, अधिक समय घूम सकते हैं, अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंको पढ़ सकते हैं, निश्चिन्ततापूर्वक भगवान्‌की तरफ ध्यान लगा सकते हैं। यदि आप संयुक्त परिवारके सदस्य हैं, तो पुत्रोंके भोले-भाले, अबोध, प्यारे-प्यारे बच्चों या पड़ोसियोंके बच्चोंके साथ आप अपने समयका उपयोग कर सकते हैं, उनको पढ़ा सकते हैं, उनके साथ विनोद-चुहलबाजी कर सकते हैं।

परिवारके छोटे-मोटे कामोंमें हाथ बँटाइये। परिवारमें

छोटे स्कूल जानेवाले बच्चे हों तो उनका गृह-कार्य पूरा करवा दीजिये, बाजारसे लौट रहे हैं तो सब्जी लेते आइये, मार्गमें किये जा सकनेवाले अन्य कार्य भी निपटा दीजिये, जिससे दूसरी बार जानेसे आपकी शक्तिका अपव्यय न हो, गृहकार्योंमें मदद कीजिये।

अब आप नियमित जीवनसे भिन्न व्यक्ति बन गये हैं। अब आप पढ़ने-लिखनेकी आदतका विकास कर सकते हैं, इससे आप व्यस्त भी रहेंगे तथा धीरे-धीरे कुशलता प्राप्तकर ज्ञानार्जन भी कर सकते हैं। यदि आप पुस्तकोंके अध्ययनमें लगे रहेंगे तथा लेखकके रूपमें सृजनात्मक कार्य करेंगे तो आप अपनेको जीवन्त एवं प्रसन्न रहनेका अनुभव प्राप्त करेंगे। आप दूसरे लोगोंका मार्गदर्शन कीजिये। कब क्या पढ़ना है? कौन-किस धन्धेमें जा सकता है? किसके लिये किस प्रकारकी नौकरी या धन्धा उपयुक्त हो सकता है? वहाँ उनके सफल होनेकी क्या सम्भावना है? शैक्षिक सम्प्राप्ति, व्यक्तित्वके गुण, पढ़ाई-लिखाईका स्तर, दृष्टिकोण आदिके अनुसार आप नवयुवकोंका मार्गदर्शन कर सकते हैं, उन्हें दिशा-निर्देश दे सकते हैं। इससे आपके पास मार्गदर्शन चाहनेवालोंकी भीड़ रहेगी तथा आप सदैव अपनेको उनके बीच जिन्दादिल अनुभव करेंगे, आप अपनेको उन्हींमेंसे एक अनुभव करेंगे।

आप अध्ययनकी आदत विकसित कर सकते हैं, पढ़नेकी आदत अनोखा आनन्द देती है, पुस्तकें सबसे अच्छी मित्र होती हैं। उपयोगी कृतिके अध्ययनसे आपको आत्मसन्तोष मिलेगा। यदि सम्भव हो तथा आप चाहें तो किसी पाठ्यक्रममें प्रवेश ले लीजिये।

आप किसी रुचिपूर्ण कार्य या हॉबीका भी विकास कर सकते हैं। ये सब कार्य आपकी विचारधारा, दृष्टिकोण तथा माली हालतपर निर्भर करेंगे। किसी जनसाधारणके लिये उपयोगी गतिविधिमें हाथ बटाइये, इससे आपका जीवन आनन्दप्रद बनेगा। आप चित्रकलाके नमूने तैयार कर सकते हैं, बागवानीके कार्यमें रुचि विकसित कर सकते हैं, भाँति-भाँतिके पुष्पोंके पौधे लगाइये, पौधोंको पानी पिलाइये, उनको खाद देनेकी तकनीक समझिये, इससे आपको सृजनका आनन्द मिलेगा। आप अनुभव करेंगे कि आपकी फुरसतका समय उपयोगी कामोंमें लग रहा है।

आप मित्रों या परिवारके सदस्योंके साथ या अकेले भी देशाटनपर जा सकते हैं, वहाँ प्रकृतिका, प्राकृतिक छटाका, नदी-नालों या घाटियोंका आनन्द लीजिये। प्राकृतिक सौन्दर्यका आनन्द लेना कितना आकर्षक तथा मनोहारी लगता है। रोजके कामोंसे दूर प्रकृतिकी गोदमें रहिये, आप हरी-हरी दूबपर घूमिये, इससे आँखोंको लाभ होगा। आपको शारीरिक स्फूर्ति मिलेगी। पौधों, पुष्पों तथा पत्तियोंसे अपनत्व स्थापित होगा। हिरणका चौकड़ी भरना तथा झरने या नालेका कल-कल करता पानी आपको आह्लादित कर देगा, आपको नवजीवन देगा। आप बाढ़-पीड़ितोंकी सेवा कर सकते हैं, चिकित्सा-शिविरोंमें रोगियोंकी सहायता कर सकते हैं, उनकी इच्छाके अनुसार उनके सम्बन्धियोंको पत्र लिख सकते हैं, पूर्व जीवनके आनन्दप्रद क्षणोंकी याद आपको प्रसन्नतासे भर देगी, सन्तोष देगी तथा आपमें नवजीवनका स्फुरण होगा। आप कुछ समय प्रभुकी सेवा, पूजा-अर्चनामें अवश्य लगायें, परम शक्तिका ध्यान कीजिये, एकाग्र होकर परमेश्वरका चिन्तन कीजिये। इससे जो आत्मिक बल तथा शान्ति प्राप्त होगी, वह अनुभवका ही विषय है। रोजके जीवनसे दूर प्रकृतिसे तादात्म्य जोड़िये—ऐसा करनेसे आपमें नवशक्तिका संचार होगा।

आप स्वास्थ्यके प्रति सजग हो सकते हैं, प्रातः घूमनेकी आदत डालिये। इस समय आपकी अपने ही जैसे कई व्यक्तियोंसे भेंट होगी, उनसे मिलिये, बातें कीजिये, वे कई ऐसी बातें बता सकते हैं, जिनसे आप अबतक अनभिज्ञ रहे हैं तथा उनपर आपने अबतक कुछ सोचा भी नहीं है। अब आप देख रहे हैं कि ये बातें आपके लिये बड़ी उपयोगी हैं।

यदि आप स्वस्थ और सक्षम हैं तो अर्थप्राप्तिके लिये अपनी प्रकृतिके अनुरूप कोई कार्य कर सकते हैं। आप समाजके किसी कार्यको सेवाभावसे कर सकते हैं, आप चाहें तो मानवोपयोगी संस्थाकी गतिविधियोंमें भाग लीजिये, उसके सदस्य बन जाइये या कार्यकारिणीके पदाधिकारी

बन जाइये, पर हाँ, वहाँसे लाभ उठानेका दृष्टिकोण न बनाइये। इससे आप समाजके लोगोंसे जुड़े रहेंगे, उनकी गतिविधियोंसे परिचित रहेंगे तथा समयकी एकरसतासे भी बचेंगे। आपको सावधानी यह रखनी है कि सेवानिवृत्तिके बाद भी आप समाजके उपयोगी सदस्य बने रहें, अन्य सदस्योंके हितार्थ महत्त्वपूर्ण योगदान करते रहें, तभी समाजमें आपका वर्चस्व बना रहेगा, आपकी पहचान बनी रहेगी, आपको यश-सम्मान मिलेगा। प्रत्येक व्यक्तिके आत्मसन्तोषके लिये ये बातें जरूरी हैं।

कई व्यक्ति अपनी सेवानिवृत्तिके बाद ही जीवनका सर्वाधिक अच्छा एवं सुनहला समय पाते हैं। जीवनको सही रूपमें लीजिये तथा उसको सही रूपमें ही समझिये। ऐसा न हो कि आप वृद्धावस्थाका सहारा लेकर परिवारके किसी भी काममें हाथ न बटायें तथा अपने प्रत्येक कार्यके लिये दूसरोंपर आश्रित हो जायँ।

आप यह याद रखिये कि काम न करनेवाला आदमी किसीको प्रिय नहीं होता, उसकी उपेक्षा होती है, उसका तिरस्कार होता है, उसके प्रति उदासीनता बरती जा सकती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तिका जीवन दूभर हो जाता है।

एक और आवश्यक बात और वह यह कि आप भी धनलोलुप न बने रहिये, क्योंकि यह लालसा तो कभी खत्म ही नहीं होगी। जो कुछ आपको प्राप्त हो रहा है उसके लिये परमपिता परमात्माको धन्यवाद दीजिये और जो आपको प्राप्त नहीं है, उसे बार-बार याद करके दुःखी भी न होइये। हाँ, आपके पास जो कुछ धन है, उसका विनियोग सत्कार्योंमें कीजिये।

ये सुखी रहनेके सहज, सरल एवं उपयोगी सूत्र हैं। यदि आपने इस प्रकारका दृष्टिकोण विकसित कर लिया, वृत्ति बना ली तो शेष जीवनमें आप सदैव प्रसन्नचित्त, हँसमुख, स्फूर्त तथा युवा बने रहेंगे।

टेंशनफ्री (तनावरहित) जीवन

(डॉ० श्रीसत्यपालजी गोयल, एम०ए०, पी-एच०डी०, आयुर्वेदरत्न)

आप मानें या न मानें यह परम सत्य है कि मृत्युके अनन्तर साथमें कुछ भी नहीं जायगा। संसारकी समस्त सम्पदा, वैभव-विलासकी सामग्री यहीं धरी-की-धरी रह जायगी, एक कौड़ी भी साथ नहीं जायगी। फिर भी आश्चर्य है कि मनुष्य निरन्तर संग्रह-परिग्रहके लालच (लोभ)-से घिरा हुआ है। यह असन्तोष ही समस्त दुःखोंका प्रधान कारण है, परंतु पाश्चात्य विचारधारा कहती है कि असन्तोष ही समग्र विकासके द्वार खोलता है। आजके समस्त वैज्ञानिक विकासका आधार 'असन्तोष' को ही मानते हैं—यह मान भी लें तो फिर आज सम्पूर्ण विश्वमें आतंकवाद क्यों फैला है? आम आदमी सुखी क्यों नहीं है? इसका मुख्य कारण ईश्वरमें आस्थाकी कमी तथा असन्तोष है।

विकासवादी संस्कृतिने व्यक्तिवादको पनपाया है। आज आदमी परस्पर सहयोग, सह-अस्तित्वकी भावनाको तिलांजलि देकर अपने ही विषयमें सोच रहा है। दूसरेकी उन्नति उसके टेंशन (तनाव)-का कारण बनी हुई है। धनने आजतक किसीको न तो परमार्थ मार्गमें सफलता दी है और न ही लौकिक सुख दिया है। यह भ्रान्ति है कि कारोंमें घूमनेवाले तथा ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओंमें रहनेवाले लोग सुखी हैं। देखा जाय तो ऐसे सम्पन्न लोगोंके पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः औपचारिक मात्र होते हैं। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, बहन-भाई, माता-पुत्र आदि धनके सूत्रसे ही जुड़े हैं। जिस दिन यह सूत्र गड़बड़ाता है, उसी दिन वे एक-दूसरेसे अलग-थलग-से हो जाते हैं। उनमें परस्पर कोई अपनत्व और ममत्व नहीं रहता। क्या असन्तोषपर आधारित यही विकासवाद है? इससे तो झोंपड़ीमें मिल-बाँटकर प्रेमसे सूखी रोटियाँ खानेवाले अच्छे हैं, जो एक-दूसरेके दुःख-दर्दको बाँटते हैं।

टेंशनका मुख्य आधार अहंकार है। अहंकारी व्यक्ति स्वयंको कर्ता मानता है तथा दूसरोंकी उपलब्धियोंसे ईर्ष्या एवं डाह करता है। यदि सामनेवाला व्यक्ति थोड़ा भी

सम्पन्न है, उच्च पदासीन है तो इसे अहंकारी व्यक्ति अपना अपमान समझता है। वह ईर्ष्याकी इस आगमें दहकता रहता है कि यह ऐसा क्यों है? जबकि वस्तुस्थिति तो यह है कि इस संसारमें सभी व्यक्ति अपने-अपने प्रारब्धका फल भोग रहे हैं।

यह जगत् मनुष्येतर प्राणियोंके लिये भोगभूमि है और मनुष्यके लिये कर्म तथा भोगभूमि दोनों ही है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

(रा०च०मा० २।२१९।४)

यह ध्रुव सत्य है कि इस विश्व ही क्या? अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके नियामक ईश्वर ही हैं। उनकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तब तनावग्रस्त मनुष्योंका स्वयंको कर्ता मानना भ्रम ही है। वह सफल होनेपर स्वयंको दक्ष मानता है तथा विफल होनेपर दूसरोंको दोषी मानता है।

टेंशन कोई रोग नहीं है। ओढ़ी हुई मानसिकता है। विचारोंमें साम्य लानेसे ही इस मानसिकतासे मनुष्य उबर सकता है। क्षमा, सहिष्णुता, दया, धर्माचरण, सत्य आदिके अभावमें ही मनुष्य तनावग्रस्त रहता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २।६२-६३)

अर्थात् असत् विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यका उन विषयोंसे संग हो जाता है। उन विषयोंमें उसकी प्रगाढ़ आसक्ति हो जाती है। उस आसक्त मनुष्यके चित्तमें नाना प्रकारकी कामनाओंकी उत्पत्ति होती है, कामनाके अपूर्ण रहनेपर क्रोध पैदा होता है, क्रोधसे मूढ़ता (कार्याकार्यका विवेक लुप्त हो जाता है), आसक्तिजनित मोहसे स्मृतिमें भ्रम जन्म लेता है, जिसके कारण बुद्धिका नाश हो जाता है। फलस्वरूप वह असत् कर्मोंमें लिप्त हो जाता है।

उक्त श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने उन सभी अवधारणाओंको उद्घाटित किया है, जो किसी तनावग्रस्त व्यक्तिमें होती हैं। यह टेंशन (तनाव, क्रोध) ही समस्त प्रकारके दोषोंका जनक है; क्योंकि अहंकारी व्यक्तिकी ईश्वर-सम्बन्धी अवधारणा नष्ट हो जाती है तथा वह स्वयं ही कर्ता तथा भोक्ताके अभिमानको पोषितकर इस लोकमें तो क्रोधरूपी अग्निमें जलकर सबसे वैरभाव रखता ही है, मृत्यु (जड़ शरीरके त्यागने)-के पश्चात् भी नाना प्रकारके नरकोंमें गमन करता है।

संसारके जितने भी तनाव हैं, वे सभी उन मनुष्योंके लिये हैं जो धर्मपरायण नहीं हैं, ईश्वरपरायण नहीं हैं। वे संसाररूपी चक्कीमें पिसते रहते हैं।

समस्त सुख-शान्ति, आनन्दके सागर भगवान् हैं, जो उनको छोड़कर संसारके व्यक्तियों, वस्तुओं और उपलब्धियोंमें सुख तलाश रहे हैं, वे धानके भूसेको कूटकर चावल खोजनेका निरर्थक प्रयास कर रहे हैं। श्रीगरुड़जी महाराजसे श्रीकाकभुशुण्डिजी कह रहे हैं—समस्त ग्रन्थों और संतोंकी वाणियों तथा मेरा निजी अनुभव यह है—

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

(रा०च०मा० ७।८९।५)

अन्यत्र भी—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥

(रा०च०मा० ३।३९।५)

श्रीहरिका भजन ही सार है। उसको छोड़कर शेष सब असार है। इस संसारकी उपलब्धियाँ मनुष्यको क्या सुख देंगी, जब उनका अस्तित्व ही स्वप्नवत् है। जीव उसी नित्य, सत्य, ईश्वरका नित्य अंश है। उसको छोड़ देनेसे जीवको कहीं भी आनन्द नहीं है।

तनाव इसी बातका है कि लोगोंके पास जो सुखसाधन हैं, वे मेरे पास क्यों नहीं हैं? अथवा जो मेरे पास सुखसाधन हैं, वे किसी औरके पास नहीं होने चाहिये, परंतु प्रारब्धके अधीन ही सम्पूर्ण संसार चल रहा है। इसे कोई बदल नहीं सकता। जब यह १०० प्रतिशत सत्य है कि हानि-लाभ, यश-अपयश और जीवन-मरण विधाताके हाथमें है तो फिर तनावका लबादा ओढ़कर ईर्ष्या, द्वेष तथा हिंसाकी अग्निमें क्यों जलें?

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥

(रा०च०मा० २।१७१)

यदि मनुष्य टेंशनफ्री-जीवन चाहते हैं तो उन्हें निश्चित ही श्रीहरिकी एकान्तिक शरण ग्रहणकर भजन करना चाहिये एवं समस्त प्रकारकी कामनाओं, इच्छाओं तथा संकल्प-विकल्पका त्यागकर शान्तभावसे जीवन-यापन करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने एक स्थानपर श्रीमद्भागवतमें कहा है कि जो सदैव प्रसन्नचित्त रहता है तथा विषम परिस्थितियोंमें भी धर्म एवं धैर्यको नहीं छोड़ता, वह महान् संत है; क्योंकि उसे मुझपर पूर्ण विश्वास है तथा उसके चित्तको संसारके विषयोंने दग्ध नहीं किया है। जीवकी अखण्ड यात्रा आनन्दकी खोजमें है, उसे इस लम्बी यात्रामें कभी भी ईश्वरचरणोंमें समर्पण किये बिना, निःस्पृह भजन किये बिना आनन्द नहीं मिल सकता है। हम भ्रमसे भवनों, धन-सम्पत्तिको अपना मानते हैं, परंतु इन्होंने कभी यह नहीं कहा कि हम तुम्हारे हैं, किंतु भगवान् कहते हैं कि *'हम भक्तनके भक्त हमारे।'*

हम सौ वर्ष बिना दवा लिये स्वस्थ जीवन कैसे जियें ?

(श्रीमदनलालजी अग्रवाल)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसको सभी तरहका संघर्षमय जीवन जीना पड़ता है।

आवश्यकता पड़नेपर संकटकालीन व्यक्तिको मदद करनेका सुअवसर भी न छोड़े, उसके कारण उसको बल तथा शान्ति मिलेगी।

जो हमेशा दूसरोंके हितकी सोचता है, उसका मनोबल बना रहता है।

हमें सूर्योदयसे डेढ़ घण्टे पहले अवश्य ही उठ जाना चाहिये। उस समय उठनेवालोंका स्वास्थ्य, धन, विद्या, बल और तेज बढ़ता है।

सुबह उठते ही अपने दोनों हाथोंकी हथेलियोंके दर्शन करें, जिससे धन और विद्याकी प्राप्ति होती है।

उठनेपर भूमिपर पैर रखनेके पूर्व पृथ्वीमाताको नमस्कार करें एवं उनसे क्षमा-प्रार्थनाकर आशीर्वाद लें।

निम्न आठ चिरंजीवी अमर पुरुषोंको याद करें तथा उनको हृदयसे प्रणाम करें—

अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम तथा मार्कण्डेय।

माता-पिता गुरुको मानसिक प्रणाम करके हाथ-पैर, मुँह धोकर कुल्ला करें।

रातका ताम्रपात्रमें रखा ढका हुआ पानी पेटभर पी लें, फिर थोड़ा टहलें।

शौच, दातौन, स्नान करके सन्ध्या एवं देवपूजन करें। आदित्यहृदयस्तोत्रका पाठकर ताँबके लोटेमें जल लेकर सूर्यनारायणको अर्घ्य दें। पूजा समाप्तकर गोमाताको गोग्रास खिलाकर नियमपूर्वक रोज दो-तीन किलोमीटर घूमना चाहिये। प्रातःकालीन वायुसेवन तथा भ्रमण सहस्रों रोगोंकी एक रामबाण औषधि है।

नित्य प्रातः नाश्तेमें हल्का आहार हो, इसे अमृतान्न कहते हैं।

अपने परिवारके सदस्योंसे वार्तालाप करें, परस्पर सहयोगकी भावना रखें। सत्साहित्यका अवलोकन करें।

भोजन तैयार हो जाय तो विवाहिता कन्या, गर्भिणी स्त्री, दुःखिया, वृद्ध और बालकोंको भोजन करानेके बाद ही भोजन करना चाहिये।

तुरंतके बने ताजे अन्न, खीर और घृतका उचित सेवन करनेसे वृद्धावस्था निकट नहीं आती। प्रतिदिन जो दही, ताजा मक्खन और गुड़ खाता है तथा ब्रह्मचर्य और संयमसे रहता है, उसमें जरावस्थाका प्रभाव न्यून होता है।

सात्त्विक भोजन करने, सादा-स्वच्छ वस्त्र पहनने एवं सादगीसे जीवनयापन करनेवाले व्यक्ति दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं।

भूखसे अधिक न खाये, पवित्र कमाईका अन्न खाये। भोजन करनेसे पूर्व या कभी भी अतिथि आ जाय तो उसकी अच्छी तरहसे सेवा करें।

भोजन करते समय आवश्यकतानुसार जल पिये एवं

भोजनके एक-डेढ़ घण्टे बाद इच्छानुसार जल पिये।

दोपहरके भोजनमें छाछ या दहीका मट्ठा अवश्य लें।

शामका भोजन, रात होनेके पहले खा लें तथा हलका एवं कम भोजन करें।

सुखासनसे बैठकर भोजन करना चाहिये। शारीरिक श्रम करनेवाले व्यक्तिके भोजनकी मात्रा, अश्रमशील (बुद्धिजीवी) व्यक्तिसे भिन्न होगी।

आहारका सर्वोपरि सिद्धान्त तो यह है कि भूख लगनेपर आवश्यकतानुसार भूखसे कम मात्रामें भोजन लें।

भोजनके उपरान्त दाँतोंको खूब अच्छी तरहसे साफ करें। रातको भोजनके तुरंत बाद नहीं सोना चाहिये। रात्रिको सोते समय गरम दूधका सेवन करें। जीविकोपार्जनके समय पूरा परिश्रम तथा ईमानदारीके कार्य करें। आप नौकरी करें या अपना कार्य करें, उस समय प्रभुका कार्य समझकर पूर्ण निष्ठासे कार्य करें। आपकी आजीविका अच्छी तरहसे चलेगी और समयका भी सदुपयोग होगा तथा आपकी गृहस्थीका भी भरण-पोषण उचित होगा।

तकलीफ भले ही सहें, पर आमदनीसे अधिक खर्च न करें। सादा जीवन और उच्च विचार रखें।

सात्त्विक जीवन जीनेसे और सादगी बनाये रखनेसे शारीरिक प्रसन्नता एवं उत्साह बना रहेगा।

प्रभुको हमेशा यही कहें कि जितना वह दे, वही मेरे लिये काफी है। विश्वासपूर्वक उसमें निष्ठा रखते हुए जीवन-यापन करेंगे और सन्तोष रखेंगे तो आप हमेशा प्रसन्न एवं स्वस्थ रहेंगे।

हमें सत्य, अहिंसा, दया, धर्म, परोपकार, परिश्रम और लगनसे सिद्धान्तोंको अपनाकर सुखी जीवन व्यतीत करना चाहिये।

आप प्रतिदिन कुछ समय घरपर सामूहिक नाम-जप-कीर्तन-भजन-प्रार्थना करेंगे तो शान्ति एवं आनन्दका वातावरण बना रहेगा।

शास्त्रोंमें कहा गया है कि सात बातोंने पृथ्वी धारण कर रखी है—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

अर्थात् गौ, ब्राह्मण, वेद, पतिव्रता स्त्री, सत्यवादी, निर्लोभी और दानशील—इन सातोंने पृथ्वीका भार धारण कर रखा है।

आप उस चेतन, सत्स्वरूप, आनन्दस्वरूप परमात्माके अंश हैं। अतः अपनेको ठीक पहचानें, आनन्द आपकी झोलीमें है।

स्वस्थ रहनेके लिये हँसना बहुत आवश्यक है। क्रोधके समय भोजन न करें। आप शक्तिके भण्डार हैं, अपनी शक्ति पहचानें।

दुःखको देखकर घबराना नहीं चाहिये। धीरज धारण करनेसे दुःख भी सुख बन जाता है।

सत्य बोलने, क्रोध न करने, मद्यपान तथा विषयभोगसे दूर रहने, प्रिय बोलने, शान्त रहने, पवित्रता रखने, हिंसा न करने तथा तपस्वी जीवन व्यतीत करने, पूज्योंकी सेवा करनेवाले तथा धैर्यवान् एवं दानशील व्यक्ति दीर्घायु प्राप्त करते हैं।

भोजन आदिकी भाँति शान्त और स्थिर निद्रा भी आरोग्यके लिये आवश्यक है।

यदि हम कठोर दण्ड भी दें तो भी ईर्ष्या, द्वेष, घृणासे प्रेरित होकर नहीं बल्कि कर्तव्यभावनासे दें। मोहत्यागसे भी सन्तोषवृत्ति आ जाती है।

संतों, महापुरुषोंकी जीवनीसे प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। स्वाध्याय (सद्ग्रन्थोंका अनुशीलन) भी मानवके जीवनपथको ज्ञानप्रभासे आलोकित करता है। प्रकृतिके सौन्दर्यका दर्शन, भ्रमण, प्रकृतिसामीप्य भी मानवके मनको उदात्त एवं बलवान् बनाता है।

अपनी आवश्यकताओंको कम करते जायँ एवं त्यागपूर्वक अर्थात् दानपूर्वक कम-से-कम स्वयं उपभोग करें।

विश्रामका बहुत महत्त्व है। विश्राम ही मानवको पुनः बलशाली बना देता है।

सुखनिद्राके लिये शयनस्थानकी स्वच्छता, वायुका उचित आवागमन, मच्छर आदिसे सुरक्षा तथा शय्यावस्त्रोंकी स्वच्छता होनी चाहिये।

ब्रह्मचर्यका पालन करें तथा ज्ञान, दान, मैत्री, करुणा, हर्ष, उपेक्षा और शान्तिका युक्तिपूर्वक व्यवहार करें।

सदाचार एवं अच्छे व्यवहारसे समाजमें सहानुभूति, सहयोग एवं सद्व्यवहारका प्रचार होता है। सदाचारका पालन करना हमारा जीवनधर्म है। इस सत्यको सदा स्मरण

रखना चाहिये कि रक्षित धर्म ही रक्षा करता है—**धर्मो रक्षति रक्षितः**। धर्मफलके सहारे मनुष्य मरकर भी अमर रहता है और जीवनके पश्चात् भी उसकी जीवनी विद्यमान रहती है। दीर्घजीवनका यही मनोरम रहस्य है।

योगाभ्यास चाहे किसी भी दृष्टिसे किया जाय, वह शरीर और स्वास्थ्यको अवश्य ही प्रभावित करता है। गृहस्थ जीवन-यापन करते हुए शरीरके आरोग्यका ध्यान रखनेवालोंको सर्वांगीण विकासके लिये नियमित रूपसे योगाभ्यास अवश्य ही करना चाहिये, जिससे शारीरिक स्वास्थ्यकी नींव सुदृढ़ होती है और मनुष्य पूर्णतः शारीरिक तथा मानसिक आरोग्यका अनुभव करता है।

हमेशा शान्त और प्रसन्न रहें। कम बोलनेकी आदत डालें। जरूरी हो उतना ही बोलें।

प्रतिमाह कम-से-कम एक दिन उपवास अवश्य करें।

उपर्युक्त सब बातोंको ध्यानमें रखकर जीवन ही प्रेममय बना लें तब आपको कोई दवाई (औषधि) लेनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी एवं आप प्रभुका स्मरण करते-करते प्रभुके प्रिय बन जायँगे।

स्वस्थ जीवन कैसे जीयें ?

जीवनमें स्वास्थ्यका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोकोक्ति है कि धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया

तो कुछ गया और नैतिकता गयी तो सब कुछ चला गया। स्वास्थ्यके क्षेत्रसे जुड़े व्यक्तिकी जिम्मेदारी बनती है कि स्वास्थ्य-शिक्षाके माध्यमसे लोगोंमें स्वास्थ्यके प्रति जागरूकता पैदा करे तथा स्वस्थ रहनेको उत्प्रेरित करे।

स्वस्थ व्यक्ति कौन है? एक अति विचारणीय प्रश्न है। सामान्य धारणा है कि व्यक्ति अगर शरीरसे बीमार नहीं है तो वह स्वस्थ है, परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। जो व्यक्ति तनसे, मनसे, सामाजिक रूपसे तथा आध्यात्मिक रूपसे स्वस्थ है, वही व्यक्ति स्वस्थ है। केवल बीमारीका नहीं होना स्वास्थ्य नहीं है।

स्वास्थ्यकी जिम्मेदारी किसकी है? यह विचारणीय प्रश्न है! चिकित्सक आपके स्वास्थ्यका प्रहरी नहीं है। वह स्वस्थ रहनेमें आपकी सहायता करता है। स्वस्थ रहनेकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी स्वयं आपपर है। इसमें आपके परिवार, समाज, राष्ट्र, पर्यावरण, सामाजिक समरसता, मनकी शान्ति, साधनोंकी उपलब्धता इत्यादिका बहुत बड़ा योगदान है।

पाश्चात्य सभ्यताके चकाचौंधसे प्रभावित होकर हमने अपनी मूलभूत मान्यताओंको छोड़कर उनका अन्धाधुन्ध अनुकरण किया, जिससे स्वास्थ्यका व्यावसायिक दृष्टिकोण अधिकाधिक प्रबल होता गया, जिसका दुष्परिणाम आज हम झेल रहे हैं और आगे भी झेलेंगे।

शरीर स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म। शरीरके बिना जीवन सम्भव नहीं है और आत्माके बिना शरीर निष्प्राण है। हमारी सभ्यता बड़ी ही पुरातन है। हमारे चिन्तकों, ऋषियों, मुनियों और धर्माचार्योंने इसपर सम्यक् चिन्तन किया और उन्होंने स्वस्थ रहनेके लिये मन और आत्माकी प्रधान व्यवस्था दी। जबकि आजके युगमें हम तन और धन-प्रधान व्यवस्थापर अधिक बल दे रहे हैं। मनपर नियन्त्रण घटनेसे अशान्ति, उच्च रक्तचाप, मधुमेह, दमा, कैंसर इत्यादि रोगोंकी संख्यामें काफी बढ़ोत्तरी हुई है।

अक्सर हम कहते हैं कि तन-मन-धनसे यह कार्य करना चाहिये। तन, मन और धन—तीनों स्वास्थ्यके लिये आवश्यक हैं। इन तीनोंकी आवश्यकताको नकारा नहीं जा सकता, परंतु तीनोंमें सबसे अधिक प्रभावकारी मन है; क्योंकि मन चंचल है और प्रकाशसे भी अधिक तीव्र गतिसे इधर-उधर दौड़ सकता है।

मनको समझाना पड़ता है, मनको मारना (निषेध)—इसका निराकरण नहीं है। जैसे एक बच्चेको अगर पिता अर्थके अभावमें एक खिलौना खरीदकर नहीं दे पा रहा है और खिलौनेके लिये जिद करनेपर बच्चेको डाँट या मार दे तो बच्चा दु:खी हो जायगा, वही पिता अगर बच्चेको समझाये कि धनकी व्यवस्था होते ही उसे खिलौना खरीद देंगे तो बच्चा समझ लेगा और सन्तोष करेगा। मनकी स्थिति ऐसी ही है। मनको आप मारनेकी चेष्टा करें या उसपर जबरदस्ती करें, निषेध करें तो मन विद्रोह करेगा और फलस्वरूप कई तरहके मानसिक एवं शारीरिक विकार उत्पन्न हो सकते हैं। कबीरदासने मनको नियन्त्रित करनेके लिये एक बहुत ही सुन्दर दोहा कहा है—

रूखा-सूखा खाइ कै, ठंडा पानी पीव।
देखि बिरानी चोपड़ी, मत ललचावै जीव॥

यही स्वास्थ्यका मूल मन्त्र है। अक्सर हम दूसरोंको देखकर अपने-आपमें हीनभावना पैदाकर दु:खी हो जाते हैं। व्यक्ति अपने प्रारब्ध, उपलब्ध भौतिक साधन, अपनी लगन और अपने परिश्रमसे आगे बढ़ता है। प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिये, परंतु प्रारब्ध, कर्म एवं परिस्थिति—तीनोंके सम्मिश्रणसे हमें जो प्राप्त होता है, उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये। जो नहीं मिल सका, उसके बारेमें चिन्ताकर दु:खी कदापि नहीं होना चाहिये। हमें उनकी ओर दृष्टि डालनी चाहिये, जिनको हमसे भी कम मिला है। तब हममें आत्मज्ञान होगा कि हम असंख्य अन्य लोगोंसे बहुत अधिक सुखी हैं।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इस भौतिक संसारके तीन ऐसे तत्त्व हैं, जो पृथक् न करनेयोग्य हैं तथा एक-दूसरेके पूरक हैं। उनके आपसी सामंजस्य एवं सम्मिश्रणमें ही तीनोंका कल्याण है। उनमें एक भी अगर गड़बड़ करे तो अशान्ति फैलती है एवं विकास अवरुद्ध हो सकता है। जैसे रावण प्रकाण्ड विद्वान् एवं अद्वितीय बलशाली था। उसने देवताओं और सभी ग्रहोंको अपने अधीनस्थ कर रखा था। उसने सोनेकी लंका भी बनवायी। लेकिन उसने राष्ट्रहित एवं समाजहितके विरुद्ध केवल अपना हित सोचा और परिणामस्वरूप स्वयं मारा गया, कुलका नाश हुआ एवं सोनेकी लंका भी उजड़ गयी।

व्यक्ति जब अधिक महत्त्वाकांक्षी हो जाता है तो राष्ट्र और समाजको उसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। व्यक्ति अगर समाज एवं राष्ट्रकी अनदेखीकर, स्वेच्छाचारी हो जाय तो उसके परिणाम भयंकर होते हैं। निर्दोष व्यक्ति सताये जाते हैं, मारे जाते हैं और राष्ट्र विघटनके कगारपर खड़ा हो जाता है एवं अन्तत: व्यक्ति स्वयं भी प्रताड़ित होता है।

व्यक्ति और समाज दोनोंका स्वस्थ-विकास आवश्यक है, तभी स्वस्थ राष्ट्रका निर्माण हो सकता है। हम जानते हैं कि हिटलरकी महत्त्वाकांक्षाके फलस्वरूप जर्मनीका विभाजन हुआ एवं जर्मनी नष्टप्राय हो गया और अन्तमें हिटलर भी नष्ट हो गया। व्यक्ति राम भी हो सकता है और रावण भी हो सकता है। व्यक्तित्व ही हर व्यक्तिमें रामका निर्माण करता है। उर्दूका निम्न शेर इसको पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त करता है—

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तदबीर से पहले।
खुदा बंदे से खुद पूछे बन्दे तेरी रजा क्या है?

कबीरदासजी कहते हैं—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर॥

व्यक्तिकी सोचमें यह अंकित रहना चाहिये कि वह आज जो भी है, जिस भी स्थितिमें है, इसमें राष्ट्र एवं समाजका बहुत बड़ा योगदान है और उसका जीवन इनका ऋणी है। इस ऋणको वह समाजसेवा और राष्ट्रसेवाके द्वारा ही चुका सकता है। हमारे सनातनदर्शनमें **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की अवधारणा है। सारा विश्व ही हमारा परिवार है, ऐसा हम मानते हैं। हम समाज और राष्ट्रके

लिये निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देकर स्वयं भी स्वस्थ रह सकते हैं तथा समाज और राष्ट्रके हितमें बहुमूल्य योगदान भी दे सकते हैं—

१-जीवन कर्म और भाग्यका योग है। वांछित फल प्राप्त नहीं हो तो भी निराश नहीं हों और अधिक कर्मठ होनेका प्रयत्न करें। कर्म करना ही अपने हाथमें है, फल तो प्रारब्धानुसार मिलेगा—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**'।

आप जिस स्थितिमें भी हैं, खुश रहें। सुख बाँटनेकी चीज है और दुःख सहनेकी चीज है।

भला किसीका कर न सको तो बुरा किसीका कभी मत करो।

रामायणकी चौपाईमें भी यह अभिव्यक्त है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

आप सदा कर्मयोगी बनें।

मनके नियन्त्रणके लिये पूजा, ध्यान, सत्संग, प्रवचन, धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन अवश्य करें।

गुरुनानककी वाणी *'नानक दुखिया सब संसार'* को सदा याद रखें। परोपकारी मन:स्थिति रखें।

अपनी सोचको सकारात्मक रखें। अगर आपका मन स्वस्थ है तो तन स्वस्थ हो ही जायगा तथा धन भी आयेगा, ऐसा सदा विश्वास रखें।

तनका महत्त्व—हर जीव तनप्रधान है। अगर तन नहीं है तो बाकी सब बेकार है। तनकी रक्षा एवं उसे स्वस्थ रखना आपका परम कर्तव्य है। तनको स्वस्थ रखनेके लिये—१-व्यायाम, २-योग एवं प्राणायाम, ३-प्रकृतिसे निकटता, ४-व्यक्तिगत स्वच्छता, ५-शुद्ध पेयजल, ६-सन्तुलित एवं पौष्टिक आहार, ७-विश्राम, ८-निद्रा, ९-पर्यावरणपर विशेष ध्यान एवं १०-नियमित स्वास्थ्य परीक्षण आवश्यक है।

१-व्यायाम—व्यायाम स्वास्थ्यके लिये बहुत ही आवश्यक एवं उपयोगी है। व्यायाम नियमित रूपसे एवं जानकार व्यक्तिके परामर्शसे ही करना चाहिये। व्यायामके बारेमें विशेषज्ञसे परामर्श करना चाहिये। नित्यप्रति टहलना बहुत ही उत्तम व्यायाम है। यदि तीनसे पाँच किलोमीटर प्रतिदिन टहल लेते हैं तो मोटापा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हृदयरोग एवं श्वासके रोगोंसे मुक्त रह सकते हैं। चालीस वर्षसे अधिक आयुके लोगोंके लिये टहलना ही सबसे उत्तम व्यायाम है।

२-योग एवं प्राणायाम—योग एवं प्राणायाम स्वास्थ्यके लिये बहुत ही लाभदायी है। नियमित तौरसे इन्हें करनेसे कई तरहकी बीमारियाँ खत्म हो जाती हैं या होती ही नहीं हैं। योग एवं प्राणायाम भी नियमित रूपसे प्रशिक्षित गुरुकी देख-रेखमें ही करना चाहिये। इसका अच्छा प्रभाव केवल तनपर ही नहीं, साथ-साथ मनपर बहुत अधिक पड़ता है और इससे आन्तरिक आनन्द एवं अन्य मानवीय गुणोंका प्रादुर्भाव होता है।

३-प्रकृतिसे निकटता—हमारे पूर्वज सदा ही प्रकृतिके निकट रहे। इस कारण वे पूर्ण सार्थक, यौवनपूर्ण, सन्तुष्ट एवं दीर्घ आयुयुक्त जीवन व्यतीत करते थे। इसके अनेक उदाहरण हमारे धर्मग्रन्थोंमें उल्लिखित हैं। आजकी तथाकथित आधुनिकताकी दौड़में हमने प्रकृतिका सान्निध्य खोकर जीवनके कई बहुमूल्य रत्न खो दिये, जो हमें आसानीसे प्राप्त हो सकते थे। दीर्घायु रहना, तनावमुक्त रहना, यौवनका आनन्द लेना—ये सब प्रकृतिकी सान्निध्यतासे ही सम्भव है। बनावटके सहारे कभी भी हम अपने स्वास्थ्यको ठीक नहीं रख सकते।

४-व्यक्तिगत सफाई—यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संक्रमणको दूर रखनेके लिये यह अति आवश्यक है। जिन्हें भी हम धर्मकी बातें मानते हैं, उनमें नब्बे प्रतिशत बातें स्वास्थ्यसंवर्धनहेतु हैं। जैसे—जूता घरके बाहर रखना, पैर धोकर अन्दर आना, भोजनके पूर्व हाथ-मुँह धोना, भोजनके पूर्व ध्यान एवं प्रार्थना करना तथा दिनचर्या एवं ऋतुचर्याका अनुपालन—सभी स्वस्थ व्यक्तित्वके लिये ही हैं।

५-शुद्ध पेय जलकी उपलब्धता—स्वास्थ्यके लिये शुद्ध जल अति आवश्यक है। केवल शुद्ध जलके उपयोगसे ही पेटकी ७० प्रतिशतसे भी अधिक बीमारियोंसे बचा जा सकता है।

६-सन्तुलित एवं पौष्टिक आहार—शुद्ध आहार

अच्छे स्वास्थ्यके लिये अति आवश्यक है। महँगा भोजन ही उत्तम भोजन है—यह आवश्यक नहीं। भोजनमें प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन, खनिज इत्यादि उचित मात्रामें उपलब्ध रहें। मौसमी फल एवं सब्जियाँ स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी हैं। भोजनकी मात्रा सन्तुलित होनी चाहिये। अधिक खाना स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है।

७-विश्राम—श्रम और विश्राम दोनों सन्तुलित होने चाहिये। ये दोनों स्वस्थ शरीरके लिये आवश्यक हैं।

८-निद्रा—निद्रा स्वास्थ्यके लिये अति आवश्यक है। कम-से-कम छ:से आठ घण्टे प्रतिदिन सोना आवश्यक है। निद्रा जितनी ही गहरी होगी, उतनी ही अधिक स्वास्थ्यवृद्धि होगी। निद्राका सीधा सम्बन्ध श्रम एवं मानसिक शान्तिसे है। सफल जीवनके लिये परिश्रम और मानसिक शान्तिके मूलमन्त्रको सदाके लिये अपना लें।

९-पर्यावरणपर विशेष ध्यान—अगर आप स्वयं स्वच्छ हैं एवं वातावरण भी स्वच्छ है तो आप भी स्वस्थ ही रहेंगे। यदि आपके चारों ओर गन्दगी एवं दुर्गन्ध फैली हो तो आप स्वयं एवं आस-पासके लोग भी अस्वस्थ हो जायँगे। पर्यावरणको शुद्ध नहीं रखनेसे प्रलयकारी स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

१०-नियमित जाँच—हम अपने वाहन या उपकरणोंकी जाँच समय-समयपर करवाते रहते हैं ताकि वह ठीकसे काम करते रहें, परंतु अपना शरीर जो सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, पर ध्यान नहीं देते हैं, फलत: शरीरके भीतर यदि कोई रोग है तो उसका पता देरसे चलता है एवं रोग ज्यादा जटिल और असाध्य हो जाता है। अगर हर छ: महीनेपर या कम-से-कम वर्षमें एक बार भी हम शरीरके स्वास्थ्यका पूर्ण परीक्षण करायें तो रोग प्रारम्भिक अवस्थामें ही पकड़में आ सकता है। विशेषत: रक्तचाप, मोटापा, मधुमेह, गुर्देकी जाँच, हृदय तथा फेफड़ेकी जाँच और अन्य अंगोंकी जाँच वैज्ञानिक पद्धतिपर होनी चाहिये। अच्छा होगा कि इसका लेख-प्रमाण आप अपने पास रखें ताकि अगली जाँचमें चिकित्सक इसे देख सके। यह स्वास्थ्यके लिये लाभकारी होगा।

[प्रेषक—डॉ० एस० एन० स्वर्णकार]

लोकवार्ता और जीवनमूल्य

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी०लिट०)

भौगोलिक तथा सामाजिक परिवेशके साथ समायोजनके उद्देश्यसे समाजके द्वारा आचरणके कुछ आदर्श या मानदण्ड निश्चित और प्रतिष्ठित किये जाते हैं। हर्सकोवित्सके शब्दोंमें सामाजिक मान्य-मापका मनोवैज्ञानिक आधार व्यक्तियोंके सम्पर्कके फलस्वरूप समान चिन्तन-आधारकी रचना है। एक बार व्यक्तिमें ऐसे चिन्तन-आधार स्थापित और अन्तर्निहित हो जानेपर वे उसकी प्रतिक्रियाओंको निर्धारित या संशोधित करनेमें महत्त्वपूर्ण कारक होंगे। मैलिनोवस्कीके अनुसार सांस्कृतिक मूल्य वे स्थायीभाव हैं, जो परम्परा तथा संस्कृतिके प्रभावस्वरूप मानकित हो गये हैं।

जो लोग किसीकी निन्दा-स्तुतिकी परवाह नहीं करते, वे ही आत्माकी आवाज अथवा कानशेंससे मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। यह कानशेंस वास्तवमें उचित-अनुचितके सामाजिक विचारसे उत्पन्न स्थायीभाव और विवेक हैं, जो मूल प्रवृत्तियोंका दमन, नियमन और उन्नयन करते हैं। त्रिलोकचन्द तुलसीके शब्दोंमें सांस्कृतिक प्रशिक्षण व्यक्तिकी सहज प्रवृत्तियोंको ऐसे स्थायीभावोंमें ढाल सकता है, जो उसे समाजमें मिलजुलकर रहनेके योग्य बनाते हैं, जिस आचरणको सामाजिक जीवनके लिये वांछनीय समझा जाता है, उसके गिर्द (आस-पास) पुण्यके स्थायीभाव संघटित किये जाते हैं और जिस आचरणको सामाजिक सहयोगके पथमें बाधक समझा जाता है, उसके गिर्द पापके स्थायीभावोंका पहरा लगा दिया जाता है। ये ही स्थायीभाव नैतिक मूल्य हैं। ये ऐसे आन्तरिक प्रहरी हैं, व्यक्तिके मनमें

घुसे हुए जासूस हैं, जो उसे समाजद्वारा मानकित पथपर चलानेकी चेष्टा करते हैं।

वास्तवमें जीवनमूल्योंकी स्थापना एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। मैक्डूनलके अनुसार 'व्यक्तियों और समाजोंके चरित्र और आचारके लिये स्थायीभावका विकास सबसे अधिक महत्त्वका है, वह भावात्मक और संकल्पात्मक जीवनका संगठन है।' स्थायीभावोंका संस्कृतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है तथा समाजमें इनकी प्रतिष्ठा धर्मके रूपमें होती है। स्थायीभाव न हों तो जीवन-मूल्य ऊपरसे थोपे गये लगने लगेंगे। स्थायीभाव अन्तश्चेतनामें रहते हैं तथा बाह्य आवश्यकताको आन्तरिक बनाते हैं।

परिवेशमें परिवर्तन होनेपर मानव-सम्बन्धोंमें परिवर्तन होता है तथा मानव-सम्बन्धोंके परिवर्तनके साथ समायोजनके लिये मूल्योंमें भी परिवर्तन होता है। भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न स्थायीभाव विकसित होते हैं तथा परिस्थितिके अनुसार उनमें संशोधन भी होता है, परंतु प्रत्येक जाति अपने मूल्योंको शाश्वत और ईश्वर-निर्मित माननेका सन्तोष प्राप्त कर सकती है। परिवर्तनीय होनेके साथ इतना निश्चित है कि जीवनमूल्यों और स्थायीभावोंका कार्य प्रत्येक परिस्थितिमें मूल प्रवृत्तियोंका दमन, उन्नयन और समायोजन ही होता है। ब्रज-लोकवार्तामें स्थायीभाव और मूल प्रवृत्तियोंमें सुन्दर सामंजस्यका वर्णन प्राप्त होता है।

मूल प्रवृत्तियोंका समाजीकरण—वित्तैषणा, रति, आत्म-गौरव, रक्षा, भूख, सिसृक्षा (परिवार-भावना), प्रभुत्व-कामना और शारीरिक आराम—ये मानवकी मूल प्रवृत्तियाँ हैं। सभी इनकी इच्छा करते हैं; परंतु इनकी प्राप्तिके लिये यदि आपसमें संघर्षकी स्थिति उत्पन्न हो जाय तो सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचेके बिगड़ जानेकी सम्भावना हो जायगी। ऐसी परिस्थिति न उत्पन्न हो, इसके लिये ब्रजकी लोकसंस्कृति इन मूल प्रवृत्तियोंके समाजीकरणपर बल देती है। लोकगीतों और लोककथाओंमें इनके उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा—

१. वित्तैषणाके समाजीकरणके लिये ब्रज-जीवनमें सूम (कृपण)-की कहानियाँ प्रचलित हैं, जिनमें लोभी व्यक्तिका उपहास किया गया है और दान, त्याग तथा ईमानदारी-जैसे उच्च-नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा की गयी है। इसी प्रकार लोकगीतोंके माध्यमसे भी लोभी व्यक्तिका उपहास करते हुए उसे खेतमें खड़े हुए 'बिझूके' के तुल्य माना गया है, जैसे—

लोभी दान न कर सके जीवत जस नहिं लेय।
खड़ौ बिझूका खेत में खाय न खावन देय॥

२. काम (रति) भी मानवकी मूल प्रवृत्ति है, परंतु इसकी संतुष्टिके लिये समाजमें दाम्पत्यका विधान है। पुरुषके लिये ब्रह्मचर्य और स्त्रीके लिये पातिव्रत्यपर बल दिया गया है। ब्रजके लोकजीवनमें प्रचलित एक लोकगीतमें अपनी पत्नीको छोड़ परस्त्रीका चिन्तन करनेवाला पुरुष नपुंसक हो जाता है और द्वार-द्वारपर नाचता-फिरता है—

घर की नारी छोड़ के नार बिरानी जे तकते।
जिन पापन ते भये हींजरा घर-घर नाचत ते फिरते॥

३. आत्म-गौरवकी प्रवृत्ति सबमें होती है, परंतु जब यही प्रवृत्ति गर्वके रूपमें परिणत हो जाती है तो वह समाजको तोड़नेवाली प्रवृत्ति बन जाती है, अतः लोक जीवनमें समानताका भाव प्रतिष्ठित हो सके, इसके लिये एक लोकगीतके माध्यमसे यह सन्देश दिया गया है कि हे मनुष्य! ऊँच-नीचका खयाल मनमें मत ला—***'बंदे ऊँच नीच मत सोचै तोय ऐसौ राम दबोचै।'***

४. भूख प्रत्येक प्राणीको लगती है, भोजन सबके लिये आवश्यक है; परंतु जीभको चटोरी बनाना ठीक

नहीं। एक लोकगीतमें चटोरी जीभवाली स्त्रियोंकी निन्दा करते हुए कहा गया है—

'मेरी चटटी है गई जीभ जलेबी लाय दे लांगुरिया।'

५. मनुष्य अपने बड़े परिवार (पुत्र-पौत्रों)-की वृद्धिको देखकर हर्षित होता है, यह प्रवृत्ति सिसृक्षा कहलाती है। परंतु ब्रजकी लोक-संस्कृति उसे वसुधाको

कुटुम्ब माननेको कहती है। साथ ही अपने पुत्र-पौत्रोंमें मोह न रखनेकी प्रेरणा करती है। वह कहती है कि मनुष्य अकेला ही आया है और अकेला ही जायेगा—

आया था अकेला बंदा जायेगा अकेला।

६. मनुष्य प्रभुत्वकी कामना करता है, परंतु वह यह नहीं सोचता कि जब उसका स्वयंका अस्तित्व ओसकी बूँद-जैसा है, तो उसका प्रभुत्व कहाँसे स्थायी हो जायगा। लोकसंस्कृति उसे इस ओर एक लोकगीतके माध्यमसे सोचनेको विवश करती है—

'जैसे मोती झरै ओस कौ ब्यार चलै ढहि जातौ।'

७. शारीरिक आराम और विलासितापूर्ण जीवन आज प्रतिष्ठाका पर्याय होता जा रहा है, उसके दुष्परिणामकी ओर संकेत करते हुए एक लोकगीतके माध्यमसे आध्यात्मिक सन्देश दिया गया है—

चौं सोय रह्यौ पाँय पसार,
तेरे सिर पर मंजिल धरी है, तेरी कौनै अकल हरी है॥

लोकमानसमें जीवन-मूल्योंको पाप और पुण्यकी व्यवस्थाके रूपमें देखा जाता है। व्रज-लोकवार्ताका विश्वास है कि पुण्यसे संसारसागरसे उद्धार होता है, सुख और स्वर्गकी प्राप्ति होती है तथा पापसे नरक-दुःख भोगने पड़ते हैं एवं पशु, पक्षी, कृमि और सरीसृप तथा वृक्षोंकी योनि मिलती है।

मूल्यविरुद्ध आचरण—पाप—पापका जन्म भी मनमें होता है, इसीके बाद वह कार्यरूपमें परिणत होता है, अनेक पाप मानसिक भी होते हैं। पाप छिपकर किये जाते हैं, इसलिये भी वे समुदाय या राज्य-जैसी संस्थाओंकी पकड़में नहीं आ पाते। इसके लिये लोकवार्ता सावधान करती है कि तू ओटमें छिपकर पाप करता है, किंतु तुझे स्वर्गमें ईश्वर देखेंगे—

'ओटक में तू पाप करै तोय ईसुर देखै सुरग में।'

देवीके गीतोंमें गाया जाता है—

देख पराये नाह मन न डुलाइयै हो माय।
जो मन डुगलन हार, भैया कहि कें बोलियै माय॥

इसी प्रकार पुरुषसे कहा जाता है—

देख परायी नार मन न डुलाइयै हो माय।
जो मन डुगलन हार भैना कहि कें बोलियै हो माय॥

भीमको चाण्डाल पुरुषका लक्षण बताते हुए धर्म कहता है कि जो कुल-वृद्धोंसे कुवचन बोलता है, जिसकी गायें पराये खेतोंमें चरती हैं, जो बिना अपराध अपनी पत्नीको छोड़ देते हैं, घरका बड़ा होनेपर भी कुटुम्बसे छल करके धन जोड़ता है, साधु और गौको संकटमें देखकर भी जो मुख फेर लेता है, जो खाटकी छाँहमें बैठता है, अग्निमें पैर रखता है, जलमें कुल्ला करता है तथा सूर्यके सामने लघुशंका करता है तथा जो बेटीका धन खाता है; वह चाण्डाल है और उसने अपने परलोकको नष्ट कर लिया है।

एक अन्य गीतमें बताया गया है कि पतिसे दगा करनेवाली स्त्री पापिन है—***'तिरिया, तीनों पन बिगरौगी जो तुम पति ते दगा करौगी।'*** ऐसी स्त्री पहले चीलकी योनिमें जायेगी फिर गधैया बनेगी तथा तीसरे जन्ममें टहलनी बनकर काम करते-करते मरेगी।[१] यदि स्त्री अपने पतिकी आज्ञाका पालन नहीं करेगी तो अगले जन्ममें उसे वेश्याकी योनि प्राप्त होगी—

'घर में नार करकसा तिरिया कहा पुरुष का नहीं करती।
जा गुनसे वो बनी वेश्या अपनी लाज गमाती है।'

व्रजलोकवार्तामें गौ और ब्राह्मणकी हत्या महापाप है। बहन और बेटीपर कुदृष्टि रखनेवाला तो तत्काल कोढ़ी हो जाता है।[२] छोटे भाईकी स्त्रीपर कुदृष्टि रखनेके कारण रामचन्द्रने बालिका वध किया था। झूठ बोलना वाचिक पाप है। जो झूठी गवाही देता है, झूठ ही बोलता है और झूठ ही सुनता है; वह अगले जन्ममें कुत्तेकी योनि प्राप्त करता है।[३] नौते बामन न जिमाना, भानजके मान मारना, प्यासी गौ बिड़ारना तथा जलमें दोष लगाना[४] भी

---

१. पहले पन तुम चील बनौंगी आधे सरग उड़ौगी।
दूजे पन तुम बनौ गधैया तिरिया पराई गौनि लदौगी।
तीजे पन तुम बनौ टैहलनी करि-करि काम मरौगी। जो तुम पति ते...।

२. नवलदे गाथा।

३. झूठी कहते झूठी सुनते झूठी साखें जे भरते, इन पापनसे भये कूबरा घर घर भूँसत जे फिरते।

४. जो जल में दोस लगावैगी तोय बरुन बाँध लै जावैगी।

पापके अन्तर्गत ही आता है। माया, मद और अभिमान अधर्म हैं।

व्रजलोकवार्तामें हम निम्नलिखित जीवन-मूल्योंको प्रतिष्ठित देखते हैं—

सत्य—'जागरण' में गायी जानेवाली सुरही तथा हरिश्चन्द्रकी गाथा वास्तवमें सत्यकी महिमाका आख्यान है। हरिश्चन्द्रका सत्य डिगानेके लिये विश्वामित्र आते हैं। ब्राह्मणको दक्षिणा देनेके लिये वे राजपाट त्यागकर पत्नीको और स्वयंको बेच देते हैं। पत्नी तारामती मिश्रके घरपर पानी भरती हैं तथा स्वयं 'चक्रवर्ती राजा' डोमराजका कर वसूल करते हैं। जब रोहतासको सर्प काट लेता है और रानी शवको ढकनेके लिये अपनी आधी धोती फाड़कर श्मशानपर पहुँचती हैं, तब भी राजा विचलित नहीं होते तथा डोमराजका कर माँगते हैं। उसी समय भगवान् प्रकट होकर राजाका हाथ पकड़ लेते हैं। इसीलिये कहावत है—

सत मत छोड़ै सूरमा सत छोड़ै पत जाय।
सत की बाँधी लच्छमी फेर मिलैगी आय॥

अतिथि-सेवा—'मोरध्वज राजा' की गाथा एवं ***'नारद कौ घमंड दूर कर्‌यौ'*** कहानी अतिथि-सेवाके आख्यान हैं। राजा मोरध्वज अपने एकमात्र पुत्रको आरेसे चीरकर अतिथिका सत्कार करते हैं तथा ***'नारद कौ घमंड दूर कर्‌यौ'*** का किसान दोनों बैल, लड़का तथा पत्नीके मर जानेपर भी आतिथ्य धर्म नहीं छोड़ता। व्रजमें कहावत है—***'बैरी आवै द्वार बैठना दीजै ग्वाऊ।'***

परोपकार—राजा विक्रमाजीतकी कहानी परोपकारकी महिमाका आख्यान है। राजा विक्रमाजीत दूसरोंके दोषों और अपराधोंको भी अपने सिर ओट लेते हैं, वे शनिग्रहसे भी संघर्ष करते हैं। 'ओघद्वादशी' की कहानीमें राजा जनताकी भलाईके लिये तालाब बनवाता है और उसमें जल-प्लावनके लिये अपने बहू-बेटोंका भी बलिदान कर देता है।

अहिंसा—अहिंसाका भाव व्रज-लोक मानसमें गहरेतक व्याप्त है। भूल या प्रमादवश पैर पड़नेसे एक चींटीके भी मर जानेपर हत्या लगती है और उसके प्रायश्चित्तके लिये महादेवजीका दीपक जलाया जाता है और भिखारीको चूनकी चुटकी दी जाती है। श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थीने सुरहीकी कहानीको 'अहिंसाकी विजयगाथा' बतलाया है। परंतु व्रज-लोकवार्ताने अहिंसाकी महिमाके साथ यह भी स्वीकार किया है कि—

'हन्ते कूँ हनियै न पाप दोस गिनियै' अर्थात् हिंसकको मारना पाप नहीं है।

मातृपितृभक्ति—'सरमन' गाथा तथा गणेशके प्रथमपूज्य होनेकी कहानी वास्तवमें मातृपितृभक्तिके आदर्शकी प्रतीक है। श्रवणकुमारकी पत्नीको बूढ़े सास-ससुर नहीं सुहाते, वह स्वयंको तो खीर बनाती है तथा सास-ससुरको खट्‌टी महेरी। जब श्रवणकुमारको यह ज्ञात होता है, तब वह पत्नीको छोड़ देता है तथा कन्धेपर काँवर रखकर अपने बूढ़े और अन्धे माता-पिताको तीर्थयात्रापर ले जाता है। इसी यात्रामें माता-पिताको प्यास लगनेपर वह जलाशयपर जाता है, वहीं दशरथके बाणसे उसकी मृत्यु हो जाती है। श्रावणी पूर्णिमाके दिन 'सरमन' की पूजा की जाती है।

यौन-पवित्रता—व्रज-लोकवार्तामें पातिव्रत, सतीत्व, ब्रह्मचर्य आदिकी महिमासे सम्बन्धित अनेक कहानियाँ हैं। सावित्री, सिड़रिया, चोखापद्‌मिनी, चन्द्रावली तथा मानो गूजरी अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करनेसे भी नहीं हिचकतीं। सावित्रीके सतीत्वके आगे यमको हार माननी पड़ती है। सिड़रिया अपनी मन्त्र-शक्तिसे पति थुंदई जोधाको जीवित कर लेती है। पति कोढ़ी हो, वेश्यागामी हो अथवा पंगु, परंतु पत्नीके लिये वह भगवान् है और उसकी सेवा करना ही उसका धर्म है।

मैत्री—बुध, वासुकि, वजीरका बेटा, बढ़ईका बेटा तथा जाहरपीर मित्रताकी रक्षाके सजीव उदाहरण हैं। बढ़ईका बेटा अपने मित्रकी रक्षाके लिये अनेक खतरोंका सामना करता हुआ अन्तमें पत्थर बन जाता है तथा 'राजाका बेटा' भी अपने वायदेके अनुसार अपने पहलौटीके

लड़केकी बलि देकर बढ़ईके बेटेको शापमुक्त करता है। 'यार की यारई' कहानीमें बादशाहका लड़का अपने मित्र वजीरके लड़केके भोजनमें विष मिलानेके कारण अपनी स्वप्नसुन्दरीका मनसे परित्याग कर देता है।

प्रेम—राधा, हीररॉंझा, मोतिनी, दुभैंती, घसखुदाराजा, सिरियल जाहर, नवलदे तथा हरदौल प्रेमके लिये अपने जीवनको कठिनाइयोंमें डाल देते हैं। हरदौल तो भाभीके प्रेमकी पवित्रताकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते विषमें सिकी पूड़ियाँ खा लेता है। हीर-जात बिरादरी तथा कुलकी समस्त मर्यादाओंको ताकपर रखकर राँझासे प्यार करती है। घसखुदाराजा तमोलीकी छोरीके रूप-माधुर्यके वशीभूत होकर घास खोदनेतकको तैयार हो जाता है।

वीरता—लोकमानस वीरके आश्रयमें आश्वासन प्राप्त करता है। वीरता लोकनायकका पहला और सर्वश्रेष्ठ गुण है। वीर ही प्रेम-कथाका नायक बनता है तथा उसके व्यक्तित्वके साथ मिथ जुड़ते हैं। कृष्ण और जाहरपीर वीर नायक हैं। यही बात जगदेवके सम्बन्धमें कही जा सकती है। जगदेवसिंह दानवका वध करके जनसमाजको भयमुक्त करता है। आल्हा-ऊदल, राजा अमरसिंह राठौर तथा जवाहरसिंहकी गाथायें वीरतारूपी जीवन-मूल्यकी प्रतीक हैं।

धर्म—धर्म सभी कार्योंका साक्षी है। धर्म-बहन तथा धर्म-बेटीके अनेक प्रसंग व्रज-लोककथाओंमें हैं। गंगा-जमना-त्रिबेनीके स्नान, माता-पिता-गुरुकी आज्ञा, सास-ससुर और पतिकी सेवा, कुत्ता-बिलैयाको टूक डालना, भूखोंको नाज तथा प्यासेको पानी पिलाना, सास-ननदका मान और बहन-भानजेका सम्मान, हरिका ध्यान धर्म माना गया है। धर्म ही रक्षक है, धर्मसे ही राज्य मिलता है, धर्मसे ही वंश चलता है तथा धर्मसे ही संसार-सागरसे उद्धार होता है। धर्मकी कथामें एक साधु महात्मा राजाके पास जाकर सवाल करता है कि राजा या तो अपना धर्म दे दे अथवा अपना राजपाट दे दे। राजा राजपाट देकर वनमें चला जाता है।

सहनशीलता, सन्तोष—कष्टमें सुखका भाव— व्रजलोकवार्ताके जीवनदर्शनके मूलमें आनन्दका स्रोत है—*'जो दिन जाय अनंद सों जीवन कौ फल सोय।'* अपने परिवेशको आनन्दमय बनानेके लिये प्रेम उड़ेलनेकी जरूरत है। सभीके साथ हिलमिलकर चलनेकी सीख है—

हँसि बोल बखट कटि जायगौ। जानें को कित कूँ रमि जायगौ॥

कष्टोंमें भी मनको प्रसन्न बनाये रखनेकी युक्ति है धैर्यको न छोड़ना—

काटे ते कटि जायगी विपदा थोरे दिन की पातरिया।

व्रज-लोकवार्ताको ज्ञात है कि सुख-दुःख और हार-जीतका कारण मन है—

मन के हारें हार है मन के जीतें जीत।

तथा—

जो मन चंगा तो कठौती में गंगा॥

आनन्द मायामें नहीं है, इसीलिये व्रज-लोकवार्ताकी सीख है कि—*'लल्लो चप्पोमें कहा धरौऐ इमली के पत्ता पै मौज करौ।'* लोकोक्ति है—

रूखा सूखा खाइ कै, ठंडा पानी पीव।
देखि बिरानी चोपड़ी मत ललचावै जीव॥

सुखकी स्थिति तो इसीमें है कि *'ऊधौ कौ लैन न माधौ कौ दैन।'* व्रज-लोकवार्तामें पापकी कमाईको धिक्कारा गया है। यह माया किसीके साथ जानेवाली नहीं है—

मैं जानूँ माया संग जायगी न्यौं की न्यौंई रह जायगी।

सांसारिकतासे विरक्ति—संसारमें मनुष्य अकेला ही आता है तथा अकेला ही जाता है। कोई किसीका साथी नहीं है। सभी स्वार्थके सगे हैं। एक लोककहानीमें जोगीने चेलेको प्राणायाम करना सिखाया और परिजनोंके प्रेमकी परीक्षा लेनेको कहा। चेला प्राणायाम साधकर मृतकतुल्य प्रतीत होने लगा, तब बाबाने कहा कि पत्नी, माँ, पुत्रमेंसे कोई भी अपने प्राण दे सके तो यह जीवित हो सकता है। सभीने अपनी-अपनी समस्या बताकर योगीसे ही कहा कि भगवन्! आप तो परमार्थी हैं, आप ही प्राण दे दें। तब चेलेको वास्तविकताका आभास हुआ।

भारतीय जीवनचर्या—मूर्तिमती मानवता

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम०ए०, पी-एच०डी०)

भारतीय जीवनचर्या ऐसी है, जो मनुष्यके सर्वाङ्गीण विकासका ध्यान रखती है और उन्नतिके सर्वाधिक साधन प्रस्तुत करती है। भारतीय तत्त्वदर्शियोंने संसारकी व्यवहार्य वस्तुओं और व्यक्तिगत जीवन-यापनके ढंग तथा मूलभूत सिद्धान्तोंपर पारमार्थिक दृष्टिकोणसे विचार किया है। हमारे यहाँ क्षुद्र सांसारिक सुखोपभोगसे ऊपर उठकर—वासनाजन्य इन्द्रिय-सम्बन्धी साधारण सुखोंसे ऊपर उठकर आत्मभाव विकसित करते हुए पारमार्थिक रूपसे जीवन-यापनको प्रधानता दी गयी है। मानवताके पूर्ण विकास एवं निर्वाहको दृष्टिमें रखकर हमारे यहाँ जीवनचर्या-सम्बन्धी मान्यताएँ निर्धारित की गयी हैं।

मनीषियोंने भारतीय संस्कृतिका सूक्ष्म आधार जिन मान्यताओंपर रखा है, उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। यहाँ उनपर कतिपय विचार प्रस्तुत हैं—

१. सुखका केन्द्र आन्तरिक श्रेष्ठता

भारतीय ऋषियोंने खोज की थी कि मनुष्यकी चिरंतन अभिलाषा—सुख-शान्तिकी उपलब्धि इस बाह्य संसार या प्रकृतिकी भौतिक सामग्रीसे वासना या इन्द्रियोंके विषयोंको तृप्त करनेमें नहीं हो सकती। पार्थिव संसार हमारी तृष्णाओंको बढ़ानेवाला है। एकके बाद एक नयी-नयी सांसारिक वस्तुओंकी इच्छाएँ और तृष्णाएँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं। मनुष्यकी ऐसी प्रकृति है कि एक वासना पूरी नहीं होने पाती कि नयी दो वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। मनुष्य अपार धन-संग्रह करता है, अनियन्त्रित काम-क्रीड़ामें सुख ढूँढ़ता है, लूट-खसोट और स्वार्थ-साधनसे दूसरोंको ठगता है। धोखा-धड़ी, छल-प्रपंच, नाना प्रकारके षड्यन्त्र करता है; विलासिता, नशेबाजी, ईर्ष्या-द्वेषमें प्रवृत्त होता है; पर स्थायी सुख और आनन्द नहीं पाता। इस प्रकारकी मृगतृष्णामात्रमें अपना जीवन नष्ट कर देता है। उलटे उसकी दुष्टवृत्तियाँ और भी उत्तेजित हो उठती हैं। जितना-जितना मनुष्य सुखको बाहरी वस्तुओंमें मानता है, उतना ही उसका व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन अतृप्त, कण्टकाकीर्ण, दुःखी, असंतुष्ट और उलझन-भरा हो जाता है।

तत्त्ववेत्ताओंने इस त्रुटिको देखकर ही यह निष्कर्ष निकाला था कि स्वार्थपरता और सांसारिक भोग कदापि स्थायी आनन्द नहीं दे सकते। हमारे स्थायी सुखोंका केन्द्र भौतिक सुख-सामग्री न होकर आन्तरिक श्रेष्ठता है। आन्तरिक शुद्धिके लिये हमारे यहाँ नाना विधानोंका क्रम रखा गया है। त्याग, बलिदान, संयम—वे उपाय हैं, जिनसे मनुष्यको आन्तरिक शुद्धिमें प्रचुर सहायता मिल सकती है।

२. अपने साथ कड़ाई और दूसरोंके साथ उदारता

भारतीय जीवनचर्यामें अपनी इन्द्रियोंके ऊपर कठोर नियन्त्रणका विधान है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओं और इन्द्रियोंके ऊपर नियन्त्रण कर सकेगा, वही वास्तवमें दूसरोंके सेवा-कार्यमें हाथ बँटा सकता है। जिससे स्वयं अपना शरीर, इच्छाएँ, वासनाएँ और अपनी आदतें ही नहीं सँभलतीं, वह क्या तो अपना हित करेगा और क्या लोकहित।

'हरन्ति दोषजातानि नरमिन्द्रियकिङ्करम्।'

'जो मनुष्य इन्द्रियों (और अपने मनोविकारों)-का दास है, उसे दोष अपनी ओर खींच लेते हैं।'

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।'

(मनु० २। २१५)

'इन्द्रियाँ बहुत बलवान् हैं। ये विद्वान्‌को भी अपनी ओर बलात् खींच लेती हैं।'

अतः भारतीय जीवनचर्याने मनुष्यके दिव्य गुणोंके विकास और उन्नतिको दृष्टिमें रखते हुए अपने साथ कड़ाईके व्यवहारकी स्थापना की है। यदि हम अपनी कुप्रवृत्तियोंको नियन्त्रित न करेंगे तो हमारी समस्त शक्तियोंका अपव्यय हो जायगा। आदर्श मानव वह है, जो दम, दान एवं यम—इन तीनोंका पालन करता है। इन तीनोंमें भी विशेषतः दम (अर्थात् इन्द्रिय-दमन) भारतीय तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंका सनातन

धर्म है। इन्द्रिय-दमन आत्मतेज और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला है। दमके अभ्याससे तेज बढ़ता है। दमका प्रयोग मानवताके विकासके लिये उत्तम है। संसारमें जो कुछ नियम, धर्म, शुभकर्म अथवा सम्पूर्ण यज्ञोंके फल हैं, उन सबकी अपेक्षा दमका महत्त्व अधिक है। दमके बिना दानरूपी क्रियाकी यथावत् शुद्धि नहीं हो सकती। अतः दमसे ही यज्ञ और दमसे ही दानकी प्रवृत्ति होती है।

जिस व्यक्तिने इन्द्रिय-दमन और मनोनिग्रहद्वारा अपनेको वशमें नहीं किया है, उसके द्वारा वैराग्यका बाना धारणकर वनमें भी रहनेसे क्या लाभ? तथा जिसने मन और इन्द्रियोंका भलीभाँति दमन किया है, उसको घर छोड़कर किसी जंगल या आश्रममें रहनेकी क्या आवश्यकता?

जितेन्द्रिय पुरुष जहाँ निवास करता है, उसके लिये वही स्थान वन एवं महान् आश्रम है। जो उत्तम शील और आचरणमें रत है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है तथा जो सरल भावसे रहता है, उसको आश्रमोंसे क्या प्रयोजन? विषयासक्त मनुष्योंमें वनमें भी दोष आ जाते हैं तथा घरमें रहकर भी पाँचों इन्द्रियोंपर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया जाय, तो वही तपस्या है।

एक ओर जहाँ भारतीय जीवनचर्या इन्द्रिय-संयमका उपदेश देती है, वहीं दूसरी ओर वह दूसरोंके प्रति अधिक-से-अधिक उदार होनेका आग्रह करती है। सच्चे भारतीयको दूसरोंकी सेवा, सहयोग और सहायताके लिये प्रस्तुत रहना चाहिये—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम्॥

अर्थात् सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला सत्यका कथन है, परंतु सत्यका ज्ञान तो बहुत ही कठिन है। इसलिये सुगमरूपसे उसीको मैं सत्य कहता हूँ, जो प्राणियोंके लिये अधिकतया हितकर हो।

भारतीय जीवनचर्यामें सदा दूसरोंके साथ उदारताका व्यवहार रहा है। जो लोग बाहरसे मारनेके लिये आये, जिन्होंने विष दिया, जिन्होंने आगमें जलाया, जिन्होंने हाथियोंसे रौंदवाया और जिन्होंने साँपोंसे डँसवाया, उन सबके प्रति भी भारतीय जीवनचर्या उदार रही है। हाथीमें विष्णु, सर्पमें विष्णु, जलमें विष्णु और अग्निमें भी उसने विष्णुको देखा है, तब फिर पशुओं और मनुष्योंकी तो बात ही क्या। हम जीवमात्रको प्यार करनेवाली उदार जातिके रहे हैं।

३. सद्भावोंका विकास

मनुष्य ईश्वरका स्वरूप है। उसकी अन्तरात्मामें समस्त ईश्वरीय सम्पदाओंके बीज वर्तमान हैं। इन सद्‌गुणों और दैवी सम्पदाओंका अधिकाधिक विकास करना भारतीय जीवनचर्याका लक्ष्य रहा है। **'शीलं हि शरणं सौम्य'** (अश्वघोष) सत्-स्वभाव ही मनुष्यका रक्षक है। उसीसे अच्छे समाज और अच्छे नागरिकका निर्माण होता है। अन्तरात्मामें छिपे हुए सद्‌गुणों और दिव्यताओंको अधिकाधिक विकसित करना भारतीय जीवनचर्याका मूलमन्त्र रहा है। हमारे यहाँ कहा गया है—

'तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः।'

(महा० शा० १९३। १८)

'समस्त तीर्थोंमें हृदय (अन्तरात्मा) ही परम तीर्थ है। सारी पवित्रताओंमें अन्तरात्माकी पवित्रता ही मुख्य है।'

हम यह मानकर चलते आये हैं कि मानवकी अन्तरात्मामें जीवन और समाजको आगे बढ़ाने और सन्मार्गपर ले जानेवाले सभी भाव और शुभ संस्कार भरे पड़े हैं। जिस प्रकार मकड़ी तारके ऊपरकी ओर जाती है तथा जैसे अग्नि अनेकों शुद्ध चिनगारियाँ उड़ाती है, उसी प्रकार इस आत्मासे समस्त प्राण, समस्त देवगण और समस्त प्राणी मार्गदर्शन पाते हैं। सत्य तो यह है कि यह आत्मा ही उपदेशक और पथप्रदर्शक है। अतः हमें आत्माके गुणोंका ही विकास करके मानवताकी प्राप्ति करनी चाहिये।

४. व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाकर विश्वहितकी ओर ध्यान

भारतीय संस्कृतिने विश्वहितको बड़ा महत्त्व दिया है। अपनी निजी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाते रहना और समय, शक्ति तथा योग्यताका अधिकांश भाग विश्वहितमें लगाना हमारा आदर्श रहा है। कम-से-कम खा-पहनकर

दूसरोंकी अधिक-से-अधिक सेवा करना, स्वादके लोभसे भोजन न करना और विलास तथा दिखावेके लोभसे विलासितामें न फँसना हमारे देशकी परिपाटी रही है। हमारे यहाँ भोजन इसलिये किया जाता है कि शरीर स्वस्थ रहे और उस शरीरसे अधिक-से-अधिक विश्वकी सेवा होती रहे। भारतीय संस्कृतिके पुजारीको यह ध्यान रहता है कि उसके वस्त्र स्वच्छ हों और उनमें किसी प्रकारका दिखावटीपन न हो। वह कम-से-कम सोये और सांसारिक मिथ्या-प्रदर्शनसे अपनेको अलिप्त रखे। बिना पूर्ण त्यागके विश्वहित नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृतिने ऐसे अनेक गृहस्थ उत्पन्न किये हैं, जिन्होंने पूरे राज्यका संचालन करते हुए अपने-आपको उनसे सर्वथा अनासक्त रखा है, अपने शरीरका भी मोह नहीं किया है। महाराजा जनककी जीवनचर्या ऐसी ही थी, इसीलिये वे विदेह कहे जाते थे। विरक्त-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी भी जिन्हें गुरु बनाकर ज्ञानोपदेश लेने गये थे, उन परम ज्ञानीके विषयमें क्या कहा जाय। तुलाधार वैश्य थे। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाकर वे सदा ग्राहकका ही हित देखते थे। धर्मव्याध शूद्र थे। उनके त्यागके सामने ब्राह्मण भी नत हो जाते थे। महर्षि याज्ञवल्क्य एक कौपीन और जलपात्रके अतिरिक्त कभी कुछ नहीं रखते थे। श्रीशुकदेवजी, श्रीशंकराचार्यजी आदि विरक्त सन्त निरन्तर लोकहितके कार्य करते रहे। भारतीय संस्कृतिमें इसी प्रकारके अनेक ज्ञानियोंने निष्काम भावसे परोपकार और प्राणिमात्रकी सेवाको अपने जीवनका ध्येय बनाया है।

५. शुद्ध कमाईका प्रयोग

भारतीय जीवनचर्याने परिश्रम और अनुशासनसे प्राप्त ईमानदारीकी कमाईपर जोर दिया है। हम मुफ्तकी कमाई, रिश्वतखोरी, घूस, लूट-खसोट और अनुचित तरीकोंसे पैसा पैदा न करें—यह हमारा एक सिद्धान्त रहा है। कहा भी गया है—

'अपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदम्।'

(अथर्ववेद ६। ११७। २)

अर्थात् 'ऋण लेना एक प्रकारकी चोरी है। हम अपनी सात्त्विक कमाईसे अधिक व्यय न करें। पापकी कमाई जन्म-जन्मतक दुःखरूपी नरकमें पड़े रहनेकी तैयारी है।'

'रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।'

(अथर्ववेद ७। ११५। ४)

'पुण्यसे कमाया हुआ धन ही सुख देता है। जो पापयुक्त धन है, उसको मैं नाश करनेवाला बनूँ।'

हमारे यहाँ अर्थ-शौचपर बड़ा बल दिया गया है। सच्चे परिश्रम और ईमानदारीसे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीपर निर्वाह करनेपर जोर दिया गया है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनु० ५। १०६)

सब शुद्धियोंमें धनकी पवित्रता ही श्रेष्ठ कही गयी है। जो कमाई शुद्ध है, उसका उपयोग करनेवाला व्यक्ति ही वास्तवमें शुद्ध कहा जा सकता है। मिट्टी या जलकी शुद्धि शुद्धि नहीं कही जाती।

तात्पर्य यह कि जो पराया धन नहीं हरता और न्यायसे धन उपार्जन करता है, वह शुद्ध है। इसके विपरीत जो पाप तथा अन्यायसे द्रव्य हरता है, किंतु मिट्टी लगा-लगाकर स्नान करता है, वह पवित्र नहीं है। कहा गया है—

'प्र पतेतः पापि लक्ष्मि।'

(अथर्ववेद ७। ११५। १)

'पापकी कमाई छोड़ दो। पसीनेकी कमाईसे ही मनुष्य सुखी बनता है।'

'देवः वार्थ वनते।' (ऋग्वेद)

'धन उन्हींके पास ठहरता है, जो सद्‌गुणी होते हैं। दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्प कालमें नष्ट हो जाती है।'

'रयिं दानाय चोदय।'

(अथर्ववेद ३। २०। ५)

'दान देनेके लिये धन कमाओ। संग्रह करने या विलासिताके लिये धन नहीं है।'

६. समन्वय और सहिष्णुता

सहिष्णुता भारतीय जीवनचर्याका एक विशिष्ट अंग

है। हमारी संस्कृति हमें सिखाती है कि दूसरोंकी परिस्थितियोंको समझते हुए विचार-भिन्नता होते हुए भी हम सहिष्णु रहें। समस्त जीवोंके प्रति हम उदार हैं, सभीको अपने समान समझते हैं और उनके प्रति प्रेम-भाव रखते हैं तथा तदनुसार कार्य करते हैं—यह विचार हमारी संस्कृतिमें सच्चे रूपमें पाया जाता है।

हमारे समाजमें कुछ आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक दृष्टिसे पिछड़ी हुई जातियाँ हैं। हमारे यहाँ यह विधान है कि वे अपने-अपने ढंगसे अपने-अपने धर्ममें रहकर अपना-अपना धन्धा करती रहें, तो वे किसी प्रकार निन्द्य नहीं हैं। भोजनके समय यदि कोई चाण्डाल भी अतिथिके रूपमें आये तो उसका भी भोजन इत्यादिसे सत्कार करनेका हमारी जीवनचर्यामें विधान है।

हमारी संस्कृतिमें बीजशुद्धिका विचार विशेष होनेसे अपने-अपने वर्णमें ही विवाह करना उचित माना गया है। उच्च वर्णोंमें पुराने उच्च संस्कार अभीतक भरे हुए हैं। यदि उच्च वर्ण उच्च वर्णोंमें ही विवाह आदि सम्बन्ध करेंगे तो बीज-शौच बना रहेगा। बीजमें खराबी नहीं आनी चाहिये, अन्यथा सारा समाज ही अपने संस्कारोंको दूषित कर लेगा।

७. सर्वत्र आन्तरिक और बाह्य शौच

हमारी जीवनचर्यामें शौचका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे यहाँ स्वच्छताकी शिक्षा जीवनके प्रारम्भसे ही ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें प्रारम्भ हो जाती थी। प्रत्येक हिन्दूका कर्तव्य है कि वह स्वयं तो स्वच्छ रहे ही; अपने घर, वातावरण और वस्तुओंको स्वच्छ रखे, स्वच्छ वस्त्र पहने, स्वच्छ वस्त्रोंसे भोजन पकाये और स्वच्छ चौकेमें बैठकर भोजन करे। शौचका अर्थ केवल बाहरी सफाई ही नहीं है, प्रत्युत आन्तरिक स्वच्छतापर भी सदा हमारा ध्यान रहा है। पापकी भावनाओं, विषयभोगकी कुत्सित वासनाओंसे मनको गन्दा न करना भी शौचमें सम्मिलित है। आन्तर-शौच, बीज-शौच और अर्थ-शौच इत्यादि नाना रूपोंमें आन्तरिक स्वच्छता बनाये रखनेकी गम्भीर व्यवस्था भारतीय संस्कृतिमें निहित है।

यतः पवित्रतायां हि राजतेऽतिप्रसन्नता॥

अर्थात् पवित्रतामें ही प्रसन्नता रहती है।

स्नानका हमारे यहाँ बड़ा गहरा अर्थ लगाया गया है—

न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥

'जलमें शरीरको डुबो लेनामात्र स्नान नहीं कहलाता। जिसने दमरूपी तीर्थमें स्नान किया है, मन-इन्द्रियोंको वशमें रखा है, उसीने वास्तवमें स्नान किया है। जिसने मनके मैलको धो डाला है, वही शुद्ध है।'

तात्पर्य यह कि भारतीय जीवनचर्यामें मानवताकी रक्षा और विकासके सभी आधारभूत सिद्धान्त भरे पड़े हैं। इनका पालन करनेसे मनुष्य विकसित होकर सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बन सकता है।

संतकी आदर्श क्षमाशीलता

एक संत कहीं जा रहे थे। एक दुष्ट व्यक्ति भी उन्हें गालियाँ देता हुआ उनके पीछे-पीछे चलता जा रहा था। संतने उससे कुछ भी न कहा। वे बहुत देरतक चुपचाप ही चलते रहे। पर्याप्त आगे बढ़नेपर कुछ घर दिखायी पड़ने लगे। अब वे खड़े हो गये और उन्होंने उस व्यक्तिसे कहा—भाई! देखो, तुम्हें जो कुछ कहना है, यहीं कह लो। मैं खड़ा हूँ। आगे उन घरोंमें मुझसे सहानुभूति रखनेवाले लोग रहते हैं, वे तुम्हारी बातें सुनेंगे तो तुम्हें तंग कर सकते हैं। इससे मुझे बड़ा क्लेश होगा।

इसपर वह दुष्ट व्यक्ति संतके इस आशाके विपरीत व्यवहारको देखकर बड़ा लज्जित हुआ और पश्चात्तापपूर्वक क्षमा माँगने लगा।

दिव्य जीवनकी जीवनचर्या

(श्रीराजेन्द्रजी 'जिज्ञासु')

विश्वके सब भले मानस दिव्य एवं शान्त जीवनकी कामना करते हैं। इसकी प्राप्ति कैसे हो? दिव्यता, शान्ति एवं कान्ति क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ नहीं हैं। ये बाजार तथा मण्डीसे प्राप्त नहीं की जा सकतीं। भले व्यक्तियोंसे भले समाजका निर्माण होता है और भले समाजमें ही भले व्यक्तियोंका निर्माण सम्भव है। भारतीय ऋषि-मुनि व्यक्ति तथा समाज दोनोंको महत्त्व देते हैं। सनातन आर्ष विचारधारा एकांगी नहीं है।

हमारे पूर्वजोंने मानवकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये—दिव्य जीवन, शान्ति एवं कान्तिकी प्राप्तिके लिये एक जीवन-शैली दी है। यह जीवन-शैली सार्वभौमिक है। यह सर्वथा असाम्प्रदायिक है। यह पूर्णतया वैज्ञानिक है। इस कथनकी पुष्टि वेद, शास्त्र, दर्शन, उपनिषद् तथा सब ऋषि-मुनि तो करते ही हैं, इनके अतिरिक्त विश्वका पूरा ज्ञान-विज्ञान तथा विश्व-इतिहास इस जीवन-शैलीका गुणगान करता है।

इस जीवन-शैलीकी आधारशिला हमारे ऋषियोंने जीवनचर्यापर रखी है। भारतीय जीवनचर्याका आरम्भ नित्यकर्मसे होता है।

प्रत्येक प्रबुद्ध एवं विचारशील मनुष्यको सबसे पहले ऋषियोंकी इस अनूठी देन 'नित्यकर्म' शब्दपर विचार करना चाहिये। सारे विश्वसाहित्यमें इस शब्दका पर्याय किसी भी भाषामें नहीं मिलेगा। यह शब्द स्वयं बता रहा है कि नित्यकर्मका यह आर्ष विधान अनादि है। यह देश तथा कालके बन्धनसे मुक्त है। जैसे पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणका नियम मानव-निर्मित नहीं। यह नियम भी प्रभुकी देन है। यह भी प्रभुनिर्मित है। जबसे सृष्टि है, यह कल्याणकारी सर्वहितकारी नियम तभीसे चला आता है।

अब एक और पहलूसे इस नित्यकर्मपर विचारिये। यह नित्यकर्मका विधान प्रतिदिन पालन करना आवश्यक है। इस शब्दका निहित अर्थ ही यही है कि यह अनिवार्य है। इसमें विकल्प रखा ही नहीं गया।

अब आगे चलिये, नित्यकर्मका आरम्भ कैसे होता है? वेद-शास्त्र, ऋषि-मुनि, महात्मा सब 'अमृत-वेला' में निद्रा-त्यागका उपदेश, आदेश देते हैं। अथर्ववेदकी एक ऋचामें यह कहा गया है कि उदित होता हुआ सूर्य सोनेवालेके तेजको हर लेता है।

ऋग्वेदमें एक नहीं; कई उषासूक्त हैं। इन मन्त्रोंमें उषाकी महिमाका हृदयस्पर्शी वर्णन है। उषाकालमें कर्तव्य-कर्मोंमें जुट जानेके सब लाभ इसमें मिलेंगे। '**उषर्बुद्ध**' यह अनूठा शब्द वेदमें ही मिलेगा। उषाकालमें अत्यन्त निर्मल बुद्धिकी प्राप्ति होती है।

मेरी शिक्षाका आरम्भ मुसलमानी तथा ईसाई वातावरणमें हुआ। तब स्कूलोंमें उर्दूमें एक शीर्ष सिद्धान्त दीवारोंपर छात्रोंके लिये लिखा होता था—

रातको सोना सवेरे दिनको उठना ए शताब।
सेहतो दौलत बढ़ाय अकल को दे आबो ताब॥

कुछ बड़े हुए तो यही सिद्धान्त अंग्रेजीमें स्कूलकी दीवारोंपर ऐसे पढ़ने लगे—

Early to bed and early to rise,
makes a man healthy wealthy and wise.

भारतीय जीवन-शैली कर्मकाण्डकी जड़ता तथा अन्धविश्वासोंका नाम नहीं है। पाठक विचारें क्या इस उर्दू पद्य तथा अंग्रेजी शीर्ष सिद्धान्तमें दिया गया विचार अथर्ववेदके मन्त्र तथा ऋग्वेदके 'उषर्बुद्ध' शब्दका ही अनुवाद नहीं है?

जब हम शास्त्रकी दुहाई देकर इस दिनचर्याकी प्रेरणा देते हैं तो यह कहा जाता है कि यह तो बैलगाड़ीके युगकी पुरानी बात है और जब वही बात अंग्रेजीमें विदेशवालोंने कह दी तो फिर सच्चाई हो गयी। हमारी जीवन-शैलीका उपहास उड़ानेवाले भूल गये कि जल, वायु तथा सूर्य आदि सभी बैलगाड़ीके युगसे भी पुराने हैं। पुराना होनेसे सत्य कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होता। सत्य तो सनातन होनेसे सदा नया ही होता है।

चलिये कुछ आगे बढ़ें। हमारे महात्मा प्रायः यह कहते हैं—

इक दौलत लुटती देखी है, हर रात की पिछली वेला में।

उठते ही ऋषियोंने दिशा-जंगलको निकलनेका आदेश दिया। क्या कभी दिशा-जंगल इस शब्दपर किसीने विचार किया। अब डॉक्टर अस्पतालमें भरती होनेपर आदेश देता है—

(१) खुली स्वच्छ वायुका सेवन करो।

(२) दो तीन किलोमीटरकी सैर करो।

क्यों जी, सच्चाई सामने आयी कि नहीं? दिशा-जंगलसे जिनकी दिनचर्या आरम्भ हुई, उन्हें स्वच्छ वायु या वायुसेवन तथा भ्रमणका सुझाव देनेकी कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

श्रीमतीजीने पुत्रको कहा, 'अपने पिताजीसे कहो अल्पाहार तैयार है, ले लें।'

पति उत्तरमें कहता है कि अभी तो मैं नित्यकर्मोंसे ही पूरा निवृत्त नहीं हुआ। स्नान किया है। सन्ध्या-वन्दन, प्राणायाम तो कर लूँ।

मेरे एक अभिन्न बन्धु अमरीका अपने पुत्रसे मिलने गये। वहाँ डॉक्टरके पास जाना पड़ गया। ओषधि ली। तीन-चार दिनमें ठीक हो गये। डॉक्टरने छुट्टी देते हुए कहा, 'आप लम्बी-लम्बी श्वासें (Long breathing) खींचा करें। आपने कहा—यह तो मैं गत तीस वर्षोंसे कर रहा हूँ।

'यह किस डॉक्टरके कहनेसे और किस समस्याके कारण करते हैं?' डॉक्टरने पूछा।

हमारे बन्धुने कहा—'यह प्राणायाम हमारी दिनचर्याका (सन्ध्यावन्दनका) अनिवार्य अंग है।' यह सुनकर डॉक्टर दंग रह गया।

आज रोगी होनेपर डॉक्टर (Hard bed) तख्तपोशपर लिटाते हैं। हमारे ऋषियोंके लिये, हमारे राम और हमारे कृष्णके लिये भूमिशयन एक सहज-सी बात रही।

अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्तमें २६ मन्त्र हैं। इन छब्बीस मन्त्रोंमें दस बार तप शब्द आया है। तप तथा श्रम जिनकी दिनचर्याका अनिवार्य अंग हो, जिनका शृंगार तप तथा श्रम हो, वे आलस्य और प्रमादके शिकार होकर रोगी तथा बीमार क्यों हों? स्मरण रखिये, तप शब्दसे डरनेकी कोई बात नहीं; द्वन्द्वोंपर विजय पानेका नाम ही तप है। गर्मी, सर्दी, भूख-प्यास आदिपर विजय पाओ। डगमगाना नहीं। घबराना नहीं। यही तप है।

तैत्तिरीय-उपनिषद्का दीक्षान्त कभी तो पढ़िये। विद्या प्राप्त करके स्नातक चलने लगा तो आचार्यने कहा—लो,

यह सन्देश पल्ले बाँध लो। क्या?

'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।'

अर्थात् सदा सत्य बोलना। धर्मपर चलना। स्वाध्यायसे विमुख मत होना। पढ़ते-पढ़ाते, ज्ञान बाँटते रहना। इससे उत्तम जीवनशैली है क्या? विद्याका प्रयोजन क्या है? डिग्रियाँ ले-लेकर सब घोटालों तथा भ्रष्टाचारसे लिप्त हैं। शिक्षाके अभियान चलाये जा रहे हैं। नतीजेपर किसीका ध्यान ही नहीं है।

आज परिवार टूट रहे हैं। समाज दूषित हो चुका है। पीढ़ियोंमें टकराव है। तनावमुक्त व्यक्ति कोई विरला ही होगा। वृद्धोंको वृद्धाश्रमोंमें धकेला जा रहा है। बुढ़ापेमें पेंशनसे क्या वृद्धोंके कष्ट कट जायँगे। क्या वे गद्‌गद हो जायँगे?

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।' के इन आर्ष सिद्धान्तोंसे शून्य जीवन-शैलीसे परिवार टूटेंगे ही। तनाव घर-घरमें, हर मनमें तथा जन-जनमें व्याप्त होना स्वाभाविक ही है।

मनु महाराजने गृहस्थोंके लिये पंचमहायज्ञोंका विधान किया था। गृहस्थोंकी दिनचर्यामें उनका अपना ही स्थान है। ये यज्ञ भी अनिवार्य हैं। यह दिव्य जीवनका, शान्ति तथा कान्तिकी प्राप्तिका राजमार्ग है। एक विद्वान् विचारक

महात्माने इन पंचमहायज्ञोंके विषयमें अत्यन्त मार्मिक शब्दोंमें लिखा है—

"They are not rituals, but ways of practical living. Godliness, cleanliness of physical surroundings, regard for one's own parents, respect for elders in general and love for all life—These are the virtues which have commanded the recognition of all ages and climes and even in our days of struggle and strife, their value cannot be under-rated."

अर्थात् इन पाँच महायज्ञोंका सम्पादन कर्मकाण्डमात्र नहीं है। यह व्यावहारिक जीवनकी शैली है। दिव्यता, पवित्रता, वातावरणकी स्वच्छता, अपने माता-पिताके प्रति आदर-भाव तथा सामान्यरूपसे सब वृद्धोंका सम्मान-सत्कार एवं प्राणिमात्रके प्रति प्यारकी भावना—ये कुछ ऐसे सद्गुण हैं, जिनकी प्रत्येक कालमें तथा प्रत्येक देशमें सदा मान्यता रही है और आजके संघर्ष तथा तनाव-टकरावके युगमें भी इनके मूल्य तथा महत्त्वको किसी भी प्रकारसे कम करके नहीं आँका जा सकता।

अंगिरा, याज्ञवल्क्य, गौतम, आपस्तम्ब, व्यास, वाल्मीकि आदि ऋषि-महर्षियोंने जिस जीवन-शैलीका विधान किया है, जिस दिनचर्या तथा दिव्य जीवन-पद्धतिको हमारे राम, हमारे कृष्ण तथा अन्य सन्त-महात्माओं एवं भक्तोंने अपने जीवनमें उतारा, उसकी अनुपमतापर हमारे प्रेमी पाठक विचारेंगे और जी-जानसे समर्पण भावसे इस सर्वहितकारी विचारधाराका विश्वमें प्रचार करेंगे।

जीवनको पतनोन्मुखी बनानेवाले स्थान

मनुष्य बाल्यावस्थामें जबतक माता-पिता या गुरुजनोंके निर्देशनमें रहता है, तबतक उसकी दिनचर्या और जीवनचर्या उनके अनुभवके आधारपर व्यवस्थित रहती है, पर किशोरावस्था या युवावस्थामें पहुँचनेपर जब वह माता-पिता या गुरुजनोंके निर्देशनसे हटकर समाजमें स्वतन्त्रभावसे जीवन व्यतीत करना शुरू करता है, तो उसके समक्ष उत्थान और पतन—दोनों प्रकारके मार्ग होते हैं। समाजमें जहाँ मन्दिर और तीर्थ हैं, वहीं सिनेमा और जुआघर भी हैं। ऐसेमें आवश्यक है कि किशोरों और युवाओंके कदम सही मार्गका अनुसरण करें। इस हेतु यहाँ कतिपय ऐसे स्थानोंकी जानकारी दी जा रही है, जिनसे उन्हें बचना नितान्त आवश्यक है—

सिनेमा

सिनेमासे शिक्षा भी प्राप्त हो सकती है, इसे हम अस्वीकार नहीं करते। पाठशालाओंमें बच्चोंके लिये तथा ग्रामोंमें ग्रामवासियोंके लिये सरकारकी ओरसे जो स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा शिक्षासम्बन्धी फिल्में दिखलायी जाती हैं—हमारे फिल्म-निर्माताओंके सम्मुख भी यदि ऐसे ही सदुद्देश्य होते........।

किंतु आज सिनेमा-गृहोंमें जाकर लोग क्या देखते हैं? हत्या, चोरी, पाकेटमारी, धोखाधड़ीके विभिन्न उपाय। अभिनेत्री-अभिनेताओंकी नाना प्रकारकी कामोत्तेजक अंग-

चेष्टाएँ, वासनोत्तेजक गायन सुनते हैं वे।
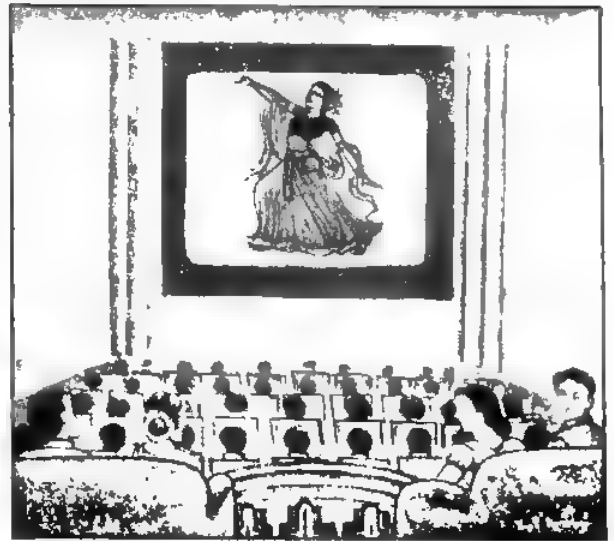
छींटके कपड़ोंकी कमीज पहने, बाल सँवारे, पाउडर पोते, सिनेमाके गीत गुनगुनाते या अलापते आजके युवक ही नहीं, अबोध बालकतक और अनेक प्रकारके आधुनिक प्रसाधन अपनाये, अंग-प्रदर्शनको प्रधानता देनेवाले वस्त्र पहने आजकी कालेज-कन्याएँ—सिनेमा किस तीव्र गतिसे मनुष्यके जीवनको पतनकी ओर ले जा रहा है, यह कोई भी देख सकता है!

आजके युवकोंकी उच्छृंखलता, लड़कियोंका मनमाना

व्यवहार तथा आये दिन होनेवाली अवांछनीय घटनाएँ— इनके मूलमें सिनेमाकी कितनी प्रेरणा है, आजके कर्णधार इसे देखकर भी देख नहीं पाते! विनाशका भयंकर साधन है आजका सिनेमा!

सिनेमाके शो प्राय: रात्रि बारह बजेतक चलते रहते हैं, अत: इन्हें देखकर लौटनेवाले रात्रिचरोंकी दिनचर्या भला कैसे व्यवस्थित रह सकेगी!

घुड़दौड़

पाश्चात्य सभ्यताने ही दिया 'रेस'। एक-एक घुड़दौड़ सैकड़ोंको दिवालिया बना देती है। घोड़ोंपर लम्बी-लम्बी रकमें दावँमें लगायी जाती हैं। 'रेस' के टिकट
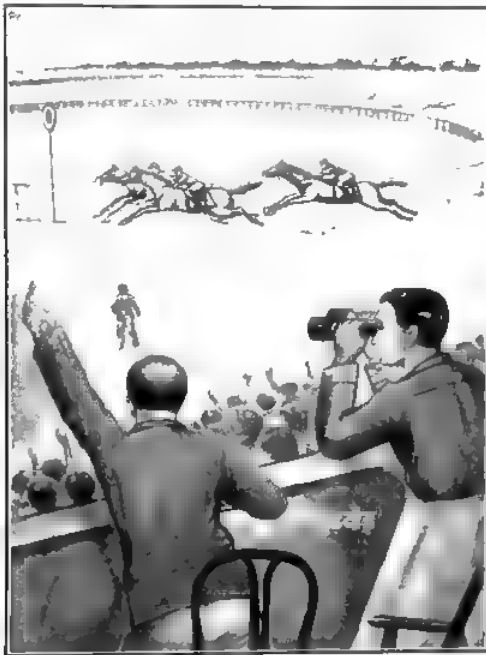
बिकते हैं खुले बाजार। घुड़दौड़—द्यूतका यह आधुनिकतम सभ्य कहा जानेवाला स्वरूप और द्यूत मनुष्यके विवेकका परम शत्रु है, यह भी क्या किसीको समझाना पड़ेगा? पत्नीके आभूषण बेचकर, कर्ज लेकर भी जब घुड़दौड़का पूरा नहीं पड़ता—चोरी प्रारम्भ होती है। ***'हारा जुआरी शराबखाने'*** बहुत प्रसिद्ध लोकोक्ति है। इस प्रकार जीवनको बरबाद करनेमें इसका बड़ा ही हाथ है।

क्लब

पाश्चात्य सभ्यताने दिये क्लब। क्लब अर्थात् अनियन्त्रित मनोरंजनके स्थान और आधुनिक शिक्षामें पला आजका भारतीय सम्पत्तिशाली वर्ग क्लबोंके पीछे दौड़ पड़ा है!

क्या होता है इन क्लबोंमें? केवल कुछ व्यायाम इनके उपयोगी कहे जा सकते हैं और वह भी यदि बहुत अधिक सुधार हो उनका। हाकी, फुटबॉल, तैराकी, घुड़दौड़ तथा विमान-संचालनके क्लबतक किसी प्रकार कुशल; किंतु ऐसे हैं कितने क्लब?

क्लबमें चलता है प्रमाद—ताश, शतरंज तथा ऐसे ही समय नष्ट करनेके अन्य खेल। क्लबमें चलता है जुआ-ताशसे या अन्य प्रकारसे। क्लबमें चलती हैं—शराबकी बोतलें। क्लबमें चलता है मनोरंजनके नामपर स्त्री-पुरुषोंका परस्पर उच्छृंखल मिलन, नृत्य तथा अन्य आमोदके नामपर अनाचार। जीवनमें पतनको और कुछ चाहिये?

जुआ

घुड़दौड़को तो जैसे जुआ माना ही नहीं जाता और वह ऐसा जुआ है जो अभी देशके गिने-चुने स्थानमें बहुत थोड़े लोगोंद्वारा खेला जाता है; किंतु देशके लगभग सभी नगरोंमें, बड़े कस्बोंतकमें जो जुआ खेलनेके अड्डे हैं—

मानवताके पतनके ही अड्डे हैं वे। एक बार जुएमें सम्मिलित होनेवाला अपनी मानवता ही दावँपर लगाता है—धर्मराजने द्रौपदीको लगा दिया था जूएपर! काश, इसे हम हृदयंगम कर पाते!

सफल जीवनचर्याके दो आवश्यक कृत्य

(श्रीदामोदरप्रसादजी पुजारी)

आजका मानव इस घोर कलियुगमें किंकर्तव्यविमूढ़ हो चुका है कि अपने दैनिक जीवनचर्यामें पारलौकिक कर्तव्य-कर्म करना तो दूर, इस विषयमें उसकी सोच भी खत्म हो चुकी है तथापि यदि वह दो बातोंपर भी ध्यान देकर उनका अनुपालन कर सके तो उसका इहलोक और परलोक दोनों सुधर सकते हैं। ये दो काम हैं—गोग्रास-दान और हरिनामसंकीर्तन। सच ही कहा है ***'तुलसी जग में आय कर कर लीजे दो काम। देने को गोग्रास भला लेने को हरिनाम॥'***

अतः यदि मानव अपने जीवनकालमें केवल राम-नामको आधार मानकर चल सके तो चाहे माला, करमाला, लेखनविधि या उच्चारणमें संकीर्तन आदि किसी भी साधनसे इसे अपना ले तो उसके दोनों जीवन सुधर सकते हैं। कहा है-***'राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥'*** इसी प्रकार ***'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।'***

सेवामें सबसे अधिक सेव्य एवं भवसागर पार करनेमें समर्थ गोमाताकी सेवा करना जीवनका लक्ष्य हो, जिससे धनकी पवित्रता, दानके साथ अमृततुल्य दूध, दही, घी, छाछ, गोबर, गोमूत्र आदि शारीरिक-आर्थिक एवं आत्मिक दृष्टिसे लाभकी प्राप्ति होगी।

इस प्रकार अपनी दैनिक जीवनचर्यामें उक्त महान् पुनीत कर्तव्योंको हृदयग्राही बनानेसे सभी अवगुण लुप्त होते चले जायँगे एवं व्यक्ति गुणग्राही होकर देवदुर्लभ मानव-शरीरको सार्थक कर सकेगा।

अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें श्रीभगवन्नामकी महिमा अपार है। नाम ही ईश्वर है, अन्य कोई आधार नहीं है। यदि कोई अपने मानव-शरीरको सार्थक करना चाहे तो आजसे ही, अभीसे नाम-जपमें लग जाय—***'बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु। होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥'*** यदि आप स्वयं नहीं कर सकते तो दूसरोंसे भी खर्चा देकर करवानेसे भी पुण्य प्राप्त कर सकते हैं।

यदि हम अपना उद्धार करनेके लिये तैयार हो जायँ तो मनुष्यशरीर-जैसी सामग्री और कलियुग-जैसा मौका प्राप्त करके हमारा कभी भी उद्धार हो सकता है, परंतु यह तभी सम्भव है, जब हम स्वयं अपना उद्धार करना चाहें।

त्रेतायुगमें तो केवल एक ही रावण था, लेकिन इस घोर कलियुगमें तो अनगिनत रावण पैदा हो गये हैं। इसलिये जितने रावण उतने राम बननेकी आवश्यकता है। यदि राम नहीं बन सके तो राम-नाम-जपमें शरीक होनेसे रामकी गुण-शक्ति प्राप्त करनेके लिये राम-नामकी शरण ही एकमात्र अमोघ शस्त्र है। श्रीराम-नामकी शरण लेनेसे सभी कार्य निर्विघ्न हो सकते हैं। तभी देशमें फैले आतंकवाद, उग्रवाद, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, दुष्प्रवृत्तियों एवं प्राकृतिक आपदाओं एवं प्रकोपोंसे छुटकारा पाकर श्रीरामराज्यकी स्थापनामें हम सहयोगी बन सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि नित्यप्राप्त परमात्माको पाना ही मनुष्यका पूर्ण पुरुषार्थ है। शरीर क्षणभंगुर है। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंका साधन—यह सारा वैभव भी कबतक रहेगा, यह कहा नहीं जा सकता। काल सिरके ऊपर चढ़कर बैठा है। अतः प्रत्येक क्षणका उपयोग आत्मकल्याणके लिये ही करें। जीवनचर्याके सभी कर्म करते हुए मन श्रीभगवन्नाम-स्मरणरूप लीलाधाममें लगा रहे। तभी कहा है—***'कर से कर्म करो विधि नाना। मन राखो जहाँ कृपा निधाना॥'*** श्रीमद्भगवद्गीताका श्लोक **'मामनुस्मर युध्य च'** भी सिद्ध हो जायगा। अतः पुनः-पुनः यही निवेदन है कि और कुछ करें या न करें; गोसेवा करें और भगवान्‌का नाम लें।

आदर्श जीवनका मूल मन्त्र—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'

(श्रीराजेन्द्रप्रसादजी द्विवेदी)

भारतीय संस्कृतिने मानवके चरमोत्कर्षको सदैव प्राथमिकता दी है। मानवजीवनकी पूर्णता मूलत: दो पक्षोंपर आधारित है। वे पक्ष हैं, अभ्युदय और नि:श्रेयस। जहाँ अभ्युदय मनुष्यके जीवनका बाह्य अथवा ऐहिक पक्ष है, वहीं नि:श्रेयस है उसका आन्तरिक या पारलौकिक पक्ष। अभ्युदय प्रवृत्तिमूलक है और नि:श्रेयस निवृत्तिप्रधान—**'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:'** (महर्षि कणाद)। प्रवृत्तिमार्ग साधनाके क्षेत्रमें निष्काम कर्मका द्योतक है। निवृत्तिपथमें ज्ञान एवं उपासनाकी प्रधानता है। अभ्युदयका सम्बन्ध पुरुषार्थचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षके प्रथम तीन सोपानों अर्थात् त्रिवर्गकी उपलब्धिसे है तथा नि:श्रेयससे सीधा अभिप्राय अन्तिम भाग अर्थात् मोक्षसे है। जहाँ अभ्युदय मानवमात्रकी भौतिक, लौकिक अथवा सांसारिक समृद्धि एवं सुख-साधनोंका पुंजीभूत रूप है, वहीं नि:श्रेयस मनुष्यको भूमाकी स्थिति, जहाँ अक्षय, अनन्त आनन्द ही आनन्द है, तक पहुँचानेका लक्ष्य है।

उपर्युक्त दोनों पक्षोंके समन्वयको हमारे ऋषियोंने अभीष्ट प्राप्तिका साधन माना है। ज्ञान, कर्म तथा उपासनाकी प्रवहमान त्रिपथगा मानव-जीवनमें सम्यक् सिद्धि तथा चरम एवं परम लक्ष्यकी प्राप्तिहेतु अभ्युदय एवं नि:श्रेयसके संगमकी ओर उन्मुख होती है। आर्ष प्रज्ञासे विभूषित भारतीय ऋषियोंने वेदों, उपनिषदों, गीता आदि धर्मग्रन्थोंमें दोनों पक्षोंके मधुर सामंजस्यका विवेचन विभिन्न प्रकारसे किया है। उदाहरणार्थ 'ईशावास्योपनिषद्'के प्रथम मन्त्रमें ही सात्त्विक भोग एवं निरहंकारी त्यागकी महत्तापर विशेष बल दिया गया है—**'ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्य स्विद्धनम्॥'**

उपर्युक्त मन्त्रके तीन शब्दों अर्थात् **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'** के निहितार्थकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित पंक्तियोंमें करनेकी चेष्टा की गयी है। हिन्दुओंके वैयक्तिक जीवन तथा आदर्श सामाजिक व्यवस्थामें भोग और त्यागका अद्भुत समन्वय उपर्युक्त तीन शब्दोंमें समाहित है। मनुष्यमें दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं—एक भोगकी तथा दूसरी त्यागकी। जीवनकी सार्थकता भी इन दोनों प्रवृत्तियोंके समुचित संचालन एवं समन्वयपर निर्भर है। हिन्दूसमाजमें भोग एवं त्यागकी, परस्पर आदान-प्रदानकी और विचारविनिमयकी उदात्त एवं सहिष्णु भावना सदैव प्रतिष्ठित रही है। प्रकृतिमें जैसे दिन-रातका समन्वय है और मानवजीवनमें जैसे सोने-जागनेका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार हमारी संस्कृतिमें भी भोग और त्यागके स्वाभाविक सम्बन्धको समुचित महत्त्व दिया गया है। ऐसे समन्वयका ही समानार्थक शब्द है 'अपरिग्रह', जिसे जीवनकी सफलताका एक प्रमुख साधन माना गया है। समाजकी सम्यक् व्यवस्था भी इन्हीं दो प्रवृत्तियोंके सामंजस्यपर मुख्यतया निर्भर रहती है। अपरिग्रहका व्रत भी जो समदृष्टि अथवा कर्तापन तथा भोक्तापनकी भ्रमपूर्ण भावनासे ऊपर उठनेकी दशा है, वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनके सामंजस्यकी ओर इंगित करता है। तभी तो समत्वके दृढ़ संकल्पके आधारपर ही वेदमें कामना की गयी है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशा० २)

अर्थात् जगत्‌के कर्ता, धर्ता, हर्ता परमेश्वरका सब कुछ समझकर अन्यथाबुद्धि, नास्तिक वृत्ति अथवा निराशाकी भावनाको त्यागकर सौ वर्षोंतक जीनेकी कामना करनेवाला व्यक्ति कर्मोंमें लिप्त नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्णने भी इसी आशयकी पुष्टि अपने शब्दोंमें इस प्रकार की है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

अर्थात् हे अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।

'**तेन**'—तेनसे अभिप्राय है ईश्वरद्वारा प्रदत्त समस्त पदार्थ, जिनका सम्यक् रीतिसे सदुपयोग करनेका अधिकार सभीको स्वाभाविक रूपसे प्राप्त है। संसारकी भौतिक वस्तुओंके उपभोगकी स्वतन्त्रताके साथ एक अत्यन्त निषेधात्मक शर्त भी लगा दी गयी है—त्यागकी भावना। सभी भोग्य पदार्थोंका निर्माता एवं स्वामी परमात्मा है, जो सृष्टिका सर्जक, पालक एवं संहर्ता है। अतएव सब कुछ उसीका है तथा अन्ततः उसीमें विलीन भी हो जाता है। हमें तो कुछ कालावधिके लिये सांसारिक वस्तुओंके उपभोगका अवसर प्रदान किया गया है। अतः हम उनका सदुपयोग इस भावनासे करें कि हमें उन्हें पुनः परमात्माको लौटा देना है; क्योंकि न तो हमें वस्तुओंका स्वामित्व ही प्राप्त है और न ही उनका मनमाना उपभोग। हमें तो केवल पदार्थोंके अल्पकालिक उपयोगका अवसर ही प्रदान किया गया है। साथ-ही-साथ स्मरण रहे कि हमारे ही समान मानवमात्रका भी उन समस्त वस्तुओंपर समान अधिकार है। इसलिये सभीको उनका उपयोग करनेका अवसर देना हमारा नैतिक कर्तव्य है। समुचित सामाजिक व्यवस्था तभी सम्भव है, जब हम त्यागकी भावनासे वस्तुओंका सदुपयोग करते हुए उन्हें परमात्माको समर्पित करें; क्योंकि सभी वस्तुओंका निर्माता तथा स्वामी वही है। परमपिता परमात्माकी सन्तान होनेके नाते यदि हम अपने जीवनका प्रत्येक कार्य उसी प्रभुकी प्रसन्नताके लिये करें तो ऐसा प्रभुसमर्पित कार्य यज्ञमय हो जाता है तथा भगवदर्पित कार्योंसे मनुष्य सांसारिक माया-मोह एवं कर्मफलमें लिप्त नहीं होता। वह सदा अलिप्त तथा निष्कलुष बना रहता है। इसी तथ्यको भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'**मत्कर्मकृन्मत्परमो**' (गीता ११।५५) अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करता है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

'**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'—परमात्माद्वारा प्रदत्त प्रत्येक पदार्थके विवेकपूर्ण सदुपयोगके लिये त्यागवृत्तिका होना अत्यावश्यक है। हमें स्मरण रखना है कि सभी वस्तुओंका स्वामी परमेश्वर है, जिसने कुछ समय (जीवन-काल)-के लिये हमें उनका उपभोग करनेका अधिकार दिया है, किंतु अन्ततः हमें वे समस्त उपभोग्य पदार्थ उसी स्वामीको ही लौटा देने हैं। अतएव प्रथमतः हम वस्तुओंके स्वामित्व भावसे सर्वथा दूर रहें तथा दूसरे उनका उपभोग उनके स्वामीकी प्रसन्नताके लिये ही करें। स्वामित्वरहित समर्पणकी भावनासे किया गया सांसारिक सुखभोग हमें कर्मफलके बन्धनमें लिप्त नहीं होने देगा। त्यागकी इसी वृत्तिपर बल देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्वयं कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

अर्थात् हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है—वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार समस्त कर्म मुझ भगवान्‌को अर्पण होते हैं। अहंकारशून्य होकर पदार्थके स्वामित्वकी भावनासे रहित होकर जो कर्मफलकी कामना छोड़ देता है, उसे कर्मोंके गुण-दोष बन्धनमें नहीं डालते, उसने मानो कोई कर्म किया ही नहीं। इसी भावको भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

(गीता ४।२०)

अर्थात् जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।

'**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' का वैयक्तिकके अतिरिक्त एक दूसरा सामाजिक पक्ष भी है, वह है समता एवं बन्धुत्वपर आधारित सामाजिक दायित्वका निर्वाह। सृष्टिकी सभी वस्तुओंपर जीवधारियोंको अपने भरण-पोषणका अधिकार है। अतएव सौभाग्यसे जो धनी-मानी अथवा साधनसम्पन्न हैं, उनका यह पवित्र नैतिक एवं सामाजिक दायित्व है कि वे निर्धनों और साधनविहीन व्यक्तियोंके जीवननिर्वाहकी भी चिन्ता करें तथा उनके लिये भी जीवनकी मूलभूत आवश्यकताओंकी पूर्तिहेतु समुचित साधनोंकी व्यवस्था करें। तभी तो दान-दक्षिणाकी भारतीय जीवनदर्शनमें इतनी

महिमा है। आवश्यकताओंकी पूर्तिके अतिरिक्त अपने संसाधनोंको दीन-दुःखियों तथा दरिद्रनारायणकी सेवामें लगाना भी तो त्यागमय भोगका ही एक रूप है। अतः त्यागके उच्च भारतीय आदर्शको ध्यानमें रखकर हमें सम्यक् एवं सात्त्विक भोगसे ही सन्तुष्ट रहकर यथासाध्य त्यागमय जीवन बिताना चाहिये। यदि हम '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' के उदात्त वैदिक आदर्शको अपने व्यावहारिक जीवनमें उतारें तो निश्चय ही हमारा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन सुन्दर एवं अनुकरणीय हो जायगा।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि भारतीय धर्म एवं जीवनदर्शनका लक्ष्य दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा निरतिशय, अखण्ड एवं अनन्त आनन्दकी प्राप्ति है। शाश्वत आनन्दकी उपलब्धि सबका एकमात्र उद्देश्य है। ऐसा आनन्द ही ब्रह्म है। यथा—'**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६।१)। वैदिक वाङ्मय एवं भारतीय संस्कृतिमें भोग तथा त्यागका अद्भुत समन्वय पाया जाता है। मानवजीवनके इन दोनों अनिवार्य पक्षोंका जितना सुन्दर सामंजस्य भारतीय जीवनदर्शनमें पाया जाता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। जीवनकी समग्रता, सार्थकता तथा सफलताका सारभूततत्त्व हमारे वैदिक साहित्यमें परिलक्षित है, जिसका व्यावहारिक जीवनमें अनुपालनकर हम व्यष्टि एवं समष्टि—दोनोंके चरमोत्कर्षतक पहुँच सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें सम्पूर्ण जगत्‌को वासुदेवके रूपमें देखनेवालोंको सुदुर्लभ महात्मा बताया है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**' (गीता ७।१९) गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इसी उच्चादर्शको ध्यानमें रखकर कहा है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(रा०च०मा० ७।११२ (ख))

तो यदि हमें मानवजीवनके विकासक्रमको चरम परिणतितक पहुँचकर अपने चरम एवं परम लक्ष्य अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति करनी है तो हमें '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' अर्थात् भोग एवं त्यागका सुखद समन्वय व्यावहारिक रूपमें करना होगा। साथ-ही-साथ प्राणिमात्रके कल्याणकी भी हार्दिक कामनाको विकसित करना होगा। तभी तो हमारे मनीषियोंने उद्घोषणा की है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अर्थात् हे प्रभो! न तो मुझे राज्य-सुखकी कामना है और न ही स्वर्गप्राप्तिकी अभिलाषा। मैं जन्म लेकर पुनः सांसारिक भोगकी इच्छा भी नहीं करता। मैं तो दुःखसे दग्ध प्राणिमात्रके क्लेशोंका निवारण करना चाहता हूँ।

जीवनमें आचारकी सर्वश्रेष्ठता

(प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम', एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

मनुष्यको समस्त प्राणियोंमें सर्वोत्कृष्ट माननेका मूल कारण है आचार। उसीके सुदृढ़ आधारपर वह अपने जीवनका सम्यक् विकास कर सकता है। निःसन्देह तनको संयमित, मनको नियन्त्रित, हृदयको परिशुद्ध, ज्ञानको निर्मल तथा भक्तिको अविचल बनानेमें सबसे प्रमुख भूमिका होती है आचारकी। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह सत्य सबके सामने उजागर हो जायगा कि समाजमें प्रत्येक व्यक्तिका आचारवान् होना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि तभी सभी पृथ्वीवासियोंके बीच कल्याणकारी प्रशस्त कर्मोंका समुचित प्रसार किया जा सकता है।

आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि॥

(ऋक्० १०।६५।११)

सचमुच, आदर्श जीवनचर्या अर्थात् शास्त्रनिर्दिष्ट करणीय कर्मोंके सुचारु संचालनमें ही निहित है मानवजीवनकी सच्ची सफलता तथा सार्थकता। पावन चरित्रके प्रोज्ज्वल प्रकाशमें प्रशस्ततम कर्मद्वारा ही श्रेष्ठताका शाश्वत प्रतिमान स्थापित किया जा सकता है—'**इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व**' (शु०यजु० १।१)।

ध्यातव्य है कि जीवनचर्याके ठीक रहनेसे—सुव्यवस्थित ढंगसे जीवन-यापन करनेसे व्यक्तिमें अपने-आप शिष्टता आ जाती है, सत्यका प्रकाश मिलने लगता है, समयके महत्त्वको समझनेकी शक्ति जाग उठती है, त्यागमयताकी दिव्य भावना विकसित होती है और सहज-स्वाभाविक

रूपमें समग्र संसारसे आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लेनेकी तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत् हो जाती है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

(अथर्व० १२।१।१)

सत्यतः सर्वहित सदाचारपर समाश्रित है। नैतिक दायित्वचेतनासे अनुप्राणित होनेपर ही मनुष्य सत्कर्म और परोपकारकी ओर अग्रसर हो पाता है—'**क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः॥**' (ऋक्० १०।६४।७)। इस महदुद्देश्यकी पूर्तिके लिये भारत आदिकालसे ही सम्पूर्ण विश्वको सदाचारोन्मुख बनानेका स्तुत्य प्रयास करता रहा है—

'**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' (ऋक्० ९।६३।५)।

संस्कार-निर्माणका ऐसा व्यापक एवं प्रभावक अभियान अन्यत्र नहीं देखा-सुना गया। भारतवासी आज भी ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर भगवान् सूर्यनारायणसे प्रार्थना करते हैं—'**ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥**' (ऋक्० ५।८२।५) अर्थात् संसारसे सभी प्रकारकी बुराइयाँ नष्ट हो जायँ और सबका जीवन मंगलमय रहे। यह है जीवनचर्याका अक्षय आलोक, जो मानवताको सदा-सर्वदा सत्पथ दिखलाता रहेगा।

ज्ञातव्य है कि श्रेष्ठ आचारवान् ही आर्यकी संज्ञासे अभिहित होता है। आर्यकी व्युत्पत्ति है—'**अर्तुं प्राप्तुं वा योग्यः आर्यः**' तात्पर्य यह है कि जिसका जीवन आचारादर्शके अनुसार संचालित होता है, वही सही अर्थमें आर्य कहलानेका वास्तविक गौरव प्राप्त करता है—'**कर्तव्यमाचरन् कर्ममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्राकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः**' (सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह)

जीवनचर्याकी महत्ताके सम्बन्धमें विश्वविश्रुत समाजचिन्तक तथा मानवमूल्योंके अप्रतिम प्रतिष्ठापक महर्षि मनुकी अवधारणा यह रही कि यद्यपि सत्य और ज्ञानका महत्त्व अतुलनीय है तथापि इन दोनोंसे आचार श्रेष्ठ है—

'**विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः।**'

(मनुस्मृति २।१)

वेदादि-विहित कर्मोंका निष्ठापूर्वक पालन सुसंस्कृत जीवनका अन्यतम निदर्शन है। जीवनचर्याकी अनिवार्यता तथा उपादेयताको ध्यानमें रखकर महर्षि पतंजलिने नकारात्मक एवं सकारात्मक रूपोंमें अकरणीय और करणीय कर्मोंका विश्लेषण किया, जो यम-नियमके नामसे विख्यात हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन, साधनपाद २।३०, ३२)

अर्थात् अनुचित कर्मोंसे दूर रहना यम है। जैसे, किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाना, झूठ नहीं बोलना, चोरी-बेईमानी नहीं करना, मन-वाणी-शरीर आदिका नियन्त्रण नहीं खोना, स्वार्थ-मोहमें पड़कर पदार्थोंका संग्रह नहीं करना आदि। नियमसे अभिप्राय है उचित-अपेक्षित कर्मोंका निष्पादन। यथा—तन, मन, हृदयको पूर्णतया शुद्ध रखना, सात्त्विक भोजन करना, प्रसन्न रहते हुए मनोबलको सुदृढ़ बनाना, कठिन परिश्रम करना, सद्ग्रन्थोंको पढ़ना, ईश्वरमें पूर्ण आस्था रखना आदि। आचार-संहिताके अनुपालनके आधारपर ही अश्वपतिने ऋषियोंके समक्ष कहा था कि मेरे राज्यमें कोई भी दुराचारी, अत्याचारी, व्यभिचारी, चोर, शराबी, मूर्ख, नास्तिक नहीं है—'**न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।**' (छान्दोग्य० ५।११।५)

आचारवान् प्रकृत्या भगवद्भक्त होता है। वह जानता है कि भगवत्कृपाके बिना कोई भी सत्कर्म सम्भव नहीं—'**न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चन**' (ऋक्० १०।११२।९)। इसमें सन्देह नहीं कि जो आचारको महत्त्व नहीं देता, वह जीवनके परम लक्ष्य—भगवत्प्राप्तिको कभी समझ ही नहीं सकता—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो**' (मुण्डकोपनिषद् ३।२।४)।

जीवनचर्याकी उपेक्षासे मानव-जीवनका सद्विकास तो हो ही नहीं सकता, उसकी वास्तविक पहचान भी विनष्ट हो जायगी। आचारविहीन मनुष्यका स्वरूप अधमाधम पशुके स्वरूपसे भी अधिक विकृत दिखायी पड़ने लगेगा, इसमें सन्देह नहीं। सच तो यह है कि यम-नियमके प्रति पूर्ण सतर्कता नहीं बरतनेसे सत्य, त्याग तथा स्वाभिमानका तेज द्रुत गतिसे घटने लगता है, सत्प्रकाश फैलानेवाला ज्ञान अज्ञान अर्थात् अन्धकारका सहचर बन जाता है और भक्ति भटकावकी स्थितिमें आ जाती है। इस प्रकार मनुष्यका जीवन पुण्य-निकेतनके बदले पापका आगार बनकर रह जाता है। फिर तो आचारभ्रष्टको वेद

भी पवित्र नहीं करते—

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'

(विष्णुधर्मो० ३। २५१। ५)

दायित्वचेतनाका होना मानव कहलानेका प्रथम लक्षण है, परंतु इसके लिये पहले दिनचर्याका अनुपालन परम अपेक्षित है। संस्कारके अभावमें मनुष्य पूर्णतया स्वार्थ-संकुल बना रहता है। ऐसी स्थितिमें वह उदारता तथा परोपकारिताका परिचय कथमपि नहीं दे सकता। स्वार्थान्ध हो जानेके कारण उसे उचित-अनुचित साधनोंमें अन्तर भी नहीं दिखायी पड़ता। वह सर्वथा विवेकशून्य हो जाता है। उसका जीवन और उसके द्वारा अर्जित धन न तो इस लोकमें सफल-सार्थक हो पाता है और न ही परलोकमें—

अन्यायोपार्जितेनैव द्रव्येन सुकृतं कृतम्।
न कीर्तिरिह लोके च परलोके च तत्फलम्॥

(श्रीमद्देवीभा० ३। १२। ८)

सचमुच संस्कारसम्पन्नताके साथ हितकारिताकी भावनासे अनुप्राणित होकर विवेकसम्मत ऐसा शुभ आचरण करना चाहिये, जिससे धरा धन्य हो जाय, कुलका मान बढ़े, माँको अपनी सन्तानपर गर्व हो—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिं-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कौमार० ५५। १४०)

आचरणके इसी आदर्शको शाश्वतरूपमें प्रतिष्ठापित करनेके अभिप्रायसे जीवनचर्याके मूर्तिमान्‌रूप भगवान् श्रीरामने केवल मर्यादित कर्मको निष्पादित करनेका अमित सन्देश दिया—**'कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्'** (वा०रा० २। १०९। २८)। महर्षि गौतमका यह मत निर्विवादरूपसे मान्य है कि शुद्धाचरणसे आत्मसंस्कार होता रहता है और मनुष्य कुप्रवृत्तियोंकी ओर कभी आकृष्ट नहीं होता—**'आत्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः'** (न्यायदर्शन ४। २। ४६)। तत्त्वतः भौतिकताकी अपेक्षा आध्यात्मिकताको अधिक महत्त्व देना ही आचारवान् और ज्ञानवान् होनेका सबसे बड़ा प्रमाण है—**'श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते'** (कठोपनिषद् १। २। २)। फिर किस कार्यको उचित माना जाय और किस कार्यको अनुचित कहा जाय, इसका निर्णय शास्त्रद्वारा ही हो सकता है—**'शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि'** (गीता १६। २४)। भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सार्वकालिक और सार्वदेशिक रूपमें मान्य है।

सम्प्रति संसारके समक्ष सबसे बड़ा संकट है सच्चरित्रताका अभाव। यह निश्चय ही जीवनचर्याका पालन नहीं करनेका दुष्परिणाम है। समाजमें चारित्र्यके प्रति प्रचेष्ट रहनेका विचार गौण पड़ गया है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'** (छान्दोग्य० ७। २६। २)-जैसे महान् एवं परमोपयोगी सिद्धान्तोंमें अधिकांश लोगोंकी रुचि नहीं रह गयी है। अर्थशुचिता—**'सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्'** (मनुस्मृति ५। १०६) व्यापक अर्थलोलुपताका अपवाद बनकर रह गयी है। अनुचित कार्य न करनेका संकल्प—**'कृधी नो अह्रयो देव सवितः'** (ऋक्० १०। ९३। ९) भूलकर आचरणभ्रष्ट नेतृत्वके नामपर भ्रष्टाचारको प्रश्रय दे रहे हैं—**'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** (कठोपनिषद् १। २। ५) कैसी विडम्बना है यह, संस्कारच्युत हो जानेपर पतन तथा विनाश अवश्यम्भावी है—**'संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्'** (वैशेषिकदर्शन ५। १। ७)। इसलिये जीवनको संस्कार-समन्वित रखनेके लिये सदाचारका अनुपालन अपरिहार्य है।

भारतीय जीवनपद्धतिमें पृथ्वी और अन्तरिक्षसे लेकर आकाशतकको स्वच्छ, शुद्ध, शान्त, सात्त्विक और सद्भावपरिपूरित बनाये रखनेका स्पष्ट निर्देश है—किसी भी रूपमें पृथ्वीको पीड़ा मत दो—**'पृथिवीं मा हिꣳसीः'** (शुक्लयजु० १३। १८), अन्तरिक्षको दूषित मत करो **'अन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान्'** (ऋक्० १०। ५३। ५), आकाशको क्षति पहुँचानेसे बचो **'दिवं मा पप्तः'** (शुक्लयजु० १। २६), यह है जीवनचर्याका व्यापक आयाम, परिष्कृत जीवनका स्वस्थ दृष्टिकोण।

अस्तु, आवश्यकता है अपने आचार-व्यवहारको मर्यादित रखनेकी; शिष्ट, सरल, स्वाभिमानी, सत्यवादी, नैतिक, ईमानदार, परोपकारी और भगवद्भक्त बने रहने की, जिससे सही अर्थमें मानव-जीवनकी उत्कृष्टताका अनुभव होता रहे।

'मनुर्भव'—मनुष्य बनो

(श्रीरामाश्रयप्रसादसिंहजी)

ऋग्वेदका एक श्रेष्ठ मन्त्र है—'**मनुर्भव**' अर्थात् मनुष्य बनो। प्रश्न उठता है कि क्या हम मनुष्य नहीं हैं? हमारा शरीर मनुष्यका ही शरीर है और हम मानवरूपमें ही सर्वविदित और सर्वख्यात हैं, फिर वह कौन-सा कारण है कि वैदिक ऋषि कहते हैं कि 'मनुष्य बनो'—'**मनुर्भव**' (ऋक्० १०।५३।६)। शिष्योंके द्वारा जिज्ञासा व्यक्त करनेपर ऋषिने कहा कि मानवका तन पाकर भी मानव मानव नहीं बनता। केवल मनुष्ययोनि मिल जानेसे ही हम मनुष्य नहीं बन पाते। मानवका गुण होनेसे और मानवका आचरण करनेसे ही हम मनुष्य कहला सकते हैं। आइये, हम विचार करें कि हम सचमुच मनुष्य हैं कि नहीं! क्या हमारे बीच मानवताके अपेक्षित गुण हैं?

वेदोंमें उदात्त विचार हैं। वेदोंकी भाषा प्रतीकमयी है। उनमें प्रयुक्त शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं। उनकी भाषा प्रांजल, रहस्यमयी और संयत है। ऋग्वेदके विचार, उसकी कल्पना, उसकी भाषा—ये सभी मानवको सच्चे अर्थमें मानव बनानेवाले हैं। इस प्रकार वेदोंमें मानवोंके लिये सब कुछ उदात्त है, श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ है, ऊँचा ही ऊँचा है। हम वेदोंका नियमित स्वाध्याय करेंगे, ऋषियों, मुनियों और विपश्चित् विप्रोंके अनुभवोंका आकलन करेंगे तो हम पशुता और राक्षसताकी काराको तोड़कर देवत्वकी दिशामें, शुभ्रता और शिवताकी दिशामें अग्रसर होंगे। हम स्वार्थसे परार्थकी ओर और परार्थसे परमार्थकी ओर बढ़ेंगे। सचमुच वेदोंमें आध्यात्मिक अनुभूतियोंका भण्डार है। मानव-मनको संयत करने, प्राणोंको सबल बनाने, बुद्धिको पवित्र करने और ऋतंभरा प्रज्ञाको परमात्माके समीप पहुँचाने तथा ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके श्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभव वेदोंमें भरे पड़े हैं।

आज अपना यह महान् राष्ट्र एक संक्रमणकालीन स्थितिसे होकर गुजर रहा है। प्राचीन और नवीनके बीच, पूर्व और पश्चिमके बीच तुमुल संघर्ष छिड़ा हुआ है। पग-पगपर वैचारिक टकराहट है। नवीनताके आत्यन्तिक आग्रहने हमारे आर्य-जीवनके सारे प्राचीन मूल्योंके समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है। जीवन और जगत्-सम्बन्धी जो भी हमारे प्राचीन मूल्य हैं, वे ठिठके खड़े हैं। पश्चिमकी आयातित संस्कृति और सभ्यताकी चकाचौंधने हमारे 'स्व' को ही निगल लिया है। हम अति अनुकरणप्रिय हो गये हैं। भोगके पीछे, अर्थ-संग्रहके पीछे, ऐश-आराम और उपभोक्तावादी सभ्यता-संस्कृतिके पीछे आज हर भारतीय पागल बनकर दौड़ रहा है। इस दौड़में उसने अपना विवेक खो दिया है, नीति और धर्मको अपने जीवनसे हटा दिया है और संयम तथा मर्यादाको उसने लातसे ठोकर मारकर दूर भगा दिया है। वह मनुष्यके गौरवमय एवं मर्यादामय स्थानसे हटकर पशुता और दानवताकी दिशामें चला गया है।

हमारे पूज्यचरण ऋषियों और विपश्चित् विप्रोंने अच्छाई और बुराईकी परखकर जीवनके लिये कुछ श्रेष्ठ मूल्य निर्धारित किये थे, कुछ बहुमूल्य निष्कर्ष निकाले थे। पशुत्व और असुरत्व—दोनोंसे ऊपर और ऊँचा उठकर उन्होंने दिव्यत्व एवं शिवत्वको ही मानव-जीवनका लक्ष्य निर्धारित किया था। बाह्य प्रसार और आन्तरिक विकास—दोनोंको आर्यसंस्कृति अर्थात् हिन्दू-संस्कृतिमें समान महत्त्व दिया गया था। कथनी और करनी, सिद्धान्त और आचरण दोनोंको मिलाकर मानवकी संज्ञाको चरितार्थ किया गया था। पर आज परमार्थ और परार्थको छोड़कर हम स्वार्थ और संग्रहको ही महत्त्व देने लगे हैं। परिणाम यह हुआ है कि हमारा 'मानुषभाव' नीचे दब गया है और पशुभाव तथा आसुरभाव उभरकर सामने आ गया है। भारतवर्षकी महीयसी भूमिकी श्रेष्ठ चिन्तन-परम्पराको लात मारकर तथाकथित धर्मनिरपेक्ष भारतके नामपर पश्चिमकी आयातित सभ्यता-संस्कृतिको ओढ़कर हम अपनेको प्रगतिशील एवं अति आधुनिक बननेके मोहमें पड़कर पशु और दानव बन गये हैं। 'अनुजा और तनुजा' तकको भोगकी सामग्री बनानेवाली यह तथाकथित नयी एवं विकृत सभ्यता हमारे 'मानुषभाव' को बड़ी निर्दयतासे कुचल रही है। आजकी स्थितिको देखकर इस वेद-मन्त्र '**मनुर्भव**' की सार्थकता सिद्ध होती है। वेदवाणी हमारे लिये आँख है—'**वेदः चक्षुः सनातनम्।**' मनुजीने हमारे लिये वेदोंके सिद्धान्तोंके अनुसार चलनेका निर्देश दिया। अतएव इस वेदवाणीके अनुरूप हमें मनुष्योचित आचरण ही करना चाहिये।

ऋषि क्रान्तदर्शी थे। वे जानते थे कि मानवका कलेवर पाकर भी संयम, नीति, विवेक, आचरण और मर्यादाके अभावमें मनुष्य दुर्दान्त दानव और हिंस्र पशु बन सकता है। इसीलिये हमारे ऋषियोंने आचारको परमधर्म माना—'**आचारः परमो धर्मः।**' हमारी सनातन संस्कृति सबसे अधिक आचार और विचारको महत्त्व देती है। संयम, शील और सदाचारकी पावन त्रिवेणी धारामें स्नानकर ही मानव सच्चे अर्थमें मनुष्य बनता है। हमारे यहाँ मनुष्य बननेके लिये सोलह संस्कार निर्धारित किये गये हैं। ये सोलह संस्कार मानवके निर्माणके श्रेष्ठ साधन हैं। गर्भाधानसे लेकर अन्ततक इन संस्कारोंकी आगमें तपकर ही मानव स्वर्णकी भाँति निखरता था। जैसे आग कूड़े-करकटको जला देती है, वैसे ही तप, संयम और सोलह संस्कारोंकी आगमें तपकर ही मानव श्रेष्ठ मानवकी संज्ञा पाता है। पर आज तप, संयम और संस्कारोंकी उपेक्षा हो रही है। आज अपने महनीय राष्ट्रमें परकीय-भाव छाया है। हमने अपना 'स्व' तथा 'स्वाभिमान' समाप्त कर दिया है। एक विजातीय सभ्यता-संस्कृतिको हमने ऊपरसे ओढ़ लिया है। हम अपनी संस्कृति-यात्रामें पग-पगपर विजातीय संस्कृति-सभ्यतासे इतने प्रभावित हो गये हैं कि हमारा जो भी मूल्यवान् एवं महार्घ है, जो भी श्रेष्ठ, ज्येष्ठ और प्रेष्ठ है, वह मूल्यहीन और निकृष्ट लगता है। हम इतने नीचे उतर गये हैं कि पशुता भी हमारे सामने बौनी लगती है। ऐसी दयनीय स्थितिमें यह वेद-मन्त्र-'**मनुर्भव**' बड़ा प्रासंगिक है।

हमने धर्ममय जीवन जीनेका व्रत लिया था। धर्म ही परम-मंगलका साधन है। इसे ही परम सद्गुण (Highest Virtue) कहा जाता है। वेदोंमें लिखा गया है कि ऋत और धर्मके साँचेमें यह मानवी सृष्टि सृजित है। धर्म और ऋतके पालनसे आत्माका विकास और परिष्कार होता है। धर्म जीवनको सही दिशा देता है, गन्तव्यका सही पता देता है। धर्म वासनाओंके प्रवाहको रोकता है, उन्हें नियन्त्रित करता है और मनुष्यको मनुष्य बनाता है; दिव्यत्व, शुचित्व एवं श्रेष्ठत्वसे युक्त बनाता है। धर्म मनुष्यको निष्ठावान् और आचारवान् बनाता है, मानवको चरित्रवान् बनाता है और उसे संस्कारी भी बनाता है। धर्म हमारे अन्दर नैतिक शक्ति प्रदान करता है। आचार तथा विचारसे मानव दिव्यत्वको प्राप्त करता है। धर्म हमारे जीवनको बाहर और भीतर दोनों ओरसे समृद्ध करता है। तेज, ओज, वर्चस्व, शुद्धि और पावित्र्यसे युक्त होकर धर्म मनुष्य-जीवनको देवत्व, दिव्यत्व और शुभत्वकी दिशामें ले चलता है। धर्म हमें सरल, सात्त्विक और संयमित जीवन जीनेकी शक्ति प्रदान करता है। इसीलिये ऋग्वेदके ऋषिने कहा था—'**मनुर्भव**'।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भी एक स्थलपर कहा है कि हमारा बाह्य जीवन सरल तथा आन्तरिक जीवन समृद्ध होना चाहिये—"Let our life be Simple in its outer aspect and rich in its inner gain." वैदिक ऋषिने जब कहा था कि मनुष्य बनो—'**मनुर्भव**', तब उन्होंने यही सोचा होगा कि हम बाहर और भीतर—सर्वत्र सरल, संयमित और समृद्ध हों। उन्होंने केवल मनुष्य बननेकी सीख दी। यह नहीं कहा कि कोई पदाधिकारी बनो या नेता बनो। उन्होंने केवल मानव बननेका सन्देश दिया। केवल मनुष्य बन जानेसे हमारे जीवनका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार जलका गुण है शीतलता, अग्निका धर्म है उष्णता, पृथ्वीका धर्म है सहिष्णुता, उसी प्रकार मानवका धर्म है मानवता और दिव्यता।

आज अपने महान् राष्ट्रमें सर्वत्र गिरावट आ गयी है। जीवनका प्रत्येक क्षेत्र भ्रष्टाचारकी गंगोत्री बन गया है। हमारा 'मानुषभाव' समाप्त होता चला जा रहा है। दया, करुणा, क्षमा, अहिंसा, स्नेह, आस्था, विश्वास, विवेक, श्रद्धा, शील आदि भाव हमारे जीवनसे विदा हो रहे हैं। ऐसी स्थितिमें हमें एक बार गहराईमें जाकर सोचना है कि आज हमारी जो दयनीय और शोचनीय स्थिति आयी है, इसका कारण क्या है? आज हमें वेद-वाणीके आलोकमें सोचना है कि हमें केवल मनुष्य-शरीर पा लेनेसे ही सन्तोष नहीं करना है। हमें शब्दके सच्चे अर्थमें मनुष्य बनना है और हम मनुष्य तभी बन सकते हैं, जब हम अपने प्राचीन मूल्यों और मर्यादाओंको अपने जीवनमें उतारें और उनके आलोकमें अपना आचरण करें। हम '**मनुर्भव**' का पावन संकल्प दुहराते हुए मानवकी सही और शुभ यात्राकी आकांक्षा करें। यही है '**मनुर्भव**' का तात्पर्य, अर्थ और उद्देश्य।

पृथ्वीको धारण करनेवाले सात तत्त्व और जीवनचर्यामें उनका महत्त्व

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

'गौ, ब्राह्मण, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभी और दानशील—इन सातने पृथ्वीको धारण कर रखा है।'

भारतीय जीवनचर्यामें इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ संक्षेपमें इनकी महिमा निरूपित की जा रही है—

गौ—गायका आध्यात्मिक रूप तो पृथ्वी है ही, प्रत्यक्षरूपमें भी उसने पृथ्वीको धारण कर रखा है। समस्त मानव-जातिको किसी-न-किसी प्रकारसे गौके द्वारा जीवन तथा पोषण प्राप्त होता है। प्राचीन कालके यज्ञोंमें घृतकी प्रधानता थी। अब भी दैव-पित्र्य आदि समस्त कार्य घृतसे ही सुसम्पन्न होते हैं। दुर्भाग्य है कि आज गोघृतके बदले नकली घी हमारे घरोंमें आ गया है। गाय दूध, दही, घी, गोबर, गोमूत्र देती है। उसके बछड़े बैल बनकर सब प्रकारके अन्न, कपास, सन, तिलहन आदि उत्पन्न करते हैं। दुःखकी बात है कि हमारी जीवनस्वरूपा वह गौ आज गोरक्षक भारतवर्षमें प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें कट रही है। अतः आज आवश्यक है कि हम गौका संरक्षण करें और उसकी सेवाको अपनी जीवनचर्याका अभिन्न अंग बनायें।

विप्र—पता नहीं, किस अतीतकालसे ब्राह्मणने त्यागमय जीवन बिताकर विद्योपार्जन तथा विद्या-वितरणका महान् कार्य आरम्भ किया था, जो किसी-न-किसी रूपमें अबतक चल रहा है। ब्राह्मणने पृथ्वीके लोगोंको ज्ञानके प्रकाशका दान न दिया होता तो वे सर्वथा अज्ञानान्धकारमें पड़े रहते, अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि वह अपनी जीवनचर्यामें इनके प्रति कृतज्ञ भाव रखे।

वेद—परमात्माके यथार्थ ज्ञान या ज्ञान करानेवाले ईश्वरीय वचनोंका नाम वेद है। यह वेद अनादि है। वेदमें समस्त ज्ञान भरा है। इतिहास-पुराणादि भी उसीके अनुवाद हैं। जीवनचर्याकी अंगभूत समस्त कर्मपद्धतियाँ तथा संस्कार एवं ज्यौतिष आदि सभीका उद्‌गम-स्थान वेद ही है। वस्तुतः गौ, विप्र और वेद—ये तीनों ही एक-दूसरेमें अनुस्यूत हैं—

गावो विप्राश्च वेदाश्च कुलमेकं द्विधा कृतम्।
एकतो वर्तते मन्त्रो हविरेकत्र तिष्ठति॥

सती—सती स्त्रियाँ पृथ्वीकी दृढ़ स्तम्भरूपा हैं। सतियोंके त्याग, तेज, प्रतापसे मानवको बड़ा विलक्षण सात्त्विक बल मिलता रहा है और अब भी मिल रहा है। सतीकी स्मृति ही पुण्यदायिनी है। नारियोंके लिये पातिव्रत और पुरुषोंके लिये एकपत्नीव्रत भारतीय जीवनचर्याका एक गरिमामय अंग है। सतियोंकी पवित्र संतानसे ही लोकका संरक्षण, अभ्युदय तथा पुण्यजीवन होता है।

सत्यवादी—जगत्‌का सारा व्यवहार सत्यपर आधारित है। झूठ बोलनेवाले भी सत्यकी महिमा स्वीकार करते हैं। सत्य भगवान्‌का स्वरूप है। इस सत्यको स्वीकार करके सत्यभाषणपरायण पुरुषोंने अपनी जीवनचर्यासे जगत्‌के मानवोंके सामने एक महान् आदर्श रखा, सत्यसम्पन्न जीवनचर्या जीवनको सरल, शुद्ध तथा शक्तिशाली बनानेमें भी सहायता करती है। झूठ भ्रमवश पनपता भले ही दीखे, अन्तमें विजय सत्यकी ही होती है। सत्य तथा सत्यवादियोंके द्वारा उपजाये हुए विश्वासपर ही जगत्‌के व्यवहार टिके हैं। जबतक जगत्‌में सत्यवादी मानवोंका अस्तित्व बना रहेगा—चाहे वे थोड़े ही हों, तबतक जगत्‌की स्थिति रहेगी।

निर्लोभी—पापका बाप लोभ है। लोभके कारण ही विविध प्रकारके नये-नये दुर्गुण, दोष तथा पाप उत्पन्न होते हैं तथा परिणाममें महान् संतापकी प्राप्ति होती है। चोरी, बेईमानी, चोरबाजारी, घूसखोरी, डकैती, ठगी, लूट, वस्तुओंमें मिलावट आदि चरित्रको भ्रष्ट करनेवाले सारे अपराधोंका मूल लोभ ही है, अतः मनुष्यको अपनी जीवनचर्यामें इससे बचना चाहिये। लोभी मानव स्वयं सदा अशान्त तथा दुःखी रहता है और सबको दुःखी बनाता है। वह पृथ्वीके सद्‌गुणोंका उच्छेदक है। इसके विपरीत जो लोभहीन है, वही सच्चा मानव समस्त दुर्गुणों, दोषों तथा पापोंसे स्वयं बचता तथा सबको बचाता हुआ मानवताका विकास, संरक्षण तथा संवर्धन करता है—इस प्रकार वह पृथ्वीको धारण करता है।

दानशील—सारी सुख-शान्तिका मूल प्रेम है तथा प्रेमका मूल त्याग है। दानमें त्यागकी प्रधानता है। जो मानव अपने धन, विद्या, कुशलता, ज्ञान एवं अन्य साधन-

सामग्रीका परार्थ उत्सर्ग—दान करता है, वही दानशील है। ऐसा दानशील मानव लोभ, कृपणता, परिग्रहवृत्ति आदिका नाश करता है, लोगोंमें परस्पर सेवा-सहायताकी भावना जाग्रत् रखता है। दानसे वस्तुतः पवित्र सर्जन तथा निर्माणका कार्य सम्पन्न होता है। देनेकी प्रवृत्ति जगत्में बढ़ती है। उदारताका विस्तार होता है, अतः मनुष्यको
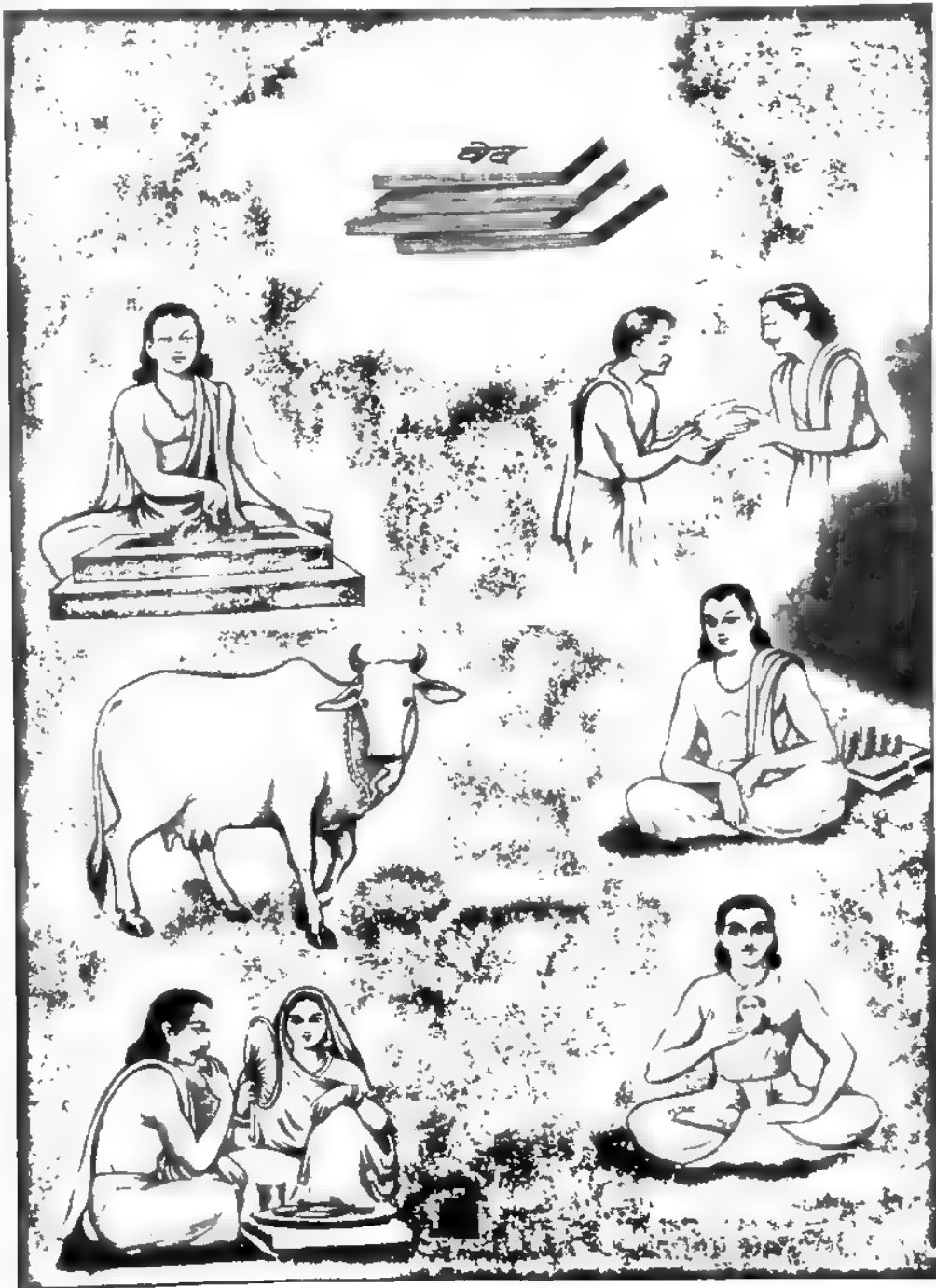
अपनी जीवनचर्यामें दानशीलताको स्थान देना चाहिये; क्योंकि दान इहलोकमें कीर्तिकर और परलोकमें कल्याणकारी है। इस प्रकार दानशील पुरुष पृथ्वीको धारण करता है।

अतएव मानवमात्रका यह कर्तव्य है कि वह अपनी जीवनचर्यामें इन सातों तत्त्वोंको महत्त्व देते हुए उन्हें जीवनमें धारण करे। ये सात तत्त्व नरको नारायण बनानेवाले हैं। इन सातके द्वारा ही पृथ्वी विधृत है, निरालम्ब अन्तरिक्षमें टिकी है।

जीवनचर्याकी सफलताका प्रथम सोपान—दिनचर्या

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०, डी०एस सी०)

दिनचर्याका शास्त्रीय निदेशानुसार पालन जीवनचर्याको सुनियोजित करने तथा स्वयंको उन्नतिके सोपानपर आरूढ करनेका अमोघ उपाय है। शास्त्रोंमें दिनचर्या कैसी होनी चाहिये, इस सम्बन्धमें कहा है कि दिनचर्या घड़ीकी सूईकी भाँति इस प्रकार परिचालित होनी चाहिये, जिससे सब कार्य यथासमय सम्पादित हों और स्वाध्याय, सेवा (जीवनयापनवृत्ति)-के लिये पर्याप्त समय सुलभ हो सके।

दिनचर्याका आरम्भ प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें जागनेसे होता है। रात्रिके अन्तिम प्रहरके तीसरे भागको अर्थात् प्रातः लगभग चार बजेकी वेलाको ब्राह्ममुहूर्त कहा गया है—

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः सः प्रबोधने॥

यह समय जागनेके लिये इसलिये प्रशस्त माना गया है कि इस समय वातावरणको प्रभावित करनेवाली दुष्प्रवृत्तियाँ सोयी रहती हैं। वातावरण पूर्णतः निर्मल, शान्त एवं एकाग्र होनेसे अनुकूल होता है। यही नहीं, आयुर्वेदके अनुसार ब्राह्ममुहूर्तमें जागनेपर व्यक्तिको शारीरिक कान्ति, यश, लक्ष्मी, बुद्धि, दीर्घायु, स्वास्थ्य आदिकी प्राप्ति सहज ही सुलभ हो जाती है—

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।
ब्राह्मे मुहूर्ते संजाग्रच्छ्रियं वा पङ्कजं यथा॥

इसके विपरीत जो व्यक्ति सूर्योदयपर्यन्त सोता रहता है, उसको उपर्युक्त सभी लाभोंसे वंचित हो दरिद्र बनकर जीवन बिताना पड़ता है। आचार्य चक्रदत्तने लिखा है—

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं
बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते शयानं
विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः॥

अर्थात् मैले वस्त्र पहननेवाले, दन्तधावन न करनेवाले, बहुत खानेवाले, कठोर बोलनेवाले, सूर्योदय-सूर्यास्तके समय सोनेवाले व्यक्तिको, भले ही वह स्वयं श्रीमन्नारायण ही क्यों न हो, लक्ष्मी (श्री, सम्पद्) त्याग देती है अर्थात् न मुखपर कान्ति रहती है, न घरमें पैसा।

प्रातः जागनेके पश्चात् आगत-अनागत विपदाओंको दूर भगाने, भाग्योदय, सुखद दिन बिताने आदिके लिये अपने इष्टदेवका स्मरण, पुण्यश्लोक महापुरुषोंका पावन स्मरण, पग-पगपर जीवनको प्रभावित करनेवाले नवग्रहोंका स्मरण स्तवनपूर्वक किया जाता है। भगवान् मनुका निर्देश है—

'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।'

इसके पश्चात् आरम्भ होती है अभिवादन-क्रिया। इस प्रक्रियामें सर्वप्रथम दक्षिण करके अग्रभागमें धनदा भगवती लक्ष्मी, करमध्यमें बुद्धि-विवेकदात्री भगवती सरस्वती तथा करमूलमें चारों पुरुषार्थ-सिद्धिकी क्षमता प्रदान करनेवाले गोविन्दकी भावना करते हुए करदर्शन करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम्॥

सांसारिक सभी भले-बुरे कार्य हाथोंद्वारा ही सम्पादित होते हैं। चतुर्विध पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कुंजी हाथको ही विद्वानोंने माना है और स्पष्ट कहा है—मानव-जीवनकी सफलताके लिये तीन वस्तुएँ अनिवार्यतः अपेक्षित हैं—धन, ज्ञान और ईश्वर। इनमेंसे एकके बिना भी जीवन अधूरा है। संसारमें धनके बिना सुखद जीवन नहीं बिताया जा सकता, कहा गया है—अर्थ बिना सब व्यर्थ। ज्ञानहीन व्यक्ति पशुतुल्य और कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय लेनेमें असमर्थ होता है। बिना ईश्वरका कृपाप्रसाद पाये कोई व्यक्ति न किसी कार्यमें सफल होता है, न मोक्षभागी ही बन सकता है।

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

जब एक बार किये प्रणामका इतना महत्त्व है तब आजीवन किये गये प्रणामका क्या परिणाम होता होगा, कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसके पश्चात् पृथ्वीका अभिवादन इस प्रकार करते हैं—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

तब दायाँ पाँव पृथ्वीपर पहले रखना चाहिये।

इसके पश्चात् वेदाज्ञानुसार **मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव** आदि निर्देशोंको ध्यानमें रख—श्री, मंगल, सार्वत्रिक विजय, आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धिके लिये माता-पिता, गुरु आदिको प्रणामकर उनका आशीर्वाद लेना चाहिये; क्योंकि कहा गया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

केवल माता, पिता, गुरु ही नहीं, चराचरात्मक अखिल वैश्विक प्राणियों, उपादानोंको प्रणाम करनेका निर्देश देते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामके माध्यमसे हमें प्रभातवेलामें गुरुजनोंको प्रणाम करनेके लिये प्रेरणा दी है—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

इसके पश्चात् अमंगलके परिहारार्थ मांगलिक वस्तुओंका दर्शन करना चाहिये यथा—

श्रोत्रियं सुभगां गाञ्च अग्निमग्निचितं तथा।
प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भ्यः स विमुच्यते॥

अर्थात् प्रभातवेलामें जो व्यक्ति वेदज्ञ विद्वान्, सौभाग्यवती स्त्री, गौ, अग्नि तथा याज्ञिकका दर्शन करता है, वह सब विपत्तियोंसे मुक्त रहता है।

इसके उपरान्त ऊर्ध्वगामी वायुको अधोगामी बनाने, मलाशयपर दबाव बनानेके लिये सिर और कानोंपर वस्त्र लपेट, शिखा और वस्त्रग्रन्थी (लाँग) खोल, सुखपूर्वक पूर्व या उत्तराभिमुख बैठकर सम्भव हो तो खेत, खुले मैदान आदि स्थानोंमें अथवा जैसी सुविधा हो मल-त्याग करना चाहिये। कहीं यह भी उल्लेख मिलता है कि जगदात्मा सूर्यको दायीं ओर रख प्रातः उत्तर तथा सायंकाल दक्षिणमें मुखकर मल-त्याग करना चाहिये—

शौचे च सुखमासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
शिरः प्रावृत्य कर्णौ च मुक्तकच्छशिखोऽपि वा॥

आज नब्बे प्रतिशत व्यक्ति कोष्ठबद्धतासे पीड़ित हैं। यदि प्रातः मलत्यागसे पूर्व रात्रिमें ताम्रपात्रमें रखा हुआ जल भरपेट पी लिया जाय तो इस समस्यासे छुटकारा पाया जा सकता है। आयुर्वेद कहता है—

निशायां तु पिबेद् दुग्धं निशान्ते शीतलं जलम्।
भोजनान्ते पिबेत्तक्रं किमन्यद् भैषजं नृणाम्॥

अर्थात् रात्रिमें कवोष्ण (गुनगुना) दूध, प्रातःकाल ताम्रपात्रमें रखा शीतल जल तथा भोजनके बाद छाछका सेवन करनेपर किसी अन्य औषधिके सेवनकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

शौच-क्रिया सम्पन्न हो जानेपर दो बार शिश्न, पाँच बार गुदा, दस बार बायें हाथ, सात बार दोनों हाथ शुद्ध मिट्टीसे रगड़कर धोने चाहिये—

द्वे लिङ्गे मृत्तिके देये गुदे पञ्च करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या विड्शौचे मृत्तिकाः स्मृताः॥

इसके उपरान्त करंज, गूलर, आम, कदम्ब, लोध, चम्पक, बेर, नीम, बबूल, खदिर इनमेंसे जो भी सुलभ हो, उसकी अंगुली-प्रमाणसे बारह अंगुलकी कनिष्ठिका अंगुली जितनी मोटी दातून ले, उसे खूब चबा, नर्म कूची बना भली प्रकार बाहर-भीतरसे दाँतोंको रगड़कर साफ करना चाहिये। दाँत साफ करनेके बाद दातूनको बीचमेंसे चीरकर जीभको उन्हीं अर्धभागोंसे साफ करना चाहिये।

दातून करनेके बाद अन्यून तीस कुल्लेकर मुख-शोधन करना चाहिये, तदनन्तर मुखमें जलभर नेत्रोंको जलसे भली प्रकार धोना चाहिये, जिससे उनकी उष्णता शमित होकर नेत्रज्योति बढ़े। यदि सम्भव हो तो त्रिफला-जलसे नेत्र-प्रक्षालन करे—

भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा।
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थं शीतोदकेन वा॥

दिनचर्यामें व्यायामको भी अनिवार्य करणीय कर्म प्रतिपादित किया गया है। शरीरको स्वस्थ एवं स्फूर्तियुक्त रखनेमें इसका अप्रतिम योगदान है। व्यायामसे पुष्ट शरीरपर रोग सहसा आक्रमण नहीं कर पाते। विरुद्ध-आहार भी इससे पच जाता है। यह शैथिल्य, आलस्य, वृद्धावस्था आदिसे भी बचाव करता है। मोटापेको दूर भगाता है। भावप्रकाशमें लिखा है*।

नियमित व्यायाम करनेसे शरीर पुष्ट, अंग कान्तियुक्त और सुडौल हो जाते हैं; जठराग्नि तीव्र हो जाती है तथा निरालस्यकी प्राप्ति होती है। शरीरमें स्फूर्तिका संचार होता है। शरीर भूख, प्यास, धूप, शीत, श्रम, क्लम आदि सहनेका अभ्यस्त हो जाता है। सम्पूर्ण आरोग्यकी प्राप्ति व्यायामद्वारा सुनिश्चित हो जाती है—

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते॥

धर्मानुष्ठानादिकी सिद्धिके लिये शरीरका स्वस्थ, सुपुष्ट होना परमावश्यक है। महाकवि कालिदासने कुमारसम्भव महाकाव्यमें लिखा है—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**' आयुर्वेद भी तार स्वरसे कहता है—'**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्**' तथा '**धीमता तदनुष्ठेयं स्वास्थ्यं येनानुवर्तते**' और इसकी प्राप्तिका साधन है व्यायाम, जिसे दिनचर्यामें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

व्यायामकी भाँति ही दिनचर्यामें तैलमर्दन (मालिश)-को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। आयुर्वेदमें अभ्यंगके लिये घीसे तेलकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—'**घृतादष्टगुणा तैले मर्दने न तु भक्षणे**' अर्थात् मालिशद्वारा प्रयुक्त तेलमें घीकी अपेक्षा आठ गुण अधिक होते हैं, खानेमें नहीं। आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके अनुसार प्रतिदिन तेलकी मालिश करनेसे थकावट, आलस्य, बुढ़ापा आदि सहसा पास नहीं फटकते। रोगोंका उपशमन तथा नेत्रज्योतिकी वृद्धि होती है। शरीर पुष्ट, आयुमें वृद्धि एवं सुखद निद्राका लाभ होता है। मालिशसे त्वचा चिकनी, सुन्दर और मजबूत हो जाती है। सिर, कान और पाँवोंके तलुओंमें विशेषरूपसे मालिश करना प्रशस्त माना गया है—

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्॥

(अ०ह०सू० २।८-९)

शरीरको पूर्णतः निरोग रखनेके लिये वायुकी सर्वाधिक महत्ता है। शरीर त्वक्-छिद्रोंद्वारा वायु ग्रहण करता है। त्वचामें यह शक्ति आती है मालिशद्वारा, अतः स्वास्थ्यकामीको नियमित मालिश करनी चाहिये। महर्षि चरकका कथन है—

स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनञ्च त्वगाश्रितम्।
त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः॥

(च०सं०सू० ५।८७)

कानोंके नीचे अँगूठेसे धीरे-धीरे मालिश करनेसे कानोंमें वातज रोग, बधिरता आदि रोग, फोड़े-फुंसी आदि, हनुस्तम्भ-ठुड्डीकी जकड़न आदि रोगोंके होनेका भय नहीं होता। सिरकी मालिशसे शिरोरोग—शीर्षाघात, कम्पवात, सन्त्रास आदि होनेका भय शिथिल हो जाता है तथा पाँवोंके तलवोंकी मालिशसे नेत्रदृष्टि बढ़ती है, स्नायुतन्त्र मजबूत होता है एवं शरीर बलवान् बनता है—

न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः।
नोच्चैःश्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात्॥

(च०सं०सू० ५।८४)

---

* व्यायामदृढगात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन। विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते॥
भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतादयः। न चैवं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति॥
न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्। स सदा गुणमाधत्ते बलिनां स्निग्धभोजिनाम्॥

मालिशके लिये सरसों, तिल आदिके तेलका प्रयोग उत्तम है।

इसके पश्चात् क्रम आता है स्नानका। दैनन्दिन चर्यामें स्नानका सर्वाधिक महत्त्व है। जबतक हम स्नान नहीं कर लेते तबतक हम द्विज होते हुए भी अन्त्यजवत् रहते हैं। इसे परिलक्षितकर शास्त्रोंमें कहा गया है—'**नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।**' अर्थात् स्नानकर फिर सन्ध्या, तर्पण तथा देवपूजनादि कार्य करने चाहिये।

स्नानद्वारा रोम-छिद्रोंसे निःसृत मलको साफकर शरीरको स्वच्छ बना प्राणोंको तृप्तकर चैतन्यता और स्फूर्ति अर्जित की जाती है। आर्षपद्धतिके अनुसार स्नानके समय गंगादि पावन नदियों, पुष्करादि पुण्यतीर्थों, अयोध्यादि मोक्षदायिका पुरियोंका स्मरण एवं आवाहन करना चाहिये, जिससे उनमें स्नानका फल अनायास सुलभ हो जाय। भगवती गंगाके दर्शनमात्रसे ही मुक्ति मानी गयी है, फिर स्नानसे क्या फल प्राप्त होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि हम स्नान करते समय कहते हैं—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥
पुष्कराद्यानि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा।
आगच्छन्तु महाभागाः स्नानकाले सदा मम॥

क्योंकि—

त्वद्दर्शनान्मुक्तिर्न जाने स्नानजं फलम्॥
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।

यह वाचिक स्मरणमात्र नहीं, अपितु पुण्यभू भारतका अप्रत्यक्ष साक्षात्कार है। स्नान नदियोंमें करना प्रशस्त माना गया है; इसके पश्चात् तालाब, फिर कूपका। आज बढ़ती जनसंख्यावाले नगरोंमें यह सम्भव नहीं, तथापि नलपर ही सही पुण्यतीर्थोंका स्मरणकर भली प्रकार सिरसे आरम्भकर पाँवतक रगड़कर स्नान-क्रिया करनी चाहिये, जिससे शरीर स्वच्छ होकर मनको प्रफुल्लित कर दे। भली प्रकार स्नान करनेपर शरीर हलका हो जाता है, भूख खुलकर लगती है, नींद अच्छी आती है, मलिनताजन्य ग्लानि मिट जाती है, उत्साह और कार्यक्षमता बढ़कर व्यक्तिकी महत्ताको बढ़ा देती है।

स्नानके पश्चात् उपवीत एवं गाँठ लगी शिखासे सम्पन्न व्यक्तिको पवित्र आसनपर बैठकर आह्निक कृत्य-सम्पादनकी दिशामें प्रवृत्त होना चाहिये। गाँठ लगी शिखा एवं सूत्रयुक्त होना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(कात्यायनस्मृति १। ४)
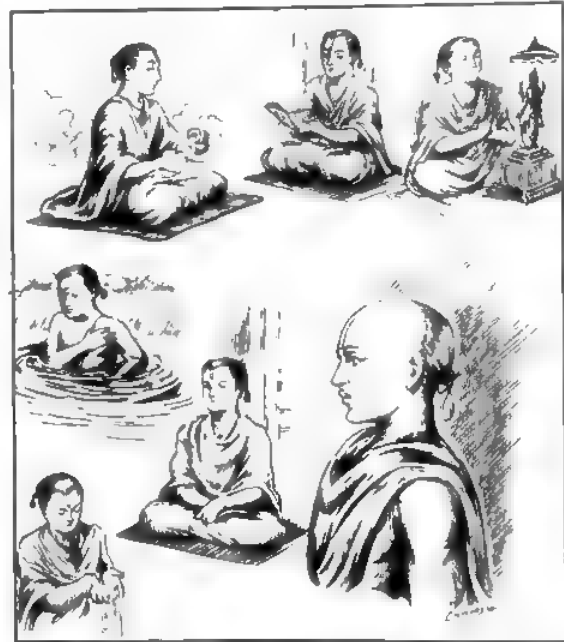
अर्थात् द्विजमात्रका कर्तव्य है कि वह सदा यज्ञोपवीत और ग्रन्थि लगी शिखा धारण करे। शिखा-धारण और यज्ञोपवीतके बिना वह जो भी देव, ऋषि, पितृकार्य करता है, वह सब निष्फल होता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि देवकार्यमें शुद्ध प्रेमभरित भावनाकी प्रधानता होती है तथा पितृकर्ममें शुद्ध उच्चरित संस्कृत-शब्दावलीकी; क्योंकि कहा गया है—

'**पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवताः।**'

आह्निक कृत्य या अन्य देव, ऋषि, पितृकार्य लुंगी या तहमद पहनकर नहीं, अपितु पंचकच्छयुक्त धौत वस्त्र

धारणकर ही करना चाहिये; क्योंकि वसिष्ठस्मृतिके अनुसार बिना लांगका अधोवस्त्र धारण करनेवाला महा अधम होता है—'**मुक्तकच्छो महाधमः।**'

तदनन्तर पवित्र स्थानमें कुशा, मृगचर्म तथा वस्त्रयुक्त ऐसा आसन बिछा ले, जो न अधिक ऊँचा हो न नीचा। उसपर सुस्थिर भावसे बैठकर सन्ध्या करनी चाहिये। प्रातःकालकी सन्ध्या सूर्योदयसे पूर्व सम्पन्न हो जाय तो अच्छा; क्योंकि कहा गया है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा मता॥

सन्ध्या न करनेपर द्विजत्वच्युतिकी स्थिति आ जाती है। जैसा कि कहा गया है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

सन्ध्याको आयु-वृद्धिका परम साधन माना गया है और कहा गया है बिना सन्ध्या किये गये धार्मिक अनुष्ठानादि पूर्णतः सफल नहीं होते। भगवान् मनुने ऋषियोंकी दीर्घायुका कारण सन्ध्या (प्राणायाम)-को मानकर लिखा है—'**ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।**' (मनुस्मृति ४।९४) अतः द्विजमात्रको प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिये—'**अहरहः सन्ध्यामुपासीत।**'

सन्ध्या एवं सभी धार्मिक कृत्य संकल्पकर ही सम्पादित होते हैं; क्योंकि सभी धार्मिक कृत्य संकल्पजन्य हैं। भगवान् मनुने कहा है—

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥

(मनु० २।३)

सन्ध्यामें निम्न कार्य होते हैं—संकल्प, आसनशोधन, आचमन, प्राणायाम, उपार्जितपापक्षयार्थ अपामुपस्पर्शन, मार्जन, अघमर्षण, सूर्यार्घ्यदान, सूर्योपस्थान, गायत्र्यावाहन तथा मन्त्रजप।

सन्ध्या करनेसे पूर्व अपने सम्प्रदायानुसार तिलक लगाना नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि इसके बिना किये गये धर्मानुष्ठान सफल नहीं होते। कहा गया है—

स्नानं दानं तपो होमो देवता पितृकर्म च।
तत्सर्वं निष्फलं याति ललाटे तिलकं विना॥
ब्राह्मणस्तिलकं कृत्वा कुर्यात् सन्ध्यां च तर्पणम्॥

(ब्रह्मवैवर्त०)

हमारे यहाँ मुख्यतः तीन सम्प्रदाय हैं—शैव, शाक्त, वैष्णव। शाक्तोंको कुमकुमकी बिन्दी, शैवोंको भस्मका त्रिपुण्ड्र तथा वैष्णवोंको खड़िया मिट्टीका ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाना चाहिये—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा कुर्याद् भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम्।
उभयं चन्दनेनैव अभ्यङ्गोत्सवरात्रिषु॥

चन्दनका तिलक शैव और वैष्णव दोनों लगा सकते हैं।

सन्ध्या, गायत्री-जपके पश्चात् अपने इष्टदेवका पंचोपचार या षोडशोपचार पूजनकर घरमें बने भोजनका भोग लगाकर स्वयं आसनपर बैठकर तदनन्तर आचमनकर, मौन भावसे भोजन करना चाहिये। भोजन आरम्भ करनेसे पूर्व सभी प्राणियोंकी तृप्तिके लिये अग्निमें घृताक्त पक्व अन्नकी आहुति (बलिवैश्वदेव) करना चाहिये। सर्वदेवमयी गोमाता, श्वान, वायस, चींटी और अतिथिकी संतृप्तिके लिये पंचग्रास देना न भूलना चाहिये। अन्न ब्रह्म है। मानव इसके बिना नहीं जी सकता, अतः अन्नके दोष न निकाल, उसका अभिनन्दनकर उसका सेवन करना चाहिये, जिससे पुष्टि, तुष्टि दोनोंकी प्राप्ति हो।

भोजनके पश्चात् भली प्रकार कुल्लेकर कुछ देर बायीं करवट लेटना चाहिये, जिससे भोजन शीघ्र पच जाय।

इस प्रकार शास्त्रविहित विधिसे आह्निक कृत्य करते हुए जो व्यक्ति भगवान् वेदकी इन शिक्षाओंको जीवनमें उतारकर कर्तव्य-निर्वहणमें प्रवृत्त होता है; वह निरापद, जीवन जीनेमें सफल रहता है। वेद भगवान्‌की शिक्षाएँ हैं—सदा सच बोलो, धर्ममय आचरण अपनाओ, स्वाध्यायमें लापरवाही (प्रमाद) न करो, स्वाध्यायद्वारा ज्ञानवृद्धि करते हुए उन्नति करो, देव-पितृकार्य प्रमाद और आलस्यरहित होकर करो, माता-पिता, आचार्य, अतिथि आदि पूज्योंकी सेवा करो, श्रद्धापूर्वक दान दो। इसके साथ ही जीवनको सार्थक बनानेके लिये इन निषिद्ध कार्योंका त्याग भी आवश्यक है—जुआ खेलना, गोवध करना, परस्त्रीगमन करना, मांस खाना, शराब पीना, इन्द्रियोंको वशमें न रखना। इनके अतिरिक्त उत्तेजनासे रहित हो शान्तभाव अपनाना, किसी प्राणीकी हिंसा न करना, किसीका दान न लेना, यज्ञादि कर्म अपनी सामर्थ्यके अनुसार करना, दूसरेके उपकारको याद रखना, दान देना, सभी लोगोंको ब्रह्ममय मानना आदि।

इसके साथ ही स्वस्थ, सुखद, सकल यशस्वी जीवन जीनेके लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति पिताका आज्ञाकारी, माँके प्रति श्रद्धा एवं प्रेमपूरित मनवाला, स्त्रीसे शान्तिपूर्ण मधुर व्यवहार तथा मधुर बोलनेवाला हो। भाई-भाईसे, बहन-बहनसे द्वेष न करें। वे एक-दूसरेके प्रति आदरभाव रखते हुए कल्याणकारिणी वाणीका प्रयोगकर घरके वातावरणको स्वर्गीय बनायें—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

(अथर्व० ३।३०।२)

यह सब करते हुए जीविकोपार्जनहेतु अधिकृत कार्यका निष्ठापूर्वक निर्वहण करना चाहिये। घर लौटनेपर फिर स्नानादिकर सन्ध्या, जप आदिकर भोजनके अनन्तर कुछ देर टहलना चाहिये। इसके पश्चात् कुछ देर स्वाध्यायकर, लघुशंकादिसे निवृत्त हो पाँव धोकर श्रीहरिका स्मरण करते हुए रात्रिमें विश्राम करना चाहिये।

इस प्रकार दिनचर्याका पालन करनेसे जो नियम-बद्धता, समयकी पाबन्दी जीवनमें आयेगी, वह पूरे जीवनको प्रभावितकर जीवनको इस प्रकार संयमित और नियमित बना देगी कि व्यक्ति एक-एक क्षणका सदुपयोगकर जीवनको महत्तम बनानेकी दिशामें प्रवर्तित हो समाजके लिये मात्र आदर्श ही नहीं आलोकस्तम्भ भी बन जायगा।

समष्टिरूपमें कहा जा सकता है कि दैनिकचर्या जीवनचर्याकी प्राथमिक शाला है, जो जीवनचर्याके सूत्रोंकी नींव रखकर मानवके विकसित रूपका आधार बनती है।

जीवनचर्याके नित्य एवं नैमित्तिक कर्म

(श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी, शास्त्री, साहित्य-ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, विद्याभूषण, वरिष्ठधर्माधिकारी)

सनातनधर्ममें '**आचारः प्रथमो धर्मः**' के अनुसार आचरणको प्रथम धर्म कहा गया है। '**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।**' आचारहीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं करते। अतः हमको धर्मशास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। धर्मशास्त्रके अनुसार दैनिक चर्या प्रातः ब्राह्ममुहूर्तसे प्रारम्भ होती है। तदनुसार सूर्योदयसे ९६ मिनट पहले शय्या-त्याग करते समय अपने दोनों हाथोंको देखते हुए निम्न मन्त्र—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

—पढ़ना चाहिये। इससे खराब व्यक्तिके मुख देखनेका दोष मिट जाता है और पूरा दिन आनन्दमय रहता है। इसके बाद निम्नलिखित मन्त्र बोलकर पृथ्वीपर पैर रखे—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

अब कुल्ला करके मुख धोकर सोते समयके वस्त्र बदलकर प्रातःस्मरण, अपने इष्टदेव तथा प्रातःस्मरणीय श्लोकोंका पाठ करें और अजपाजपका संकल्प करके भगवान्‌को समर्पित करें। गणेश आदि देवताओं, गौमाता, गुरु, माता, पिता तथा वृद्धोंको प्रणाम करें। दर्पणमें अपना मुख देखें। इसके बाद शौचको जायँ। द्विजबन्धु दाहिने कानपर जनेऊ लपेटकर सिरको ढककर दिनमें उत्तर तथा रात्रिमें दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके मौन रहकर मल-मूत्रका त्यागकर मलको न देखें। शौचके बाद मिट्टीसे शुद्धि करें, साबुनसे हाथ तो साफ दिखने लगते हैं, परंतु पवित्रता मिट्टी लगाकर धोनेसे ही होती है। इसके बाद मुँह तथा दाँत साफ करें, मंजनसे दाँत घिसना हो तो मध्यमा अँगुलीसे दाँत माँजना चाहिये, तर्जनीसे न घिसें। दातौन करना चाहें तो १२ अँगुलप्रमाणकी दातौन ईशानकोणकी ओर मुख करके करें, दातौनको बार-बार मुखसे बाहर निकालनेका निषेध है। दातौनको दाँत माँजकर चीरकर जीभ घिसकर धोकर अपने बायीं ओर फेंक दें। व्रतके दिनोंमें तथा प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा तिथियोंमें, श्राद्धके दिन, जन्म तथा विवाहके दिन पर्वोंपर तथा रविवारको दातौन न करें। उस दिन १२ कुल्ले करें। उसके बाद स्नान करें। **स्मरणीय है** स्नान, सन्ध्या, जप, देवपूजन, वैश्वदेव और अतिथिसत्कार नित्य करना चाहिये, स्नान किये बिना भोजन मलभोजनके समान निन्दित कहा गया है। यदि नदी, तालाब आदिकी सुविधा हो तो वहीं जाकर स्नान करना चाहिये। वहाँ

स्नानके पूर्व तीर्थकी प्रार्थना तथा स्नानसंकल्प करके सिर भिगोकर पूर्व या नदीके प्रवाहकी ओर मुख करके, नाक एवं कानोंको अँगुलियोंसे बन्द करके नाभिपर्यन्त जलमें खड़े होकर जल हिलोरकर गंगादि नदियोंका स्मरणकर, शिखाकी ग्रन्थि खोलकर तीन डुबकी लगायें, फिर तीन आचमनकर प्राणायाम तथा सूर्यको अर्घ्य दें एवं स्नानांग-तर्पण करें। घरमें ही स्नान करना हो तो ताँबेके पात्रमें जल भरकर गंगादि नदियोंका स्मरण करके स्नान करें, गुसलखाने या एकान्त स्थानमें भी बिना कपड़ोंके (नग्न) स्नान न करें। जिस वस्त्रको पहनकर स्नान किया है, उससे अंग न पोंछें। गंगा, यमुना, नर्मदादि नदियोंमें स्नानके बाद अंग न पोंछें और कपड़ोंको भी नदीजलमें न निचोड़ें। स्नानके बाद सन्ध्या करें। जलमें यदि सन्ध्या करने खड़े हों तो गीले वस्त्रोंसे और जलके बाहर सूखे कपड़े पहनकर सन्ध्या-तर्पण करें। सन्ध्या-पूजनमें रेशमी, ऊनी या धुले सूती वस्त्र धारण करें, गलेसे पहने जानेवाले सिले कपड़े पूजनादिमें त्याज्य हैं, तनीदार बगलबन्दी या शाल-दुपट्टेका उपयोग किया जा सकता है। पूजनादिमें दो वस्त्र धारण करनेका विधान है।
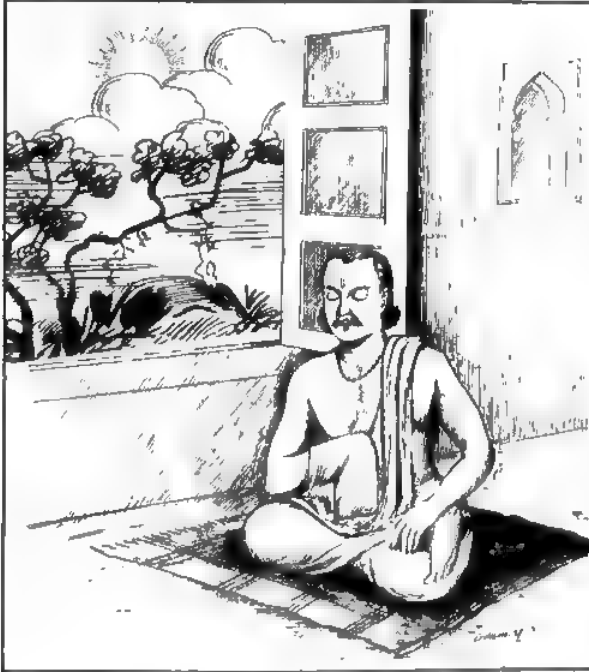
त्रिकाल सन्ध्या पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके करें। सायं सन्ध्या पश्चिमाभिमुख बैठकर भी कर सकते हैं। सन्ध्यापूजनमें भस्म, गोपीचन्दन या चन्दनका बड़ा महत्त्व है। अतः अपने सम्प्रदायानुसार चन्दन, तिलक लगाये। सन्ध्याके बाद ब्रह्मयज्ञमें देव, ऋषि-पितृतर्पणका विधान है। तर्पणका नित्य विधान है। इससे पितरोंके आशीर्वादसे धन, मान, पुत्रादि तथा नीरोगताकी प्राप्ति और ऋणसे मुक्ति प्राप्त होती है। तर्पण घरमें दूध या जलसे और नदी-तालाबमें दूध, जल तथा तिलोदकसे करते हैं, परंतु घरमें तिलसे तर्पण नहीं करते। तर्पणमें कुशाकी पवित्री न हो तो दूर्वाकी पवित्री, ताँबे, चाँदी, सुवर्ण अथवा मुद्रिका भी धारण करनेका विधान है। सन्ध्या-पूजनमें कांछ लगाकर धोती पहनकर आसनपर बैठना चाहिये, द्विजोंको जनेऊ अवश्य पहनना चाहिये। कभी जनेऊ पहिन लेना, कभी उतार देना शास्त्रविरुद्ध है तथा चोटीमें गाँठ लगाकर पूजन करना चाहिये। सन्ध्यामें कम-से-कम अष्टोत्तरशत जप गायत्रीमन्त्रका अवश्य करें, माला गुरियोंकी या करमाला या वर्णमाला भी हो सकती है। मालाको गोमुखीमें या वस्त्रसे ढँककर जप करें, मन्त्रोच्चारण मनमें सर्वोत्तम होता है। तर्जनी अँगुली मालासे दूर रखें।

पूजन—सन्ध्याके बाद पूजनमें पूर्व, उत्तर या भगवान्‌के सामने मुख करके बैठें, पंचोपचार अथवा षोडशोपचार पूजन करें। भगवान्‌का ध्यानकर अर्घ्य, पाद्य, आचमन दें तथा स्नान करायें। शालग्रामशिला हो तो उसे ताम्र या रजतपात्रमें विराजमानकर तुलसी चढ़ाकर पुरुषसूक्तके मन्त्र बोलते हुए घण्टा बजाकर शंखसे स्नान करायें। शिवजीको शंखसे स्नान नहीं करना चाहिये, उनको शृंगी या अभिषेकपात्र या कलशसे स्नान करायें, महिम्नस्तोत्र या रुद्रपाठसे शिवाभिषेक करें। देवताओंका चन्दन अँगूठेसे न पोछें। देवताओंको अनामिकासे चन्दन लगायें। शंख, घण्टा, विष्णु, राम, कृष्ण, बालकृष्ण तथा शालग्रामको चावल नहीं चढ़ते। इनको सफेद तिल चढ़ायें, गणेशजीको तुलसी, दुर्गाजीको दूर्वा न चढ़ायें, शिवको अधोमुख करके डण्ठल तोड़कर बिल्वपत्र चढ़ायें, गणेशजीको दूर्वा चढ़ायें, केवड़ा तथा चमेलीके पुष्प शिवको न चढ़ायें। देवताओंको सुगन्धित पुष्प चढ़ायें। फूलका डण्ठल नीचे तथा खिलाभाग ऊपरकर चढ़ायें। देवताओंका निर्माल्य न लाँघें, निर्माल्य नदी, तालाब या खेतमें छोड़ें, पूजनके पुष्प ताँबेके पात्रमें न रखें, फूल जलसे नहीं धोयें, केवल जलसे प्रोक्षण करें।

भगवान्‌को धूप आघ्रापित करायें, दीपक जलायें तथा दीपकका स्पर्शकर हाथ धो लें। नैवेद्य रखकर दो बार जल छोड़ें, उसमें तुलसीपत्र छोड़ें, आरती करें। प्रथम चार बार भगवान्‌के चरणोंकी, फिर दो बार नाभिकी, एक बार मुँहकी और सात बार भगवान्‌के समस्त अंगोंकी आरती उतारें, फिर शंखका जल भक्तोंपर छिड़कें। अब पुष्पांजलि चढ़ाकर परिक्रमा करें। परिक्रमा देवीजीकी एक बार, सूर्यकी सात बार, गणेशजीकी तीन बार, विष्णुकी चार बार और शिवजीकी आधी प्रदक्षिणाका विधान है।

भोजन—हाथ-पैर धोकर पाटा या आसनपर पूर्व या उत्तरकी ओर मुखकर दो पात्र जलके रखकर भोजनपात्र रखें तथा बिना नमकके अन्नसे बलिवैश्वदेव करके गाय, कुत्ता, कौआ, अतिथि तथा चींटीको भाग देकर पुनः हाथ-पैर धोकर पहले पाँच ग्रास रखकर आचमनकर मौन होकर भोजन करें। भोजन भगवान्‌का प्रसाद है, यह भावना रखें। भोजनमें जल पीनेहेतु गिलासमें उतना ही जल लें, जितना पीना हो, एक-एक घूँट जल पीना हो तो उतना ही जल गिलासमें भरें। पीनेसे बचे जलको फेंक दें। भोजनके बाद भी आचमन करके उठें तथा १६ कुल्ले करके हाथ धोकर नेत्रोंपर फेरें। दाँतोंकी जूठन निकालनेके लिये नीमकी सींकका प्रयोग करें, परंतु दाँतोंसे खून न निकले, यह ध्यान रखें। भोजनके बाद लघुशंका करें तथा हाथ-पैर धोयें। मुखशुद्धिके लिये आँवला या गन्ना या तुलसी या लौंग-इलायचीका सेवन करें। भोजनके बाद कुछ समय विश्राम करके आजीविकाहेतु व्यापार, व्यवसाय आदि करें। मध्याह्न-सन्ध्या करें तथा सूर्यास्त होते समय सायं-सन्ध्या करें। इसमें सूर्यको पश्चिममें मुख करके अर्घ्य दें।

दीपस्तुति—सूर्यास्त होनेपर दीपक जलाकर इस प्रकार दीपस्तुति करें—

शुभं करोतु कल्याणं आरोग्यं सुखसम्पदाम्।
मम बुद्धिप्रकाशाय दीपज्योतिर्नमोऽस्तु ते॥

भगवान्‌की सायंकालीन आरती करें, स्तुति-प्रार्थना करें। रात्रिकालीन भोजन करें, अँधेरेमें भोजन करनेका निषेध है।

शयनविधि—रात्रिके दूसरे प्रहरमें पैर धोकर-पोंछकर पूर्व या दक्षिणकी ओर सिर करके सोयें। सिरहाने एक दण्ड तथा जलका पात्र रखकर सोयें। दिनमें यदि कोई अशुभ कार्य हो गया हो तो उसका पश्चात्ताप करें और सोते समय भगवन्नामस्मरण करते हुए निद्रादेवीका स्मरण करें—

विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थितिसंहारकारिणीम्।
निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः॥
अगस्तिर्माधवश्चैव मुचुकुन्दो महाबलः।
कपिलो मुनिरास्तीकः पञ्चैते सुखशायिनः॥

सोते समय इन मन्त्रोंको कहनेसे अनिद्रा-दोष दूर होकर, सुखनिद्रा आती है तथा यह मन्त्र भी कहें—

तिस्रो भार्या कफल्लस्य दाहिनी मोहिनी सती।
तासां स्मरणमात्रेण चौरो गच्छति निष्फलः॥

इसके बाद **'कफल्लम्, कफल्लम्, कफल्लम्'** कहकर तीन बार ताली बजायें। इससे चोरी नहीं होती।

संक्षेपमें यह सब जीवनचर्याके नित्यकर्म हैं; नैमित्तिक कर्म व्रतोत्सवादि, मन्वादि तिथियों, जयन्तियों, उत्तरायण, दक्षिणायन, पर्वों, ग्रहणों आदिके निमित्तसे किये जाते हैं। यथा चैत्रमें वर्षप्रतिपदाको मंगलस्नान, नूतन वस्त्रधारण, पंचांगफलश्रवण, घटस्थापन, नीमपत्रसेवन, मधुर भोजन। चार युगादि तथा चौदह मन्वादि तिथियों आदिमें श्राद्ध करना, भगवान् श्रीराम, कृष्ण, नृसिंह, वामन, परशुराम आदिकी जयन्तियोंपर व्रतोत्सव, उत्तरायण-दक्षिणायन पर्वकालमें स्नान, जनेऊ-परिवर्तन, तर्पणश्राद्ध, दान, ग्रहणोंपर स्नान, होम, श्राद्ध, दान, श्रावणपूर्णिमापर श्रावणी, पितृपक्षमें श्राद्धतर्पण, नवरात्रियोंमें दुर्गापूजन, विजयादशमीपर कुलधर्म एवं शमीपूजन, दीपावलीपर महालक्ष्मीपूजन, कार्तिक मासस्नान, होलीपर होलिकादहन, विभूतिधारण, आम्रकलिकादिप्राशन नैमित्तिक कर्म हैं। सनातन संस्कृतिमें करोड़ों काम छोड़कर भगवदाराधन, लाख काम छोड़कर दान-पुण्य, हजार काम छोड़कर स्नान तथा सौ काम छोड़कर भोजन कहकर वरीयता-क्रमसे दिनचर्यापर बल दिया गया है। अतः हमारी दिनचर्या धर्मशास्त्रानुसार होनी चाहिये, यह आत्मोद्धारमें सहायक है।

ब्राह्ममुहूर्त में जागरणसे लाभ

(डॉ० श्रीविद्यानन्दजी 'ब्रह्मचारी', एम०ए० (द्वय), बी०एड०, पी-एच०डी०, डी०लिट०, विद्यावाचस्पति)

'ब्राह्ममुहूर्त' सबसे उत्तम समय है। यह आठों पहरोंका राजा है। दैनिक जीवनचर्याके अन्तर्गत इस 'अमृतवेला' में उठकर शय्याका त्याग करके परमपिता परमात्माका कुछ समय दिव्य स्मरण या गुणगान करना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिये परम हितकारी है।

एक महात्माने क्या सुन्दर कहा है—

हर रात के पिछले पहरे में, इक दौलत लुटती रहती है।
जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है॥

सूर्योदयसे लगभग डेढ़ घंटे पूर्व जो समय होता है, उसे 'ब्राह्ममुहूर्त' कहा गया है। भारतीय आर्ष ग्रन्थोंके द्रष्टा-प्रणेता ऋषि-महर्षियोंने दीर्घकालीन अन्वेषणके उपरान्त यह सिद्ध किया है कि आरोग्य, दीर्घजीवन, सौन्दर्य, प्रार्थना, अध्ययन, आराधना, शुभ कार्य, भगवच्चिन्तन, ध्यान तथा अन्य दिव्य विभूतियोंके रहस्यकी प्राप्ति एवं रक्षाके नियमोंका सबसे सुन्दर समय 'ब्राह्ममुहूर्त' है। महर्षियोंने ब्राह्ममुहूर्तको अनेक नामोंसे अभिहित किया है, जैसे—अमृतवेला, ब्रह्मवेला, देववेला, ब्राह्मीवेला, मधुमय समय आदि। यह समय परमात्मासे बातचीत करनेका समय है।

सचमुच, प्रातःकाल अतिरमणीय, आह्लादजनक और कार्योपयोगी समय है। इस समय प्रकृति एक अभिनव मूर्ति धारण करती है। शीतल और मन्द वायु सुगन्धित पुष्पोंका सौरभ लेकर नाना स्थानोंमें विकीर्ण कर देती है। वृक्ष-शाखाओंसे शिशिर-बिन्दु भूतलपर धीरे-धीरे गिरते हैं। पुष्पभारविनम्र लतासमूह प्रभात-पवनसे आन्दोलित होकर मनुष्यके चित्तको आकर्षित कर देता है।

प्रातःकालमें मनुष्यका मन प्रफुल्लित और प्रशान्त रहता है। निशाकालकी निद्रा जीवकी श्रान्तिको दूर करती है। प्रातःकाल निद्रा त्यागनेपर शरीरमें नूतन बल और अन्तःकरणमें नवकार्यानुराग संचारित होता है। इस समय भ्रमण करनेसे अतिशय आनन्द प्राप्त होता है तथा शरीर और मनमें प्रफुल्लता एवं कार्यक्षमता आती है।

इस समय पूर्व दिशामें एक अपूर्व शोभा होती है। भुवनभास्करकी किरणोंसे आकाश लोहित वर्ण धारण करता है। नवोदित सूर्यकी किरणोंसे आकाश-मण्डलका अपूर्व सौष्ठव सम्पादित होता है। उच्च वृक्ष और अत्युन्नत पर्वतशृंग स्वर्णरेणुरंजित ज्ञात होते हैं।

संसारके समस्त महापुरुषों, संतों, योगियों, महर्षियों, विद्वानों और विद्यार्थियोंके जीवनकी यह विशेषता रही है कि वे ब्राह्ममुहूर्तमें शयन नहीं करते थे। महापुरुषोंने ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर ही संसारके कल्याणके महान् कार्य किये हैं। भारतभूमिके ऋषि-महर्षि और सन्तोंने ब्राह्ममुहूर्तसे जो लाभ उठाये हैं, उनका उल्लेख करके महान् ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

ब्राह्ममुहूर्तके प्रसंगमें एक सुन्दर कथा प्रचलित है— किसी समय कोई प्राणाचार्य महर्षि अपने शिष्यगणोंके साथ हिमालयके निर्जन जंगलोंमें रहकर औषधियोंके गुण एवं दोषपर शोध और प्रयोगमें संलग्न थे। महर्षिजी अपने प्रयोगद्वारा औषधियोंकी मानव-शरीरके लिये उपयोगिता साबित कर रहे थे। सभी शिष्य उसी प्रयोगमें निमग्न थे। यथानिर्दिष्ट परीक्षण-कार्यके अतिरिक्त प्रकृतिकी सहायतासे किस प्रकार आरोग्य, सौन्दर्य और शान्तिका उपार्जन और रक्षा की जा सकती है, उनके अध्ययन और शोधके महत्त्वपूर्ण विषय थे।

महर्षिजीने दीर्घ समयतक रात-रातभर जागरण करके औषधियोंके ऊपर तारों तथा नक्षत्रोंका कब और कैसा प्रभाव पड़ता है—इसका अध्ययन किया। दीर्घकालीन अनुसन्धानके अनन्तर जो कुछ ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने भूर्जपत्रपर लिख लिया। शोधके परीक्षाफलका समय आया। हिमालयके मनोरम पर्वतीय प्रांगणमें बृहद् रूपसे समारोहका आयोजन किया गया। दूर-दूरके ऋषि-मुनि, तपस्वी, मनस्वी, विद्वान्, आचार्य, ब्रह्मचारी अपने पट्टशिष्योंके साथ आमन्त्रित हुए। निश्चित समयपर आयोजनका श्रीगणेश हुआ। समस्त आचार्योंके समक्ष महर्षि प्राणाचार्य और उनकी पट्टशिष्यमण्डलीने अपने अनुसन्धानके फल प्रस्तुत किये।

'वायु' से मनुष्य अपनेको कितना लाभान्वित कर सकता है और किस प्रकार स्वास्थ्यको सुधारकर अपनेको दीर्घजीवी बना सकता है आदि विषयोंके साथ-साथ ब्राह्ममुहूर्त विषयपर भी विचार-विनिमय हुआ। एकमतसे घोषित किया गया कि 'उषाकालके पूर्वकी चार घटिकाका समय स्वास्थ्यकर वायुके लिये सर्वोत्तम माना गया है। इस समय अमृतमय दक्षिणवायुका संचार होता है, जिसके

सेवनसे शरीर, मन और मस्तिष्ककी शुद्धि होती है, रक्तमें पवित्रता आती है, बुद्धि परिष्कृत होती है, एकाग्रताका अभ्यास सरल होता है, ब्रह्मचिन्तनमें तन्मयता आती है, रोगोंके आक्रमणसे रक्षा होती है और मनुष्य दीर्घायु होता है। इस समयका नाम ब्राह्ममुहूर्त रखा गया है और नियम निर्धारित हुआ—

'ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।'

अर्थात् आयुरक्षा और स्वास्थ्यलाभके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें उठे।

सबेरेकी हवाके लिये कहा गया है—

'सौ दवा भोर की एक हवा।'

प्रातःकालकी महत्ताका उल्लेख करते हुए अमेरिकाके सबसे बड़े अंग्रेजी लेखक एमर्सनके गुरु थोरोने स्पष्ट लिखा है—

"The Vedas says—All intelligences awake with the morning."

अर्थात् वेद कहते हैं कि समस्त बुद्धियाँ प्रातःकालके साथ ही जाग्रत् होती हैं।

ब्राह्ममुहूर्त अमृतवेला है। उस समय उठकर जो ध्यान करते हैं, उन्हें अमृत मिलता है और जो सोये रहते हैं, वे उससे वंचित हो जाते हैं। कहा गया है—

'जो जागै सो पावै, जो सोवै सो खोवै।'

अमृतवेलामें उठनेवालोंका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। ब्रह्मवेलाके बाद ध्यानके लिये उपयुक्त शान्त वातावरण नहीं मिल पाता। ब्राह्ममुहूर्त ध्यान-भजनके लिये सबसे उपयुक्त, सबसे अनुकूल समय है—गृहस्थके लिये भी और गृहत्यागीके लिये भी।

वेदका वचन है—**'प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति'** (ऋग्वेद १।१२५।१)।

अर्थात् प्रातः उठनेवाला रत्नोंको धारण करता है।

ब्राह्ममुहूर्तके समय-निर्धारणमें हमारे शास्त्रकारोंने लिखा है—

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः सः प्रबोधने॥

रात्रिके अन्तिम प्रहरका जो तीसरा भाग है, उसको ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं। यह अमृतवेला है। सोकर उठ जाने और भजन-पूजन इत्यादि सत्कर्मोंके लिये यही समय है।

लीलाधारी भगवान् श्रीकृष्णजी स्वयं ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर ध्यान किया करते थे, जिसका वर्णन 'श्रीमद्भागवत' (१०।७०।४)-में है। यथा—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठता था।

उषाकालमें यदि सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की प्रार्थना और उनका गुणगान आप करेंगे, तो आपका हृदय एक प्रकारके अनिर्वचनीय पवित्रतायुक्त सन्तोषका अनुभव करेगा।

जिन्हें ब्रह्मचारी, सदाचारी, विवेकवान्, ध्यानवान्, ज्ञानवान् और वीर्यवान् होना है, वे सर्वप्रथम दृढ़ संकल्पसे नित्यप्रति ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेका अभ्यास करें। इस समय दैवी सम्पदाओंका निःशुल्क वितरण होता है। यदि कोई व्यक्ति शारीरिक और मानसिक क्लेशोंसे उद्विग्न है तो उसे तड़के जागरणके पश्चात् खुली हवामें टहलना चाहिये। इस समयकी वायुमें जीवनशक्ति विद्यमान रहती है। बुद्धि निर्मल मणिके समान स्वच्छ और मस्तिष्कमें उत्तम विचार प्रस्फुटित होते हैं।

महामति आचार्य चाणक्यने क्या सुन्दर कहा है—'सूर्योदयके समयको सोकर व्यर्थ बरबाद करनेवालेको चाहे वह चक्रधारी विष्णु ही क्यों न हों, लक्ष्मी, विद्या, बुद्धि सब छोड़ जाते हैं। वह व्यक्ति एक-न-एक दिन दरिद्र हो जाता है।'

भगवान् मनुने एक स्थलपर कहा है—'प्रातःकाल देरतक सोना पुण्यों और सत्कर्मोंका नाश करनेवाला है, इसलिये आलस्यवश जो द्विज प्रातः जल्दी न उठे, उसे पादकृच्छ्र नामक व्रत करके उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

आयुर्वेदके 'भैषज्यसार' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।
ब्राह्मे मुहूर्ते सञ्जाग्रच्छ्रियं वा पङ्कजं यथा॥

प्रातःकाल उठनेसे सौन्दर्य, यश, बुद्धि, धन-धान्य, स्वास्थ्य और दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। शरीर कमलके समान खिल जाता है।

वैद्यकशास्त्रके समस्त आचार्योंने उषःपान करनेका समय ब्राह्ममुहूर्त माना है। इस समय जल पीनेसे बड़ा लाभ

होता है—

सवितुः समुदयकाले प्रसृतीः सलिलस्य पिबेदष्टौ।
रोगजरापरिमुक्तो जीवेद् वत्सरशतं साग्रम्॥

सूर्योदयके समय जो व्यक्ति प्रतिदिन आठ अंजलि जलपान करता है, वह रोगोंसे मुक्त हो जाता है, बुढ़ापा उसके पास नहीं फटकता और वह सौ वर्षसे भी अधिक आयु प्राप्त करता है।

ब्राह्ममुहूर्तमें नाकसे जल पीनेसे अनेक लाभ होते हैं। नेत्रोंके अनेक विकार नष्ट हो जाते हैं, स्मरणशक्ति बढ़ती है, हृदयको बल प्राप्त होता है। मल-मूत्रके रोग मिट जाते हैं और क्षुधाकी वृद्धि होती है। रात्रिपर्यन्त ताँबेके लोटेमें जो जल रखा हो, उसको स्वच्छ वस्त्रसे छानकर नाकसे पीना अमृतपानके समान है।

ब्राह्ममुहूर्त आध्यात्मिक जागरणका शुभ प्रतीक है। इस समय जागरणसे शारीरिक और मानसिक शक्तिका विकास तो होता ही है, आध्यात्मिक प्रगति (Spiritual progress) भी होती है। शारीरिक और मानसिक शक्तिका विकास होता है। अब प्रश्न उठता है कि आध्यात्मिक प्रगति और मानसिक विकास कैसे प्राप्त होता है? इस प्रश्नके उत्तरमें हमारे ऋषियोंका उद्घोष है कि 'इस समय जो वायु चलती है, उससे सम्पूर्ण प्राकृतिक वातावरण शान्ति और सुन्दरतासे भर जाता है, सर्वत्र प्रकृति अमृत बरसाती रहती है, जिससे मनुष्यका मस्तिष्क आनन्दसे झूमने लगता है।'

सचमुच प्रातःकालका शान्त वातावरण अद्भुत सुन्दर, माधुर्ययुक्त और मनको लुभानेवाला होता है। समस्त पृथ्वीपर एक अजीब नवजीवन, स्फूर्ति और नव-चेतना दृष्टिगोचर होती है।

उषाकालमें शुद्धता और प्रेमकी पवित्र भावना हृदयमें संचरित होने लगती है। उषाकालमें भगवान्‌से यह याचना कीजिये—'हे सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्! मेरे हृदयमें सद्ज्ञानका संचार कीजिये। इस जीवनसे संसारका कल्याण हो।'

यह निर्विवाद है कि ब्राह्ममुहूर्तमें जागरणसे दैनिक जीवनमें अनेक लाभ हैं। यह रामबाण औषधि है। प्रकृतिप्रदत्त निःशुल्क औषधि है।

इस मधुमय वेलामें उठनेका एक अनोखा उपाय है कि सोनेसे पूर्व अपने मनको आज्ञा दें कि प्रातःकाल अमुक समयपर उठना है। आपका मन आपको नियत समयपर जगा देगा। यदि आपने आलस्य नहीं किया तो आप बिना अलार्म घड़ीकी सहायतासे स्वयं ब्रह्मवेलामें उठनेके अभ्यासी बन जायँगे। तड़के उठनेके लिये केवल दृढ़ संकल्पी होना चाहिये।

दैनिक जीवनचर्याके अन्तर्गत ब्राह्ममुहूर्त-जागरणसे प्रतिभाका विकास होता है। इस अमृतवेलामें छात्र भी अपना-अपना पाठ मनोयोगपूर्वक हृदयंगम कर सकते हैं। अतः इस समय सोना उचित नहीं।

नित्य आवश्यकीय सन्ध्योपासना और उसकी महिमा

(पं० श्रीशंकरलालजी तिवारी शास्त्री, एम०ए०, संस्कृत, हिन्दी, बी०एड०, व्याकरण-साहित्यशास्त्री)

सन्ध्योपासन शब्द सन्ध्या और उपासन इन दो शब्दोंके मेलसे बना है। सन्ध्या शब्दकी व्युत्पत्ति है— **'सम्यग् ध्यायन्ति सम्यग् ध्यायते वा परब्रह्म यया यस्यां वा सा सन्ध्या।'** वह क्रिया, जिसमें परमात्माका भलीभाँति ध्यान या चिन्तन किया जाय, सन्ध्या कहलाती है। सन्ध्या शब्द सन्धि+यत्+टाप् प्रत्यय लगकर बनता है या सम् उपसर्गपूर्वक ध्यै धातुसे अङ् प्रत्यय और फिर स्त्रीलिंगका टाप् प्रत्यय लगकर बनता है। सन्ध्या शब्दका अर्थ मिलाप, जोड़, प्रभाग आदि होता है। सन्ध्याका एक अर्थ और है—

अहोरात्रस्य या सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः।
सा तु सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(दक्षस्मृति)

सूर्य और नक्षत्रोंसे रहित दिन और रात्रिका जो सन्धिकाल है, उसे ही तत्त्वदर्शी मुनियोंने सन्ध्या कहा है। इस प्रकार दिन और रात्रिकी दोनों सन्धियाँ (प्रातः सन्धिकाल और सायं सन्धिकाल)-में किया जानेवाला परमात्माका चिन्तन सन्ध्या और उसका अनुष्ठान या उपासन सन्ध्योपासन कहलाता है। इस प्रकार एक ओर सन्ध्या शब्द सन्धिकालपरक है, वहीं दूसरी ओर आराधनापरक भी है। **'सन्धौ सन्ध्यामुपासीत नोदितेनास्तगे रवौ'**—इस वृद्ध याज्ञवल्क्यके वचनसे प्रातः रात्रि और दिनकी सन्धिवेलामें और सायंकाल दिन और रात्रिकी सन्धिवेलामें सन्ध्योपासन करना चाहिये। प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व जबकि आकाशमें तारे हों, उस समयकी सन्ध्या उत्तम कही गयी है। तारोंके

छिपनेसे सूर्योदयतक मध्यम और सूर्योदयके बादकी सन्ध्या अधम कही गयी है। सायंकालकी सन्ध्या सूर्यके रहते की जानेपर उत्तम, सूर्यास्तके बाद और तारोंके निकलनेके पूर्व मध्यम और तारे निकलनेके बाद अधम कही गयी है।

'तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपासते।'

इस षड्विंश ब्राह्मणके वचनानुसार उस कालयोगके निमित्तक प्राणायाम, जपादि कर्मकलाप-विशेष सन्ध्या शब्दका अर्थ है। स्नान, सन्ध्या, जप, देवताओंका पूजन, वैश्वदेव और अतिथि-सत्कार—ये छः कर्म प्रतिदिन अवश्यकरणीय हैं। सन्ध्योपासन द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य)-का नित्यकर्म है। '**अहरहः सन्ध्यामुपासीत**'— इस तैत्तिरीय श्रुतिके अनुसार प्रतिदिन सन्ध्या करना अनिवार्य है। सन्ध्या नित्यकर्म है, जिसे करना अनिवार्य है। नहीं करनेपर पापका भागी होना पड़ता है। कहा है—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥
अनर्हः कर्मणां विप्रः सन्ध्याहीनो यतः स्मृतः॥

(छान्दोग्यपरिशिष्ट)

जो द्विज सन्ध्या नहीं करता, वह सर्वदा अपवित्र रहता है और समस्त कर्मोंके योग्य नहीं रहता। वह जो कुछ कर्म (धर्म-कर्म) करता है, उसका फल उसे नहीं मिलता। और भी—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चैव जायते॥

(श्रीमद्देवीभा० ११। १६। ७)

जिसने सन्ध्याका ज्ञान नहीं किया, जिसने सन्ध्याकी उपासना नहीं की, वह (द्विज) जीवित रहते शूद्रके समान रहता है और मरनेपर कुत्तेकी योनि पाता है।

नित्यकर्मका लोप होनेसे प्रायश्चित्त लगता है। कहा है— **नित्यान्न करणे प्रायश्चित्तसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।**

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(मनु० २। १०३)

जो प्रातःकालीन सन्ध्या नहीं करता और न ही सायंकालीन सन्ध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान समस्त धर्म-कर्मसे अलग कर देनेयोग्य है।

समयपर की गयी सन्ध्या इच्छानुसार फल देती है और असमयमें की गयी सन्ध्या बाँझ स्त्रीके समान निष्फल होती है।

सूतकमें भी सन्ध्या करनी चाहिये—

सूतके मृतके कुर्यात् प्राणायाममन्त्रकम्।
तथा मार्जनमन्त्रास्तु मनसोच्चार्य मार्जयेत्॥

जननाशौच (जन्मका सूतक) और मरणाशौच (मृत्युका सूतक)-में भी बिना मन्त्रके प्राणायाम करना चाहिये और मार्जनके मन्त्रोंका मनसे उच्चारण करके बिना जलके ही मार्जन करना चाहिये।

उदयास्तमयादूर्ध्वं यावत्स्याद् घटिकात्रयम्।
तावत्सन्ध्यामुपासीत प्रायश्चित्तं ततः परम्॥

(श्रीमद्देवीभा० ११। १६। ९)

सूर्योदय और सूर्यास्तके तीन-तीन घड़ी बादतक सन्ध्याकाल (सन्ध्या करनेका समय) रहता है। इसके बाद करनेसे प्रायश्चित्त लगता है। सामान्यतया सन्ध्यामें सूर्यको तीन बार अर्घ्य दिया जाता है। निश्चित समयके बाद सन्ध्या करनेपर प्रायश्चित्तके रूपमें '**आकृष्णेन रजसा०**' यह मन्त्र बोलकर चौथा अर्घ्य देना चाहिये।

व्यासदेवने सूर्योदयसे पूर्व दो घड़ी सन्ध्याकाल कहा है।

अग्निस्मृतिमें ब्राह्मणके लिये सूर्योदयसे पूर्व दो मुहूर्त, क्षत्रियके लिये उससे आधा और वैश्यके लिये क्षत्रियसे आधा समय बतलाया है। सन्ध्योपासना प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल—इन तीनों समयोंमें की जानी आवश्यक कही गयी है।

जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात्॥
सन्ध्यां प्राक् प्रातरेवं हि तिष्ठेदासूर्यदर्शनात्।

(या०स्मृ०, आचाराध्याय, श्लोक २४-२५)

सायंकालमें पश्चिमकी तरफ मुँह करके जबतक तारोंका लक्ष्य न हो और प्रातःकालमें पूर्वकी ओर मुँह करके जबतक सूर्यका दर्शन न हो तबतक जप करता रहे।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च प्रणवाद्यामिमां जपेत्।
अन्ते यः प्रणवं कुर्यान्नासौ सिद्धिमवाप्नुयात्॥

(या०स्मृ०)

गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी गायत्रीके आदिमें 'ॐ' का उच्चारण करके जप करें और अन्तमें 'ॐ' का उच्चारण न करें; क्योंकि ऐसा करनेसे सिद्धि नहीं होती।

विप्रो वृक्षो मूलकान्यत्र सन्ध्या
वेदः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं
छिन्ने मूले नैव वृक्षो न शाखा॥

(श्रीमद्देवीभा० ११।१६।६)

ब्राह्मण वृक्ष है, मूल सन्ध्या हैं, वेद शाखाएँ हैं, धर्म और कर्म पत्ते हैं, अतः मूलकी यत्नसे रक्षा करनी चाहिये। मूलके छिन्न हो जानेपर वृक्ष और शाखा कुछ भी नहीं रह सकते।

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोके सनातनम्॥

(अभि०)

इस पृथ्वीपर जितने भी स्वकर्मरहित द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) हैं, उनको पवित्र करनेके लिये ब्रह्माने सन्ध्याकी उत्पत्ति की है। रात या दिनमें जो भी अज्ञानवश विकर्म हो जायँ, वे त्रिकाल सन्ध्या करनेसे नष्ट हो जाते हैं—

यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां तु विकर्मस्था द्विजातयः।
तेषां वै पावनार्थाय सन्ध्या सृष्टा स्वयंभुवा॥
निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रैकाल्यसन्ध्याकरणात् तत्सर्वं विप्रणश्यति॥

(बृ० योगि० ६।९, याज्ञ० प्राय० ३०७)

यहाँ उपासनाका अर्थ ध्यान करना है। ध्यानपूर्वक जपको ही उपासना कहते हैं। सन्ध्यामें उपासना ही प्रधान है। देवताका ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करे। मनुने भी कहा है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥

ऋषियोंने दीर्घकालतक सन्ध्या (सन्ध्योपासन) करके लम्बी आयु प्राप्त की थी और प्रज्ञा, यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चसत्व प्राप्त किया था। अतः तीनों कालोंमें गायत्रीदेवीके ध्यानपूर्वक यथासाध्य जपके साथ सन्ध्या अवश्यकरणीय है।

दैनिक चर्या और गायत्री-साधना

(दण्डीस्वामी श्रीमद्दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'स्तुता मया वरदा वेदमाता...' चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदमें जिनकी महिमा विस्तृत वर्णित है, उन वेदमाता गायत्रीको छान्दोग्योपनिषद्‌में सर्व-वेदोंका सार, सर्ववेदोंकी जननी, परब्रह्मस्वरूपा, कामदा, मोक्षदा एवं त्रिपदा कहा गया है। गायत्री सर्वपापोंका विध्वंस करनेवाली है। गायत्री तीनों देव—ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूपा है।

ऋग्वेद (१।१६४।२५)-में वर्णित है कि वे गायत्री वैदिक सप्त छन्दोंमेंसे एक प्रथम छन्द हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (१०।३४) में भी कहा है कि **'गायत्रीछन्दसामहम्'** सर्वछन्दोंमें गायत्रीछन्द मैं हूँ। गायत्री शब्दका मूल अर्थ वाणीका संरक्षण करनेवाला छन्द है। गायत्री **'गायन्तं त्रायते'''** अर्थात् गानेवालेका रक्षण करनेवाली है। शतपथ-ब्राह्मण (६।१।१।१)-में कहा है कि धन्य हुई पृथिवी गाने लगी, अतः पृथिवीको गायत्री कहा गया है।

गायत्रीछन्दके तीन चरण होनेपर उन्हें त्रिपदा गायत्री कहा गया है। प्रत्येक चरणमें ८ अक्षर होते हैं, अतः गायत्रीमन्त्रमें ८×३=२४ (चौबीस) अक्षर हैं।

ऋग्वेदमें गायत्रीका ऐक्य अग्निके साथ कल्पित है। ऋग्वेदमें अग्निसूक्त विशेषतः गायत्रीछन्दमें दिये गये हैं। गायत्रीमन्त्रके द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र हैं। देवता सविता—सूर्य हैं। ऋग्वेद (३।६२।१०)-में गायत्रीमन्त्र दिया है, जिसका अर्थ है **'यो नः धियः प्रचोदयात्, तत् सवितुः देवस्य वरेण्यम् भर्गः धीमहि॥'** अर्थात् वह सूर्यदेवका सर्वश्रेष्ठ तेज—दिव्य तेज, जिसका हम ध्यान करते हैं, हमारी बुद्धिको पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षमें प्रेरित करे।

वेद कहते हैं कि त्रिवर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यको ही यज्ञोपवीतसंस्कारका अधिकार है। ऐसे त्रिवर्णको मस्तकपर शिखा एवं वामस्कन्धपर उपवीत धारण करना चाहिये। त्रिकाल सन्ध्यावन्दन करनेके उपरान्त गायत्रीमन्त्रके जप करनेके बाद तद्दशांश होम, होमका दशांश मार्जन, मार्जनका दशांश ब्राह्मणभोजन करवानेको पंचांग-विधि कहा गया है।

बृहद् पाराशरसंहितामें स्पष्ट आज्ञा है कि '**शिखोपवीतं विना कर्म न कुर्यात् कदाचन**...' अर्थात् मस्तकपर चोटी और वामस्कन्धपर जनेऊ बिना जो कुछ धर्म-कर्म किया जाय, वह सब निष्फल हो जाता है। शिखा-सूत्रविहीन व्यक्ति वेदाध्ययन, यज्ञयाग एवं अन्यान्य धर्म-कर्म करनेका अधिकारी नहीं है। वह गायत्रीमन्त्रके जप करनेका भी अधिकारी नहीं माना गया है।

वेद आज्ञा करते हैं कि ब्राह्मणके वटुको पाँचवें वर्षकी आयुमें, क्षत्रियके वटुको आठवें वर्षकी आयुमें तथा वैश्यके वटुको दसवें वर्षकी आयुमें यज्ञोपवीत-संस्कार करवाकर ऋणमुक्त होना चाहिये। वटुके यज्ञोपवीत-संस्कार करवानेपर उसको दूसरा जन्म अर्थात् 'द्विजत्व' प्राप्त होता है, जिसमें पिता आचार्य और माता गायत्री होते हैं। ऐसा द्विज-वटु गायत्री-साधना एवं यज्ञ-यागादि तथा वेदाध्ययनका अधिकारी है। वही व्यक्ति आगे जाकर श्रोत्रिय (वेदज्ञ) एवं ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मज्ञ) होगा।

त्रिपाद-गायत्रीके प्रारम्भमें प्रणव (ॐ) तत्पश्चात् तीन व्याहृतियाँ (भूः, भुवः, स्वः) हैं। वेदमेंसे खींची गयी होनेसे उनको व्याहृतियाँ कहा गया है। जैसे कि ऋग्वेदमेंसे '**भूः**' यजुर्वेदमेंसे '**भुवः**' और सामवेदमेंसे '**स्वः**'।

गायत्रीमन्त्रके प्रारम्भमें प्रणव (ॐ) है, वह ईश्वरका वाचक है। उसका जप मन्त्रके अर्थकी भावनासहित करना चाहिये। '**तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपः तदर्थ-भावनम्।**'

तैत्तिरीय-उपनिषद्में कहा है कि '**ॐ इति ब्रह्म**...' ॐ जो है, वह 'ब्रह्म' है। 'कठोपनिषद्' कहता है कि सर्व 'वेद' जिस पदका प्रतिपादन करते हैं, सर्व 'तप' और सर्व लोग जिसे तप कहते हैं, जिसके इच्छुक ब्रह्मचर्यका यथार्थ आचरण करते हैं, वह पद संक्षेपमें 'ॐ' है। वह ॐ सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म है। ॐ का उपासक मनोवांछित फल प्राप्त करता है।

प्रणवोपनिषद्में वर्णित है कि 'ॐ' से वेद, छन्द, पुराण, गीत, नृत्य इत्यादि उत्पन्न हुए हैं। अ+उ+म् तथा अर्धमात्रा (ँ) और बिन्दु (ं) मिलकर ॐ बनता है। उन विभागोंको जाग्रत्-अवस्था, स्वप्न-अवस्था, सुषुप्ति-अवस्था एवं तुर्य-अवस्था माना गया है। ॐ के इन विभागोंको विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं आत्मा कहा है।

धर्मग्रन्थोंमें कहा है कि शिखा और यज्ञोपवीत धारणकर त्रिकालस्नान तथा सन्ध्या करनेवाले ब्राह्मणको गायत्रीमन्त्रके जप करते समय प्रारम्भमें, व्याहृतियोंके बाद तथा अन्तमें कुल तीन ॐ का उच्चारण करना चाहिये। क्षत्रियको शिखा एवं यज्ञोपवीत धारण करनेके उपरान्त स्नान-सन्ध्या करके गायत्रीमन्त्र जपते समय मन्त्रके प्रारम्भमें और अन्तमें 'ॐ' का उच्चारण करना चाहिये। वैश्यको गायत्रीमन्त्रके प्रारम्भमें ही केवल एक 'ॐ' का उच्चारण करना चाहिये। गायत्रीमन्त्र केवल तीन चरणोंका और प्रत्येक चरणके ८ अक्षरोंके अनुसार कुल २४ अक्षरोंका ही होना चाहिये, ऐसा वेद कहते हैं।

वसिष्ठधर्मसूत्र (२६।१५) तथा मनुस्मृति (२।७९) इत्यादिमें स्पष्ट कहा है कि त्रिवर्णके शिखा-सूत्रधारी पुरुषोंको स्नान तथा सन्ध्यावन्दन करनेके बाद ही गायत्रीमन्त्रका जप करना चाहिये। ऐसा करनेपर पापोंका परिहार होकर मन-बुद्धि विशुद्ध होते हैं। गायत्रीसाधनामें ब्रह्मचर्यपालन अति आवश्यक है। मन्त्र-जपके प्रारम्भमें ब्रह्मशापविमोचन, वसिष्ठशापविमोचन तथा विश्वामित्र-शापविमोचन करना कहा गया है, फलतः गायत्रीमन्त्रजपका पूर्ण फल शीघ्र प्राप्त होता है।

गायत्रीमन्त्रके जपसे पहले गायत्रीका आवाहन करनेका तथा मन्त्र-संख्या पूर्ण होनेपर विसर्जन करनेका विधान गोभिलऋषिने कहा है। अथर्ववेद (१९।७१।१)-में कहा है कि सविधि गायत्री-मन्त्र-साधना करनेवाले त्रिवर्णको दीर्घायु, सन्तति, सम्पत्ति, ब्रह्मतेज प्राप्त होता है। गायत्री प्राणदायिनी शक्ति है। मृत्युके समय यदि मनुष्यके मुखमें सवालक्ष गायत्रीमन्त्रके दानका संकल्प-जल छोड़ा जाय तो इसका अद्भुत प्रभाव होता है।

गायत्री-साधना सर्वपापोंका विनाशकर साधकका चित्त विशुद्धकर उसे आत्मसाक्षात्कारके प्रति ले जाती है।

पंचमुखी गायत्रीका वर्ण मुक्ता (मोती), विद्रुम (प्रवाल), हेम (सुवर्ण), नील (आकाशी-रंग), धवल (श्वेत) है—ऐसी पाँचमुखी, त्रिनेत्रा, सुवर्णमुकुटमें चन्द्रकलायुक्त, दशभुजा गायत्रीदेवीको कोटिशः प्रणाम।

पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान—नित्यचर्याका अभिन्न अंग

(डॉ० श्रीउदयनाथजी झा 'अशोक', साहित्यरत्न, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट)

सामान्यतः लौकिक जीवनमें स्वयंके भविष्यको सँवारनेके लिये सन्ध्यावन्दनका विधान किया गया है, कुटुम्ब एवं परिवारकी समृद्धिके निमित्त देवपूजाकी व्यवस्था की गयी है। जबकि ऋणमुक्ति एवं समृद्धिहेतु, उत्कृष्ट संस्कार पानेके लिये, नैतिकता-सदाचार-सद्व्यवस्था और सद्व्यवहारके लिये गृहस्थ जीवनमें पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान-विधान अनिवार्य अंगके रूपमें निर्दिष्ट है। धर्म-कर्ममय जीवनमें यह एक आवश्यक कर्तव्य है, जिसका विधान ब्राह्मण-आरण्यक-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र आदिमें पाया जाता है। पंचमहायज्ञमें विधाता, ऋषि-मुनि, पितर, जीव-जन्तु, समाज, मानव यहाँतक कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन मुख्य उद्देश्य होता है। दूसरे अर्थमें कहें, तो पंचमहायज्ञोंमें नैतिकता-आध्यात्मिकता-प्रगतिशीलता एवं सदाशयता देखनेको मिलती है।

हमारा यह पांचभौतिक शरीर पृथ्वी, जल, तेज, आकाश और वायु—इन पंचभूत पदार्थोंसे बना है और अन्तमें इन्हींमें विलीन भी हो जाता है। आकाशसे वायु, वायुसे सूर्य अर्थात् तेज, सूर्यसे जल एवं जलसे पृथ्वी बनती है— **'आकाशाज्जायते वायुः वायोरुत्पद्यते रविः। रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही।'** इनमेंसे एकका भी अभाव हो तो जीवन नष्ट हो जाता है। पेड़-पौधोंका भी हमारे जीवनको बनाने-सुधारनेमें अमिट योगदान है, यहाँतक कि कीट-पतंग, जलचर-नभचरसे भी जीवन अनुप्राणित होता है। इन सबका भी हमारे ऊपर ऋण है। स्वाभाविक है कि ऋण देनेवाले भी हमसे कुछ-न-कुछ अपेक्षाएँ रखते हैं। इनके प्रति हमारा भी कुछ कर्तव्य बनता है। सारे विश्वके प्राणी एक ही सृष्टि-जीवके द्योतक हैं, अतः सबमें आदान-प्रदानका सिद्धान्त नितान्त स्थित है। इस हेतु भी हम पंचमहायज्ञ करनेके लिये प्रेरित हुए। जिसके पीछे भक्ति-कृतज्ञता-सम्मान-प्रियस्मृति-उदारता-सहिष्णुता आदिकी भावनाएँ भी काम करती हैं। अतएव महामति मनुने कहा है—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥
(२।२८)

अर्थात् वेदाध्ययनसे, मधु-मांसादिके त्यागरूप व्रतसे, हवनसे, त्रैविद्य नामक व्रतसे, ब्रह्मचर्यावस्थामें देवर्षि-पितृ-तर्पण आदि क्रियाओंसे, गृहस्थाश्रममें पुत्रोत्पादनसे, महायज्ञोंसे और ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंसे यह शरीर ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाया जाता है।

इन यज्ञोंको और स्पष्ट करते हुए मनुस्मृति (३।७०)-में कहा गया है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

अर्थात् वेदका अध्ययन और अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ है तथा अतिथियोंका सत्कार करना नृयज्ञ है।

वैदिक कालसे ही इन पंचमहायज्ञोंके सम्पादनकी व्यवस्था चली आयी है। ये पाँचों महायज्ञ महासत्रके समान हैं। शतपथब्राह्मण (११।५।६।१)-में कहा गया है कि— **'पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञः ब्रह्मयज्ञ इति।'** केवल शतपथमें ही नहीं, अपितु तैत्तिरीय आरण्यक, आश्वलायनगृह्यसूत्र, पराशरमाधवीय, बौधायनधर्मसूत्र, गौतम-गोभिलस्मृति आदि अनेकों प्राचीन एवं आर्षग्रन्थोंमें इन पंचमहायज्ञोंका वर्णन प्राप्त होता है, जिनके आधारपर संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि जब अग्निमें आहुति दी जाती है तो उसे देवयज्ञका नाम दिया जाता है। प्रतिदिन स्वाध्याय अर्थात् वेदकी अपनी शाखाका अध्ययन, वेदपाठ—'ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है। जब पितरोंको स्वधा दी जाती है, उनका श्राद्ध या पार्वण किया जाता है, जलमात्रसे भी यदि तर्पण किया जाता है, तो 'पितृयज्ञ' बन जाता है। इसी तरह अतिथियों, ब्राह्मणोंको भोजन कराना जहाँ 'मनुष्ययज्ञ' होता है, वहीं जीवोंको बलि दिये जानेसे भोजनका ग्रास या पिण्ड अर्पित किये जानेसे 'भूतयज्ञ' कहलाता है।

गृहस्थ प्रतिदिन झाड़ू-पोंछा, अग्निकुण्ड, चक्की, सूप, जलघट आदि स्थान या सामग्रीके द्वारा प्राणियोंको आहत करता है, उन्हें मारता है। अन्न तैयार करते समय अथवा भोजन-निर्माणार्थ कई क्रियाएँ की जाती हैं, जिनसे जीव-जन्तुओंकी हिंसा हो जाती है। शास्त्रोंमें ऐसी पाँच

हिंसाओंका वर्णन किया गया है—

कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।

पञ्चसूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात्प्रणश्यति॥

अर्थात् कूटना, पीसना, चूल्हा, जल भरना और झाड़ू लगाना—इन सभी पापोंका नाश पंचमहायज्ञसे ही होता है। ये पाँचों क्रियाएँ हिंसक होती हैं, पर इनके अलावा भी कई तरहकी क्रियाओंके माध्यमसे सूक्ष्म जीव-जन्तुओंकी हिंसा हो जाती है। ऐसी हिंसाको जिसे कि जीवनमें टाला नहीं जा सकता, शास्त्रोंमें 'सूना' कहा गया है। इसकी संख्या पाँच होनेसे ये 'पंचसूना' कहलाते हैं। इन्हीं पाँच सूनासे विमुक्त्यर्थ अथवा झाड़ना-कूटना-पीसना आदि क्रियाओंके द्वारा होनेवाले पापोंसे मुक्तिके लिए भूतयज्ञकी व्यवस्था दी गयी है। केवल समाजका ही नहीं खाना चाहिये, उन्हें खिलाना भी चाहिये। इसी बातको ध्यानमें रखकर नृयज्ञ अथवा मनुष्ययज्ञ किया जाता है। जो व्यक्ति अपने सामर्थ्यके अनुसार यह पंचमहायज्ञ करता है, सुतरां सभी पापोंसे वह मुक्ति पा लेता है। तैत्तिरीय आरण्यक (११। १०)-के मतमें जहाँ ये पंचमहायज्ञ अजस्ररूपसे गृहस्थोंको धन-समृद्धिसे परिपूर्ण करते हैं; वहीं आश्वलायनगृह्यसूत्र (३। १। १-४)-ने इसे प्रतिदिन करनेका विधान बताया है।

इन पंचमहायज्ञोंका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

१. ब्रह्मयज्ञ—पाँचों महायज्ञमें ब्रह्मयज्ञ प्रथम और सर्वश्रेष्ठ है, इसके करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति तो होती ही है, साथ ही विविध प्रकारके अभ्युदयकी सिद्धि भी कही गयी है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शतपथब्राह्मणमें और सबसे विस्तृत वर्णन तैत्तिरीय आरण्यकमें देखा जाता है। शतपथ (११। ५। ६। ३-८)-के अनुसार प्रतिदिन किया जानेवाला स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। इस यज्ञके माध्यमसे देवताओंको दूध-घी-सोम आदि अर्पित किये जाते हैं, प्रतिफलमें देवता प्रसन्न होकर उन्हें सुरक्षा, सम्पत्ति, दीर्घ आयु, दीप्ति—तेज, यश, बीज, सत्त्व, आध्यात्मिक उच्चता तथा सभी प्रकारके मंगलमय पदार्थ प्रदान करते हैं। साथ ही इनके पितरोंको घी एवं मधुकी धारासे सन्तुष्ट करते हैं। यहाँतक कि स्वाध्याय करनेवालेको लोकमें त्रिगुण फल प्राप्त होते हैं। शतपथब्राह्मणमें यह स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन स्वाध्याय (वेदाध्ययन तथा आर्ष ग्रन्थोंका अध्ययन) करता है, उसे उस व्यक्तिसे तिगुना फल प्राप्त होता है जो दान देने या पुरोहितोंको धन-धान्यसे पूर्ण सारा संसार देनेसे प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्यपूर्वक आचरण करते हुए पिता-माता-गुरु आदि श्रेष्ठजनोंकी सेवा-शुश्रूषा, उनकी आज्ञाओंका पालन

गुरुजनोंके श्रीचरणोंमें बैठकर निष्ठापूर्वक वेदाध्ययन तथा स्वाध्याय करना ब्रह्मयज्ञका अंग माना गया है।

स्वाध्याय-ग्रन्थोंमें यद्यपि चारों वेद-ब्राह्मण-कल्प-पुराण आदि लिये जाते हैं, परंतु यह भी कहा गया है कि मनोयोगपूर्वक जितना ही स्वाध्याय किया जा सके, करना चाहिये।

२. देवयज्ञ—गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्रोंके अनुसार विभिन्न देवताओंके लिये यह यज्ञ किया जाता है। जिन देवताओंके निमित्त यह यज्ञ सम्पादित होता है, उनके नाम अलग-अलग ग्रन्थोंमें अलग-अलग दिये गये हैं, परंतु जो नाम मुख्य हैं, वे हैं—सूर्य, अग्नि, प्रजापति, सोम, इन्द्र, वनस्पति, द्यौ, पृथिवी, धन्वन्तरि, विश्वेदेव, ब्रह्मा आदि। यहाँ यह स्मरणीय है कि मदनपारिजात और स्मृतिचन्द्रिकाके अनुसार वैश्वदेवके देवता दो प्रकारके कहे गये हैं। प्रथम वे जो सबके लिये एक-जैसे हैं और जिनके नाम मनुस्मृतिमें पाये जाते हैं। जबकि दूसरे देवता वे हैं, जिनके नाम अपने-अपने गृह्यसूत्रमें पाये जाते हैं। देवता-विशेषका नाम लेकर 'स्वाहा' शब्दके उच्चारणके साथ अग्निमें जब हवि या न्यूनातिन्यून एक भी समिधा डाली जाती है तो वह देवयज्ञ होता है। मनु (२। १७६) और

याज्ञवल्क्य (१।१००)-के अनुसार देवयजन देवपूजाके पश्चात् किया जाता है। इसके माध्यमसे देवताओंको प्रसन्न किया जाता है और उनके प्रसन्न होनेसे आत्माभ्युदय तथा सभी मंगलमय अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि होती है। यज्ञमुखसे गृहस्थ देवताओंका सान्निध्य अनुभव करते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्वका विकास होता है। वैदिक धारणाके अनुसार देवता सत्यपरायण, उदार, पराक्रमी और सहायशील होते हैं और उनके सान्निध्यानुभवसे मनुष्य भी अपनी आत्मा और शरीरमें इन गुणोंको प्रतिष्ठित करते हैं।

३. पितृयज्ञ—'पितृयज्ञ' शब्दका व्यवहार सर्वप्रथम ऋग्वेद (१०।१६।१०)-में मिलता है, किन्तु वहाँका सन्दर्भ भिन्न है। शतपथब्राह्मणके अनुसार '**पितरस्तु देवा परमोदाराः**', जिनकी परितृप्तिके लिये 'स्वधा' के साथ सोम-हवि-जल समर्पणीय है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।६।८) यह लिखता है कि पितृयज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है—'**पितृयज्ञेन सुवर्गं गमयति**।' पितर जहाँ-कहीं भी रहते हैं अपने वंशजोंकी रक्षा, सहायता वे करते ही रहते हैं। मनुस्मृतिके अनुसार पितृयज्ञ तीन प्रकारके होते हैं—(१) तर्पणके द्वारा (२) बलि-हरणके द्वारा, जिसमें बलिका शेषांश पितरोंको अर्पित किया जाता है तथा (३) दैनिक श्राद्धके द्वारा। इस श्राद्धमें कम-से-कम एक ब्राह्मणको खिलाया जाता है, किंतु प्रतिदिनके श्राद्धमें पिण्डदान नहीं होता और न ही पार्वण श्राद्धकी विधि एवं नियमोंका ही पालन किया जाता है। पितृयज्ञ एक ऐसा महान् कर्तव्य है, जिसके करनेसे व्यक्ति जीवनमें अग्रसर होता चला जाता है। जबतक माता-पिता, गुरुजन जीवित हैं, तबतक तो व्यक्ति उनकी आज्ञाओंका पालन करता रहता है, उनके दिवंगत होनेपर उनके दिखाये मार्गका अवलम्बन करना, उन्हें तिल-जल-पिण्ड आदिसे तृप्त करना, उनके द्वारा निर्दिष्ट आचरणका निर्वाह करना, उनकी कीर्तिको उत्तरोत्तर प्रशस्त करना सन्ततिका कार्य बन जाता है।

पुराणोंमें यह निर्दिष्ट है कि प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक अन्न-जल-दुग्ध-फल-मूल आदिसे पितरोंका श्राद्ध करना चाहिये। भगवान् वेदव्यासजी महाभारत (आदिपर्व ४।९)-में कहते हैं—'**देवान् वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वा जगाम ह**।' अनुशासनपर्व में पितृयज्ञको 'श्राद्ध' माना गया है और कहा है कि प्रत्येक पितृमासमें तर्पणके द्वारा अपने पितरोंको तृप्त करना चाहिये। परंतु आजकल कुछ लोग तर्पण-पार्वण तो करते हैं, पर शेष प्रतिवर्ष पितृपक्षमें ही ब्राह्मण-भोजन कराकर अपने कर्तव्यको सीमित कर लेते हैं।

४. भूतयज्ञ—भूतयज्ञ एक ऐसा व्रत है, जिसमें सभी प्रकारके जीवोंका पोषण हो जाता है। मनुष्य, चाण्डाल, गाय, बैल, कुत्ता, कीट-पतंग आदि जितने भी भूत (प्राणी) हैं, उन सभीको सावधानीपूर्वक अन्न, जल, घास आदि भोज्य देना इस यज्ञका उद्देश्य है। भूतयज्ञका यह उद्देश्य उपनिषद्के '**सर्वे भवन्तु सुखिनः**' वाक्यमें ही सन्निहित है। सभी प्राणियोंके पोषक होनेके कारण 'पुरुष' शब्दकी सार्थकता कही गयी है—'**पूरयति सर्वमिति पुरुषः**।'

५. नृयज्ञ—नृयज्ञ अथवा मनुष्ययज्ञका ही दूसरा नाम है अतिथियज्ञ, जिसका तात्पर्य है अतिथिका सत्कार या सम्मान करना। गुरु भी समावर्तनके समय अपने शिष्यसे कहता है कि अतिथिका पूजन करो, वह देवताके सदृश होता है—'**अतिथिदेवो भव**' (तैत्ति० उप० १।११।२)। वेद और वैदिक साहित्यमें भी अतिथि-सत्कारको बड़ा महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद (१।७३।१, ५।१।८ आदि)-में जहाँ कई मन्त्र इसके प्रमाण हैं, वहीं अथर्ववेद (९।६)-में भी इसकी उत्कृष्टताका गायन हुआ है, यजुर्वेद भी अतिथि-सत्कारकी प्रशस्ति गाता है। जब कि तैत्तिरीयसंहिताके मतमें घरमें जब अतिथिका पदार्पण होता है तो उसे घृताधिक्यवाला आतिथ्य दिया जाता है। जो अतिथि रथ या गाड़ीमें आता है, वह जहाँ सम्माननीय अतिथि है, वहीं प्रसिद्धि पा चुका योग्य व्यक्ति विशिष्ट अतिथि कहलाता है—इनका सम्मान इनके अनुसार ही करना चाहिये, परंतु अपनी सामर्थ्यसे अधिक नहीं, वह भी वर्णानुक्रमसे।

महाभारत (शान्ति० १४६।५)-में कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष अपने काटनेवालेको भी छाया प्रदान करता है, उसी प्रकार अपने घर आये शत्रुका भी सम्मान करना चाहिये। परंतु प्रश्न है कि अतिथि किसे कहें, अतिथि है कौन? जैसा कि 'अतिथि' शब्दसे ही विदित होता है कि वह कभी भी, काल-अकाल पहुँच सकता है। मनु लिखते हैं कि जो पूरे एक दिन न रहे अथवा केवल एक रातके लिये ही आये, अतिथि कहलाता है—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते॥

(३।१०२)

गृहस्थोंको चाहिये कि इनका स्वागत-सत्कार करते हुए भोजन करायें। बौधायनधर्मसूत्र (२।९।१-२)-के

मतमें बलिहरणके बाद गृहस्थको अपने घरके आगे उतनी देरतक अतिथिकी प्रतीक्षा करनी चाहिये, जितनी देरमें एक गाय दुही जा सकती है। महाभारतमें अतिथियज्ञकी पंचांगिनी दक्षिणाका विधान इस प्रकार बताया गया है—

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥

(१९१।८)

मनु भी लिखते हैं—

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥

(४।२९)

इस प्रकार नृयज्ञ कर्तव्यपरायणता, उदात्त भावना और सर्वभूत दयाका प्रेरणा स्रोत है। इससे सांस्कृतिक अभ्युत्थान अवश्यम्भावी है।

अन्तमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्रह्मयज्ञसे जहाँ ज्ञानकी धारा प्रवर्तित होती है, देवयज्ञसे देवोंके पराक्रम-परोपकारको आत्मसात् किया जाता है, पितृयज्ञसे तपका संचय किया जाता है, भूतयज्ञसे समस्त प्राणिमात्रमें ऐक्य भावना जाग्रत् होती है, वहीं अतिथि यज्ञसे सर्वजनसम्पृक्तत्व प्रसाधित होता है। अतः—

विचारमननध्यानज्ञानरूपसमाधिकान्।
कुर्यात्पञ्च महायज्ञान् नित्यं ब्राह्मण्यसिद्धये॥

अभिवादनका स्वरूप-रहस्य और फल

(विद्यावाचस्पति डॉ० आर०वी० त्रिवेदी 'ऋषि', वैद्याचार्य, आयुर्वेदशास्त्री)

विद्याबहुल, विश्वगुरु, धर्मप्राण देश भारत अध्यात्म-चेतना, संस्कृति और सदाचारका सदासे केन्द्र रहा है। भारतीय संस्कृतिमें अभिवादन, प्रणाम, आज्ञापालन एवं हरिस्मरणका बड़ा महत्त्व है। यह प्रवरजनों और मान्यजनोंके प्रति श्रद्धा, लगाव या झुकावका प्रतीक है। हमारी संस्कृतिमें मानव ही क्या जड़-जंगम तथा अन्य जीव भी आदरके पात्र हैं; यहाँ वृक्षों, नदियों, सरोवरों, शैलखण्डोंको भी देवता मानकर पूजा जाता है और नमन किया जाता है, अपनी आस्था और श्रद्धा समय-समयपर दिखायी जाती है तथा उनसे मनोभिलषित कामनाएँ प्राप्त की जाती हैं। घरके, समाजके सभी वृद्धों, ज्ञानवृद्धों, आयुवृद्धों, अतिथियों, साधु-सन्तोंको अपनी समाज-कुलपरम्पराके अनुसार प्रणाम, अभिवादन और पूजनके द्वारा, शुद्ध आस्थासे हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर, चरणस्पर्श करके, चरणरज या चरणोदक लेकर प्रणम्योंसे विविध प्रकारके आशीर्वाद तथा मनौतियाँ प्राप्त की जाती रही हैं।

प्रणाम-अभिवादन, चरणवन्दनकी रीति आजकी नहीं, युगों-युगोंकी है। प्रणाम एक छोटी-सी प्रक्रिया है, जीवनरूपी क्षेत्रमें आशीर्वादका अन्न उगानेका बीजमन्त्र है, सुर-असुर, नाग, किन्नर तथा गन्धर्व सब-के-सब इस वशीकरण मन्त्रके वशमें रहते हैं। प्रणाम एवं अभिवादन मानवका सर्वोत्तम सात्त्विक संस्कार है। मूलतः प्रणाम स्थूल शरीरका न होकर अन्तरात्मामें स्थित प्रभुको किया जाता है।

मुसलिम भाइयोंमें तथा अन्य वर्गके लोगोंमें कमर झुकाकर पृथ्वीतक सीधा हाथ ले जाते हुए फिर मस्तकतक ले जाते हुए बन्दगी या जुहार किया जाता है, जिसका अभिप्राय यही हो सकता है कि आपकी चरणधूलिको हम विनम्रतासे मस्तकसे लगाते हैं। सेनाके सैनिक सावधानीसे पैर फटकारते हुए बाँह मोड़कर अँगुली सीधी करके कनपटीतक ले जाते हैं। इसे सैल्यूट कहते हैं।

बिना हाथ जोड़े, बिना मस्तक झुकाये, बिना मुँहसे बोले प्रणाम नहीं होता। एक हाथसे, हाथकी अँगुलीसे या हाथमें छड़ी लेकर, सिरस्त्राणसहित या हाथमें हाथ लेकर प्रणाम करना प्रणाम नहीं कहलाता। ये सभी प्रकारान्तरसे अवहेलना या हास्यास्पद हैं।

महर्षि व्याघ्रपादके मतानुसार एक हाथसे अभिवादन करनेसे जीवनभरका पुण्यार्जन समाप्त हो जाता है—

जन्मप्रभृति यत्किंचित् सुकृतं समुपार्जितम्।
तत्सर्वं निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात्॥

बायें हाथसे नमस्कार करने और लेनेसे प्रथम कर्ता फिर स्वीकारकर्ताकी हानि अवश्यम्भावी है।

देवालय या देवविग्रहके समक्ष हँसी, मजाक या गाली-गलौज, क्रोध आदिसे वातावरणको दूषित नहीं करना चाहिये। धूम्रपान, मद्यसेवन करके वहाँ नहीं जाना

चाहिये। इधर-उधरकी बातोंसे मन हटाकर विनम्रतासे अंजलि बाँधकर देवविग्रहको प्रणाम करना चाहिये।

गुरुजनोंके वचनोंपर विश्वास करना तथा उनकी आज्ञाका पालन करना भी अभिवादन और विनम्रताका ही रूप है, इससे गुरुजन प्रसन्न होते हैं। इसमें उनका सम्मान भी है। यदि कोई महापुरुष मनसे नहीं चाहते कि कोई उनके चरणस्पर्श करे या प्रणाम करे तो नहीं करना चाहिये; क्योंकि उनकी प्रसन्नता उनकी आज्ञापालनमें है, उनके प्रसन्न होनेमें आपका लाभ है।

महर्षि मनुमहाराजके अनुसार मौसी, भाभी, सास, बुआ, बड़ी बहन—ये सभी गुरुपत्नीके समान हैं, इनका आदर और अभिवादन होना चाहिये।

दूसरे सम्प्रदायके लोगोंसे व्यवहार करते समय उनकी मर्यादाका पालन करना चाहिये। ऐसा करनेसे पारस्परिक प्रेम, सौहार्द, आदरभाव और विनम्रताकी वृद्धि होती है।

प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम माता-पिता तथा अपनेसे बड़े या प्रवरोंको प्रणाम करना नित्यविधिमें आता है।

अष्टांग-प्रणामकी अभिक्रियामें जानु, पाद, हाथ, उर, बुद्धि, सिर, वचन और दृष्टिका संयोग होता है—

जानुभ्यां च तथा पद्भ्यां पाणिभ्यामुरसा धिया।
शिरसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥

प्रणाम करते समय व्यक्तिको पेटके बल लेटकर भूमिपर अपने दोनों हाथ आगे करना चाहिये। इस क्रममें मस्तक, भ्रूमध्य, नासिका, वक्ष, उरु, पेट, घुटने, करतल तथा पैरोंकी अँगुलियोंके अग्रभागको भूमिस्पर्श करना चाहिये। तदनन्तर दोनों हाथोंसे प्रणम्यके चरणोंका स्पर्श करके घुटनोंके बल बैठकर उनके चरणोंसे अपने करतलोंका स्पर्श करना और उनके पादांगुष्ठोंका हाथोंसे स्पर्श करके अपने नेत्रों तथा वक्षसे लगाना चाहिये तथा साथ ही अभिवादनसूचक शब्द भी उच्चारण करना चाहिये। इसका अभिप्राय सन्तुष्टि तथा शक्तिका अपने अन्दर स्थापन करना है।

घुटनोंके बल बैठकर प्रणम्यके चरणोंका मस्तकसे स्पर्श करना या हाथोंसे स्पर्श करना प्रणामका अर्धरूप है।

चरणस्पर्श उन्हीं प्रवरोंका होता है, जिनकी समीपता सुलभ है। जिनका सामीप्य सुलभ नहीं है, उनके प्रति अपनी श्रद्धा, कृतज्ञता आदिका ज्ञापन उनका स्मरण करके चरण-वन्दन या नमस्कार बोलकर अथवा मानसिक रूपसे ही होता है।

अपने समान लोगोंको दोनों हाथ जोड़कर, वक्षःस्थलके समक्ष लगाकर, अंजलि बाँधकर, मस्तक झुकाकर अभिवादन करना चाहिये।

अपनेसे बड़ोंके आनेपर देखते ही खड़ा हो जाना चाहिये और आगे बढ़कर अभिवादन करना चाहिये। कोई विशेष स्थिति या परिस्थिति न हो तो उनके पासतक आनेकी प्रतीक्षा न करके स्वयं उनके पासतक जाना चाहिये। उन्हें अपने पास अभिवादन या चरणस्पर्शहेतु नहीं बुलाना चाहिये। पास आनेपर उन्हें आदरसे बिठाना चाहिये और सत्कार करना चाहिये। कभी भी पूज्य या प्रवरको सोते या लेटे होनेकी स्थितिमें अभिवादन या चरणस्पर्श नहीं करना चाहिये। न इधर-उधर उन्हें खिसकाकर या हाथ-पैर खींचकर प्रणाम या अभिवादन करना चाहिये। अपने अन्दर श्रद्धा, आस्था और अर्पण भाव हो तो अभिवादनका आपको आशाजनक फल प्राप्त होगा।

प्रणाम, अभिवादन प्रणम्यके सामनेसे ही करें, दायें-बायें या पीठ पीछेसे न करें। साथ ही पूर्वपरिचय न हो तो नाम, गोत्र, स्थान, पितादिका नाम बोलकर दूरसे ही जूते-चप्पल उतारकर तथा शिरस्त्राणके बिना हाथोंकी अंजलि बाँधकर प्रणाम किया जाना चाहिये, किंतु स्त्री सिर ढककर ही प्रणाम करे।

देवविग्रहको, आचार्यको, साधुको और अन्य पूज्य सम्मान्य जनोंको, देवालयको या देवप्रतिमाको, संन्यासीको, त्रिदण्डी स्वामीको, साधु-महात्माओंको देखकर जो प्रणाम नहीं करता; वह प्रायश्चित्तका भागी होता है—

देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम्।
नमस्कारं न कुर्वीत प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥

यदि स्नान न किये हों, शरीर शुद्ध न हो, अशुचि अवस्था हो तो प्रवरजनोंका स्पर्श न करे।

स्नान करते समय, दन्तधावनके समय, शौचादिके समय, तैलाभ्यंगके समय, शव ले जाते समय प्रणाम करनेकी आवश्यकता नहीं। श्मशानमें, कथास्थलमें, देवविग्रहके सम्मुख केवल मानसिक प्रणाम करे। यदि स्वयं भी इसी स्थितिमें हो तब भी मानसिक प्रणाम करे।

अपनेसे छोटी आयुके बच्चोंको प्रणामका स्नेहमयी वाणीसे आशीर्वादात्मक उत्तर दे।

दूरसे, जलमध्यमें, दौड़ते हुए या धनके कारण

घमण्डीको, क्रोधीको, मदोन्मत्त या पागलको भी नमस्कार न करे—

दूरस्थं जलमध्यस्थं धावन्तं धनगर्वितम्।
क्रोधवन्तं मदोन्मत्तं नमस्कारोऽपि वर्जयेत्॥

दम्भ, झूठ और हिंसारहित वेदाभ्यासी; तपस्या, सन्तोष एवं भक्तियुक्त ब्राह्मणका आशीर्वाद तो क्या दर्शन ही लाभप्रद है।

वृद्धजनोंके नमस्कारसे प्रभुको नमस्कार हो जाता है। प्रवर तथा प्रणम्य कई प्रकारके होते हैं, आयुमें कम हों, किंतु ज्ञान तथा तपस्यामें एवं पदमें बड़े हों तो प्रणम्य हैं। त्याग एवं ज्ञानके अनन्तर विद्या और उसके पश्चात् वर्णका विचार किया जाता है। अवस्थाका विचार तो मात्र अपने ही वर्णमें होता है।

शुकदेवजी ज्ञान तथा तपस्याकी मूर्ति थे। इसी कारण उनके पिता श्रीवेदव्यासजीने उन्हें अभ्युत्थान दिया और प्रणाम किया। इसी प्रकार श्रीगणेशजीने अपने माता-पिताकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न किया और देवताओंमें प्रथम पूज्य, अग्रगण्य और गणनायकका स्थान प्राप्त कर लिया।

चरणोंके प्रति विभिन्न क्रियाओंसे हम अपने अनेक भाव मौन रहकर भी व्यक्त कर देते हैं। चरणस्पर्शसे आदर-भाव, चरण पकड़कर अथवा चरणोंमें सिर झुकाकर क्षमायाचना और समर्पणभाव दर्शाये जाते हैं। इसी प्रकार चरण दबाकर सेवाभाव, क्षमायाचना अथवा विनतीका भाव प्रकट किया जाता है। किसीके आगमनपर चरण धोकर प्रसन्नता तथा आदरभावका प्रदर्शन होता है। गुरुनानकदेवने अपने शिष्य अंगददेवजीको जब गद्दीका भार सौंपा तब श्रीफल, दक्षिणा तथा उत्तरीय देकर चरणस्पर्श और नमस्कार किया था।

रोमन कैथोलिक ईसाई समुदायके सर्वोच्च धर्मगुरु पोप गुडफ्राइडेके एक दिन पूर्व होली थर्सडे सर्विसके अवसरपर १२ व्यक्तियोंके चरण धोते हैं; क्योंकि ईसामसीहने सूलीपर जानेसे पूर्व रातको अपने शिष्योंके पैर धोये थे।

महर्षि मृकण्डुको पता चला कि उनके पुत्रकी आयु मात्र छः माह शेष है तो उन्हें चिन्ता हुई और उन्होंने अपने पुत्र मार्कण्डेयका यज्ञोपवीत कराकर उपदेश दिया—वत्स! तुम किसी उत्तम द्विजको कहीं देखो तो उन्हें विनयपूर्वक प्रणाम करना। बालक मार्कण्डेयने बात मान ली और उनकी प्रणाम करनेकी आदत पड़ गयी। हर आगन्तुक ब्राह्मणको वे नमस्कार करने लगे। एक दिन सप्तर्षि उस मार्गसे निकले, बालक मार्कण्डेयने पता लगते ही उन्हें प्रणाम-निवेदन किया। अब क्या था, सातों ऋषियोंने एक साथ '**दीर्घायुर्भव**' की झड़ी लगा दी तो मार्कण्डेयजी चिरजीवियोंकी श्रेणीमें आ गये। आशीर्वाद प्राप्त हो गया। अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम—इन सातोंके साथ ही आठवाँ नाम चिरजीवियोंमें मार्कण्डेयका भी जुड़ गया।

प्रणामकी महिमाको दर्शानेवाली एक अन्य कथा है, युधिष्ठिरने पादत्राण, रथ और अस्त्र त्यागकर पितामह भीष्मके पास जाकर महाभारतयुद्धमें विजयकी चाहसे उनको प्रणाम किया। भीष्मने कहा—तुम्हारे शील और विनयने मुझे भी परास्त कर दिया, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, '**विजयी भव**' तुम्हारी जीत होगी, इसमें सन्देह नहीं, यह मेरा आशीर्वाद है।

पितामह भीष्मसे आशीर्वाद लेकर महाराज युधिष्ठिर आचार्य द्रोणके पास गये और प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की तथा अपने हितकी बात पूछी तो आचार्य द्रोण बोले, महाराज युधिष्ठिर! यदि युद्धका निर्णय कर लेनेसे पहले तुम मेरे पास न आये होते तो मैं तुम्हें सर्वथा पराजित होनेका शाप दे देता। अब मैं तुम्हारे आनेसे प्रसन्न हूँ, तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया, अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, युद्धमें विजय प्राप्त करो।

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर अपने कुलगुरु कृपाचार्य एवं महाराज शल्यके पास भी गये और उन्हें भी अभिवादन करके प्रसन्न किया और विजयका आशीर्वाद प्राप्त किया।

अब प्रणामके अभावमें भी उदाहरण देखें—

महाराज दिलीप बहुत समयतक निःसन्तान ही रहे तो चिन्तित मनसे अपने कुलगुरु वसिष्ठजीके पास गये। प्रणामाभिवादनके पश्चात् वसिष्ठजीने अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर बताया—तुम एक बार स्वर्गसे लौट रहे थे तो मार्गमें कामधेनुके मिलनेपर तुमने उसे प्रणाम नहीं किया। कामधेनुने इस कारण तुम्हें निःसन्तान होनेका शाप दे दिया कि तुमको मेरी सन्तानकी आराधना-सेवाके बिना निःसन्तान ही रहना पड़ेगा। अतः कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी जो मेरे आश्रममें है, तुम उसकी सेवा करो तो तुम्हें यशस्वी पुत्रकी प्राप्ति होगी। राजाने निष्ठासे गोसेवा

की। साथ ही रानी सुदक्षिणाने भी प्रातः-सायं गौका
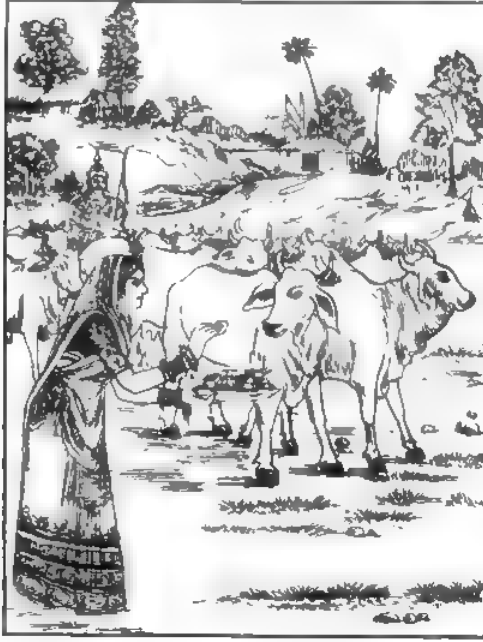
पूजन-वन्दन किया और सेवा की, जिसके प्रभावसे उन्हें पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई।

प्रणाम, अभिवादन तथा सेवाके अभावमें गुरु और पितृजनोंके अभिशापसे सन्तान, सौभाग्य और ऐश्वर्यका अभाव हो जाता है। इस अभावकी पूर्ति भी उन्हें प्रसन्न करनेसे होती है, देखें—

कण्वाश्रममें प्रणयमुग्धा शकुन्तलाको महर्षि दुर्वासाने शाप दे दिया, तू जिसके ध्यानमें बैठी है, वह तुझे भूल जायगा। सखियोंको शापका पता लग गया, अनुनय-विनय तथा प्रणाम-निवेदनसे उन्होंने दुर्वासाको प्रसन्न कर लिया। दुर्वासाने कहा—जब अँगूठी देख लेगा, तब वह स्मरण कर लेगा।

प्रणामकी महत्ता निरूपित करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि वह मानवशरीर व्यर्थ है, जो सज्जनों, गुरुजनों और देवविग्रहके सम्मुख नहीं झुकता—

ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥

(रा०च०मा० १।११३।४)

वह सिर कड़वी तुम्बीके समान है, जो श्रीहरि और गुरुजनोंके चरणोंमें नहीं झुकता।

प्रणामाभिवादनकी महिमा बड़ी महनीय है, परंतु स्त्रीको किसी परपुरुषका चरण-स्पर्श नहीं करना चाहिये। श्रीमद्भागवत (६।१८।३३)-के अनुसार पति ही स्त्रीका परम आराध्य इष्टदेव है—

पतिरेव ही नारीणां दैवतं परमं स्मृतम्।

पतिके अतिरिक्त दूसरे सभी पुरुषोंको बिना स्पर्श किये ही विनम्रताके साथ हाथ जोड़कर नमस्कार करना चाहिये अथवा भूमिपर बैठकर अष्टांग प्रणामका अर्धरूप ही अपनाना चाहिये। क्योंकि—

वसुन्धरा न सहते कामिनीकुचमर्दनम्।

अर्थात् स्त्रीकुचोंका भार पृथ्वी सहन करनेमें असमर्थ है। अतः स्त्रीको साष्टांग प्रणामका निषेध है।

श्रीमद्भागवत (४।३।२२)-के अनुसार प्रणामका रहस्य समझाते हुए स्वयं शंकरजी सतीजीसे कहते हैं—

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा गुहाशयायैव न देहमानिने॥

अर्थात् हे सुमध्यमे! अभ्युत्थान, विनम्रता, प्रणामादि सज्जन लोग आपसमें जो करते हैं, शरीर और शरीरपर अभिमान करनेवाले अहंकारको नहीं करते, बल्कि वे अन्तर्यामीरूपसे सबके अन्तःकरणोंमें स्थित परमपुरुष वासुदेवको ही प्रणामादि करते हैं।

जिस प्रकार समस्त नदियोंकी एकमात्र गति अथवा आश्रय सागर ही है, उसी प्रकार अखिल साधनाओंका अन्तिम लक्ष्य परमात्मा ही है।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

अर्थात् आकाशसे गिरा जल जिस प्रकार सागरकी ओर जाता है, उसी प्रकार सभी देवोंके लिये किया गया नमस्कार भी केशव (ईश्वर)-को ही प्राप्त होता है।

विज्ञानके मतसे दृष्टिपात करें तो प्रत्येक मानवपिण्डमें विद्युत्की आकर्षणशक्ति होती है, जो ऋणात्मक एवं धनात्मक दो प्रकारकी है। इसलिये धनका धनसे और ऋणका ऋणसे स्पर्श होनेसे प्रणम्य और प्रणामकर्ता दोनोंकी निगेटिव-पॉजिटिव धाराएँ मिलती हैं, जिससे गुरुजनोंके सद्गुण प्रणामकर्ताके शरीरमें प्रवेश करते हैं। यही गुरुजनोंके द्वारा सिर या पीठपर वरदहस्त रखने, सूँघने या पुचकारनेसे अन्दर प्रवाहित विद्युत्-शक्तिका संचार प्रणत-जनको ऊर्जान्वित कर देता है।

प्रणामनिवेदनके सन्दर्भमें मनुमहाराजका कथन है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

अर्थात् वृद्धजनों, प्रणम्यजनों, माता-पिता आदिको जो नित्य सेवा-प्रणामादिसे प्रसन्न करता है; उसके आयु, विद्या, यश और बल चारोंकी वृद्धि होती है।

इसी बातकी पुष्टि स्कन्दपुराणसे होती है—

अभिवादनशीलस्य वृद्धसेवारतस्य च।
आयुर्यशोबलं बुद्धिर्वर्धतेऽहरहोऽधिकम्॥

अर्थात् वृद्धजनोंकी सेवामें रत अभिवादनपरायण जनोंके आयु, यश, बल और बुद्धिकी दिनोंदिन वृद्धि होती रहती है। तथा—

नीतिशास्त्रके अनुसार—

देवा कुर्वन्ति साहाय्यं गुरुर्यत्र प्रणम्यते।

अर्थात् गुरुओंको प्रणाम करनेसे देवताओंकी कृपा प्राप्त होती है।

बच्चोंमें छोटी आयुसे ही प्रातः उठनेपर प्रभुस्मरण पश्चात् बड़ोंका चरणस्पर्श-अभिवादन करनेकी, समवयस्कोंको राम-राम, राधे-राधे तथा छोटोंको स्नेह करनेकी—इस प्रकार यथायोग्य आदर-सत्कार, आशीर्वाद आदिकी आदत डालनी चाहिये तथा शामको शयनसे पूर्व भी प्रभुस्मरण आदि होना चाहिये। ऐसी शिक्षा सर्वत्र आबालवृद्धमें होनी चाहिये। यह नित्यचर्याका सर्वश्रेष्ठ कर्म है।

आहार-विज्ञान

(डॉ० कु० शैलजाजी वाजपेयी, आहारविशेषज्ञ)

आजकल मानवकी जीवनचर्या पश्चिमकी संस्कृतिसे प्रभावित होकर अवैज्ञानिक, असंयमित, अनियमित, असंस्कारिक और अस्त-व्यस्त होकर तन और मनको अस्वस्थ और तनावग्रस्त बनानेवाली हो गयी है। इसकी पृष्ठभूमिमें भारतीय संस्कृति और धर्मशास्त्रोंमें वर्णित जीवनचर्यासे सम्बन्धित नियमों और निर्देशोंके प्रति अज्ञानता और अर्थकी दौड़में यन्त्रवत् दैनिक चर्या प्रमुख है।

चूँकि मनुष्यके समस्त आचार-व्यवहार, चेष्टा और कर्म शरीरके माध्यमसे ही सम्पन्न किये जाते हैं, अतः मानवशरीरको परमात्माकी अनुपम कृति मानकर उसकी स्वस्थता और सुरक्षाका विशेष ख्याल रखना चाहिये। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह शरीर देवमन्दिर है। इसमें अवस्थित जीव (आत्मा) इसीको अपना आश्रय बनाकर अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है। कर्मयोग, भक्ति और मोक्षसाधना भी इसी शरीरके माध्यमसे सम्भव है।

इसके लिये इस शरीरको स्वस्थ, नीरोग और ऊर्जावान् बनाये रखना नितान्त आवश्यक है। जिस तरह किसी यन्त्र या वाहनको गति प्रदान करनेके लिये ईंधनकी आवश्यकता होती है, वैसे ही शरीरको गतिशील बनाये रखनेके लिये आहारकी आवश्यकता होती है। यह आहार स्वादके साथ शरीरके उदरकी पूर्तिके लिये नहीं, अपितु उसके दीर्घायु-जीवनकी कामना और आरोग्यताके लिये किया जाता है। इसी शरीरमें ईश्वर-अंशरूपी जीव भी अवस्थित है, जो वैश्वानर (जठराग्नि)-रूपसे प्रत्येक प्राणीद्वारा चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय—इस प्रकारसे ग्रहण किये आहारको नैवेद्य-भावसे ग्रहण करता है। इस स्थितिमें ऋषि-मुनियों, आयुर्वेदाचार्यों और मनीषियोंके समक्ष अनेक प्रश्न उपस्थित हो गये; जो सात्त्विक, पवित्र, पौष्टिक और आदर्श आहारसे सम्बन्ध रखते थे। यथा—मानवशरीरके लिये श्रेष्ठ आहार कैसा हो, किन उपकरणों (भोज्य पदार्थों)-का किस मात्रा और अनुपातमें संयोग किया जाय तथा किस विधिसे संस्कारित किया (पकाया) जाय, जिससे वात, पित्त तथा कफ—ये त्रिदोष उत्पन्न न हो सकें, जठराग्नि सम रहे तथा पाचनमें सुगमता हो और इन सबके फलस्वरूप तन, मन, इन्द्रिय और आत्मा प्रसन्नताका अनुभव करे। ये ही स्वस्थ मनुष्यके लक्षण माने गये हैं—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(सुश्रुत-संहिता, सूत्रस्थान १५।४१)

इन प्रश्नोंका हल ढूँढ़ते हुए विद्वानोंके विचारमें ये

प्रश्न भी उपस्थित थे कि किस देश, काल, भौगोलिक स्थिति, जलवायु, वातावरणमें वहाँके व्यक्तिके लिये कौन-सा आहार उपयुक्त होगा, किस तरह, किन लोगों, किस परिस्थिति और किसके माध्यमसे आहार-निर्माण कराया जाय, ताकि व्यक्तिकी शरीररचना, आयु, कर्मके स्वरूपके अनुरूप आवश्यक प्रोटीन, कार्बोज, विटामिन्स, खनिज, लवण, वसा आदि शरीरोपयोगी तत्त्वोंकी पर्याप्त पूर्ति हो। उन्हें इस बातको तय करना था कि भोजन कितनी मात्रा और कितनी बार, किस समयपर ग्रहण करना उपयुक्त होगा। भोजन-ग्रहणकी विधि कैसी हो, ग्रहण करते समय भोजन परोसनेवालेके मनोभाव कैसे हों, किन व्यक्तियोंके साथ और किस व्यक्तिके स्पर्श और दृष्टिदोषसे बचकर भोजन करना हितकर होगा। भोजनोपरान्त कौन-सी क्रियाएँ भोजन पचानेमें सहायक होंगी, उसे भी जानना आवश्यक था आदि-आदि।

विद्वज्जनोंने इन प्रश्नोंको ही आहारके विषय मानकर गहन चिन्तन, मनन और परीक्षणकर एक आदर्श संहिता—भोजनविज्ञान मानवके कल्याणार्थ तैयार की, जिसके प्रमुख बिन्दुओंको आयुर्वेदाचार्य चरकने आठ शीर्षकोंमें इस तरह समाहित कर प्रस्तुत किया है। यथा—

१-प्रकृति (Nature and quality of food products)।

२-करण (संस्कार) (Preparation Technique)।

३-संयोग (Combination)।

४-राशि (मात्रा) (Quantity)।

५-देश (आदत और जलवायु) (Habit and Climate)।

६-काल (Time factor)।

७-उपयोगविधि (Rules of Use)।

८-उपभोक्ता (User)।

'प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति' (च०वि० १।२१)

—इन आठ शीर्षकोंके अन्तर्गत शरीरके लिये आवश्यक गुणोंकी प्राप्तिहेतु समान गुणवाले पदार्थोंका चयन करना **प्रकृति** है। स्वाभाविक गुणोंसे युक्त द्रव्योंमें विभिन्न निर्माणविधिसे अतिरिक्त गुणोंका आधान **करण** या **संस्कार** है। आहारमें अधिक गुणोंकी प्राप्तिहेतु एकसे अधिक समान गुणोंवाले द्रव्योंका सम्मिलन **संयोग** है। संयोगमें द्रव्योंके सम्मिलनका अनुपात-निर्धारण **राशि** या **मात्रा** है। आहारीकी रुचि, देश-कालकी जलवायुके अनुसार द्रव्योंमें अतिरिक्तका आधान लानेहेतु जल, ऊष्मामें आवश्यकतानुसार मात्रामें परिवर्तन, जिससे आहार पथ्य हो, इसका ध्यान रखा जाना एवं अन्तमें इन विधियों—विशेषायतनोंसे आहारीकी सन्तुष्टि और पुष्टता प्राप्त हो, इसके लिये आहारग्रहणविधि तैयार करना **उपभोक्ता**के अन्तर्गत आता है।

इस अष्ट-आहारग्रहणविधिको ध्यानमें रखकर यहाँ आहारप्रकृति, अन्नशुद्धि, भावशुद्धि, कालशुद्धि, मात्रानिर्धारण, देशनिर्णय, क्रियाशुद्धि, आहारग्रहणविधि आदिपर विचार करते हुए भोजनविज्ञानके स्वरूपका निदर्शन प्रस्तुत है—

आहार या भोजनविज्ञान

आहारप्रकृति—प्रत्येक भोज्य पदार्थमें प्रकृतिप्रदत्त तीन गुण—सात्त्विक, राजस और तामस गुण पाये जाते हैं। प्रत्येक गुणका शरीरपर तदनुरूप प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावोंको भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१७।८—१०)-में इस तरह स्पष्ट किया है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

श्रीकृष्णजीके अनुसार सरल, सारवान् और हितग्राही आहार सात्त्विक हैं; इनसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और दाहक, विदाही आहार राजसिक हैं। इनके ग्रहण करनेसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं। बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, जूठा और स्पर्श तथा दृष्टिसे अपवित्र (उच्छिष्ट) आहार तामसिक होते हैं, जिनसे तन-मनमें जड़ता, अज्ञानता और पशुभाव जाग्रत्

होते हैं। इन्हीं तथ्योंके आधारपर विद्वानोंने सात्त्विक आहारको श्रेष्ठ आहार माना है।

अन्नशुद्धि

सात्त्विक आहारका मुख्य घटक है अन्न। अन्नको पवित्र और शुद्ध रखनेके लिये आवश्यक है कि उसे अच्छी तरह छान-बीनकर स्वच्छ जलसे साफकर सुखा दिया जाय। पाकशालामें उपयोगमें आनेवाले बर्तन, कपड़े साफ हों। स्थान हवादार और प्रकाशमय हो। गृहिणी या रसोइया बाह्य एवं आन्तरिक रूपसे शुद्ध हो। उसके परिधान धुले एवं स्वच्छ हों।

अन्न मनुष्यके भौतिक शरीरको पोषित करनेके साथ-साथ सूक्ष्म शरीरकी अवधारणामें भी महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। मनुष्य जैसा अन्न ग्रहण करता है, उसीके अनुसार उसका अन्नमयकोश निर्मित होता है। इसीसे मनोमयकोश अर्थात् मानसिक वृत्तियाँ स्थिर होती हैं तथा इसीसे ज्ञानमय और विज्ञानमयकोश विकसित होते हैं। इसीलिये भारतीय सनातन संस्कृतिमें अन्नसहित आहारशुद्धिपर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धिसे ध्रुवा स्मृति और स्मृतिशुद्धिसे समस्त ग्रन्थियोंका मोचन होता है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

अन्नके सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भावापन्न होता है, चिन्तनशक्ति बढ़ती है। खाया हुआ अन्न आमाशयमें पचकर तीन भागमें विभक्त होता है—स्थूल असार अंश मल बनता है, मध्यम अंशसे मांस और सूक्ष्म अन्न (सत्त्व)-से मनका निर्माण होता है। अतः अन्नकी शुचिता और उसपर किये जानेवाले संस्कार भी शुद्ध होने चाहिये।

भावशुद्धि

यह मानवशरीर परमात्माका मन्दिर है। अतः आहारसेवन शरीरकी पुष्टि और पुष्टिके निमित्तमात्र न होकर नैवेद्यरूपमें ईश्वरार्पणभावसे किया जाय। आहारनिर्माण भी इसी भावसे किया जाना चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि अन्न ब्रह्म है, रस विष्णु है और आहार ग्रहण करनेवाला महेश्वर है—**अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।** यह समझकर प्रेम और भक्तिभावसे भोजन निर्मित होनेपर इसी भावसे उसे ग्रहण करनेसे वह शरीरको पुष्टि प्रदान करता है।

आपने स्वयं अनुभव किया होगा कि घरमें पत्नी,

माँ, बहन आदिद्वारा तैयार किया गया पाक विशिष्ट स्वाद देता है। ऐसा स्वाद पाँच सितारा होटलोंके भोज्य पदार्थोंके ग्रहण करनेपर भी प्राप्त नहीं होता। अन्यथा लोग घरमें भोजन करनेके स्थानपर भोजनालयोंको ही प्राथमिकता देते होते। इसका मुख्य कारण गृहणीका अपने परिवारके प्रत्येक सदस्यके प्रति प्रेम और ममताका भाव है। दूसरी ओर यदि गृहणी असन्तुष्ट, नाराज या चिन्तित अवस्थामें पाक तैयार करती है तो वह भोजन नीरस, रूक्ष और अपथ्य होकर आहारीको अतृप्त और असन्तुष्ट कर देता है।

अतः भोजन तैयार करते समय पाकनिर्माताके मनमें परमात्माके प्रति भावनात्मक प्रेम और भक्ति, परिवारजनोंके स्वस्थ जीवनकामनाके साथ-साथ शुद्ध, शान्त, प्रेममय वातावरणका होना आवश्यक है।

द्रव्यशुद्धि

द्रव्य भी आहारके गुणोंको प्रभावित करता है। अनीति, अनाचार, चोरी, तस्करी, गबन तथा लूटसे प्राप्त धन पापभावसे ग्रसित होनेके कारण भोजनको उच्छिष्ट बना देता है। ऐसे धनसे तैयार किया गया भोजन तामसी गुणोंको उत्पन्नकर आहारीके तन और मनको दुष्प्रभावित कर देता है। यह दुष्प्रभाव आहारीके आचार-व्यवहार,

चालचलन, चिन्तन-मनन और कर्ममें स्पष्ट दिखायी पड़ता है। महाभारतमें भीष्मपितामहका चरित्र इसका प्रबल प्रमाण है। अतः मेहनत और ईमानदारीसे अर्जित द्रव्यसे तैयार भोजन ही सात्त्विक और आरोग्यप्रद होता है।

कालशुद्धि

कालशुद्धिसे तात्पर्य उस समय—कालसे है, जिसमें आहार-ग्रहण करना स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद होता है।

स्वस्थ लोगोंको प्रातः एवं सायं दो बार पूर्ण आहार ग्रहण करना चाहिये, इसके मध्य भोजन नहीं करना चाहिये। यह विधि अग्निहोत्रके समान है—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिबोधितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥

प्रातःकाल और सायं—दोनों भोजनोंके बीच कम-से-कम दो याम या प्रहर (एक याम या प्रहर तीन घण्टेका होता है)-का अन्तर रहे। इससे अन्नरसका परिपाक भलीभाँति होता है। इससे अधिक विलम्ब करनेपर पूर्वसंचित बलका क्षय होता है।

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत्।
याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद्बलक्षयः॥

आचार्य वाग्भटके अनुसार भोजन करनेका उचित अवसर वह है, जब व्यक्ति मल-मूत्र-त्यागके उपरान्त अपनेको हलका महसूस करे, ठीकसे डकार आ जाय, इन्द्रियोंके निर्मल होनेसे मन प्रसन्न हो जाय, भूख लग जाय और भोजनके प्रति रुचि जाग्रत् हो जाय।

यदि आप प्रातः-सायं भोजनके पूर्व कलेवा या जलपान करना चाहते हैं तो कलेवा और भोजनके बीच एक पहरका अन्तर अवश्य रखा जाय अन्यथा अध्यशनकी पीड़ा हो सकती है। अस्वस्थ व्यक्ति वैद्य-डॉक्टरके परामर्शानुसार भोजनकालका निर्णय करें। पूर्व आहार जीर्ण हो (पच) जानेपर ही अपर आहार ग्रहण करना चाहिये।

देश (ऋतुचर्या)

देशके अन्तर्गत स्थानविशेषकी ऋतुओं और इस कालमें उत्पन्न द्रव्योंके गुणोंका अध्ययनकर उनको आहारमें सम्मिलित किये जाने सम्बन्धी निर्णय आते हैं। पश्चिमी देशोंमें जहाँ अधिकांश समय शीत ऋतु रहती है, वहाँ वैसी ही वस्तुओंका बारहों मास सेवन करते रहनेसे उनके निवासियोंकी पौष्टिक आहारकी आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। भारत-जैसे देशमें जहाँ छः ऋतुएँ होती हैं और ऋतुके अनुसार भोज्य पदार्थोंके गुणोंमें भी परिवर्तन होता रहता है, वहाँ आहारके लिये उपयुक्त द्रव्योंका चयन, उनके संस्कार और ग्रहणविधिमें विविधता रखना आवश्यक हो जाता है। इसे ध्यानमें रखकर ही मनीषियोंने ऋतुके अनुसार आहार-विहारका प्रावधान ऋतुचर्याके अन्तर्गत किया है। ऋतुभेदसे वात, पित्त और कफका न्यूनाधिक्य होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्थामें परिवर्तन आता है। चरकसंहिताके सूत्रस्थानमें ऋतुचर्या-विधानके अन्तर्गत निर्दिष्ट आहार-विहारके नियमोंका अनुपालन अवश्य किया जाना चाहिये।

क्षेत्रशुद्धि

आहारकी सात्त्विकता बनाये रखनेके लिये चौका और भोजनगृह—क्षेत्रकी शुद्धि आवश्यक है; क्योंकि प्रत्येक स्थानका वायुमण्डल, वातावरण और पर्यावरण हमारे मनको भी प्रभावित करता है। इन दोनों स्थानोंकी शुद्धि स्वास्थ्यके लिये वैज्ञानिक और लाभदायक है। प्राचीन परम्पराके अनुसार चौका व्यवस्थामें चार प्रकारकी शुद्धियाँ—क्षेत्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धिका समुच्चय रहा। यह स्थान प्रकाशयुक्त, शुद्ध, हवादार और गोबरसे लिपा होता था। इस कमरेमें अनधिकृत व्यक्तिका प्रवेश निषिद्ध रहता था। केवल एक वर्ण और गुणके व्यक्ति ही पाकसामग्री छूनेके अधिकारी होते थे। चौकेके भीतर जो वैज्ञानिकता है, उसे लोग भूलते जा रहे हैं। आज जूते-चप्पल पहने कोई भी गृहिणी या उसकी सहेली, महरी आदि चौकेमें आती-जाती है। पार्टियोंमें भोजन किसी भी सड़कपर नालीके किनारे, बिना किसी सफाई और शुद्धताके, किसीके द्वारा भी तैयार किया जाने लगा है। इसी तरह बाजारोंमें, गलियोंमें, नालीके किनारे खड़े चाट-पकौड़ीके ठेलोंके पास भिनभिनाती मक्खियों, मच्छर,

धूलके बीच खाता हुआ व्यक्ति पर्यावरणकी दूषिताको भूल

जाता है। वह यह भी ध्यानमें नहीं रखता कि ऐसे वातावरणमें बैक्टीरिया, कीटाणु हमारे शरीरमें प्रवेशकर रुग्णता पैदा करते हैं। श्मशान-जैसी अपवित्र और उपवन-जैसी पवित्र जगहमें भोजन करनेसे पाचन-क्रियामें होनेवाले अन्तरको समझकर शुद्ध स्थानमें भोजन पकाने एवं ग्रहण करनेकी आदत डालनी चाहिये।

मात्रानिर्धारण

आहारकी मात्राका निर्धारण आहारीकी शरीररचना, आयु, स्वास्थ्य और भोज्य-पदार्थोंके गुणतत्त्वके आधारपर किया जाना चाहिये। आहारकी मात्रा पचाने (जठराग्नि)-की क्षमतापर निर्भर करता है। जिस व्यक्तिके शरीरमें वात, पित्त, कफ—त्रिदोष सम हों, जठराग्नि ठीक हो, रसादि धातुओंका ठीक निर्माण हो रहा हो, मल-मूत्रकी क्रिया सम हो, आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हो, उस व्यक्तिका आहार हितकर एवं पथ्य होता है।

उपर्युक्त स्थिति तभी सम्भव है, जब मनुष्य स्निग्धपदार्थ—तेल, घी, मलाई आदि जिन्हें आयुर्वेदमें गुरुपदार्थ कहा गया है, सीमित मात्रा अर्थात् भूखकी तीव्रतासे आधा लें तथा सभी समय सुपाच्य भोज्य पदार्थ जैसे अन्न, हरी सब्जियाँ आदि तृप्तिपर्यन्त सेवन करें।

आहारकी मात्राका निर्धारण इस दृष्टिसे करें कि आमाशयका आधा भाग ठोस आहारसे, एक चौथाई द्रवपदार्थसे पूरित हो तथा शेष भाग खाली रहे, ताकि पाचनमें सुविधा रहे।

क्रियाशुद्धि

क्रियाशुद्धिसे तात्पर्य वे सभी कर्तव्य या क्रियाएँ हैं, जो आहारके लिये द्रव्योंके चयन, पाकसंस्कार और ग्रहण करनेहेतु व्यक्तिद्वारा सम्पन्न की जाती हैं।

आहारग्रहणविधि

भारतीय संस्कृतिमें आहारग्रहण करनेहेतु एकल एवं सहभोज—दोनों परम्पराएँ प्रचलित रही हैं। दोनों ही परम्पराओंमें भोजनस्थलके शुद्ध होनेपर विशेष बल दिया गया है। आधुनिक परम्परा इससे विपरीत सिद्धान्तका पालनकर जाने-अनजानेमें अपने शरीरको रोगी बनानेकी दिशामें चल रही है। वर्तमानमें जहाँ-कहीं भी जूते-चप्पल पहने, बिना हाथ-पैर मुँह धोये किसी भी दिशामें खड़े या बैठकर, किन्हीं भी व्यक्तियोंके साथ, किन्हीं भी व्यक्तियोंद्वारा तैयार और परोसे गये आहारविन्यासको आदर्शपद्धति और आधुनिक शिष्टाचारकी संज्ञा दी जाती है।

भारतीय संस्कृति तो आधुनिक तथाकथित सहभोजको गिद्धभोज कहकर उसका तिरस्कार करती है और उसके स्थानपर पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तोंको प्रतिपादित करते हुए स्वच्छ, पवित्र, प्रकाशमय, धूल और कीटाणुमुक्त स्थानपर जूते-चप्पल और शरीरमें धारण किये भारी अधोवस्त्रोंको उतारकर, हाथ-पैर तथा मुखको जलसे साफकर, लकड़ीके पाटे या आसनपर सुखासनमें बैठकर साफ भोजनपात्रमें रखे पाकको पहले भगवान्‌को समर्पितकर शान्त और प्रसन्नचित्त दशामें भोजन करनेका पूरा विधान शास्त्रोंमें प्रस्तुत किया गया है। सहभोजकी व्यवस्थाहेतु भी नियम निर्देशित किये गये हैं। इन विधानोंमें प्रमुख विधान इस प्रकार हैं—

१-स्नानादिके बाद ही भोजन करें—पूर्वाचार्योंके अनुसार मल-मूत्र त्यागनेके बाद प्रातः शीतल जलमें अच्छी तरहसे स्नानकर सन्ध्या, नित्यार्चन समाप्त करनेके अनन्तर भोजन करना चाहिये।

भोजनसे पूर्व हाथ-पैर मुख धोनेसे जहाँ बाह्य गन्दगी दूर होती है, वहीं शीतलता आती है, श्वासगति सम होती है और आयु बढ़ती है।

हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषा पञ्चार्द्रता मता।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥

२-पूर्वाभिमुख होकर भोजन करें—भोजन करते समय पूर्वमुख होनेसे आयु बढ़ती है और दक्षिणकी ओर

मुख रखनेसे यश प्राप्त होता है—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।

(मनु० २।५२)

इसका कारण यह है कि प्राणस्वरूप सूर्य पूर्वसे उदित होते हैं, इनसे प्राण (आयु) और शक्ति प्राप्त होती है।

३-बैठक या आसन—भारतीय परम्परानुसार चाहे जिस स्थानमें बैठकर या खड़े-खड़े भोजन करना ठीक नहीं है। भोजनका स्थान पवित्र, एकान्त, गोमय तथा जलसे सिंचित हो, भूमिपर, लकड़ीके पाटेपर या आसनपर सुखासनमें बैठना चाहिये। लकड़ीका पाटा विद्युत्-कुचालकका कार्य करता है, जिससे भोजनोपरान्त तैयार आन्तरिक ऊर्जाशक्ति जमीनके सम्पर्कमें न होनेसे संरक्षित रहती है। सुखासनमें बैठनेसे आमाशयपर अनावश्यक दबाव नहीं पड़ता है।

४-भोजनपात्रमें सामग्रीकी व्यवस्था—प्रायः भोजन थाली-कटोरीमें रखकर परोसा जाता है। पूर्वमें कांसा धातुसे बने बर्तन उपयोगमें लाये जाते थे। वर्तमानमें स्टील (लोहे)-के बर्तनमें भोजन परोसा जाता है, जो अपवित्र माना जाता है। वर्तमानमें तर्क दिया जाता है कि लोहेके बर्तनका उपयोग करनेसे लौह खनिजकी आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है, यह असत्य है और स्टील तो यथार्थ लौह भी नहीं है। हमारे मनीषी भी लोहेकी उपयोगिता जानते थे, इसीलिये गरम लोहेकी कड़ाही और तवेका उपयोग सब्जियों और रोटीके निर्माणके लिये किये जानेकी अनुशंसा की गयी है।

थालीमें कटोरियोंको रखना उचित नहीं है। वेदविज्ञानके अनुसार जड़ पदार्थोंमें भी क्षीण ज्ञान और स्पर्धाकी भावना रहती है। ज्ञानशक्तिका माप उद्दाम कहा गया है। छोटी कटोरियोंको थालीमें रखनेसे उनमें स्पर्धाभाव उत्पन्न हो जानेसे उसका दुष्प्रभाव भोक्ताके मन और बुद्धिपर पड़ता है।

५-एक वस्त्रमें भोजन न करें—महाभारतमें कहा गया है—**एकवस्त्रो न भुञ्जीत**। अर्थात् केवल एक वस्त्र—कमरके नीचेका वस्त्र पहनकर भोजन नहीं करना चाहिये। प्रायः लोग कमरके ऊपरका भाग खुला रखकर भोजन करते हैं, यह ठीक नहीं है। भोजन करते समय ऐसे व्यक्ति एक उत्तरीय, जो रेशमी हो तो अधिक उपयुक्त होगा, ओढ़ लें। इससे बाहरी वायुसे शरीर-यन्त्रकी क्रियाएँ बाधित नहीं होंगी। साथ ही रेशम कुचालक होनेके कारण भोजनकी भीतरी ऊर्जाको सुरक्षित रखकर बाहरी शक्तिका उसपर परिणाम नहीं होने देता।

६-भोजन भगवान्‌को अर्पित करें—संसारकी सभी वस्तुएँ ईश्वर-प्रदत्त हैं, अतः भगवान्‌को बिना अर्पित किये उन्हें ग्रहण करना पाप होगा। गीता (३।१२)-में कहा गया है—'**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः**' अर्थात् देवताद्वारा प्रदत्त वस्तु उन्हें समर्पण किये बिना जो ग्रहण करता है, वह चोर है। भोजन परोसे जानेके बाद अन्नदेवताका स्मरण करते हुए यह मन्त्र पढ़े—'**तेजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामासि विश्वमसि विश्वायुः सर्वमसि**' अर्थात् हे अन्नदेवता! तुम तेज हो, तुम उत्साह हो, तुम बल हो, तुम ही दीप्ति हो, तुम ही चराचर विश्वरूप हो और तुम ही विश्वके जीवन हो, सब कुछ हो।

इसके पश्चात् भोजनपात्र (थाली)-का परिसेचन अर्थात् उसके चारों ओर जलका मण्डल बनाये। यह क्रिया बाहरी शक्ति और बुरी दृष्टिसे भोजनको सुरक्षित रखनेके लिये सम्पन्न की जाती है।

७-अन्न-संस्कार (बलिवैश्वदेव)—भोजनके लिये घरमें पकायी हुई भोज्य सामग्रीको उसी अग्नि (जिसमें भोजन पकाया गया है)-में पंचभूत—देव, भूत, पितृ, मनुष्य और ब्रह्मको एक-एक ग्रासका होम करना बलिवैश्वदेव या अन्नसंस्कार कहा जाता है। बलिवैश्वदेवमें नमक, तेल और क्षार पदार्थ मिला भोजन निषिद्ध है (**तैलं क्षारं च लवणं सर्वं वैश्वदेवे विवर्जयेत्**)। आहुति देकर जलसे अग्निका मण्डल बनाते हुए प्रणाम करना चाहिये।

८-पंचबलि—तैयार भोजनको पत्तलोंमें एक-एक ग्रास रखकर थालीके दाहिनी ओर गाय, श्वान, काक (कौआ), देवादि और पिपीलिका (चींटी आदि)-का स्मरणकर रख दें। काकबलि पृथ्वीपर रखी जाती है।

दोनों संस्कारोंसे भोजनका भाग सभी प्राणियों और पंचभूतोंको प्राप्त हो जाता है और अन्न संस्कारित होकर ग्रहण करनेयोग्य बन जाता है।

९-भोग—भगवान्‌को भोग देनेके लिये भोजनके तीन ग्रास तैयारकर एक-एक ग्रास थालीके सामने पात्रसे पाँचसे दस अँगुल हटकर दाहिनी ओर पृथ्वी, भुवन (आकाश) और भूपतियोंको अर्पितकर एक-एक आचमन जल दें। मन्त्र है—**ॐ भूपतये स्वाहा, ॐ भुवनपतये स्वाहा** और **ॐ भूतानां पतये स्वाहा**। इससे पृथ्वी, चौदह भुवनों तथा समस्त जगत्‌के स्वामी परमात्माकी तृप्ति की जाती है।

१०-पंचप्राणाहुति—भोजनसे पूर्व अमृतरूपी जलका आसन प्रदान करनेहेतु मन्त्र पढ़ें—**ॐ अमृतोपस्तरणमसि**

स्वाहा और आचमन करें। भोजनसामग्रीसे बेरके बराबर पाँच ग्रास तैयारकर इन मन्त्रोंको कहते हुए मौन होकर आत्मस्वरूपको पंचप्राणाहुति दें—**ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा** और **ॐ समानाय स्वाहा।** इसके बाद हाथ धोकर भोजनको परमात्माका प्रसाद मानकर यथाविधि ग्रहण करें।

११-भोजनकालमें ध्यान रखें—[१] भोजनको प्रसाद मानकर उसकी प्रशंसा करें। यदि भोजन नमकरहित, चरपरा, खट्टा या आपकी रुचिके अनुकूल न हो तो भी भोजनकी आलोचना न करें। क्रोध करने या भोजन त्यागनेसे मन और शरीर दोनोंको क्षति पहुँचती है, जबकि आनन्दभावसे प्राणरूपी स्वादरसका रसास्वादन करते रहनेसे भोजन बल और पराक्रममें वृद्धि करता है। कहा गया है—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥

[२] आहारको न अधिक जल्दी, न अधिक देरसे, न बोलते हुए, न हँसते हुए अपने आहारपात्रमें ही मन और दृष्टि लगाकर मौन होकर ग्रहण करें। भोजनके बीच बोलने या हँसनेसे ग्रास श्वासनलिकामें फँस जानेसे संकट पैदा कर सकता है। बात करनेसे मुँहके अन्दर बननेवाली लार जो भोजन पचाने और निगलनेमें सहायक होती है, कम बननेसे पाचनमें व्यवधान उत्पन्न होता है। साथ ही मुँह सूखनेसे ग्रासको निगलनेके लिये बार-बार पानीके घूँट पीने पड़ते हैं।

[३] प्रत्येक ग्रासको अच्छी तरह चबाकर महीन करनेके बाद ही दूसरा ग्रास लें। इससे ग्रास आसानीसे आहारनलिकासे होकर आमाशयतक पहुँच सकेगा और आँतोंको इसे चूर्ण करनेमें मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। आयुर्वेदके अनुसार एक ग्रासको बत्तीस बार चबाना चाहिये। सोलह बार एक दाढ़से और सोलह बार दूसरी ओरकी दाढ़से चबाना चाहिये, इससे दाँत और मुँहके स्नायु पुष्ट होते हैं।

[४] भोजन करते समय स्पर्शदोष या दृष्टिदोषसे बचना आवश्यक है। विज्ञानसम्मत मत है कि स्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रमित होते हैं। केवल रोग ही नहीं, स्पर्शसे शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंमें भी हेर-फेर हो जाता है। प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी विशिष्ट वृत्ति होती है। अतः समान वृत्तिके लोगोंका छुआ या दिया अन्न सुरक्षित होता है। शास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी, चाण्डाल और विजातीय आदिका छुआ अन्न ग्रहण करनेका निषेध है। साथ ही एक ही वर्णके मनुष्यका स्पर्श किया गया अन्न ही ग्रहण करें। पश्चिमके प्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्लामेरियनका स्पष्ट मत है कि प्रत्येक व्यक्तिमें एक आकाशीय द्रव या शक्ति होती है, जो मस्तिष्कसे प्रारम्भ होकर मनोवृत्तियोंके साथ मिलकर शरीरके स्नायुपथसे प्रवाहित होकर हाथकी अँगुलियोंके पोरोंतक, आँखकी दृष्टिमें तथा पैरकी एड़ीतक पहुँचती है। इसका सबसे अधिक प्रभाव हाथकी अँगुलियोंद्वारा ही प्रकट होता है। अतः सत्पात्रका ही अन्न ग्रहण करें। इसी तरह दृष्टिमें भी मनुष्यकी आकाशीय शक्तिका प्रभाव रहता है, शास्त्रीय विचार कहते हैं—

पितृमातृसुहृद्वैद्यपुण्यकृद्हंसबर्हिणाम्।
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा॥

अर्थात् पिता, माता, सुहृद्, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस और चकवेकी दृष्टि भोजनपर पड़ती है तो उत्तम है। इसके ठीक विपरीत नीच, दरिद्र, भूखे, पाखण्डी, स्त्रैण, रोगी, मुर्गा, सर्प और कुत्तेकी विषदृष्टि होनेसे अन्न संक्रमित होकर अजीर्ण रोग उत्पन्न कर सकता है। यथा—

हीनदीनक्षुधार्तानां पाखण्डस्त्रैणरोगिणाम्।
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना॥

कदाचित् दृष्टिदोष हो जाय तो उसके निवारणार्थ निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर उसके अर्थका चिन्तन करनेसे भोजन शुद्ध हो जाता है। यथा—

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।
इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते॥

अर्थात् अन्न ब्रह्माका रूप है और अन्नका रस विष्णुरूप है तथा भोक्ता महेश्वर हैं। इस प्रकारका चिन्तन करते हुए भोजन करनेपर दृष्टिदोष नहीं होता। अन्य स्थानपर कहा गया है कि हनुमान्‌जीका स्मरण करनेसे भी दृष्टिदोषका नाश होता है। यथा—

अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम्॥

[५] **जलग्रहणका प्रमाण**—भोजनकालमें आवश्यकता पड़नेपर ही कुछ घूँट जल ग्रहण करें। अधिक जल पीनेसे तथा बिलकुल ही न पीनेसे अन्नका परिपाक नहीं होता। इसलिये पाकाग्नि बढ़ानेके लिये बार-बार थोड़ा जल पीना चाहिये। यथा—

अत्यम्बुपानाच्च विपच्यतेऽन्न
मनम्बुपानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय
मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥

(भावप्रकाश)

[६] **सात्त्विक, सुपाच्य भोजन ही ग्रहण करें**—ऐसे भोजनसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है। राजसिक और तामसिक आहारसे जड़ता, दुःख, शोक, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है। आर्यशास्त्रमें प्याज, गाजर, लहसुन तथा छत्राक आदि वस्तुओंको नहीं लेनेके निर्देश हैं। यथा—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥

(मनु० ५।५)

[७] **सहभोजमें ध्यान रखें**—आजकल सहभोज पंगतके समान न होकर बफेपार्टीके रूपमें आयोजित किये जाते हैं, जिसमें स्पर्शदोष, दृष्टिदोष, भोजनस्थलकी पवित्रता आदिका बिलकुल ध्यान नहीं रखा जाता। फलतः इस तरहकी दूषित भोजनप्रणालीसे शरीरमें अजीर्ण आदि बहुविध रोग उत्पन्न होते हैं। इससे विचारोंमें विकृति आती है। आर्यशास्त्रमें इस तरहके सहभोज आयोजित करनेकी विशिष्ट पद्धति और नियम, भोजनकी सात्त्विकता, शुद्धता और आरोग्यको ध्यानमें रखकर तैयार किये गये हैं। इसके अनुसार एक ही श्रेणी और एक ही वर्णके लोगोंको साथ बैठकर भोजन करना चाहिये। इससे उच्च गुणविशिष्ट विद्युत् शक्ति मलिन नहीं होती।

एक वर्णमें पंक्तिभोजन (पंगत)-के समय यह ध्यान रखना चाहिये कि जितने भी व्यक्ति एक साथ बैठें, सभी भोजनका प्रारम्भ और समाप्ति एक साथ ही करें; क्योंकि पंगतके समय सबके शारीरिक यन्त्रमें क्रियाविशेष होनेसे तथा एक साथ बैठे रहनेसे सभीके भीतर एक वैद्युतिक शृंखला तैयार हो जाती है। भोजनके बीचमें जो पहले उठ जाता है, यदि वह दुर्बल है तो उसकी वैद्युतिक शक्तिको बाकी बैठे हुए व्यक्ति खींच लेंगे। परिणामतः उसका भोजन ठीकसे नहीं पच पायेगा। यदि उठनेवाला बलवान् हो तो वह सारे बैठनेवालोंकी शक्ति खींचकर उठेगा, जिससे बाकी सभीके पेटमें विकार हो सकता है।

भोजन समाप्त होनेपर पुनः '**ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा**' कहकर आचमन करें और भोजनपात्रको नमन करते हुए थोड़ा आगे खिसककर उठ जायँ। पात्रमें कदापि हाथ नहीं धोना चाहिये। यह पात्रका अपमान है।

भोजनोपरान्तकी क्रियाएँ

मुखप्रक्षालन—बाहर खुले स्थानपर या वाशबेसिनमें अच्छी तरहसे हाथ धोकर लगभग सोलह बार कुल्ला करते हुए मुखमें फँसे या बचे सभी अन्नकण निकाल दें। इसीके साथ आँख खुली रखकर जलसे छींटे दें अथवा गीले हाथ रगड़कर उससे तीन बार आँख पोंछे। इससे आँखोंकी ज्योति बढ़ती है। मुखप्रक्षालनके तुरंत बाद लघुशंका अवश्य करें, जिससे अतिरिक्त उष्णता और अम्ल बाहर निकल जाय।

अन्य कृत्य—भोजन करनेके बाद लगभग १० मिनट वज्रासनपर बैठे। पश्चात् शतपद (१०० कदम) अवश्य चलें। तदुपरान्त बिस्तरपर वामपार्श्वमें लेटें। नाभिके ऊपर वामपार्श्वमें अग्निस्थान होनेसे अन्नका परिपाक अच्छा होता है। यथा—

भुक्त्वा राजवदासीत यावन्न विकृतिं गतः।
ततः शतपदं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥
एवं चाधोगतश्चान्नं सुखं तिष्ठति जीर्यति॥
वामदिशायामनलो नाभेरूर्ध्वेऽस्ति जन्तूनाम्।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम्॥

भोजनके बाद बिस्तरपर आठ श्वासतक चित्त लेटें, सोलह श्वासतक दायीं करवट और बत्तीस श्वासतक बायीं करवट लेट जाना चाहिये। इससे पाचनमें सुविधा होती है।

भोजनके उचित परिपाकके लिये अगस्त्य, वैनतेय (गरुड), शनि, भीम आदिका भी स्मरण करते हुए निम्न मन्त्र पढ़ते हुए उदरपर तीन बार हाथ फेरना चाहिये—

अगस्त्यं वैनतेयं च शनिं च वडवानलम्।
अन्नस्य परिणामार्थं स्मरेद् भीमं च पञ्चमम्॥
आतापी मारितो येन वातापी च निपातितः।
समुद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु॥

इस तरह सार-संक्षेपमें आहारसे सम्बन्धित सभी शास्त्रीय विधियों, नियमों तथा निर्देशोंका संकलन प्रस्तुतकर पाठकोंसे पुनः निवेदन है कि इन प्रमाणित परीक्षित विधियोंको अपने आचार-व्यवहारमें अपनाते हुए शतायु प्राप्त करें—

षट्त्रिंशतं सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सताम्॥

(च०सू० २७। ३४८)

दैनिक चर्याको पतनकी ओर ले जानेवाली आसुरी प्रवृत्तियाँ

घूसखोरी

न्यायालय तो पुराना अड्डा है घूसखोरीका और पुलिस भी परम्परा-पटु; किंतु स्टेशन, पोस्ट तथा नये-नये खुलनेवाले विभाग—उदाहरण देना व्यर्थ है। आपमेंसे कोई नहीं होगा जो 'कुछ भेंट' देनेको कभी विवश नहीं हुआ हो।

'आप अभी यहीं—इसी पदपर!' एक ईमानदार कर्मपटु एवं सच्चे कर्तव्यपरायण अधिकारीसे मैंने पूछा। उनके पीछेके बहुत उनके साथी दो-दो पद उन्नत कर चुके थे।

'मेरी अयोग्यता!' उनकी अयोग्यता यह है कि वे फर्जी 'कार्रवाई' नहीं कर पाते और 'लेते' नहीं तो उच्चाधिकारियोंको 'देकर' सन्तुष्ट करनेका साधन भी कहाँसे आये? ऐसे वे अकेले नहीं हैं। कई तो ऐसे हमारे परिचितोंमें ही हैं।

'ऊपरकी आमदनी' बड़े गौरवसे पूछी-बतायी जाती है आज और यह 'ऊपरकी आमदनी' बढ़ानेका सतत प्रयत्न—मानवता कहाँ जाकर रोये? जो जितना बड़ा, उसका पेट भी उतना बड़ा हो गया।

चोरबाजारी

सरकारी अधिकारियोंको सबसे अधिक काम पड़ता है व्यापारियोंसे। व्यापारी उन्हें 'खिलाते' रहते हैं तो उससे अधिक अपने 'खाने' की व्यवस्था भी रखते ही हैं। पदार्थका अभाव आशीर्वाद है उनके लिये। जनताकी पीड़ा उनका वरदान है।

अभाव होगा, माँग बढ़ेगी, मनमाने दाम देकर आवश्यकता-पीड़ित लेनेको विवश होगा। लोग भूखों तड़पते हैं और अन्न गोदामोंमें सड़ता है। लोग जाड़ोंमें ठिठुरते हैं और कपड़ेकी गाँठें ऊँचे भावोंकी प्रतीक्षा करती हैं। सभी वस्तुओंकी ऐसी ही दशा है।

अपनी तिजोरी भरे—अपना बैंकका हिसाब बढ़ता रहे—और वह बढ़ता है लोगोंके अभाव, लोगोंकी कराह, दु:खियोंकी पीड़ासे तो............मानवताकी चर्चा, मरनेके पश्चात्‌की बात सोचनेका अवकाश नोटोंकी सरसराहटमें मग्न व्यक्तिके पास कहाँ है? उसकी यह मोह-निद्रा—अपनेको पतनके गर्तमें ढकेलकर ही कोई तुष्ट हो तो?

मिलावट

रुपया! रुपया!! रुपया!!! उन्मत्त हो गया आजका मनुष्य और खो बैठा अपनी स्वरूपभूत मानवताको। वह नहीं देखता कि रुपया उसे कहाँ ले जा रहा है! उससे क्या

करा रहा है यह रुपया! घीमें मिलावट, तेलमें मिलावट, आटे-चावल-दाल—सबमें मिलावट। जीरेमें घासके, कालीमिर्चमें पपीतेके बीज कहाँतक कोई गिनाये—चायमें जूते बनानेके चमड़ेकी खुरचन, लकड़ीका बुरादा और ओषधियोंतकमें मिलावट।

'भाई, टाइफाइडका रोगी है। साबूदाना शुद्ध तो है?' किंतु दूकानदारने विवशता प्रकट कर दी। थोक व्यापारी ही मिलावट करते हैं, वह क्या कर सकता है?

रोगी वेदनासे कराह रहा है—मरणासन्न है। डॉक्टर चकित हैं कि उनका निदान ठीक, ओषधि ठीक ग्रहण की उन्होंने और रोगीका कष्ट घटता नहीं; किंतु ओषधि हो भी। वहाँ तो इन्जेक्शनमें, पाउडरमें—सभीमें मिलावट है।

न दया, न धर्म—मानवता गयी भाड़में। रह गया

रुपया—केवल रुपया और रुपयेका यह मोह मनुष्यको आज कहाँ ले जा रहा है? दु:ख, अशान्ति, रोग, कलह—घर-घरका यह रोना; किंतु पापका रुपया क्या घरमें सुख लानेवाला है?

झूठी गवाही

धर्मकी साक्षी, ईश्वरकी साक्षी, गीता या कुरानकी शपथ—शपथ दिलाना न्यायालयका कर्तव्य है सो वह

दिलाता है; किंतु शपथ लेनेवाला गवाह—उसने तो मनमें शपथ कर ली है कि 'कचहरीमें सचसे काम नहीं चलता।' वकीलोंका यह समुदाय—वह यही तो सिखलानेके लिये है कि उसे क्या कहना है। सत्य—विदा हो गया है आज न्यायालयसे और गवाहोंका यह असत्य—न्यायालयके निर्णयका दोष भी क्या? लेकिन यह झूठी गवाही—यह पाप भी है—सोच पाता आजका मानव!

मद्यपान

मद्यपान 'शराब शैतानका रक्त है' यह एक पाश्चात्य लोकोक्ति है और यह सर्वथा सत्य है कि शराब पीकर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, वह शैतान बन जाता है।

बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले पदार्थोंमें सर्वोपरि है शराब और आजकी सभ्यता—शराबके बिना आज सभ्यताका निर्वाह ही नहीं होता।

क्लबमें शराब, होटलमें शराब, घरमें शराब। पाश्चात्य सभ्यता जो है कि शराबके बिना कोई साधारण भोजन भी

सम्पन्न नहीं हो सकता।

'आपकी दीर्घायुके लिये यह प्याला' इस प्रकार शुभकामना प्रकट करनेके लिये शराब पी जाती है और मद्य-निषेधको मूलनीति घोषित करनेवाले महात्मा गांधी जिस देशके राष्ट्रपिता—उस देशके राजनयिकोंके लिये भी यह सुरापान अनिवार्य है—शिष्टाचार माना जाता है यह।

आज मनुष्य सुरापी हो गया—होता ही जा रहा है!

अभक्ष्य-भक्षण
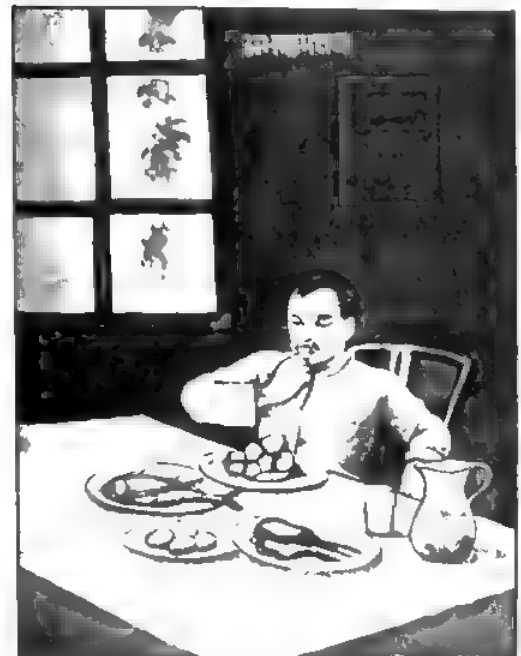
स्वास्थ्यविशेषज्ञ कहते रहें कि मांसाहारसे अनेक रोग होते हैं; किंतु आजके मानवकी जीभ मानती है? मांस, अण्डा, मछली और जाने क्या-क्या अल्लम-गल्लम।

जिह्वाकी तृप्ति

कछुए, मेंढक, घोंघे—पता नहीं क्या-क्या उदरमें भर लेता है आज मनुष्य। नाक-भौं सिकोड़ना व्यर्थ है। आजके बड़े-बड़े होटलोंका बावर्चीखाना देखा है कभी? और चर्बी—किसकी चर्बी उपयोगमें आ रही है, इससे कहाँ किसीको मतलब है।

मानवता-शुद्धाचार शुद्ध विचारकी पुकार; किंतु पुकारका क्या अर्थ है जब मनुष्यका आहार ही अपवित्र है। रक्त, मांस, मन-बुद्धिका निर्माण वायुसे तो होनेसे रहा। आहारसे ही तो उन्हें बनना है और आजका आहार………हाय!

उच्छिष्ट

'असभ्य—पिछड़े हुए लोग हैं वे, जो आजकी प्रगतिशील पार्टियोंमें योग नहीं दे पाते।' यह बात आपने भी सुनी होगी। आजकी प्रगतिशील पार्टियाँ—आहारकी प्लेटें एक-एक और सबके चम्मच पृथक्-पृथक्। चम्मचसे उठाइये और मुखमें डालिये। एक प्लेटमें सबके चम्मच—उच्छिष्ट-जूठा— यही सब तो पिछड़ेपनेकी बातें हैं।

ज्वरके रोगीके मस्तकपर सहानुभूतिका हाथ रखते भय लगता होगा कि ज्वर न चढ़ बैठे, रख भी दिया तो साबुनसे हाथ धोना चाहिये; किंतु सबका यह जूठा………।

होटलोंमें तथा अन्य सार्वजनिक भोजनस्थानोंमेंसे अधिकांशमें ग्राहककी प्लेटका बचा भोजन उपयोग योग्य हो तो राशिमें चला जाता है।

स्वास्थ्यके नियम, सदाचारके नियम—लेकिन आजकी प्रगतिशीलता इधर देखने लगे तो प्रगति—मनुष्यकी यह तीव्रतम प्रगति पतनकी ओर है, यह दूसरी बात।

अपवित्रता

आजका सुशिक्षित स्वच्छ तो समझ पाता है, लेकिन पवित्र क्या? पवित्रताका अर्थ उसकी समझसे बाहर है।

अपवित्र स्थानपर, अपवित्र लोगोंद्वारा प्रस्तुत अभक्ष्य—अपवित्र भोजन वह स्वयं अपवित्र दशामें नित्य ही तो करता है। स्वच्छ कमरा, उजला मेजपोश, चमकते काँटे चम्मच हों बस—वह स्वयं बिना हाथ धोये, जूता पहिने भोजन करेगा, अपवित्र भोजन करेगा, कुत्तोंके साथ बैठकर भोजन करेगा—करता ही है।

यह आहार उसके मनको अपवित्र करता है—ठीक; किंतु मनकी पवित्रताकी उसे चिन्ता भी हो।

सबमें स्थित भगवान्‌का तिरस्कार न करो

भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा। तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः। भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे। नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। २१—२४)

मैं समस्त प्राणियोंमें उनकी आत्माके रूपसे सर्वदा स्थित रहता हूँ, मेरे उस स्वरूपका तिरस्कार करके मनुष्य पूजाकी विडम्बना करता है। जो समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे मुझ ईश्वरको छोड़कर पूजा करता है, वह मूर्खतावश राखकी ढेरमें ही हवन करता है। जो एक शरीरमें अभिमान होनेके कारण अपनेको अलग समझता है और दूसरे शरीरमें स्थित मुझसे ही द्वेष करता है, प्राणियोंके प्रति वैर-भावना रखनेवाले उस पुरुषका मन कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जो मनुष्य प्राणियोंका अपमान करता है, उसके द्वारा बहुत-सी सामग्रियोंसे किये हुए मेरे पूजनसे भी मैं प्रसन्न नहीं होता।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

माता-पिताकी सेवा सेवा-धर्मको प्रकृष्टता प्रदान करती है। माताके समान शरीरका पालन-पोषण करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उसका कोमल क्रोड ही शान्तिका निकेतन है। उसके ममत्वकी एक बूँद अमृतके समुद्रसे भी ज्यादा मीठी है। कोमलतामें उसका हृदय गुलाबकी कलियोंसे भी कोमल, दयामय है। पवित्रतामें वह यज्ञकी धूमके समान है तथा कर्तव्यमें वज्रकी तरह कठोर है। उसके बलिदानका बदला कोई बेटा नहीं चुका सकता, चाहे वह भूमण्डलका स्वामी ही क्यों न हो? वस्तुतः मनुष्य वे ही होते हैं, जो उनकी माताएँ उन्हें बनाती हैं। उनका भाग्य सदैव उन्हींके द्वारा निर्मित होता है। 'कुरानशरीफ' में उल्लेख है कि जन्नत केवल माताके कदमोंमें है।

माता के समान पिता भी अत्यन्त आदरणीय हैं। वे ब्रह्माके रूप हैं—'**पितामूर्तिः प्रजापतेः**' (मनुस्मृति २।२२६)। उनकी सेवा अथवा आज्ञाका पालन-जैसा धर्म दूसरा कोई भी नहीं है '**न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्। यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥**' (वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकाण्ड १९।२२)। अन्यत्र भी कहा गया है कि पिताकी सेवा करना जिस प्रकार कल्याणकारी है, वैसा प्रबल साधन न सत्य है, न दान-सम्मान है और न प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं।

अथर्ववेद (३।३०।४)-की वाणी है कि पुत्रका कर्तव्य है कि वह पिताका आज्ञाकारी हो और माताका आदर करे—'**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः**'। हमारी यह प्रार्थना निरन्तर चलती रहनी चाहिये—

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥

(शुक्लयजुर्वेद १९।११)

अर्थात् जब मैं छोटा-सा; सर्वथा असमर्थ शिशु था, उस समय जिस विपुल स्नेहमयी माताकी मधुरतामयी गोदमें लेटकर प्रमुदित होकर, जिसके अमृतमय स्तन्यका पान करता हुआ पैरोंके आघातद्वारा उसे पीड़ित करता रहा, अब मैं उसके लालन-पालनादिके द्वारा बड़ा हो गया हूँ और वे मेरे पूजनीय जनक और जननी वृद्ध तथा अशक्त हो गये हैं। अतः मेरे द्वारा मेरे वे वन्दनीय माता-पिता किसी भी प्रकारसे पीड़ित (व्यथित) न हों, प्रत्युत मेरी प्रशस्त सेवा-सत्कार आदिके द्वारा वे सदैव सन्तुष्ट ही बने रहें, इस प्रकार हे परमात्मन्! मैं उनकी सेवा एवं प्रसन्नताके द्वारा ऋण-भार-निवारणका सम्पादन करूँ।

'नीतिमंजरी' में शुनःशेपके आख्यानसे यह सिद्ध किया गया है कि माता-पिता सदैव वन्दनीय हैं—'**पितरौ हि सदा वन्द्यौ न त्यजेत्पराधिनौ पित्रा बद्धः शुनःशेपो ययाचे पितृदर्शनम्।**'

महात्मा विदुरकी यह वाणी (१।७९) हम सभीके लिये आचरणका विषय बनी रहे—

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पितामाताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ॥

अर्थात् पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये।

अपनी संस्कृतिमें अतिथि-सेवाको भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। अतिथिदेवका अर्थ है समाजदेवता। समाज अव्यक्त है, अतिथि व्यक्त है। अतिथि समाजकी व्यक्त मूर्ति है। वह समाजका एक प्रतिनिधि है। अतिथिरूपमें समाज हमसे सेवा माँग रहा है—हमारी यह भावना होनी चाहिये। बाइबिलकी वाणी है कि अतिथि-सत्कार मनुष्यका परम कर्तव्य है। उससे वह देवत्वको प्राप्त होता है। सन्त तिरुवल्लूर कहते हैं कि जो मनुष्य अतिथिका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करता है, उसके घरमें निवास करनेसे लक्ष्मीको आह्लाद होता है। किसीको यदि भूख-प्यास न लगती तो हमें अतिथि-सत्कारका मौका ही न मिलता।

अथर्ववेदकी वाणी है कि अतिथिको खिला लेनेके बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिये। अतिथिके सम्मानमें वह शक्ति है, जो साधारण-से-साधारण भोजनको अमृत बना देती है। यदि कुछ न हो तो प्रेमपूर्वक बोलकर ही अतिथिका सत्कार करना चाहिये। मनुस्मृति (३।१०१) में बतलाया गया है कि आतिथ्यके लिये चटाई (तृणसे बना बिछौना), भूमि ठहरनेके लिये, जल और प्रियवचन—ये

चार वस्तुएँ गृहस्थके यहाँ सदा उपलब्ध रहती हैं—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

चाणक्यसूत्र (६।७) में उल्लेख है कि **'अतिथिमभ्यागतं पूजयेद् यथाविधिः'** आये हुए अतिथिका शास्त्रकी विधिके अनुसार पूजन करना चाहिये। 'सूक्तिसप्तशती' के 'सप्तम शतक' में अतिथिप्रियको विशिष्ट गृहस्थकी संज्ञा दी गयी है—**'अतिथिप्रियः''''सुगृहस्थो विशिष्यते।'** मनुस्मृतिमें उसका कर्तव्य बतलाया गया है कि सूर्यास्त होनेके पश्चात् जो अतिथि आ जाय, उसका अनादर कभी न करे। समय या कुसमयमें अतिथि भोजन किये बिना न रहे। इसीके साथ ही यह भी उल्लेख है कि जो भोजन अतिथिको कराया जाय, वही भोजन स्वयं भी करे। जो सामग्री अतिथिको न दी जाय, उसका स्वयं भी त्याग कर दे। अतिथि-सत्कारसे **'धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं'** (३।१०६) कृतकृत्यता, यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

अतिथिको पारिभाषित भी किया गया है। मनुस्मृतिमें कहा गया है—**'एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणःस्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते॥'** (६।१०२) जो विप्र एक रात्रि दूसरेके घर निवास करे, उसे अतिथि कहते हैं; क्योंकि वह नित्य नहीं ठहरता। वस्तुतः जो बिना तिथिके अनाहूत स्वयं आ जाय, अतिथि उसीकी संज्ञा है। उसीकी सेवा असली अतिथि-सेवा है। गोदावरी के 'कपोततीर्थ' से जुड़ा हुआ ब्रह्मपुराणका एक प्रसंग है। एक कपोतने स्वेच्छासे अपने प्राण देकर उस व्याधकी भी क्षुधा शान्त की, जिसने उसकी कपोतीको पिंजड़ेमें कैद कर रखा था। अपकार करनेवालेके साथ भी जो अच्छा बर्ताव करता है, वह पुण्यका भागी होता है।

अतिथि-सेवाका एक अन्य प्रकृष्टतम उदाहरण राजा रन्तिदेवका है। उनचास दिनों बाद मिले हुए भोजनको उन्होंने ब्राह्मण अतिथिको, भूखसे व्याकुल शूद्रको तथा कुत्तोंसे घिरे हुए चाण्डालको खिला दिया तथा जो पानी बचा था, उसे एक श्वपचको प्यासके कारण जिसके प्राण निकले जा रहे थे, पिला दिया और भगवान्‌से यह प्रार्थना की कि हे भगवन्! कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मैं सब दुखियोंके हृदयमें स्थित होकर उनके दुःखोंका अनुभव करता रहूँ और वे सुखी हो जायँ।

महर्षि दधीचिकी दुःखकातरता भी अतुलनीय है। उन्होंने इन्द्रको वज्र बनानेके लिये अपनी हड्डियोंतकका

दान दे दिया था। श्रीमैथिलीशरण गुप्तके शब्दोंमें—***'क्षुधार्त रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी, तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थि जाल भी।'***

इस प्रकार अतिथि-सेवाके सहस्रों उदाहरण हमारे आर्षग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं। हमें उनसे प्रेरणा लेनी चाहिये।

हमारी संस्कृतिमें गुरुका स्थान ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशसे भी ऊँचा माना गया है। उनकी भक्ति सम्पूर्ण भाग्योंकी जन्मभूमि है; क्योंकि यह शोकग्रस्त मनुष्यको ब्रह्मस्वरूप बना देती है। गुरुकी अवहेलनासे सारा अभ्युदय नष्ट हो जाता है—**'गुरोरवज्ञया सर्वं नश्यते च समुद्भवम्'**। वे पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं तथा सेवनीय हैं। माता, पिता और गुरु—तीनोंका समूह कल्याणकर है। माता 'दक्षिणाग्नि' हैं, पिता 'गार्हपत्याग्नि' हैं तथा गुरु 'आहवनीयाग्नि' हैं। इन तीनोंकी सेवा परम तप है—**'तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तपमुच्यते'** (मनुस्मृति २।२२९)। अन्यत्र उल्लेख है कि माताकी सेवासे इहलोक, पिताकी शुश्रूषासे मध्यलोक तथा गुरुभक्तिसे मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है—**'इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥'** (मनुस्मृति २।२३३)। इसीलिये शास्त्र आदेश देते हैं—**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'** (तैत्तिरीयोपनिषद् १।११)।

'ऊर्जाचक्रानुसार दिनचर्याकी आवश्यकता'

(श्रीमती ज्योतिजी दुबे)

मनुष्यकी दिनचर्याका प्रारम्भ निद्रा-त्यागसे और समापन निद्रा आनेके साथ होता है। स्वस्थ रहनेकी कामना रखनेवालोंको शरीरमें कौन-से अंग और क्रियाएँ कब विशेष सक्रिय होती हैं, इस बातका ध्यान रखना चाहिये। यदि हम प्रकृतिके अनुरूप दिनचर्याको निर्धारित करें तो हम स्वस्थ रह सकते हैं। अधिकांश व्यक्तियोंकी दिनचर्या प्रकृतिके अनुरूप नहीं होती, जिससे वे रोगी हो जाते हैं। स्वस्थ व्यक्तिसे ही स्वस्थ समाजका निर्माण सम्भव है।

हमें अपनी दिनचर्याको इस प्रकार बनाना चाहिये कि शरीरके अंगोंकी क्षमताओंका अधिकतम उपयोग हो। शरीरके सभी अंगोंमें प्राण-ऊर्जाका प्रवाह वैसे तो चौबीसों घण्टे होता है, परंतु सभी समय एक-सा ऊर्जाका प्रवाह नहीं होता। प्रायः प्रत्येक अंग कुछ समयके लिये अपेक्षाकृत कम सक्रिय होते हैं, इसी कारण कोई भी रोगी चौबीस घण्टे एक-सी स्थितिमें नहीं रहते। अंगोंमें प्राण-ऊर्जाके प्रवाहका सन्तुलन ही स्वास्थ्यका सूचक है। शरीरमें जिस समय जो अंग सर्वाधिक सक्रिय हो, उस समय उस अंगसे सम्बन्धित कार्य करना चाहिये।

हमारे शरीरमें मुख्य रूपसे १२ आर्गेन (अंग) होते हैं। प्राण-ऊर्जा २४ घण्टेमें १२ अंगोंमें जाती है। हर अंगोंमें २ घण्टे अधिकतम ऊर्जाका प्रवाह रहता है, इसके ठीक विपरीत समयमें उसी अंगमें न्यूनतम ऊर्जाका प्रवाह होता है। आगे हम किस अंगमें कब अधिकतम उर्जाका प्रवाह रहता है, यह देखेंगे—

प्रातः ३ बजेसे ५ बजेतक फेफड़ोंमें प्राण-ऊर्जाका प्रवाह सर्वाधिक होता है, इसी कारण प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर खुली हवामें घूमना चाहिये। प्राणायाम तथा श्वसनका व्यायाम करना चाहिये, इससे फेफड़े स्वस्थ होते हैं। फेफड़ोंको शुद्ध वायु (ऑक्सीजन) प्राप्त होती है। इसके रक्तमें मिलनेसे हिमोग्लोबीन ऑक्सीकृत होता है, जिससे शरीर स्वस्थ और स्फूर्तिवान् बनेगा। ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेवाले छात्र अधिक बुद्धिमान्, स्वस्थ एवं क्रियाशील होते हैं।

फेफड़ेसे प्राण-ऊर्जा बड़ी आँतमें जाती है। बड़ी आँतमें प्रातः ५ बजेसे ७ बजेतक चेतनाका विशेष प्रवाह होनेसे यह अंग अधिक क्रियाशील होता है। इसी कारण मलत्यागके लिये यह सर्वोत्तम समय है, जो व्यक्ति इस समय सोते रहते हैं, मलत्याग नहीं करते; उन्हें कब्ज रहता है, उनका पेट प्रायः खराब रहता है। इस समय उठकर योगासन तथा व्यायाम करना चाहिये।

प्रातः ७ बजेसे ९ बजेतक आमाशय (स्टमक)-में प्राण-ऊर्जाका प्रवाह सर्वाधिक रहता है। इस समयतक बड़ी आँतकी सफाई हो जानेसे पाचन आसानीसे होता है। अतः इस समय हमें भोजन करना चाहिये। प्रातः भोजन करनेसे पाचन अच्छी तरहसे होता है और हम सैकड़ों पाचनसम्बन्धी रोगोंसे सहज ही बचे रहते हैं।

प्रातः ९ बजेसे ११ बजेतक स्प्लीन (तिल्ली) और पैन्क्रियाजकी सबसे अधिक सक्रियताका समय है। इसी समय हमारे शरीरमें पेन्क्रियाटिक रस तथा इन्सुलिन सबसे ज्यादा बनता है। इन रसोंका पाचनमें विशेष महत्त्व है। अतः जो डायबिटीज या किसी पाचनरोगसे ग्रस्त हैं, उन्हें इस समयतक भोजन अवश्य कर लेना चाहिये।

दिनमें ११ बजेसे १ बजेके बीच हृदयमें विशेष प्राण-ऊर्जाका प्रवाह रहता है। हृदय हमारी संवेदनाओं, करुणा, दया तथा प्रेमका प्रतीक है। अगर हम इस समय भोजन करते हैं तो अधिकतर संवेदनाएँ भोजनके स्वादकी तरफ आकर्षित होती हैं। अतः हृदय प्रकृतिसे मिलनेवाली अपनी प्राणऊर्जा पूर्णरूपसे ग्रहण नहीं कर पाता। ९ बजेतक भोजन करनेसे रक्त-परिसंचरण अच्छा होता है और हम अपने-आपको ऊर्जित महसूस करते हैं।

दोपहरमें १ बजेसे ३ बजेतक हमारी छोटी आँतमें अधिकतम प्राण-ऊर्जाका प्रवाह रहता है। छोटी आँतका मुख्य कार्य पोषक तत्त्वोंका शोषण करना तथा अवशिष्ट पदार्थको आगे बड़ी आँतमें भेजना है। इस समय जहाँतक सम्भव हो भोजन नहीं करना चाहिये। इस समय भोजन करनेसे छोटी आँत अपनी पूर्ण क्षमतासे कार्य नहीं कर

पाती, इसी कारण आजकल मानवमें संवेदना, करुणा, दया अपेक्षाकृत कम होती जा रही है।

दोपहर ३ बजेसे ५ बजेतक यूरेनरी ब्लेडर (मूत्राशय)-में सर्वाधिक प्राण-उर्जाका प्रवाह होता है। इस अंगका मुख्य कार्य जल तथा द्रव पदार्थोंका नियन्त्रण करना है।

सायंकाल ५ बजेसे ७ बजेतक किडनीमें सर्वाधिक ऊर्जाका प्रवाह होता है। इस समय शामका भोजन कर लेना चाहिये, इससे हम किडनी और कानसे सम्बन्धित रोगसे बचे रहेंगे।

किडनीसे उर्जा हमारे मस्तिष्कमें जाती है। सायं ७ बजेसे ९ बजेतक मस्तिष्कमें सर्वाधिक ऊर्जाका प्रवाह रहता है। इस समय विद्यार्थी पाठ याद करे तो उन्हें अपना पाठ जल्दी याद होगा।

रात्रि ९ बजेसे ११ बजे हमारे स्पाइनल कार्डमें सर्वाधिक ऊर्जाका प्रवाह रहता है। इस समय हमें सो जाना चाहिये। जिससे हमारे स्पाइनको पूर्णत: विश्राम मिले।

रात्रि ११ बजेसे १ बजेतक गालब्लेडरमें अधिकतम ऊर्जाका प्रवाह होता है, इसका मुख्य कार्य पित्तका संचय एवं मानसिक गतिविधियोंपर नियन्त्रण करना है, यदि हम इस समय जागते हैं तो पित्त तथा नेत्रसे सम्बन्धित रोग होते हैं।

रात्रि १ बजेसे ३ बजेतक लीवरमें सर्वाधिक ऊर्जाका प्रवाह रहता है। लीवर हमारे शरीरका मुख्य अंग है। इस समय पूर्ण विश्राम करना चाहिये। यह गहरी निद्राका समय है, इस समय बाहरका वातावरण भी शान्त हो, तभी ये अंग प्रकृतिसे प्राप्त विशेष ऊर्जाको ग्रहण कर सकते हैं। यदि आप देर राततक जगते हैं तो पित्तसम्बन्धी विकार होता है, नेत्रोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है तथा व्यक्ति जिद्दी हो जाते हैं। यदि किसी कारण देर राततक जगना पड़े तो हर १ घण्टेके बाद १ गिलास पानी पीते रहना चाहिये।

लीवरसे प्राण-ऊर्जा वापस फेफड़ोंमें चली जाती है। इस तरह प्राण-ऊर्जा चौबीस घण्टे अनवरत रूपसे चलती रहती है।

आजकल शहरोंमें व्यक्तिका जीवन प्रकृतिके विपरीत हो रहा है। सूर्योदय एवं सूर्यास्तका समय उनकी दिनचर्याके अनुरूप नहीं होता। इसलिये रोग बढ़ रहे हैं। यदि हम प्रकृतिके नियमोंका पालन करें तो हम निरोग रहेंगे और १०० वर्षतक रोगमुक्त होकर जियेंगे।

हमारे जीवनका पहला सुख है—निरोगी काया। इसके अभावमें हमारी सारी भाग-दौड़ हमें सुखी न बना सकेगी।

प्रात:जागरण-प्रभुस्मरण

(स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास')

शयन शीघ्र निशि में करें, जागें प्रात:काल।
ध्यान ईश्वर का करें, वे जन होयँ निहाल॥ १॥
सबसे उत्तम काल है, जग में ब्राह्म-मुहूर्त।
स्वर्ण समय मत खोइये, करे चित्त स्फूर्त॥ २॥
प्रात:काल न जागते रह निद्रा में लीन।
रोग-दोष पीड़ित बनें, होवे बुद्धि मलीन॥ ३॥
प्रातः उठ हरि सुमरते जपते पावन नाम।
सुयश प्राप्त कर जगत में जाते प्रभु के धाम॥ ४॥
प्रातः उठकर नमन हरि, लीजे शुद्ध समीर।
तन-मन दोनों स्वस्थ हों, बुद्धि होय गंभीर॥ ५॥
प्रातः उठकर प्रभुभजन, लगें जगत के काम।
बनें लोक-परलोक सब, नाशें विघ्न तमाम॥ ६॥
प्रातः उठ श्रद्धा सहित, करें नमन आदित्य।
नव प्रकाश नव चेतना, पावें जग में नित्य॥ ७॥
नित प्रति प्रातः जागरण, सेवन शुद्ध समीर।
तन मन की बाधा हरे, भजन-भाव-रघुवीर॥ ८॥
सूर्योदय के प्रथम ही करते जो स्नान।
उन्हें न व्यापें रोग दुख, धरते जो हरि ध्यान॥ ९॥
अनुपम बेला भजन की, अहा शान्तिप्रद भोर।
होता उर प्रभु का मिलन, पकड़ सुरति की डोर॥ १०॥
सूर्योदय होते खिलें, होयँ जलज छविमान।
त्यों खिल जाते सुजन मन, प्रातः प्रभु गुण गान॥ ११॥
लक्षण है सौभाग्य का, उठना प्रात:काल।
जीवन के संग्राम में, पाये विजय विशाल॥ १२॥
प्रात समय ही बरसता, ईश्वर का वरदान।
दोनों हाथ समेटिये, धर कर प्रभु का ध्यान॥ १३॥
महिमा प्रातः भजन की, केहि विधि कहूँ अशेष?
'हरीदास' अनुभव करो, भज प्रातः अखिलेश॥ १४॥

परिवारमें बालकों एवं वृद्धजनोंके प्रति कर्तव्य

(वैद्य श्रीराकेशसिंहजी बक्शी)

वर्तमान समयमें संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, जहाँ भी नजर जाती है, वहाँ एकल परिवार नजर आता है। पर जो सुख, शान्ति और खुशी संयुक्त परिवारमें होती है, वह एकल परिवारमें सम्भव नहीं है। जो निराशा, हताशा, नशेकी लत, अपराधबोध-जैसी सामाजिक समस्याएँ आज दिखायी दे रही हैं, वे एकल परिवारकी ही देन हैं। माँ-बापके पास इतना समय नहीं होता कि वे अपने नौनिहाल बच्चोंका ध्यान रख सकें। पति-पत्नी दोनों नौकरी कर रहे हों तो वे बालकको बहुत कम समय दे पाते हैं, पर आपके लाडलेको सबसे ज्यादा आपकी जरूरत है। उसकी क्या आवश्यकताएँ हैं और आपके क्या कर्तव्य हों—इसको ध्यानमें रखकर बालकका ध्यान रखा जाय तो निश्चित ही परिवारोंकी रक्षा होगी एवं बालकोंकी दिशा सुरक्षित होगी।

परिवारके सदस्योंका व्यवहार सहयोगात्मक एवं सकारात्मक होना चाहिये; क्योंकि बालक परिवार ही नहीं, अपितु देशकी भावी पीढ़ी है। बालक अपने जीवनमें क्या बनेगा, उसका निर्धारण बाल्यावस्थामें हो जाता है। पाँच वर्षतककी आयुमें शिशुका मस्तिष्क विशेष ग्रहणशील होता है। बालमनपर बने संस्कार पूरे जीवन विद्यमान रहते हैं। यहाँतक कि हमारे धर्मग्रन्थोंमें गर्भसे ही शिक्षाके महत्त्वको प्रतिपादित किया गया है। भगवान् व्यासने अपने पुत्रको अध्यात्म-ज्ञान गर्भकालमें करा दिया था। इसी प्रकार महाभारतमें अर्जुनने अपने पुत्र अभिमन्युको चक्रव्यूहभेदनकी कला गर्भकालमें ही सिखा दी थी।

हमारे आयुर्वेद ग्रन्थोंमें कौमारभृत्य नामसे बालकोंके प्रति कर्तव्यका वर्णन मिलता है। सुश्रुतसंहिताके आठवें अध्यायमें कौमारभृत्यका वर्णन मिलता है।

शैशवावस्थामें सीखनेकी प्रक्रिया सबसे तेज होती है। जिस प्रकार शरीर तेजीसे वृद्धि करता है, उसी प्रकारसे सीखनेकी प्रक्रिया भी तेज होती है।

शिशुका अवधान, कल्पना, संवेदना, प्रत्यक्षीकरणका विकास हो जाता है। शिशु अनुकरणद्वारा सीखने लगता है। वह अपने माता-पिता, भाई-बहनों या अन्य सम्बन्धियों और परिवारमें आनेवालोंका अनुकरण करता है। उनके कार्यों और व्यवहारको ध्यानसे देखता है और वैसा करनेका प्रयास भी करता है। इस समय किसीके भी द्वारा गलत आचरण नहीं किया जाना चाहिये। जैसे बीड़ी-सिगरेट पीना, गाली-गलौज, लड़ाई आदि शिशुके सामने नहीं करना चाहिये।

शिशुकी जिज्ञासा प्रबल होती है, वह किसी चीजको उठाता है, फेंकता है, तोड़ता है—वस्तुतः वह उसको अलग ढंगसे रखना चाहता है। इस प्रकार वह अपनी जिज्ञासाको शान्त करता है। बच्चेकी रचनाशीलताका विकास भी इसी अवस्थामें होता है। बच्चा किसी भी चीजको तोड़ दे या फेंक दे तो उसे दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये। यदि दण्ड नहीं दिया जायगा तो बच्चेकी रचनाशीलता बची रहेगी और वह दब्बू होनेसे बच जायगा। शिशुकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। उत्तम आचरण सिखानेका यही सर्वोत्तम समय है। शिशुको उत्तम आचरण, उत्तम संस्कार सिखानेके लिये घरका वातावरण अच्छा होना चाहिये। शिशु घरमें खुदको प्रफुल्लित एवं सुरक्षित महसूस करे, व्यवहार स्नेह एवं वात्सल्यपूर्ण होना चाहिये। खेलोंद्वारा भी शिक्षा देनी चाहिये। शिशुको आत्माभिव्यक्तिके अवसर प्रदानकर उसमें अच्छी आदतोंका विकास करना चाहिये। बड़ोंका आदर करना, अच्छा बोलना, नहाना, दन्तधावन आदि अच्छी आदतोंपर बल देना चाहिये और अच्छी तथा सुन्दर साहसपूर्ण कहानियाँ सुनानी चाहिये; जैसे—श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिवाजी, लक्ष्मीबाई आदिकी कहानियाँ।

बाल्यावस्था

६ से १२ वर्षकी अवस्था प्रायः बाल्यावस्था कहलाती है। अब आपका बालककी भाषापर विशेष ध्यान होना चाहिये। बालक शुद्ध भाषाका प्रयोग करे, इसका ध्यान परिवारके लोगोंको रखना चाहिये। बालकोंको सत्साहित्य एवं विविधतापूर्ण पुस्तकें देनी चाहिये, जिनमें वातावरणसे सम्बन्धित चेतना, पशु-पक्षी-सम्बन्धी लेख, वीरतापूर्ण कहानियाँ एवं साहसपूर्ण घटनाओंका वर्णन हो।

बालकमें सामूहिकताका विकास होता है वह अब समूहमें रहना चाहता है, वह घरसे बाहर खेलना चाहता है। उसे सही समयपर स्कूल भेजनेकी व्यवस्था करनी चाहिये। वहाँपर भाषा, गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, सुलेख आदिका अध्ययन कराया जाना चाहिये।

वहाँ उचित समय एवं उचित स्थानपर उसके घूमनेकी

व्यवस्था भी होनी चाहिये।

इस अवस्थामें बालकको प्रेम और सहानुभूतिकी आवश्यकता होती है। उसका हृदय कोमल होता है। इस समय कठोर अनुशासन नहीं करना चाहिये। दण्डकी अपेक्षा प्रेम और सहानुभूति ज्यादा असर करती है।

बाल्यावस्था निर्माणकारी काल है। इसमें जो प्रभाव पड़ जाते हैं, वे सरलतासे नहीं मिटते। इस समय आवश्यक होता है कि घरके बड़े बुजुर्गोंके साथ सम्मान एवं सेवाका माहौल हो ताकि उनमें इस संस्कारका विकास हो सके।

बालकमें संचयकी प्रवृत्ति होती है। वह विभिन्न किस्मकी चीजोंका संग्रह करता है। अब उसमें सामाजिकताका भी विकास होने लगता है। ऐसेमें बालक बालकसे, बालिकाएँ बालिकाओंसे प्रेम करती हैं। बालक अपने संवेगोंका दमन एवं प्रदर्शन करने लगते हैं। इस बातका ध्यान रखा जाना चाहिये कि बालक अपने किसी भी संवेग या विचारका दमन न करे, प्रदर्शन करे एवं उसे उचित व्यवहार और प्यारसे सिखाएँ।

किशोरावस्था

किशोरावस्था जीवनकी सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आनन्ददायक अवस्था है। किशोरावस्थामें मनुष्य बाल्यावस्थासे परिपक्वताकी ओर बढ़ता है। कुछ विद्वानोंके अनुसार किशोरावस्था बड़े संघर्ष, तनाव, तूफान एवं विरोधकी अवस्था है। इस अवस्थामें व्यक्तिकी जीवनशैलीका निर्माण होता है। यह जटिल काल है। इसमें किशोर-किशोरियोंको नये ढंगसे सोचना पड़ता है एवं समायोजन करना होता है; क्योंकि सबसे अधिक शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक परिवर्तन इसी समय होते हैं। ये परिवर्तन तन-मन दोनोंको प्रभावित करते हैं। किशोरोंकी अपेक्षा किशोरियोंमें यह अवस्था एक साल पहले प्रारम्भ हो जाती है।

इस अवस्थामें लड़के-लड़कियोंमें ऊँचाई तेजीसे बढ़ती है और भारमें वृद्धि हो जाती है। हड्डी मजबूत हो जाती है।

किशोरोंका स्वर भारी हो जाता है और उन्हें दाढ़ी-मूँछ उग आती है। किशोरियोंका स्वर कोमल हो जाता है और उनमें मासिक स्राव प्रारम्भ हो जाता है, जिससे कुछ किशोरियोंमें रजोदर्शनके पश्चात् कई परिवर्तन होते हैं। उनमें घबराहट, चिन्ता, भ्रम, रक्तहीनता, थकावट आदि आ जाती है। माताको उन्हें स्नेहसे सम्पूर्ण प्रक्रियाके बारेमें समझा देना चाहिये।

किशोरावस्थामें शारीरिक परिवर्तनके साथ-साथ मानसिक परिवर्तन भी बहुत तेजीसे होते हैं। किशोर अपने आपको बुद्धिमान् एवं समझदार समझने लगता है। उसमें कुछ तो समझदारी आ ही जाती है। वह वयस्क व्यक्तियोंको अपनी बुद्धि और क्षमतासे प्रभावित करना चाहता है, परंतु वयस्क व्यक्ति उसको अबोध जानकर उसकी उपेक्षा करते हैं। इससे उसके आत्मसम्मानको ठेस लगती है। इस अवस्थामें संवेगोंका परिवर्तन इतना अधिक होता है कि उसका व्यवहार विरोधी हो जाता है और उसे समझ नहीं आता कि क्या गलती है और क्या सही। इस अवस्थामें अनेक अप्रिय बातें आ जाती हैं; जैसे—कठोरता, आत्मप्रदर्शन, उद्दण्डता, दिवास्वप्न, चिड़चिड़ापन, गुस्सा (क्रोध), उदासीनता, घृणा आदि। कभी किशोर उत्साहसे भरे रहते हैं तो कभी उत्साहहीन दिखायी देते हैं।

मित्रतापर बल—इस अवस्थामें मित्र बनाना बहुत अच्छा लगता है। कोई ऐसा मित्र जिसको मनकी बात बता सके।

कल्पनाशीलता—किशोरों एवं किशोरियोंकी कल्पनाशक्तिका समुचित उपयोग करना चाहिये। उन्हें सत्साहित्य, महान् पुरुषोंका जीवनचरित्र, यात्रावृत्तान्त और जानकारीसे पूर्ण पुस्तकें प्रदान करनी चाहिये।

उत्तरदायित्व—जब किशोर-किशोरियाँ अपने-आपको समझदार समझने लगें तब उनको उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपे जाने चाहिये। जब वह कार्य पूर्ण कर लेते हैं तो उन्हें बहुत खुशी होती है और वे जीवनशैली सीखते हैं। कार्य पूर्ण होनेपर पर्याप्त मात्रामें उनका उत्साहवर्धन एवं उनकी प्रशंसा करनी चाहिये, इससे किशोर-किशोरियोंके आत्मबलमें वृद्धि होती है। यदि कार्य पूर्ण न भी हुआ हो तब भी उन्हें उचित मार्गदर्शन देना चाहिये। क्रोध, निन्दा या डाँटना नहीं चाहिये, इससे उनको उत्तरदायित्व लेनेमें झिझक आ जाती है और वे आगे कार्य करनेसे कतराने लगते हैं।

अब किशोर-किशोरियोंको भावी व्यवसायकी चिन्ता होने लगती है। परिवारके द्वारा उचित व्यावसायिक मार्गदर्शन करना चाहिये। आजकल कैरियर गाइडेन्सकी मदद ली जा सकती है। उनकी पसन्दको ध्यानमें रखकर उपयुक्त विषय एवं उपयुक्त व्यवसायका चुनाव किया जा सकता है।

आपके शिशु, बालक, किशोरको हर कदमपर आपकी जरूरत है। उसे आपकी प्रशंसा, सराहना एवं विश्वासकी

जरूरत है। यदि आप किसी कार्यके कर सकनेके सम्बन्धमें विश्वास नहीं करेंगे तो आपका शिशु, बालक, किशोर वह काम कैसे कर पायेगा? आप कभी यह न सोचें कि आपका बालक नहीं पढ़ पायेगा, यह कार्य नहीं करेगा। एक बार आप विश्वास करके देखें, आपको आश्चर्यजनक परिणाम मिलेंगे। आप जिस चीजको लेकर विचार नहीं कर पा रहे हैं वह बालक कैसे कर पायेगा, आपको पहले विश्वास करना होगा, उसके बाद आपकी सकारात्मक ऊर्जा बालकतक जायगी और वह अपनी पढ़ाई, कार्य पूर्ण रूपसे करेगा। अपने बालक-बालिकाके बारेमें नकारात्मक विचार न रखें सिर्फ सकारात्मक विचार, सकारात्मक ऊर्जा अपने नौनिहालको प्रदान करें, उसके मित्र बनकर उसका मार्गदर्शन करें। निश्चित ही वह जीवनमें बहुत आगे जायगा। शिवाजी-जैसा शौर्य, विवेकानन्द-सा विवेक, शुकदेवजी-जैसा ज्ञान, अभिमन्यु-जैसा चक्रव्यूह-भेदन एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण-जैसे आदर्श स्थापित करेगा, आपको सिर्फ विचार एवं विश्वास करना है।

परिवारमें वृद्धजनोंके प्रति कर्तव्य

वृद्धजनोंके पास अनुभवका खजाना होता है। जहाँ बालकोंके कन्धोंपर भविष्यका भार आनेवाला होता है, वहीं वृद्धजनोंके पास अतीतका पूरा लेखा-जोखा, जीवनके हर पहलूका ज्ञान होता है। परिवारमें ऐसे अनुभवकी आवश्यकता होती है। आवश्यकता इस बातकी है कि उस अनुभवके खजानेका लाभ कैसे लिया जाय; उससे अनेक समस्याओंका निदान घर बैठे पाया जा सकता है। ऐसे अनुभवका लाभ एवं जीवन जीनेकी कला सीखनेके लिये आवश्यक है कि वृद्धजन स्वस्थ रहें, सुन्दर रहें, सन्तुष्ट रहें। वृद्धोंको घरमें ऐसी जगह रखा जाना चाहिये, जहाँसे उनकी नजर पूरे घरपर हो और सबकी नजर उनपर हो। स्वच्छ आवास, हवा-पानी, प्रकाश एवं नजदीक ही शौचालयकी व्यवस्था उनके लिये होनी चाहिये।

वृद्धावस्थाका सबसे बड़ा दुश्मन एकान्त होता है। परिवारके बच्चे, बड़े, जवान—सभीको समय निकालकर वृद्धोंके पास बैठना चाहिये। घरके छोटे-बड़े निर्णयमें उनकी हिस्सेदारी निश्चित करनी चाहिये। उनकी उपेक्षा कभी नहीं होनी चाहिये ताकि उन्हें उनके स्वयंके महत्त्वकी जानकारी रहे। जहाँतक हो, समय-समयपर उनके स्वास्थ्यकी जानकारी लेते रहें। साथ ही मानसिक स्थितिका भी जायजा लेते रहना चाहिये। उनसे अनावश्यक वाद-विवाद, तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिये। उनके लिये पौष्टिक एवं सुपाच्य आहारकी व्यवस्था करनी चाहिये। समय-समयपर विटामिन, आयरन, प्रोटीनयुक्त औषधि देते रहना चाहिये। उन्हें पीनेके लिये दूध अवश्य प्रदान करना चाहिये।

छोटे बच्चोंको उनसे कहानी सुनवानी चाहिये। अनुभव एवं शिक्षाप्रद कहानियाँ जहाँ आपके बेटेको लाभ पहुँचायेंगी, वहीं बुजुर्गोंका भी एकान्त दूर करेंगी। समय-समयपर उनका स्वास्थ्यपरीक्षण करवाते रहना चाहिये। यदि वे घरके हल्के-फुल्के कामोंमें हिस्सेदारी रखें तो उनका समय भी अच्छा व्यतीत होगा और घरमें उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका बनी रहेगी। हमारी संस्कृतिका वैभव भी बना रहेगा। आश्रमव्यवस्थाका सुन्दर स्वरूप देखनेको मिलता रहेगा। हमारी संस्कृतिमें जहाँ अपने अतीतको सँभालनेकी आवश्यकता है, वहीं अपने बच्चोंके भविष्यको सुरक्षित रखनेकी आवश्यकता है। भगवान् हम सबको शान्ति दें ताकि हम सबकी जीवनचर्या सुखद और कल्याणकारी बने।

गांधीजीकी प्रार्थना और हमारी दिनचर्या

(श्रीबालकविजी बैरागी)

जीवनचर्या और दिनचर्यामें कई-कई वर्षोंका अन्तराल है। दिनचर्या अधिकाधिक चौबीस घण्टोंकी हो सकती है। हालांकि मामला 'पलकी खबर नहीं' वाला है। तब भी आप चौबीस घण्टोंकी अपनी दिनचर्या प्रतिदिन बनाते हैं या जीते हैं, किंतु जीवनचर्या शब्द जो अर्थ हमें देता है, उसके अनुसार हम अपने पूरे जीवनकी चर्याका नक्शा जब बनानेकी सोचें तो हमारे पास पूरे सौ वर्षका क्षितिज होता है। माता-पिता और गुरुओंकी आशिषों, शिवकामना करनेवाले हितैषी मित्रोंकी शुभकामनाओं तथा शास्त्रोंकी मन्त्रवर्षाके बीच हम **'जीवेम शरदः शतम्'** के अनुसार एक सौ शरद जीनेकी इच्छा और अर्जित स्वास्थ्यके आधारपर कम-से-कम एक सौ वर्षका अपना जीवन मानकर सौ वर्षकी जीवनचर्याकी रूपरेखा बना सकते हैं। बेशक ही यह कठिन काम है, किंतु मनुष्य नामके

प्राणीको कठिन काम करनेकी क्षमता भी ईश्वर नामकी सर्वोच्च सत्ताने दे रखी है। इस क्षमताका सदुपयोग मनुष्य ही कर सकता है; क्योंकि उसे उसके निर्माताने करुणा, बुद्धि और विवेक—तीनों तत्त्वोंकी त्रिवेणी देकर धरतीपर भेजा है।

अपनी चर्यामें हम दो शक्तियोंका सहारा अवश्य लेते हैं। लेनेको तो सहारे न जाने कैसे-कैसे हम ले लेते हैं, लेकिन पूजा और प्रार्थना—ये दो शक्तियाँ ऐसी हैं, जिनका सहारा अपनी दिनचर्यामें लेना हम कभी नहीं भूलते। मन्दिरोंमें हाथ जोड़े जाते हैं, मस्जिदोंमें हाथ फैलाये जाते हैं, गुरुद्वारोंमें मत्था टेका जाता है, गिरजाघरोंमें प्रार्थनाएँ की जाती हैं, आश्रमों और गुरुचरणोंमें साष्टांग दण्डवत् किये जाते हैं। स्थान-स्थानकी अपनी महिमा और मर्यादाएँ हैं, किंतु माया-मोहसे ग्रस्त, त्रस्त और अभ्यस्त मनुष्य हाथ पसारकर हर द्वार-देहरीपर एक-न-एक मनोकामना या मन्नत जरूर माँगता-मनाता है। हमारी कातर प्रार्थनाओंमें हम अपने अन्तर्यामीसे, अपने इष्टसे, अपने पूज्य-पूजित दैवसे जो कुछ माँगते हैं, वह हम ही जानते हैं। घोषित तौरपर हम माँगते हैं—*'श्रद्धा-भक्ति बढ़ाओ देवा संतन की सेवा'* तब भी मन-ही-मन कुछ-न-कुछ अघोषित भी हम माँगते ही रहते हैं।

उस माँगपर कभी पूर्ण विराम नहीं लगता। चौबीस घण्टोंकी दिनचर्यासे लेकर एक सौ एक वर्षकी जीवनचर्यातक यह माँग चलती ही रहती है। प्रार्थनाओंमें व्यस्त ऐसे सभी साधकों—आराधकोंसे इस मोड़पर मैं भी एक विशेष प्रार्थना करता हूँ। स्वीकार हो तो बहुत अच्छा और अस्वीकार हो तो भी बहुत अच्छा। मेरी प्रार्थना यह है कि अपनी प्रार्थनाओंमें आप अपने भगवान्‌जी, प्रभुजी या देवता-देवीसे दो चीजें कभी नहीं माँगें। वे दो चीजें हैं—एक तो अपने निर्माता परमपितासे मृत्यु कभी नहीं माँगें। उससे कभी नहीं कहें कि हे भगवान्! मुझे मौत दे दे। उससे मृत्यु इसलिये नहीं माँगें कि वह तो आपको उसने आपके जन्मके साथ ही दे दी थी। उसने आपको अपनी सुन्दर सृष्टिमें भेजते समय ही यह सुनिश्चित कर दिया था कि आपको कब, कहाँ और कैसे मरना है। उससे सुनिश्चित चीज माँगकर उसका और अपना समय नष्ट मत कीजिये। आपकी मृत्यु प्रत्येक श्वासपर आपके साथ जी रही है, चल रही है। माँगना ही हो तो मेहरबानी करके उससे अपना जीवन शुचिता, पवित्रता, नैतिकता, आस्तिकता और परमार्थके प्रति समर्पित साधनाकी शक्ति, साहस और सार्थकताके साथ बिताने तथा जीनेका सम्बल माँगें। उससे हाथ जोड़कर माँगें कि प्रभो! आपने मुझे अपनी सुन्दर संरचनामें भारत-जैसे पावन देशकी प्रणम्य धरतीपर मनुष्य बनाया है। मुझे ऐसा अनुपम जीवन दें कि मैं परोपकार और परमार्थ करते हुए आपका ऋण चुका सकूँ। मनुष्य ही नहीं जीवमात्रके काम आ सकूँ। अपनी प्रार्थनाओंमें इस जीवन छन्दको जोड़िये।

अपने प्रभुसे जो दूसरी चीज आप नहीं माँगें, वह है रोटी। दया करके कभी भी अपने भगवान्‌से रोटी मत माँगिये। आपकी माँकी छातियोंमें आपके जन्मसे पहले ही जिसने अमृत-जैसे दूधकी व्यवस्था करके आपको संसारमें भेजा हो, उसने आजीवन आपकी भोजन-व्यवस्था करनेके बाद ही आपको जन्म दिया है। दाने-दानेपर है खानेवालेका नाम—यह सारे संसारमें प्रचलित मुहावरा है। मुँहतक आया निवाला छूट जाता है और पता नहीं कौन आपके मुँहमें अपना निवाला दे जाता है। चींटी, चिड़िया और गजराजतकके भोजनकी व्यवस्था उसने कर रखी है। महात्मा गांधीजी जो प्रार्थना करते थे, वह आपको याद है। उनकी प्रार्थनाका एक छन्द था—

रघुपति राघव राजा राम पतित पावन सीताराम।
ईश्वर अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान॥

उन्होंने सबके लिये सन्मति माँगी। वे आसानीसे मुझ-जैसे कविसे लिखवा सकते थे सबको रोटी दे भगवान या मुझको रोटी दे भगवान या कि हीरे-मोती दे भगवान, धन और धरती दे भगवान, सोना-चाँदी दे भगवान, रुपया पैसा दे भगवान, कहूँ कि संगीत, पिंगल, छन्द, मात्रा, लय, ताल सबका निर्वाह करते हुए ऐसी पचासों पंक्तियाँ जोड़ी जा सकती थीं, किंतु उन्होंने अपनी प्रार्थनामें सबको सन्मति दे भगवान जैसी महत्त्वपूर्ण पंक्तिका सहारा लिया। अपनी छातीपर गोली खानेके बाद भी 'हे राम' कहते हुए बलिदान हो गये, लेकिन बलिदानसे पूर्व भी यही प्रार्थना-पंक्ति उनकी प्रत्येक

प्रार्थनासभामें गूँजती रहती थी।

चाहे आपकी दिनचर्या हो या जीवनचर्या, यदि आप प्रार्थनामें विश्वास करते या रखते हैं तो अपनी प्रार्थनाकी इबारतको एक बार फिरसे जाँच लें। अभी समय बहुत है। आपकी हथेलीपर आयुरेखा छोटी है या बड़ी, गहरी है या उथली, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, किंतु आपकी प्रार्थनाकी इबारत आपका ईश्वर ही जाँचनेवाला है। आप और सबसे छिपा सकते हैं या छिप सकते हैं पर अपने अन्तर्यामीके सामने यह छिपा-छिपीका खेल नहीं चल सकेगा। आप किसी भी वर्गके हों, किसी भी वर्णके हों, किसी भी जातिके हों, किसी भी धर्मके हों, किसी भी देशके हों, किसी भी आस्थाके हों, पर यदि आप मनुष्य हैं तो आपका कोई-न-कोई जीवनदाता है, जीवननियन्ता है और वह आपके जीवनकी राई-राई, रत्ती-रत्ती जानता है। आप निराकारके उपासक हों कि साकारके, आप आस्तिक हों कि नास्तिक, कोई-न-कोई आस्था आपमें सदैव जाग्रत् है। आस्थाकी यह जागृति ही आपकी दिनचर्या या जीवनचर्यामें किसी सर्वोच्च सत्ताका सीधा हस्तक्षेप है। हस्तक्षेप क्या सुनियोजित व्यवस्था है। यह व्यवस्था सुसंचालित है।

आपकी प्रार्थनाओंकी प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक याचना बराबर सुनी जाती है। जी हाँ, प्रार्थनाएँ, स्वराघात, शब्दाघात, विराम, स्वल्पविराम और पूर्णविरामतक सुना और समझा जाता है। ऊपरवाला खूब परख लेता है कि आपका मूलधन क्या है और कितना है। आप उसका सदुपयोग कर रहे हैं कि दुरुपयोग, यह आपका सुनवैया खूब जानता है। यदि आपकी प्रार्थना परहितमें है तो फिर स्वीकृत है, पर यदि वह स्वार्थ और स्वहितमें है तो विचारार्थ विलम्बित धरी रह जायगी। शायद, आप मेरी प्रार्थना सुनकर समझ गये हों।

अनुपालनीय धर्म

(आचार्य श्रीआद्याचरणजी झा)

'धृञ्' धारणे धातुसे 'घञ्' प्रत्यय लगनेसे धर्म शब्द बनता है। **'ध्रियते धरति वा लोके यः स धर्मः'** अर्थात् जो धारण किया जाता है अथवा जो धारण करता है, वह धर्म है। यह धर्म कर्तव्य, कानून, नियम तथा त्रिवर्गोंमें सर्वप्रथम है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति सः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

एकमात्र धर्म ही अपना सच्चा मित्र है; क्योंकि मृत्युके अनन्तर भी वह साथमें जाता है। अन्य सभीका शरीरके साथ नाश हो जाता है। फलतः धर्म शब्द मानवजीवनके सभी क्षेत्रोंमें तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यासमें भी कर्तव्यके रूपमें नियतरूपेण संलग्न रहता है।

अंग्रेजीके सेक्यूलर शब्दसे भारतीय संविधानद्वारा भारतको धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया, जबकि उचित था पंथसम्प्रदायनिरपेक्ष राज्य, जो भारतमें अनादिकालसे रहा है, जहाँ सभी पंथवाले समानरूपसे रहते हुए अपने-अपने पंथके अनुसार कार्य करते थे; चाहे वे किसी भी मतको माननेवाले हों।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति)

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

उपर्युक्त १८ अठारह धर्मोंमें किसी पन्थवालेको क्या कहीं भी कोई आपत्ति हो सकती है? धैर्य, क्षमा, मनका दमन, चोरी नहीं करना, पवित्रता, इन्द्रियोंको वशमें रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य बोलना एवं क्रोध नहीं करना, इज्य—यज्ञ, अध्ययन, दान, तपस्या, सत्य, धैर्य एवं लोभराहित्य—ये सम्पूर्ण भारतमें किसे मान्य नहीं हैं? भले ही सनातन, आर्यसमाज, ईसाई, इस्लाम, सिख कोई भी धर्मावलम्बी या पंथवाले हों, यहाँ रहते आये हैं, आज भी हैं। सेक्युलर शब्दने भारतभूमिकी पावनता नष्ट कर दी। भारतीय संविधानमें अंग्रेजी मान्य नहीं है, फिर भी उसे सहभाषाके रूपमें रखनेके लिये संविधानमें स्थान दिया गया। आज अंग्रेजी साम्राज्ञी है, हिन्दी कहाँ है—कहते लज्जा हो रही है। बस, इतना ही पर्याप्त है।

मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'

(श्रीविवेककुमारजी पाठक)

यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(श्रीमद्भा० ६।२।४)

अजामिलके प्रंसगमें श्रीविष्णुदूतोंने यमदूतोंसे कहा— श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करते हैं, साधारण लोग उन्हें देखकर उसी प्रकारका आचरण करनेका प्रयत्न करते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति जिसे प्रमाणित करते हैं, अन्य साधारण लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं। सदाचार ही श्रेष्ठ पुरुषोंका धर्म है। सत्पुरुषोंद्वारा जो भी आचरण अपनाया गया है, वही सदाचार है। सदाचारका मूल श्रद्धा और विश्वास है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा-जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी उसी प्रकारका आचरण करते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति जिस बातको प्रमाणित करते हैं, साधारण लोग उसीका अनुसरण करते हैं।

श्रेष्ठ पुरुष दो प्रकारके होते हैं—१. अवधूत-कोटिके और २. आचार्य-कोटिके। अवधूत-कोटिके श्रेष्ठ पुरुष अवधूतोंके लिये ही आदर्श होते हैं, परंतु आचार्य-कोटिके श्रेष्ठ पुरुष मनुष्यमात्रके लिये आदर्श होते हैं।

महाभारत (वन० ३१३।११७)-के अनुसार—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

अर्थात् तर्ककी कोई स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है जिसका मत सर्वमान्य हो तथा धर्मका तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिस मार्गसे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।

अध्ययनके पश्चात् जब विद्यार्थी गुरुकुलसे विदा होते थे तो गुरुजी यह उपदेश देते थे—

'**अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।**' (तैत्ति० उप० वल्ली-१, अनुवाक-११)

यदि तुमको कभी कर्तव्य निश्चित करनेमें कोई शंका उपस्थित हो जाय, अपनी बुद्धिसे निश्चय करनेमें कठिनता हो तो ऐसी स्थितिमें वहाँ जो कोई विचारवान्, परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें तत्पर, सबसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेवाले महापुरुष उस प्रसंगमें जो आचरण करते हों, उसी प्रकारका आचरण तुम भी करना। इन स्थलोंपर उनके द्वारा स्थापित आदर्शका ही अनुगमन करना चाहिये, यही धर्मशास्त्रोंका निचोड़ है। यही गुरु एवं माता-पिताका अपने शिष्यों तथा सन्तानोंके लिये उपदेश है। यही वेदोंका रहस्य है। यही अनुशासन है (ईश्वरकी आज्ञा तथा परम्परागत उपदेशका नाम अनुशासन है)। इसलिये तुमको इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये।

श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण—जो किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखते, घोर-से-घोर दुःखमें भी प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं, जिनके जीवनका सार सत्य है; जिनके अन्तःकरणमें पाप-वासना नहीं आती; जिनकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती; जो संयमी, मधुर एवं स्वभावसे पवित्र होते हैं; संग्रह-परिग्रहसे दूर रहते हैं; शान्त और स्थिर रहते हैं; जो प्रमादरहित, गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान् होते हैं, जिनके वशमें भूख-प्यास, शोक, मोह आदि रहते हैं, जो सम्मान देना जानते हैं लेना नहीं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। उनका अनुकरण करना ही श्रेष्ठ जीवनचर्या है।

पूर्वजोंका स्मरणकर उनके पथपर चलें

(आचार्य स्वामी श्रीखुशालनाथजी धीर)

पूर्वजोंका स्मरण क्यों एवं कैसे? यह ऐसा ही प्रश्न है जैसा कि 'मैं क्यों और कैसे'। इसका सहज उत्तर है आत्मरमण अर्थात् अपने भावमें विलीन हो जाना। अपने-आपमें विलीन हो जाना उतना सहज नहीं है, जितना लगता है। भाग्यशाली हैं वे जिन्हें अपने पूर्वजोंका भान है, वरना आजके भौतिक युगमें तो मनुष्य मैं, मेरा और माता-पिताके आगेके कुल-गोत्रपर ध्यान ही नहीं देते, जानना तो दूरकी बात है। मुझे एक घटनाका स्मरण हो रहा है, मैं जयपुरसे बाडमेर रेलयात्रामें था। रेलमें सामनेकी सीटपर एक कुछ परिचित-सा व्यक्ति बैठा था। मैंने उससे पूछा—आपका शुभ नाम? उसने नाम बता दिया, फिर पिताका नाम पूछा तो वह भी बता दिया। मुझे परिचित-सा लगा; मैंने पूछा तुम्हारे नानाजी किस नाम एवं गोत्रके हैं तो वह व्यक्ति बगलें झाँकने लगा, मैं उसका भाव ताड़ गया। विषय-परिवर्तन किया तो वह अमेरिकाके राष्ट्रपतिका नाम, खिलाड़ियोंके नाम, टी०वी० सीरियलोंके नाम धड़ल्लेसे बताने लगा। यह है हमारी वर्तमान पीढ़ीका हाल। स्वजातिका ज्ञान सफाचट एवं विश्वका ज्ञान फटाफट। यह दोष उसका नहीं है जिसका कि उसको भान नहीं है, दोष तो उन परिजनोंका है, जो उनमें यह भाव संस्कारित नहीं कर सके कि हमारे पूर्वज कौन और क्या थे? उनका कैसा महनीय गौरव था, उनकी समाजमें क्या स्थिति रही और अब आते-आते हमारे वर्तमान परिवारतक यह स्थिति कहाँतक पहुँची है। महापुरुषों, परिजनोंकी जयन्ती, पुण्यतिथि मनानेके पीछे मूल भावना यही रहती है कि हम उनका स्मरण करें, फिर आत्मावलोकन करें। मनुष्यकी सबसे कर्णप्रिय श्रुति है—स्वयंका नाम। अरे मनुष्य क्या, पशु-पक्षीको भी आप नामसे पुकारोगे तो वह आपके पास आ जायगा। सिणधरीके रावल गुलाबसिंहजी (जिला बाडमेर राजस्थान)-की गोशालामें सैकड़ों गायें, बैल, घोड़े आदि पालतू-जानवर थे। उन्होंने उन्हें नाम दे रखा था—श्यामा, कृष्णा, गोमती, कावेरी आदि। वे जब जिस गायको बुलाते थे तो सैकड़ों गायोंके झुण्डमेंसे एक वही गाय आगे आती, जिसका नाम रावलसाद्वारा पुकारा जाता था। फिर हम तो मनुष्य हैं। पूर्वजोंका समय-समयपर स्मरण करनेपर वे परोक्ष रूपसे हमारा मार्गदर्शन और हमारी सहायता अवश्य करते हैं। वे तो भावनाके भूखे हैं। मान-सम्मान और अन्न-धनका भूखा तो इन्सान है। प्रत्येक जाति, धर्म, सम्प्रदायमें उनके पूर्वज, वंशज इष्ट रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि उन्होंने ही हमारी संस्कृति एवं सभ्यताकी धाराको प्रवहमान रखा है और जीवनचर्याके मूल्योंको स्थिर रखा है। अतः हमें अपने पूर्वजों, माता-पिता, कुलगुरु, इष्टदेवी-देवतापर गर्व होना चाहिये। वे हमारे पूज्य थे, हैं और रहेंगे। वर्तमान पीढ़ीका यह पहला दायित्व बनता है कि वह अपने परिवारमें संतानको उनके पूर्वजों, वंशावली, गोत्रादि एवं पारिवारिक रिश्तेदारोंका पूर्ण ज्ञान करायें। कहीं ऐसा न हो कि आनेवाली पीढ़ी अपने माता-पितासे आगेकी पीढ़ीको ही भूल जाय। अतः प्रत्येक परिवारमें इसका लिखित ज्ञान परिवारके बुजुर्गोंसे पूछकर, उसे संजोये, यह आवश्यक है। मानवमात्रका यह कर्तव्य बनता है कि वह अपनी-अपनी जाति (वर्ण-व्यवस्था)-के पूर्वजोंकी जयन्ती एवं पुण्यतिथि समारोहपूर्वक सम्मिलित रूपसे सामाजिक स्तरपर अवश्य मनाये। अपने घर-परिवारमें भी इसे व्यक्तिगत स्तरपर मनाये। जीवनमें पहली गुरु उसकी माता है, उसके बाद पिता। ये नैसर्गिक गुरु हैं। अतः इनकी जीवित अथवा मृत्यु दोनों ही दशामें सेवा करना पुण्यफलदायी है। प्रत्येक गृहस्थका यह धर्म है कि वह अपने माता-पिताकी पुण्यतिथि श्रद्धापूर्वक अवश्य ही अपने परिवारमें मनाये। इस निमित्त किये गये श्राद्ध एवं दान-पुण्यका अवश्य फल मिलता है। इससे यह परम्परा परिवारमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी पोषित होती रहती है। परम्पराका निर्वाह किसी औरके हाथमें नहीं; बल्कि स्वयंके हाथमें है। फिर शुभ कार्य करनेमें देरी कैसी! जब जागो तभी सवेरा।

रामराज्यमें नागरिकोंकी आदर्श जीवनचर्या

(श्रीरामपदारथसिंहजी)

रामायण एवं अन्य अनेक आर्षग्रन्थोंमें रामराज्यमें नागरिकोंकी आदर्श जीवनचर्याका चित्रण किया गया है। उल्लेखनीय है कि नागरिकोंकी जीवनचर्यापर राजाकी जीवनचर्याका प्रभाव पड़ता है—जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा हो जाती है। राजा चाहे तो कलियुगमें भी सत्ययुग ला सकता है। भीष्म पितामहने राजा युधिष्ठिरको राजधर्मका उपदेश करते हुए कहा था कि राजा ही सत्ययुगकी सृष्टि करनेवाला होता है और राजा ही त्रेता, द्वापर तथा चौथे युग—कलिकी भी सृष्टिका कारण है—

राजा कृतयुगस्त्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥

(महा० शान्ति० ६९।९८)

श्रीशुक्राचार्यजीका भी मत है कि राजा धर्माधर्मका प्रशिक्षक होनेसे युगप्रवर्तक होता है। अतः न युगका दोष होता है और न प्रजाका, दोष होता है राजाका—

युगप्रवर्तको राजा धर्माधर्मप्रशिक्षणात्।
युगानां न प्रजानां न दोषः किंतु नृपस्य तु॥

(शुक्रनीतिसार ४।१।६०)

धर्मधुरीण भानुकुलभानु भगवान् श्रीरामका राज्यकाल त्रेता था, किंतु त्रेतामें भी सत्ययुगकी-सी स्थिति हो गयी थी—*'त्रेतां भइ कृतजुग कै करनी'* (रा०च०मा० ७।२३।६)। सत्ययुगमें धर्मके चारों चरण—सत्य, शौच, दया और दान विराजमान रहते हैं। त्रेतामें सामान्यतः धर्मके तीन चरण रहते हैं, लेकिन त्रेता रहनेपर भी रामराज्यमें धर्म अपने चारों चरणोंसे जगत्‌में परिपूर्ण था—

चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥

(रा०च०मा० ७।२१।३)

इसका तात्पर्य है कि रामराज्यमें नागरिकोंकी जीवनचर्या सत्य, शौच, दया और दानकी दीप्तिसे दीप्त थी। स्वप्नमें भी किसीके मनमें पापकी बात नहीं आती थी। मनुष्यके चरित्रका असली चित्र उसके सपनेमें बिम्बित होता है।

जब एक वर्णके व्यक्ति दूसरे वर्णके लिये विहित धर्म-कर्मोंके प्रति लोभाकर्षित होते हैं, तब धर्मसंकरता उत्पन्न होती है, जिससे सामाजिक असन्तोष एवं संघर्षकी सृष्टि होती है तथा लोगोंका लौकिक-पारलौकिक जीवन दुःखमय होता है। रामराज्यमें धर्मसंकरता कहीं नहीं थी। सभी श्रेणीके नागरिक स्वधर्ममें संलग्न थे। आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीकी उक्ति है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टा स्वैरेव कर्मभिः॥

(वा०रा० ६।१२८।१०४)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके लोग लोभरहित थे। सबको अपने ही वर्णाश्रमोचित कर्मोंसे सन्तोष था और सभी उसके पालनमें लगे रहते थे।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी रामराज्यकालीन नागरिकोंकी जीवनचर्याके वर्णनमें उनकी स्वधर्मसंलग्नता और उसके शुभ परिणामकी चर्चा की है। यथा—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(रा०च०मा० ७।२०)

इस दोहेमें नागरिकोंकी जीवनचर्याकी चार बातोंपर प्रकाश है—१-सबलोग अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें लगे हुए थे, २-सबलोग वेदमार्गपर चलते थे, ३-सबलोग सुख ही पाते थे और ४-किसीको न भय था, न शोक था और न कोई रोग था। पहली और दूसरी बातोंमें साधनकी सूचना है और तीसरी एवं चौथीमें सिद्धिकी। यहाँ स्मरणीय है कि अपने-अपने वर्णाश्रमोचित धर्ममें तत्पर रहनेकी बातके साथ वेदमार्गपर चलनेकी बात कहना कविको आवश्यक जान पड़ा; क्योंकि नागरिक निज धर्मके निर्धारणमें मनमानी नहीं करते थे, वेद-शास्त्रको प्रमाण मानकर तदनुसार चलते थे। इसी प्रकार सुख पानेकी बातके साथ भय, शोक और रोग न होनेकी बात कहनेका आशय है कि सबलोग दुःखरहित सुख पाते थे; क्योंकि धर्म ही करते थे। दुःखोंका उत्पादक पाप उनसे होता ही नहीं था। ऐसी बात नहीं होती तो अधर्म भी निष्फल नहीं होता, सुखके साथ दुःख भी मिलता।

राजाधिराज भगवान् श्रीरामचन्द्रके प्रतापसे विषमता विलुप्त हो गयी थी, अतः कोई किसीसे वैर नहीं करता था—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

(रा०च०मा० ७।२०।८)

'प्रताप' पद पारिभाषिक है। उदारतापूर्वक दान करनेसे जो प्रशंसा प्राप्त होती है, उसे कीर्ति कहते हैं और बाहुबलसे सज्जनसंरक्षण करनेके कारण प्राप्त प्रशंसाको सुयश कहते हैं। कीर्ति और सुयश सुनकर आततायी आप-से-आप उत्तप्त और आतंकित रहते हैं। इस प्रभावको प्रताप कहते हैं—

कीरति सो अरु सुजस सों होत सत्रु उर ताप।
जग डरात सब आप ही कहिये ताहि प्रताप॥

(गीतावलीकी बैजनाथीटीका)

प्रभु श्रीरामके दान और संरक्षणजनित अप्रतिम प्रतापसे सबका योगक्षेम सुरक्षित था। लोग अवैध परिग्रहसे पराङ्मुख थे। सबकी सुख-सुविधाओंमें समानता थी। गीतावलीमें वर्णित है—

सबहीके सुंदर मंदिराजिर, राउ-रंक न लखि परै।
नाकेस-दुरलभ भोग लोग करहिं, न मन बिषयनि हरै॥

(गीतावली ७।१९)

अर्थात् सभीके घर और आँगन बड़े सुन्दर थे। उनमें राजा-रंकको कोई पहचान ही नहीं होती थी। जो ऐश्वर्य-भोग देवराजको भी दुर्लभ हैं, उन्हें लोग भोगते थे, तो भी उनका मन विषयोंके वशीभूत नहीं होता था। विषमता और विषयासक्तिके विलोपनसे लोगोंके मनमें द्वेषके प्रवेशके लिये द्वार ही नहीं था।

किसी सुराज्यका संविधान जनताके रहन-सहनको सुखमय और समतायुक्त करके वैरविरोध एवं झगड़े-झंझटके अवसरको आनेसे रोक सकता है, लेकिन किसीके मनको किसीसे प्रेम करनेके लिये बाध्य नहीं कर सकता है। रामराज्यमें लोग एक-दूसरेसे प्रेम करते थे—***'सब नर करहिं परस्पर प्रीती'*** (रा०च०मा० ७।२१।२)। यह आदर्श जीवनशैली श्रीरामचन्द्रजीके आदर्श चरित्रके प्रतापसे लोगोंके आन्तरिक भेदभावकी विलुप्ति और उनके मनकी समतामें सुस्थिर होनेकी सूचिका है।

मानवजीवनका परम लक्ष्य परम गतिकी प्राप्ति है। इस उद्देश्यमें सहायक जीवनपद्धति ही प्रशंसनीय होती है। रामराज्यमें सभी नर-नारी रामभक्तिमें रत थे, फलतः सभी परम गतिके अधिकारी थे, ***'राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥'*** (रा०च०मा० ७।२१।४) कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग मनुष्योंके श्रेयके साधन हैं। चारों चरणोंसे युक्त धर्मकी विद्यमानता कर्मयोगमें, रामभक्तिमें रत रहना भक्तियोगमें और परमगतिका अधिकारी होना ज्ञानयोगमें नागरिकोंकी निष्ठाका द्योतक है।

धर्म, सत्य, सदाचार, बल एवं श्रीका मूल शील है। विद्वानोंकी सेवाके बिना शील नहीं प्राप्त हो सकता—***'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई'*** (रा०च०मा० ७।९०।६)। मन-वचन-कर्मद्वारा किसीसे द्रोह नहीं करना, सबपर दया करना, यथाशक्ति दान देना शील है। रामराज्यमें समाज शीलवान् था। सब उदार और परोपकारी थे; क्योंकि सब विप्रचरणसेवापरायण थे—

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥

(रा०च०मा० ७।२२।७)

गृहस्थ-जीवनका उद्देश्य और आनन्द दाम्पत्यके प्रेमपूर्ण निर्वाहमें निहित है। रामराज्यमें सभी पुरुष एकपत्नीव्रतधारी थे और सभी स्त्रियाँ मन, वचन तथा कर्मसे पतिहितकारिणी थीं—***'एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥'*** (रा०च०मा० ७।२२।८)

वायु आदि सभी तत्त्वोंमें जो विगुणता उत्पन्न होती है, उसका मूल अधर्म है—**'सर्वेषामपि वाय्वादीनां यद् वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः'** (चरक०विमान० ३।२०)। धर्मिष्ठ, शिष्ट, संयमी तथा सचेत नागरिकोंके रहते पंचतत्त्व प्रदूषित नहीं हो सकते। रामराज्यमें मानवप्रकृतिकी स्वच्छताके कारण मानवेतर प्रकृति स्वच्छ और सानुकूल रहती थी। शीतल, मन्द एवं सुरभियुक्त हवा बहती थी। सरिताओंमें निर्मल नीरका अबाध प्रवाह था। समुद्र मर्यादामें रहते थे। खेत सदा शस्यसम्पन्न रहते थे। वांछानुकूल वर्षा और गरमी-सर्दी होती थी।

नागरिक हर्षोल्लसित रहते थे—***'हरषित रहहिं नगर***

के लोगा।' (रा०च०मा० ७।२५।५) लेकिन साधनके क्षेत्रमें अनुद्धर्ष ही उपादेय है। अपनी साधनाकी स्थितिसे सन्तुष्ट न रहनेको अनुद्धर्ष कहते हैं। अनुद्धर्ष भक्तियोगमें सहायक साधन-सप्तकके अन्तर्गत है। यद्यपि नागरिक राम-भक्तिमें रत थे तथापि उन्हें अपने प्रेममें कमी मालूम पड़ती थी। इसलिये वे ब्रह्माजीको दिन-रात मनाते रहते थे और उनसे श्रीरघुवीरके चरणोंमें प्रीति चाहते थे—

अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं। श्रीरघुबीर चरन रति चहहीं॥

(रा०च०मा० ७।२५।५)

भगवान्‌की तरह ही भगवच्चर्चामें भी रक्षोघ्न शक्ति होती है। जहाँ लोग जीवनचर्यामें राक्षसोंके भयको भगानेवाले भक्तवत्सल श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंके श्रवण, कीर्तन एवं स्मरणको स्थान नहीं देते, वहाँ राक्षसता बलवती होती है। जहाँ कार्यसूचीमें ये सम्मिलित रहते हैं, वहाँ आनन्द और अनुरागका उदय होता है और आसुरी वृत्तिका विनाश होता है। अर्जुनजीको श्रीभगवान्‌के विराट्‌रूपमें वे स्थल भी दिखायी पड़े, जहाँ भगवद्यश-कीर्तन होते थे, जिससे वहाँसे राक्षसगण भयभीत हुए दिशाओंमें भाग रहे थे—**'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'** (गीता ११।३६)। नित्य कथा-कीर्तनमें समयका सदुपयोग करना रामराज्यमें नागरिकोंका दिव्य व्यसन था। घर-घरमें पुराणों और पावन रामचरित्रकी कथा होती थी। सभी नर-नारी भगवान् श्रीरामका गुणगान करते थे और इस आनन्दमें दिन-रातका बीतना भी नहीं जानते थे—

सब कें गृह गृह होहिं पुराना। रामचरित पावन बिधि नाना॥
नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥

(रा०च०मा० ७।२६।७-८)

लोगोंको जब भी मिल-जुलकर बैठनेका अवसर मिलता था तब वे परस्पर भगवद्‌पूजनकी ही सीख देते थे—

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा सील रूप गुन धामहि॥

(रा०च०मा० ७।३०।१-२)

भगवान्‌में चित्त लगाये रहनेवाले तथा भगवान्‌के लिये जीवनधारण करनेवाले भाग्यवान् व्यक्तियोंका भगवद्‌गीतोक्त लक्षण है—**'बोधयन्तः परस्परम्'** (गीता १०।९)। अर्थात् भजन-भक्तिमें उत्तरोत्तर उन्नयनहेतु परस्पर उत्प्रेरित करना और अपने अनुभवोंका बोध कराना। रामराज्यमें नागरिक एक-दूसरेको जीवनके सर्वोच्च लक्ष्यका बोध कराते रहते थे। उपर्युक्त जीवनचर्या विश्वके इतिहासमें अनुपम है और अनुसरणीय है।

पवित्रता और जीवनकी सच्चाई

[एक दृष्टान्त]

(श्रीहरिशंकर बी० जोशीजी)

अरावलीकी घनी दुर्गम पहाड़ियोंके बीचमें एक महात्मा अपनी कुटिया बनाकर निवास करते थे। वे हमेशा साधनामें लीन रहते। महात्माजी पिछले २१ वर्षोंसे वहाँसे लगभग पाँच किलोमीटरकी दूरीपर स्थित नगरमें प्रतिदिन जाया करते और किन्हीं पाँच गृहस्थोंके घरके सामने अपनी दृष्टि नीची किये हुए भिक्षाके लिये खड़े होते। यदि भिक्षा न मिलती तो बिना कुछ कहे अपनी कुटियामें लौट आते। इन २१ वर्षोंमें कभी ऐसा नहीं हुआ कि महात्माजीको भिक्षा न मिली हो। बच्चे उन्हें हमेशा परेशान करते, कभी उनके पीछे-पीछे चलकर उन्हें चिढ़ाते रहते और जब वे कथा कहते तो हल्ला करते, परंतु महात्माजी इतने सरल एवं क्षमाशील थे कि वे कभी कुछ न बोलते। कोई व्यक्ति जब उनसे ज्ञानसम्बन्धी कोई प्रश्न करता तो वे केवल इतना ही कहते कि 'शील, सदाचारका जीवन जियो, नशे-पत्ते तथा व्यभिचारसे सदा बचो।' इससे अधिक कुछ न कहते।

जब कोई व्यक्ति उनसे यह पूछता कि शील-सदाचारसे कैसे रहें? तो वे कहते, 'कोई भी प्राणी छोटा हो या बड़ा, मनुष्य हो अथवा पशु-पक्षी, उसकी हत्या न करो। किसी भी प्रकार उन्हें कष्ट न पहुँचाओ, दुःखी न करो। सदा सत्य बोलनेका अभ्यास डालो अर्थात् असत्यभाषणसे बचो, किसी अन्यकी वस्तुको लोभवश

अपनी बनानेकी चेष्टा न करो अर्थात् चोरीसे बचो एवं ब्रह्मचर्यका पालन करो तथा संसारमें जीनेके लिये आवश्यक सामग्रियोंका कम-से-कम संग्रह करो। इसीमें सबका मंगल समाया हुआ है और यही सच्चा धर्म है।' उनकी इस तरहकी शिक्षापर कोई विशेष ध्यान न देता। कुछ लोग उनकी बातोंको ठीक कहते, परंतु धारण करनेका प्रयत्न न करते। इसी प्रकार उनकी २१ वर्षोंकी प्रक्रिया चलती जा रही थी।

एक बार महात्माजी अचानक बीमार पड़ गये तथा ऐसे पड़े कि न तो वे भिक्षाके लिये १२ दिनोंतक नगरमें जा सके और न ही लोगोंको इस बातका ध्यान आया कि महात्माजी आजकल भिक्षाके लिये क्यों नहीं आ रहे हैं? बीमारीकी वजहसे महात्माजी चलने-फिरनेमें इतने अशक्त हो गये कि उनका उठना-बैठना भी मुश्किल हो गया। वे सोचने लगे कि यदि मैं भिक्षा न लाऊँगा तो भूखके कारण मेरी मृत्यु हो जायगी। मनमें संकल्प करके वे नगरमें जानेको तैयार हुए। किसी प्रकार वे आधा रास्ता तय कर पाये थे कि अशक्तताके चलते मूर्च्छा खाकर गिर पड़े। जब उन्हें होश आया तो उन्होंने अपने-आपको एक आमके वृक्षके नीचे पाया। वह आमका वृक्ष फलोंसे लदा हुआ था। महात्माजीने दृष्टि उठाकर देखा तो वहाँ आस-पास पके आम जमीनपर गिरे पड़े थे। प्रथमतया तो उन्होंने आम खाकर क्षुधा शान्त करनेकी सोची, परंतु दूसरे ही क्षण उन्हें ध्यान आया कि ये आम तो दूसरेके हैं और मैं बिना अनुमति इन्हें कैसे खा सकता हूँ? यह ध्यान आते ही उन्होंने आम खानेका विचार त्याग दिया तथा वहीं उसी अवस्थामें पड़े रहे। तभी थोड़ी देर बाद उस बगीचेका मालिक किसान वहाँ आया और उसने महात्माजीको देखा। उनकी अवस्था देख उसने तुरन्त महात्माजीके ऊपर पानीका छींटा मारा, इससे महात्माजी चेतनामें आये। किसानने उनसे पूछा—'महात्माजी! आपकी ऐसी दयनीय दशा कैसे हो गयी और आप कैसे यहाँ पड़े हैं?' महात्माजीने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। किसानने उनसे कहा—'महाराजजी! यदि ऐसी बात है तो यहाँ इतने सारे फल गिरे पड़े हैं, भला आपने इन्हें खाकर अपनी भूख क्यों नहीं मिटायी?' इसपर उन महात्माने उत्तर दिया—'देखो भाई! ये तुम्हारे बगीचेके आम हैं, इसपर तुम्हारा अधिकार है, सो तुम्हारी आज्ञाके बिना भला मैं कैसे इन्हें खा सकता था। ऐसा करना तो पाप है।' यह सुनकर किसानकी आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लगे। उसने कहा—'महाराज! भाग्यवश मैं यहाँपर आ गया, अन्यथा भूखके मारे आपके प्राण-पखेरू उड़ जाते।' महात्माजीने कहा—'किसी दूसरेकी वस्तुका उपयोग उसके स्वामीकी अनुमतिके बिना ले लेना पाप ही तो है। भला, मैं यह कैसे कर सकता हूँ, यह तो मेरे शील-व्रत अर्थात् धर्मके विपरीत बात है, चाहे मेरा शरीर मृत्युको प्राप्त हो जाता, पर यह अधर्म है। ऐसा नहीं करना चाहिये।'

यह सुनते ही करुणा एवं दयावश किसानकी आँखोंमें अश्रु भर आये और उसने उनके आहार एवं सेवा-शुश्रूषाकी व्यवस्था की।

भक्तिमयी जीवनचर्या

भलि भारतभूमि, भलें कुल जन्मु, समाजु सरीरु भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम, मारुत, घाम सदा सहि कै॥
जो भजै भगवानु सयान सोई, 'तुलसी' हठ चातकु ज्यों गहि कै।
नतु और सबै बिषबीज बए, हर हाटक कामदुहा नहि कै॥

भारतवर्षकी पवित्र भूमि है, उत्तम (आर्य) कुलमें जन्म हुआ है, समाज और शरीर भी उत्तम मिला है। गोसाईंजी कहते हैं—ऐसी अवस्थामें जो पुरुष क्रोध और कठोर वचन त्यागकर वर्षा, जाड़ा, वायु और घामको सहन करते हुए चातकके समान हठपूर्वक सर्वथा भगवान्‌को भजता है, वही चतुर है, अन्यथा और सब तो सुवर्णके हलमें कामधेनुको जोतकर (केवल) विष-बीज बोते हैं।

क महापुरुषोंके पावन चरित

अवधूतश्रेष्ठ भगवान् श्रीदत्तात्रेय एवं उनकी दिनचर्या

(स्वामी श्रीदत्तपादाचार्य भिषगाचार्य, ए०बी०एम०एस०)

श्रीदत्तात्रेयजीको नमस्कार है—

दत्तात्रेयं शिवं शान्तं इन्द्रनीलनिभं प्रभुम्।
आत्ममायारतं देवं अवधूतं दिगम्बरम्॥

उपनिषदों, पुराणों, तन्त्रग्रन्थों इत्यादिमें श्रीदत्तात्रेयका ज्ञान-योगनिधि, विश्वगुरु, सिद्ध-सिद्धेश्वर, आदिगुरु, अवधूतकुलशिरोमणि, सर्वत्र समदर्शी, योगपति, यतिश्रेष्ठ, महाविष्णु, लोकनाथ, शान्तात्मा, महाप्रभु इत्यादि नामोंसे उल्लेख किया गया है। शाण्डिल्य-उपनिषद्में श्रीदत्तात्रेयको 'निर्गुण ब्रह्मका सगुण-साकार-स्वरूप' कहा गया है। दत्तात्रेय-उपनिषद्में भगवान् ब्रह्माको उपदेश करते समय भगवान् विष्णु स्वयंको दत्तात्रेयस्वरूप बताते हुए दत्तमन्त्रको तारकमन्त्र कहते हैं और उस मन्त्रकी जपसाधना करनेको विशेषत: सूचित करते हैं।

पुराणग्रन्थोंमें वर्णन है कि ब्रह्माके प्रिय मानस-पुत्र अत्रिने विवाहके बाद ही वनमें जाकर उत्कट तपस्याद्वारा विश्वकी एक महाशक्तिको सुपुत्ररूपमें पृथ्वीपर अवतरित करना चाहा। धर्मपत्नी अनसूयाने स्वपतिका अनुसरण किया। अत्रि-अनसूयाके उत्कट तप एवं उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् त्रिदेव उनके घर सुपुत्ररूपमें अवतरित हुए।

भगवान्ने कहा—'**अहं तुभ्यं मया दत्तः**' मैं तुम्हें स्वयंको पुत्ररूपमें दान देता हूँ। दानवाचक शब्द 'दत्त' है और तपोमूर्ति अत्रिके सुपुत्र 'आत्रेय' ज्ञानरूप हैं। अत: दत्तात्रेय त्याग एवं ज्ञानके अवतार हैं—दत्त+आत्रेय=दत्तात्रेय।

श्रीमद्भागवत (२।७।४)-में कहा है कि—

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षित आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः॥

भगवान् श्रीदत्तात्रेयने अवतार लेकर किस प्रकार धर्म एवं समाजका पुनः संस्थापन किया, इस विषयमें विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ब्रह्मपुराण इत्यादिमें विस्तृत वर्णन है।

भगवान् ब्रह्माके मानसपुत्र एवं सप्तर्षियोंमें परिगणित महर्षि अत्रिको स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ब्रह्माके ज्ञाननेत्रसे उत्पन्न कहा गया है। अत्रि माने त्रिगुणातीत चैतन्य, अनसूया माने पराप्रकृति, इनके सृजन हैं भगवान् श्रीदत्तात्रेय। वे केवल महायोगी एवं महाज्ञानी नहीं थे, अपितु आत्मविद्याके उपदेशकोंमें उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ था। श्रीमद्भागवत (६।८—१६)-में उन्हें योगसाधकोंकी विघ्नोंसे रक्षा करनेवाले 'योगनाथ प्रभु' कहा है। उन्होंने सती मदालसाके पुत्र अलर्कको योग्य देखकर योगसिद्धि, योगिचर्या, निष्कामबुद्धि
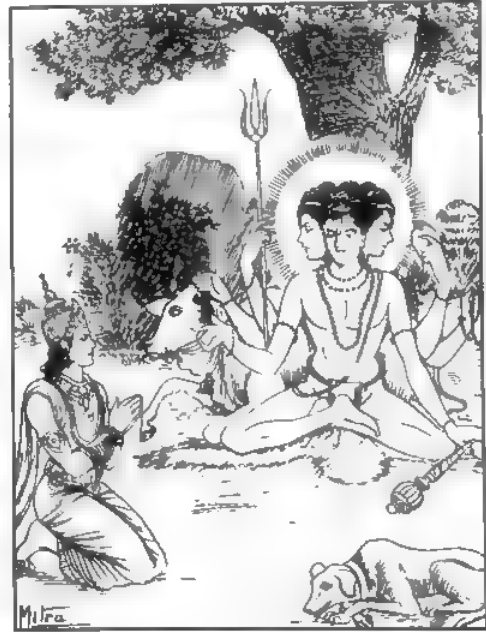
इत्यादिका उपदेश देकर परम योग प्रदान किया था।

राजा ययातिके पुत्र यदुपर भगवान् दत्तात्रेयकी असीम अनुकम्पा हुई थी और उन्होंने यदुको चौबीस गुरुओंसे प्राप्त शिक्षाका उपदेश दिया था। अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेयजीने राजा यदुको बताया कि मैंने चौबीस गुरुओंसे शिक्षा ली है, तुम उनके नाम सुनो—(१) पृथिवी, (२) वायु, (३) आकाश, (४) जल, (५) अग्नि, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) कबूतर, (९) अजगर, (१०) समुद्र, (११) पतंग, (१२) मधुमक्खी, (१३) हाथी, (१४) मधु निकालनेवाला, (१५) हरिण, (१६) मछली, (१७) पिंगला वेश्या, (१८) कुररपक्षी, (१९) बालक, (२०) कुँवारी

कन्या, (२१) बाण-निर्माता, (२२) सर्प, (२३) मकड़ी और (२४) भृंगी कीट। दत्तात्रेयजीने पुनः बताया कि मैंने पृथिवीसे धैर्य और क्षमाकी सीख ली है, वायुसे निर्लिप्त रहना सीखा है, आकाशसे आत्माकी अस्पृश्यताकी सीख ली है, जलसे पवित्रताकी सीख ली है, अग्निसे निर्दोषताका गुण सीखा है, कलाओंके घटने-बढ़नेपर भी चन्द्रमाके यथावत् रहनेके समान आत्मा भी ह्रास-वृद्धिसे रहित है—यह चन्द्रमासे मैंने सीखा है, सूर्यसे अविकृतिका ज्ञान सीखा है, कबूतरसे अनासक्ति सीखी है, अजगरसे प्रारब्धके बलका ज्ञान सीखा है, समुद्रसे गाम्भीर्यकी शिक्षा ली है, पतंगसे रूप एवं भोगोंसे होनेवाली मृत्युका ज्ञान लिया है, मधुमक्खीसे असंग्रहकी वृत्ति तथा सार वस्तुका ग्रहण सीखा है, हाथीसे मोहजनित भ्रम बन्धनका हेतु है—यह शिक्षा ली है, मधु निकालनेवालेसे लोभका परिणाम सीखा है, हरिणसे गान बन्धनका हेतु है—यह सीखा है, मछलीसे स्वाद बन्धनका हेतु है—यह सीखा है, पिंगला वेश्यासे निराशा वैराग्यका हेतु है—यह सीखा है, प्रिय वस्तुका संग्रह दुःखका कारण है—यह कुरर पक्षीसे सीखा है, बालकसे मानापमानसे रहित सहज वृत्ति सीखी है। कुमारी कन्यासे एकान्तवासकी शिक्षा ली है, बाण बनानेवालेसे एकाग्रता सीखी है, सर्पसे अनिकेतत्वकी शिक्षा ली है, मकड़ीसे सृष्टि एवं लयकी शिक्षा ली है और भृंगीकीटसे ध्यानकी एकाग्रता सीखी है।

असुरराज हिरण्यकशिपुके भक्तपुत्र प्रह्लादको भगवान् दत्तात्रेयने परम वैराग्य एवं सन्तोषका महोपदेश प्रदानकर उसका ज्ञानमार्ग प्रशस्त किया था। हैहयवंशी राजा कार्तवीर्यको भगवान् दत्तात्रेयने प्रसन्न होकर सहस्रबाहु, स्वधर्मसेवन, समग्र भूमण्डलपर विजय, त्रिलोकप्रसिद्ध अवतारी वीरपुरुषद्वारा मृत्यु इत्यादि वर दिये थे।

भगवान् श्रीदत्तात्रेयने पृथ्वीपर अवतरित होकर लीला-रूपमें साधकजीवनका अभिनय किया। उन्होंने अपने पिता महर्षि अत्रिकी आज्ञासे गौतमीवनमें दीर्घकालपर्यन्त उत्कट तपस्याद्वारा परमतत्त्वकी उपासनाकर परमसिद्धि प्राप्त की थी। गौतमीवनका तपस्यास्थान 'आत्मतीर्थ' नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस स्थानको ब्रह्मपुराणमें दत्तात्रेयतीर्थ भी कहा गया है। उन्होंने लीलाहेतु शिष्यभाव धारण किया था।

उनका सदुपदेश था कि जो व्यक्ति शिष्यत्वभाव रखकर सरल, विनम्र एवं मुमुक्षु होकर समग्र जगत्को गुरुरूपमें देखता है, वह साधनापथपर अग्रसर होकर जगद्गुरु एवं विश्वगुरु बन सकता है। (श्रीमद्भा० ११।९—११)

तन्त्रशास्त्रमें भगवान् दत्तात्रेयको विकाररहित, संसारमें रहते हुए जलकमलवत्, संसारबाह्य, ज्ञानसागर होते हुए भी उन्मत्तवत् आचरण करनेवाले, अव्यक्तलिंग एवं अव्यक्त आचारसम्पन्न, परम अवधूत तथा अवधूतश्रेष्ठ कहा गया है। मध्वाचार्यने अपने ग्रन्थ पराशरमाधवमें भगवान् दत्तात्रेयकी परमावधूत-अवस्थाका वर्णन करते हुए उन्हें '**अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्ति**' अर्थात् पागल न होनेपर भी पागल-जैसा आचरण करनेवाले कहा गया है। दत्तात्रेयस्तोत्रमें उन्हें महोन्मत्त कहा है। अद्वैततत्त्वका परमोच्च उपदेश कार्तिकस्वामीको देते समय वे अवधूतगीतामें कहते हैं कि '**प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः**' अर्थात् ऐसा परमज्ञानका मेरा उपदेश भी एक प्रकारका प्रलाप ही है। दत्तात्रेयोपनिषद्में उन्हें उन्मत्तानन्द एवं पिशाचज्ञानसागर कहा गया है।

मार्कण्डेयपुराणमें ऐसी कथा है कि जब असुरराय जम्भासुरने स्वर्गपर आक्रमणकर देवताओंको परास्तकर भगा दिया तब देवताओंने भगवान् दत्तात्रेयके पास जाकर सहायता माँगी। दत्तगुरुने अपनी अवधूती मस्तीसे देवताओंपर कृपा और मार्गदर्शनकर उन्हें युद्धमें जिता दिया और पुनः स्वर्गप्राप्ति करवा दी।

भगवान् दत्तात्रेयका अवतार सत्ययुगमें हुआ और वे एक ही देह एवं एक ही भावसे पृथ्वीपर महाप्रलयपर्यन्त रहेंगे तथा जीवोंका कल्याण करते रहेंगे। इन दयालु देवका स्मरण करते ही ये स्मर्तृगामीदेव प्रकट होकर भक्तजनका कल्याण कर देते हैं—'**स्मरणमात्रतः आगमात्मनः।**'

भगवान् शिव एवं भगवती पार्वतीके सुपुत्र कार्तिकेयको स्वात्मसंवित्का महा उपदेश अवधूतश्रेष्ठ भगवान् दत्तात्रेयद्वारा अवधूतगीताके रूपमें प्राप्त हुआ था। महर्षि सांकृतिको अवधूतके लक्षण, अवधूतीस्थिति एवं परमोच्च अवधूतज्ञान भगवान् दत्तात्रेयकी असीम अनुकम्पासे ही प्राप्त हुआ था।

महर्षि जमदग्नि एवं माता भगवती रेणुकाके सुपुत्र वीर भार्गवराम (परशुराम)-को परमोच्च योग एवं ज्ञान भगवान् दत्तात्रेयकी कृपासे ही प्राप्त हुआ था। इसके विषयमें त्रिपुरारहस्य ग्रन्थमें विस्तारसे कहा गया है।

भगवान् दत्तात्रेयने योगी गोरक्षनाथको परम योग और सहजसमाधिज्ञानका उपदेश दिया था, इसके विषयमें

गोरखनाथरचित ज्ञानदीपबोध नामक ग्रन्थमें वर्णन है।

भगवान् दत्तात्रेयकी दिनचर्याके बारेमें कहा गया है कि उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारत है। साधु-संतसमाजमें उनकी दिनचर्या इस प्रकार प्रसिद्ध है—

वाराणसीपुरस्नायी कोल्हापुरजपादरः।
माहुरीपुरभिक्षाशी सह्यशायी दिगम्बरः॥

(दत्तात्रेय-वज्रकवच ३)

अर्थात् भगवान् श्रीदत्तात्रेय प्रतिदिन प्रातः वाराणसी (काशी)-में स्नान करते हैं, महाराष्ट्रके महालक्ष्मीक्षेत्र कोल्हापुरमें मन्त्र (**सोऽहम्**)-का जप करते हैं, मातृक्षेत्र माहुरीपुरमें मध्याह्नमें भिक्षा (भोजन) ग्रहण करते हैं और सह्याद्रि (माहुरगढ़)-के शिखरपर शयन करते हैं।

दत्तात्रेयसम्प्रदायमें भगवान् दत्तात्रेयकी दिनचर्याके विषयमें ऐसी बात प्रसिद्ध है कि वे नित्य सह्याद्रिकी उपत्यकामें स्थित 'मातापुर' नामक गाँवमें विश्राम करते हैं। सह्याद्रिशिखरपर निवास करते हैं (वह स्थान उनका पीठस्थान है)। काशीमें पंचगंगाघाटपर वे ब्राह्ममुहूर्तमें स्नान करते हैं। कहाड़क्षेत्रमें सन्ध्यावन्दन एवं अर्घ्य प्रदान करते हैं। कोल्हापुरमें जपसाधना तथा भिक्षा ग्रहण करते हैं। पांचालपुरमें भिक्षान्नका भोजन करते हैं। चन्द्रभागा नदीके किनारे स्थित पण्ढरपुरमें केसर, चन्दनमिश्रित तिलक करते हैं। भीमा-अमरजा नदीके संगमस्थान गाणगापुरमें योगसाधना करते हैं और कुरुक्षेत्रके स्यमन्तक-तीर्थमें आचमन करते हैं।

इस प्रकार भगवान् दत्तात्रेय प्रतिदिन प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त लीलाके बहाने विभिन्न स्थानोंमें विचरण करते हैं। उनका स्मरण श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करनेपर वे दयालुदेव भक्तको दर्शन देकर कृपावर्षा करते हैं। सिद्धदेहसम्पन्न देवके लिये देश और कालका व्यवधान गतिका बाधक नहीं होता। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुने अपने विषयमें धर्मग्रन्थमें कहा है—

अभक्त्या वा सुभक्त्या वा यः स्मरेन्मामनन्यधीः।
तदानीं तमुपागत्य ददामि तदभीप्सितम्॥

सारांश यह कि अनन्यभावसे उनका स्मरण, चिन्तन करनेवाले भक्तको वे कृपालु प्रभु दर्शन देकर उसका मनोरथ पूर्ण करते हैं। न केवल साधकों अपितु सिद्धोंके लिये भी उनकी चर्या सदा अनुकरणीय है।

पूज्य श्रीउड़ियाबाबाकी अनूठी जीवनचर्या एवं उपदेश
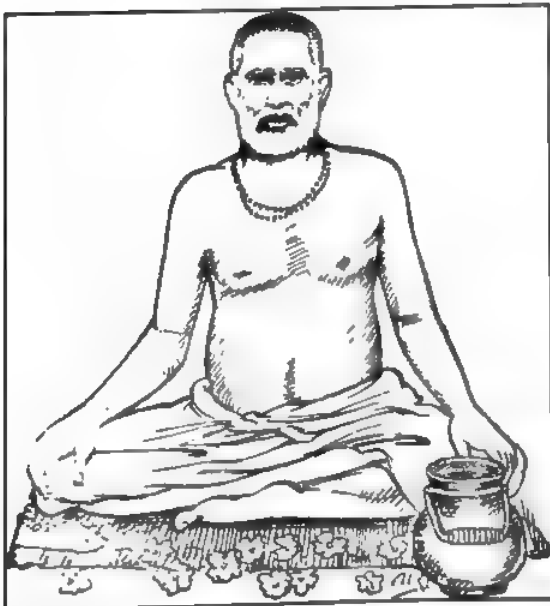
तीर्थराज प्रयागके पुण्यक्षेत्र प्रतिष्ठानपुर (झूँसी)-में ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजद्वारा आयोजित 'अखण्ड हरिनाम संकीर्तनयज्ञ' के अवसरपर श्रीमद्भागवतपर प्रवचन चल रहा था। विशाल मण्डप, भव्य सिंहासन, अगणित श्रोता, विशिष्ट महात्माओंकी उपस्थिति। गोपीगीतका प्रसंग—'श्रीकृष्णकथामृत' दिव्य स्वर्गामृतकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, यह प्रसंग चल रहा था। सहसा कथामें बिना कोई विघ्न डाले एक महापुरुष आकर सम्मुख बालुकापर विराजमान हो गये। सिद्धासन लग गया। सिर सीधा। दिव्य भव्यमूर्ति। मुखपर मुसकान, नेत्रोंमें प्रेम, मुखारविन्द ज्योतिर्मय। प्रसन्न गम्भीर मुद्रा, प्रभावशाली व्यक्तित्व। एकाएक लोग परस्पर कुछ कानोंकान बताने लगे—ये ही लोकविख्यात महात्मा श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज हैं। '**तप्तजीवनम्**' की व्याख्या शुरू हुई। 'संसारताप-दग्धके लिये यह कथामृत जीवन है। पापियोंका पापक्षालन है। दुःखियोंका दुःखनिवारण है। विरहियोंका जीवातु है। प्यारे श्यामसुन्दरसे मिलन चाहनेवालोंके लिये दिव्य रसायन है।'

प्रवचनकी समाप्तिपर उनकी फूसकी बनी झोपड़ीमें

पुनः सत्संगका रंग जमा।

श्रीमहाराजजीका तीर्थाटन और सत्संग, चिन्तन, मनन और साधन वर्षोंतक इसी प्रकार चलता रहा। इसी यात्रा-क्रममें आनन्दरसमें डूबे श्रीमहाराजजी संवत् १९७२ के आषाढ़में पहली बार रामघाट (अनूपशहर) गंगातटपर पहुँचे। रामघाटकी सुरम्य वनस्थली, गंगातटका मनोहर दृश्य और वसुन्धराकी अद्भुत दीप्ति देखकर आपका मन मुग्ध हो गया। आपने श्रीमहादेवजीका दर्शन करके इमलीवाली कुटीमें आसन लगाया। कुटीमें प्रेम-रसानन्दकी अनुभूति करते हुए आप चान्द्रायण आदि अनेक व्रत भी चलाने लगे। चिदानन्द-सिन्धुमें आप निमग्न रहने लगे।

इन दिनों महाराजजी दिनभर तो सिद्धासन लगाये बैठे रहते थे, रात्रिमें भी नहीं लेटते थे। जब कभी बैठे-बैठे थक जाते तो कुहनियोंके बल आगेकी ओर झुककर थोड़ा-सा विश्राम कर लेते थे। इस प्रकार वर्षोंतक आप बिना लेटे ही विश्राम करते रहे।

स्त्रियोंके सम्पर्कसे दूर रहनेका आपका नियम था। आप मानते थे कि '**वर्जयित्वा स्त्रियः सङ्गं कुर्यादध्या-समादरात्।**' आपने कह रखा था कि यदि कोई स्त्री दृष्टिके समक्ष आयेगी तो मैं इस स्थानको त्यागकर अन्यत्र चला जाऊँगा।

आप समाधिमें इतना लीन रहते कि क्षणभरकी भी बहिर्मुखता खलती। एक कौर भी उठाकर मुखमें रखना आपको भारी प्रतीत होता। पलकतक गिरानेमें आलस्य लगता। अन्नाहार तो छोड़ ही दिया था, व्रतोंका ही अधिकतर अनुष्ठान चलता रहता था। इस प्रकार बहुत दिनोंतक कठोर साधना चलती रही। जन-कोलाहलसे दूर रहकर आप एकान्तमें साधना करते रहते। इसके लिये कई बार आपको स्थान भी बदलना पड़ा।

ब्रह्मनिष्ठ विरक्त सन्त और परमहंसके श्रुति-लक्षण आपमें प्रकट हो उठे—

"**शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः॥**

"**निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति॥**

श्रीमहाराजजीकी साधनाकी सुगन्ध धीरे-धीरे चारों ओर फैलने लगी। उस सौरभसे आकृष्ट होकर लोग आपके पास पहुँचने लगे। नाना प्रकारके भक्तोंका ताँता लगने लगा। अच्छे भी आते बुरे भी, सत्पुरुष भी आते, चोर और डाकू भी। कोई धूप-दीप-नैवेद्यसे आपकी षोडशोपचार पूजा करता, कोई आपपर नागांजलि चढ़ाता। एक बार एक सिंह उधर आ गया। लोग डरे तो महाराजजीने कहा—'भैया, डरनेकी बात नहीं। वह चामुण्डा देवीके दर्शन करनेके लिये आता है। दर्शन करके चला जायगा।' चला भी गया वह।

डाकूको अनूठी प्रेरणा

एक बार गर्मियोंमें एक डाकू सरदार आपके दर्शनके लिये पहुँचा। उसपर दस हजार रुपयेका इनाम था। पेड़के सहारे बन्दूक टिकाकर महाराजजीको प्रणाम करने आया था। हालचाल पूछनेपर खुल पड़ा—'महाराजजी! डाका डालने जा रहा हूँ।'

'एक बात मानेगा?'

'क्या महाराज?'

'देख, स्त्रियोंको मत छूना।'

'ठीक है महाराज! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि स्त्रियोंको हाथ नहीं लगाऊँगा।'

एक जमींदारके यहाँ उसने डाका डाला। लूटका माल लेकर जब गाँवसे दो मील आ गया तो उसने देखा कि उसके साथी जमींदारकी लड़कीको पलंगसहित उठाकर ला रहे हैं। देखते ही गुर्राया—'इसे क्यों लाये हो? इसे वापस करना होगा।'

साथी बोले—'अब वहाँ जानेसे हम सब मारे जायँगे। गाँववाले इकट्ठे होकर हमें खतम कर देंगे।'

'चलो; मैं चलता हूँ'!

उसे पलंगसहित गाँवपर लौटाकर डाकू-दल लौट आया। डाकू सरदार जब डेरेपर लौटा तो पश्चात्तापसे उसका चित्त व्यथित होने लगा। सोचने लगा कि हमारा कैसा अधम जीवन है। लोग रोते-चिल्लाते, तड़पते हैं और हम उनकी छातीपर चढ़कर उनका धन लूटते हैं, हमारे साथी उनकी स्त्रियोंका अपमान करते हैं।

आत्मग्लानिसे उसका चित्त भर गया। उसका हृदय-

परिवर्तन हो गया। उसने सदाके लिये यह असत्-मार्ग छोड़ दिया। दल-भंग करके वह कल्याण-मार्गका पथिक बन गया। श्रीमहाराजजीकी प्रेरणासे ऐसे कई डाकू डाका डालना छोड़कर सत्यपथपर आरूढ़ हुए।

'रामघाटमें श्रीउड़ियाबाबा पधारे हैं। जिनमें यतिके सभी लक्षण मौजूद हैं'—ऐसा सुनकर नरवरके कई पण्डित रामघाट आकर श्रीमहाराजजीसे मिले, तबसे वहाँके सांगवेद विद्यालयके अध्यापक और छात्र आपके पास बराबर आकर आपसे सत्संगका लाभ उठाने लगे।

सन् १९१५ ई०में महाराजजी नरवरसे कर्णवास पधारे। वहाँ आप झाड़ियोंमें रहकर साधना करने लगे। वहाँ आपके लिये एक गुफा और कुटिया बना दी गयी। वहाँ कुछ समय बितानेके उपरान्त श्रीमहाराजजी पाँच मील उत्तर भेरिया गाँवके निकट भृगुक्षेत्रमें पधारे। वहाँ अच्युतमुनि-जैसे त्यागी, विरक्त और विद्वानोंका सत्संग मिला। जिस दिन श्रीमहाराजजी पूर्वसे विचरते हुए भृगुक्षेत्र पहुँचे, उसी दिन श्रीहरिबाबा पश्चिमसे विचरते हुए वहाँ आ गये। दोनों महात्माओंका मिलन ऐसा लगता था, मानो दो शरच्चन्द्र परस्पर आलिंगन कर रहे हों। यह मिलन अत्यन्त प्रेम और सौहार्दपूर्ण था, जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

श्रीवृन्दावनधामका आकर्षण

वृन्दावन तो श्रीमहाराजजीके लिये गोलोकधाम था। प्रायः कहते रहते थे कि वृन्दावन चलो। वहाँ श्रीबिहारीजीसे एक कोना लेकर आश्रम बनायेंगे और वहीं रहेंगे। भगवान् श्रीकृष्णकी आनन्द-लीला-स्थलीके प्रति उनका यह आकर्षण उन्हें वहाँ खींच ले गया। सं० १९९४ वि० में वृन्दावनमें उनके श्रीकृष्णाश्रमकी प्रतिष्ठा हुई। उसका शिलान्यास किया परम मस्त ग्वारियाबाबाने। उसके प्रतिष्ठा-महोत्सवसे आश्रममें रसकी अमृतवर्षा आरम्भ हो गयी। व्रजमाधुरी उल्लसित हो उठी। श्रीकृष्णाश्रमकी स्थापनाके उपरान्त महाराजजी अधिकतर यहीं विराजने लगे।

सबेरे तीन बजेसे लेकर रात्रिके ग्यारह बजेतक श्रीकृष्णाश्रममें सत्संगकी धारा बहने लगी। रासलीलाकी मर्यादाका निर्वाह इस आश्रममें जैसा होता है, उसकी ख्याति आज भी है। निराकार और साकार दोनों प्रकारकी उपासना-पद्धतियोंकी वहाँ पूरी व्यवस्था रखी गयी। श्रीमहाराजजी सभी कार्यक्रमोंमें स्वयं उपस्थित रहते। उनके अन्तरंग भक्त भी इस रहस्यको नहीं समझ सके कि महाराजजी क्या थे? वे शैव थे कि शाक्त थे? रामोपासक थे कि कृष्णोपासक? वेदान्ती थे या क्या?

ब्रह्मचर्चा चलनेपर लगता कि श्रीमहाराजजी मानो मूर्तिमती ब्रह्मनिष्ठा हैं। संकीर्तन होता तो आप प्रेम-समाधिमें डूब जाते। रासमें विराजते तो उसमें ही मगन हो जाते। कथा-वार्ता चलती तो प्रधान श्रोताके रूपमें उसका रसास्वादन करते—

अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥

श्रीमहाराजजी जिसकी जैसी निष्ठा रहती, तदनुकूल उसे उपदेश करते थे। साकारोपासकोंको साकार उपासनामें प्रवृत्त कराते। निर्गुणोपासकोंको निर्गुणका तत्त्व समझाते। दोनों मार्गोंके साधकोंको एक-दूसरेसे पृथक् रखते। कहते, जिसकी जैसी निष्ठा है, वह उसी मार्गसे आगे बढ़े। जनसाधारणको योगवासिष्ठ-जैसे ग्रन्थोंका समझना कठिन होता है। उनके लिये महाराजजी रामायण, गीता, भागवत, भक्तमाल-जैसे ग्रन्थोंकी कथा कहलवाते। आश्रममें समय-समयपर रामलीला, रासलीला, चैतन्यलीला आदि चलती रहती, जिसका भक्त-समुदायपर उत्तम प्रभाव पड़ता।

श्रीमहाराजजीको खिलाने-पिलानेके कार्यमें बड़ी रुचि थी। जब कभी उत्सव और अनुष्ठान होते तो बड़े पैमानेपर जनता एकत्र होती। उस जनसमूहमें कोई भी भूखा न रह जाय, कोई किसी पदार्थसे वंचित न रह जाय—इस बातका श्रीमहाराजजीको बड़ा ध्यान रहता था। कहते, 'खानेका आनन्द जीवका आनन्द है, खिलानेका आनन्द ईश्वरका।'

अभ्यासपर बल देते थे

वैराग्यके साथ-साथ अभ्यासपर श्रीमहाराजजी बहुत बल देते थे। अभ्याससम्बन्धी अपने अनुभवकी चर्चा करते हुए कहते—

आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योमकेवलम्।
आधिभौतिकतां नीतं पश्याभ्यासविजृम्भितम्॥

यह अभ्यासका ही खेल है कि शुद्ध चिदाकाशरूप यह देह दृढ़ताका अभ्यास होनेसे भूलके कारण आधिभौतिक रूपमें पिशाच-जैसा खड़ा हो गया है। अतः सतत इसके विपरीत अभ्यास करानेकी आवश्यकता है। शिथिल अभ्याससे

काम नहीं चलेगा। सावधान चित्तसे निरन्तर अभ्यासमें लगे रहना होगा।

अभ्यासकी तीन श्रेणियाँ हैं—

१-स्थूल शरीरसे अपनेको भिन्न समझना। इस अभ्यासकी पुष्टि होनेपर सूक्ष्म शरीरमें आत्मत्वका अभिमान हो जाता है।

२-उसके उपरान्त शब्दादि विषयोंमें असंगताका अनुभव करना। इस अभ्यासद्वारा दृष्टि सूक्ष्म शरीरसे हटकर कारण शरीरमें स्थित हो जाती है।

३-फिर सुख और दुःखसे भिन्नताका अनुभव करना। इस अभ्याससे दृष्टि अन्तःकरण-चतुष्टयसे हटकर शुद्ध आत्मामें स्थित हो जाती है।

अभ्यास और वैराग्यके बिना जीवन व्यर्थ है। सत्संग करे और अभ्यास न करे तो क्या लाभ है? वह तो वैसा ही है जैसे कोई रामायण तो पढ़े, किंतु रामभक्त न हो अथवा श्रीमद्भागवतका पारायण तो करे, किंतु कृष्णभक्त न हो। निरन्तर अभ्यास करते रहने और वासनाओंका पूर्णतया नाश कर देनेपर ही अनुभवकी प्राप्ति होती है। केवल शास्त्र पढ़नेसे कुछ नहीं होता। वासनाके रहते चित्तमें शान्ति नहीं आ सकती। वासनारहित चित्त ही परमतत्त्वके चिन्तनका अधिकारी होता है। निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे ही वासनाओंका निर्मूलन होता है और तत्त्वकी उपलब्धि होती है। वासनाओंके उच्छेदके लिये विषयोंसे सर्वदा वैराग्य रखे और सर्वदा भगवदाकार वृत्ति रखे। संयमसे दो-चार विषयोंका रोग छूट सकता है। सम्पूर्ण विषयोंका राग तो भगवत्स्वरूपसे राग हुए बिना नहीं जा सकता। अभ्यासका ही प्रभाव है कि माँ-बहनके समीप रहनेपर भी काम-भावना नहीं होती; क्योंकि माँ-बहनका भाव दृढ़ होता है।

दिव्य अमृतमय सदुपदेश

महाराजजी जिह्वाके स्वादको सारे अनर्थोंकी जड़ मानते थे। कहते थे कि मैं जब राजा कृष्णचन्द्रकी पाठशालामें पढ़ता था तो एक दिन वहाँके विद्यार्थियोंने रसोइयेको इसीलिये पीटा कि उसने उन्हें खिचड़ी बनाकर नहीं दी थी। तबसे मैंने यह बात गाँठ बाँध ली कि जिह्वाका स्वाद ही सारे अनर्थोंकी जड़ है—'**जिते रसं जितं सर्वम्**'। अतः मैंने रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया; क्योंकि जो इन दोनोंको जीत लेता है, वही सर्वजित् है।

शुद्धिके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर श्रीमहाराजजी कहते थे कि असत्य, हिंसा और व्यभिचारके त्यागसे शरीर शुद्ध होता है। भगवन्नामजपसे वाणी शुद्ध होती है। दान करनेसे धन शुद्ध होता है और धारणा तथा ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। आपका कहना था कि वाणीमें चार दोष हैं—(१) आज्ञा देनेके स्वरमें बोलना, (२) चिल्लाकर बोलना, (३) अश्लील शब्द बोलना और (४) कटु बोलना। उसमें पाँच गुण भी हैं—(१) हितकर बोलना, (२) थोड़ा बोलना, (मित भाषण), (३) शान्त रहना, (४) मीठा, मधुर बोलना और (५) प्रिय बोलना। वाणीके दोषोंको दूरकर गुणोंका विकास करनेसे वाणी शुद्ध होती है।

राग-द्वेषसे कैसे छुटकारा मिले, यह पूछनेपर श्रीमहाराजजी साधकोंको विस्तारसे समझाते थे कि राग-द्वेष क्या हैं और कैसे उन्हें दूर किया जा सकता है? आप कहते थे कि मनुष्य जिस समय नीतिको भूल जाय और सदाचारके नियमोंका कोई ध्यान न रखे, उस समय ऐसा मानना चाहिये कि वह राग-द्वेषके अधीन हुआ है। अहंकार ही राग-द्वेषका मूल है। उसीमें-से ममत्व और परत्वकी भावना निकलती है। ममत्वका, ममताका नाम है राग और परत्वका नाम है द्वेष।

यदि किसी वस्तुमें मन इस प्रकार फँस जाय कि किसी भी प्रकारका अपमान, निरादर या दुःख होनेपर भी न हटे तो मानना चाहिये कि उसमें राग है। जैसे गोपियोंका श्रीकृष्णभगवान्‌में था। यदि किसी वस्तुसे मन ऐसा हट जाय कि उसमें दोष-ही-दोष दिखायी दे, कोई भी गुण न दीख पड़े तो मानना चाहिये कि उसमें द्वेष है। जैसे कंसका श्रीकृष्णमें था। राग-द्वेषकी उत्पत्ति गुण-दोष या निन्दा-स्तुतिके चिन्तनसे ही होती है, इनमें विषयोंका चिन्तन रहता है। ये ही संसारके कारण हैं। निन्दा-स्तुतिके न करनेकी प्रतिज्ञासे राग-द्वेष दूर किये जा सकते हैं। पूर्ण ज्ञानी या भक्त राग-द्वेषसे मुक्त होता है। उसका ध्यान करनेसे भी राग-द्वेष छूट सकते हैं। राग-द्वेष छूट

जानेसे चित्त हलका हो जाता है और उसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता हो जाती है। राग-द्वेषवाला व्यक्ति उन्नतिकी, खुशहालीकी पगडण्डीपर नहीं बढ़ सकता। निर्विकल्प तत्त्वका साक्षात्कार उन्हीं मुनियोंको होता है जो राग, भय और क्रोधसे मुक्त हो गये हैं—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः॥

महाराजजीका कहना था कि राग-द्वेष न तो भक्तमें हो सकते हैं और न ज्ञानीमें। कारण; भक्तको प्रत्येक विधानमें भगवान्‌का आदेश दीख पड़ता है और ज्ञानी प्रारब्ध-भोग मानता है। इसलिये दोनोंमें ही न राग रहता है, न द्वेष। यों राग-द्वेषका मूल कारण है—अविवेक। विवेक होनेपर मन निःसत्त्व हो जाता है। तब उसमें राग-द्वेष कैसे रहेंगे? हाँ, रागकी निवृत्ति केवल विवेकसे नहीं होती। विवेकसे तो राग-द्वेषसे छुटकारा पानेकी कुंजी मिल जाती है। उसकी पूर्ण निवृत्ति होती है भगवत्प्रेम और आत्मप्रेमसे। भगवान्‌में राग हो या आत्मामें राग हो तो लौकिक राग छूटता है। लोहेके बिना लोहा नहीं कटता।

ध्यानका मर्म बताते हुए महाराजजी कहते थे कि ध्यानके समय मुख्यरूपसे अपने इष्टके स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये। यदि स्वरूपमें चित्त स्थिर न हो तो ध्येयकी लीलाओंका ही चिन्तन करे। रोना हो तो इष्टदेवकी किसी लीलाका चिन्तन करते हुए रोये। हँसना हो तो भी उसकी लीलाका आश्रय लेकर हँसे। रामायणमें रामकी लीलाएँ हैं, भागवतमें कृष्णकी। उन लीलाओंका चिन्तन करना ही ध्यान है।

भगवान्‌के साकार स्वरूपका ध्यान करना हो तो पहले दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखकर सुखासनसे स्थिर होकर बैठे। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिर करे। मनको विषयोंसे विरत करे। आगे-पीछेकी बातोंका चिन्तन न करे। फिर अपने भगवान्‌के मनोहर अंगोंमें मनको घुमाये। क्रम-क्रमसे एक अंगसे दूसरे अंगपर अपने चित्तको ठहराये। फिर उसीको एकाग्र चित्तसे देखता रहे। इष्टके अतिरिक्त अन्य किसी विषयका चिन्तन न करे।

प्रतिदिन इस प्रकार अभ्यास करनेसे थोड़े दिनोंमें प्रसन्नता और आनन्दका आविर्भाव होने लगता है। क्रमशः शरीरमें स्तब्धता, रोमांच, स्वेद और कम्प आदि लक्षण प्रकट होते हैं। धैर्यपूर्वक लगे रहनेसे इसमें सफलता प्राप्त होती है। भगवान्‌के स्मरण, सदाचार, निरभिमानितासे भगवत्कृपा मिलती है। जब भगवच्चिन्तन होने लगता है तब जगच्चिन्तन स्वतः छूट जाता है। ध्यान-अभ्यास बढ़नेपर चित्त भगवत्प्रेममें डूब जाता है। यही साधनाका पूर्णपद है, यही है—भगवत्साक्षात्कार।

[पावन-प्रसंग]

पूज्य श्रीहरिबाबाजीकी अनूठी जीवनचर्या

जो महापुरुष परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न होते हैं, उनके स्थूल शरीरसे उपस्थित रहने या न रहनेसे उनकी विद्यमानतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। वे स्थूल शरीरसे न दीखनेपर परमार्थतः परमात्मरूपसे सर्वत्र विद्यमान एवं वर्तमान रहते हैं। अधिकारी पुरुष कहीं भी उनका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उनकी आकृति सूक्ष्मरूपसे रहती है और अपने भक्तोंके हृदयमें, जबतक लिंग शरीरका भंग नहीं हो जायगा तबतक बनी रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहरिबाबाजी महाराज आज भी ब्रह्मरूपसे, ईश्वररूपसे, आत्मरूपसे और विराट् रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उनका स्वरूप अविनाशी है।

उनकी जीवनचर्याका यह अद्भुत चमत्कार था कि वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते थे। रात्रिके उत्तरार्धमें ढाई-तीन बजे ही जग जाते थे। चार बजेसे सामूहिक संकीर्तन प्रारम्भ हो जाता था। नौ बजेसे रासलीला देखते थे। जब वे परिभ्रमणके लिये बाहर निकलते थे तो लोग अपनी घड़ियाँ मिला लिया करते। समयकी मर्यादाका ऐसा पालन विरले ही किसी मनुष्यके जीवनमें सम्भव है।

श्रीहरिबाबाजी महाराज अपनी युवावस्थामें गंगातटपर विचरण करते हुए भेरियामें श्रीअच्युतमुनिजी महाराजके पास गये। उन्होंने श्रीमुनिजीसे प्रार्थना की—'महाराज!

ऐसी कृपा करें कि वृत्ति अपने स्वरूपमें टिक जाय।' मुनिजी एक वयोवृद्ध, विद्वान्, भारत-प्रसिद्ध सन्त थे। वे जरा झुककर बैठे हुए थे। प्रार्थना सुनते ही तनकर बैठ गये और बोले—'अरे हरि! तू आलसी बनना चाहता है? कृपाकी भीख माँगना आलसी बनना है। तू स्वयं अपने पौरुषसे वृत्तिके अस्तित्वको मटियामेट कर दे।'

श्रीहरिबाबाजी यह प्रसंग अत्यन्त प्रेम और प्रसन्नतासे कभी-कभी सुनाया करते थे। जो लोग कहते हैं कि श्रीहरिबाबाजीने वेदान्त और वेदान्ती गुरुको छोड़ दिया था, वे मिथ्याभाषी हैं। बाबा ब्रह्मनिष्ठ रहकर ही लोक कल्याणके लिये भक्तिका प्रचार और नाम-संकीर्तन करते थे।

पौरुषका प्रकाश—श्रीहरिबाबाजीकी जीवनचर्यामें पौरुष ही नहीं महापौरुषका प्रकाश था। वे जन-जनमें और कण कणमें भगवान्‌का ही दर्शन करते थे। उनकी सब क्रिया भगवद्-दृष्टिसे ही होती थी। जब उन्होंने लगभग सात सौ गाँवों, गायों और किसानोंको गंगाजीकी बाढ़से ग्रस्त और सन्त्रस्त देखा तो स्वयं फावड़ा और टोकरी लेकर बाँध बनानेके काममें लग गये। झुण्ड-के-झुण्ड लोग जुट पड़े। भण्डारे खुल गये। लोगोंके मनोरथ पूर्ण होने लगे। चमत्कार-पर-चमत्कार। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज आकर वहीं विराज गये। घोषणा कर दी गयी—'बाँध-भगवान्‌की सेवामें एक टोकरी मिट्टी डालो और जो इच्छा हो प्राप्त करो।' केवल दस महीनेमें इतना बड़ा बाँध तैयार हो गया, जिसके निर्माणमें करोड़ों रुपयेका खर्च होता। उस समयकी ब्रिटिश सरकारने भी हार मान ली थी। उसकी लम्बाई तेईस मीलके लगभग है। वे सभी वस्तुओंको ईश्वररूप और सभी क्रियाओंको ईश्वरकी सेवा समझते थे और बताया करते थे।

निन्दा न सुनना—उनमें एक अद्भुत विशेषता यह थी कि वे किसीकी निन्दा सर्वथा नहीं सुनते थे। निन्दा करनेवालेसे कह देते थे कि 'भगवान्‌का नाम लो या बाहर जाकर कोई काम करो।' एक बार एक मासिक पत्रिकामें लगातार दो-तीन बार साधुओंकी आलोचना छपी तो उसको उन्होंने पढ़ना ही बन्द कर दिया। वे कहते तो यह थे कि 'निन्दा-स्तुति दोनों ही नहीं करनी चाहिये' परंतु यह देखनेमें आया कि वे साधारण-से-साधारण व्यक्तियोंके छोटे-छोटे गुणोंकी प्रशंसा किया करते थे।

बड़ोंका आश्रय—एक बार उन्होंने कहा था कि 'यदि अपनेसे बड़ा कोई मनुष्य न मिले तो किसी पशु, पक्षी और पत्थरोंको भी अपनेसे बड़ा मानकर उसके नीचे रहना चाहिये। बड़ोंकी छत्रछायामें रहनेसे अपनेमें दम्भ, अभिमान आदि दोष नहीं आते और पूजा-प्रतिष्ठा भी उन्हींकी ओर चली जाती है।' उनके जीवनमें यह प्रत्यक्ष देखा गया कि वे सर्वदा ही किसी-न-किसी बड़े महात्माके साथ रहे।

वैसे देखें तो बाबाके द्वारा श्रीभगवन्नामका बहुत बड़ा प्रचार-कार्य हुआ। उत्तर भारतमें ऐसा कोई विरला ही नगर होगा, जहाँ उन्होंने पावन नामके उद्घोषसे वातावरणको पवित्र न बनाया हो। कोई अभागा ही आध्यात्मिक पुरुष होगा, जिसके कानोंमें उनके आदर्श चरित्र और प्रेममय नामकी ध्वनि न पहुँची हो। इतना होनेपर भी वे प्रचारके भावसे कितने मुक्त थे—इसका एक उदाहरण देखिये—वृन्दावनके श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें वे श्रीधरीके अनुसार गीतापर कुछ उपदेश कर रहे थे। एक अजनबी आदमी बीचमें बोल उठा—'महाराज! जरा जोरसे बोलिये, सुनायी नहीं पड़ता।' बाबाने कहा—'भैया! हम अपना नित्य-नियम पूरा करनेके लिये गीताका पाठ करते हैं। तुम्हें नहीं सुनायी पड़ता तो अपना मन और एकाग्र करो, पास आ जाओ। सन्तोष न हो तो चले जाओ। हम भगवान्‌को सुनानेके लिये पाठ-कीर्तन करते हैं, मनुष्यको सुनानेके लिये नहीं।'

अन्न ब्रह्म—श्रीहरिबाबाजी महाराजका भोजन बरसोंतक एक सरीखा चलता रहता। साबूत मूँग और सब्जी—दोनों मिलाकर एक साथ पकाया जाता था। प्रायः रोटीके साथ खाते थे। भोजन आनेपर अपने उपयोगभरका अपने

कटोरेमें ले लेते और खा लेते थे। सब जूठा नहीं करते थे। अन्तमें कटोरेको भी धोकर पी लेते थे। यह नियम लेनेके पहले भी वे वर्ष-वर्षभर या छः-छः महीनेतक एक ही ढंगकी वस्तु खाते थे। वे जब जो खाते थे, तब उसीको अमृत बताते थे। उनका कहना था कि असलमें अन्न ब्रह्म है। उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। ब्रह्मबुद्धिसे उसका सेवन करना चाहिये। ब्रह्मबुद्धिसे प्रत्येक अन्न सब रोगोंकी औषध हो जाता है। [पावन-प्रसंग]

स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजकी जीवनचर्या
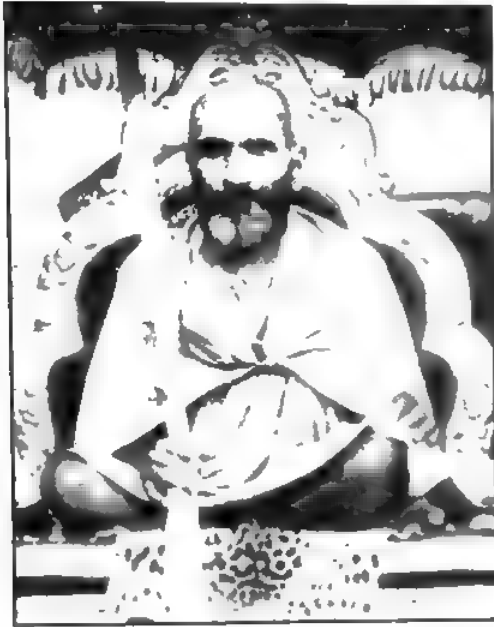
ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज (श्रीमदनमोहनजी) स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त महात्मा थे। आत्माके ज्ञानको प्राप्त करने और अविद्याके पापसे बचनेके लिये बीस वर्षकी अवस्थामें घरसे चले गये और फैजाबादसे अपने पत्रमें अपने पिता तथा बाबाको लिखा······'मैं इस बातका दावा भी नहीं कर सकता कि मैं इसी जन्ममें उस मार्गको ढूँढ़ लूँगा, परंतु कम-से-कम नींव तो पड़ जानी चाहिये, आगे ईश्वरकी इच्छा है······प्रेम-स्वरूप परमात्मा मुझको अविद्याके बन्धनसे हटाकर विद्याके सूर्यमें लावें······अविद्यामें पड़े जीना भी मरेके समान है······संसारमें दुःखों एवं अविद्याको देखकर मेरा हृदय काँप जाता है और यही समझता है कि या तो शीघ्र ही ईश्वरकी शरणमें जाओ, नहीं तो कल्याण नहीं है। जंगलमें रूखी-सूखी रोटी खाकर जीवन बिता दूँगा······मुझे मृत्यु स्वीकार है; परंतु अविद्यामें रहकर धनवान् होना स्वीकार नहीं है। उसी अविद्याको हटानेके उपायमें मैं अपने जीवनको व्यतीत करना चाहता हूँ।'

दृढ़निश्चयी, ईश्वरकृपाप्राप्त, परम विरक्त मदन-मोहन कालान्तरमें अपने प्रयाससे श्रीस्वामी कृष्ण-बोधाश्रम हुए और उन्होंने अपने इसी जन्ममें अविद्याको हटाने और विद्याको प्राप्त करनेका लक्ष्य प्राप्त कर लिया। वे जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ महात्मा हो गये। बादमें उन्होंने श्रीज्योतिष्पीठके आचार्य-पदका गौरव बढ़ाया और अपने कल्याणके साथ सहस्रों मानवोंका कल्याण किया।

परब्रह्म परमात्माको जो महापुरुष प्रिय हैं, उनका लक्षण गीतामें स्वयं उन्होंने अपने श्रीमुखसे वर्णन किया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

ब्रह्मलीन जगद्‌गुरुजी ऐसे ही सन्त-कोटिके महापुरुष थे। वे एक महान् वीतराग, विवेकी, ब्रह्मनिष्ठ तथा ज्ञानयोगी तो थे ही, साथ ही सर्वभूतहितैषी होते हुए उनकी ब्रह्मात्म-दृष्टि थी। ध्यानयोगमें उनकी मुख्य निष्ठा थी। वे लगातार तीन घण्टेसे छः घण्टेतक ध्यानमें बैठे रहते। जिन लोगोंने उनका दर्शन किया, उनको मालूम है कि जब वे ध्यानमें बैठते तो उन्हें बाह्य जगत्‌का ध्यान नहीं रहता। ढोल-नगाड़े, गाजे-बाजे और सांसारिक शोर-गुल भी उनके ध्यानमें व्यवधान नहीं डाल पाते, कारण कि उन्हें

इनका आभास ही नहीं होता। उनके ध्यानकी यह विशेषता थी कि बिना घड़ी देखे निर्धारित समयपर ध्यान पूरा हो जाता। उन्होंने दण्ड-संन्यास ले रखा था। वे प्रायः पैदल-यात्राके अभ्यासी थे। गंगा-किनारे रहने और घूमनेका उनका अभ्यास था।

स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका जन्म वि० सं० १९४९ (ई० सन् १८९२)-में मथुरा जिलान्तर्गत भाण्डीरवनस्थ ग्राममें एक प्रतिष्ठित सनाढ्य ब्राह्मण पं० श्रीटीकारामजीके घरमें हुआ। आपने सेंटजांस कालेज आगरामें उच्च शिक्षा प्राप्त की। संस्कृतका भी आपको प्रगाढ ज्ञान था। आप परम विरक्त तथा संसारसे विमुख थे। बाल्यावस्थासे ही संसारमें कोई रुचि नहीं थी। प्रारम्भसे ही ये स्वभावसे दयालु एवं परोपकारी थे। बीस वर्षकी अवस्थामें जुलाई १९१३ ई० के श्रावण मासमें आपने गृहका परित्याग कर दिया और गंगा-यमुना तथा सरयू आदि पवित्र नदियोंके तटपर एवं विभिन्न तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए आप सर्वप्रथम अयोध्या पहुँचे। १९१६ ई० में श्रीस्वामी चैतन्याश्रमजी महाराजसे दीक्षा ली और दण्ड ग्रहण किया। इस समय आपकी अवस्था चौबीस वर्षकी थी।

आपने आद्य श्रीशंकराचार्यजीके इस निर्देशको—'संन्यासीको चाहिये कि वह सदा घूमता रहे एवं धर्म-प्रचारमें निरत रहे' अक्षरशः अपने जीवनमें उतार लिया। फलतः आप अधिकांशतः गंगा-यमुनाके मध्य देशमें पैदल ही विचरण करते रहे। इन दिनों प्रायः आप गढ़मुक्तेश्वर एवं बागपत (मेरठ क्षेत्र)-में ही विचरते हुए साधनारत रहे। इसी साधनाके मध्य आपने समस्त वेदान्त, धर्मशास्त्रों, रामायण, महाभारत एवं अठारहों पुराणोंका गम्भीर अध्ययन किया तथा विशेष पारायण किये।

कठिन-से-कठिनतर व्रतोंका अनुष्ठान करते हुए गंगा-यमुनाके तटपर पैदल विचरते अपने धर्माचरणसे अनेक व्यक्तियोंको स्वधर्मनिष्ठ बनाते हुए श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजने इस भारतवर्षकी पावन भूमिपर न जाने कितनी पैदल यात्राएँ की हैं। एक समय अल्पाहार, त्रिकाल-स्नान, गंगाजल-पानपूर्वक आप जप-यज्ञ एवं ध्यानमें तल्लीन रहते। दृष्टि सदा नीची रखते या आँख बन्द कर लेते थे। शास्त्रका यह वचन है कि '**न नेत्रचपलो यतिः।**' संन्यासीको नेत्रोंको पृथ्वीकी ओर झुकाकर चलना चाहिये, इसे आपने अपने जीवनमें उतार रखा था। ये कभी भी न नगरकी भीड़भाड़के क्षेत्रमें प्रवेश करते, न किसी स्त्रीको देखते, न पैर ही छुआते थे। यदि कभी कोई स्त्री भूलसे चरण छू लेती तो तीन दिवसका कठोर व्रत, अन्न-जल-त्याग आदि विभिन्न कठिन व्रत धारण करते। स्वादके नामपर कुछ नहीं लेते। प्रातःकालके तीन बजेसे पुनः रात्रिके दस बजेतककी जिन्होंने आपकी दिनचर्या देखी है, उनका कहना है कि ध्यान, जप, अध्ययन, सत्संग, उपदेश, धर्म-प्रचार—इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रसंगको वहाँ स्थान नहीं।

'शिखा-सूत्र धारण करो', 'सन्ध्या-वन्दन और बलिवैश्वदेव करो', 'अतिथि-सत्कार करो', 'भारतीय वेष-भूषा धारण करो', 'शास्त्रोंका अध्ययन करो', 'रामायणका पाठ करो', 'मादक द्रव्योंका सेवन न करो'—प्रायः इन्हीं बातोंपर आप अधिक जोर देते थे। आपकी दृष्टिमें थोड़ेसे भी धर्मके आचरणका बड़ा महत्त्व रहता। धनके सामने धर्मको आपने सदासे महत्त्व दिया। यही कारण है कि आपके कृपापात्रों, भक्तों—अनुयायियोंमें साधारण कोटिकी जनता ही अधिक है, जिनमें अनपढ़ किसान, जाट, गूजर, गरीब ब्राह्मण, छोटे-छोटे व्यापारी वैश्य, दफ्तरोंके साधारण कर्मचारीगण अधिक हैं। आप प्रायः कहा करते थे कि 'यह वर्ग ही समाजकी रीढ़ है, यदि यह 'शिखा-सूत्र' को धारण किये रहे, सन्ध्या-वन्दनादि, नित्य-नैमित्तिक स्वकर्मोंमें वर्णाश्रमानुसार लगा रहे तो फिर संसारमें कलियुग लाख आये, कुछ बिगड़नेवाला नहीं।' अतः आपका अधिक-से-अधिक बल स्वधर्माचरणपर ही रहता था।

धर्मोपदेश

महाराजश्री स्वयं भी धर्मकी साक्षात् मूर्ति थे। कठोर-से-कठोर व्रतोंका आचरण करते-करते आपने तरुणावस्थामें ही सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली। तम्बाकू पीनेवालेके यहाँ आप भिक्षा पानेका सदैव निषेध करते थे।

आप जीवनमें शौचाचारको प्रमुख स्थान देते थे। आपकी स्मरण-शक्ति अद्वितीय थी, जिसे एक बार देख लिया तथा परिचय हो गया, वह व्यक्ति यदि बीस वर्ष बाद भी मिला तो प्रथम परिचयमें ही उसकी कुशल-क्षेम स्वयं ही न पूछी तो बात ही क्या रही!

पाक-शुद्धि तथा आहार-शुद्धिको आप बहुत महत्त्व देते थे। इनका कहना था कि 'जैसा खाओगे अन्न, वैसा बनेगा मन'—अत: जो भी जहाँ भी मिल जाय; उसे जिस-तिस प्रकारसे खड़े-खड़े, उलटा-सीधा खानेकी आप तीव्र भर्त्सना करते थे। आप कहते थे कि 'भक्ष्याभक्ष्य-विवेक' की आज सर्वाधिक आवश्यकता है, अभक्ष्य-भक्षण सब प्रकारकी बीमारियोंका मूल है, बाजारमें बने पदार्थोंके सेवनका आप निषेध करते थे। आपका कथन था कि 'शुद्ध-सात्त्विक पदार्थ अपने घरमें ही चौका-आसन लगाकर मौन होकर अतिथि, गौ, श्वान, कौवा, पिपीलिका आदिका भाग निकालकर पंचमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेव आदि करनेके उपरान्त ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही मन शुद्ध बनेगा तथा शुद्ध विचार, शिव-संकल्प मनुष्यके हृदयमें आयेंगे और तभी परोपकार, दया, अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि धर्मके लक्षणोंका पालन करनेमें सक्षम हुआ जा सकेगा तथा सच्चरित्र बना जा सकेगा और तभी प्रत्येक व्यक्ति एवं समस्त समाज सुखी रह सकेगा, अन्यथा घावको न धोकर, केवल पट्टीको धोने-जैसा आपका प्रयास होगा। सच्चा सुख सदाचरणमें ही है, जिसका मूल है शुद्ध आहार—सात्त्विक भोजन, भक्ष्याभक्ष्य-विवेक।'

उपर्युक्त विचारधाराको जीवनमें उतारनेकी प्रेरणा प्रदान करते हुए, आपने अहर्निश उत्तरी भारतकी अनेक तीर्थयात्राएँ पैदल गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम-घूमकर सम्पन्न कीं। देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक आपके त्याग, तपस्या, विद्वत्ता, सिद्धि एवं सादगीका वर्णन फैलने लगा। सनातनधर्मके पुन:स्थापन एवं उसके प्रचार-प्रसारमें अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके साथ आपका प्रगाढ़ स्नेह, सहयोग और सम्बन्ध था। उनके विशेष आग्रहपर ही इन्होंने ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रममें शंकराचार्य-पदको ग्रहण किया। इस पदको स्वीकार करनेके पूर्व इन्होंने स्पष्टरूपसे तीन शर्तें रख दी थीं—

(१) खादीके मोटे वस्त्रोंको छोड़कर कौशेय वस्त्र धारण नहीं करूँगा, (२) मिट्टीका कमण्डलु जो सदा साथ रहता है, उसे नहीं छोड़ूँगा तथा (३) सिंहासनपर बैठनेकी बाध्यता नहीं रहेगी और कभी भी किसी सामान्य आसनपर बैठ सकता हूँ।

इस प्रकार स्वामीजी महाराज त्याग और सरलताकी प्रतिमूर्ति थे। इनका जीवन सनातन जगत्के लिये अनुकरणीय तथा शिक्षाप्रद रहा है। ८१ वर्षकी अवस्थामें भाद्रशुक्ला त्रयोदशी, तदनुसार १० सितम्बर १९७३ ई० सायंकालकी प्रदोष-वेलामें आप इस पांचभौतिक शरीरको छोड़कर ब्रह्मलीन हो गये।

वाणीका सदाचार

नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम्॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥

'दूसरोंके मर्मपर आघात न करे, क्रूरतापूर्ण बात न बोले तथा औरोंको नीचा न दिखाये। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो, ऐसी रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है; अत: वैसी बात कभी न बोले। जिन वचनरूपी बाणोंके मुँहसे निकलनेसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है और जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर घातक चोट करते हैं, ऐसे वचनबाण सद्-असद्-विवेकशील, विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न छोड़े।' [महा० अनुशा० ४। ३१-३२]

स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजकी प्रेरक दिनचर्या एवं जीवनचर्या

स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजकी दिनचर्या विलक्षण थी, जिसे उनके भक्तगण भी नहीं जान पाते थे। रात्रिमें १ बजे प्रायः वे प्रतिदिन उठ जाते और तत्काल स्नानकर अपने जप-ध्यान-समाधिमें बैठ जाते। प्रातः तीन बजे शौचादि कृत्योंसे निवृत्त होकर पुनः स्नान करते तथा ३-३० बजेसे ५ बजेतक प्रातः एकाकी-भ्रमण (चार-पाँच मील पैदल घूमने)-का कार्यक्रम चलता। भ्रमणके समय आगमोक्त स्तोत्र-पाठ तथा जप चलता रहता। प्रातः ५ बजेसे ८ बजेतक अर्चन-पूजनकी क्रिया सम्पन्न होती। यह कार्यक्रम उनका नियमित रूपसे निरन्तर चलता। यहाँतक कि यात्रामें भी इस कार्यक्रमका निर्वाह वे पूरी तत्परतासे करते। महाराजकी यात्रा रेलगाड़ीमें तो होती नहीं थी, मोटरकारसे ही वे बराबर यात्रा करते थे। रात्रिमें गाड़ी तबतक चलती, जबतक वे शयन करते। रात्रिमें एक बजे गाड़ी रोक दी जाती और वे अपने दैनिक कृत्यमें संलग्न हो जाते। महाराजकी अर्चा-पूजा प्रतिदिन तीन बार होती थी। प्रातःकालीन पूजा प्रायः एकाकी—एकान्तमें होती थी। मध्याह्नकालीन पूजा दिनमें लगभग १२ बजे तथा सायंकालीन पूजा रात्रिमें ७-३० से ९-३० बजेतक होती। दोपहर और रात्रिका पूजन सर्वसाधारण भक्तजनोंके मध्यमें होता। प्रातः ८से १२तक तथा सायं ६से ७-३०के मध्य सर्वसाधारणसे मिलने-जुलने तथा पठन-पाठन, स्वाध्याय और लेखन आदिका कार्य होता। महाराजश्रीके पूजनमें श्रीयन्त्र, शालग्राम-शिला, एकादश नर्मदेश्वर तथा बाणलिंग, पारदलिंगादि कई शिवलिंग रहते। इसके अतिरिक्त सायंकालीन पूजामें एकादश पार्थिवेश्वरका प्रतिदिन निर्माणकर पूजन किया जाता तथा षडंग रुद्राभिषेक भी सायंकालीन पूजाका ही अंग था। महाराजका नियम था कि वे पूजनोपरान्त शंख-ध्वनि करते थे। उनकी शंख-ध्वनि बड़ी तीव्र होती थी। इसे सुनकर आस-पासके लोग प्रसाद लेने पहुँच जाते। महाराज स्वयं अपने हाथोंसे प्रसाद वितरण करते। उनके प्रसादकी यह विशेषता थी कि कितने भी लोग प्रसाद ग्रहण करें, पर वह प्रायः समाप्त नहीं होता था। पात्रमें कुछ-न-कुछ प्रसाद बचा रहता था, जिससे बादमें आनेवाले लोगोंको भी प्रसादके लिये निराश न होना पड़े। दिनमें १ बजेसे ५ बजेतक महाराजकी पुनः एकान्तसाधना चलती, जिसमें प्रायः योगासनके साथ लगभग ३ घण्टे अनवरत शीर्षासनका क्रम भी चलता। शीर्षासनमें ही वे श्रीदुर्गासप्तशती-पाठ तथा अपनी अधिकांश पूजा सम्पन्न करते।

एक बार महाराजजीके सम्पूर्ण योगासन देखनेका अवसर प्राप्त हुआ। इसी क्रममें प्रसंगवश उन्होंने यह भी बताया कि योगासन करते समय भगवदाराधन, पाठ और जप अवश्य करना चाहिये। तभी इसके करनेकी सार्थकता है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने कहा कि समुद्रमें सीप खोजनेके लिये मछुआरेका भी श्वास रोकनेके कारण प्राणायाम हो जाता है तथा दूसरी ओर सन्ध्या-वन्दन और देवाराधन आदिमें भी प्राणायाम किया जाता है। इन दोनों प्रकारके प्राणायामोंमें कोई अन्तर नहीं है। अतः मात्र नश्वर शरीरकी रक्षाके लिये ही योगासन करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। शारीरिक स्वस्थता तो योगासन करनेपर स्वतः प्राप्त होगी ही। योगासनका उद्देश्य तो देवाराधन ही होना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक लाभ मिल सके और समयका पूर्ण सदुपयोग हो सके। इस प्रसंगमें महाराजने यह भी बताया कि वे अपनी अधिकांश पूजा शीर्षासनके क्रममें ही पूरी करते हैं और उस समय उनका ध्यान भी अपेक्षाकृत एकाग्र रहता है।

भिक्षामें संयम

चौबीस घण्टेमें एक बार सायंकाल लगभग ५ बजे सूर्यास्तके पूर्व महाराजकी भिक्षा होती थी, जिसमें नमक और चीनी—इन दोनोंका प्रयोग नहीं होता था। गोदुग्ध भी उपलब्ध होनेपर भिक्षाके साथ एक बार ही लेते। यह बात प्रसिद्ध थी कि महाराजको भिक्षा करनेमें समय नहीं लगता, तीन मिनट या पाँच मिनटमें ही उनकी भिक्षा हो जाती, जो कुछ समय लगता भगवान्‌का भोग लगानेमें ही लगता। प्रातः-रात्रि तथा अन्य समयमें एक बारकी भिक्षाके अतिरिक्त वे फल इत्यादि भी ग्रहण नहीं करते। आवश्यकता पड़नेपर यदा-कदा औषधि या उससे सम्बन्धित अनुपान आदि ही स्वीकार करते।

चातुर्मास्य-काल

चातुर्मास्यके समयमें महाराजकी दिनचर्याका पूर्णरूपेण दर्शन होता था, कारण इस समय वे लगातार दो मास काशीमें ही निवास करते, और तो उनकी दिनचर्या प्रायः पूर्ववत् ही रहती, पर इस समय पठन-पाठन-स्वाध्याय तथा सत्संग-कथाका कार्य अबाधगतिसे चलता। देशके विभिन्न क्षेत्रोंसे संत-महात्मा और मूर्धन्य विद्वान् तथा साधक यहाँ पधारते। प्रातः ८ बजेसे १२ बजेतक ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता तथा अन्य गूढ़-गम्भीर ग्रन्थोंका पठन-पाठन और स्वाध्याय चलता। न्याय, सांख्य, मीमांसा, तन्त्र और वेद-वेदांगोंसे सम्बन्धित भारतीय संस्कृतिका कोई भी प्राचीनतम ग्रन्थ, जिसे दूसरी जगह समझनेमें कठिनाई होती, उसे महाराजके सामने लोग रखते, जिसे पढ़ानेमें महाराजकी विशेष रुचि रहती।

वे अपनी पूजाके अतिरिक्त अन्य कार्योंकी अपेक्षा स्वाध्याय और सत्संगको प्राथमिकता देते। सायंकाल ६ बजेसे ७-३० बजेतक उनके कथा-सत्संगका कार्यक्रम रहता, जिसमें श्रीमद्भागवत-रासपंचाध्यायी, वाल्मीकिरामायण तथा काशी-रहस्य आदिकी कथाएँ चलतीं। महाराजकी यह विशेषता थी कि स्वाध्याय और सत्संग-कथाके समय वे समाधिस्थ-जैसे हो जाते थे। पठन-पाठन और कथामें वे इतने तल्लीन हो जाते कि सामने कौन आया और कौन गया—इसका उन्हें भान भी नहीं होता। इसी प्रकार श्रोताओंकी भी स्थिति बन जाती। इस तरह वक्ता और श्रोता—दोनों उस कालमें कुछ क्षणोंके लिये समाधि-जैसी अवस्थामें हो जाते। सायंकालकी कथाके बाद रात्रि ७-३० बजेसे ८ बजेतक वे आनेवाले लोगोंसे मिलते। रात्रिमें ८ बजे स्नान करके सायंकालीन पूजापर बैठ जाते। रात्रि ९-३० बजेके बाद वे फलाहारकी भिक्षा करते। चातुर्मास्यके दिनोंमें उनका यही क्रम चलता। अपनी सम्पूर्ण दिनचर्याको सम्पन्न करनेके बाद एक बार रात्रिमें फल-दूधकी भिक्षा करते। आमके दिनोंमें फलमें केवल आम लेते। आम भी खाते नहीं। उसका रस निकाल दिया जाता। इस प्रकार आमका रस और दूध यही उनकी २४ घण्टेमें एक बार भिक्षा होती। एक बार रात्रिमें पूजनसे निवृत्त होकर भिक्षासे पूर्व महाराजने विनोदके स्वरमें बताया कि जैसे कोई भूखा बाघ अपने शिकारको देखकर उसपर झपटता है, वैसे ही अभी भिक्षापर दृष्टि लगती है। इस प्रकार २४ घण्टेकी अनवरत साधनाके उपरान्त फलाहारकी भिक्षामें महाराजका एक विशेष आकर्षण रहता। इन दिनोंमें कभी-कभी उन्हें मास-पर्यन्त भी जल पीनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। रात्रि दस बजेसे पूर्व उन्हें शयन करनेका समय नहीं मिलता। महाराजजीकी यह विशेष बात थी कि सोनेके बाद वे प्रायः पाँच मिनटके भीतर निद्रादेवीकी गोदमें चले जाते।

जाड़ा, गर्मी और बरसात—सभी मौसमोंमें वे प्रायः एक चद्दर ओढ़कर ही सोते। एक बारकी बात है। पौषका महीना था। अनवरत वर्षा और शीतलहरी चल रही थी। रात्रिमें सोनेके समय महाराजजीने प्रतिदिन ओढ़नेवाली पतली ऊनी चादर ओढ़ ली। भीषण ठंडमें वहाँ खड़े ब्रह्मचारीने एक कम्बल लाकर उढ़ाना चाहा। महाराजश्रीने कहा कि यह कम्बल मेरे पास रख दो, अभी आवश्यकता नहीं है। आवश्यक होनेपर ओढ़ ली जायगी। उसी दिन महाराजश्रीके किसी अन्तरंग भक्तसे मालूम हुआ कि महाराजश्रीका यह नियम है कि वे सदा एक ही चद्दर ओढ़कर सोया करते हैं, पर महाराज अपने इस वैराग्यपूर्ण आन्तरिक भावको किसीके भी समक्ष परिलक्षित नहीं होने देना चाहते थे।

निर्जल एकादशी-व्रत

महाराजजी नियमके अटल थे। प्रत्येक एकादशीको उनका निर्जल व्रत रहता। मार्गमें या कहीं भी भीषण-से-भीषण गर्मी या आपत्कालमें भी वे एकादशीको जल-ग्रहण नहीं करते।

तुलसी-प्रसादमें महाराजकी अनन्य आस्था थी। वे एकादशीके निर्जल-व्रतमें भी तुलसीदल-ग्रहण करनेका निषेध नहीं करते। एकादशीकी ही तरह जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि व्रत भी महाराजके कठिन होते थे। जन्माष्टमीको रात्रि १२ बजेकी आरतीके बाद महाराज केवल तुलसीका ही प्रसाद ग्रहण करते, फलाहारका भोग दर्शनार्थी भक्तोंको वितरण कर दिया जाता।

मोटरकारकी यात्रा

प्रारम्भमें महाराजश्री पैदल ही चलते थे। कभी आवश्यकता होनेपर नौकासे भी यात्रा करते थे, परंतु यान या किसी सवारीसे नहीं करते थे। आगे चलकर धर्मरक्षार्थ जब सार्वजनिक जीवनमें महाराजश्रीका प्रवेश हुआ तब महाराजश्रीके संन्यास-गुरु ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज तथा अन्य लोगोंके विशेष आग्रह करनेपर महाराजने दूरकी यात्राके निमित्त मोटरपर चढ़ना स्वीकार कर लिया। इसीलिये वे रेल आदिके द्वारा कभी यात्रा नहीं करते थे। कभी-कभी उन्होंने वायुयानसे भी यात्रा की, परंतु बादमें वायुयानकी यात्रा भी बंद कर दी। कारण, उसमें सिगरेट आदि पीनेपर प्रतिबन्ध नहीं था। मोटरकारकी यात्रामें महाराजके नित्य-नियम तथा भजन आदिके निर्वाहमें स्वतन्त्रता रहती थी। वे गाड़ीको रोककर समयानुसार सब कार्य कर लेते थे। उनके नियमित कार्यक्रममें किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं होती थी। इसलिये उन्होंने बादके दिनोंमें दूरकी यात्रा मोटरद्वारा ही की।

महाराजजीके जीवनमें नियमकी प्रतिबद्धता निरन्तर थी। अधिक मात्रामें ज्वर इत्यादिके रहनेपर भी वे तीन बजेके पूर्व उठकर एक बार स्नान करके प्रात:पूजापर अवश्य बैठ जाते। भले ही अस्वस्थताके कारण अधिक देर न बैठ सकें तथा पुन: विश्राम करने लगें, परंतु उनका समयपर उठनेका नियम था। अस्वस्थताके कारण भी वे उठनेमें आलस्य-प्रमाद नहीं करते।

काशीमें महाराजश्रीकी अटूट श्रद्धा थी। वे यह मानते थे कि जन्म-जन्मान्तरकी साधनाओंके बाद भी त्याग-वैराग्य और तप आदि साधन-सम्पन्न योगियोंको जो वस्तु दुर्लभ है, वही मोक्ष काशीमें शरीर त्यागनेमात्रसे प्राप्त होता है। महाराजश्रीकी यह मान्यता थी कि काशीमें भगवान् विश्वनाथके द्वारा मुक्तिका सदाव्रत चलता है। वे कहा करते—जैसे कोई अभ्यागत किसी अन्न-सत्र अथवा मालपूआ, खीर, पूड़ी आदिके भण्डारकी पंक्तिमें बैठ जाय तो उसे मालपूआ आदि रुचिकर भोजन बिना प्रयासके स्वत: प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार भूतभावनके इस मुक्तिक्षेत्रमें जिसका वास हो जाय, वह अनायास ही जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसलिये वे सदा काशीमें निवासके लिये कहते, कारण कि '**मङ्गलं मरणं यत्र**''''।'

महाराजश्रीका यह नियम था कि वे प्रतिवर्ष चातुर्मास्य काशीमें ही करते, कारण यति-संन्यासी चातुर्मास्यकालमें दो मासतक किसी भी परिस्थितिमें एक स्थानकी सीमा पार नहीं करते, अर्थात् नगरकी सीमासे बाहर दूसरे स्थानपर नहीं जाते। इसलिये जीवनके अन्तिम २०-२५ वर्षोंमें दूसरे स्थानपर चातुर्मास्यके आग्रहको महाराजजीने कभी स्वीकार नहीं किया, सदैव वाराणसीमें ही श्रावण और भाद्रपद—दो मास चातुर्मास्यके रूपमें व्यतीत किया। वैसे उन्होंने स्पष्टरूपसे अपने ब्रह्मचारीको यह आदेश भी दे रखा था कि कहीं भी किसी समय मेरे अस्वस्थ होनेपर गाड़ी तत्काल काशीकी ओर मोड़ देना। उनका यह मानसिक संकल्प था कि शरीर-त्याग काशीमें ही करना है। काशीमें केदारखण्डमें शरीर-त्यागका वे विशेष महत्त्व मानते थे।

पंचक्रोशी-परिक्रमा

अन्तिम वर्षोंमें महाराजश्री प्रतिवर्ष काशीकी पंचक्रोशी यात्रा भी करते। उनके साथ सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें भक्तमण्डली जाती। मार्गमें यात्राके क्रममें ***'हर हर महादेव शम्भो काशी विश्वनाथ गंगे'*** यह कीर्तन चलता रहता। इसके अतिरिक्त मार्गमें वार्तालाप आदि करना अमूल्य समयका अपव्यय माना जाता था। इसके साथ ही वे जहाँ ठहरते, वहाँ काशी-रहस्य और काशीखण्डकी कथा एवं सत्संगका कार्यक्रम भी चलता। महाराजश्रीकी जीवनचर्यापर दृष्टि डालनेसे उनकी निरपेक्षता तथा साधुता स्पष्ट परिलक्षित होती है।*

---

* श्रीराधेश्यामजी खेमकाकृत 'करपात्री-स्वामी:एक जीवनदर्शन' से।

महामना मालवीयजीकी अनुकरणीय दिनचर्या

मालवीयजीका जीवन बड़ा संयत था और उनकी दिनचर्या बड़ी ही नपी-तुली थी। वे प्रात:काल चार बजे ही उठ जाया करते थे और उसी समय नित्यकर्मके अनन्तर कपड़ेसे देह पोंछकर स्नान-सन्ध्या कर लिया करते थे। पूजा-पाठका भी यही नित्यका समय था। इससे निवृत्त होकर वे विश्वविद्यालयका कार्य देखने लगते। उस दिन होनेवाली मीटिंगके लिये आवश्यक कागज-पत्रोंको देखते। मीटिंगमें जाते। ग्यारह बजे लौटनेपर नियमसे चमेलीके तेलसे मालिश करवाते थे। उस समय कोई भेंट करनेके लिये आ जाता, तो उससे भेंट भी किया करते थे, परंतु मालिशका काम रुकता नहीं, चलता ही रहता। इसके बाद स्नानके अनन्तर वे भोजनकर विश्राम करते थे। अपराह्नमें फिर मीटिंग, विश्वविद्यालयके परिसरमें आवश्यक भ्रमण आदि कार्योंके अनन्तर रातमें दुबारा भोजन एवं शयन—यही उनकी सामान्य दिनचर्या थी।

भोजनके विषयमें इनकी विवेकशीलता देखकर आश्चर्य होता है। एक बारका प्रसंग है। पद्मकान्त मालवीय वहीं उन्हींके साथ कुलपतिनिवासमें रहकर हिन्दूस्कूलमें पढ़ने जाते थे। गोविन्द मालवीय (महामनाके कनिष्ठ पुत्र)-का भी परिवार वहीं उसी मकानमें रहता था। एक दिन स्कूल जानेका समय हो गया था, परंतु गोविन्दजीकी रसोई तैयार नहीं थी। फलत: पद्मकान्त मालवीयने महामनाके चौकेमें जाकर रसोईदारसे खानेकी बात कही। महामना पास ही पूजापर बैठे थे। इनके कानोंमें यह भनक पड़ी। झटसे इन्होंने पद्मकान्तको अपने पास बुलाया और उनके हाथपर एक रुपया रखकर स्कूलके पासवाली दूकानसे मिठाई खरीदकर खानेका आदेश दिया। पद्मकान्त आज्ञानुसार चले तो गये, परंतु रास्तेभर महामनाकी कटु आलोचनासे विरत नहीं हुए, जिन्होंने तैयार भोजन करनेसे उन्हें रोक दिया था। १ बजे लौटनेपर रसोइयाने कहा कि क्यों देर लगायी? महाराज तुम्हारे लिये बैठे हैं, अभीतक भोजन नहीं किया। बालकको आश्चर्य हुआ। महामनाने पास बुलाकर उससे कहा—देखो, बुरा न मानना। भोजन मैंने तुम्हें करने नहीं दिया, इसका एक गम्भीर कारण है। मेरे चौकेका सब सामान शिवप्रसाद (बाबू शिवप्रवाद गुप्त)-के घरसे आता है। दिन-रातमें कुछ देर ही सही मैं देशके तथा राष्ट्रके हितका काम करता हूँ। अत: मैं तो उसे पचा लेता हूँ, परंतु तुमलोग उसे पचा नहीं सकते। वह देशसेवकके ही पचानेयोग्य अन्न है, विद्यासेवकके लिये नहीं, इसीलिये मेरा चौका अलग है जिसमें मैं तथा मेरे देशसेवक अतिथि ही भोजन कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। मालवीयजीके इस कथनकी टीका क्या की जाय? ऐसी विवेकशक्तिको शतश: प्रणाम।

महामना मालवीयजी छोटी-से-छोटी बातपर ध्यान दिया करते थे, दृष्टि जो पैनी थी उनकी। किसी बड़ेसे मुलाकात करनेके समय वे सुन्दर वेष तथा स्वच्छ वस्त्र

धारणके विशेष पक्षपाती थे। इस प्रसंगमें वे इस प्राचीन श्लोकको प्राय: सुनाया करते थे, जिसमें पाँच वकारादि वस्तुओंके धारण करनेपर ही गौरव मिलनेकी बात बतायी गयी है—

विद्यया वपुषा वाचा वस्त्रेण विभवेन च।
वकारै: पञ्चभिर्युक्तो नर: प्राप्नोति गौरवम्॥

किसी सभामें अभिनन्दनार्थ पहनायी गयी मालाको झटसे उतार फेंकनेके ये बड़े विरोधी थी। ये कहते थे कि ऐसा करना माला पहनानेवालेका ही घोर अपमान नहीं है, बल्कि उस पुष्पमालाका भी। इस प्रसंगमें ये उर्दूका यह

शेर भी सुनाया करते थे, जिसमें वह फूलमाला अपनी घोर तपस्याके फलस्वरूप ऊँचे गलेपर पहुँचनेके अपने सौभाग्यपर प्रसन्नता अभिव्यक्त करती है—

हारों में गुँथे, जकड़े भी गये, गुलशन भी छुटा, सीना भी छिदा।
पहुँचे मगर उनकी गरदन तक, यह खुश इकबाली फूलों की॥

माला उतारनेसे फूलोंकी खुश-इकबाली—भाग्यशाली होनेको भी हम नष्ट कर देते हैं। यह नितान्त निन्दनीय है। यह शेर कवि बिस्मिल इलाहाबादीके गुरु शायर नूर नारवीका है।

महामना मालवीयजीके जीवनकी सिद्धान्त-चतुष्टयी—मालवीयजीके जीवनकी चतुःसूत्री इन प्रख्यात श्लोकोंके द्वारा निरूपित की जा सकती है—

(क) मृदुताकी तीक्ष्णता—मालवीयजी महाराजके जीवनादर्श धर्मराज थे—पाण्डवोंके अग्रज, सत्यके ऊपर एकान्त निष्ठावान् तथा अन्यायका स्वप्नमें भी आचरण न करनेवाले व्यक्ति। मालवीयजी मृदुताके अवतार थे, जीवनमें कभी उग्रताको आश्रय नहीं दिया। परंतु उनकी मृदुता दुर्बलताकी प्रतीक न थी। वे मृदुतासे कोई भी वस्तु असाध्य नहीं मानते थे—चाहे राजनीतिका क्षेत्र हो, चाहे धर्मका क्षेत्र हो। इस प्रसंगमें वे वनपर्वमें युधिष्ठिरके इस वचनको सातिशय महत्त्व देते थे तथा बार-बार इसकी चर्चा किया करते थे—

मृदुना सुमृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम्।
नासाध्यं मृदुनः किञ्चित् तस्मात् तीक्ष्णतरं मृदु॥

(ख) धर्मकी कसौटी—मालवीयजीके लिये तुलाधारप्रसंगमें दिया गया यह विश्रुत श्लोक धर्मकी सच्ची कसौटीको प्रकट करता है। यदि मनुष्य चाहता है कि कोई कर्म दूसरा व्यक्ति उसके साथ न करे, क्योंकि वह उसे नितान्त अप्रिय प्रतीत होता है, तो उसका भी यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह भी दूसरोंके प्रति उसका व्यवहार न करे—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

(ग) उद्योगकी निरन्तर संवर्धना—मालवीयजी उत्साह तथा उद्योगके उज्ज्वल प्रतीक थे। वे जीवनमें कभी भी निरुत्साहित तथा निराश नहीं होते थे। एक बार वे प्रयागमें बहुत बीमार पड़ गये। जीवनकी आशा क्षीण होने लगी। उनसे भेंट करने संस्कृतमहाविद्यालयके पण्डितगण समवेतरूपसे उनके आवासपर पहुँचे। महामनाने तब कहा था कि घनघोर विपत्ति या विषम संकटमें मैं कभी निरुत्साहित नहीं होता। जब मैं पतझड़में पत्रहीन पीपल वृक्षको वसन्तके आगमनपर नवीन सुकुमार पत्तोंसे हरा-भरा होकर लहलहाता देखता हूँ, तो मुझमें नया जोश उमड़ पड़ता है। मेरी दुर्बल देहयष्टि पुनः पुष्ट तथा सबल बन जायगी, यही आशा मुझे जिलाती है—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः।

(उद्योगपर्व १३५। २९-३०)

अर्थात् सफलता होगी ही, ऐसा मनमें दृढ़ विश्वास लेकर निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें लग जाना चाहिये।

(घ) सात्त्विक कर्ताकी दृष्टि—एक बार महाराजजीसे यह पूछा गया कि इतने व्यस्त जीवनमें आपने समत्व कैसे रखा, विकट परिस्थितियोंमें संकटके आक्रमणको श्रीमान्ने किस प्रकार प्रभावहीन किया? तब मालवीयजीने कहा था कि गीताके इस सात्त्विक कर्ताके आदर्शको अपने सामने रखा करो, जीवन कण्टककी क्यारी न होकर शिरीषकी गद्दी बन जायगा। सात्त्विक कर्ताका यह लक्षण गीताकी महनीय देन है मानवसमाजके लिये—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

(गीता १८। २६)

गीताके इस श्लोकमें चार तथ्योंपर आग्रह किया गया है—आसक्तिहीन रहे (अनासक्तियोग), 'मैं' और 'मेरा' न कहे (अहन्ता तथा ममतासे हीन रहे), सिद्धि तथा असिद्धिमें विकाररहित रहे और धैर्य तथा उत्साहके साथ कार्यका सम्पादन करे, वही सात्त्विक कर्ता कहलाता है। महामना ऐसे ही सात्त्विक कर्ता तथा महान् कर्मयोगी थे।

उनके श्रीमुखसे भिन्न-भिन्न अवसरोंपर कहे ये चारों श्लोक उनके जीवनकी चतुःसूत्री हैं। भारतीयोंको इस चतुःसूत्रीको अपने जीवनमें सम्यक्-रूपसे उतारना चाहिये तभी हमारा कल्याण होगा। भगवान् मनुका यह

आदर्श महामनाके जीवनमें पूर्णरूपेण संगत बैठता है। यह कथन तथ्यवाद है, अर्थवाद नहीं—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् केवल ब्राह्मणकी उत्पत्ति ही धर्मकी नित्यदेह है; क्योंकि धर्मके लिये उत्पन्न वह (ब्राह्मण) मोक्षलाभके योग्य होता है।

महामना मालवीयका जीवन-दर्शन—मालवीयजी महाराजके जीवन-दर्शनकी रूपरेखा इतनी समुज्ज्वल तथा अभिव्यक्त है कि उसके समझनेके लिये विशेष आयास करनेकी आवश्यकता नहीं। उनके समीपमें आनेवाले व्यक्तियोंके लिये उनका विश्लेषण करना विशेष प्रयाससाध्य नहीं है।

यहाँ महामनाके 'जीवन-दर्शन' की चतु:सूत्री संक्षेपमें उपस्थित है। इस चतु:सूत्रीका प्रथम सूत्र है—

आस्तिक्य—शास्त्र तथा तत्प्रतिपाद्य ईश्वरमें अभ्रान्त श्रद्धा। मालवीयजीको ईश्वरकी सत्ता तथा क्रियाशीलतामें अटूट विश्वास था और यह विश्वास ही उनके सात्त्विक जीवनके महनीय कार्योंकी सिद्धिका मूलमन्त्र था। विश्वविद्यालयके ऊपर आर्थिक संकटोंका व्यूह खड़ा हो जाता था, परंतु क्या मजाल कि महामनाको इनकी रंच भी चिन्ता हो। वे विचारत: तथा कार्यत:—दोनों दृष्टियोंसे आस्तिक थे। वे हमेशा कहा करते थे कि विश्वविद्यालयकी स्थापना काशीमें बाबा विश्वनाथजीकी अनुकम्पासे ही हुई है, सहायताके समय स्रोत भले सूख जायँ, परंतु भगवान् विश्वनाथके अनुग्रहका स्रोत तो कभी सूख ही नहीं सकता, वह तो अजस्र प्रवाहित होता रहेगा। उसीके बलपर तो उनकी नगरी काशीमें ही इस शिक्षासंस्थानकी स्थापना की गयी है। अनेक बार भारतके गण्यमान्य दार्शनिकोंको मालवीयजीने अपनी दार्शनिक युक्ति तथा तर्क-प्रणालीसे चमत्कृत कर दिया था। दर्शन उनका विषय नहीं था, परंतु उन्होंने विश्वविद्यालयमें समाहूत 'आल इण्डिया फिलासोफिकल कांग्रेस' (द्वितीय अधिवेशन)-के विशिष्ट दार्शनिकोंको 'ईश्वरसिद्धि' पर अपने दार्शनिक भाषणसे इतना प्रभावित किया कि जीवनभर दर्शनका अध्ययन-अध्यापन करनेवाले वे तत्त्ववेत्ता विद्वान् हतप्रभसे हो गये और महामनाकी अद्भुत दार्शनिक युक्तियोंको सुनकर वे चमत्कृत हो उठे। मालवीयजीकी दार्शनिक विचारधाराका अक्लान्त स्रोत श्रीमद्भागवत था। वे भागवतके मर्मज्ञ विद्वान् तथा सरस व्याख्याता थे। इस पुराणकी कमनीय स्तुतियाँ उनकी जिह्वापर नाचती थीं। दर्शनके अध्यापकगण तो ईश्वरके अस्ति-नास्तिके विषयमें अनेक तर्क उपस्थित करनेमें लगे थे, परंतु मालवीयजीने भागवतके आधारपर ईश्वरके विषयमें इतने अकाट्य प्रमाण प्रबल युक्ति और बोधगम्य भाषामें प्रस्तुत किये कि श्रोतागण अवाक् रह गये। मालवीयजी अपने जीवनके व्यवहारोंमें भी पूर्ण आस्तिक थे। ईश्वरपर असीम श्रद्धा रखते थे।

कर्तव्यनिष्ठा—उनके जीवनदर्शनका दूसरा सूत्र था—कर्तव्यनिष्ठा। जिस कार्यका सम्पादन उनके लिये अनिवार्य था, उसमें मालवीयजी इतनी लगनसे लग जाते थे कि सफलता दासीकी तरह उनके पीछे लोटती थी। इस विषयमें वे भीष्मस्तवराजका यह प्रसिद्ध श्लोक अपना आदर्शवाक्य (मॉटो) मानते थे, जिसमें ब्रह्मको कार्यरूप बतलाया गया है—

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकामार्थमुद्यतम्।
वैकुण्ठस्य च यद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः॥

चाहे किसी धार्मिक कृत्यका सम्पादन हो, चाहे किसी राजनैतिक कार्यका, वे समान अश्रान्तनिष्ठासे उन कार्योंका सम्पादन करते थे। एक बार जब उन्होंने विश्वविद्यालयकी स्थापनाका त्रिवेणीके पावन तटपर संकल्प कर लिया, तब उनकी उपासनाका, अनुष्ठानका बस वही एकमात्र विषय था। लोगोंने उनकी खिल्लियाँ उड़ायीं, नाना प्रकारसे उनकी योजनाको 'खयाली पुलाव' नाम देकर तिरस्कृत वस्तुकी कोटिमें परिगणित किया, परंतु महामनाके चित्तपर इन विरुद्ध आलोचकोंका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपने कार्यमें अधिक निष्ठासे लग गये, जिसका ज्वलन्त दृष्टान्त है—विशाल हिन्दू विश्वविद्यालय। इस प्रसंगमें एक रोचक बात प्रस्तुत है—गर्मीके दिनोंमें मालवीयजी अक्सर नैनीताल जाया करते थे। उस साल प्रयागके गण्यमान्य वकीलोंकी मण्डलीके साथ वे नैनीताल पहुँचे, जिसमें सर सुन्दरलाल, मुंशी ईश्वरशरण आदि प्रख्यात वकील सम्मिलित थे। विश्वविद्यालयकी चर्चा उस समय जोरोंपर थी, परंतु प्राय: लोग उसे कल्पना-जगत्की वस्तुसे अधिक महत्त्व नहीं देते थे। हँसी-खेलमें ही एक शामको सर सुन्दरलाल पूछ बैठे—Well, Malviyajee, when is your toy university coming into being?

अर्थात् आपका गुड़िया विश्वविद्यालय कब जन्म ले रहा है? कर्तव्यनिष्ठ मालवीयजीने तुरन्त उत्तर दिया—My university is bound to come into being in no distant future and you, Sir Sunderlaljee, will be its first Vice-chancellor. अर्थात् मेरा विश्वविद्यालय नातिदूर भविष्यमें उत्पन्न होगा और सर सुन्दरलालजी, आप ही उसके प्रथम कुलपति होंगे। मालवीयजीकी इस कर्तव्यनिष्ठापर, इस सहज-सलोने उत्तरपर, वह विद्वन्मण्डली चमत्कृत हो उठी और सचमुच महामनाके वाक्य शीघ्र ही चरितार्थ हुए। सर सुन्दरलाल इसके प्रशंसक सूत्रधार बने तथा इसके प्रथम कुलपति भी। मालवीयजीकी वाणी अमोघ सिद्ध हुई।

उत्साह—उनके जीवन-दर्शनका तीसरा सूत्र था—उत्साह। वे अदम्य उत्साहके सतत प्रगतिशील उत्स थे। उनकी वाणीमें, उनके कार्यमें तथा उनके मनमें—इन तीनों स्तरोंपर उत्साह विलसित होता था। जान पड़ता था कि 'विषाद' शब्द उनके कोशमें कहीं भी विद्यमान नहीं है। वे कभी विषादको जानते ही न थे। विषण्ण होना उनके स्वभावके सर्वथा प्रतिकूल था। मालवीयजीके वे दिव्य वचन आज भी हमारे कर्णकुहरोंमें गूँज रहे हैं, जिन्हें दीर्घरोगसे क्षीणकाय होनेपर भी उन्होंने पण्डितोंसे कहा था—आज मेरा शरीर इस रोगके कारण अवश्य ही क्षीण और निर्बल हो गया है, परंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो जाऊँगा।

महामनाके उन वचनोंको याद करें। वे कहा करते थे कि जबतक असफलता मनुष्यकी छातीपर बैठकर उसका गला न घोंटे, जबतक आशाकी एक फीकी किरण भी दूरस्थ क्षितिजपर दीख पड़े, तबतक मनुष्यको निराश न होना चाहिये, प्रत्युत पूर्ण उत्साहके साथ काममें डट जाना चाहिये। विश्वास रखें वह कार्य सिद्ध होकर ही रहेगा।

वे निराशा कभी जानते ही न थे। कार्यके सम्पादनमें व्यथा उन्हें कभी पीड़ा नहीं पहुँचाती थी। वे सोच ही नहीं सकते थे कि यदि कार्य विधिवत् किया जाय, तो वह किस प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

आत्मविश्वास—उनके जीवन-दर्शनका चतुर्थ सूत्र है—आत्मविश्वास। अपने ऊपर, अपनी शक्तियोंके ऊपर अटूट विश्वास उनमें कूट-कूटकर भरा था। इसका उपदेश वे सदा दिया करते थे। गीता-प्रवचनके अवसरपर इस विषयमें उनका प्रिय श्लोक था—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

आत्मावसाद बड़ी ही बुरी वस्तु है और आत्मविश्वास बड़ा ही महनीय पदार्थ है। आत्मा अनन्त शक्तियोंका निकेतन है। विश्वकी समस्त शक्तियाँ आत्मामें अन्तर्हित रहती हैं। आवश्यकता है उनके उद्बोधनकी, उन्हें जगानेकी। महामना आत्मविश्वासकी जाग्रत् मूर्ति थे। विश्वविद्यालयकी सिद्धिमें इस मन्त्रने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मालवीयजीको अपने उद्देश्यकी पवित्रतामें पूर्ण विश्वास था। इसी गुणके कारण उन्होंने अनेक विषम विपत्तियोंको दूर भगाया तथा जीवनमें विजय प्राप्त की। विश्वविद्यालयकी स्थापनाके अवसरपर गांधीजीको महामनाने इसी सद्गुणके कारण लोगोंकी दृष्टिमें सम्मानित किया था।

मालवीयजी यथार्थतः सात्त्विक कर्ता थे। इतने बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यका सम्पादन किया, परंतु उन्हें उसका न हर्ष था और न गर्व। वे देश तथा राष्ट्रके मंगलके निमित्त इस कार्यमें अटूट श्रद्धासे, अदम्य उत्साहसे, कर्तव्यबुद्धिसे लगे रहे और जो किया, वह सचमुच विलक्षण था।

मालवीयजी सच्चे अर्थमें महात्मा थे। महात्माका लक्षण इस प्रसिद्ध श्लोकमें वर्णित है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

महात्माके जो छः लक्षण यहाँ बतलाये गये हैं, वे महामनामें पूर्ण वैभवके साथ प्रकट थे। विपत्तियोंमें धीरता, सम्पत्तिमें क्षमा, सभामें वाक्-चातुरी, युद्धमें विक्रम, यशमें अभिरुचि तथा शास्त्र-श्रवणमें अनुराग—इन छहोंकी सत्ता महामनामें पूरे रूपमें थी। महामना यह उपाधि उनमें सर्वथा चरितार्थ होती थी। मालवीयजीमें हृदय ही हृदय था। विपन्नके साथ पूरी सहानुभूति तथा अनुराग उनके जीवनमें पग-पगपर दृष्टिगोचर होता है। ऊपर उनके बहुमुखी जीवनका विश्लेषण करनेपर जो चार सूत्र उपलब्ध हुए हैं, वे इस अनुष्टुप्में निबद्ध हैं—

आस्तिक्यं चात्मविश्वासो ह्युत्साहः कार्यनिष्ठता।
चतुःसूत्री समाख्याता मालवीयमहात्मनः॥

(ब०उ०)

महात्मा गांधीकी अनुकरणीय जीवनचर्या—पंचशील और द्वादशव्रत

(श्रीमनोहरलालजी गोस्वामी, एम०ए०, एम०एड०, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

महात्मा गांधी, जो सम्पूर्ण विश्वकी एक महान् विभूति थे, उन्हें एकमतसे बीसवीं सदीका शताब्दी-पुरुष

स्वीकार किया गया है।

बापू सर्वोपरि राजनेता तो थे ही; किंतु उससे बढ़कर वे एक महान् समाजसुधारक थे। भारतीय जनजीवनकी शायद ही कोई ऐसी समस्या हो, जिसपर उन्होंने गम्भीर चिन्तन करके कुछ कहा न हो अथवा अपनी लेखनी न चलायी हो। गरीबी, बेरोजगारी-जैसी बाह्य समस्याओं तथा रसोईघरसे लेकर शौचालयतककी व्यवस्था भी उनकी दृष्टिसे ओझल न रह सकी। आज भारतके प्रत्येक बड़े-छोटे नगरमें जो सुलभ शौचालय उपलब्ध हैं, वे गांधीवादी विचारधाराके अनुयायी एक सिविल इंजीनियरकी देन हैं।

गांधीजीकी न केवल दिनचर्या प्रत्युत उनकी सम्पूर्ण जीवनचर्या अपने आपमें स्पृहणीय और जन-जनके लिये अनुकरणीय है।

स्वास्थ्य और आचारशास्त्र दोनोंपर उन्होंने व्यापकरूपसे विचार-विमर्श किया है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उन्होंने एक पंचशील अपनाया हुआ था। उसमें जिन पाँच शीलों या आचारोंको स्थान दिया गया है, उनको एक दोहेमें निम्नानुसार निबद्ध किया जा सकता है—

दो बार भोजन दो किलो जल, घंटे भर व्यायाम।
साप्ताहिक उपवास औ, सन्ध्या प्रातः शाम॥

भोजन-संयमको वे आरोग्यकी आधारशिला मानते थे। उनका मत था कि भोजन अत्यन्त सादा, सरल और प्रकृतिके अनुकूल होना चाहिये। उसमें तले-भुने पदार्थों और अचार-मसालोंका स्थान नगण्य हो, पर उसमें ताजे फलों और हरी सब्जियोंकी मात्रा पर्याप्त रहे तथा अन्नका स्थान कम-से-कम हो। मांसाहार और अण्डोंके वे प्रबल विरोधी थे।

जल जीवनका आधार है। उनका मत था कि कम-से-कम दो किलो जल एक स्वस्थ व्यक्तिकी प्राथमिक आवश्यकता है। प्रातः उठकर, रात्रिशयनसे पूर्व, दोनों भोजनोंके एक घण्टे पहले और दो घण्टे-उपरान्त इस प्रकार कम-से-कम छः गिलास पानी नित्य पीनेकी सलाह वे देते थे।

व्यायाम उनकी दिनचर्याका महत्त्वपूर्ण अंग था। प्रातःभ्रमणके वे प्रबल समर्थक थे। घूमनेको वे कसरतोंकी रानी कहते थे। तेज गतिसे चलना उनकी आदतमें सम्मिलित था। जिन्होंने उन्हें देखा है, वे सभी जानते हैं कि अन्योंको उनके साथ कदम मिलाकर चलनेमें लगभग दौड़ना पड़ता था।

उपवासको वे रोगोंको दूर करनेका प्रमुख साधन मानते थे। वे कहते थे कि दवा रोगोंको दबाती है, जबकि उपवास रोगोंकी जड़ ही काट डालता है। वे सप्ताहमें एक दिन जलपर उपवास रखते थे। उपवासमें मलावरोध एक सामान्य बात है। उसके निराकरणके लिये वे किसी रेचक औषधके स्थानपर वस्ति या एनीमाके पक्षधर थे। सप्ताहमें एक दिन सोमवारको वे मौनव्रत भी रखते थे। वे कहते थे कि मौन हमें आत्माकी आवाज सुननेमें सहायता प्रदान करता है।

रोग हो जानेकी स्थितिमें वे प्राकृतिक चिकित्साके अनुसरणके समर्थक थे। भारतमें वे प्राकृतिक चिकित्साके प्रथम आचार्य थे। इस क्षेत्रमें 'आरोग्यकी कुंजी' उनकी एक बहुत ही लघु, किंतु अत्यन्त उपयोगी और अनुकरणीय कृति है। सन्ध्या उनकी दिनचर्याका अनिवार्य अंग थी। वे दोनों समय सन्ध्या करते थे। वे कहा करते थे कि भोजनके बिना वे कई दिन और कई सप्ताह व्यतीत कर सकते हैं, पर सन्ध्याके बिना उनका जीवित रह सकना एक दिन भी सम्भव नहीं। प्राकृतिक जीवनशैलीको वे शारीरिक स्वास्थ्य और नियमित सन्ध्याको मानसिक आरोग्यका आधार मानते थे। रामनाम और गीता उनके मानसिक आरोग्यके मूलाधार थे। वे कहते थे कि ऐसा

कोई रोग नहीं, जो रामनामसे न मिटाया जा सके और जीवनकी ऐसी कोई समस्या नहीं जिसका निदान गीतामें न हो, आवश्यकता है गीताके सागरमें गहराईतक गोता लगानेकी।

स्वास्थ्यके इन पंचशीलोंके साथ ही उन्होंने जिन द्वादश व्रतोंको अपनी जीवनचर्यामें सम्मिलित किया था, उनका प्रातः-सायंकालीन सन्ध्याओंमें निम्नलिखित हिन्दी श्लोकोंके रूपमें नित्य पाठ किया जाता था—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जन॥
सर्वधर्म समानत्व, स्वदेशी स्पर्श भावना।
अनिन्दा व्रत निष्ठासे, द्वादश ये सेव्य हैं॥

पूर्वमें इन व्रतोंकी संख्या एकादश थी; पर विनोबाजीके सुझावसे अनिन्दाको जोड़कर उन्हें द्वादश कर दिया गया।

सत्यको वे जीवनका उद्देश्य और अहिंसाको उसकी प्राप्तिका मार्ग निरूपित करते थे। अस्तेय या अचौर्यके विषयमें उनका मत था कि मनुष्यकी आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित हों। अपनी आवश्यकताकी पूर्तिसे अधिक धन जोड़नेको वे चोरीका दर्जा देते थे। ब्रह्मचर्य और संयमके समर्थक होनेके कारण वे सन्ततिनिरोधके अप्राकृतिक साधनोंके विरोधी थे। वे असंग्रहके समर्थक थे। वे कहा करते थे कि धनिकोंने जो धनसंग्रह कर रखा है, वह जनताका है, अतः वे ट्रस्टीके समान उसका उपयोग स्वयं और समाजकी सेवामें करें। शारीरिक श्रम उन्हें प्रिय था, अतः उनकी दृष्टिमें शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूरका बौद्धिक श्रम करनेवाले व्यक्तिके समान सम्मानका भाव था। ईश्वरमें प्रबल आस्था होनेसे वे सदा निर्भय रहते थे। अस्वादको वे शारीरिक और मानसिक संयमका आधार मानते थे। सब धर्मोंके प्रति उनमें समान आदरका भाव था। अतः उनकी प्रार्थनामें रामधुनके साथ-साथ कुरानकी आयत, जैन, बौद्ध, सिख, पारसी तथा ईसाई धर्मकी प्रार्थनाओंको भी समुचित स्थान दिया गया था। स्वदेशीके समर्थक होनेसे उन्होंने खादी और ग्रामोद्योगोंको भारतमें व्याप्त गरीबीको दूर करनेका प्रमुख साधन बतलाया। घड़ी उस समय भारतमें नहीं बनती थी। अतः स्विट्जरलैण्डमें निर्मित घड़ीके अतिरिक्त उनके प्रयोगकी सभी वस्तुएँ स्वदेशी होती थीं। उन्होंने अछूतोंको 'हरिजन' नाम देकर उनके प्रति सम्मान जताया। राजनीति-जैसे क्षेत्रसे जुड़े होनेपर भी अनिन्दा उनके जीवनका अंग बन गयी थी।

वे समाजवाद या मार्क्सवादके विरोधी नहीं थे। उनका विरोध मार्क्सवादके हिंसात्मक साधनोंसे था। उनका समाजवाद भारतीय जीवनदर्शनपर आधारित था। उनकी दोनों समयकी सन्ध्याका प्रारम्भ ईशावास्योपनिषद्‌के प्रमुख श्लोकसे होता था—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

जगत्‌में यह जो कुछ भी जीवन है, सब ईश्वरका बसाया हुआ है, अतः उसके नामसे त्याग करके यथाप्राप्त भोग किया कर, किसीके धनकी वासना न रख।

'रामहरि' का जप करनेवाले श्रीविनोबाजीकी चर्या

(आचार्य श्रीशरदकुमारजी साधक)

भूदान-ग्रामदानके लिये सारे देशकी पदयात्रा करने वाले सन्त विनोबाका हर कार्य प्रभुको समर्पित रहा। उन्होंने वैराग्यका उपदेश नहीं दिया, अपितु प्रेम और अनुरागको विस्तृत किया। जैसा प्रेम-व्यवहार परिवारमें होता है, वैसा प्रेम भूमिहीनोंके प्रति होनेसे भूदानकी प्रतिष्ठा हुई। भूमिहीनको विनोबाजी पाँचसदस्यीय परिवारका छठा सदस्य मानते थे। उसे पारिवारिक बनानेके साथ ग्राम परिवार हो जानेसे ग्रामदान हुआ। पदयात्राके दौरान हर रोज औसत तीन प्रवचन करनेवाले विनोबाजी चाहते थे कि मालिक-मजदूरोंमें प्रेम हो। गाँव एकहृदय हो, उसके स्पर्शसे भारत एकहृदय हो एवं हमारी विश्वहृदयके साथ ही विश्वेश्वरके साथ एकरूपता हो। ११ सितम्बर १८९५ ई० को पैदा हुए विनोबा तेरह साल पदयात्राकर २५ दिसम्बर १९७६ ई० से ब्रह्मविद्या-मन्दिर पवनारमें रहते थे और व्यक्तिगत चर्चामें बताते थे कि मैंने जो कुछ किया, बोला या लिखा—वह मेरा नहीं है। मैं तो अपने स्वामीका मजदूर हूँ।

विनोबाजी कहा करते थे कि सन्त पुरुष बापूके साथ काम करनेका हमें अवसर मिला, यह हमारा बड़ा भाग्य है। जितना बन पड़े, उतना उनका अनुसरण करें और चित्तशुद्धिपूर्वक

भगवान्‌की शरणमें जायँ। साथ ही वे कहते थे—'मेरा नाम मिट जाय, राम का नाम रहे। मेरी इच्छा न रहे, हरि की इच्छा रहे। मेरा कुछ भी न रहे, सब कुछ कृष्णार्पण हो जाय।' उन दिनों वे हस्ताक्षर करते हुए विनोबाकी जगह मात्र '**रामहरि**' लिखते थे।

प्रातः ३.३० बजे उठकर बाबा १८ घूँट पानी पीते-पीते १८ बार राम बोलते और गीताके अठारहों अध्यायोंका स्मरण करते। स्नानादिसे निवृत्त होकर 'ईशावास्योपनिषद्' की प्रार्थना करते। प्रार्थनाके बाद सत्संग और स्वाध्याय। ठीक ६.०० बजे कक्षसे बाहर आकर खुदाईमें मिली केदारेश्वर, विष्णु, राम-भरत-मिलाप आदि मूर्तियोंको प्रणाम करते, उनकी परिक्रमा करते और फिर पक्षियोंके लिये रखे गये पानीके बरतनके पास पहुँचकर प्रणाम करते। फिर अपने कमरेकी खिड़की-की छड़ पकड़कर १३ बार उठ-बैठ करते।

साढ़े दस बजे '**विष्णुसहस्त्रनाम**' का पाठ नियमित होता। उसके पूर्व एवं पश्चात् मुलाकातियोंसे मिलते। विनोद किये बिना न रहते। कभी चुटकियाँ बजतीं, कभी ताली बजती। राजनीतिक दलोंके लोग हों या सर्वोदय साथी—सबसे खुलकर बोलते। बात-बातमें कहकहे गूँजने लगते। स्कूली बच्चोंके आगमनपर ऐसी-ऐसी बातें होतीं कि बच्चे नाचते और वे स्वयं भी थिरकते। दिनका अन्तिम आहार ३.३० बजे हो जाता। अन्न, फल या साग-सब्जी नहीं, दिनभर तीन-तीन घंटेपर मात्र दूध, छेना, शहद लिया करते थे। ५२ तोला दूध, आठ तोला छेना और शहदसे उनका गुजारा होता। कानोंसे सुन नहीं पाते थे। उन्हें हर प्रश्न लिखकर दिया जाता, जिसे चश्मा उतारकर पढ़ते और संक्षिप्त-सारगर्भित समाधान देते थे। उन्होंने हर धर्मग्रन्थका सार तैयार किया था। ४.४५ पर गीतामें बताये गये स्थितप्रज्ञ-लक्षण, नाममाला और एकादश व्रत बोले जाते। उसके पश्चात् ६.३० बजे चारों दिशाओंको प्रणामकर मच्छरदानीमें विश्राम करने लगते। प्रगाढ़ निद्रामें वे अपनेको भगवान्‌की गोदीमें महसूस करते। जागृतिमें राम-हरिका स्मरण होता। उस समय उनका अंग-अंग थिरकता था।

वे कहा करते थे—'**राम**' बोलकर बाहरकी हवा (श्वांस) अन्दर लो और '**हरि**' बोलकर बाहर छोड़ो। १५ नवम्बर १९८२ ई० को दीपावलीके दिन उनकी राम-हरिकी ताल थमी। १६ नवम्बरको आश्रमके राम-भरत-मन्दिरसे उनका पार्थिव शरीर लिये पुष्पयान धाम नदीके बीच गांधीघाटसे कुछ पहले रुका और उनके पार्थिव शरीरको अग्निदेवने आत्मसात् किया, उस समय भी मानव-मेदिनीका समवेत स्वर गूँज रहा था—***'बोलो मेरी रसना राम हरि।'***

आदर्श जीवनचर्या

(महाकवि डॉ० श्रीयोगेश्वरप्रसाद सिंहजी 'योगेश')

जीवन धन्य उसी का जिसने औरों का उपकार किया।
क्षणिक देह का अखिल विश्व में सेवा से विस्तार किया।
प्रात काल प्रभु का सुमिरन हो, फिर पूजन, अर्चन और ध्यान।
गार्हस्थ्य का कार्य पूर्ण हो, गो-सेवा पर हो अभिमान।
सच्चा जीवन उसका, जिस ने सब जीवों से प्यार किया॥ १॥
साँझ समय आरती-भजन हो, पुनः अतिथियों का सत्कार।
सोने के पहले दिन भर के दोषों पर भी करें विचार।
रात्रि समय प्रभु के चिन्तन में जिस ने समय गुजार दिया॥ २॥
सब में प्रभु, फिर किससे ईर्ष्या, कण-कण में उनका ही रूप।
रहा स्वार्थ-माया में रत जो, कैसे तर सकता भव-कूप?
परहित चिन्तन, सुख-दुःख दोनों पर सम अधिकार किया॥ ३॥
बहुत भाग्य सुरदुर्लभ मानव का शरीर है प्राप्त हुआ।
वह हतभाग्य, भोग में ही जिसका तन हाय! समाप्त हुआ।
भाग्यवान् वह आर्त्तों को जिस ने दुःख से है उद्धार किया॥ ४॥
सद्‌ग्रन्थो का अध्ययन कर जिसने जीवन को है मोड़ा।
क्षणिक सुखों को विश्वबन्धुता हेतु जिन्होंने है छोड़ा।
शिवि-दधीचि के पथ पर चलकर आलोकित संसार किया॥ ५॥

म०म० पं० शिवकुमारजी शास्त्रीकी आदर्श दिनचर्या

[काशीकी पाण्डित्य-परम्पराके क्रममें गत शताब्दीके आरम्भमें ही अपने चतुरस्र पाण्डित्यके कारण मण्डित, परम वैयाकरण, अद्वैतवादी, शास्त्रार्थ-महारथी म०म०पं० शिवकुमारजी शास्त्री (१८५७-१९१८ ई०)-का स्थान अप्रतिम था। वे न केवल अपने समयके धुरन्धर विद्वान् थे, अपितु सर्वथा निर्लोभी, परम संयमी तथा सिद्धान्तवादी भी थे। उनकी दिनचर्या तथा आचरण अत्यन्त प्रेरक था, जिसका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत है—]
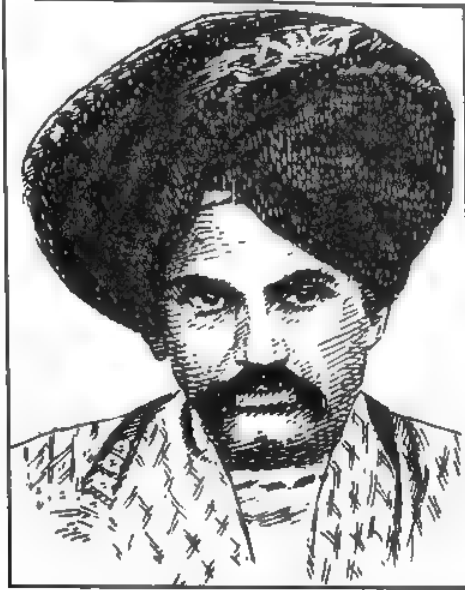
दिनचर्या—पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजीकी दिनचर्या अध्ययन-अध्यापन, जप-पूजाके सम्पादनकी ही एक मनोरम कहानी है। शास्त्रीजी प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जाते थे और सूर्योदयके पहले ही भगवती गंगाके किनारे पहुँच जाते थे। स्नान-सन्ध्या करनेके अनन्तर ये सीधे अपने विद्यालय दरभंगा-पाठशालामें पहुँच जाते थे। दाहिने हाथमें विराजता था गंगाजमुनी कमण्डलु और बायें कन्धेपर रहता था गंगाजलसे पूर्ण बड़ा ताम्रकलश। इन दोनोंका उपयोग बाबा विश्वनाथके स्नान करानेमें किया जाता, परंतु अभी तो प्रात:कालमें ही लगनेवाली अपनी पाठशालामें इन दोनों को यथास्थान रखकर शास्त्रीजी छात्रोंके अध्यापनमें लग जाते थे। दस-साढ़े दस बजे पाठशाला बन्द हो जाती थी, तब शास्त्रीजी इन दोनों पात्रोंको लेकर भूतभावन विश्वनाथजीके मन्दिरमें जाकर मन्त्रोच्चारपूर्वक उन्हें स्नान कराते थे। तदनन्तर ये मध्याह्न-स्नान तथा सन्ध्याके लिये दशाश्वमेध घाटपर उतरते थे। स्नानादिकृत्यसे निवृत्त होकर दोनों जलपात्रोंको पूर्ववत् धारणकर अपने आवासस्थान रेशमकटरामें जाते थे। वहाँ अनेक विद्वान् शास्त्रचर्चा तथा विद्याभ्यासके निमित्त पहलेसे ही उपस्थित रहते। शास्त्रीजी उसी गंगाजलसे नर्मदेश्वरका अभिषेक करते थे।

अभिषेकके अनन्तर दो-ढाई बजेके लगभग शास्त्रीजी भोजन करते थे और थोड़ा आराम-विश्राम करनेके बाद उपस्थित विद्वानोंके साथ शास्त्रचर्चाका प्रवाह चल पड़ता था। किसीको वेदान्त पढ़ाते, तो किसीसे धर्मशास्त्रके गम्भीर विषयोंका शास्त्रार्थ छिड़ जाता था। कहीं धार्मिक व्यवस्था देनेका प्रसंग होता, तो वह भी इसी समय निपटाया जाता। शास्त्रीजी अपने हाथों व्यवस्था आदि कम लिखते थे। ये बोलकर ही बहुधा लिखवाया करते थे। सन्ध्या-समय पूजन-पाठ, रात्रिमें फिर शास्त्रचर्चा और अन्तमें विश्राम और शयन। शिवकुमार पण्डितजीकी यह दिनचर्या थी। इन नियमोंमें कभी परिवर्तन नहीं होता था।

कर्तव्यनिष्ठा—पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी सनातन धर्मके प्रति इतने निष्ठावान् थे कि द्रव्यका लोभ इन्हें उस मार्गसे तनिक भी विचलित नहीं कर सकता था। चाहे कोई व्यक्ति कितना भी द्रव्य देकर इन्हें धर्मके विरुद्ध व्यवस्था देने तथा कार्य करनेका आग्रह करता, ये अपने स्वीकृत मार्गसे टस-से-मस नहीं होते थे। इस विषयमें राय कृष्णदासजीसे प्राप्त संस्मरण नितान्त उपदेशप्रद तथा रोचक है।

यह घटना उनके ही परिवारसे सम्बन्ध रखती है। कृष्णदासजीके पिताके देहावसानके अनन्तर उनकी माताने अपनी दोनों कन्याओंके विवाहके लिए प्रयत्न किया। एक ही कन्याकी शादीके विषयमें वह उद्योग सफल हो सका और वह भी छोटी कन्याकी ही शादीके विषयमें। यह समाजविरुद्ध बात थी। माताजीने पण्डित शिवकुमारजीको अपने घर बड़े आदर-सत्कारसे बुलाया, सोनेकी एक गिन्नीकी पूजा उन्हें दी और उस धर्मसंकटसे उद्धारार्थ उन्होंने शास्त्रीजीसे आग्रह किया कि वे छोटी कन्याके विवाहके विषयमें अपनी सहमति दें, जिससे नाना प्रयासोंके

फलरूप वह विवाह सिद्ध हो सके। शास्त्रीजीने प्रस्ताव सुनते ही तत्काल वह गिन्नी लौटा दी और कहा कि ज्येष्ठ सन्तानसे पूर्व कनिष्ठ सन्तानका विवाह सर्वथा धर्मविरुद्ध है। मैं इस विवाहके अनुष्ठानके लिये अपनी सम्मति नहीं दे सकता। रायसाहबकी माताने बहुत ही अनुनय-विनय की, परंतु शास्त्रीजी अपने सिद्धान्तपर हिमालयके समान अडिग बने रहे। फलतः उस विवाह-सम्बन्धको अस्वीकार कर दिया गया। (ब०उ०)

म०म० पं० गोपीनाथजी कविराजकी प्रेरणाप्रद दिनचर्या

[दर्शनशास्त्रके उद्भट विद्वान् तथा तन्त्रागमके तलस्पर्शी ज्ञाता म०म०पं० गोपीनाथजी कविराज (१८८७—१९७६ ई०) एक सद्गृहस्थ होनेके साथ-साथ महान् साधक भी थे। आत्मप्रकाशनसे सर्वथा दूर उनकी दिनचर्या सादा जीवन एवं उच्च विचारपर आश्रित थी, जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है—]

कविराजजीकी वेषभूषा बहुत ही साधारण थी। वे प्रायः धोती-कुर्ता पहना करते थे। घरमें, अपने कक्षमें ये प्रायः खुले बदन रहा करते थे। गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, काशीके प्रिंसिपलके पदको सुशोभित करते हुए ये बन्द गलेका कोट तथा पैण्ट अवश्य पहन लिया करते थे। उस समय भी इनके गलेमें उत्तरीय तथा सिरपर गोल टोपी विराजमान रहती थी। परंतु यह केवल औपचारिक वेशभूषा थी। कॉलेजसे लौटकर घर आनेपर फिर वही धोती और चादर।

अपने अध्ययनकक्षमें ये किसी काठके तख्तपर विराजमान रहते थे और कभी तो जमीनपर ही सीतलपाटी बिछाकर बैठते थे। ये आगन्तुक विद्वानोंके प्रति किसी प्रकारकी औपचारिकताका व्यवहार नहीं करते थे। जो भी विद्वान् आता, वह जमीनपर अपना आसन ग्रहण करता था। इनके अध्ययनकक्षमें पुस्तकोंका पहाड़ लगा रहता था। सारे कमरेमें पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा अखबार अस्त-व्यस्त, बिना किसी व्यवस्थाके बिखरे पड़े रहते थे। कविराजजी इन्हीं पुस्तकोंसे चारों ओरसे घिरे हुए, इनके बीचमें बैठकर अपना स्वाध्याय किया करते थे। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक पाल ब्रन्टनने अपनी पुस्तक सर्च इन सिक्रेट इण्डियामें—कविराजजीसे अपनी भेंटका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—He was buried among the hill of books. अर्थात् वे अपने चारों ओर पुस्तकोंके पहाड़से दबे हुए थे। वास्तवमें कविराजजी-जैसे उच्चकोटिके विद्वान्के लिये पुस्तकोंके सान्निध्यको छोड़कर अन्य समुचित स्थान कौन-सा हो सकता था!

कविराजजीका यह अध्ययनकक्ष ही वह नर्सरी थी, जहाँ साधना, तपस्या और विद्वत्ताके पुष्प विकसित होकर अपने सौरभसे समस्त भारतको सुरभित कर देते थे। भारतवर्ष—प्रायः उत्तरी भारतके सभी प्रान्तोंसे विद्वान् व्यक्ति आकर अपनी शंकाओंका समाधान पाकर सन्तुष्ट होकर घर लौट जाते थे। ये घण्टों बैठकर साहित्य, दर्शन-शास्त्र, धर्मशास्त्र और तन्त्रशास्त्रके ऊपर अपना प्रवचन किया करते थे, जिसे सभी लोग बड़े ही ध्यानसे सुनते थे। भारतीय विद्याका कोई भी ऐसा अंग नहीं था, जिसपर कविराजजीका पूर्ण अधिकार न हो। अतः ये अबाध गतिसे घण्टों धर्म और दर्शनके गूढ़ तत्त्वोंके सम्बन्धमें प्रवचन किया करते थे।

पं० गोपीनाथ कविराजजीके साहित्यिक दरबारमें

केवल दो प्रकारके ही व्यक्ति उपस्थित होते थे—१-शोधार्थी छात्र और २-जिज्ञासु विद्वान्। विभिन्न विश्वविद्यालयोंके विभिन्न विषयोंके अनुसन्धानमें संलग्न शोधार्थी छात्र अपने विषयकी रूपरेखा तथा उस विषयसे सम्बन्धित साहित्यके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेके लिये कविराजजीकी शरणमें आया करते थे। ये बड़े प्रेमसे उनके शोधसे सम्बद्ध आवश्यक ग्रन्थोंके विषयमें उन्हें बतलाते थे और अमुक पद्धति या प्रकारसे शोध करनेका आदेश देते थे। इन शोधार्थी छात्रोंके अनुसन्धानके विषय भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व और मुद्राशास्त्रसे लेकर भारतीय धर्म, दर्शन, तान्त्रिक साधना-जैसे गूढ़ विषयतक हुआ करते थे। कविराजजी सभी छात्रोंको शोधके लिये प्रभूत ज्ञान प्रदानकर उन्हें सन्तुष्ट करते थे।

दूसरे वर्गके लोग जिज्ञासु विद्वान् थे, जो अपनी जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये कविराजजीके पास आते थे। ये इन पण्डितोंकी शंकाका समाधान इस रीतिसे करते थे कि उन्हें पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता था। अनेक विद्वानोंने अपने संस्मरणोंमें कविराजजी-सम्बन्धी इस विषयकी चर्चा की है। कविराजजीके यहाँ जिस प्रकार संस्कृतकी प्राचीन परम्पराके पण्डितोंका जमघट लगा रहता था, उससे कहीं अधिक अंग्रेजी शिक्षामें दीक्षित संस्कृत तथा दर्शनशास्त्रके प्रोफेसरोंकी भीड़ लगी रहती थी। सरस्वतीका यह वरद पुत्र प्राचीन तथा नवीन सभी विद्वानोंकी जिज्ञासाको अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचनसे शान्त करता था और उनकी शास्त्र-सम्बन्धी शंकाओंका समाधान सन्तोषजनक रीतिसे सम्पादित करता था।

दैनिक कार्यक्रम—कविराजजीका दैनिक कार्यक्रम अत्यन्त सन्तुलित तथा नियमित था। गीतामें लिखा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

पं० गोपीनाथजीका आहार, विहार, स्वप्न और जागरण सभी युक्त तथा नियमित था। ये सदा पाँच बजे प्रातःकाल उठते थे। नित्यकर्मसे निवृत्त होकर पूजापर बैठ जाते थे। इसमें एक घण्टा समय लगता था। फिर मिलनेवालोंका ताँता प्रातः ९ बजेसे लग जाता था। उनके साथ ग्यारह या बारह बजेतक सत्संग और उपदेश चलता था। इसी बीच यदि इन्हें समय मिल गया तो जलपान कर लेते थे, परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता था कि ये प्रवचनमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि जलपानकी सुध-बुध भी नहीं रहती थी। ये अपराह्नमें एक बजेके आस-पास भोजन करते थे। ये दिनमें विश्राम नहीं करते थे। भोजनके शीघ्र ही पश्चात् ये अपने आसनपर पुनः विराजमान हो जाते थे। जिज्ञासुओंका आगमन पुनः होने लगता था। प्रवचनका कार्य पुनः प्रारम्भ होकर सन्ध्याको पाँच बजेतक चलता था। एक घण्टेमें नित्यक्रिया समाप्तकर ८ बजे राततक पूजा-पाठमें बिताते थे। यदि इस समय घनिष्ठ व्यक्ति आता तो उससे बातें करते, अथवा उपदेश देते थे। १० बजे रातके आस-पास भोजन करते थे। इसके पश्चात् अपनी तान्त्रिक साधनामें प्रवृत्त हो जाते थे। यह साधना कबतक चलती थी इसका पता नहीं। ये कब सोते तथा कब जागते हैं—इसका पता इनके आस-पास रहनेवाले आश्रमवासियोंको भी नहीं लगता था।

कविराजजीके उपदेश—कविराजजीके उपदेश नाना प्रकारके गम्भीर तथ्योंका विवेचन करते हैं। उनको धारणकर तदनुसार जीवनयापन करनेका प्रयासकर साधक निःसन्देह लाभ उठा सकता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं। कतिपय उपदेशप्रद वचन यहाँ निर्दिष्ट किये जाते हैं—

जीवनमें प्रतिकूलता होनेपर उसे भी भगवत्-कृपा मानना चाहिये। प्रत्येक स्थितिमें भगवान्‌की इच्छाको ही प्रधानता देनी चाहिये, वही कल्याणकर होती है। इस तथ्यके विरुद्ध तर्क करनेपर वे आवेशमें आकर कहते थे—'तोमार इच्छेइ इच्छा भगवानेर इच्छा इच्छेइ नाइ' (तुम्हारी इच्छा ही इच्छा है, भगवान्‌की इच्छा इच्छा ही नहीं है)। 'तुमी डिक्टेट करबो, तब से शुनबे' (तुम आदेश दोगे, तभी वह सुनेगा)। 'Proposal तोमार किंतु Disposal तार' (प्रस्ताव तुम्हारा किंतु निर्णय उसका)।

अखण्डमहायोगके विषयमें उसके तत्त्वको वे इन शब्दोंमें रखते थे—'समन्वय-दृष्टिके बिना जगत्‌का कल्याण नहीं। साम्प्रदायिक दृष्टि खण्डदृष्टि है। साधकके संस्कार

अथवा रुचिके अनुसार साधनामें राम, कृष्ण, शिव तथा शक्तिकी उपासनामें दृष्टिभेद होना स्वाभाविक है, किंतु भावदृष्टि इन सारे दृष्टिभेदोंको समाप्त कर देती है। वही पूर्ण या समष्टि दृष्टि है। अखण्डमहायोगका यही लक्ष्य है। समष्टि-परिवर्तन इसीके द्वारा सम्भव है।'

नाम-जपकी प्रक्रिया—नामका अर्थ है भीतरी स्वरूपशक्ति। नाम लेनेमें प्राण, इच्छा और वाक्—तीनोंकी समष्टि होती है। इनके ठीक मिलनका यदि प्रयास हो, तो भीतरसे ही नाम-ध्वनि निकलने लगती है—बिना जप किये ही जप होने लगता है, यही अजपाजप है। साधकोंको अधिक बोलना ठीक नहीं होता। बोलनेसे भीतरी शक्ति बाहर जाकर बिखर जाती है। उसे भीतर-ही-भीतर संचित रखनेकी आवश्यकता होती है। 'सब भीतर राखते हय, किछू बोल्लई ओटा कालेर प्रवाहे पोड़े जा' (सब कुछ भीतर रखना चाहिये। यदि कुछ कहो, तो वह कालके प्रवाहमें पड़ जाता है)।

समग्र विश्व ही कालके अधीन है। महाकाल धीवरके समान है, जिसने समग्र विश्वमें अपना जाल फेंक रखा है। मछलियोंका आश्रय अगाध जल है, उनमेंसे जिसको वह चाहता है खींच लेता है। महाशक्तिशाली कालके ऊपर किसीका वश नहीं—

अगाध जले मीनेर आश्रय जले जाल फेलेछे भुवनमय।
से जखन जाके मने करे तखन तारे धोरे आने॥

इसीलिये श्रीमद्भागवतमें प्राणियोंके जीनेकी आशाको सद्यः छिन्न-भिन्न करनेवाले कालको भगवद्रूप मानकर उनकी स्तुति की गयी है—

यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै॥

जपयोग—वाचिक जपसे उपांशु जप श्रेष्ठ है और उपांशु जपसे मानस जप श्रेष्ठ होता है—यह शास्त्रमें प्रसिद्ध है। वाचिक जपमें बाह्य वायुके साथ सम्बन्ध अधिक रहता है, परंतु उपांशु जपमें यह सम्बन्ध प्रायः छिन्न हो जाता है, फिर भी कुछ रहता है। यथार्थ मानस जपमें बाह्य वायुका सम्बन्ध एक प्रकारसे नहीं रहता। बाह्य वायुके प्रभावसे ही चित्त विक्षिप्त हो जाता है। वाचिक जपमें श्वास-प्रश्वासकी क्रिया स्वाभाविक रूपसे चलती है, परंतु ठीक भावसे जप होनेपर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया मन्द पड़ जाती है। श्वासका गतिह्रास होनेके साथ-ही-साथ वाचिक जप उपांशु जपमें परिणत हो जाता है। श्वास-प्रश्वासकी गति एकान्तरूपसे क्षीण होनेपर बिना चेष्टाके ही उपांशु जप मानस जपमें परिणत हो जाता है। यह मानस जप इसीलिये सर्वोत्तम माना गया है।

कविराजजीकी सबसे बड़ी विशिष्टता थी—तुलनात्मक अनुशीलनके द्वारा धर्म तथा दर्शनके निगूढ़ रहस्योंका सुबोध अभिव्यक्तीकरण। ये प्रत्येक धर्मके अन्तस्तलमें प्रवेशकर उसके मर्म समझने तथा समझानेकी विलक्षण शक्ति रखते थे। जब ये ईसाई मतके गम्भीर तत्त्वोंकी वैदिक धर्मके तत्त्वोंसे तुलनाकर व्याख्या करने लगते थे, तब हमको पूरा विश्वास जागरित हो जाता था कि ऐसी व्याख्या शायद ही कोई पादरी कर सके। जैन तथा बौद्ध धर्मकी व्याख्याके अवसरपर भी यही भावना जागरूक होती थी। तथ्य यह है कि कविराजजीकी दृष्टिमें ये नाना धर्म देश तथा कालकी परिधिद्वारा विभक्त तथा पृथक् होनेपर भी एक ही मूल तथ्यसे प्रत्यक्षीकृत एक ही धर्म हैं, परंतु उसकी अभिव्यक्तिके प्रकार नाना हैं। सूक्ष्मतासे विचार करनेपर इनके बाह्य आवरणको हटाकर भीतर देखनेवालोंके लिये वही मूल तत्त्व प्रद्योतित होता है। कविराजजीकी व्याख्याएँ गम्भीर अवश्य होती थीं, परंतु उनका प्रतिपादन ये इतनी सुबोध शैलीमें करते थे कि सुननेवालोंको वे तत्त्व अनायास हृदयंगम हो जाते थे। निगूढ़ रहस्य इनकी व्याख्याके अनन्तर अपनी गम्भीरता खो डालता था और वह एक परिचित तथ्यके समान विज्ञ श्रोताओंकी दृष्टिमें आ जाता था।

निष्कर्ष यह है कि शास्त्रकी प्राचीन परम्पराओं, साधनाके कठिन मार्ग और आध्यात्मिकताके समुन्नत स्तरको जागरूक रखनेमें पण्डित गोपीनाथ कविराजजी एक दिव्य विभूति थे। प्राचीन महर्षियोंके ज्ञान-वैराग्यमय जीवनकी दिव्य झाँकी कविराजजीके जीवनमें दिखायी देती थी। (ब०उ०)

पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराजकी कृष्णप्रेममयी चर्या

(श्रीधर्मेन्द्रजी गोयल)

गोवर्धनवाले परम विरक्त सन्त परम पूज्य पं० श्रीगयाप्रसादजीका नाम समस्त सन्त एवं भक्तसमाजमें बड़े ही गौरव तथा सम्मानके साथ लिया जाता है। आपने श्रीगिरिराजजीकी पावन तलहटीमें अपने उपास्य भगवान् श्रीबालकृष्ण तथा अपने सद्गुरुदेव स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजकी पूजा-उपासना करते हुए पूरे पचपन साल निरन्तर वास किया था। आप जीवनभर यश एवं प्रसिद्धिसे कोसों दूर रहे। आपने कभी अपना फोटो एवं उपदेश प्रकाशित नहीं होने दिया। आप साधकोंको मान-सम्मान, कंचन एवं कामिनीसे बचनेका उपदेश दिया करते थे। आप सभी ब्रजवासियोंसे प्रेम करते थे। ब्रजवासी भी आपका बहुत सम्मान करते थे।

परम पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज, श्रीहरिबाबाजी महाराज, बाबा श्रीप्रियाशरणदासजी, भागवताचार्य श्रीडोंगरेजी महाराज-जैसी आध्यात्मिक विभूतियाँ आपका सत्संगकर परम गौरव-आनन्दका अनुभव करती थीं।

परम पूज्य पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराजका जन्म मिश्रवंशमें संवत् १९५० कार्तिक शुक्ल षष्ठी (१५ नवम्बर, १८९३ ई०)-को ग्राम कल्याणीपुर, तहसील खागा, जिला फतेहपुर (उ० प्र०)-में हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका नाम पं० श्रीरामाधीनजी मिश्र और पूज्या माताजीका नाम श्रीमती कौसल्या देवी था। आपके पिताजी बहुत ही सीधे एवं धार्मिक व्यक्ति थे।

पूज्य पण्डितजीका जन्म श्रीचित्रकूटधामके श्रीसिद्धबाबाजीके आशीर्वादसे हुआ था। आपके हृदयमें जन्मसे ही धार्मिक एवं भक्तिके संस्कार थे। अन्य बालकोंकी भाँति आप कभी गेंद और गिल्ली-डंडेसे नहीं खेले। आपने स्वयं एक बार अपने श्रीमुखसे बतलाया—'एक बार चार वर्षकी आयुमें मैं अपनी बड़ी बहनके साथ खेतपर गयौ। वहाँ सौं अपनी झोरियामें छोटे-छोटे कंकड़ बीनिकैं धरि लायौ। घरमें आयकैं अकैलौ बैठ्यौ-बैठ्यो राम एक, राम दो, राम तीन, राम चार मुख सौं बोलि-बोलिकैं कंकड़न कूँ एक ओर सौं दूसरी ओर धरि-धरिकैं खेलिवे लग्यौ। बहुत देरतक अकेलौ-अकेलौ ऐसैं ही खेलतौ रह्यौ। यही मेरे बचपनकी प्रथम और अन्तिम बालक्रीड़ा रही, जो श्रीराम-नामके साथ ही आरम्भ और पूर्ण भई।'

आपने फतेहपुर जिलेके श्रीयमुनाकिनारे स्थित एकडला नामक ग्राममें परम भागवत आचार्य श्रीगौरीदत्त त्रिपाठीकी पाठशालामें शिक्षा प्राप्त की। आपकी गम्भीर वृत्तिके कारण श्रीगौरीदत्तजी आपसे बहुत स्नेह करते थे। अपनी लगन और श्रद्धाके फलस्वरूप आपने सारस्वतचन्द्रिकाकी पढ़ाई मात्र डेढ़ वर्षमें पूरी कर ली।

आचार्य श्रीगौरीदत्तजीकी पाठशालामें शिक्षा पूर्ण करनेके बाद पूज्य पण्डितजी हाथरस आकर रहने लगे थे। एक बार श्रीगौरीदत्तजीको श्रीमद्भागवतकी कथा सुनानेके लिये एक ही तिथिके दो निमन्त्रण प्राप्त हुए। आपने पूज्य पण्डितजीके पास सन्देश भेजा कि एक जगहपर कथा सुनानेका कार्य तुम करो। गुरुजीका सन्देश प्राप्त होनेपर पूज्य पण्डितजी बहुत प्रसन्न हुए कि पूज्य गुरुदेवने मुझे इस योग्य समझा। आपने श्रीमद्भागवतकी बहुत सुन्दर कथा कही। जो भेंट और दक्षिणा प्राप्त हुई, उसे श्रीगुरुदेवके श्रीचरणोंमें समर्पित किया।

आपका शुभ विवाह पूज्य पण्डित श्रीछोटू त्रिपाठीजीकी गुणवती कन्या पूज्या भगवतीके साथ सत्रह-अठारह वर्षकी आयुमें हुआ था।

हाथरसमें निवास करनेसे पूर्व ही आप गीताप्रेससे प्रकाशित कल्याण पत्रिका पढ़ा करते थे। उसमें प्रकाशित श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश पढ़कर आपने इनको मन-ही-मन अपना सद्गुरु स्वीकार कर लिया।

संवत् १९९० में श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज हाथरस पधारे। पूज्य श्रीपण्डितजी पता लगते ही उनके दर्शनोंके लिये गये। आपके दर्शनसे पूज्य पण्डितजीको परम सुख एवं आनन्दका अनुभव हुआ। इसके बाद तो कर्णवास, वृन्दावन, रामघाट जहाँ कहीं भी श्रीउड़िया बाबाजीका शुभ आगमन होता, पूज्य पण्डितजी अपने सखा पूज्य पण्डित श्रीजनार्दन चतुर्वेदीजीके साथ जाकर पूज्य बाबाके दर्शन एवं सत्संगका लाभ उठाते।

एक बार हाथरसमें एक माई सिरपर टोकरीमें गोबर भरकर परिक्रमामार्गपर जा रही थी, उसके पीछे-पीछे तीन-चार वर्षका बच्चा रोता हुआ भाग रहा था। तभी बच्चा गुस्सेमें रजमें लोटने लगा और जोर-जोरसे रोने लगा। यह दृश्य देखकर पूज्य पण्डितजीको भगवान् श्रीकृष्णकी बाल-लीलाका स्मरण हो आया और आपकी भावसमाधि लग गयी। घंटोंतक आप एक जगह निश्चल बैठे रहे, नेत्रोंसे अश्रुपात होता रहा।

अब पूज्य पण्डितजीके हृदयमें तीव्र वैराग्य जाग्रत् हो गया और परमात्म-प्राप्तिकी इच्छासे श्रीगिरिराजधाममें वास करनेकी लालसा जाग उठी।

एक बार आप संवत् १९९६ की श्रावण मासकी शुक्ला एकादशीको दण्डवती परिक्रमाके विचारसे अपनी एकमात्र नौ वर्षीया पुत्री शान्तिके साथ श्रीदेवदत्तजी ब्रह्मचारी एवं श्रीप्रेमचन्दजीके साथ श्रीगोवर्धनधाम पधारे। श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिरकी छतपर खड़े होकर आप श्रीगिरिराजजीकी दिव्य छटाका अवलोकन कर रहे थे कि श्रीगिरिराजजीने आपको मन्दिरकी छतपर ही दर्शन दिये, आपने इसे गृहत्यागका संकेत माना। तबसे आप सदा-सदाके लिये श्रीगिरिराजधामके वासी हो गये। आपने अपनी पुत्री शान्तिको श्रीदेवदत्तजी ब्रह्मचारी एवं श्रीप्रेमचन्दजीके पास हाथरस भेज दिया। उस समय आपके एकमात्र पुत्रकी आयु केवल चौदह वर्ष थी।

आपने श्रीगिरिराजधाममें पूर्ण संयमित साधनामय जीवन व्यतीत किया। आप नित्यप्रति श्रीगिरिराजजीकी दण्डवती परिक्रमा लगाते, महामन्त्र (हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे)-का जप करते और श्रीमद्भागवतजी एवं श्रीरामायणजीका पाठ करते थे। केवल व्रजभाषामें ही बोलनेका आपने नियम लिया हुआ था।

प्रथम छः वर्ष आपने श्रीराधाकुण्ड-परिक्रमामार्गपर स्थित श्रीमिर्चीलालजी महाराजकी बगीचेमें निवास किया। यहींपर आपने श्रीमद्भागवतजीकी टीका भी लिखी।

एक बार जब पूज्य पण्डितजी महाराज दण्डवती परिक्रमा लगा रहे थे तो आपकी भेंट हाथरसनिवासी सेठ श्रीहीरालालजी वर्मनसे हो गयी। श्रीजतीपुरामें श्रीमुखारविन्दके सामने श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान्का मन्दिर आपके ही द्वारा बनवाया हुआ है। सेठजीने आपसे मन्दिरमें ही रहनेकी प्रार्थना की। पूज्य पण्डितजीने आपसे मना कर दिया। परंतु सेठजी भी प्रेमपूर्वक आपसे जिद करते रहे। अन्तमें पण्डितजी इसी शर्तपर तैयार हुए कि मेरा मन्दिर या मन्दिरके कार्यसे कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। इस प्रकार संवत् २००२ से संवत् २०५१ तक यही पावनस्थल आपका निवास रहा।

श्रीगोवर्धनधामसे ही कई बार आप अपने सद्गुरुदेव परमहंस स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजीके दर्शनार्थ पैदल ही कर्णवास, हाथरस और वृन्दावन गये और दर्शनसे अपनेको कृतकृत्य समझा।

पूज्य पण्डितजी महाराज व्रजवासियोंसे बहुत स्नेह करते थे। आप व्रजवासी बालकोंमें अपने कनुआ (भगवान् श्रीबालकृष्ण)-को देखते थे। आपका मानना था कि ये गोपबालक भगवान् श्रीकृष्णके सखा हैं। आप मनमें यही भाव रखते थे कि जब पाँच-छः बालक खेल रहे हों तो उनमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अवश्य होते हैं।

आप नित्यप्रति श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिरमें नीमके वृक्षके नीचे पाँच-पाँच, सात-सात वर्षके व्रजवासी बालकोंसे श्रीमद्भागवतजीका पाठ कराया करते थे। आपकी सत्प्रेरणासे वे छोटे-छोटे बालक ऐसे शुद्ध रूपमें सस्वर पाठ करते थे कि सभी सुननेवाले चमत्कृत हो उठते थे।

कई बार पाठके समय दिव्य घटनाएँ भी घटित हुईं।

एक बार श्रीमद्भागवतजीका पाठ श्रवण करते समय पूज्य पण्डितजी बीचमें बोल पड़े—'देखो, यह बालक ऊधम करि रह्यो है। यह हमें पाठ नायँ सुनन दै रह्यो। यह कारौ-कारौ सौ कोन कौ छोरा है?' निकट बैठे भक्तोंने कहा कि 'हमें तो कोई दीखि नहीं रह्यौ। आपसौं ऊधम करिवे बारौ आपके कन्हैयाके अतिरिक्त और है सकै है? वोई होयगौ।' थोड़ी देर बाद पुनः पूज्य पण्डितजी बड़ी दीनता सौं अपने दोऊ कर-कमल जोरिकैं बोले—'भैया! हम तुम्हारे हाथ जोरैं। तुम यहाँ सौं जाऔ। हमारे पाठमें बाधा मति डारौ।'

एक बार आपने अपने कन्हैयाके खेलनेके लिये चबूतरेका निर्माण किया। आन्योर-परिक्रमामार्गपर रमणरेती आश्रमके सामने स्वयं अपने सिरपर रज ले जाकर डाला करते थे। चबूतरा पूर्ण होनेपर आप नित्यप्रति वहाँ जाकर सौहनी (बुहारी) सेवा किया करते थे। अपने हाथोंसे काँटे एवं कंकड़ बीना करते थे कि खेलते समय मेरे कन्हैयाको काँटा या कंकड़ न चुभ जाय।

सन् १९५९ ई०में श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार और पूज्य श्रीराधाबाबा श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिरमें आपके पास पधारे। अपने श्रद्धेय एवं प्रिय सन्तोंका दर्शनकर पूज्य पण्डितजी भावविभोर हो उठे। सन् १९८० ई०में प्रथम बार परम पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज आपसे भेंटहेतु पधारे। पूज्य स्वामीजी पूज्य पण्डितजीके श्रीमुखसे कृष्ण-लीला सुननेके उद्देश्यसे चुपचाप आकर नीमके वृक्षके नीचे विराजमान हो गये। उस समय पण्डितजी—श्रीअक्रूरजी जब श्रीकृष्ण-बलरामको मथुरा ले जानेके लिये आते हैं—उस लीलाका वर्णन कर रहे थे। इस दिव्य लीलाको सुनकर पूज्य स्वामीजीकी भावसमाधि लग गयी। आप काफी देरतक निश्चल पाषाणवत् बैठे रहे। बादमें पूज्य पण्डितजीने स्वामीजीका यथोचित सत्कार किया। इसके बाद तो कई बार स्वामीजीने श्रीलक्ष्मीनारायणमन्दिर आकर पूज्य पण्डितजीके सत्संगका लाभ उठाया।

परम पूज्य पण्डितजीके रूपमें अवतरित वह पावन ज्योति, जिसे सन्त और भक्त अपना गौरव एवं आदर्श माना करते थे—संवत् २०५१, भादौ कृष्ण चतुर्थी (२५ अगस्त सन् १९९४ ई०)-को अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्णके लीलाधाममें प्रवेश पा गयी।

कलक्टर जॉनमार्शकी आदर्श जीवन-शैली

(डॉ० श्रीउदयनाथजी झा 'अशोक', साहित्यरत्न, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

'यदि मार्श साहब-जैसे गुणवान् व्यक्ति चाहे वे अंग्रेज ही हों, हमारे भारतमें हों तो हमें स्वराज्य लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं'—ये उद्‌गार हैं, महामना पं० मदनमोहन मालवीयजीके, जो तत्कालीन मेरठके कलक्टर मि. जॉनमार्शके प्रसंगमें उन्होंने व्यक्त किये थे।

जॉनमार्शका प्रारम्भिक जीवन बहुत सोचनीय रहा, इन्हें बचपनमें ही छोड़कर इनकी माँ ईश्वरको प्यारी हो गयी थीं, पिता भी अधिक दिनोंतक संरक्षण नहीं दे सके तो इस अनाथ और अबोध बालकको वहींकी एक दयालु जाटनीने पाला-पोसा। उन्हें भी कोई संतान न थी और मार्श भी माता-पितासे विहीन थे। कुछ दिनोंके बाद यह पता भी चलना कठिन हो गया कि बुढ़िया मार्शकी माँ है या नहीं। अहर्निश हिन्दुओंके साथ रहनेके कारण और दयालु जाटनी माँके प्यारके कारण उनके अन्तःकरणमें हिन्दूधर्मकी छाप पड़ गयी। वे भगवान् राम और कृष्णके अनन्य उपासक हो गये। हिन्दू देवी-देवता उनके आराध्य बन गये; शिवाजी, महाराणा प्रताप उनके आदर्श थे। श्रवणकुमारकी कथा सुन-सुनकर सजलनेत्र मार्शकी श्रद्धा और आस्था बढ़ती चली गयी।

मार्श श्रीरामचरितमानसके अनन्य भक्त तो थे ही, श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके प्रति भी श्रद्धालु थे। ईसाई होते हुए भी उन्हें ये दोनों धार्मिक ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। वे अपनी सत्यवादिता और न्यायप्रियताके कारण दूर-दूरतक ख्यात थे। बचपनमें ही मार्श हिन्दी-अंग्रेजीके साथ-साथ संस्कृतके भी पण्डित हो गये। वे निरभिमानी, सरलप्रकृति, हँसमुख और मिलनसार थे। सही ही कहा गया है—***'होनहार बिरवानके होत चीकने पात।'*** आप नित्य गीता और रामायणका पाठ तो करते ही थे और ईसाई होते हुए भी

मछली, मांस, अण्डा आदि आमिष पदार्थोंसे कोसों दूर थे। इनकी हिन्दूधर्ममें इतनी निष्ठा थी कि कई हिन्दू भी लज्जित हो जाते थे, मन-ही-मन श्रद्धावनत हो जाते थे।

मार्श मेरठके जिला-कलक्टर भी हो गये, तो भी जाटनी माँका वे बहुत आदर करते थे। यदि माँ आफिस भी आ जाती तो मार्श उठ खड़े होते थे। माँको कुर्सीपर बैठाकर घण्टों बातें करते और अपने तन-मन-धनसे माँकी सेवा करते। रिश्वत ले-देकर जो काम करते या कराते थे, ऐसे लोगोंसे मार्शको घृणा थी। एक बार एक सज्जन गलत काम करवानेके लिये मार्शके पास आये, उन सज्जनने इन्हें एक लाख रुपयोंका थैला देकर अपने कामके लिये ज्यों ही बताया, मार्शने तुरंत पुलिस बुलवाकर उन्हें गिरफ्तारकर जेलमें डलवा दिया। साथ ही उन रुपयोंको अपने जिलेके दीन-दु:खियोंमें बाँट दिया। इसके विपरीत वे सत्यवादीका आदर भी खूब करते थे और उन्हें नियमानुसार उचित सुविधा भी प्रदान करते थे। घरके बिस्तरसे लेकर न्यायकी कुर्सीतक वे एक ही जैसे थे। मानस और गीता उनके रोम-रोममें भरे थे। इसी कारण वे कभी न्याय करते समय किसी अनुचित दबावमें नहीं आये। श्लोक और चौपाइयोंपर उनका इतना अधिकार था कि वे यथावसर उसका उद्धरण भी खूब देते थे—

[१]

एक बार एक पटवारीपर मुकदमा चल रहा था, पटवारी दोषी ठहरा, अब उसे दण्ड भी मिलने ही वाला था। उस पटवारीको मार्शके बारेमें सबकुछ पता था, अत: उसने अपनी विनती मानसकी चौपाईमें ही सुनायी—*'दीन दयाल बिरदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥'* मार्श कम थोड़े थे, उन्होंने भी उसी लहजेमें तपाकसे जवाब दे डाला—*'जौं नहि दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥'* ऐसे थे मार्श साहब।

[२]

एक समय एक असहाय विधवा इनके पास आकर रोने लगी। मार्शके पूछनेपर बुढ़ियाने बताया कि मेरे बागको पटवारीसे मिलकर एक जमींदार हड़पना चाहता है, मेरे पास पैसे नहीं कि मुकदमा करूँ, अब आप ही हमारी मदद कर सकते हैं। मार्शने उसे सान्त्वना देकर विदा किया और खुद रातमें कुछ लोगोंको साथ लेकर बुढ़ियाके बागमें आ गये। अपनेको एक पेड़में रस्सीसे बँधवा लिया और इसकी खबर पूरे गाँवमें दे दी कि कलक्टर साहबको किसीने रस्सीसे बाँध दिया है। सब लोग इकट्ठा हो गये, मार्श लोगोंको सम्बोधितकर उनके प्रश्नों और जिज्ञासाओंका जवाब देने लगे कि बागके मालिकने मुझे बाँधा है। डरके मारे हलचल मच गयी, बुढ़िया भी घबरा गयी, आखिर कलक्टर तो उस मालिकको छोड़ेंगे नहीं। पटवारीसे पूछ-ताछ हुई तो उसने एक जमींदारका नाम लिया कि बाग उन्हींका है, जमींदार आया और थर-थर काँपते हुए बोला—नहीं, यह बाग मेरा नहीं; मैंने इन्हें नहीं बाँधा है। बाग इस बुढ़ियाका है, कलक्टर साहबके कहनेपर पटवारीने सबकुछ ठीक-ठीक बताकर अपनी कुटिलता स्वीकार कर ली, फिर बुढ़िया भी प्रसन्न और मार्श भी चलते बने।

[३]

एक बार एक बुढ़िया लौकी बेच रही थी, वह कलक्टर साहबके बँगलेसे गुजर रही थी कि वहाँ खड़े एक चपरासीने उससे एक लौकी ले ली और बिना पैसे दिये विदा कर दिया। वह बुढ़िया भी क्या करती, रोती-बिलखती, गाली देती जा रही थी कि सामनेसे आयी कार उसके बगलमें रुक गयी। जब साहबने उससे रोनेका कारण पूछा तो बुढ़ियाने भी सारी बातें बता दीं, फिर क्या था, साहबने सौ रुपये दिये और आगे बढ़ गये। इधर बुढ़िया प्रसन्न। ये साहब और कोई नहीं कलक्टर मार्श ही थे। वे प्राय: अपने मनकी शान्तिके लिये यह चौपाई दोहराते रहते थे—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥'*

[४]

रविवारका दिन उन्होंने आम जनताके लिये छोड़ रखा था, उस दिन लोग आकर अपने सुख-दु:खसे उन्हें अवगत कराते थे। इनकी उदारता, न्यायप्रियता और सत्यवादिताकी ख्याति इतनी फैल गयी कि एक दिन कुछ विधवाएँ साहबसे मिलनेके लिये परदा किये आयीं। मार्शने

परीक्षाकी दृष्टिसे परदा हटानेका अनुरोध किया तो कुछ महिलाओंने तुरंत परदा उठा लिया, किंतु कुछ अब भी परदा किये सिर झुकाये बैठी थीं। कलक्टर साहबने, जो अब कमिशनर हो गये थे, परदेवाली महिलाओंको ५१-५१ रुपयोंकी मदद की, जबकि परदा हटा लेनेवाली विधवाओंको केवल २१-२१ रुपये ही दिये।

उनके जीवनके हर कर्मसे भारतीय संस्कृतिकी झलक मिलती थी, वे कहनेके लिये तो ईसाई थे, पर क्रियासे वे सच्चे हिन्दू थे, एक भारतीय थे; जिनपर कोई समाज और कोई राष्ट्र गौरव कर सकता है।

आदर्श शिक्षककी जीवनचर्या

(डॉ० श्रीकन्हैयालालजी शर्मा)

'गुरु' और 'शिक्षक'—ये दो शब्द लगभग समानार्थी ही हैं। परंतु गुरु शब्दमें जितनी गरिमा, भावात्मकता एवं हार्दिक उद्रेकताका समावेश परिलक्षित होता है, वह शिक्षक शब्दमें अपेक्षाकृत कुछ न्यून हो जाता है। इस न्यूनताके लिये अवान्तर कारण कितने भी गिनाये जा सकें, मूल कारण एक ही है कि वैदिक कालका गुरु त्याग एवं तपस्यासे मण्डित ज्ञानकी साकार मूर्ति था और आधुनिक शिक्षक प्रायः भौतिकवादसे ग्रस्त होकर एक व्यावसायिकका रूप धारण करता जा रहा है, फलतः गुरु-शिष्य-परम्परामें अनेकानेक विकृतियाँ उत्पन्न होती जा रही हैं। यहाँतक कि शिक्षककी जीवनचर्या ही विकृत-अवस्थाको प्राप्त करती जा रही है, ऐसी परिस्थितिमें शिक्षककी जीवनचर्याको व्यवस्थित करके ही स्वयं शिक्षक और समाज दोनोंके कायाकल्पकी सम्भावना की जा सकती है।

यद्यपि आजका 'शिक्षक' वैदिककालीन 'गुरु' की भाँति जीवन व्यतीत नहीं कर सकता; क्योंकि शिक्षण-पद्धतियों तथा शिक्षाके अभिकरणों एवं शिक्षा-संस्थाओंके आश्रयदाताओंकी मानसिकतामें मूलभूत परिवर्तन आ चुका है, शिक्षक कहीं राज्याश्रित है तो कहीं समाज-सेवी संस्थाओंद्वारा नियन्त्रित है, दोनों स्थितियोंमें नौकरशाहीसे ग्रस्त है।

अतः शिक्षककी जीवनचर्याको निर्धारित करनेहेतु उसके जीवनकालका विभाजन दो श्रेणियोंमें करके पृथक्-पृथक् कालहेतु पृथक्-पृथक् रूपसे ही उसकी जीवनचर्याका निर्धारण करना अधिक समीचीन होगा।

(अ) दैनिक जीवनचर्या।

(ब) सेवानिवृत्तिके उपरान्त जीवनचर्या।

(अ) दैनिक जीवनचर्या—अन्य सामान्य जनोंकी अपेक्षा शिक्षकका दायित्व कुछ अधिक ही होता है। अतः उसे सूर्योदयसे दो घण्टे पूर्व ही शय्याका त्याग कर देना चाहिये। एक घण्टेमें अपने नैत्यिक कर्मों (शौच-स्नान-ध्यान)-से निवृत्त होकर कम-से-कम एक या दो घण्टेका समय स्वाध्यायके लिये अवश्य निश्चित करना चाहिये। इस कालका प्रयोग वह स्वतन्त्र लेखन तथा अपने पाठ्य-विषयकी तैयारीके लिये भी कर सकता है।

तत्पश्चात् अपने गृहस्थीके दायित्वोंका निर्वहन करते हुए उसे निर्धारित समयसे पूर्व ही विद्यालयमें उपस्थित होनेका पूर्ण प्रयास करना चाहिये। विद्यालयमें जो दायित्व उसे सौंपा जाय, उसका पूर्ण सत्य-निष्ठासे निर्वहन करना चाहिये। विद्यालयसे लौटकर सायंकालमें अपने सुविधानुसार एक या दो घण्टेका समय सामाजिक एवं धार्मिक गोष्ठियोंमें व्यतीत करना चाहिये। ये गोष्ठियाँ ज्ञानके आदान-प्रदानका सशक्त माध्यम होती हैं।

रात्रि-शयनसे पूर्व शिक्षकको डायरी-लेखनका कार्य अवश्य करना चाहिये, डायरी शिक्षकके लिये दर्पणका कार्य करती है, निर्धारित कार्यमें-से कितना भाग पूर्ण हुआ? कितना शेष रहा? अनुचित कार्य तो नहीं हुआ? आदि अनेक तथ्योंको पूर्ण ईमानदारीसे डायरीमें लिखे तथा आगामी दिवसके लिये कार्यक्रमका निर्धारण करे।

दैनिक जीवनचर्याके अन्तर्गत खान-पान, वेश-भूषा, आचार-विचार आदिपर भी ध्यान देना चाहिये, भोजन-व्यवस्था सात्त्विकी हो, जैसा कि बताया गया है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

(गीता १७।८)

अर्थात् आयु, बुद्धि-बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले (जिसका सार शरीरमें बहुत समयतक रहे) तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय लगनेवाले आहार सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।

वस्त्राभरणोंके अन्तर्गत शिक्षकको यथासम्भव श्वेत तथा उज्ज्वल वस्त्रोंका प्रयोग करना चाहिये। संस्थाद्वारा निर्धारित पोशाक हो तो उसे धारण करना चाहिये। सादे वस्त्रोंका ही प्रयोग करना चाहिये, महिला शिक्षिकाओंको अधिक भड़कीली एवं चुस्त पोशाक विशेष रूपसे वर्जित है। सामाजिक मान्यताप्राप्त एवं गरिमामयी पोशाक ही धारण करनी चाहिये।

अब प्रश्न आता है आचार-विचारका। यह आन्तरिक विषय है। शिक्षकको श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित दिव्य कर्मोंको अपने स्वभावमें ढालना चाहिये—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८।४२)

शम = अन्तःकरणका निग्रह
दम = इन्द्रियोंका दमन
तप = धर्मपालनके लिये कष्ट
शौच = आन्तरिक एवं बाह्य पवित्रता
क्षान्ति = सहनशीलता
आर्जव = सरल स्वभाव
ज्ञान-विज्ञान-आस्तिकता = वेद, शास्त्र और ईश्वरमें आस्था रखना।

अवकाशके दिनोंमें शिक्षकको अनौपचारिक रूपसे शिक्षाका आदान-प्रदान करना चाहिये, इन दिनोंमें शिक्षक स्वयं शिक्षार्थी बनकर अतिरिक्त ज्ञानका अर्जन करे। शैक्षणिक भ्रमण करे। प्रयोगात्मक रूपमें ज्ञान अर्जित करे। इस अर्जित ज्ञानसे शिक्षार्थियों एवं जिज्ञासु सामाजिकोंकी ज्ञान-पिपासा शान्त करे।

(ब) सेवा-निवृत्तिके उपरान्त जीवनचर्या— आधुनिक शिक्षण-व्यवस्थाके अन्तर्गत प्रायः ६० वर्ष या ६२ वर्षकी आयुपर शिक्षकको औपचारिक शिक्षासे निवृत्त कर दिया जाता है। इस समयतक प्रायः वह अधिकांश रूपसे अपने पारिवारिक दायित्वोंसे भी मुक्त हो चुका होता है। अतः इस अवस्थामें वह अपना पूरा समय अनौपचारिक शिक्षण-हेतु समर्पित कर सकता है।

इस कालमें वह अपनी परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए निम्नलिखित योजनाएँ बना सकता है—

(१) शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम रहनेपर भ्रमण करे, तीर्थयात्रा करे। इन आँखों-देखी यात्राओंको पुस्तकरूपमें जनसाधारणके समक्ष प्रस्तुत करे।

(२) आर्थिक रूपसे सम्पन्न होनेपर नवीन शिक्षण-संस्थाओंका सृजन करे अथवा जीर्ण-शीर्ण शिक्षण-संस्थाओंका पुनरुद्धार करे।

(३) सामाजिक प्रतिष्ठाप्राप्त शिक्षक अपनी प्रतिष्ठाका उपयोग शैक्षिक गतिविधियोंके लिये करे तथा सेवा-भावसे जिज्ञासु शिक्षार्थियोंको शिक्षा प्रदान करे।

(४) अपना स्वतन्त्र लेखन, चिन्तन, पठन, पाठन, जीवनके अन्तिम दिनतक निरन्तर जारी रखे।

(५) जीवनके अन्तिम क्षणोंमें ईश्वरसे अपनी भूलोंके प्रति क्षमा-याचना करे तथा प्रार्थना करे—'हे सर्वशक्तिमान्! यदि मुझे पुनर्जन्ममें मानव बनानेकी कृपा करें तो एक कर्तव्यपरायण शिक्षक बनानेकी महती कृपा अवश्य करें।'

दानशीलता

ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बटोरकर रखनेके लिये नहीं, प्रत्युत योग्य पात्रोंको देनेके लिये है। हमलोगोंको एक जगह पड़े तालाबके जलकी तरह न बनकर बहती नदी बनना चाहिये। इस प्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म आदि कभी घटते नहीं, उल्टे बढ़ते ही हैं। ऐसे मनुष्यको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है। ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारे द्वारा मनुष्यसेवा भी अधिक होनी चाहिये।—महात्मा जरथुस्त्र

विद्यार्थियोंकी आदर्श जीवनचर्या

[कुछ प्रेरक दृष्टान्त]

(डॉ० श्रीविश्वामित्रजी)

विद्याएँ दो हैं, एक 'अपरा' विद्या अर्थात् संसारी विद्या है और दूसरा 'परा' विद्या अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान है। पहली व्यक्तिकी पेट-पूजाके लिये आवश्यक है और दूसरी परमात्माकी पूजाके लिये अनिवार्य है। सफल जीवनके लिये इन दोनों विद्याओंका समन्वय अपरिहार्य है।

प्रत्येक प्राणीकी जन्मसे मरणतक एक ही मौलिक माँग है—हरेक सुख चाहता है। जीवका हर प्रयास इसीकी प्राप्तिके लिये है। यदि यह जान लिया जाय कि हमें कैसा सुख चाहिये तो आगेकी यात्रा बहुत सहज हो जायगी। हम चाहते हैं ऐसा सुख जो सबसे मिले, सब जगह मिले और हर समय मिले। ऐसा सुख जो सर्वत्र मिले, सर्वदेश, सर्वकालमें मिले, प्रचुर मात्रामें मिले, बिना परिश्रम मिले तथा पराधीन न हो, ऐसे सुखको परम सुख कहा जाता है, शाश्वत-सुख (eternal happiness) कहा जाता है। इसी सुखकी प्राप्ति है प्रत्येक प्राणीके जीवनका लक्ष्य। हम पढ़ाई कर रहे हैं इसी सुखके लिये, कलको व्यापार या नौकरी करेंगे इसी सुखके लिये, विवाह होगा, सन्तान होगी, इसी सुखकी प्राप्तिके लिये इत्यादि। खोज इसी सुखकी है, परंतु मिल तो यह नहीं रहा है। तो भूल कहाँ है? अनश्वर सुखकी जगह नश्वर क्यों मिल रहा है? आजके जो विद्यार्थी हैं, वे ही कलके देशके नागरिक एवं कर्णधार होंगे। उन्हें अपने जीवन-लक्ष्यकी प्राप्ति हो सके, इसके लिये कतिपय दृष्टान्तों एवं महापुरुषोंके जीवनसे सम्बन्धित प्रेरक प्रसंगोंको प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें निहित शिक्षाओंको अपनी जीवनचर्यामें उतारकर वे अपने जीवनके शाश्वत लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हैं।

[१]

एक राजकन्या अपनी सखियोंके साथ जल-क्रीड़ाके लिये गयी है। सरोवरके किनारे राजकन्याने अपना अनमोल गलेका हार उतारकर रख दिया। सभी स्नानका सुख लेकर, जलसे बाहर निकल, अपने-अपने कपड़े पहन रही हैं। राजकन्याका नौलखा हार नहीं मिल रहा। किसी सहेलीकी शरारत नहीं, क्योंकि सभी सरोवरके भीतर थीं। इधर-उधर खोजनेपर भी न मिला। महल पहुँचकर राजाको सूचना दी गयी, नगरमें घोषणा हुई, जो ढूँढ़कर लौटायेगा, उसे एक लाख रुपये इनाम मिलेगा। खोज शुरू, लेकिन सभी असफल। एक लकड़हारा प्याससे व्याकुल हो पानी पीनेके लिये उसी सरोवरके किनारे गया। पानी पीते-पीते, उसे हार नीचे तलपर पड़ा दिखायी दिया। उसकी प्रसन्नताकी सीमा न रही, डुबकी लगायी, हार पकड़नेकी कोशिश की, परंतु हाथमें हार नहीं, कीचड़ आता है। बाहर निकला, जल निश्चल हुआ, पुनः हार दिखा, डुबकी लगायी, फिर हाथमें पंक। जाकर राजाको सूचना दी। विशेषज्ञ बुलवाये गये, उनके भी सभी प्रयास विफल। सब चकित एवं निराश। एक सन्तका आगमन हुआ, भीड़का कारण पूछा? समस्या सुनी—कुशाग्र बुद्धि थे, अविलम्ब समझ गये—हार ऊपर पेड़पर लटक रहा था, जिसे पंछी उठाकर अपने घोंसलेमें ले गया था, उसीका प्रतिबिम्ब जलमें दिखायी दे रहा था। छायाको कैसे पकड़ा जाय? अतः सबके हाथमें कीचड़। हम चाहते तो बिम्ब हैं—परम सुख और पकड़ रहे हैं प्रतिबिम्बको, नश्वर-सुख को, तो हाथ कीचड़ ही आता है अर्थात् दुःख या दुःखयुक्त सुख ही जीवनभर मिलता है। हमारी खोज ही त्रुटिपूर्ण है। उस सुखको पानेके लिये यात्रा शुरू करो। कैसे?

सदा स्मरणीय तथ्य याद रखे—प्रतिबिम्बसे वस्तु प्राप्त नहीं होती, अतः बिम्बको पकड़ो अर्थात् उसे पकड़ो, जहाँ सुख निवास करता है।

विषय-सुख या सांसारिक सुख उस परमानन्द परमसुखकी परछाई है। अतएव संसारसे कभी सुख नहीं मिलेगा। शान्ति, सुख और आनन्दरूपी हीरोंका हार जिसे हम संसारमें प्रतिबिम्बकी तरह पानेकी कोशिश कर रहे हैं और निराश होते हैं—कीचड़ अर्थात् दुःख बार-बार हाथ लगता है, उस सुख-शान्ति-आनन्दका स्रोत है परमात्मा

अर्थात् बिम्ब। इसीकी प्राप्ति है प्रत्येकके जीवनका लक्ष्य।

[२]

आचार्य विनोबा भावे एक आँखों-देखी घटना सुनाया करते, 'मैं रेल-यात्रा कर रहा था, डिब्बा खचाखच भरा था, एक स्टेशनसे एक वृद्ध भिखारी फटे-पुराने कपड़े, पिचका पेट, बिखरे बाल, धँसी हुई आँखें, लाचारीका ढाँचा शरीर उसी डिब्बेमें प्रविष्ट हुआ। यात्री उतर-चढ़ रहे थे। गाड़ी चल पड़ी। सभी अपनी-अपनी सीटोंपर बैठ गये। भिखारीने भजन गाना शुरू किया, आवाजमें अद्भुत माधुर्य, जादू! सभी यात्री चुप, भजनानन्दमें डूब गये। वृद्ध भजन गाता इधर-उधर आ-जा रहा था। भजनका अर्थ था—'परमात्माकी कृपाके बिना कुछ नहीं होता, वह न दे तो कोई कुछ पा नहीं सकता। वह दाताशिरोमणि देता ही देता है।' एक अमीर जमींदारने भिखारीसे पूछा—'दिनभर भजन गाकर कितना कमा लेते हो?' उत्तर मिला—'दो-चार आने मिल जाते हैं। रामेच्छासे जो मिल रहा है, ठीक है, उसीमें खुश हूँ।' 'यह लो एक रुपये कई दिन चलेगा, किंतु भजन नहीं, कोई फिल्मी गीत सुनाओ।' साधु नहीं माना, मैं भजन ही गाता हूँ। 'अच्छा १०० रुपये ले लो, शेष जीवन सुखसे निकलेगा, गाड़ीमें भजन गानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। अबतक क्या मिला भजन गा-गा कर? अब फिल्मी गीत गाया करो।' 'नहीं बाबूजी! क्षमा करें, कुछ रुपयोंके लिये मैं अपना लक्ष्य नहीं बदल सकता, सन्मार्गसे भटक नहीं सकता। कुछ मिले न मिले, मैं भजन ही गाऊँगा।'

एक भिखारी अपनी गरीबी-भूख मिटानेके लिये, बदन ढकनेके लिये प्रभुके मार्गसे हटना नहीं चाहता। कितने हैं ऐसे जिन्हें भौतिक सुख नहीं, अविनाशी सुख चाहिये? एक भिखारीने राम-पथ चुन रखा है, उसे इसीमें सन्तोष है, इस मार्गपर उसे आनन्द मिलता है। वह भिखारी नहीं सम्राट् है। विनोबाजी समझाते हैं—लक्ष्य तो है प्रभु-प्राप्ति, परंतु व्यक्ति सांसारिक सुखोंको ही लक्ष्य मान इसमें खोकर असली लक्ष्यको भूल जाता है, अतः भटकता रहता है, सदा दुःखी रहता है। बुद्धिमत्ता इसीमें, भलाई भी इसीमें कि हम लक्ष्यपर अडिग रहें। लक्ष्य निश्चित हो गया तो अब यात्रा शुरू करते हैं।

आज स्कूल-कॉलेजोंमें जो विद्या दी जा रही है, वह हमें रोटी-रोजी (आजीविका) कमानेयोग्य बनाती है। अतः यह विद्या बन्द नहीं करनी, पूरी तत्परतासे इसे पूरा करना है, पर साथ-ही-साथ परा-विद्याका मिश्रण भी हो, तभी जीवनमें पूर्णत्वकी प्राप्ति होगी। अन्यथा अधूरापन बना रहेगा।

[३]

एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक विदेशसे भारत पधारे। उन्होंने किसी भारतीय सन्तसे भेंटकी हार्दिक इच्छा प्रकट की। दर्शनार्थ प्रबन्ध किया गया। वैज्ञानिक महोदयने सन्तसे पूछा—'आधुनिक विज्ञानके बारेमें आपकी क्या राय है?' सन्तने कहा—'मेरी दृष्टिमें इसका कोई मूल्य नहीं।' वैज्ञानिक चकित एवं व्यथित, कहा—'जिस विज्ञानने मनुष्यको इतनी सुख-सुविधाएँ प्रदान कीं, उसे आप निरर्थक बता रहे हैं?' महात्माने कहा—'आपकी इस वर्णित उपलब्धिसे मैं सहमत हूँ, परंतु विज्ञानकी सबसे बड़ी हार है कि वह मानवको मानवकी भाँति जीना न सिखा सका, परस्पर प्रेम करना, दूसरोंके काम आना, उन्हें सुख बाँटना न सिखा सका। मानवमें मानवता प्रकट करनेकी योग्यता सांसारिक विद्याओंमें नहीं है, यह महान् कार्य परा-विद्या ही कर सकती है।' चूँकि हमें इन्सानकी भाँति, एक नेक इन्सानकी भाँति रहकर जीवन-यापनकी उत्कट इच्छा है, अतएव दोनों विद्याओंका समन्वय अति आवश्यक है। प्रायः कहते सुना जाता है, 'अमुक व्यक्ति डॉक्टर तो बहुत अच्छा है, पर इन्सान किसी कामका नहीं, चरित्रहीन है, क्रोधी है, लोभी है।' गुणवान् बनना तथा दुर्गुणहीन मनुष्य बनना परा-विद्या ही सिखाती है। मानवता अनमोल है।

[४]

डॉक्टर सी०वी० रमण एक सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक हुए हैं। इन्हें अपने कार्यमें सहायताहेतु एक युवा वैज्ञानिककी आवश्यकता थी। अनेक अभ्यर्थी साक्षात्कारके लिये पधारे, परंतु सभी अयोग्य घोषित किये गये। कोई पसन्द नहीं आया। सभी लोग तो

चले गये, पर एक अभ्यर्थी रमणजीको उनके ऑफिसके बाहर चक्कर लगाता दिखा, पूछा—'जब तुम reject कर दिये गये हो, तो व्यर्थमें आगे-पीछे क्यों घूम रहे हो?' युवकने कहा, 'सर! आप नाराज न हों। आने-जानेके लिये आपके ऑफिसकी ओरसे जो खर्चा दिया जाता है, गलतीसे मुझे अधिक दिया गया है, उसे लौटानेके लिये क्लर्कको ढूँढ़ रहा हूँ।' रमणजीने तुरन्त कहा—'You are selected' वैज्ञानिक क्षेत्रकी कमी तो मैं पढ़ाकर, सिखाकर पूरी कर दूँगा, परंतु गुणी, चरित्रवान् बनना तो मैं नहीं सिखा सकता। सांसारिक विद्या बेशक बहुत कुछ सिखा सकती है, पर इन्सान बनना नहीं सिखा सकती। यह परा-विद्या ही सिखायेगी। अतएव सार्थक, सम्पूर्ण जीवनके लिये इन दोनों विद्याओंका सम्मिश्रण हो। दोनोंमेंसे किसी एकका वरण न व्यावहारिक ही लगता है और न ही सही।

[५]

एक चित्रकार, चित्रकलामें अति कुशल, सजीव चित्र बनाता। एक बार उसने एक नन्हे बालकका चित्र बनाया। भोला-भाला मुख इतना आकर्षक कि लाखोंने खरीदकर अपने घरोंमें लगाया। गृहोंकी शोभा बन गया वह चित्र। चित्रकार अति प्रसन्न, सुविख्यात हो गया। जब वह वृद्ध हो गया तो सोचा, आज जीवनका अन्तिम चित्र किसी ऐसे दुष्ट, क्रूर, अपराधीका बनाऊँगा, जिसकी आकृतिसे उसकी क्रूरता इस प्रकार झलके कि उस रचनाको देख लोग कुकर्म-अपराध करना बन्द कर दें। ऐसे व्यक्तिकी खोजमें एक जेलमें गया। अनेक बन्दी, अपराधी देखे, एक पसन्द आ गया। उसके पास बैरकके बाहर बैठ उसका चित्र बनाना शुरू किया। अपराधीने पूछा—'मिस्टर! क्या कर रहे हो?' 'आपका चित्र बना रहा हूँ।' 'मुझमें ऐसा क्या है?' चित्रकारने मासूम बालकका चित्र दिखाते हुए कहा—'बन्धु! अनेक वर्ष पहले मैंने इसे बनाया था। लोगोंको बेहद पसन्द आया था, आज आपका बनाना चाहता हूँ।' चित्रको देखकर बन्दीकी आँखोंमें आँसू आ गये। चित्रकारने कहा—'लगता है चित्र देख आपको अपने पुत्रकी याद आ गयी। कृपया क्षमा करें, मैंने आपकी भावनाओंको आहत किया है।' 'नहीं चित्रकार! यह चित्र मेरे बच्चेका नहीं, मेरा है—अपने बचपन और वर्तमानको देख रोना निकल गया। कुसंस्कारों एवं कुसंगके कारण और सुसंस्कार न मिलनेके कारण दुष्प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर मैं एक क्रूर अपराधी बन गया। काश! मुझे कोई सन्मार्ग दिखानेवाला मिल जाता, जिसकी सत्संगतिसे मेरे सुसंस्कार उभर सकते, मैं भी ईश्वरोन्मुख हो सकता तथा उन महानतमसे युक्त होकर उनकी कृपाका, दया-करुणाका तथा उनके प्यारका पुण्य पात्र बन सकता, तो आज यह दुर्दशा न होती।' विद्यार्थियो! सत्संगतिका वरण करोगे तो कुसंगतिसे बचे रहोगे और जीवनमें दिव्यता आ जायगी। यही स्थान है जहाँ परा-विद्या सिखायी जाती है। यह हमें झुकना सिखायेगी, विनम्र बनना, अपने अभिमानको मारना सिखायेगी, हमें मानव बनना सिखायेगी, पशुताको मारेगी और मानवताको उभारेगी। सबसे प्रेम करना तथा अपने भीतरसे वैर-विरोध-घृणाका उन्मूलन करना सिखायेगी यह विद्या। दुर्गुणों-दोषों, दुर्बलताओंको दूरकर हमें सद्गुणों जैसे—सद्भावना, सहनशीलता, क्षमा, संयम आदिसे सम्पन्न करेगी यह विद्या। हमें यह नहीं सोचना कि अन्य न तो करते हैं, न कर ही पाये हैं तो हम क्यों करें? नहीं, और सुधरें न सुधरें, हमें अपना सुधार करना है। तब परमात्मा हमारा उद्धार करेगा। उद्धार उन्हींका, जो चलने—आगे बढ़नेका अभ्यास जारी रखेंगे।

[६]

एक बार एक राजाको गणित सीखनेकी इच्छा हुई। एक महान् गणितज्ञको आमन्त्रित किया गया। राजाने निवेदन किया—'पढ़ानेकी कृपा करें।' गणितज्ञने आग्रह स्वीकारकर शिक्षा प्रारम्भ की। काफी समय बाद भी गणित राजाकी समझमें नहीं आया। जैसे शिष्योंकी प्रायः सोच होती है, वैसे ही सोचा—गुरु कच्चे हैं, अतः पूछा—'श्रीमन्! क्या गणित सीखनेका सरल और सुविधापूर्ण उपाय नहीं है?' गम्भीर स्वरमें शिक्षकने कहा—'महाराज! आप राजा हैं, आपके लिये सुन्दर राजमार्गकी व्यवस्था है, आरामके लिये सुखद व्यवस्था है, परंतु विद्यार्थीके लिये विद्यार्जनका एक ही

मार्ग है—एकाग्रता और अभ्यास। इस मार्गपर ऐसे ही चलना पड़ेगा, हम दोनों मिलकर भी इसे आसान नहीं बना सकते।' बात समझमें आ गयी। कालान्तरमें राजा एकाग्र हो अभ्याससे एक श्रेष्ठ गणितज्ञ बने।

विद्यार्थियो! इस सर्वोत्तम उपलब्धिकी तैयारीमें लग जाओ। जीवनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवस्थासे गुजर रहे हैं आप। यौवन आते तथा ढलते समय पता भी नहीं लगेगा, तब प्रवेश होगा जीवनकी सर्वाधिक दर्दनाक अवस्था—वृद्धावस्थाका। जीवनरूपी इमारतकी नींव, चट्टान-जैसी पक्की तथा मजबूत हो, इसके लिये भरसक प्रयत्न तथा लगनकी जरूरत है। कैसे शुरू करें? विद्या-उपार्जनके लिये, स्वस्थ शरीर और मनके लिये, चरित्र-निर्माणके लिये, नैतिक जीवनके लिये अपनी समस्त ऊर्जाको लगा दो और परमेश्वरसे युक्त होकर, उनके समर्पित होकर बल, उत्साह, धैर्य एवं सामर्थ्य प्राप्त करके जीवन-युद्धमें एक महान् योद्धाकी तरह लड़नेको तैयार हो जाओ। फलतः शान्तिपूर्ण जीवन बीतेगा। अतः शरीर स्वस्थ रखें—यहींसे यात्राका शुभारम्भ हो।

[७]

एक युवक स्वामी विवेकानन्दके पास आया, बोला—'मैं आपसे गीता पढ़ना चाहता हूँ।' स्वामीजीने युवकको देखकर कहा—'छः माह रोज दो घण्टे फुटबाल खेलो, फिर आओ तब गीताजी पढ़ाऊँगा।' युवक चकित—भला, गीताजी और फुटबालका क्या सम्बन्ध? स्वामीजीने समझाया—'बेटा! भगवद्गीता वीरोंका शास्त्र है—एक सेनानीद्वारा एक महारथीको दिया दिव्य उपदेश है। अतः पहले शरीरका बल बढ़ाओ। शरीर स्वस्थ होगा तो समझ भी परिष्कृत होगी—गीताजी-जैसा कठिन विषय आसानीसे समझ सकोगे। जो शरीरको स्वस्थ नहीं रखता, सशक्त, सजग नहीं रख सकता अर्थात् जो शरीरको नहीं सम्भाल पाया, वह गीताजीके विचारोंको, अध्यात्मको कैसे सम्भाल सकेगा, जीवनमें कैसे उतार सकेगा? उसे पचानेके लिये स्वस्थ शरीर और स्वस्थ ही मन चाहिये।' विद्यार्थियो! स्वस्थ शरीरके लिये आवश्यक है—प्रातः जागना, हल्का व्यायाम, पौष्टिक भोजन, नियमित दिनचर्या तथा ब्रह्मचर्यका पालन। मनको स्वस्थ रखनेके लिये रोज गीताजी या रामायणजीका पाठ। इससे इस सर्वशक्तिमयी सत्तासे जुड़े रहेंगे। यही सन्मार्गपर अविचल तथा सन्तुलित रखेगी। इस समय सारी ऊर्जा विद्या-उपार्जनके लिये तथा चरित्र-निर्माणके लिये प्रयोग करें।

[८]

स्वामी विवेकानन्द पगड़ी, धोती पहने शिकागोकी सड़कसे गुजर रहे थे। उनकी वेश-भूषा अमेरिकावासियोंके लिये हँसी-मजाकका विषय थी। पीछे चलती महिलाने व्यंग्य किया, 'देखो! महाशयने कैसी अनोखी dress पहनी है।' स्वामीजी रुके, भद्र महिलासे बोले—'बहन! तुम्हारे देशमें कपड़े ही सज्जनताकी कसौटी हैं, पर जिस देशसे मैं आया हूँ, वहाँ सज्जनताकी पहचान कपड़ोंसे नहीं, व्यक्तिके चरित्रसे होती है।'

जबतक पढ़ाई खत्म नहीं होती, राजनीतिसे दूर रहें। अध्यापकों, वृद्धों अर्थात् घर-बाहरके बड़ोंको पूरा सम्मान दें, चरण छूकर उनके आशीर्वाद जरूर लें। याद रखें—स्कूल, कॉलेज एवं विश्वविद्यालयकी विद्या केवल पेट-पूजाके लिये योग्य बनाती है, अतः आवश्यक है; पर वास्तविक नहीं। क्यों? इससे सत्य नहीं जाना जा सकता अर्थात् मोक्ष, परम-सुख, परम-शान्ति प्रदान करनेमें यह असमर्थ है। परम-सुख, जो प्रत्येक मानवका लक्ष्य है, उसकी प्राप्तिकी तैयारी अभीसे, इसी आयुसे कर लेनी चाहिये। सूर्य उदय होते ही यात्री घरसे निकलेगा तो अँधेरा होनेसे पूर्व गन्तव्यतक पहुँच जायगा, परंतु जो चलेगा ही सूर्यास्तके समय, वह कहाँ पहुँच पायेगा? जीवनका सबसे खराब समय है वृद्धावस्था, उसमें कुछ भी न हो सकेगा। अतः खोज अभीसे आरम्भ हो।

प्रिय विद्यार्थियो! युवको एवं कलके गृहस्थो, इस परम-सुख, परमानन्द, अविनाशी सुखकी प्राप्तिके लिये निम्न साधनोंपर विचार करें—

१-शरीर स्वस्थ न हो—तबियत ठीक न हो तो पढ़ाईमें मन नहीं लगता। अस्वस्थ शरीर उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं कर सकता। अतः ऐसे नियमोंका पालन

करें, उपाय करें, जिनसे शरीर स्वस्थ रहे।

२-उपार्जित धन अपने लिये, अपनोंके लिये एवं दूसरोंकी सेवाके लिये हो। धन ईमानदारी एवं मेहनतसे कमाया गया हो। धनकी पवित्रता अनिवार्य है, इससे मनकी पवित्रतापर प्रभाव पड़ता है।

३-बुद्धि विवेक-युक्त हो अर्थात् बोध हो कि पाप क्या है, पुण्य क्या है? क्या करना है, क्या नहीं करना है?

४-सबसे प्रेम अर्थात् सबके प्रति सद्भावना हो तथा सबकी सेवा संसारको सेवास्थली समझकर करें।

—इन सब बातोंका बोध एवं अनुपालन तब सहज हो जाता है, जब व्यक्ति सत्संगके माध्यमसे परमात्मासे जुड़ जाय। जुड़नेका अर्थ है परमेश्वरद्वारा की गयी मेहरबानियोंके लिये, दी हुई वस्तुओं तथा सुख-सुविधाओंके लिये उनका सदा स्मरण करते रहना। कृतज्ञ बनना, कृतघ्न नहीं। उनका सतत स्मरण कृतज्ञता है और विस्मरण कृतघ्नता। स्मरण कराते रहनेका सुगमतम ढंग है—भगवन्नाम-जप।

यात्रापर जाते हैं तो टिकट खरीदते हैं, तब निश्चिन्त निर्भय तथा सुरक्षित बैठते हैं। टिकट न हो तो भयभीत एवं अपमानित होना पड़ेगा। परमात्मासे जुड़ना भी टिकट लेकर यात्रा करनेके समान ही है।

—इन शिक्षाओंको अपने जीवनमें उतारनेसे धीरे-धीरे व्यक्ति ईश्वरके प्रति समर्पित हो जाता है और परमेश्वर उसके जीवनका संचालक बन जाता है, तब समूचे जीवनका दिव्यीकरण हो जाता है, सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन मिलकर एक हो जाते हैं और लक्ष्य प्राप्तकर जन्म सार्थक तथा सफल हो जाता है।

आदर्श राजनेताओंके पवित्र जीवनसे प्रेरणा लें

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

भारत धर्म, संस्कृति तथा उच्च आदर्शोंके कारण पूरे संसारमें जगद्गुरुके रूपमें सम्मान प्राप्त करता था। इसीलिये महाराज मनुने उद्घोषणा की '**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥**' इस देशके अग्रजन्मा महापुरुषोंसे विश्वके समस्त लोग नैतिकता एवं आचरणकी शिक्षा ग्रहण करें। भारतके ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों, पण्डितों-पुरोहितों ही नहीं; राजाओं तथा राजनेताओंकी जीवनचर्या भी पूर्णरूपेण धर्मशास्त्रोंके अनुसार होती थी। नैतिक मूल्यों, सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, धर्म एवं राष्ट्रके प्रति अनन्य निष्ठा, समाजके प्रति कर्तव्यभावना, माता-पिता तथा वृद्धजनोंके प्रति सेवाभावना-जैसे सद्गुणोंका प्रत्येक नागरिक पालन करता था।

अब जबसे धर्म एवं नैतिक मूल्योंकी अपेक्षा सांसारिक सुख-सुविधाओं, धन तथा सम्पत्तिको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है, धर्मशास्त्रोंके आदेशकी अवहेलना करके पश्चिमी देशोंकी विकृतियोंका अन्धानुकरण शुरू हुआ है, तबसे नैतिक मूल्य घोर संकटमें पड़ गये हैं। यही कारण है कि आज राजनीतिमें भ्रष्टाचार, अनाचार, अनैतिकता, स्वार्थका बोलबाला दिखायी देने लगा है। ईमानदारी, न्याय, निष्पक्षताका व्यवहार करनेवाले एवं जनताका हितसाधन करनेवाले राजनेता दुर्लभ होते जा रहे हैं।

ऐसी विषम स्थितिमें हम अपने देशकी पुरानी पीढ़ीके राजनेताओंके उच्चादर्शोंसे निश्चय ही प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं—

(१) राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबूकी आदर्श जीवनचर्या

डॉ० श्रीराजेन्द्रप्रसादजी राष्ट्रपति बननेसे पूर्वतक कांग्रेसके नेता थे तथा वकालत करते थे।

वे उन दिनों पटना उच्च न्यायालयमें वकालत करते थे। एक दिन एक व्यक्ति उनके पास पहुँचा। वह बोला—वकील साहब! मेरी विधवा चाचीको कोई सन्तान नहीं है। मैं विधवा चाचीका उत्तराधिकारी बनना चाहता हूँ। चाची

अपने भाई-भतीजोंको जायदाद न दे पाये; ऐसी कानूनी व्यवस्था करा दें।

राजेन्द्र बाबूने पूछा—चाचीकी क्या इच्छा है?

उसने बताया—वह अपने गरीब भाईको जायदाद देना चाहती है, उसकी बेटियोंका विवाह करना चाहती है। राजेन्द्र बाबूने समझाते हुए कहा—तुम स्वयं धनाढ्य हो। तुम्हें भगवान्‌से, धर्मसे डरना चाहिये कि दूसरेकी सम्पत्ति हड़पना चाहते हो। तुम विधवा चाचीकी सेवा करो। उसका आशीर्वाद लो, इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा।

गो-ब्राह्मणभक्ति—डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीकी जीवनचर्या परम सात्त्विक रही। राष्ट्रपति-जैसे सर्वोच्च पदपर मनोनीत होनेके बाद भी वे सनातनधर्मकी परम्पराओंका पालन करते थे। श्राद्धके दिनोंमें न दाढ़ी बनाते थे, न अन्य शास्त्रनिषिद्ध कर्म करते थे। काशी जाकर उन्होंने विद्वान् ब्राह्मणोंका विधिवत् चरण धोकर सम्मान किया था। तीर्थोंमें पहुँचकर मन्दिरोंके दर्शन करते थे—साधु-संतोंका सत्संग किया करते थे। समय-समयपर विद्वानोंको राष्ट्रपतिभवनमें आमन्त्रितकर उनके प्रवचनोंका आयोजन करते थे। सुविख्यात वेदमूर्ति पं० मोतीलाल शास्त्रीको जयपुरसे दिल्ली आमन्त्रितकर उन्होंने वेदोंके महत्त्वपर उनका प्रवचन कराया था।

गांधीजीकी प्रेरणापर बजाज परिवारने वर्धामें गोसेवा सम्मेलनका आयोजन किया। गांधीजीने डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीसे सम्मेलनकी अध्यक्षता करनेको कहा। उन्होंने आदेश स्वीकार कर लिया।

राजेन्द्र बाबू अपने निवासस्थानपर पहुँचे। उन्होंने अपने चमड़ेके जूते बाहर फेंक दिये। संकल्प लिया—आजसे हत्या किये गये पशुके चमड़ेका जूता नहीं पहनेंगे। गायका दूध तथा गायका घी ही सेवन करेंगे।

गांधीजीको जब राजेन्द्र बाबूके इस संकल्पका पता चला तो वे बोले—वास्तवमें आज राजेन्द्र बाबू सच्चे गोभक्त कहलानेके अधिकारी हुए हैं। राजेन्द्र बाबू आजीवन गोवंशके रक्षण-संवर्धनपर बल देते रहे।

(२) गोखलेजीकी सादगी

श्रीगोपालकृष्ण गोखलेकी जीवनचर्या अत्यन्त सादगीपूर्ण थी। वे पूर्णसंयमित जीवन बिताते थे।

एक दिन एक सम्पन्न व्यक्ति गोखलेजीके दर्शनोंके लिये उनके निवासस्थानपर पहुँचा। उसने देखा कि गोखलेजी अपना फटा कुरता स्वयं सूईसे ठीक कर रहे हैं। यह देखकर उसने कहा—आप-जैसा अग्रणी नेता फटे-पुराने कपड़ेको ठीक करनेमें समय क्यों नष्ट कर रहा है, यह सोचकर मैं हतप्रभ हूँ!

गोखलेजीने विनम्रतासे उत्तर दिया—कर्मकी उच्चता तथा सादगीका जीवन ही हम भारतीयोंके बड़प्पनकी कसौटी है, न कि अच्छे कपड़े या कीमती आभूषण धारण करना। मैंने पैसा-पैसा बचाकर उसे भारतकी स्वाधीनताके कार्योंमें खर्च करनेका संकल्प लिया हुआ है। इससे मुझे अनूठा सन्तोष मिलता है।

धनिक व्यक्ति उनके शब्द सुनकर चरणोंमें झुक गया।

श्रीगोखलेजी-जैसे अग्रणी राजनेताके जीवनसे क्या वर्तमान समयमें तड़क-भड़कमें जीनेवाले राजनेता कुछ सीख ले सकते हैं?

(३) सेठ श्रीजमनालाल बजाजकी नैतिकता

सेठ श्रीजमनालाल बजाज परम धार्मिक तथा ईश्वरभक्त थे। गीता तथा अन्य धर्मशास्त्रोंके प्रति उनकी अनन्य श्रद्धाभावना थी। सन्त-महात्माओंका सत्संग करके उन्हें अपार शान्ति मिलती थी। एक बार एक परम विरक्त संतने उन्हें संकल्प कराया कि वे जीवनभर सत्य एवं ईमानदारीका पालन करेंगे। जमनालालजीने इस संकल्पका हमेशा पालन किया। बड़े उद्योगपति होनेके बावजूद उन्होंने अत्यन्त सादगी और सात्त्विकताका जीवन व्यतीत किया।

जमनालालजीको समाजसेवी श्रीकृष्णदास जाजूने प्रेरणा देते हुए कहा था—देशसेवा और समाजसेवा भगवान्‌की साक्षात् पूजा है। इस कार्यके लिये जीवन अर्पित कर दो। सन् १९०६ ई०में जाजूजी उन्हें अपने साथ कलकत्तामें आयोजित कांग्रेसके अधिवेशनमें ले गये। वहाँ गांधीजी, लोकमान्यतिलक तथा पं० मदनमोहन मालवीयजीके समक्ष जमनालालजीने स्वदेशीकी शपथ ली। एक बार वे सत्याग्रह करके जेल गये। जेलसे वापस लौटे तो उन्हें पता चला कि उनके कपड़ा-रूई कारखानेके प्रबन्धकोंने आय कम दिखाकर टैक्सका ७५ हजार रुपया बचा लिया है। वे रातभर सो नहीं सके। सवेरे वर्धा पहुँचकर गांधीजीसे पूछा कि इस अधर्मकार्यका प्रायश्चित्त कैसे किया जाय? गांधीजीने कहा—इसमें तुम्हारी सहमति तो थी नहीं, अतः

प्रायश्चित्तकी क्या आवश्यकता है। ७५ हजार रुपये परमार्थमें लगा दो। उन्होंने गरीबोंके कल्याणकार्यपर वह रकम खर्च कर दी, तब जाकर मनको शान्ति मिली। इस प्रकार अन्तिम श्वासतक वे सत्य और ईमानदारीके संकल्पका अक्षरशः पालन करते रहे।

(४) श्रीतिलकजीकी अनूठी निःस्पृहता

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक परम धार्मिक, श्रीकृष्णभक्त, तेजस्वी राजनेता तथा पत्रकार थे। वे प्रतिदिन स्नानके बाद माथेपर तिलक लगाकर श्रीकृष्ण एवं गणेशजीकी पूजा-अर्चना विधि-विधानसे किया करते थे। पुणेमें केसरीके कार्यालय जाते समय रास्तेमें गणेशजीके दर्शन अवश्य करते थे। उन्हें राजद्रोहके आरोपमें सजा सुनाकर मांडलेकी जेल भेजा गया। जेलमें उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताका गहन अध्ययनकर पुस्तकें लिखीं।

मांडले जेलसे मुक्त होनेके बाद तिलकजी पुणे लौटे तो उनका भव्य अभिनन्दन किया गया। एक कांग्रेसी नेताने मुसकुराते हुए तिलकजीसे पूछा—यदि भारत स्वाधीन हो गया तो आप प्रधानमन्त्री या गृहमन्त्रीमेंसे किस पदको स्वीकार करना पसन्द करेंगे? तिलकजीने उत्तर दिया—मैंने अपने धर्मशास्त्रों एवं गीतासे प्रेरित होकर मातृभूमिको विदेशी अंग्रेजोंसे स्वाधीन करानेके उद्देश्यसे स्वाधीनता आन्दोलनमें भाग लिया है। जेलमें जब मैंने गीता, पुराणों तथा उपनिषदोंका अध्ययन किया तो मैं इस परिणामपर पहुँचा कि जीवनका अन्तिम लक्ष्य प्रभुभक्ति एवं जनसेवा ही है। राजनीतिके पचड़ेमें पड़कर न भक्ति हो सकती है, न निःस्वार्थसेवा। इसलिये मैं स्वराज्य मिलते ही अपना तमाम समय भगवान्की भक्ति एवं सत्साहित्य और शास्त्रोंके अध्ययनमें लगाकर अपना जीवन सार्थक बनाऊँगा।

श्रीतिलकजीका सन् १९२० ई० में ही निधन हो गया। क्या वर्तमान राजनीतिज्ञ उनकी भावनाका अनुसरण कर रहे हैं?

(५) आचार्य नरेन्द्रदेवकी नैतिकता

सुविख्यात समाजवादी चिन्तक एवं हिन्दू विश्वविद्यालयके उपकुलपति आचार्य नरेन्द्रदेवजी काशीमें रिक्शेमें बैठे कहीं जा रहे थे। उनके परिचित एक सज्जनने यह देखा तो पूछ बैठे—आचार्यजी! आप इतने बड़े नेता एवं शिक्षाविद् होकर पासमें कार होते हुए भी रिक्शेमें क्यों जा रहे हैं? आचार्य नरेन्द्रदेवजीने उत्तर दिया—भैया! कार मुझे विश्वविद्यालयके कार्यसे आने-जानेके लिये मिली है। मैं अपने किसी बीमार सम्बन्धीको देखने जा रहा हूँ। अपने निजी काममें उस कारका उपयोग कैसे कर सकता था?

आचार्य नरेन्द्रदेवजीकी जीवनचर्या अत्यन्त सादगीपूर्ण थी। वे हर क्षण नैतिक मूल्योंका पालन करनेके लिये तत्पर रहते थे। आजके राजनेता क्या उनसे प्रेरणा ले सकते हैं?

(६) श्रीटण्डनजीकी आदर्श जीवनचर्या

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन सात्त्विकता, सरलता और नैतिकताकी प्रतिमूर्ति थे। उनकी जीवनचर्या पूर्णरूपेण भारतीयताके अनुरूप थी। उन दिनों वे उत्तर प्रदेश विधानसभाके अध्यक्ष थे। गेहूँ, चावलका अभाव चल रहा था। ये दोनों वस्तुएँ राशनकी दुकानसे नियमानुसार मिलती थीं। टण्डनजीके यहाँ अतिथियोंका आगमन लगा रहता था। राशनमें मिला गेहूँ, चावल जल्दी ही समाप्त हो जाता तो वे जौके आटेसे बनी रोटियाँ खाते-खिलाते थे।

एक दिन बिहारके कुछ कांग्रेसी नेता टण्डनजीसे मिलने आये। उन्हें इसका पहले ही पता लग गया था। नये रसोइयेने कहा—मैं आटा, चावल दुकानसे ब्लैकमें ले आता हूँ। टण्डनजीने उत्तर दिया—मैं ब्लैकसे कभी कोई वस्तु नहीं मँगवाता। उन्होंने बगीचेसे आलू मँगवाये, रसोइयेसे कहकर उन्हें उबलवाया; अतिथियोंसे कहा—राशनका गेहूँ, चावल समयसे पूर्व समाप्त हो गया है। आज आपका आलूभोजसे स्वागत करना पड़ रहा है। कांग्रेसी नेता टण्डनजीकी सिद्धान्त-निष्ठाके आगे नतमस्तक हो उठे।

श्रीटण्डनजी उन दिनों संसद-सदस्य थे। वे लाला अचिन्तराम एवं हरिहरनाथ शास्त्रीके साथ नयी दिल्लीमें २, टेलीग्राफ लेनकी कोठीमें रहते थे। तीनोंका भोजन एक साथ बनता था। मकानका किराया तथा बिल वे बराबर-बराबर बाँटकर अदा करते थे। तीनों राजनेताओंने अलग-अलग सरकारी आवास न लेकर एक साथ रहनेका निर्णय इसलिये किया था, जिससे सरकारी खर्चमें बचत हो। वे कहा करते थे कि जनप्रतिनिधियोंको जनताकी खून-पसीनेकी कमाईको अनापशनाप खर्च करनेका अधिकार नहीं है। टण्डनजीकी जीवनचर्या अत्यन्त सादगीपूर्ण एवं भारतीयताके अनुरूप थी। वे हिन्दी तथा गोमाताके प्रति

अनन्य श्रद्धाभावना रखते थे। गोवंशकी हत्याको घोर पापमय अमानवीय कृत्य मानते थे। समय-समयपर उन्होंने स्वाधीन भारतमें गोवंशकी हत्या अविलम्ब बन्द किये जानेकी माँगकर गोभक्तिका परिचय दिया था।

महामना पं० मदनमोहनमालवीयजी महाराजने हिन्दीके प्रचारके उद्देश्यसे हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी स्थापना की थी।

मालवीयजी हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापनाके कार्यमें व्यस्त हो गये तो उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी बागडोर टण्डनजीको सौंप दी।

एक बार टण्डनजीने हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी स्थायी समितिकी बैठक आयोजित की। पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदीसे उन्होंने बैठकमें भाग लेने आनेवालोंके लिये जलपानकी व्यवस्था करनेको कहा। बैठक शुरू होनेसे पूर्व सभीको जलपान कराया गया। बैठकमें टण्डनजीने हिन्दीके प्रचार-प्रसारके उपाय सुझाये। उन्होंने कहा—हिन्दीका प्रचार करनेका संकल्प लेनेवाले आप तमाम सदस्योंको आने-जानेका मार्गव्यय स्वयं खर्च करना चाहिये। त्यागके बलपर ही हिन्दीकी सेवा की जा सकती है।

बैठकके बाद टण्डनजीने श्रीनारायण चतुर्वेदीसे पूछा—जलपानपर हुए व्ययकी राशिका प्रबन्ध कैसे करोगे?

कुछ क्षण रुककर बोले—सम्मेलनके कोषसे एक पैसा भी इसपर खर्च नहीं होना चाहिये। उन्होंने जेबमेंसे रुपये निकाले तथा देते हुए बोले—जलपानका भुगतान इन रुपयोंसे कर देना।

हिन्दीके लिये संग्रहीत धनका, पैसे-पैसेका हिसाब रखा जाना चाहिये।

पण्डित श्रीनारायणजी टण्डनजीद्वारा दी गयी नैतिकताकी सीखसे हतप्रभ रह गये।

(७) श्रीकृष्णदासजाजूने मुख्यमन्त्री पद ठुकराया

एक प्रदेशके मुख्यमन्त्रीपदपर मनोनयनको लेकर विवाद पैदा हो गया। पं० रविशंकर शुक्ल डॉ० नारायण भास्कर खरेकी जगह किसी दूसरे व्यक्तिको मुख्यमन्त्री बनाना चाहते थे। कांग्रेस कार्यकारिणीकी वर्धामें हुई बैठकमें स्वाधीनतासेनानी तथा समाजसेवी श्रीकृष्णदास जाजूके नामपर सहमति व्यक्त की गयी। गांधीजीने कहा—जाजूजी इस पदके सर्वथा योग्य हैं। जाजूजी बीचमें विनम्रतासे बोले—महात्माजी! मैं इस पदके सर्वथा अयोग्य हूँ।

श्रीऋषभदास राँकाने एकान्तमें जाजूजीसे पूछा—गांधीजीने स्वयं आपसे इस पदको ग्रहण करनेका अनुरोध किया है। आपने फिर भी स्वीकार क्यों नहीं किया? जाजूजीने सहज भावसे उत्तर दिया—मुख्यमन्त्री-जैसे पदपर बने रहनेके लिये मन्त्रिमण्डलके सदस्यों तथा विधायकोंको खुश रखनेके लिये सिद्धान्तोंको ताकपर रखना पड़ता है। मैं पदसे ज्यादा सिद्धान्तोंको महत्त्व देता हूँ। इसलिये मैंने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

वर्तमान राजनीतिज्ञ छोटे-से-छोटा पद पानेके लिये तमाम सिद्धान्तोंको ताकपर रखकर धनबल, बाहुबल तथा अन्य गलत साधन उपयोगमें लानेमें नहीं हिचकिचाते। क्या वर्तमान राजनेता जाजूजीकी सिद्धान्तनिष्ठासे सबक ले सकेंगे?

(८) भाई परमानन्दजीका त्याग

इतिहासकार तथा आर्यसमाजी विद्वान् भाई परमानन्दजीको ब्रिटिश सत्ताके विरुद्ध षड्यन्त्र रचनेका आरोप लगाकर फाँसीकी सजा सुनायी गयी। बादमें फाँसीकी सजाको आजीवन कारावासमें बदलकर उन्हें कालापानी (अण्डमान) भेजा गया। अण्डमानकी जेलमें वीर सावरकर एवं अन्य देशरत्नोंके साथ उन्होंने अमानवीय यातनाएँ सहन कीं।

अण्डमानसे मुक्तिके बाद भाईजी लाहौर लौटे। हजारों विशिष्ट जनोंने उनका हार्दिक स्वागत किया। लाहौरके प्रतिष्ठित लोगोंको पता था कि भाईजीके जेलमें रहनेके दौरान भाईजीकी धर्मपत्नी भाग्यसुधिदेवीने आर्थिक संकटोंसे गुजरते हुए अपने पुत्र तथा पुत्रीका लालन-पालन किया। उनके श्रद्धालुजनोंने स्वागतके बाद एक थैलीमें रुपये रखकर उन्हें भेंट किये। भाईजीने पूछा—इस थैलीमें क्या है? उन्हें बताया गया कि इसमें कुछ हजार रुपये हैं, श्रद्धानिधिके रूपमें भेंट किये जा रहे हैं।

भाईजीने विनम्रतापूर्वक राशि लेनेसे इनकार करते हुए कहा—मातृभूमिकी स्वाधीनताके संघर्षमें योगदानकर मैंने कोई नया अनूठा कार्य नहीं किया है। मेरे वंशके भाई मतिदासने गुरु तेगबहादुरजी महाराजके साथ हिन्दूधर्मकी रक्षाके लिये शरीरको आरेसे चिरवाकर बलिदान दिया था।

मेरा त्याग तो उसके सामने कुछ भी नहीं है।

स्वाधीनता सेनानीके नामपर सुख-सुविधाएँ बटोरनेवाले राजनीतिज्ञोंको भाईजीके जीवनसे प्रेरणा लेनी चाहिये।

(९) पंतजीकी अनूठी सेवाभावना

सुविख्यात कांग्रेसी नेता तथा केन्द्रीय गृहमन्त्री रहे श्रीगोविन्दवल्लभ पंत उन दिनों काशीपुर (नैनीताल)-में वकालत करते थे। एक दिन सबेरे एक वृद्धा उनके निवासस्थानपर पहुँची। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—वकील साहब! मैं मोची-परिवारकी विधवा महिला हूँ। मेरे कोई बेटा नहीं है, केवल एक बेटी है, जो अपनी ससुरालमें है। मेरे पतिके चाचाने हमारी तमाम जायदाद हड़प ली है तथा मुझे मारपीटकर घरसे निकाल दिया है।

पंतजीने वृद्ध महिलाकी दर्दनाक बात सुनी तो उनकी आँखें नम हो उठीं। उन्होंने कहा—माताजी! चिन्ता न करो। मैं तुम्हारी तमाम जायदाद वापस दिलाकर ही चैन लूँगा। उन्होंने वृद्धाकी तरफसे मुकदमा दायर कराया। अदालती शुल्क भी अपनी जेबसे जमा कराया। पंतजीके प्रयाससे अदालतने वृद्धाकी सम्पत्ति वापस दिलानेका आदेश दिया। वृद्धा जब मुकदमा जीतनेके बाद उन्हें धन्यवाद देने आयी तो पंतजीने कहा—माताजी! मुझे धन्यवाद न देकर आशीर्वाद दो कि मैं जीवनभर गरीबोंकी सहायता करता रहूँ।

आज न पंतजी-जैसे राजनेता हैं न वकील, जो गरीबों एवं असहायोंकी सहायताको अपना कर्तव्य मानकर आदर्श उपस्थित करते हों।

(१०) डॉ० मुखर्जीने मन्त्रीपदसे त्यागपत्र दे दिया

डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी एक अग्रणी शिक्षाविद्के साथ-साथ एक कुशल राजनीतिज्ञ भी थे। सन् १९४० ई०में उन्हें बंगालके मन्त्रिमण्डलमें शामिल किया गया। सरकारमें मन्त्री होते हुए भी वे समय-समयपर मुस्लिमलीगद्वारा हिन्दुओंके उत्पीड़नकी घटनाओंका खुलकर निर्भीकताके साथ विरोध करनेको तत्पर रहते थे।

९ अगस्त १९४२ ई०को मुम्बईमें जैसे ही कांग्रेस कार्यकारिणीने भारत छोड़ो आन्दोलनका प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेसके नेताओंको गिरफ्तार कर लिया गया। बंगालके गवर्नर सर जॉन हार्वर्डने बंगाल सरकारके मन्त्रियोंकी बैठकमें कहा—ब्रिटिश सरकारकी नीतिका पालन करते हुए भारत छोड़ो आन्दोलनका खुलकर विरोध किया जाना चाहिये। जो मन्त्री विरोध करनेको तैयार न हो उसे मन्त्रिमण्डलसे त्यागपत्र दे देना चाहिये।

डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जीने निर्भीकतासे कहा—भले ही हमारे कांग्रेससे मतभेद हैं, किंतु भारतकी स्वाधीनताके लिये कांग्रेसद्वारा जारी आन्दोलन न्यायोचित है, हम इसका विरोध कदापि नहीं करेंगे। यह कहकर डॉ० मुखर्जीने मन्त्रीपदसे त्यागपत्र दे दिया।

पद तथा सत्तामें रहनेके लिये पग-पगपर सिद्धान्तोंका हनन करनेवाले वर्तमान राजनेता क्या डॉ० मुखर्जीकी सिद्धान्तप्रियतासे कुछ शिक्षा ले पायेंगे!

(११) लालबहादुर शास्त्रीजीकी अनूठी नैतिकता

श्रीलालबहादुरजी शास्त्री उन दिनों प्रधानमन्त्री थे। एक दिन उनके पुत्र सुनील सरकारी कार कहीं ले गये। वे देर रात लौटे तो शास्त्रीजी कागजात देखनेमें व्यस्त थे। शास्त्रीजीने कारकी आवाज सुनी तो पास आये, सुनीलसे पूछा—कार लेकर कहाँ गये थे? जवाब मिला—दोस्तोंके साथ घूमने निकल गया था। उन्होंने कहा कि यदि कहीं जाना हुआ करे तो सरकारी कार न ले जाकर अपने साधनसे जाया करो। सरकारी कारका व्यक्तिगत काममें उपयोग गलत है।

सवेरे शास्त्रीजीने ड्राइवरसे पूछा—रात कार कितने किलोमीटर चली। ड्राइवरने मीटर देखनेके बाद बताया ३४ कि०मी० चली। उन्होंने जेबसे रुपये निकाले तथा बोले—३४ कि०मी० चलनेमें जो पेट्रोल खर्च हुआ हो, उसे परिवहनविभागमें जमा करा देना।

शास्त्रीजीकी जीवनचर्या अत्यन्त सादगीपूर्ण थी। उन्होंने कभी भी सरकारी पैसेका अपनी व्यक्तिगत सुविधाके लिये उपयोग नहीं होने दिया।

अनूठी गुरुभक्ति—श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय रेलमन्त्री थे। काशीमें उन्हें संस्कृतके महान् विद्वान् पण्डित निष्कामेश्वरमिश्रके श्रीचरणोंमें बैठकर अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सन् १९५३ ई० की बात है। पण्डित निष्कामेश्वरजी किसी कार्यसे दिल्ली आये हुए थे। शास्त्रीजीने उन्हें

आवासपर आमन्त्रितकर उनके चरण पखारकर अभिनन्दन किया। सभी परिवारीजनोंको बताया कि ये मेरे गुरुदेव हैं।

पण्डितजी काम निपटानेके बाद दिल्लीसे रेलद्वारा काशी लौट रहे थे। अचानक रेलके गजरौला (मुरादाबाद) स्टेशनपर पहुँचते ही हृदयगति रुक जानेसे उनका निधन हो गया। उनके साथ यात्रा कर रहे शास्त्रीजीके अनन्य मित्र तथा गांधीवादी नेता अलगूराय शास्त्रीने गजरौला रेलवेस्टेशनसे फोनकर शास्त्रीजीको इस दुःखद घटनाकी सूचना दी। शास्त्रीजी अपने तमाम कार्यक्रम स्थगितकर कारसे गजरौला पहुँचे। जूते प्लेटफार्मपर उतारकर उस स्थानपर पहुँच गये, जहाँ गुरुदेवका शव रखा हुआ था। शवको अपने साथ रेलसे लेकर काशी गये। ससम्मान उनकी अन्त्येष्टि कराकर ही वापस लौटे।

शास्त्रीजीकी इस अनूठी गुरुभक्तिको देखकर सभी चकित थे।

शास्त्रीजी अपनी माताजीकी घण्टों-घण्टों सेवा किया करते थे। वे रातके समय उनके बिस्तरमें बैठकर चरण दबाया करते थे। एक बार पत्नी ललिता शास्त्रीको सासकी सेवा करते देखकर वे हँसकर बोले—तुम गंगास्नान तथा अन्य धर्मकार्योंमें मेरे साथ पुण्य बटोरती हो। मेरी माताजीकी सेवा करके मेरे पुण्योंका भी बँटवारा करती हो।

(१२) राममनोहर लोहियाजीका प्रसंग

डॉ० राममनोहर लोहिया अग्रणी स्वाधीनता सेनानी तथा समाजवादी चिन्तक थे। उनकी जीवनचर्या सादगीपूर्ण थी। वे अत्यन्त सादगी एवं सरलताका जीवन जीते थे। अपनी सुख-सुविधाके लिये उन्होंने कभी भी जनताका पैसा उपयोगमें नहीं लिया।

सन् १९५८ ई० की बात है। लोहियाजी कानपुरमें श्रमिकोंकी रैलीको सम्बोधित करने आये थे। श्रमिकोंने लोहियाजीको समाजवादी पार्टीके लिये धनकी थैली भेंट की। श्रमिकोंसे पैसा-पैसा इकट्ठा करके पाँच हजार रुपये उन्हें भेंट किये गये थे।

कानपुरके समाजवादी पार्टीके सांसद जगदीश अवस्थी लोहियाके साथ रेलमें कानपुरसे अन्यत्र जानेके लिये रवाना हुए। बीचमें किसी स्टेशनपर गाड़ी रुकी। लोहियाजी बोले—अवस्थी! मेरा गला खराब है, एक पिपरमिण्टयुक्त बड़ा पान खरीद लाओ। अवस्थीने उन्हींके सामने जेबमें हाथ डाला तथा बोले—खुले पैसे नहीं हैं। लोहियाजी कोई पुस्तक पढ़नेमें लगे रहे। इसी बीच अवस्थीजी डिब्बेसे उतरे तथा प्लेटफार्मपर पान बेचनेवालेसे दो पान खरीदे और डिब्बेमें लौट आये। उन्होंने जैसे ही पान लोहियाजीको थमाया कि उन्होंने कहा—तुम्हारी जेबमें तो खुले पैसे नहीं थे, फिर पान कैसे ले आये?

अवस्थीजीने सहज भावसे बताया—मैंने थैलीमेंसे अठन्नी निकाली थी, उससे पान ले आया। यह सुनते ही लोहियाजीका चेहरा क्रोधमें तमतमा उठा। वे बोले—गरीब श्रमिकों तथा कार्यकर्ताओंने एक-एक पैसा, एक-एक रुपया इकट्ठाकर दलके कामके लिये थैली दी। इसका उपयोग हम अपने लिये कैसे कर सकते हैं?

लोहियाजीने अपनी बण्डीकी जेबमें हाथ डाला। उसमेंसे रुपया निकाला तथा थैलीमें डाल दिया, तब पान मुँहमें रखा।

लोहियाजी प्रायः भाषणमें कहा करते थे कि जिस देशकी अधिकांश आबादी भूखे पेट सोती है, उस देशके राजनेताओंको जनताके धनसे विलासी जीवन जीनेका कोई अधिकार नहीं है। वे राष्ट्रपतिसे लेकर मन्त्रियों, सांसदों तथा विधायकोंकी फिजूलखर्चीपर नियन्त्रण लगाने तथा उन्हें आम आदमीकी तरह रहनेको कहा करते थे। आज अपनेको लोहियावादी तथा समाजवादी बतानेवाले राजनीतिक नेता क्या इस आदर्शको अपने सम्मुख रखेंगे?

(१३) पं० दीनदयाल उपाध्यायका नियम-पालन

जनसंघके वरिष्ठ नेता तथा चिन्तक पं० दीनदयालजी उपाध्यायका जीवन आदर्श एवं सात्त्विक जीवन था। जनसंघके राष्ट्रीय अध्यक्ष बननेके बाद भी वे अपने कपड़े अपने हाथोंसे धोते थे। उनकी जीवनचर्या भारतीयतासे ओत-प्रोत थी।

एक बार वे रेलमें साथियोंके साथ जा रहे थे। वे समाचार सुननेके लिये ट्रांजिस्टर साथ रखते थे। उन्होंने ट्रांजिस्टर थैलेसे निकाला तथा उसे चालू करते-करते रुक गये। साथके स्वयंसेवकने कारण पूछा तो बोले—इसका लाइसेन्स शुल्क कलतकका था। शुल्क जमा करानेके बाद इसका उपयोग किया जाना उचित होगा।

प्रशंसा-पत्र जलवा दिये—पण्डित दीनदयाल

उपाध्यायने अपना समस्त जीवन राष्ट्र और समाजकी सेवाके लिये समर्पित किया हुआ था। अच्छीसे अच्छी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। चाहते तो ऊँचे-से-ऊँचा सरकारी पद पा सकते थे। किसी विश्वविद्यालयमें प्रवक्ता बन सकते थे, किंतु उन्होंने अविवाहित रहकर राष्ट्रकार्य करनेका संकल्प लिया।

एक बार वे लखीमपुरस्थित संघकार्यालयमें रुके हुए थे। अपने सहयोगी वसन्तराव वैद्यके समक्ष उन्होंने अपने बक्ससे केवल एक कागज निकाला और उसे जैकेटकी जेबमें रख लिया। शेष कागजोंको देते हुए बोले—वसन्तराव! इन तमाम कागजोंको जला डालो।

वसन्तरावने उन कागजोंपर दृष्टि दौड़ायी तो देखा कि उनमें विद्यालय और महाविद्यालयीय कालमें पण्डितजीद्वारा प्राप्त किये गये अनेक प्रशंसापत्र, प्रमाणपत्र तथा संस्थाओंद्वारा प्रदान किये गये अभिनन्दनपत्र थे। उन्होंने धीरेसे कहा—पण्डितजी! इन कागजोंमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रमाणपत्र हैं। इनसे आगे चलकर अपने असाधारण व्यक्तित्व तथा गुणोंको साक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है।

पण्डित दीनदयालजीने कहा—अरे भाई! जब मैंने अपना पूरा जीवन भारतमाताके चरणोंमें अर्पित कर दिया है तो इन प्रमाणपत्रोंसे क्या लाभ उठा सकता हूँ? वसन्तरावजीने दुःखी मनसे वे सब प्रशंसा-पत्र जला डाले।

पण्डितजी प्रायः कहा करते थे—उपाधियाँ अहंकार पैदा करानेवाली व्याधियाँ ही सिद्ध होती हैं। राष्ट्र तथा समाजका काम करनेवालोंको अहंकारसे दूर रहना चाहिये।

वर्तमान समयमें राजनेता सत्ता, पद तथा मान-सम्मान प्राप्त करनेके लिये तरह-तरहकी तिकड़में करनेमें नहीं हिचकिचाते। क्या वे इन राजनेताओंके त्याग-तपस्यामय जीवन, उनकी नैतिकता, ईमानदारीके प्रसंगोंसे प्रेरणा लेकर अपनी क्षुद्र प्रवृत्तिको त्यागकर आदर्श उपस्थित करनेका साहस दिखायेंगे?

कुछ न्यायाधीशोंके अनूठे अनुकरणीय प्रसंग

(श्रीनरेन्द्रजी गोयल)

रिश्वत ठुकराई

अम्बालाल सीकरलाल देसाई गुजरातमें न्यायाधीश थे। वे परम ईश्वरभक्त तथा धर्मपरायण थे। न्यायालयमें जानेसे पूर्व विधिवत् अपने इष्टदेवकी पूजा-अर्चना किया करते थे। इष्टदेवकी मूर्तिके समक्ष खड़े होकर, हाथ जोड़कर प्रार्थना किया करते थे कि न्यायालयमें किसी भी मुकदमेमें मुझसे किसीके साथ अन्याय न होने पाये।

एक बार उनकी अदालतमें दो धनाढ्योंके बीच विवादका मुकदमा दर्ज हुआ। करोड़ोंकी सम्पत्तिका विवाद था। एक दिन उनमेंसे एक व्यक्ति उनके घर पहुँचा। उसने जज साहबके पेशकारसे कहा—'मुझे जज साहबसे मिलना है।' जज साहबको बताया गया तो वे अपने कमरेसे बैठकमें आये। उस व्यक्तिने नोटोंकी गड्डी मेजपर रखते हुए कहा—'साहब, ये दो लाख रुपयेकी तुच्छ भेंट लाया हूँ। अमुक मामलेमें निर्णय मेरे पक्षमें करनेकी कृपा करें। इतनी रकम देनेवाला दूसरा नहीं मिलेगा।'

न्यायाधीश श्रीदेसाईने जवाब दिया—'अच्छाई इसीमें है कि इन्हें आप वापस ले जाइये। मैं रिश्वतके इस अपवित्र धनको छूना भी पाप मानता हूँ और यह याद रखना कि इतनी बड़ी रकम वापस करनेवाला भी कोई बिरला ही मिलेगा।'

जज साहब अपने पूजाके कमरेमें गये और अपने इष्टदेव भगवान् श्रीद्वारकाधीशके समक्ष हाथ जोड़कर बोले—भगवन्! आपने आज मेरी अच्छी परीक्षा ली। मैं इसी प्रकार अपने कर्तव्य-पालनमें दृढ़ रहूँ—यह कृपा बनाये रखना।

आशुतोष मुखर्जीकी अनूठी मातृभक्ति

श्रीआशुतोष मुखर्जी बंगालके अग्रणी न्यायाधीश थे। वे कलकत्ता विश्वविद्यालयके कुलपति भी रहे थे। उनकी जीवनचर्या धर्मशास्त्रानुसार सात्त्विकतापूर्ण थी। प्रत्येक दिन भगवान्की पूजा-अर्चना करनेके बाद ही वे जल-अन्न ग्रहण करते थे। वे अपनी माँके प्रतिदिन चरण दबाते थे।

वायसराय लार्ड कर्जनने इंग्लैण्डमें आयोजित एक सम्मेलनमें श्रीमुखर्जीको भेजनेका निर्णय लिया। मुखर्जीकी माँ उन दिनों अस्वस्थ चल रही थीं। विदेश भेजे जानेका पता चला तो माँने कहा—'बेटा, मैं तो तेरी गोदमें सिर रखकर अन्तिम साँस लेनेकी इच्छा रखती हूँ। तू विदेश चला जायगा तो यह कैसे होगा?'

श्रीआशुतोष मुखर्जीने गवर्नरको पत्र लिखा—'मेरी माँकी आज्ञा नहीं है। मैं इंग्लैण्ड नहीं जा पाऊँगा।' पत्र पढ़ते ही लार्ड कर्जनने मुखर्जीको फोनकर कहा—'आप अपनी माँसे कह दें कि भारतका वायसराय उन्हें इंग्लैण्ड जानेका आदेश दे रहा है।'

श्रीमुखर्जीने विनम्रतासे उत्तर दिया—'सर, एक भारतीयके लिये माँका आदेश सर्वोपरि होता है। माँकी इच्छाके विपरीत मैं कोई पग नहीं उठा सकता।'

वायसराय श्रीमुखर्जीकी अनूठी मातृभक्तिकी भावना जानकर हतप्रभ रह गये।

जज नीलमाधव बनर्जीकी अनूठी नैतिकता

बंगालके न्यायाधीश श्रीनीलमाधव बनर्जी अपनी धर्मपरायणता तथा न्यायप्रियताके लिये दूर-दूरतक विख्यात थे। वे किसी भी मुकदमेका निर्णय पूरी सत्यताका पता लगानेके बाद ही देते थे।

सेवानिवृत्त होनेके बाद भी वे गरीबोंको निःशुल्क न्याय दिलानेके कार्यमें लगे रहे। उनकी जीवनचर्या सदाचारपूर्ण थी।

वृद्धावस्थामें वे किसी घातक बीमारीसे ग्रस्त हो गये। उन्हें असहनीय पीड़ा होती तो वे भगवान्‌से प्रार्थना करते—'प्रभो! मुझे रोगग्रस्त शरीरसे मुक्ति दो।' उन्हें शैय्यापर पड़े-पड़े कष्ट झेलते हुए महीनों बीत गये।

एक दिन उन्हें पुरानी कोई बात याद आयी। उन्होंने अचानक अपने परिवारके बीमा अधिकारीको बुलवाया। वे उससे बोले—'मैं स्वयं इस शारीरिक कष्टका कारण हूँ। मैंने जब युवावस्थामें बीमा करवाया था—डाइबिटीज (मधुमेह)-की बीमारीसे ग्रस्त था, किंतु बीमा करवानेके लिये बीमारीको छिपाया था। न्यायाधीशके रूपमें हमेशा सत्यका आचरण किया, किंतु उससे पहले किये गये असत्य व्यवहारके पापका फल मुझे आज इस कष्टके रूपमें भोगना पड़ रहा है, मेरे बीमेको रद्द कर दें। यह रकम परिवारको नहीं मिलनी चाहिये, किसी धर्म-कार्यमें लगायी जानी चाहिये।'

बीमा रद्द होनेकी सूचना मिलते ही न्यायाधीश श्रीबनर्जीके मुखपर शान्ति तथा सन्तोषकी छवि दिखायी दी तथा उन्होंने तुलसी-गंगाजलका पान किया और भगवान्‌का स्मरण करते हुए प्राण त्याग दिये।

गुरुदास बनर्जीने धायको सम्मान दिया

श्रीगुरुदास बनर्जी कलकत्ता उच्च न्यायालयके न्यायाधीश थे। वे अत्यन्त धर्मपरायण तथा न्यायप्रिय थे। अपनी आयमेंसे काफी रुपये धर्म तथा सेवा-कार्योंपर खर्च करते थे।

एक दिन श्रीबनर्जी न्यायालयमें बैठे किसी मुकदमेमें वकीलोंकी दलील सुन रहे थे। अचानक उन्होंने शोर सुना। सामने निगाह उठाकर देखा कि एक द्वारपाल किसी वृद्धाको अन्दर आनेसे रोक रहा है तथा वृद्धा चिल्ला रही है, 'मैं अपने बेटेसे मिलने आयी हूँ। मुझे क्यों रोका जा रहा है?' न्यायाधीशने कार्यवाही बीचमें ही रोक दी तथा तेजीसे दरवाजेके पास पहुँचे। उन्होंने गंगास्नानके दौरान गीली हुई धोती पहने वृद्धाको देखते ही उसके चरण स्पर्श किये। उसे अपने पास आदरसे कुर्सीपर बिठाया। वे पहचान गये थे कि इस धायने बचपनमें उन्हें पाला-पोसा था।

वृद्धाने उन्हें बताया कि वह अपने पासके गाँवसे गंगास्नान करने यहाँ आयी थी और उसे पता चला कि गुरुदास यहाँ बैठकर लोगोंको सजा सुनाता है, इसलिये मैं तुझे देखने यहाँतक आ पहुँची।

न्यायाधीशकी इस अनूठी मातृभक्तिको देखकर पास खड़े अंग्रेज जज हतप्रभ रह गये। श्रीबनर्जी वृद्धाको कारमें बिठाकर अपनी कोठीमें ले गये। अपनी पत्नीसे बोले—'यह मेरी माँ है, जिसने बचपनमें मुझे दूध पिलाया था।' पत्नीने वृद्धाके पैर छुये।

परिवारके सभी सदस्योंने वृद्धाको पूर्ण आदर दिया। बहुत-से उपहार देकर कारसे उन्हें गाँव भिजवाया।

ब्रिटिश जजकी अनूठी न्यायप्रियता

उन दिनों चतुर्थ हेनरी ब्रिटेनके राजा थे। उनके राज्यके एण्डरसन नामक न्यायाधीश निष्पक्षताके लिये विख्यात थे। वह प्रतिदिन भगवान्‌से प्रार्थना करते कि

न्यायके आसनपर बैठनेके बाद उनसे कोई अन्याय न हो। प्रार्थनाके बाद ही वे न्यायालय जाते।

एक बार राजाके युवा पुत्रके मुँहलगे कर्मचारीने किसी गरीबका उत्पीड़न कर दिया। गरीबने न्यायालयमें गुहार लगायी। न्यायाधीशने राजकुमारकी सिफारिश न मानकर कर्मचारीको सजा सुना दी। जब राजकुमारको पता लगा तो वह क्रोधमें भरकर न्यायालय जा पहुँचा। न्यायाधीशने कहा—'राजकुमार! मैं न्यायके आसनपर बैठकर अन्याय कदापि नहीं कर सकता। राजा होनेके नाते इसकी सजा अब आपके पिता ही माफ कर सकते हैं।' राजकुमारने आपेसे बाहर होकर न्यायाधीशके प्रति अपशब्दका प्रयोग कर दिया। न्यायाधीशने कहा—'राजकुमार, आपने अदालतका अपमान किया है। मैं आपको कारावासका दण्ड देता हूँ।'

सम्राट् हेनरीतक यह बात पहुँची। रानीके द्वारा बेटेके पक्षमें अनुरोध करनेपर राजाने उन्हें समझाया, 'कानून सबके लिये बराबर होना चाहिये। राजकुमारने अदालतपर दबाव डालकर तथा न्यायाधीशको धमकाकर जेल जानेका काम किया है। मैं ऐसे निर्भीक, निष्पक्ष न्यायाधीशपर गर्व करता हूँ।'

अमेरिकी जजकी करुणा-भावना

अमेरिकाके न्यायाधीश राल्फ कोहिन परम धार्मिक तथा कर्तव्यपरायण थे। वे प्रतिदिन न्यायालय जानेसे पूर्व प्रार्थना करते थे कि किसी भी मुकदमेमें मेरी कलमसे न्यायकी अवहेलनाका आदेश न लिखा जाय। मैं अपने कर्तव्यका पूरी तरह पालन करता रहूँ। वे अपने मित्रोंसे कहा करते थे कि मैं न्यायको साक्षात् परमात्मा तथा न्यायालयको चर्च मानता हूँ।

एक दिन न्यायालयमें विशेष सुनवाई करनी थी। वे घरसे न्यायालयकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें किसीकी कारकी चपेटमें आये एक व्यक्तिको उन्होंने घायल अवस्थामें छटपटाते देखा, तुरन्त उन्होंने कार रोकी और उसे उसमें लिटाया तथा अस्पतालमें दाखिल करा दिया। न्यायालयके कमरेमें पहुँचे तो देखा कि कमरा खचाखच भरा हुआ है, दोनों पक्षोंके वकील कुर्सियोंपर बैठे उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

न्यायाधीश राल्फ कोहिनने नियमानुसार कुर्सीको सलाम किया। खड़े होकर उपस्थित जनोंको सम्बोधित किया और कहा—'आज मैं व्यक्तिगत कर्तव्यपालन करनेकी वजहसे न्यायालय ठीक समय नहीं पहुँच पाया। आप सबको मेरे विलम्बसे आनेके कारण कष्ट तथा असुविधा हुई है। मैं न केवल इसके लिये क्षमा माँगता हूँ, अपितु अपनेपर पचास डालर जुर्माना ठोकता हूँ।'

न्यायाधीशके सहायकने जब कहा—'जज साहब एक घायलको अस्पताल पहुँचानेके कारण देरीसे आ पाये हैं तो उन्होंने कहा—इस बातकी अदालतमें चर्चा करनेकी जरूरत नहीं है। मैंने अपने मानव-धर्म (कर्तव्य)-का पालनमात्र किया है। सभी ऐसी अनूठी कर्तव्यपालनकी भावनाको देखकर हतप्रभ रह गये।

जजने अपनेको सजा सुनायी

अमेरिकाके क्लोनर राज्यके जज श्री पी०डब्ल्यू० स्मिथ कोई गलत कार्य न होने पाये इसका विशेष ध्यान रखते थे। वे कहा करते थे कि सच्चा न्यायाधीश वही है, जो स्वयं कानूनका पूरी तरह पालन करनेको तत्पर रहता है।

एक दिन जज कारसे कहीं जा रहे थे। अचानक जल्दबाजीमें सड़क पार करता युवक उनकी कारके सामने आ गया तथा घायल हो गया। उसे पुलिसने अस्पतालमें दाखिल करा दिया।

श्रीस्मिथ पूरे दिन युवकके घायल होनेसे चिन्तित रहे। रातभर सो नहीं पाये, उन्हें लगा कि वे कारको नियन्त्रित नहीं कर पाये, अतः वे भी दोषी हैं। दूसरे दिन अदालत पहुँचते ही उन्होंने अपने विरुद्ध मुकदमा दर्ज कराया। जज साहबने पिछले सप्ताह ही एक दुर्घटनाके आरोपी युवकको पन्द्रह दिनकी कैद अथवा १५ डालर जुर्मानेकी सजा सुनायी थी। उन्होंने उसीकी तरह अपने लिये १५ दिन कैदकी सजा सुना दी।

वे जेल जानेके लिये तैयार हो गये। मुख्य न्यायाधीशको इस अनूठे निर्णयका पता लगा तो वे तुरन्त न्यायालय पहुँचे। उन्होंने इस अनूठे निर्णयके लिये जज स्मिथकी पीठ थपथपायी तथा कैदकी जगह पन्द्रह डालर जुर्मानेके रूपमें अपने पाससे जमा कर दिये।

अमेरिकी राष्ट्रपतिको जब इसका पता चला तो उन्होंने भी इस अनूठे न्यायप्रिय जजको सन्देश भेजकर मुक्तकण्ठसे उनकी सराहना की।

आदर्श राजाओंके कुछ प्रेरक प्रसंग

(श्रीधर्मेन्द्रजी गोयल)

भारत धर्मप्राण ऋषि-मुनियोंका परम पवित्र देश है। यहाँके राजा-महाराजाओं तथा शासकोंने शास्त्रानुसार जीवनचर्याका पालनकर पूरे संसारके सामने अनूठा आदर्श उपस्थित किया।

प्राचीनकालके राजा-महाराजा धर्मानुसार राज्यका संचालन करते थे। धर्मके पालन तथा प्रजाके हितके लिये वे सर्वस्व समर्पित करनेके लिये तत्पर रहा करते थे। वर्तमानकालके अधिकांश राजा-महाराजाओंने भी शास्त्रानुसार जीवनचर्याका पालन करते हुए अनेक अनूठे आदर्श उपस्थित किये।

कश्मीरनरेशकी अनूठी विनयशीलता

जम्मू-कश्मीरके महाराजा प्रतापसिंह दृढ़ सनातनधर्मी तथा गोभक्त थे। वे अपनी प्रजाके हितके लिये सदैव तत्पर रहते थे। उन्होंने धर्मशास्त्रोंसे यह शिक्षा ली थी कि प्रजाके प्रत्येक व्यक्तिके सुख-दुःखमें सहभागी बननेको तत्पर रहेंगे।

एक बार महाराजा प्रतापसिंह घोड़ेपर सवार होकर भ्रमणके लिये निकले। गाँवके बाहर एक बागके पास पहुँचे ही थे कि किसी युवकके कराहनेकी आवाज सुनायी दी। वे घोड़ेसे उतर गये तथा देखा कि एक युवक जमीनपर लेटा हुआ कराह रहा है।

महाराजाने पूछा—तुम कौन हो? क्यों कराह रहे हो? युवकने बताया कि मैं जम्मूकी लक्ष्मी मेहतरानी (भंगिन)-का दामाद हूँ। जम्मू जा रहा था कि अचानक पेटमें भीषण दर्द होने लगा। यहाँ वृक्षकी छायामें बैठकर विश्राम कर रहा हूँ।

महाराजा प्रतापसिंहने कहा—मैं भी जम्मू जा रहा हूँ। मेरे घोड़ेपर मेरे पीछे बैठ जाओ। तुम्हें जम्मू लक्ष्मीके घर पहुँचा दूँगा। वे कुछ ही देरमें लक्ष्मीके घर जा पहुँचे। लक्ष्मी मेहतरानीने जैसे ही राजाको सामने खड़े देखा और दामादको घोड़ेसे उतरते देखा, वह हतप्रभ रह गयी। महाराजाने उसे परेशान देखकर कहा—परेशान क्यों हो रही हो? यह तुम्हारा ही नहीं; हमारा भी तो दामाद है। राजाने अपनी अँगुलीसे अँगूठी उतारी तथा भेंटमें उसे दे दी।

क्या वर्तमान समयका कोई शासक ऐसा करुण हृदयवाला दिखायी देता है!

मेरी नहीं; भगवान्‌की प्रशंसा करो

अहिल्याबाई होल्कर दानशील तथा परोपकारी रानी थीं। राज्यके एक विद्वान् पण्डितने रानी अहिल्याबाईकी प्रशंसामें एक महाकाव्यकी रचना की। इसमें रानीद्वारा किये गये सत्कार्योंकी भरपूर प्रशंसा की गयी थी।

राजदरबारमें पहुँचकर कविने रानीके समक्ष महाकाव्यकी कुछ पंक्तियाँ सुनायीं। दरबारमें उपस्थित लोग वाह-वाह कर उठे।

रानी अहिल्याबाईने कहा—पण्डितजी, आपमें कविता रचनेकी अनूठी सामर्थ्य है। मैं एक साधारण महिला हूँ। रानी होनेके कारण प्रजाकी सेवा करना मेरा परम धर्म है। यदि आप मेरी जगह भगवान्‌की प्रशंसामें यह महाकाव्य रचते तो वह अमर हो जाता। उसे पढ़कर लोगोंको भगवान्‌की भक्ति करनेकी प्रेरणा मिलती। इससे कविके नाते आपका प्रयास जहाँ सफल होता, वहीं सुननेवालेको भी पुण्यकी प्राप्ति होती।

रानीने अपने प्रधानमन्त्रीसे कहा—कविजीको उनके परिश्रमके लिये सुवर्णमुद्राएँ भेंट करो तथा इस पुस्तककी पाण्डुलिपिको नर्मदा नदीमें प्रवाहित करा दो।

सभी दरबारी एवं स्वयं महाकवि रानी अहिल्याबाईके शब्द सुनकर उनके समक्ष नतमस्तक हो उठे।

वर्तमान समयके शासक तो समय-समयपर अपनी प्रशंसा तथा यशके लिये स्वयं आयोजन करानेमें नहीं हिचकिचाते।

वृद्धाकी सहायता

गोण्डलके राजा श्रीभगवतसिंह मोटर-कारमें बैठकर कहीं जा रहे थे। जैसे ही कार जंगलमें पहुँची; उन्होंने देखा कि कच्ची सड़कपर एक वृद्धा खड़ी हुई है। उसके पैरोंके पास गोबरसे भरा टोकरा रखा था। उसने ग्रामीणको देखकर

आवाज लगायी कि भैया! जरा यह टोकरा उठाकर मेरे सिरपर रखवा दो। ग्रामीणने कोई ध्यान नहीं दिया तथा आगे बढ़ गया।

राजा भगवतसिंहने ड्राइवरको संकेतकर कार रुकवायी। कारसे उतरे तथा टोकरा उठाया और वृद्धाके सिरपर रख दिया।

गाँवका मुखिया उधरसे कहीं जा रहा था। वह राजाको पहचानता था। उसने राजाको टोकरा उठाकर वृद्धाके सिरपर रखते देख लिया था। उसने हाथ जोड़कर कहा—सरकार! आपने गोबरका टोकरा क्यों उठाया? इस कामको तो कोई भी ग्रामीण कर सकता था।

राजाने कहा—किसीकी सहायता करना प्रत्येक व्यक्तिका धर्म होता है। वृद्धा तो मेरी माताके समान थी। यदि मैंने उसकी सहायता कर दी तो क्या बड़ी बात हुई!

मैं नहीं; गोपाल हैं राजा

जयपुरके राजा माधोसिंह परम धार्मिक तथा श्रीकृष्णभक्त थे। सबेरे उठते ही सबसे पहले गायके दर्शन करने गोशाला जाते थे। इसके बाद महलके झरोखेसे दूरबीनसे गोविन्द देवजीकी मूर्तिके दर्शन करते। फिर अपने महलमें विराजमान गोपालजीकी मूर्तिके सामने खड़े होकर राजस्थानी भाषामें कहते—अरे गोपाल, तूने ही मुझे राजा बनाया है। मैं अपनी मर्जीसे थोड़े ही राजा बन गया हूँ। अब यह तेरा काम है कि मुझसे दिनभरमें ऐसा काम न होने देना, जिससे तेरी या मेरी बदनामी हो। मेरे हाथों किसीके साथ अन्याय न हो, यह देखना तेरा काम है।

राजा अपना पूरा दिन भगवान्‌के जिम्मे सौंपकर निश्चिन्त हो जाते थे। एक दिन उनके प्रधानमन्त्रीने पूछा—महाराज, आप प्रतिदिन गोपालजीसे ऐसी प्रार्थना क्यों करते हैं?

राजाने उत्तर दिया—मैं जब वास्तवमें हृदयसे यह मानता हूँ कि असली राजा मैं नहीं, गोपालजी हैं तो किसी तरहका अहंकार या छल-कपट मेरे पास नहीं फटकने पाता। अच्छाई-बुराई गोपालजीपर छोड़ देनेपर मुझसे कोई गलत काम हो ही नहीं सकता।

ऐसी दिव्य जीवनचर्या थी राजा माधोसिंहजीकी।

एक उच्चकोटिके साधककी दिनचर्या

(डॉ० देवदत्तजी आचार्य, एम०डी०)

कुछ वर्ष पूर्वका यह एक सत्य प्रसंग है। मैं भगवान् दत्तात्रेयकी जयन्तीके सन्दर्भमें सौराष्ट्र प्रदेशके गिरनारपर्वतकी प्रदक्षिणा करने गया था। मैं जब प्रदक्षिणा करते हुए सूर्यकुण्डके समीप पहुँचा, तब एक वृक्षके समीप मैंने एक कुटीर देखी, जहाँपर एक साधु बैठे थे। मैं विश्रामहेतु वहाँपर बैठ गया। मैंने साधुसे पूछा कि इस कुटीरमें कौन रहता है? उन्होंने कहा कि 'इसमें एक उच्च कोटिके गायत्री-साधक ब्रह्मचारीजी रहते हैं और गायत्री-पुरश्चरण करते हैं। वे मेरे गुरु हैं। वे सत्पुरुष प्रायः पाँच वर्षसे यहाँ साधना कर रहे हैं। सात वर्षके बाद उनकी साधना पूर्ण होगी, ऐसा उन्होंने कहा है। वे नित्य प्रातःकालमें साधनाका प्रारम्भ करते हैं और सायंकालमें बाहर आते हैं। आधे घण्टेके बाद वे इस कुटीरसे बाहर आयेंगे और दर्शनार्थियोंसे मिलेंगे।

मैं साधुकी बात सुनकर वहाँपर आधा घण्टा रुक गया। समय होनेपर कुटीरका द्वार खुला और एक गौरवर्णके श्वेत वस्त्रधारी व्यक्ति बाहर आये। मैंने उठकर उनको प्रणाम किया। उन्होंने मेरा परिचय पूछा। मैंने कहा कि 'मैं वाराणसीका ब्राह्मण हूँ और यात्रार्थ गिरनारमें आया हूँ।'

मेरा संक्षिप्त परिचय सुनकर वे प्रसन्न हुए और मुझे अपनी कुटीरमें ले गये। मुझे वहाँका वातावरण पवित्र एवं अन्तर्मुखी कर देनेवाला प्रतीत हुआ। उन्होंने मुझसे कहा कि वे भी वाराणसीके ब्राह्मण हैं और षड्दर्शनाचार्य हैं। १२ वर्षकी गायत्रीसाधनाहेतु यहाँपर आये हैं। वे केवल गोदुग्धाहारी हैं।

मैंने उनकी दिनचर्याके विषयमें पूछा तो उन्होंने

विनम्रतासे कहा कि वे नित्य रातको ३ बजे उठ जाते हैं। शौच, दन्तधावनके बाद शीतल जलसे स्नान करते हैं। सूर्य नमस्कार तथा योगासन और प्राणायाम, बन्ध-मुद्रादिका अभ्यास करनेके उपरान्त सन्ध्यावन्दन करते हैं। तत्पश्चात् गायत्रीपूजा और जप करते हैं। जप-संख्याका दशांश होम, तद्दशांश तर्पण, तद्दशांश मार्जन करते हैं। मध्याह्न और सायं—दोनों समय में स्नान-सन्ध्या करते हैं। रात्रिको गायका दूध पीते हैं। उस समय यहाँ आनेवाले लोगोंको धर्मोपदेश देते हैं।

मैंने सत्पुरुष ब्रह्मचारीजीसे गायत्रीमन्त्रका रहस्य एवं जपविधिके विषयमें पूछा। उन्होंने कहा कि गायत्री तो वेदमाता हैं, भवसागरसे परित्राण करनेवाली हैं, मनको अमनस्ककर आत्मस्थ कर देनेवाली हैं। वह श्रेष्ठ मन्त्र है। ब्राह्मण वटुको यज्ञोपवीत-संस्कार प्राप्त होनेपर गायत्रीमन्त्रकी साधनाका अधिकार प्राप्त होता है। त्रिवर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको शिखा, सूत्र एवं त्रिकाल सन्ध्यावन्दन तथा यज्ञ, वेदाध्ययनका अधिकार है। इनसे उसको ऐश्वर्य, बल, बुद्धि, दीर्घायु इत्यादि प्राप्त होते हैं।

'गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृता।' गायत्री उपासककी रक्षा करती है। त्रिवर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये गायत्री-उपासना अनिवार्य है। ऐसा न करनेपर वे शूद्रवत् हो जाते हैं। अन्य धर्मोंकी उपासनामें रोटी, धन, भौतिक पदार्थोंकी याचना की जाती है जबकि सनातन वैदिक लोग गायत्री-उपासनाद्वारा भगवतीसे निर्मल विशुद्ध बुद्धिकी याचना करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक संस्कृति अत्युच्च है। यदि साधककी बुद्धि विशुद्ध हो तो वह महान् कार्य करता हुआ अपना जीवन धन्य बना सकता है।

मैंने ब्रह्मचारीजीसे पूछा कि क्या त्रिकाल-सन्ध्यामें ब्रह्मशापविमोचन, वसिष्ठशापविमोचन, विश्वामित्रशाप-विमोचन करना आवश्यक है।

ब्रह्मचारीजी बोले—तान्त्रिक उपासनामें शापविमोचन, मुद्राएँ इत्यादि करना अनिवार्य कहा है; वैदिक उपासनामें नहीं।

मैंने पूछा—गायत्रीमन्त्रमें २३ अक्षरोंको २४ अक्षर कैसे बनाकर उच्चारण करना चाहिये?

ब्रह्मचारीजी बोले—गायत्रीमन्त्रमें **'वरेण्यम्'** शब्दको **'वरेणियम्'** उच्चारनेपर चौबीस अक्षर बन जाते हैं। सद्गुरु शिष्यको यज्ञोपवीत-संस्कारके समय इनका रहस्य समझाते हैं।

मैंने ब्रह्मचारीजीसे विनती की कि गायत्रीमन्त्रका सरल अर्थ समझानेकी कृपा कीजिये।

ब्रह्मचारीजी बोले—गायत्रीमन्त्रका बुद्धिगम्य अर्थ इस प्रकारसे है—**'यो नः धियः प्रचोदयात्, तत् सवितुः देवस्य वरेण्यम् भर्गः धीमहि ओम्।'** अर्थात् ओम्-शब्द-वाच्य निर्गुण परब्रह्म ही **भूर्भुवः स्वः** स्वरूप विराट् पुरुष अथवा सगुण ईश्वर है। उसी स्वयं प्रकाशमान परब्रह्मकी पूजनीय ज्योतिका हम ध्यान करते हैं। वह ज्योति हमारी बुद्धिको धर्म-अर्थ-काम-मोक्षमें प्रेरित करे। 'ॐ' यह प्रणव मन्त्र है—ब्रह्मका नाम है। सृष्टिके प्रारम्भमें ॐकार सर्वप्रथम आविर्भूत हुआ है। ॐकारका जप एवं अर्थकी भावना करनेपर ईश्वर-साक्षात्कार होता है। सृष्टिके प्रारम्भमें केवल अद्वितीय परमात्मा ही था।

'भूर्भुवः स्वः' को व्याहृति कहते हैं, जो वेदमेंसे खींची हुई है। **'तत्'** माने वह। यह निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ईश्वरका एकत्ववाचक शब्द है। **'देवस्य सवितुः'** अर्थात् द्योतनात्मक परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रकाशमय है, सर्वप्रकाशशील पदार्थोंका प्रकाशक है, सम्पूर्ण ज्ञानका मूलाधार है। सूर्यदेवका प्रकाश स्वयं प्रकाशमय परमात्माका स्थूल प्रतीक है। अतः गायत्रीमन्त्रमें **'सवितुः'** शब्दका प्रयोग हुआ है। **'वरेण्यम् भर्गः'** अर्थात् पूजनीय दिव्य ज्योति। भगवान्‌की ज्ञानप्रकाशिका ज्योतिकी ही सर्वस्थानोंमें उपासना की जाती है। **'धीमहि'** अर्थात् ध्यान करते हैं। ध्याता, ध्यान तथा ध्येय विद्यमान है। चिन्तनीय उस अवस्थाका नाम ध्यान है। **'यः नः धियः प्रचोदयात्'** अर्थात् वह ज्योतिस्वरूप ब्रह्म हमारी बुद्धिको पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष)-में प्रेरित करे।

ख आदर्श जीवनचर्याके विविध प्रेरक प्रसंग

श्रेष्ठ जीवनचर्यामें माता-पिताकी सेवाके कुछ आदर्श

भगवान् श्रीराम

'महाराजने मुझे दो वरदान देनेका वचन दिया और मैंने माँगा; किंतु महाराजका तुमपर इतना स्नेह है कि वे अपने मुखसे तुम्हें वन जानेको कह नहीं सकते।' उस दारुण रात्रिके दारुण प्रभातमें जब महामन्त्री सुमन्त्र श्रीरामको उनके सदनसे कैकेयीके भवनमें बुला लाये और पिताको मूर्छित, भूलुण्ठित, अत्यन्त विह्वल देखकर श्रीरघुनाथने कारण पूछा, तब कैकेयीने स्वस्थ स्वरमें अपनी सब करतूत उन्हें सुना दी।

'माता! आप मेरे लिये परम पूजनीया हैं। आपकी इच्छा ही मेरे लिये परमादेश है। पिताजी वरदान न भी देते तो क्या।' श्रीराघवेन्द्रने—इसी प्रातःकाल जिनका राज्याभिषेक होना था, प्रसन्न चित्तसे चौदह वर्षका वनवास स्वीकार किया विमाताके आदेशसे। समस्त वस्त्राभरण उतारकर वल्कल पहने उन चक्रवर्ती सम्राट्के राजकुमारने पिता-

माताका आदेश पालन करनेके लिये।

श्रवणकुमार

'बेटा! तीर्थ-स्नान कर पाते हम!' श्रवणके माता-पिता दोनों अन्धे। अत्यन्त वृद्ध दोनों। तीर्थयात्रा उन दिनों सबल तरुणोंके लिये भी सुगम नहीं थी। देशभरमें बड़े-बड़े वन थे। वनोंमें भयानक पशु थे। न सड़क, न नदी-नालोंपर पुल। वर्षोंका समय लगता था तीर्थयात्रामें। श्रवणके माता-पिता कौन-से नरेश या नगरसेठ थे कि रथ, अश्व या हाथी यात्राको मिलता अथवा सेवक साथ चलते। किंतु तीर्थयात्राकी कामना—कामना क्या स्थिति तथा औचित्य देखकर उठा करती है?

'जैसी आज्ञा!' पैदल एकाकी यात्रा कठिन और श्रवण-कुमारने काँवर बनाकर उसके पलड़ोंमें एक ओर माताको, एक ओर पिताको बिठाया तथा तीर्थयात्रा करने निकल पड़े।

भिक्षा माँगकर खाना ठहरा। यात्रा और माता-पिताकी सब प्रकारकी सेवा; किंतु श्रवणने माता-पिताको ही तो अपना आराध्य माना।

भीष्म

महाराज शान्तनु दासराजकी कन्यापर आसक्त हो गये। वह अत्याचारका युग नहीं था कि नरेश कन्याको बलात् छीन लेते। मछुओंके उस सरदारने एक बात स्पष्ट कह दी—'उसकी कन्याके पुत्रको ही राज्याधिकारी बनानेका वचन मिले तो वह कन्या दे।' यह वचन महाराज कैसे दे दें। उनके पुत्र कुमार देवव्रत—उन परमप्रिय,

पितृपरायण, अत्यन्त गुणवान् गंगातनयको महाराज कैसे उनके स्वत्वसे वंचित कर दें। किंतु कामासक्ति—उस आधिने महाराजका शरीर क्षीण करना प्रारम्भ किया।

कुमार देवव्रतने किसी प्रकार पिताकी चिन्ता जान ली। उन्होंने स्वयं जाकर दासराजसे कहा—'आपकी कन्या मेरी माता बनें। मुझे सिंहासन नहीं चाहिये।' दासराजने नया

प्रश्न किया; किंतु आपकी संतति तो स्वत्व माँगेगी? देवव्रतने घोषणा की—'मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा।' सुरोंने सादर पुकारा—'भीष्म! भीष्म प्रतिज्ञा है यह।' और उसी दिन कुमार देवव्रतका नाम भीष्म हुआ।

राजकुमार चण्ड

जोधपुरनरेशने चित्तौड़के युवराज चण्डसे अपनी राजकुमारीका विवाह करनेके लिये नारियल भेजा था। परिहासमें राणा लाखाने कहा—'अब कोई इस बूढ़ेके लिये नारियल थोड़े ही भेजेगा।'

राजकुमार चण्डने सुना और वे अड़ गये—'हँसीमें भी पिताने जिस नारियलकी कामना की, वे कुमारी मेरी माता हो चुकीं।'

चण्ड किसी प्रकार समझाये न जा सके। पिताने धमकी दी—'नयी रानीका पुत्र ही राजा होगा' तो चण्डने उसे सहर्ष स्वीकार ही नहीं किया, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत भी ले लिया।

वृद्ध राणा लाखाने विवाह किया और रानीको पुत्र भी हुआ। राणा तो गया-तीर्थकी रक्षा करने जाकर मारे गये; राजकुमार चण्डने अबोध छोटे सौतेले भाई मुकुलका स्वयं राजतिलक किया और सदा राजमाताकी तथा उसकी रक्षा करते रहे!

आदर्श आतिथ्य

मयूरध्वजकी अभूतपूर्व अतिथि-सेवा

महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञका अश्व श्रीकृष्णार्जुनके संरक्षणमें था, उधर उसी समय रत्नपुराधीश्वर महाराज मयूरध्वजका अश्वमेधीय घोड़ा भी निकला था। मणिपुरमें दोनोंका सामना हो गया। ताम्रध्वज अर्जुनको पराजित करके दोनों अश्वोंको अपने पिता मयूरध्वजके पास ले गया। मयूरध्वजको इससे कष्ट हुआ; क्योंकि वे श्रीकृष्णके परम भक्त थे। अर्जुन मूर्च्छासे चेत करनेपर घोड़ेके लिये विकल हो उठे। भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मण गुरु बने और अर्जुनको शिष्य बनाकर मयूरध्वजके पास गये। राजाके पूछनेपर बताया गया कि सिंहने इनके पुत्रको पकड़ लिया है। सिंह किसी प्रकार भी उसे छोड़नेपर राजी नहीं हुआ। अन्तमें वह इस बातपर राजी हुआ है कि 'यदि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपने दाहिने अंगको अपनी रानी तथा राजकुमारके द्वारा चिरवाकर दे दें तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।'

उदार राजा मयूरध्वजने प्रसन्नतासे अपना दक्षिण अंग देना स्वीकार किया। दो खम्भोंके बीचमें 'गोविन्द-माधव-मुकुन्द' नामोच्चारण करते हुए राजा बैठ गये। राजाके आज्ञानुसार रानी तथा पुत्र ताम्रध्वज आरेसे उनको चीरने लगे। जब शरीर चीरा जा रहा था, तब मयूरध्वजकी बायीं आँखसे आँसूकी बूँद टपक पड़ी। इसपर ब्राह्मण-वेशधारी भगवान्ने कहा—'राजन्! मैं दुःखपूर्वक दी हुई वस्तु नहीं लेता।' तब राजा बोले—'महाराज! आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि शरीर कटनेसे मुझे दुःख हो रहा है। बायें अंगोंको इस बातका दुःख है कि वे दाहिने अंगोंके समान

ब्राह्मणके काममें आनेका सौभाग्य प्राप्त न कर सके। इसीसे बायीं आँखमें आँसू आ गये।'

राजाकी बात सुनते ही श्यामसुन्दर शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूपमें प्रकट हो गये। उन्होंने अपने अमृतमय कर-कमलसे राजाके शरीरका स्पर्श किया। स्पर्श करते ही वह पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर, तरुण और पुष्ट हो गया। राजाको भगवान्‌ने निश्चल प्रेम-प्राप्तिका वरदान दिया। राजाने कहा—'प्रभो! ऐसी कठोर परीक्षा किसीकी न की जाय।' अन्तमें तीन दिन उनका आतिथ्य स्वीकार करके घोड़ा लेकर श्रीकृष्णार्जुन वहाँसे चले गये।

श्रीकृष्णकी 'न भूतो न भविष्यति' अतिथि-सेवा

महर्षि दुर्वासाने द्वारकामें जाकर कहा—'मुझे अपने घरमें कौन ठहराता है ? मुझे वही ठहराये, जो मेरा सब कुछ सह सके।' श्रीकृष्णने उनको ठहराया। वे कभी रोने लगते, कभी हँसते; कभी घरकी चीजोंमें आग लगा देते। जब जो इच्छा होती, माँगते और उसी क्षण वह वस्तु उन्हें मिल जाती।

एक दिन बोले—'खीर लाओ।' श्रीकृष्णने तुरंत खीर दे दी। थोड़ी-सी खाकर बोले—'कृष्ण! इस खीरको अपने सारे शरीरपर पोत लो।' श्रीकृष्णने वैसा ही किया। ऋषिने पास खड़ी रुक्मिणीदेवीसे कहा—'तुम भी चुपड़ लो।'

फिर बोले—'रथ मँगाओ।' तुरंत रथ आ गया। तब कहा—'रुक्मिणी तुरंत रथमें जुत जाय।' खीर लिपटी रुक्मिणी रथमें जुत गयीं। महर्षि रथपर बैठे चाबुक लेकर। राजमार्गपर रथ चला मुनिके इच्छानुसार और वे सटासट चाबुक फटकारते रहे रुक्मिणीदेवीपर।

खीर लपेटे श्रीकृष्णने सामने आकर बिना क्रोधके नम्रतासे कहा—'भगवन्! प्रसन्न होइये।' दुर्वासा पानी-पानी हो गये। बोले—'गोविन्द! तुम धन्य हो। तुम्हारे बिना मेरा ऐसा आतिथ्य कौन करता।'

मुद्‌गल मुनिकी परम अतिथि-सेवा

कुरुक्षेत्र निवास था मुद्‌गलजीका। वे गृहस्थ थे। पत्नी तथा एक पुत्र। किंतु उनका भोजन पन्द्रह दिनमें केवल एक बार बनता था। पन्द्रह दिन वे खेतोंमें गिरे दाने चुनते। इस शिलोञ्छवृत्तिसे १५ दिनमें एक द्रोण (लगभग ३४ सेर) अन्न वे एकत्र कर लेते थे।

अमावस्या तथा पूर्णिमाको एकत्र अन्नसे इष्टीकृत यज्ञ, दर्श तथा पौर्णमास श्राद्ध करके, अतिथि-सेवाके पश्चात् जो बच जाता, उससे वह तापस-परिवार पेटकी ज्वाला शान्त कर लेता था।

मुद्‌गलके तप-त्याग-धर्मकी ख्यातिने महर्षि दुर्वासाको आकर्षित किया। वे एक पूर्णिमाको पागलके वेशमें मुद्‌गलके यहाँ पहुँचे। मुद्‌गलने सादर आतिथ्य

किया। दुर्वासाने भोजन किया और जो अन्न बचा उसे पूरे शरीरमें मल लिया। वे तो चले गये; किंतु ब्राह्मणपरिवार भूखा रह गया। अब प्रत्येक अमावस्या-पूर्णिमाको दुर्वासाजी आ धमकते। उनका एक ही ढंग। पूरे छः बार अर्थात् तीन महीने उपवास किया मुद्‌गलके परिवारने।

ऐसे महातपोधनको लेने स्वर्गसे विमान न आये तो किसके लिये आयेगा; किंतु मुद्‌गल-जैसे परम पदके आकांक्षी महामानव तो विमानको निराश लौटानेमें समर्थ हैं।

जीवनचर्यामें धर्मनिष्ठाके विशिष्ट प्रसंग

धर्मपुत्र युधिष्ठिर

'तुम्हें अभी कौरवोंसे युद्ध करना है। नकुल या सहदेव क्या सहायता करेंगे तुम्हारी? प्रचण्ड पराक्रमी भीमसेन या अप्रतिम अस्त्रज्ञ अर्जुनका जीवन तुम क्यों नहीं माँगते?' यक्षने युधिष्ठिरसे पूछा।

द्यूत-सभामें पराजित पाण्डव वनमें भटक रहे थे। प्याससे व्याकुल जलकी खोजमें वे एक-एक करके इस सरोवरपर आये थे। कोई यक्ष कहता था—'मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर जल ग्रहण करना, अन्यथा मरोगे।' किसीने यक्षकी बातपर ध्यान नहीं दिया। सब मृत पड़े थे सरोवर-तटपर। अन्तमें युधिष्ठिर आये। यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देकर उसे सन्तुष्ट किया। यक्षने एक भाईको जीवित कर देना स्वीकार किया तो उन्होंने नकुल या सहदेवको जीवित करनेकी बात कही।

'आगे जो प्रारब्ध-विधान होगा, हो रहेगा, किंतु मेरी दो माताएँ हैं, उनमें माता कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ। मेरी दूसरी माता माद्रीके वंशकी भी रक्षा हो, इसके लिये आप नकुल या सहदेवमेंसे एकको जीवित करें।'

उत्तीर्ण हो गये धर्मपरीक्षामें धर्मपुत्र। यक्षके रूपमें तो स्वयं उनके पिता धर्म थे। युधिष्ठिरके सभी भाइयोंको जीवन तो मिलना ही था।

धर्मराज युधिष्ठिर

'यह श्वान मेरे साथ है और मैं सहचरका त्याग नहीं कर सकता। इसे भी बैठाइये विमानमें।' युधिष्ठिरका आग्रह सुनकर हँस पड़े देवराज इन्द्र—'भला स्वर्गमें कहीं कुत्ता जा सकता है।'

'इसका त्याग करके तो मैं जानेको प्रस्तुत नहीं!' युधिष्ठिर अविचल अपने निश्चयपर—'अपना आधा पुण्य मैं इसे अर्पित करता हूँ।'

राज्य त्यागकर हिमालयमें अवधूत बने आ गये। रानी द्रौपदी तथा क्रमशः चारों भाई मार्गमें गिर गये और उनकी ओर मुड़कर देखातक नहीं—लेकिन श्वान आश्रित है—आश्रितका त्याग कैसे कर दें धर्मराज!

श्वानवेशधारी धर्म अपने अंश इस मानव धर्मराजसे कितने उत्फुल्ल हुए—कहना पड़ेगा?

धर्मनिष्ठ कर्ण

'कल ही चक्रवर्ती-पदपर तुम्हारा अभिषेक हो। युधिष्ठिर तुम्हारे पीछे खड़े होकर तुम्हारे ऊपर छत्र धारण करेंगे और भीमसेन तथा अर्जुन चामर करेंगे। नकुल-सहदेव तथा मैं भी तुम्हारी आज्ञाका अनुवर्तन करूँगा। तुम कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र—मेरे साथ चलो और अपना स्वत्व प्राप्त करो!' पाण्डवोंके संधिदूत बनकर श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आये और जब असफल लौटने लगे, तब उन्होंने कर्णको कुछ दूरतक अपने रथपर बैठा लिया और यह बातें बड़े
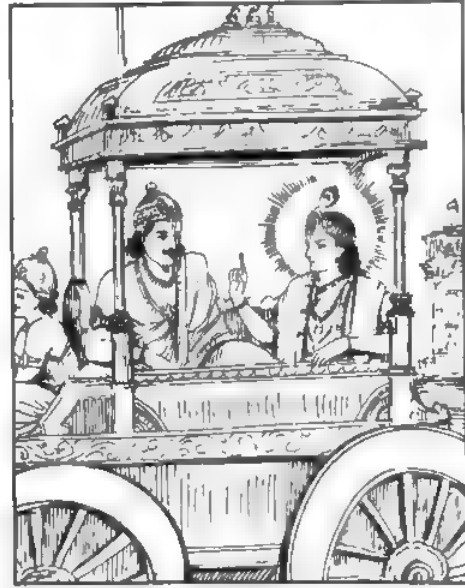
प्रभावपूर्ण ढंगसे कहीं।

'मधुसूदन! मैं जानता हूँ कि मैं देवी कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र हूँ और यह भी जानता हूँ कि धर्मपुत्र युधिष्ठिर यह जानते ही मेरे पैरोंके पास आ बैठेंगे।' महामनस्वी कर्ण कह रहे थे—'किंतु जनार्दन! मेरा अनुरोध है कि आप युधिष्ठिरसे यह बात न कहें। दुर्योधनने मेरा तब सम्मान किया, जब कोई मेरा नहीं था। उसने मुझे अपनाया, राज्य दिया और मेरे भरोसे ही वह युद्ध करनेको उद्यत है। मैं उसको छोड़ नहीं सकता। कर्ण विश्वासघात नहीं कर सकता पुरुषोत्तम!'

उदार-मानस शल्य

'आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ पथमें?' मद्राधिपति

शल्य चौंके उस समय जब हस्तिनापुर पहुँचनेपर दुर्योधन उनकी सेवामें उपस्थित होकर यह प्रश्न कर बैठा।

माद्रीके सगे भाई, नकुल-सहदेवके मामा शल्य विख्यात शूर थे। दो अक्षौहिणी सेनाके साथ मद्रदेशसे वे पाण्डवोंकी सहायता करने चले थे। मार्गमें स्थान-स्थानपर उन्हें विश्राम-शिविर मिले और उन शिविरोंपर नियुक्त सेवकोंने शल्यका उनकी सेनाके साथ भली प्रकार सत्कार किया। शल्य समझते थे—यह व्यवस्था युधिष्ठिरने की है। लेकिन पाण्डव निश्चिन्त थे कि मामाजी तो अपने पक्षमें आयेंगे ही।

'सेवकने तो कर्तव्यका पालन किया।' दुर्योधनने वह सब व्यवस्था की थी, यह उसने सूचित कर दिया और फलतः शल्यने अनिच्छापूर्वक अपना कर्तव्य माना कौरव-पक्षसे युद्ध करना। वे पाण्डव-पक्षमें जाते तो दोनों ओरकी सेनाका संख्या-बल समान हो जाता, किंतु.........।

संतोंकी जीवनचर्याके पावन प्रसंग

गोस्वामी तुलसीदास

मानवको मानवोचित मर्यादाकी शिक्षाके लिये गोस्वामी तुलसीदासने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका विमल चरित्र-चित्रण और उनकी दिनचर्याका वर्णन किया। अपने रामचरितमानस तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें उन्होंने सनातन मानव-धर्म-तत्त्वमें आस्था रखनेकी सीख दी। गोस्वामीजीने कहा कि मनुष्य-शरीर भगवान्के भजनके लिये ही मिला है। उनका कथन है—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा । मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा । जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

उन्होंने समस्त जगत्को सीताराममय देखा।

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

उन्होंने शैव और वैष्णव-सिद्धान्तकी भक्ति-परम्परामें समन्वय-भावना प्रकट की। दोहावलीमें वचन है—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

गोस्वामी तुलसीदासका समस्त जीवन भक्तिपूर्ण दैन्य और भगवत्-समर्पणका प्रतीक कहा जा सकता है। उन्होंने भक्तिकी व्याख्या की कि रामसे प्रीति करनी चाहिये, राग-रोषपर विजय प्राप्तकर नीतिके पथपर चलना चाहिये, यही भक्तिकी रीति है। इस भक्ति-प्राप्तिके फलस्वरूप दैन्य का उदय होता है। गोस्वामीजी दैन्यके बड़े धनी थे। एक समयकी बात है, परम भागवत नाभादास काशीमें उनसे मिलने आये। गोस्वामीजी ध्यानस्थ थे, इसलिये भेंट न हो सकी, वे व्रज चले आये। तुलसीदासको बड़ी ग्लानि हुई। वे नाभादासजीसे मिलने व्रज आये, उस समय सन्तोंका भण्डारा चल रहा था, नाभादास उन्हें सन्तत्वकी कड़ी कसौटीपर कसना चाहते थे। जान-बूझकर उपेक्षा कर दी, खीर परोसते-परोसते उनके पास पहुँचे, पात्र नहीं था, गोस्वामीजीने किसी सन्तकी पनहीकी ओर संकेत कर कहा कि इससे अच्छा पात्र दूसरा क्या हो सकता है। नाभादासजीने उनको गले लगा लिया, कहा कि मुझे अपने 'भक्तमालका सुमेरु' मिल गया। गोस्वामीजीका यह आचरण सिद्ध करता है कि भगवद्भक्ति वास्तविक दैन्यसे ही मिलती है।

भगवान्की भक्ति ही उनके दृष्टिकोणसे जीवनका

परम श्रेय है। राजरानी मीराँने चित्तौड़की राजसत्ताके उत्पीड़नसे त्रस्त होकर उनसे अपना कर्तव्य पूछा था, भक्तिके महान् न्यायपतिके न्यायालयसे अपने भाग्यका निर्णय माँगा था, गोस्वामीजीने अभय वाणीमें सन्देश भेजा कि 'जिसको राम-वैदेही प्रिय न हों उसका कोटि वैरीके समान परित्याग कर देना चाहिये।' उनका निर्णय था—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जा सों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

राजरानी मीराँके माध्यमसे उन्होंने प्राणिमात्रको भगवद्भक्तिके पुण्य आचरणकी सीख दी। उन्होंने मानवताको भगवद्भक्तिके अमिट रंगमें रँग दिया। कवितावलीमें गोस्वामीजीका वचन है—

परमारथु, स्वारथु, सुजसु, सुलभ राम तें सकल फल।
कह 'तुलसिदास' अब जब कबहुँ एक राम तें मोर भल॥

धर्ममूर्ति श्रीगोस्वामीजीने सकल सुकृतका फल जीवके एकमात्र परम धर्म रामकी स्नेह-प्राप्तिमें स्थिर किया। मानवता उनकी भक्तिका रसास्वादन चिरकालतक करती रहेगी।

समर्थ रामदास

सन्त समर्थ रामदासने अपने समयकी सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओंका समाधान अध्यात्मके प्रकाशमें खोजा, तत्कालीन भारतीय मानवताके सामने उन्होंने पवित्र जीवनके जो आदर्श रखे, उनके निर्वाहकी परम्परा भारतमें शताब्दियोंतक चलती रहेगी, मौलिकरूपसे भारतीय स्वराज्यके संस्थापक तो वे ही थे। महाराष्ट्रमें हनुमान्‌के अवतारके रूपमें उनकी घर-घर पूजा होती है। उन्होंने स्वराज्य—सन्तसम्मत शासन-परम्पराका शुद्ध तथा परम निर्मल रूप समझाकर प्राणिमात्रको परमात्माकी ओर प्रेरित किया। सन्त समर्थने बारह सालतक काशी, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, बदरीनारायण, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम् आदिकी तीर्थयात्राकर देश-कालकी परिस्थितिका अनुभव किया, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थानका मन्त्र जगाकर लोगोंको यथार्थ धर्मका तत्त्व समझाया, राघवेन्द्र रामके राज्यादर्शका मर्म समझाकर देशवासियोंको धर्माचरणसे युक्त जीवनचर्याका सन्देश दिया।

धर्ममूलक स्वराज्यकी स्थापना और संचालनमें योग देते रहना उनकी सम्मतिमें मानवताके प्रमुख आदर्शोंमेंसे एक था। सन्त समर्थने स्वराज्यके संस्थापक छत्रपति महाराज शिवाजी तथा भारतीय जनतासे कहा कि 'जब धर्मका अन्त हो जाय, तब जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है।' शिवाजीको समझाया कि 'धर्मको फिर जीवित कीजिये, हमारे पूर्वज—पितर स्वर्गसे हमारे ऊपर हँस रहे हैं।' सन्त समर्थने वर्णाश्रम-धर्मके संरक्षणमें अविचल निष्ठा प्रकट की। उनका जीवन परम त्यागमय था। एक दिनकी बात है कि कुछ शिष्योंके साथ भिक्षा माँगते हुए वे साताराके किलेमें पहुँच गये। उनके मुखसे 'जय-जय समर्थ रघुवीर' का जयघोष सुनते ही शिवाजीने एक पत्र लिखकर उनकी झोलीमें डाल दिया, जिसका अभिप्राय यह था कि मेरा समस्त राज्य आपका है। शिवाजीने कन्धेपर झोली रखकर भिक्षा माँगी। सन्त समर्थने समझाया कि राजकार्य करना आपका धर्म है। शिवाजी महाराजने उनके परमोत्कृष्ट त्यागसे प्रभावित होकर सिंहासनपर उनकी चरणपादुका पधराकर धर्मराज्यकी नींव दृढ़ की।

सन्त समर्थका दासबोध ग्रन्थमें कथन है कि 'सन्तका मुख्य लक्षण यह है कि वह सदा अपने स्वरूपका अनुसन्धान करता रहता है। सब लोगोंमें रहकर भी उनसे अलग रहता है, उसकी दृष्टि स्वरूपपर पड़ती है। उसकी सांसारिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं और अध्यात्म-निरूपणके प्रति ममता उत्पन्न होती है।' समर्थ रामदासने आजीवन रामकी भक्तिप्राप्तिपर बल दिया। उन्होंने कहा कि 'राम-राघवके रूपका चिन्तन करनेसे भवका जड़ोन्मूलन हो जाता है, देहभाव मिट जाता है। संसारमें बड़ी सावधानीसे सत्यकी खोज करनी चाहिये, ऐसा करनेपर ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है।' सन्त समर्थने लोगोंको प्रोत्साहित किया कि ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये। भजन, साधन और अभ्याससे ही परम सुख मिलता है—मनमें इस बातका विश्वास रखना चाहिये। दासबोधमें सन्त समर्थकी ऐसी उक्ति है। समर्थ रामदासकी जीवनचर्या धर्ममय है। वे आदर्श सन्त थे, मानवताके उद्धारक थे।

श्रीरामकृष्ण परमहंस

बंगालकी शस्यश्यामला स्वर्णभूमिने रामकृष्ण परमहंसको अपनी स्नेहमयी गोदमें पालित-पोषित करनेमें जो पुण्य कमाया, वह निस्सन्देह विश्वके किसी भी भूमिभागके लिये अमित स्पृहाकी बात है। परमहंस रामकृष्णने भारत ही नहीं, अमेरिका, यूरोप, एशिया आदिके बहुत बड़े भागके अविद्या-अन्धकारको भारतीय धर्म तथा वेदान्तकी पुण्य ज्योति (विवेकानन्दके माध्यम)-से मिटाकर शुद्ध आत्मतत्त्वका रसास्वादन कराया। मानवमात्रके लिये मानवताके समुत्थानमें यह उनका बहुत बड़ा योग है। ईश्वरकी शक्तिरूपमें उपासना करनेवालोंमें परमहंस रामकृष्णका नाम सर्वोच्च है। वे महासाधक, अनुभूतिजन्य आत्मज्ञानके महान् पण्डित और आत्मदार्शनिक थे। उन्हें भौतिकता और वैषयिक सुखकी भावना स्पर्श तक न कर सकी। उनकी सबसे बड़ी इच्छा थी कि वे सदा जगदम्बाकी भक्तिमें निमग्न रहें। उनके साधनकालकी बात है। वे गंगातटपर गये, उन्होंने एक हाथमें मिट्टी रख ली

और दूसरेमें रुपये रख लिये। उन्होंने विचार करना आरम्भ किया कि सोना और मिट्टी दोनों एक हैं—सोना मिट्टी है, मिट्टी सोना है। दोनोंकी एकरूपता सिद्ध हो जानेपर उन्होंने उनको गंगामें फेंक दिया। भगवती पार्वतीसे प्रार्थना की 'माता! मुझे भौतिक सम्पत्ति और विषय-सुखकी तनिक भी कामना नहीं है, मेरी सबसे बड़ी इच्छा यही है कि आप मेरे हृदयमें निवास करें।'

परमहंस रामकृष्णने समस्त धर्मोंकी मूलभूत एकताका भगवती महाकालीके रूपमें लोगोंको साक्षात्कार कराया। स्वामी विवेकानन्दने उनके आदर्श सन्त-मतकी व्याख्यामें घोषणा की थी कि हमारे सद्‌गुरुने कहा था कि 'सब धर्मोंका मूल स्रोत एक ही है।' उन्नीसवीं शताब्दीके इन परम सन्तने किसी भी धर्म या मतपर आक्षेप नहीं किया, उन्होंने अपने जीवनमें अनुभव किया कि सब मत-मतान्तर एक ही ईश्वरीय धर्मके विभिन्न अंग हैं। परमहंसदेवका पूरा-पूरा विश्वास था कि छोटे-बड़े सबमें समानरूपसे भागवत-ज्योति विद्यमान रहती है। परमहंसदेवने एक दिन एक नवयुवककी ओर संकेत कर कहा कि 'यह फल्गुनदीके समान है, ऊपरसे तो फल्गुतटपर बालू ही दीख पड़ती है, पर नदीमें पवित्र जलकी धारा बहती रहती है। इसी प्रकार ऊपरसे नहीं पता चलता है, पर इस नवयुवकके भीतर अध्यात्मकी धारा प्रवाहित है।' समस्त प्राणिमात्रके हृदयमें वे परमात्माकी ज्योतिका दर्शन करते थे। उपर्युक्त घटनासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि छोटे-बड़े, वयस्क और बालक सबमें समानरूपसे परमहंसदेवको अपने उपास्य ही दीख पड़ते थे।

एक समय परमहंसदेवसे एक शिष्यने पूछा कि 'जिसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकी है, क्या उसे सारे कार्य छोड़ देने चाहिये?' रामकृष्णदेवने समाधान किया कि इस 'कलियुगमें लोगोंके लिये भक्ति और प्रेमका पथ ही सुगम है। भगवन्नामका जप करना चाहिये, उन्हींका गुण-गान करना चाहिये और शुद्ध अन्तःकरणसे निवेदन करना चाहिये कि हे परमेश्वर! मुझे अपने भक्ति-ज्ञानका धनी बनाइये।' मेरे नेत्र खोल दीजिये, मुझे अपना दर्शन कराइये। परमहंसदेव अपनी कथनीके रूपमें ही करनीका परिचय देते थे। एक दिन वे भगवती कालीके दर्शनके लिये इतने व्याकुल हो गये कि उन्होंने दर्शन न होनेपर अपना प्राणान्त करनेके लिये खड्ग उठा लिया। जगदम्बाका साकार विग्रह उनके सामने प्रकट हो गया। माँने अपनी कृपाकी ज्योति-मन्दाकिनीमें उनको सराबोर कर दिया। उन्होंने मानवताको अपने भक्तिपूर्ण आचरणसे आस्तिकताका विश्वासी बना दिया, बड़े आत्मज्ञानी और वेदान्ती सन्त-महात्मा उनकी जगदम्बा-उपासनाका रसास्वादनकर धन्य

हो गये।

महात्मा गांधीके शब्दोंमें रामकृष्ण परमहंसदेवका जीवन और उनकी चर्या धर्मको व्यवहारक्षेत्रमें उतारकर मूर्तरूप देनेके प्रयासकी एक अमर गाथा है। परमहंस रामकृष्णका सत्सिद्धान्त यह था कि भक्ति-पथ सहज और सुगम है। दुर्लभ मानव-जन्म पाकर केवल इसी बातकी आवश्यकता है कि प्रभुके चरणकमलमें किस तरह भक्ति हो।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द पिछली शताब्दीकी प्रमुख आध्यात्मिक विभूतियोंमेंसे एक थे। उन्होंने मानवताको आध्यात्मिक ज्योतिसे परम सम्पन्न किया। दक्षिणेश्वरके शक्ति-ब्रह्मोपासक परमहंस रामकृष्णकी चरण-कृपाकी ज्योतिसे अविद्या-अन्धकारका नाशकर स्वामी विवेकानन्दने आत्मगत सत्य चेतनासे मानवके कल्याणका पथ प्रशस्त किया। केवल भारत ही नहीं, अमेरिका, यूरोप तथा विश्वके अन्य भाग भी उनकी आत्मज्योतिका रसास्वादन करके धन्य हो गये।

स्वामी विवेकानन्दने मानवमात्रको सेवाकी सीख दी। उन्होंने कहा कि 'प्रत्येक स्त्री-पुरुष सभीको ईश्वरके ही समान देखना चाहिये। तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा करनेका अधिकार है। ईश्वरके अनुग्रहसे यदि उनके किसी सन्तानकी सेवा करोगे तो धन्य हो जाओगे। सेवा तुम्हारे लिये पूजा है।' स्वामी विवेकानन्दने विदेश जाकर लोगोंको अध्यात्मज्ञानका दान दिया। उन्होंने ब्रह्मविद्याका प्रचार किया तथा विदेशी चिन्तन-पद्धतिपर भारतीय अध्यात्मज्ञानकी विजय स्थापित की। इंग्लैण्ड आदि देशोंमें उनका विशेष स्वागत हुआ, लोगोंने साक्षात् बुद्ध और ईसाके रूपमें उनके दर्शन किये।

स्वामी विवेकानन्दने आजीवन अद्वैत भगवत्तत्त्वका प्रचार किया। वे अपनी साधनाकी सीमामें अपने लिये परम भगवद्भक्त थे; शिष्यों, प्रेमियों और अनुयायियोंको वे आत्मज्ञानी सन्तके रूपमें दीख पड़े। उन्होंने समझाया कि मानवता सत्यके ही प्रकाशमें विकसित हो सकती है। साहसपूर्वक सत्य बोलो, सत्य सनातन है, सभी आत्माओंकी प्रकृति सत्य ही है। सत्य प्रकाश प्रदान करता है, चेतनता और स्फूर्तिका सृजन करता है।

स्वामी विवेकानन्द मानवताके महान् आदर्श थे। वे आत्म-मानव थे। वे सर्वथा निष्पक्ष थे। एक समयकी घटना है। खेतड़ी-नरेशकी विशेष प्रार्थनापर वे राजस्थान गये। अलवरमें जिस समय रेलवे-स्टेशनपर उनके स्वागतके लिये बड़े-बड़े धनी-मानी खड़े थे, प्लेटफार्मपर उतरते ही थोड़ी दूरपर उन्हें रामसनेही नामक व्यक्ति दीख पड़ा। वह पहली यात्रामें उनका शिष्य हो गया था। स्वामीजी जोर-जोरसे उसका नाम लेते हुए अपार भीड़ चीरकर आगे बढ़ गये। वह बेचारा गरीब था। विवेकानन्दने प्रेमपूर्वक उसका आलिंगन किया। उनकी आत्मस्वरूपिणी मानवताका दर्शनकर उपस्थित जनता धन्य हो गयी।

स्वामीजीने कहा कि 'दूसरोंका दोष न देखकर यदि आप अपना चरित्र सुधारेंगे, अपनी जीवनचर्या पवित्र बनायेंगे तो संसार अपने आप ही सुधर जायगा।' उन्होंने मानवमात्रको इस प्रकार कर्मका रहस्य समझाया। वे मानवतावादी सन्त थे।

स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती

काशीके आदर्श संन्यासी सन्त विशुद्धानन्द सरस्वती वेदान्तके महान् पण्डित थे। सनातन-धर्मके संन्यास-सिद्धान्तके रंगमें रँगा हुआ उनका समस्त जीवन आत्मप्रकाशसे

समृद्ध था। वे औपनिषद् आत्मशान्ति तथा निवृत्तिकी सजीव चेतनता थे। लोकख्याति और जनसम्पर्कसे पूर्ण तटस्थ रहकर काशीके अहल्याबाई घाटपर अपने पवित्र आश्रममें रहकर आजीवन आत्मसाक्षात्कारकी ही साधना करते रहे, काशीके बड़े-बड़े विद्वान्, ज्ञानी और ऐश्वर्यसम्पन्न धनी-मानी व्यक्ति उनके चरणोंके शरणागत होकर आत्मोत्थानका ज्ञान प्राप्त करनेमें अपने-आपको बड़े भाग्यशाली मानते थे।

आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें वे श्रद्धाको बहुत महत्त्व देते थे। एक समयकी बात है, वे अपने प्रिय शिष्य महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषणको 'छान्दोग्योपनिषद्' का एक अंश पढ़ा रहे थे। वे प्रयाणके समय दक्षिण मार्गकी गतिपर प्रकाश डाल रहे थे, भगवती भागीरथीकी कल-कल शान्तगतिसे वातावरणमें नीरवता थी, तर्कभूषण महोदयके लिये विषय रुचिकर नहीं था, वे कुछ उपरति-सी दिखला रहे थे। महाराज विशुद्धानन्दजीने उस समयके लिये पढ़ाना स्थगित कर दिया, कहा कि 'तुम्हारे मनमें सन्देह है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ सत्यपर प्रतिष्ठित है या नहीं, इस सन्देहने तुमको श्रद्धाहीन कर दिया। जिसके मनमें श्रद्धा नहीं है, उसके लिये इन बातोंका न सुनना ही अच्छा है और कहनेवालेके लिये भी यह विडम्बनामात्र है।' तर्कभूषण महोदयने स्वामीजीके चरणदेशमें विनत होकर अपने अज्ञानके लिये क्षमा माँगी। स्वामीजीके मुखसे उस समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन निकल पड़े कि 'आजकल ज्यों-ज्यों पाश्चात्त्य शिक्षाका प्रभाव बढ़ रहा है, त्यों-त्यों संस्कृत-शिक्षा-पद्धतिका प्रचुररूपमें ह्रास हो रहा है, अध्यात्मशास्त्रके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा होना इसीका परिणाम है।'

स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज उच्चकोटिके तपस्वी, मौनसाधक और योगी थे। उन्होंने अपने महाप्रयाणके बीस-बाईस साल पहलेसे ही सुषुम्नानाड़ीद्वारा योगक्रियासे उत्क्रमण-मार्गका अनुसन्धान आरम्भ किया था। वे अपने प्रयासमें सफल थे। उन्होंने कुछ दिनों पहले ही यह कह दिया था कि मैं अमुक अवसरपर महाप्रयाण करूँगा। अपने कथनके ही अनुसार यथासमय उन्होंने नश्वर शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेदकर अमृत-धामकी यात्रा की थी।

निस्सन्देह स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती आदर्श संन्यासी और परम विरक्त थे।

महर्षि रमण

महर्षि रमणने अपनी समकालीन मानवताका आत्मज्ञानके प्रकाशमें पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने निष्पक्षभावसे मानव-मात्रको शरीर नहीं, शरीरी—आत्माका तत्त्व समझनेकी प्रेरणा दी। वे समस्त जगत्‌के थे और निस्सन्देह समस्त जगत्‌की आत्मचेतना उनमें परिव्याप्त थी। उनका अरुणाचलस्थ रमणाश्रम सांसारिकताके मरुस्थलका मरूद्यान है। महर्षि रमणने अपनी खोज की, वे आत्माके मानवरूपके मौलिक व्याख्याकार थे, उन्होंने लोक-जीवनको आत्मप्रकाश दिया, मानवताके ऐतिहासिक विकासमें यह उनका महान् योग स्वीकार किया जा सकता है।

महर्षि रमणने मानवको आत्मानुसन्धानका मार्ग बताया। उन्होंने कहा कि अपने आपको जानो, आत्मज्ञान ही परमोच्च ज्ञान है। आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद कुछ भी जाननेके लिये नहीं रह जाता है। 'उपदेशसार' में महर्षिकी वाणी है—

भावशून्यसद्भावसुस्थितिः भावना बलाद् भक्तिरुत्तमा।
बन्धमुक्त्यतीतं परं सुखं विन्दतीह जीवस्तु दैविकः॥

महर्षि रमणने मानवको अपरिग्रह, आत्मज्ञान और भगवद्विश्वाससे सम्पन्न किया, वे स्वयं इनसे सम्पन्न

थे, उनका समस्त जीवन आचरणप्रधान था। वे उच्च कोटिके अपरिग्रही थे। एक समयकी बात है, उनके पास केवल एक लँगोटी थी, उसीसे वे काम चलाते थे, वह फट गयी थी, पर यह बात किसी प्रकार प्रकट न हो, इसलिये किसीसे उन्होंने आश्रममें सूई-डोरेकी भी माँग न की। वे जंगलमें गये, एक मोटे काँटेमें पतले काँटेसे छेदकर उन्होंने उससे सूईका काम लिया। फटी लँगोटीमेंसे तागा निकालकर उसको सी लिया और उसको बहुत दिनोंतक उपयोगमें लाते रहे। मानवमात्रको महर्षिने अपने इस तरहके जीवनसे अपरिग्रहकी शिक्षा दी। महर्षिने मानवताको कहीं अपमानित नहीं होने दिया, मानवके हितके अनुकूल ही उनका आचरण परम पवित्र था। वे अभय थे, केवल परमात्माके शासनमें उनका कर्तव्य निर्धारित होता रहता था। वे महान् भगवद्विश्वासी थे, भगवान् अरुणाचलमें उनकी परम निष्ठा थी, एक समय मातृ-भूतेश्वर मन्दिरके लिये चन्दा एकत्र करनेके लिये एक सज्जनने अहमदाबाद जानेकी आज्ञा माँगी, महर्षिने तत्काल कहा कि 'यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आपलोगोंका विश्वास भगवान्‌में नहीं दीख पड़ता।' उन्होंने अरुणाचलकी ओर संकेत कर कहा कि इनकी कृपासे हमारी समस्त आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। उन्होंने मानवताको भगवद्विश्वाससे समृद्ध किया।

महर्षि रमणका जीवन आदर्श सन्तत्वसे सम्पन्न था। उन्होंने मानवताको आत्मीयताका पाठ पढ़ाया, समस्त चराचरमें परमतत्त्वकी अनुभूतिकी सीख दी। उन्होंने कहा कि ईश्वरसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है। केवल वे ही सत् हैं। रमण महर्षि वास्तवमें लोकगुरु थे, वे सच्चे संन्यासी थे। ये उदाहरण भारतके सच्चे संतोंका स्वरूप लक्ष्य करानेके लिये हैं।

जीवनचर्यामें कर्मयोग और कर्म-संन्यासके कुछ प्रतिमान

कर्मयोगी श्रीकृष्ण

गीताके उपदेशक—जगद्गुरु श्रीकृष्ण—गृहत्याग या कर्मत्यागका कहीं उपदेश किया उन पार्थसारथिने? श्रीकृष्णका लोकसंग्रह—कर्मनिवृत्तिका तो आदर्श नहीं रखा है उन्होंने।

नैष्कर्म्य—अनासक्ति, फलासक्ति त्यागकर कर्तव्य-बुद्धिसे—विश्वात्माकी सेवाके लिये किया गया कर्म ही 'नैष्कर्म्य' है। यह श्रीकृष्णका उपदेश और श्रीकृष्णका आदर्श—इतना पूर्ण, इतना सुविशाल गार्हस्थ्य।

षोडश सहस्र पत्नियाँ, प्रत्येकके दस-दस पुत्र ऊपरसे और द्वारकाका अपार यादवकुल श्रीकृष्णका अपना ही परिवार तो—हस्तिनापुर-पाण्डवकुल भी उनके परिवारमें आ गया।

ब्राह्ममुहूर्तमें जागरण, प्रात:सन्ध्या, तर्पण, हवन, देवाराधन, अतिथिसेवा, स्वजनसत्कार—गृहस्थधर्मके सम्पूर्ण अंगोंको सम्यक् रीतिसे आचरणके द्वारा सुशोभित किया उन पूर्णकामने लोकसंग्रहके लिये। मानवको जीवनचर्यामें उसका कर्तव्य प्रदर्शित करनेके लिये।

कर्मयोगी महाराज जनक

'मिथिलायां दह्यमानायां न मे दह्यति किंचन।'

सम्पूर्ण मिथिला अग्निमें भस्म हो रही है तो होने दो—मेरा उसमें क्या भस्म होता है? यह उद्घोष और सचमुच जिसकी आसक्ति सांसारिक पदार्थोंमें नहीं, शरीरमें नहीं—जो पदार्थ एवं शरीरको अपना नहीं स्वीकार करता—अग्नि क्या जला सकता है उसका?

यह अनासक्ति—महाराज जनकको चाटुकारोंने नहीं, महर्षियोंने, सर्वज्ञजनोंके समुदायने विदेह कहा था। वे नित्य देहातीत—शुकदेव-जैसे वीतराग-शिरोमणि उनके यहाँ तत्त्वज्ञानका उपदेश प्राप्त करने आते थे।

आत्मज्ञानके वे परम धनी—गृहस्थ ही तो थे। गृहस्थ थे महाराज जनक और उनके गृहस्थधर्मके पालनमें कोई उपेक्षा, राज्य-संचालनमें कोई अनुत्तरदायित्व, कोई प्रमाद, कोई त्रुटि कहीं कोई बता सकता है? प्रजापालन, स्त्री-पुत्र, पुत्रियोंके प्रति स्नेहनिर्वाह, सन्ध्या-तर्पणादि, देव एवं पितरोंकी आराधना, अतिथि-सेवा—गृहस्थके समस्त धर्मोंका

सावधानीसे पालन होता था उन जीवन्मुक्तोंके शिरोमणिद्वारा।

संसार-त्यागी याज्ञवल्क्य

महाराज जनकके गुरु, भरी ब्रह्मर्षिसभामें—'सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी इन गायोंको ले जाय!' इस घोषणाको चुनौती देते एक सहस्र गायें ले जानेवाले महत्तम याज्ञवल्क्य—ब्राह्मणका जीवन त्यागका आदर्श स्थापित करनेके लिये है, यह निश्चय जिस दिन किया उन्होंने—दोनों पत्नियोंको कह दिया कि वे उनकी सम्पत्ति परस्पर बाँट लें।

कुटीर भी त्याग करके, केवल लँगोटी लगाकर वनपथ लिया याज्ञवल्क्यने। ब्रह्मर्षियोंके परम सम्मान्य याज्ञवल्क्य, मिथिलानरेशके सुपूजित राजगुरु; किंतु भोग और यश क्या विरक्तको अपने स्वर्णिम जालमें कभी बाँध सके हैं?

विरक्त-चूड़ामणि महाराज ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव—वे श्रीहरिके अवतार—सम्पूर्ण विभूतियाँ प्राणी जिनके प्रसादसे प्राप्त करता है, वे निखिल भुवनके नाथ—वे सप्तद्वीपवती पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे। समस्त नरपतिवृन्द सादर उनके पादपीठकी वन्दना करता था, यह उनका उत्कर्ष-वर्णन तो नहीं होगा।

बिखरे केश, धूलिधूसर आजानुबाहु, भव्य देह, न आभूषण, न वस्त्र, न चन्दन—आत्मलीन प्रतीत होते कमलदल दीर्घलोचन—उन्मत्तकी भाँति वनमें विचरण करते वे कर्मसंन्यासके साकार प्रतीक प्रभु।

जैसे देखकर भी देखते नहीं, किसीकी बात सुनते नहीं—उन्मत्त, बधिर-मूककी चेष्टा-देहासक्तिकी चर्चा व्यर्थ-देहकी प्रतीति ही नहीं रह गयी थी वहाँ।

सन्त-स्वभावके आदर्श

श्रीगोविन्दाचार्य

श्रीगोविन्दाचार्य वेंकटाचलमें अपने मामा श्रीशैलपूर्णस्वामीके आश्रममें रहते थे। ये श्रीरामानुजाचार्यके मौसेरे भाई थे। एक दिन श्रीरामानुजने दूरसे देखा—गोविन्दाचार्य एक विषधर सर्पको पकड़े उसके मुखमें

अपनी अँगुली डाले हुए हैं। कुछ ही क्षणों बाद उन्होंने जल्दीसे अँगुली निकाल ली और साँपको छोड़ दिया। साँप मरा-सा होकर पड़ रहा। इस भीषण दृश्यको देखकर श्रीरामानुजने उनके पास आकर पूछा—'तुमने यह भयानक कार्य क्यों किया? भगवान्‌ने ही रक्षा की—इतना विषैला सर्प जरा भी डँस लिया होता तो प्राण नहीं बचते। फिर तुम्हारे अँगुली डालनेसे इसको कष्ट हुआ होगा। तुम-सरीखे दयालु पुरुष किसी जीवको कष्ट पहुँचायें, यह भी तो उचित नहीं है।' बड़े भाई श्रीरामानुजकी बात सुनकर गोविन्दने विनीतभावसे कहा—'भाई! किसी कँटीली चीजको गलेमें उतारते समय एक काँटा इस साँपके गलेमें बिंध गया और उसकी भयानक पीड़ासे यह छटपटा रहा था। इसके उस कष्टको देखकर मुझसे नहीं रहा गया और मैंने तुरंत इसके मुखमें अँगुली डालकर उस काँटेको निकाल दिया। तकलीफके कारण यह शिथिल हुआ पड़ा है, अभी ठीक होकर चला जायगा।' गोविन्दकी इस अलौकिक बातको सुनकर और जीवके दुःखसे उनके मनमें आयी हुई करुणाकी पराकाष्ठाको देखकर श्रीरामानुज विस्मित और मुग्ध हो गये तथा अत्यन्त प्रेमसे गोविन्दको हृदयसे लगाकर भुजपाशमें बाँध लिया। जीवदयाका यह कितना

अद्‌भुत प्रसंग है।

सन्त और बिच्छू

'निस्संदेह धारा वेगवती होती जा रही है, यह साधारण जीव इसके साथ बहकर प्राणसे हाथ धो बैठेगा।' नदीमें स्नान करते समय सन्तने बिच्छूकी दशापर विचार किया, उसे संकटमें देखकर उनका धैर्य छूट गया, दयामय आगे बढ़ गये उसे बचानेके लिये, इधर धारा तेज हो रही थी, उनके ही प्राण जानेकी आशंका थी। उन्होंने बिच्छूको हाथमें उठा लिया।
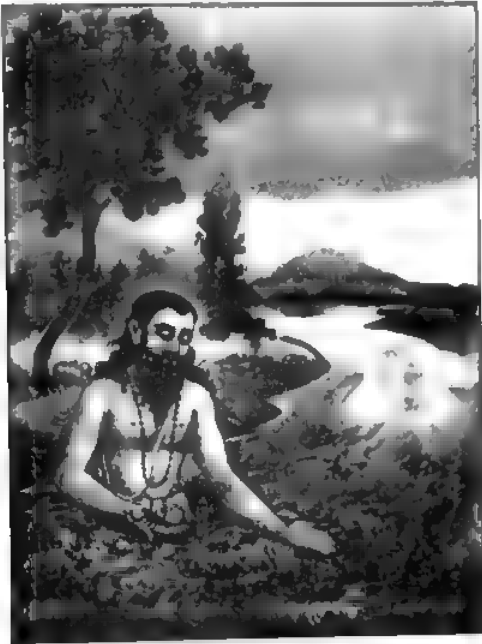
'यह क्या! इसने तो मुझे ही काट खाया।' सन्तके हाथमें पीड़ा थी, जहर चढ़ रहा था। हाथ हिला—बिच्छू बह चला धाराकी तूफानी गतिमें। सन्तसे उसका कष्ट न देखा गया। उठा लिया उन्होंने फिर उसे हाथमें। उसको बचानेकी भावनासे उन्हें अपनी पीड़ाका ज्ञान ही नहीं रह गया। बिच्छूने फिर काटा और तीसरी बार वह धारामें फिर बहने लगा।

'यह तो अपनी दुष्टता ही नहीं छोड़ रहा है; आप इसके प्राणकी रक्षा करना चाहते हैं और यह ऐसा है कि आपही पर उतर आया है। इसे मरने दीजिये न। इस जहरीले जीवकी यही दवा है।' नदी-तटपर खड़े एक व्यक्तिने सन्तसे प्रार्थना की। उनके रोम-रोम उस असहाय जीवकी प्राणरक्षाके लिये रो उठे, हृदयमें दयाका सागर उमड़ पड़ा। वे रोमांचित हो उठे।

'भाई! बिच्छू अपनी दुष्टताका स्वभाव नहीं छोड़ना चाहता है तो मैं अपनी दयाका स्वभाव किस प्रकार छोड़ दूँ, मुझे भी इसीकी तरह अपनी सद्‌वृत्तिपर अटल रहना चाहिये।' दयामय सन्तका निष्कपट सहज उत्तर था।

सन्त एकनाथकी क्षमाशीलता

पैठणकी पुण्यभूमिसे विचुम्बित भगवती गोदावरीमें स्नानकर श्रीएकनाथ महाराज अपने निवासकी ओर जा ही रहे थे कि विशाल वृक्षकी डालीसे उनपर किसीने कुल्ला कर दिया। महाराज परम शान्त थे। वे गोदावरीके पुण्य स्नान और दर्शनसे अपने आपको पवित्र करने चल पड़े। महाराज पुनः स्नानकर लौट रहे थे कि उसी व्यक्तिने अपनी कुकीर्ति दोहरायी। इस प्रकार महाराजने एक सौ आठ स्नान किये एक दिनमें और उसने एक सौ आठ कुल्ले किये। महाराज अपनी सुप्रवृत्ति और क्षमा-भावनापर अटल थे, इधर वह व्यक्ति अपनी कुत्सित मनोवृत्ति और उच्छृंखलताका परिचय देता जा रहा था। आखिर थककर नीचे उतर आया और प्रार्थना करने लगा—

'महाराज! मुझे क्षमा कीजिये। मेरे जैसे पतितके लिये नरकमें भी स्थान नहीं है। मैं नित्य आपपर स्नान करनेके बाद कुल्ला किया करता था और आप शान्त रहते थे। आज तो मैंने अपनी दुष्टताकी सीमा ही तोड़ दी, पर आपका मन मेरी ओरसे तनिक भी विकृत न हो सका। मैं आपके चरणपर नत होकर अपनी दुष्कृतिका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ।' यवनका रोम-रोम रो उठा। उस व्यक्तिने एक ही साँसमें सारे जीवनकी पाप-कथा सुनानी चाही। वह महाराजके चरणोंसे लिपट गया।

'तुम इतने चिन्तित क्यों हो, भाई! तुमने तो मेरे साथ उपकार ही किया। तुम्हारी कृपासे मेरे तनने एक सौ आठ बार गोदावरी माताके दर्शन और पुण्यस्नानका फल पाया है। तुम धन्य हो, कितना परोपकार है मुझपर तुम्हारा।' महाराजने उसके सिरपर हाथ रख दिया। सन्तके स्पर्शसे उसके तन-मन शीतल हो गये!

'मुझे, लज्जित न कीजिये, महाराज!' यवनने महाराजकी चरण-धूलि सिरपर चढ़ा ली।

बालक नामदेवकी आत्मपरीक्षा

'तुम्हारे पैरमें खून क्यों बह रहा है?' माताने अपने प्राणप्रिय पुत्रके हाथमें कुल्हाड़ी देखी। वे आश्चर्यचकित थीं।

'यह तो कुछ नहीं है, माँ! मैं तो यह देखना चाहता था कि पैरको कुल्हाड़ीसे छीलनेपर कितना दुःख होता है। उस दिन मैंने तुम्हारे कहनेसे पलासके पेड़की छाल कुल्हाड़ीसे छीली थी न।' नामदेवका उत्तर सुनकर माँको याद आया कि मैंने काढ़ेके लिये छाल मँगायी थी नामदेवसे।

'तुमने यह ठीक नहीं किया बेटा! पैरका घाव बड़ा कष्ट देगा, तुमने जान-बूझकर अपने पैरमें कुल्हाड़ी मार ली। यह तो सड़ेगा, पकेगा।' माताका हृदय धक-धक कर रहा था।

'माँ, मैं तो यही समझना चाहता था कि जितना मुझे कष्ट हो रहा है, उतना ही कष्ट पलाशको भी हुआ होगा। उसमें भी तो जीव है न!' बालक नामदेवकी दया मुखरित हो उठी। माताकी ममताने बालकको प्यारसे देखा।

'तुम महान् सन्त होगे, नामा! निस्संदेह तुम्हारी ही तरह पेड़ और पशु-पक्षियोंमें भी प्राण हैं।' माँने अपने लालपर आशीषकी वर्षा की।

धर्म-रक्षक

छत्रपति शिवाजी

'यदि मेरी माता इतनी सुन्दर होतीं, मैं भी सुन्दर हुआ होता।' महाराष्ट्र-सेनानायक विजयके पश्चात् परम सुन्दरी नवाब-कन्याको ले आये थे और उन्होंने उसे छत्रपतिके

सम्मुख उपस्थित किया। धर्म-रक्षाके व्रती शिवाजी—उन्होंने देखा उस अद्भुत लावण्यको; किंतु उनके उद्‌गार उनके ही अनुरूप थे। उनके आदेशसे वह यवन-बाला सम्मानके साथ अपने पिताके पास भेजी गयी।

औरंगजेबके धर्मान्धतापूर्ण अत्याचारोंका विपुल विस्तार था। महाराष्ट्र स्वयं भी यवन-राज्योंसे आच्छन्न था। मन्दिर टूटते थे, बलात् धर्म-परिवर्तन कराया जाता था और सतियोंका सतीत्व विलासियोंकी वासनाका भोग बन गया था। उस समय महाराष्ट्र-भूमिने हिन्दू-धर्मको एक प्रोज्ज्वल प्रबल प्राण दिया—शिवाजी। शिवाजीका शौर्य, छत्रपतिकी प्रतिभा—दिल्लीतक काँप उठी। दब गये दक्षिणके अत्याचारी हाथ! ऊँची फहरायी धर्मकी गैरिक ध्वजा—छत्रपति शिवाजीका राज्य तो अर्पित था समर्थ स्वामी रामदासके चरणोंमें। उनकी करवाल तो उठी थी धर्म-रक्षाके लिये और वह शौर्य जो महाराष्ट्रमें शिवाजीने संचार किया—यवन-सत्ता उससे टकराकर छिन्न-भिन्न ही हो गयी।

महाराणा प्रताप

सम्राट् अकबरकी कूटनीतिने मानधनी राजपूतोंके मस्तक झुका दिये। बेटियाँ ब्याह दीं दिल्लीपतिको; किंतु थक गया स्वयं दिल्लीपति—म्लान पड़ गया हिन्दूकुल-सूर्य प्रतापके प्रबल प्रतापके सम्मुख। वन-वन भटके वे महाप्राण नन्हें शिशुओंके साथ। चित्तौड़की महारानी और शिशु युवराजको घासकी रोटियाँ भी कई-कई दिनोंपर प्राप्त होती थीं; किंतु प्रताप विपत्तियोंसे विचलित हो जायँ—तो सूर्य पूर्वके बदले पश्चिममें न उगे!

अडिग, अविचल, उन्नतभाल महाराणा प्रताप—चित्तौड़ महाराणाके प्रतापसे हिन्दूका गौरव है और महाराणा—हिन्दूके शौर्यके वे महान् प्रतीक!

गुरु तेगबहादुर

'इस्लाम कबूल कर लो तो पूरा सूबा तुम्हारा हो जायगा!'

'लोभ और भय तेगबहादुरके हृदयको नहीं छूते।' गुरुका गम्भीर स्वर गूँजा—'सम्पत्ति चंचला है और शरीर नाशवान्। केवल धर्म शाश्वत है।'

पंजाबमें दिल्लीपतिका अत्याचार बढ़ गया तो स्वयं गुरुने लोगोंको कहकर सन्देश भिजवाया था कि 'तेगबहादुर इस्लाम कबूल कर लें तो यहाँ सभी कबूल कर लेंगे।' दिल्लीपतिका छलपूर्ण आमन्त्रण, किंतु धर्मके लिये आत्मदान करनेका निश्चय तो स्वयं गुरुने किया था।

'सत् श्रीअकाल!' अग्निमें उत्तप्त लाल-लाल सींखचोंसे गुरु तेगबहादुरके शरीरकी बोटी-बोटी अत्याचारी नोच सकता था—उसने अपनी पैशाचिकता पूरी की; किंतु गुरुके हृदयके प्रकाशको एवं उनकी अकाल पुरुषकी जयघोषणाको मन्द करना उसके वशकी बात कहाँ थी?

गुरु गोविन्दसिंह

मृत्यु कापुरुषोंको कम्पित करती है। पिताके बलिदानने पुत्रको प्रचण्ड बना दिया। गुरु गोविन्दसिंहने नवीन शंखनाद किया पांचालमें। मालाके स्थानपर सिखोंके बलशाली करोंने कृपाण उठायी। गुरुके आह्वान 'धर्म तुम्हें पुकार रहा है। धर्मके सैनिक—धर्मरक्षाके लिये शस्त्र धारण करो! जीवन धर्मपर बलि होनेके लिये।'

'जीवन धर्मपर बलि होनेके लिये।' गुरुकी वाणी गूँजी और साधन-प्राण, शान्त सरल साधुओंका समुदाय सिंहोंका समाज बन गया। औरंगजेबी अत्याचारके दुर्गपर प्रचण्डतम आघात पड़ने लगे। पांचालसे यवन-सत्ताको समाप्त होनेमें समय नहीं लगा।

दया, अहिंसा, त्याग और क्षमाके आदर्श

शिबि

'राजन्! मैं भूखसे मरा जा रहा हूँ और यह मेरा दैवविहित आहार है। आप एककी रक्षाके लिये दूसरोंकी हत्या करें, यह कौन-सा धर्म है?' महाराज शिबिके वस्त्रोंमें एक भयभीत कबूतर आ छिपा था और दो क्षण पश्चात् ही एक बाज वहाँ आया। उसने स्पष्ट मनुष्यवाणी बोलकर चकित कर दिया महाराजको।

'इस आर्त शरणागतका त्याग तो मैं नहीं करूँगा। तुम्हें क्षुधा-निवृत्तिके लिये मांस ही तो चाहिये।' राजाने बाजसे कहा।

'केवल इस कपोतके वजन-जितना मांस' बाज सन्तुष्ट होकर बोला—'किंतु जब आप किसी प्राणीका वध करायेंगे ही तो यह कपोत न मरे, इस आग्रहका कोई महत्त्व मैं नहीं समझता।'

'मैं अपने शरीरका मांस दूँगा।' महाराज शिबिने तराजूके पलड़ेपर रखा कपोतको और दूसरे पलड़ेपर

अपने शरीरके अंग अपने हाथों काट-काटकर रखने लगे।

यह ठीक है कि कपोत अग्निदेव बने थे और बाजके रूपमें स्वयं धर्म थे; किंतु कपोतके बराबर वजन पूरा न होते देख जब शिबि अपने अंग काटते ही चले गये और अन्तमें पूरा देह धर दिया तराजूपर—ये देवोत्तम प्रसन्न होकर प्रकट होने ही थे।

गौतम बुद्ध

उद्यानमें ही टहल रहे थे राजकुमार सिद्धार्थ। एक बाण-विद्ध हंस सहसा आकाशसे गोदमें आ गिरा। दुःखसे सर्वथा अनभिज्ञ राजकुमार—पक्षीके शरीरसे बाण निकालकर अपनी बाहुमें उसकी नोक चुभा ली और काँप उठे—'ओह! इतनी भयानक पीड़ा होती है पक्षीको।'

आहत पक्षीके घावका रक्त वे जलसे धोने लगे। देवदत्त—पक्षीको जिसने बाण मारा था, वह उस अपने शिकारको लेने भले आये; किंतु आपको भी सिद्धार्थका यह तर्क तो स्वीकार करना होगा कि 'प्राणीपर उसे मारनेवालेकी अपेक्षा जीवन देनेवालेका स्वत्व अधिक है।'

अशोक

'सम्राट् अशोककी जय!' रक्तस्नात सेनापतिने सम्मुख आकर मस्तक झुकाया—'श्रीमान् विजयी हुए।'

'विजयी हुए श्रीमान्!' सहसा एक तेजोमय प्रशान्त पीतचीवर-धारीका स्वर भी एक ओरसे आया। अशोकने—प्रचण्ड अशोकने देखा, भिक्षुके स्वरमें व्यंग नहीं, उसके नेत्रोंमें अपार करुणा है और वह कह रहा है—'कलिंगके शौर्यकी लाशें तड़प रही हैं। जन्मभूमिके गौरवकी रक्षाका जिन्होंने प्रयत्न किया, उन्हें कुत्ते-गीध नोच रहे हैं। श्रीमान्‌का विजयोत्सव मना रहे हैं—ये शृगाल, ये गीध, ये कुत्ते। पतिविहीना बिलखती सतियाँ, पुत्रहीना क्रन्दन करती माताएँ, भ्रातृहीना बिसूरती बहिनें—सबका चीत्कार श्रीमान्‌का विजयघोष है। श्रीमान् विजयी हुए इन लाशोंपर, इस रक्तलथपथ धरापर, इस खण्डहरोंकी भूमि कलिंगपर……।'

'बस भिक्षु-बस!' चीत्कार कर उठा अशोक। उस

रणदुर्मद सम्राट्‌ने नोच फेंका कटिप्रदेशका शस्त्र और उसने उसी युद्धभूमिमें प्रतिज्ञा की—'अशोक अबसे हिंसाका त्याग करता है। अहिंसाके लिये है अशोकका शेष जीवन!'

हर्षवर्द्धन

श्रीगंगा-यमुनाकी संगमस्थली और कुम्भका पुनीत पर्व—प्रत्येक कुम्भ एवं अर्धकुम्भीके समय सम्राट् हर्ष पधारते थे और पधारते थे केवल स्नान या दर्शनका ही पुण्य नहीं प्राप्त करने। हर्षके सर्वस्वदानका पर्व था यह। सर्वस्वदान—अन्न-वस्त्र, स्वर्ण-मणि-आभरण, गज-रथ-अश्व, हर्षका जो कुछ है—अपने शरीरके आभूषण। और

वस्त्रतकका दान कर देनेवाले वे महामानव!

कुम्भकी अपार भीड़ देखती थी, भारतका वह सम्राट् अपने अन्तिम वस्त्रतक दान करके बहन राजश्रीसे माँगकर एक चिथड़ा कटिमें लपेटकर प्रयागसे विदा हो रहा है।

क्रूसपर चढ़ाये जाते ईसामसीह

'प्रभो! वे नहीं जानते कि वे कर क्या रहे हैं। अज्ञानके अन्धकारमें भटक गये उन लोगोंको आप क्षमा

कर दें!' जिन्होंने शूलीपर चढ़ाया था, उनके लिये ईसाने यह अन्तिम प्रार्थना की प्रभुसे।

ईसामसीहको शूली दी गयी—वे उससे बच सकते थे, यदि अपने उपदेश बन्द कर देते। यदि भगवान्‌की अपार दया एवं अहिंसाका समर्थन त्याग दिया होता उन्होंने; किंतु प्राणोंके मोहसे यह च्युति—यह भी क्या स्वीकार करनेयोग्य है। प्रभुका दिया शरीर—प्रभुके लिये अर्पित हो जाय, इतना महान् सौभाग्य छोड़ देते वे प्रभुके परम प्रिय पुत्र!

भगवान् बुद्ध

'वह अज्ञानी है। वह तुम्हारी दया और सहानुभूतिका पात्र है!' शिष्यवर्ग उत्तेजित थे—वे उसे दण्ड न देते; किंतु ऐसे अधमको अपने मध्य रखने—आश्रय देनेको तो वे सर्वथा प्रस्तुत नहीं थे।

ईर्ष्या क्या पाप नहीं कराती। बुद्धके एक शिष्यको अपने गुरुसे ही ईर्ष्या हो गयी। उसने एक शिलाखण्ड पटक दिया बुद्धके पैरोंपर—बहुत चोट आयी तथागतको, पर वे सहज स्थिर खड़े रहे। जब दूसरे शिष्योंको यह विदित हुआ—उनके रोषकी सीमा नहीं थी; किंतु भगवान् बुद्धकी क्षमा—उन्होंने सबको शान्त कर दिया! उनका

स्नेह कोई अपराध देखता था?

तीर्थंकर महावीर

'आप मेरे बैलोंका तनिक ध्यान रखें, मैं घर हो आऊँ!' भोले किसानको क्या पता कि ध्यानस्थ महावीर स्वामीके श्रवणोंतक उसकी बात पहुँची ही नहीं। साधुने अस्वीकार नहीं किया, इसीको स्वीकृति समझकर जंगलमें अपने बैल चरते छोड़ वह घर चला गया।

'कहाँ गये मेरे बैल?' घरसे किसान लौटा तो बैल नदारद। महावीर स्वामीसे पूछने लगा तो वे मौन। इधर-उधर दौड़ा; किंतु बैल मिले नहीं। 'यही चोर है!' इस

भावने उसे उत्तेजित कर दिया। गालियाँ दीं उसने, पीटा और अन्तमें एक नोकदार लकड़ी ठोंक दी महावीर स्वामीके कानमें। लकड़ी ठोंकता ही गया वह—तबतक,
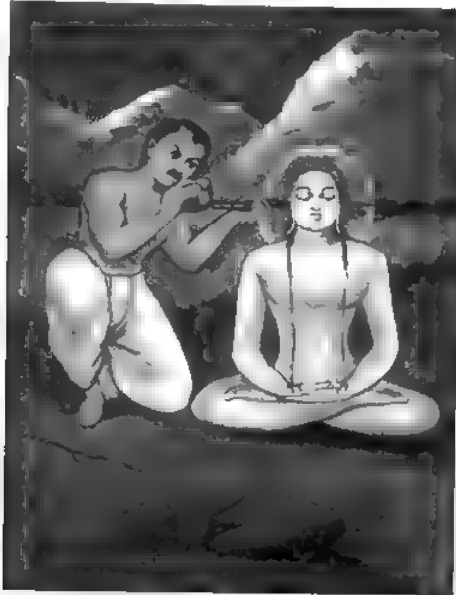
जबतक वह दूसरे कानसे बाहर निकल न आयी। रक्तकी धारा चल पड़ी।

'आप अनुमति दें! मेरा वज्र व्याकुल हो रहा है। मैं इस अधमको अभी भस्म कर दूँगा।' देवराज इन्द्र क्रोधावेशमें काँपते धरापर उतर आये; किंतु उन्हें लौटना पड़ा। तीर्थंकर महावीर शान्त थे। उन्होंने कहा—'क्रोध नहीं, क्षमा इस अपराधकी ओषधि है देवराज!'

मृत्युके क्षणमें सरमद

'सरमद काफिर है। वह अल्लाहको नहीं मानता।' औरंगजेबके लिये दाराशिकोहका गुरु, दिल्लीके मस्तोंका अग्रणी सन्त सरमद सरदर्द था; किंतु पहली बार जब नंगे घूमनेके दोषमें सरमद पकड़ा गया, तब औरंगजेबका साहस नहीं हुआ उसे मार देनेका। किंतु इस बार मौलवी-मुल्लाओंका पक्ष प्रबल था। यह जन्मका यहूदी मुसल्मान हो गया। भारत आकर राम-लक्ष्मणका भक्त कहता है अपनेको और 'ला इलाही' इतना ही कल्मा पढ़ता है।

कत्लकी सजा मिली। सरमदने कहा—'मंसूरकी कहानी पुरानी पड़ गयी, मैं उसे ताजी कर रहा हूँ।' और जब जल्लाद आया, वह मस्त फकीर मुस्कराया—'बलिहार प्यारे! आ, तू चाहे जिस रूपमें आये, मैं तुझे पहचानता हूँ।' उसने सिर नीचा कर दिया जल्लादके सामने!

मनुष्य-शरीर धारणकर क्या किया ?

काजु कहा नरतनु धरि सार्यो।
पर-उपकार सार श्रुतिको जो, सो धोखेहु न बिचार्यो॥
द्वैत मूल, भय-सूल, सोक-फल, भवतरु टरै न टार्यो।
रामभजन-तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवार्यो॥
संसय-सिंधु नाम बोहित भजि निज आतमा न तार्यो।
जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्यो॥
देखि आनकी सहज संपदा द्वेष-अनल मन-जार्यो।
सम, दम, दया, दीन-पालन, सीतल हिय हरि न सँभार्यो॥
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्यो।
तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहि गीध उधार्यो॥

(विनय-पत्रिका)

संस्कारपरक जीवनचर्यासे मानव-संस्कृतिकी सुरक्षा

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, एम०ए० (संस्कृत), बी०एस-सी०, एल एल०बी०, पी-एच०डी०)

हमारे सामने दो प्रकारका जीवन है—एक संस्काररहित जीवन और दूसरा संस्कार-सम्पृक्त जीवन। पहले प्रकारका जीवन मात्र भौतिकताको बढ़ावा देता है; ऐसे जीवनमें व्याप्त कोलाहल, अशान्ति, अराजकता, द्वन्द्व-द्वेष, कलह, हिंसा, स्वार्थ और संकीर्णता आदि कलुषित वातावरण मिटता नहीं, अपितु बढ़ता जाता है; जबकि दूसरे प्रकारका जीवन मनुष्यको मानवमूल्योंकी ओर ले जाता है। मानवमूल्य मनुष्यको आनन्द, प्रेम, वात्सल्य, सौहार्द, कर्तव्य, सहयोग एवं सद्भावनाकी ओर अग्रसर करते हैं। समस्त एषणाओंसे मुक्त परार्थकी प्रवृत्ति अर्थात् नि:स्वार्थ भावसे बिना किसी अपेक्षा और लागलपेटके दूसरोंके लिये कुछ कर गुजरनेकी तमन्ना संस्कार-सम्पृक्त जीवनमें ही परिलक्षित होती है।

असंस्कारी जीवनसे मनुष्य भले ही भौतिक रूपसे समृद्ध हो जाय, लेकिन उसकी यह समृद्धता उसे शान्ति नहीं दे पाती। संवेदनशीलताका उसमें लोप हो जाता है। आज मनुष्यके जीवनमें इन्हीं दोका अभाव है। वह अशान्त भी है और असंवेदनशील भी। कोई भी घटना-दुर्घटना घटे, उसपर उसका कोई असर नहीं होता।

अखबार इस बातके गवाह हैं। एक हाथमें चायका प्याला और दूसरे हाथमें अखबारका पन्ना और हमारी नजरें सीधी टिकती हैं कि अमुक-अमुक समुदायके बीच हिंसा भड़की, आग लगा दी गयी, कुछ लोग जिन्दा जला दिये गये, इमारतें गिरा दी गयीं, वायुयान अपहृत कर लिया गया। अपहरण, लूट, डकैती, आत्महत्या तथा बलात्कार-जैसे पाशविक कुकृत्य तो सनसनीखेज घटनाओंकी लिस्ट से हटकर आम जिन्दगीकी कहानीसे जुड़ते जा रहे हैं। लोग ऐसी घटनाओंको सुननेके आदी हो गये हैं। उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। वे कच्छपकी तरह अपनेमें ही सिकुड़ते जा रहे हैं। कछुएकी तरह सब ओरसे संवेदनहीन हो वे अपने-अपने स्वार्थके कवचमें स्वयंको सिकोड़कर अपनेको सुरक्षित मान बैठे हैं।

इस प्रकारकी संस्कारोंसे रहित पनपती अपसंस्कृति भारतीय संस्कृतिपर हावी होती हुई भारतीय जनमानसमें एक विशिष्ट जगह पानेकी जुगतमें है। भारतीय संस्कृतिके इस संक्रमणकालमें जहाँ अपसंस्कृति बड़ी तेजीसे घुसपैठ कर रही हो, भारतीय जनमानस यदि अभी भी सचेत नहीं हुआ तो यह निश्चित है कि मनुष्य विरासतमें मिली अपनी सभ्यता और सम्पदाको खो बैठेगा। इस अपसंस्कृतिके कारण ही आज आम जीवन अशान्त है। अपसंस्कृति किसीको सुख तो दे सकती है, किंतु किसीके जीवनमें शान्तिका रस नहीं घोल सकती। अपसंस्कृति अशान्तिका मुख्य द्वार है; क्योंकि यह मनुष्यको भौतिकताकी ओर ले जाती है। अपसंस्कृतिको तरजीह देनेवाली आजकी पीढ़ी भौतिक उपलब्धियोंको अवश्य अर्जित कर सकती है, किन्तु उससे उसे शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो मनुष्यकी सहज स्थिति है। यह आत्माका स्वभाव है। आत्मस्वभावके लिये भौतिकताकी अपेक्षा आध्यात्मिकताको महत्त्व देना पड़ता है। अपसंस्कृतिमें आध्यात्मिकताका कहीं कोई स्थान नहीं है। वहाँ तो 'मैं' यानी 'मेरापन' जैसी प्रवृत्तियाँ प्रश्रय पाती हैं। जबतक मैं, मेरापन-जैसी ओछी भावनाएँ मनुष्यमें समायी रहती हैं, तबतक उसे शान्ति नहीं मिल सकती, सुख तो मिल सकता है; क्योंकि सुखका सम्बन्ध भौतिकतासे है। जो जितना भौतिकवादी होगा, उसमें उतनी ही ममता और उतनी ही तज्जन्य संकीर्णता छायी रहती है। परिणामत: मनुष्य एक निश्चित दायरेमें अपनेको कैद कर लेता है। उसकी सोचमें समत्वका अभाव रहता है। समत्व भारतीय संस्कृतिका प्राण है। समत्वमें 'स्व' के साथ-साथ 'पर' का भी ध्यान रखा जाता है। तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं **'त्वमस्माकं तव स्मसि'** (ऋग्वेद ८।९२।३२)—यह भावना सदा उद्भूत रहती है, जिससे सेवा, त्याग और समर्पणकी प्रवृत्ति जगने लगती है। 'मैं' जब लुप्त रहता है तभी मनुष्यमें स्वार्थरहित सेवाके भाव उत्पन्न होते हैं। ऐसी सेवामें प्रतिफलके प्रति कोई आकांक्षा नहीं रहती

है। आसक्ति अपना जाल नहीं बिछा पाती। यदि मनुष्य अपने अधिकारकी परवाह न करते हुए कर्तव्य-पथपर ही अग्रसर रहे तो उसमें अपरिग्रही वृत्ति जगेगी, साथ ही संवेदनशीलता भी अपना पाँव पसारेगी। उसका अन्तरंग इतना निर्मल हो जायगा कि वह जो व्यवहार अपने साथ किये जानेपर प्रतिकूल मालूम दे, उसे दूसरोंके साथ कभी नहीं करेगा। **'न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।'** (महाभारत, अनुशासन पर्व ११३। ८) फिर अपसंस्कृति नहीं, भारतीय संस्कृतिका स्वत्व पुनः प्रभावन्त हो उठेगा।

ऐसी स्थितिमें मनमें यह प्रश्न उभरना सहज है कि 'संस्कार' क्या है? सजी-सँवरी, साफ-सुथरी जीवन-पद्धतिका नाम है संस्कार। संस्कार मानव-जीवनका शृंगार है; क्योंकि यह व्यक्तित्वको परिष्कृत एवं समृद्धिके साथ-साथ मनुष्यके भाव-विचार, असन-वसन, आहार-विहार आदि क्रिया-कलापों, जीवनचर्याको बाह्य और अन्तरंगरूपसे निर्मल एवं पवित्र बनाता है। संस्कार मनुष्यको अप्रमादित, मर्यादित एवं प्रामाणिक जीवनकी त्रिपथगामें अवगाहन कराते हैं। जो इस त्रिपथगामें अवगाहन करता है, उसका आत्मतत्त्व कर्म-कषायोंके कल्मषोंसे हटता हुआ अन्ततोगत्वा परमात्मपदका सान्निध्य पा लेता है। इसीलिये संस्कार मानव जीवनके लिये वरेण्य हैं।

यह बात ध्यातव्य है कि संस्कारोंसे सम्पोषित मनुष्य अपना ही कल्याण नहीं करता है, अपितु समाज और राष्ट्रको उन्नतिके उत्तुंग शिखरपर भी ले जाता है; क्योंकि व्यक्ति एक बिम्ब है और समाज-राष्ट्र उसका प्रतिबिम्ब। यानी जैसा व्यक्ति स्वयं होगा, वैसा ही वह समाज एवं राष्ट्रका स्वरूप स्थिर करेगा। कहनेका तात्पर्य है कि मनुष्य पहले स्वयं सुधरे, समाज-राष्ट्र तो स्वतः सुधर जायगा। संस्कार मनुष्यमें आत्मालोचनकी प्रवृत्तिको जगाता है। आज मनुष्यमें सबसे बड़ा दोष यही है कि वह काम, क्रोध, लोभ, माया और अहंकार अर्थात् राग-द्वेषके वशीभूत दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसामें ही जीवनकी इतिश्री समझ लेता है। संस्कार उसे निष्पक्ष, अनासक्त, धर्म, कर्तव्य और समत्वसे सदा मण्डित रखते हैं। **'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्',** ***'जियो और जीने दो',*** जैसी उदात्त भावनाएँ संस्कारोंसे ही सम्पोषित हैं।

संस्कारोंके माध्यमसे व्यक्ति-समाजकी दशा और दिशाको सुधारा जा सकता है। आज स्थिति बड़ी विचित्र है। हमने अपने जीवनका प्रयोजन भौतिक उपलब्धियोंको मान लिया है। केवल भौतिक उपलब्धियाँ व्यक्तिमें उच्च आदर्शकी स्थापना नहीं कर सकती हैं। संस्कारोंका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम अपने जीवनको भौतिकतासे बिलकुल अलग-थलग कर लें, अपितु अपने भौतिक जीवनको प्रामाणिक बनायें। सादा जीवन, उच्च विचारको महत्त्व दें, पैसे कमानेकी कलाके साथ-साथ आदर्शोंको भी अपनायें। जीवन जीनेकी कला भी सीखें-सिखायें, जिससे सुख, शान्ति, सहयोग, सन्तोष, त्याग, सहिष्णुता और प्रेम-जैसी प्रवृत्तियोंका विकास हो और समाज एक जीनेयोग्य, प्रगति करनेयोग्य तथा सन्तोष प्रदान करनेवाली इकाई बना रहे।

वास्तवमें मनुष्य रत्नधा है, उसे विधाताकी सुन्दर कृति बताया गया है— **'पुरुषो वाव सुकृतम्'**—ऐतरेय उपनिषद् (१। २। ३)। लेकिन यह तभी सम्भव है जब मनुष्यकी जीवनचर्या संस्कारपरक हो। संस्कारपरक जीवनचर्या ही मानव संस्कृतिकी सुरक्षाका आधार है।

नर-जन्म बार-बार नहीं मिलता

नहिं अस जनम बारंबार।
पुरबलौं धौं पुन्य प्रगट्यौ, लह्यौ नर-अवतार॥
घटै पल-पल, बढ़ै छिन-छिन, जात लागि न बार।
धरनि पत्ता गिरि परे तैं फिरि न लागै डार॥
भय-उदधि जमलोक दरसै, निपट ही अँधियार।
सूर हरि कौ भजन करि-करि उतरि पल्ले पार॥

—सूरदासजी

जीवनचर्यामें संस्कारोंकी आवश्यकता, महत्त्व और उनकी यथाविधि कर्तव्यता

(डॉ० आचार्य श्रीरामकिशोरजी मिश्र)

जीवनचर्यामें संस्कारोंकी अत्यन्त आवश्यकता और उनकी परम उपयोगिता है। संस्कारसम्पन्न मनुष्य सुसंस्कृत और चरित्रवान् तथा सदाचारी होता है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होनेसे संस्कार शब्द निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ है शारीरिक और मानसिक मलोंका अपाकरण। मानवजीवनके पवित्रकर और चमत्कार-विधायक विशिष्टकर्मको संस्कार कहते हैं। हमारे ऋषियोंने मानवजीवनमें गुणाधानके लिये संस्कारोंका विधान किया। संस्कारसे दो कर्म सम्पन्न होते हैं—मलापनयन और गुणाधान। संस्कार गर्भसे प्रारम्भ होकर अन्त्येष्टिपर समाप्त होते हैं। अतः मानवजीवनमें संस्कारोंका अत्यन्त महत्त्व है।

मनुष्यकी जीवनचर्यामें सोलह संस्कार होते हैं, जिनमें गर्भाधान प्रथम संस्कार है तो अन्त्येष्टि अन्तिम संस्कार। गर्भाधानसंस्कारसे मलापनयन होता है। जबतक जीवनमें गर्भसम्बन्धी मलापनयन नहीं किया जाता, तबतक मनुष्य आर्षेय नहीं होता। जबतक मनुष्य आर्षेय नहीं होता, तबतक वह हव्य-कव्यदानके अधिकारको प्राप्त नहीं करता। कौषीतकिब्राह्मणमें लिखा है कि संस्कारहीन मनुष्यद्वारा प्रदत्त वस्तुओंको देवता भी ग्रहण नहीं करते—'**न वा अनार्षेयस्य देवता हविरश्नन्ति।**' (कौषीतकिब्राह्मण ३। २६)

भगवान् मनुने (मनुस्मृति २। २७)-में लिखा है कि जातकर्म, चूडाकर्म, उपनयन आदि संस्कारोंमें सम्पादित हवनादि कर्मोंद्वारा गर्भसम्बन्धी मलिनता नष्ट होती है। संस्कार ही हमारी अविच्छिन्न सांस्कृतिक परम्पराके प्राण हैं। जबतक मनुष्यके जातकर्मादि संस्कार नहीं किये जाते, तबतक वह अव्रती रहता है। ऐतरेयब्राह्मणमें लिखा है कि अव्रतीद्वारा प्रदत्त वस्तुओंको देवता ग्रहण नहीं करते—

न ह वा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति।

(ऐतरेयब्राह्मण ७। १२)

अतः भारतीयसंस्कृतिमें संस्कारोंका सर्वाधिक महत्त्व है। संस्कार ही सद्विचारों और सदाचरणोंके नियामक होते हैं। गृह्यसूत्रोंमें विवाहसंस्कारसे समावर्तनसंस्कारतक दैहिकसंस्कारविधानका उल्लेख मिलता है। स्मृतिग्रन्थोंमें षोडश संस्कारोंका उल्लेख है। संस्कार पाँच भागोंमें विभक्त हैं—१. गार्भिकसंस्कार, २. शैशवसंस्कार, ३. शैक्षणिकसंस्कार, ४. आश्रमिकसंस्कार और ५. प्रयाणसंस्कार।

(१) गार्भिकसंस्कार तीन होते हैं—१. गर्भाधानसंस्कार, २. पुंसवनसंस्कार और ३. सीमन्तोन्नयनसंस्कार। ये तीनों संस्कार माता और पिताद्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

(२) शैशवसंस्कार छः होते हैं—१. जातकर्मसंस्कार, २. नामकरणसंस्कार, ३. निष्क्रमणसंस्कार, ४. अन्नप्राशन-संस्कार, ५. चूडाकर्मसंस्कार और ६. कर्णवेधसंस्कार। ये सभी संस्कार जातकके बाल्यकालमें माता और पिताद्वारा सम्पादित किये जाते हैं।

(३) शैक्षणिकसंस्कार तीन होते हैं—१. उपनयनसंस्कार, २. वेदारम्भसंस्कार और ३. समावर्तनसंस्कार। ये तीनों संस्कार ब्रह्मचर्य-आश्रममें आचार्यद्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं।

(४) आश्रमिकसंस्कार भी तीन होते हैं—१. विवाहसंस्कार, २. वानप्रस्थसंस्कार और ३. संन्याससंस्कार। इन संस्कारोंमें १. विवाहसंस्कार चाहे पुत्रका विवाह हो या पुत्रीका, माता और पिताके द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। २. वानप्रस्थसंस्कार पुत्रको गृहभार सौंपकर वनमें जाकर सम्पन्न किया जाता है। ३. संन्याससंस्कार स्वयं सम्पन्न किया जाता है।

(५) प्रयाणसंस्कार केवल एक ही है, जिसे अन्त्येष्टिसंस्कार कहते हैं। यह संस्कार देहान्तके बाद पुत्रादिद्वारा सम्पन्न कराया जाता है। इन संस्कारोंके विधानसे मनुष्य अपने कर्तव्योंका पालन करता है।

१. गर्भाधानसंस्कार

सोलह संस्कारोंमें सर्वप्रमुख गर्भाधानसंस्कार है।

सन्तानके लिये पुरुष स्त्रीसे विवाह करता है। महाकवि कालिदासने अपने रघुवंश महाकाव्यके प्रथमसर्गमें लिखा है कि रघुवंशी राजा प्रजा (सन्तान)-के लिये गृहमेधी (गृहस्थ) बनते थे—'**प्रजायै गृहमेधिनाम्।**' (रघुवंश १।७)

पारस्कर, गोभिल और आचार्य शौनकने अपने-अपने गृह्यसूत्रमें लिखा है कि गर्भका आधान या वीर्यका स्थापन पुरुषद्वारा स्त्रीमें जिस कर्मद्वारा किया जाता है, उसे गर्भाधान कहते हैं। सुश्रुतसंहितामें लिखा है कि पच्चीस वर्षसे कम अवस्थावाले पुरुषको सोलहवर्षसे कम अवस्थावाली स्त्रीमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते।
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

यदि पुरुष उक्त कथनके विरुद्ध आचरण करता है, तो कुक्षिस्थ गर्भ विपन्न हो जाता है। यदि शिशु उत्पन्न होता है, तो चिरजीवी नहीं होता और यदि जीवित रहता भी है, तो उसकी इन्द्रियाँ दुर्बल होती हैं। इसलिये १६ वर्षसे कम अवस्थावाली बालामें गर्भाधानका निषेध कहा गया है। पुरुष स्त्रीमें गर्भाधानद्वारा सन्तानके लिये अपने कर्तव्यका पालन करता है।

२. पुंसवनसंस्कार

आचार्य शौनकने अपने गृह्यसूत्रमें लिखा है—

व्यक्ते गर्भे द्वितीये तु मासे पुंसवनं भवेत्।
गर्भेऽव्यक्ते तृतीये च चतुर्थे मासि वा भवेत्॥

गर्भके व्यक्त होनेपर द्वितीय मासमें और गर्भके व्यक्त न होनेपर तृतीय अथवा चतुर्थमासमें पुंसवनसंस्कारका विधान है। पारिवारिकजन गर्भके व्यक्त हो जानेपर ही पुत्रोत्पत्तिकी इच्छासे इस संस्कारको मनाते हैं।

३. सीमन्तोन्नयनसंस्कार

पतिद्वारा पत्नीके केशोंमें तैल डालकर कंघीद्वारा केशोंको उन्नतकर माँग निकालनेको सीमन्तोन्नयन कहते हैं। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें चतुर्थ मासमें और पारस्करीय गृह्यसूत्रमें षष्ठमास अथवा अष्टममासमें इस संस्कारको सम्पन्न करनेका विधान है।

४. जातकर्मसंस्कार

यह संस्कार शिशुके उत्पन्न होनेपर मनाया जाता है। इसके सम्पादनमें उत्पन्न शिशुको पिताकी गोदमें दिया जाता है। शिशुकी जिह्वापर पिता अपनी अंगुलिसे शहदद्वारा ॐ लिखता है और उसके दोनों कानोंमें '**वेदोऽसि**' वाक्यका उच्चारण करता है। '**शतायुर्भव**' इस वाक्यसे पिता शिशुको आशीर्वाद देता है। शिशुके जन्मपर महिलाओंद्वारा मांगलिक गीतगायनका विधान है। इस अवसरपर मोदकवितरण किया जाता है।

५. नामकरणसंस्कार

गोभिल और शौनककृत गृह्यसूत्रोंके अनुसार नवजात शिशुका ग्यारहवें दिन नाम रखा जाता है। पुरोहितद्वारा जिस हवनकर्मसे जातकका नाम रखा जाता है, उसे नामकरणसंस्कार कहते हैं। शतपथब्राह्मणमें लिखा है कि जातकका नाम रखना चाहिये—'**जातस्य नाम कुर्यात्।**' जातकका नाम समस्त लौकिक व्यवहारोंमें उसके भाग्योदयका हेतु है। जातक अपने नामसे जीवनचर्यामें कीर्ति प्राप्त करता है। वीरमित्रोदय नामक ग्रन्थमें संस्कारप्रकाशके अन्तर्गत बृहस्पतिने लिखा है—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः
शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्य-
स्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥

अतः माता-पिताद्वारा यथाविधि शिशुका नामकरण एक प्रशस्तकर्म है और यह उनके प्रमुख कर्तव्यका पालन भी है।

६. निष्क्रमणसंस्कार

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।
बहिर्निष्क्रमणञ्चैव तस्य कुर्याच्छिशोः शुभम्॥

पारस्करीय गृह्यसूत्रके उक्तकथनके अनुसार जातकको चतुर्थमासमें गृहसे बाहर निकालने और उसे सूर्यके दर्शन करानेका विधान है। इसको निष्क्रमणसंस्कार कहते हैं।

७. अन्नप्राशनसंस्कार

शिशुके षष्ठमासमें उसे खीर चटायी जाती है, इसे

ही अन्नप्राशन कहते हैं। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें लिखा है—**'षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्'** और यही मत लौगाक्षिका भी है—**'षष्ठेऽन्नप्राशनम्।'** अतः शिशुको छः महीनेके होनेपर अन्नका प्राशन कराया जाता है।

८. चूडाकर्मसंस्कार

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥

मनुस्मृतिके उक्त कथनके अनुसार शिशुके प्रथमवर्षमें अथवा तृतीयवर्षमें केशच्छेदनका विधान है, इसे मुण्डनसंस्कार भी कहते हैं।

९. कर्णवेधसंस्कार

आश्वलायनगृह्यसूत्रके अनुसार शिशुके तृतीय अथवा पंचमवर्षमें उसके कान छेदे जाते हैं, जैसा कि सूत्रमें लिखा है—**'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा'**। रोगरक्षा और भूषणधारण करनेके लिये कर्णवेधनका विधान है, जैसा कि सुश्रुतसंहितामें लिखा है—**'रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते।'** इसे कर्णच्छेदनसंस्कार भी कहते हैं।

१०. उपनयनसंस्कार

उपनयनका अर्थ है समीपमें ले जाना। जिस जातकका आचार्यद्वारा उपनयन किया जाता है, उसे वेदाध्ययनका अधिकार प्राप्त हो जाता है। आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें लिखा है कि ब्राह्मणका उपनयन अष्टम वर्षमें, क्षत्रियका उपनयन ग्यारहवें वर्षमें और वैश्यका उपनयन बारहवें वर्षमें होना चाहिये—**'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यम्।'** उपनयनके समयके विषयमें शतपथब्राह्मणमें लिखा है कि ब्राह्मणका उपनयन वसन्तमें, क्षत्रियका उपनयन ग्रीष्ममें और वैश्यका उपनयन शरदमें होना चाहिये—**'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्।'** इस संस्कारको यज्ञोपवीतसंस्कार भी कहते हैं।

११. वेदारम्भसंस्कार

माता-पिता अपने कर्तव्यका पालन करते हुए जातकको गुरुकुलमें विद्याध्ययनार्थ प्रवेश कराते हैं। जिस जातकका आचार्यद्वारा उपनयन कर दिया जाता है, उसे वेद पढ़नेका अधिकार मिल जाता है। ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ
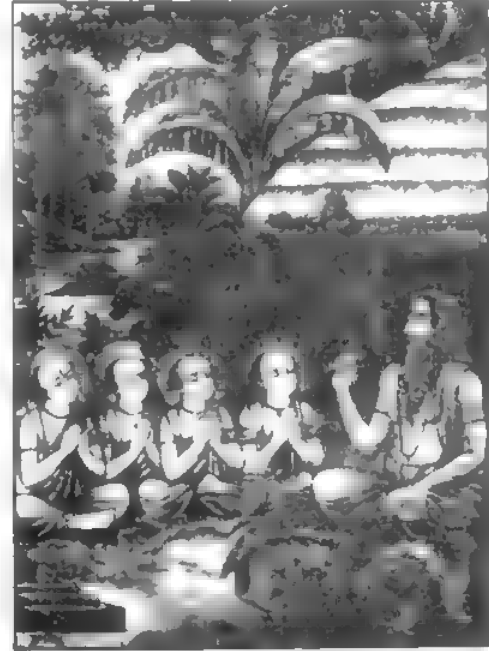
छात्र आश्रममें वेदाध्ययन करता है। इसे वेदारम्भसंस्कार कहते हैं।

१२. समावर्तनसंस्कार

गुरुकुलमें वेदाध्ययनके बाद आचार्यकी आज्ञा प्राप्तकर छात्र जब गृहस्थाश्रममें प्रवेशके लिये गृहगमन करता है, तब उसके गृहप्रेषणको समावर्तन कहते हैं। इसे दीक्षान्तसंस्कार भी कहा जाता है।

१३. विवाहसंस्कार

विद्याध्ययनके बाद सन्तानकी उत्पत्तिके लिये नरद्वारा नारीके पाणिग्रहणको विवाह कहते हैं। इसमें माता-पिताद्वारा कन्यादान किया जाता है। इसे गार्हपत्यसंस्कार भी कहा जाता है।

१४. वानप्रस्थसंस्कार

विवाहके बाद पुत्रको गृहभार सौंपकर वनगमनको वानप्रस्थसंस्कार कहते हैं। इसमें पचास वर्ष बाद प्रवेशका विधान है। जो पुरुष वानप्रस्थाश्रममें जगन्नियन्ता परमेश्वरका भजन करते हैं, वे पापरहित हो परमात्माको प्राप्त करते हैं। मुण्डकोपनिषद् (१।२।११)में लिखा है—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

शतपथब्राह्मणमें लिखा है—**'गृहीभूत्वा वनी भवेत्—** अर्थात् **'वानप्रस्थाश्रमी भवेत्।'**

१५. संन्याससंस्कार

सर्वत्यागको संन्यास कहते हैं। इसमें वानप्रस्थाश्रमके समस्तनियमोंके पालनके बाद वानप्रस्थी पुरुषके लिये समस्त आसक्तियोंके परित्याग, केशमुण्डन, काषायवस्त्रधारण, हस्तमें दण्डग्रहण और भिक्षापात्रग्रहणका विधान है। संन्यासीकी

दिनचर्यामें जनजीवनके उपकारके लिये सर्वत्र भ्रमण करना और उपदेश देना मुख्य कार्य है। शतपथब्राह्मणमें लिखा है—'**वनीभूत्वा प्रव्रजेत्। अत्र केशमुण्डनं काषायवस्त्रधारणं हस्ते दण्डग्रहणं भिक्षापात्रग्रहणं जनजीवनोपकाराय भ्रमणं सदुपदेशदानञ्चाऽस्य मुख्यकर्म।**'

१६. अन्त्येष्टिसंस्कार

मनुष्यके देहान्तके बाद घृततिलांजलिसहित चन्दनचितापर जिस विधिसे दाहकर्म किया जाता है, उसे अन्त्येष्टिसंस्कार कहते हैं। तैत्तिरीय आरण्यकके षष्ठ अध्यायमें लिखा है—'**मृतकस्य स्नानं चन्दनलेपो नवीनवस्त्रधारणं वैदिकमन्त्रोच्चारणैः सह घृततिलाहुतिभिश्चितायां चन्दनकृतायां दाहं कारयेदिति विधानम्।**'

इस प्रकार मनुष्यकी जीवनचर्यामें संस्कारोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। संस्कारोंसे मनुष्यमें श्रेष्ठ गुणोंका विकास होता है। मनुष्यके व्यक्तित्वके निर्माणमें और अनुशासित जीवनके विधानमें संस्कारोंकी अत्यन्त उपयोगिता है। अतः मनुष्यके जीवनमें संस्कारोंका विशेष महत्त्व और उनकी यथाविधि कर्तव्यता होती है, जिससे मनुष्य संस्कारसम्पन्न, चरित्रवान्, सुशील, सदाचारी और सभ्य बनता है। इसलिये जीवनचर्यामें संस्कारोंकी प्रधानता है।

आदर्श जीवनचर्याका अभिन्न अंग—स्वाध्याय

(डॉ० श्रीशिवओमजी अम्बर)

श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वाध्यायको वाङ्मय तपकी संज्ञा दी गयी है। भगवान्‌का स्पष्ट कथन है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(१७। १५)

किसीके हृदयमें व्यर्थ ही उद्वेग उत्पन्न न करनेवाली वाणी बोलना, जो सत्य हो, प्रिय हो तथा हितकारिणी हो एवं स्वाध्यायका अभ्यास वाङ्मय तप है। भारतीय आर्ष मान्यता है कि तपसे समस्त पापोंकी निवृत्ति हो जाती है और फिर विद्यासे अमृतकी उपलब्धि होती है। सहज ही अमृतत्वकी उपलब्धिके लिये स्वाध्याय एक अनिवार्य कदम है और एक आदर्श जीवनचर्याका अभिन्न अंग है।

सामान्यतः स्वाध्यायका अर्थ माना जाता है—भगवद्विषयक शास्त्रोंका अध्ययन, विविध सन्तों-महात्माओंके प्रेरक उद्बोधनोंका समग्र श्रद्धाके साथ पारायण। निश्चय ही स्वाध्यायका यह अर्थ तो है ही क्योंकि वेदादिशास्त्र, भगवद्वाणी (गीता, उपनिषद् आदि) और भागवतवाणी (पुराणादि ग्रन्थ, रामायण, मानस आदि काव्यग्रन्थ) ही हमें जीवनके परम उद्देश्य और चरम लक्ष्यके प्रति सजग और सचेष्ट करती हैं। विविध उपास्य ग्रन्थोंके रूपमें प्रभुका वाग्विग्रह ही हमें उपलब्ध हुआ है और इन ग्रन्थोंका नित्य पाठ ही इस वाग्विग्रहकी अर्चाका अनुष्ठान है। स्वाध्याय कहा जानेवाला यह पाठ ही आत्यन्तिक कल्याणका आर्यपथ है। स्वाध्यायका एक अर्थ और भी है—अपना

अध्ययन। हम जिसे मानते हैं, उसके अध्ययनके द्वारा हम अपने वास्तविक स्वकी उपलब्धि करनेमें सक्षम होते हैं। अध्ययन शब्दमें अधि उपसर्ग अन्तर्गतका वाचक है, अयन का अर्थ निवास भी होता है और मार्ग भी। इस प्रकार स्वका अध्ययन अन्तर्यात्राका प्रस्थान-बिन्दु बन जाता है। सामान्य स्थूल दृष्टि इस पांचभौतिक देहको ही स्व मानती है। स्वाध्याय इस दृष्टिमें सूक्ष्मता उत्पन्न करता है और वह आत्मदर्शनकी, अपने वास्तविक स्वकी दर्शन-यात्रासे संयुक्त होती है। देखना और दर्शन करना लोक-व्यवहारमें समानार्थी होनेपर भी वस्तुत: अलग-अलग अर्थ रखते हैं। कविवर आत्मप्रकाश शुक्लके शब्दोंमें—

आँख जितना आँकती, वह रूप का अंकन नहीं है
देखने के बाद जितना अनदिखा है रूप है वह,
देखना तो दृष्टिका व्यापार है, दर्शन नहीं है।

उस परम सौन्दर्य, उस 'स्वरूप' के दर्शनकी तीर्थयात्रा है स्वाध्याय, जिसे करनेकी सुविधा हर व्यक्तिको सहज उपलब्ध है और जो शास्त्रोक्त करणीय कर्म अर्थात् कर्तव्य भी है। मनुस्मृति मानवीय जीवनचर्याका विधान करते हुए स्पष्ट निर्देश देती है कि मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्तमें उठना चाहिये और धर्म तथा अर्थके सन्दर्भमें अनुचिन्तन करना चाहिये। यह अनुचिन्तन स्वाध्यायका वाचक है। धर्म और अर्थके जगत्में, लौकिक तथा पारलौकिक व्यवहारमें हम कहाँ हैं—इसका सूक्ष्म अवलोकन, विश्लेषण स्वाध्याय है। सन्तोंने जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धको प्राय: समुद्र और उसकी लहरके रूपकके माध्यमसे समझाया है। जैसे समुद्रमें अनेक तरंगें उठती और फिर उसीमें समाहित होती रहती हैं, कुछ ऐसे ही उस परम सत्ताकी आनन्द क्रीड़ा चल रही है। यह जग जड़का विकास नहीं, चैतन्यका विलास है—

तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥

समुद्रके वक्षपर तरंगायित हर लहरका अपनी सत्ताको अलग अनुभव करना ही जीवभाव है। चारों तरफ अनेकानेक लहरें हैं और हर लहर अपनी सीमित सत्ताके व्यामोहसे आवेष्टित है। यही लहर जब स्वाध्यायमें प्रवृत्त होती है अर्थात् जब उसकी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है, उसे अनुभव होने लगता है कि वस्तुत: वह है ही नहीं सत्ता तो मात्र समुद्रकी है। उसे लघुके पीछे छिपा विराट् आकारका आधार बना निराकार स्वयंमें ही अनुभव नहीं होता, हर लहरमें दीखने लगता है और वह स्वाध्यायकी चरम फलश्रुति '**वासुदेव: सर्वम्**' को उपलब्ध हो जाती है—

बूँद समान समुद्र में सो कत हेरी जाय।

उस समय बाहर और भीतरका आरोपित विभेद भी समाप्त हो जाता है और तत्त्वज्ञानको प्राप्त भावमयी चेतना, ऋतम्भरा प्रज्ञाके रूपमें ***'लाली मेरे लालकी जित देखूँ तित लाल'*** के परम सत्यका साक्षात्कार ही नहीं करती स्वयं भी सत्यरूप हो जाती है—***'लाली देखन हौं गई हौं भी है गई लाल'***

इस प्रकार व्यावहारिक स्वका अधि-अयन (अन्तर्यात्रा) वास्तविक स्वका अधि-आय (आन्तरिक उपलब्धि) बन जाता है और एक आदर्श जीवनचर्याका अभिन्न अंग स्वाध्याय अपनी संज्ञाकी सार्थकताको प्रमाणित करता है।

जीवनचर्याका एक प्रमुख अंग—सेवा

(डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति)

सेवा क्या है, उत्तर है—आपके हृदयका भाव। कैसा भाव? उत्तर है सबके हितका भाव। केवल मानव ही नहीं, प्राणीमात्रके हितकी भावनाका नाम है सेवा। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने यही बात कही है। प्रसंग है—श्रीराम-जटायु संवादका। जटायुने भगवान्‌को सीताजीके हरणका समाचार सुनाया। भगवान् प्रसन्न हो गये और जटायुको वह दुर्लभ गति प्रदान की, जिसे योगीजन भी माँगते रहते हैं। जटायुने कहा—आपने मुझपर बड़ी कृपा की कि मुझ जैसे अति सामान्य प्राणीको आपने यह दुर्लभ गति प्रदान की है। भगवान्‌ने कहा—मैंने कोई कृपा नहीं की है, आपने अपने श्रेष्ठ कर्मोंसे यह दुर्लभ गति पायी है। जटायुने कहा—हे प्रभु, मैंने ऐसा कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं किया। मैं तो आपकी सीताजीको भी नहीं बचा पाया। यदि मैं जगज्जननी सीताको बचा लेता तो कम-से-कम एक अच्छा कार्य तो हो जाता।

भगवान्‌ने कहा, जटायु! एक बात बताओ, तुम्हारे मनमें सीताको बचानेकी भावना थी या नहीं। जटायुने उत्तर

दिया—हे प्रभु! मनमें तो इतनी जबरदस्त भावना थी कि यदि रावण मेरे पंख नहीं काटता तो मैं अपने प्राण दे कर भी जगन्माता सीताको बचाता। तब भगवान्‌ने सेवाका रहस्य बताते हुए कहा—मैं यह नहीं देखता हूँ कि कोई प्राणी कितना हित करता है, मैं तो केवल उसकी हित भावनाको देखता हूँ। उनकी वाणी है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा०च०मा० ३। ३१। ९)

इसका अर्थ है—जिनके मनमें दूसरेका हित बसता है (समाया रहता है), उनके लिये जगत्‌में कुछ भी (कोई भी गति) दुर्लभ नहीं है।

भगवान्‌ने जटायुको अपना धाम दिया और बड़े संकोचसे कहा कि आप सब कुछ पा चुके हैं, आप पूर्णकाम हैं, मैं आपको क्या दूँ। भगवान्‌ने अपने हाथोंसे उसका दाह कर्म आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ कीं। मानसमें वर्णन है—

तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरन कामा॥

× × × ×

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरि धाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

(रा०च०मा० ३। ३१। १०; ३। ३२)

स्पष्ट है, सेवामें भावकी प्रधानता है।

क्रियात्मक सेवा—जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ हितभाव स्वतः करुणामें और करुणा स्वतः क्रियात्मक सहयोगमें परिणत होती है। क्रियात्मक सहयोगका अर्थ है—जिसको जरूरत है उसको मुद्रा, वस्तु, समय, श्रम देना। देना एवं लेना विधानसे होता है। आप देने एवं लेनेका भाव रख सकते हैं।

मुख्य बातें—सेवाकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) देनेका भाव—दूसरोंको सुख, सुविधा, सम्मान, प्रसन्नता देनेका प्रबल भाव रहता है।

(२) रह नहीं पाता—जरूरतमन्द व्यक्ति आँखोंके सामने आ जानेपर वह वस्तु, मुद्रा आदि दिये बिना रह नहीं पाता है।

(३) मर्यादा—क्रियात्मक सहयोग देनेमें कुल, परिवार, समाज एवं शास्त्रकी मर्यादाका पालन करता है।

(४) चाह नहीं—सेवाके बदलेमें कभी किसीसे कुछ भी चाहता नहीं है।

(५) न अभिमान न एहसान—सेवा करनेवालेको ऐसा आभास ही नहीं होता है कि मैं सेवा कर रहा हूँ। वह सोचता है—सब मेरे प्रभु करते हैं। वह सेवा करता ही नहीं तो एहसान कैसा? सन्त रहीम दान दे रहे थे, उनकी गर्दन झुकी हुई, आँखें जमीनमें गड़ी हुई, बड़ी लज्जा आ रही थी। किसीने पूछा—रहीमजी, आप दान दे रहे हैं, फिर ऐसा क्यों? उन्होंने उत्तर दिया—

देनहार कोउ और है देत रहत दिन रैन।
लोग भरम हम पर धरें ताते नीचे नैन॥

किसकी सेवा—सेवाका आरम्भ करें अपने परिवारसे परिवारका अर्थ तीन चीजोंसे है—आपका शरीर; आपके नजदीकके सम्बन्धी, जैसे आपके पति, पत्नी, संतान, माता, पिता, भाई, बहन आदि; आपका निजी सामान-सम्पति। भगवान् श्रीरामने भी परिवारका यही अर्थ बताया। श्रीरामचरितमानसमें उनकी वाणी है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥

(रा०च०मा० ५। ४८। ४)

आपका बन्धन केवल अपने परिवारमें है, परिवारमें संकट आनेपर आप दुःखी हो जाते हैं। दुःखी होना ही बन्धन एवं फँसावट है। बन्धन तोड़नेका उपाय है सेवा। परिवारकी सेवासे बन्धन टूट जायगा, आपमें समाज, संसार एवं भगवान्‌की सेवा करनेकी शक्ति आ जायगी।

कैसे करें—परिवारकी सेवाके विभिन्न चरण इस प्रकार हैं—

(१) प्रभु मानें, प्रणाम करें—अपने मनमें परिवारजनोंको साक्षात् भगवान्‌के स्वरूप मानें। एकान्त या पूजाके कमरेमें बैठकर (सबके सामने नहीं) हल्की तेज आवाजसे बारी-बारीसे उनको इस प्रकार प्रणाम करें—हे भगवान्! आप स्वयं मेरे पुत्र बनकर पधारे हैं, आपके इस रूपको मेरा प्रणाम। सेवा करनेका यह विचित्र तरीका श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने बताया—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४। ३)

इसका अर्थ है—हे हनुमान्! वही (मेरा) अनन्य

(भक्त) है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर (जड़-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्का रूप है।

(२) दुःख न दें—तन, मन, वचन, कर्म और व्यवहारसे परिवारजनोंको दुःख नहीं दें, उनका अपमान नहीं करें। उनकी निन्दा करना, असत्य बोलना, निन्दा सुनना, दोष देखकर उनपर क्रोध करना, उनको बुरा समझना, अपमान करना; उनको दुःख देना है। दुःख देनेसे आपको कई गुना ज्यादा दुःख मिलेगा। भूलसे दुःख दे दें तो तत्काल क्षमा माँग लें। उनके हितके लिये दुःख देना उनकी सेवा है।

(३) वे दुःख दें तो भी सेवा करें—यदि वे आपको शारीरिक एवं आर्थिक नुकसान पहुँचायें; आपकी निन्दा, अपमान, अनादर करें तो भी आप उनकी सेवा ही करें। कैसे? अपने मनमें उनके प्रति क्रोधकी भावना न रखें। मनमें उनको बुरा समझना, उनका बुरा सोचना, उनसे नाराज रहना, मनमें क्रोध रखना एवं मनसे उनके साथ लड़ना है। व्यवहारमें उनकी निन्दा, बुराई, नुकसान, अपमान न करें। यदि आप ऐसा करेंगे तो यह क्रोध माना जायगा। आपको क्रोधसे होनेवाले सभी नुकसान होंगे। आप केवल अपनी, अपने स्वजनों एवं सम्पत्तिकी सुरक्षाकी व्यवस्था कर सकते हैं। मनमें उनके प्रति करुणा रखें, उनके हितके लिये प्रभुसे प्रार्थना करें। अपना व्यवहार सामान्य एवं सुन्दर रखें। यदि आप इस सच्ची बातको मान लेंगे कि परिवारजनोंने मेरा कोई नुकसान नहीं किया और न मुझे दुःख दिया; मुझे होनेवाले शारीरिक एवं आर्थिक नुकसानके नौ कारण हैं—मेरे कर्म, मेरा भाग्य, मेरा प्रारब्ध, मेरी ग्रहदशा, मेरी असावधानी, होनहार, देव एवं पितृदोष, जगन्नियन्ता प्रभुका विधान। मेरे दुःख, चिन्ता, अशान्तिका कारण मेरी चार भूलें हैं—पराधीनता, मोह, 'शरीर' को 'मैं' मान लेना, भगवान्में मेरा कच्चा विश्वास, तो आपका क्रोध मिट जायगा। यदि आप उनको भगवान् मान लेंगे तो आपमें उनकी सेवा करनेकी शक्ति आ जायगी।

(४) कामना न रखें—परिवारजनोंकी सेवा करनेके बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारकी कामना न रखें। कामनासे सेवा स्वार्थमें बदल जाती है। केवल हितभावना रखें।

विशद स्वरूप—मन, वाणी, कर्मसे सर्वांशमें बुराईरहित हो जाना विश्वसेवा है। सबके प्रति सद्भाव रखना एवं निकटवर्ती जनसमाजको क्रियात्मक सहयोग देना समाजकी सेवा है। सद्भाव एवं सहयोगके बदलेमें कुछ न चाहना अपनी स्वयंकी सेवा है। अपनेसहित अपना सब कुछ भगवान्को सौंपकर उनके शरणागत हो जाना भगवान्की सेवा है। इन सबकी सेवा करना ही मानव-जीवनकी सच्ची सफलता है।

दान एवं दानका रहस्य

(आचार्य पं० श्रीरामदत्तजी शास्त्री)

अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्दिष्टं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्॥

(कूर्मपुराण, उपरिविभाग २६।२)

उदित अर्थात् वेदवेदांगाध्ययन करनेवाले प्रशस्त पात्रमें अर्थके श्रद्धापूर्वक प्रतिपादनको दान कहा गया है। इस पृथ्वीपर दानसे बढ़कर अत्यन्त दुष्कर कार्य कोई नहीं है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो बड़े दुःखसे और सैकड़ों आयास-प्रयाससे उपार्जन किया गया है, ऐसे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय धनका त्याग अत्यन्त दुष्कर है, पर मनुष्य अपने हाथसे जो धन दूसरेको दे देता है, वही धन वास्तवमें उसी धनीका है। मरे हुए मनुष्यके धनसे तो दूसरे लोग ही मौज लिया करते हैं। दिया जानेवाला धन घटता नहीं; अपितु सदा बढ़ता ही रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि कुएँसे पानी उलीचनेपर वह शुद्ध और अधिक जलवाला हो जाता है। जो व्यक्ति धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्ट सहनरूप तपसे दूर भागता है, वे दोनों ही गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर

जलमें छोड़ देनेयोग्य हैं। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष तथा लोभहीन, दानशील मनुष्य—इन सातोंके द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की जाती है। ऐसा विचार करके शठता छोड़कर श्रद्धा और विधिके साथ उत्तम देशमें उत्तमकालमें और उत्तम पात्रको न्यायोपार्जित धनका दान देना चाहिये। जो वेदाध्ययनसे सम्पन्न हो, योगनिष्ठ, शान्त, पुराणका ज्ञाता, पापसे डरनेवाला, स्त्रियोंके प्रति क्षमा भाव रखनेवाला, धर्मात्मा, गौओंको आश्रय देनेवाला तथा सदाचारसे युक्त हो, दरिद्री हो, उसीको दानका उत्तम पात्र कहते हैं। सत्य, इन्द्रियसंयम, तप, शौच, सन्तोष, ईर्ष्याका न होना, सरलता, ज्ञान, मनः-संयम, दया और दान—ये सद्गुण ही सुपात्रके लक्षण हैं। गौ, सुवर्ण, चाँदी, रत्न, विद्या, तिल, कन्या, हाथी, घोड़ा, शय्या, वस्त्र, भूमि, अन्न, दूध, छत्र तथा आवश्यक सामग्रियों सहित घर—इन सोलह प्रकारकी वस्तुओंके दानको महादान कहते हैं।

दानका रहस्य

एकबार नारदजी एवं अर्जुनमें जो दानविषयक वार्तालाप हुआ, उसमें नारदजीने अर्जुनसे कहा कि मैं एकबार महीसमुद्र संगमपर गया। वहाँ स्नानार्थ बहुतसे ऋषि-मुनि भी आये थे। वे मुझे प्रणाम करके मेरे पूछनेपर बोले, मुने! हम सौराष्ट्र देशमें रहते हैं, जहाँके राजा धर्मवर्मा हैं। राजाने दानके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे तपस्या की तब आकाशवाणीने उनसे एक श्लोक कहा—

द्विहेतुः षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक्।
चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥

हे नारदजी, राजाके पूछनेपर भी आकाशवाणीने श्लोकका अर्थ नहीं बतलाया। तब राजाने घोषणा करवायी कि जो मेरी तपस्याके द्वारा प्राप्त हुए श्लोकका अर्थ एवं ठीक-ठीक व्याख्या कर देगा; उसे मैं सात लाख गायें, इतनी ही स्वर्ण-मुद्राएँ तथा सात गाँव दूँगा। हम भी वहाँ गये पर ठीक-ठीक उस श्लोककी व्याख्या नहीं कर सके। उन महात्माओंकी ऐसी बात सुनकर हे अर्जुन! मैं बहुत प्रसन्न हुआ तथा श्लोककी व्याख्या करनेको मैं राजाके पास गया और कहा कि हे राजन्! मैं आपके श्लोककी व्याख्या करूँगा। राजाने कहा—हे ब्रह्मन्! दानके वे दोनों

हेतु कौन हैं? छः अधिष्ठान कौन हैं? छः अंग कौन-कौनसे हैं? दो फल कौन हैं? चार प्रकार और तीन भेद कौन-कौनसे हैं तथा दानके विनाशके तीन हेतु कौनसे बताये गये हैं—यह सब स्पष्ट रूपसे वर्णन करें।

नारदजीने कहा—राजन्! दानके दो हेतु—श्रद्धा और शक्ति ही दानकी वृद्धि और क्षयमें कारण होते हैं। इनमेंसे यह श्लोक श्रद्धाके विषयमें है—शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और तप है। श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई बिना श्रद्धाके सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही निछावर कर दे तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता। इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धनसे जो दान सत्पात्रको करते हैं, वह थोड़ा भी हो तो भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। शक्तिके विषयमें श्लोक इस प्रकार है—कुटुम्बके भरण-पोषणसे अधिक हो, वही धन दान करनेयोग्य है, वही शहदके समान मीठा है, उसीसे वास्तविक धर्मका लाभ होता है। इसके विपरीत करनेपर वह आगे जाकर विषके समान हानिकारक होता है। दाताका धर्म-अधर्ममें परिणत हो जाता है।

हे राजन्! धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय—

ये दानके छः अधिष्ठान हैं, सदा ही किसी प्रयोजनकी इच्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धिसे सुपात्र व्यक्तियोंको जो दान दिया जाता है, उसे '**धर्मदान**' कहते हैं। मनमें कोई प्रयोजन रखकर प्रसंगवश जो कुछ दिया जाता है, उसे '**अर्थदान**' कहते हैं। वह इस लोकमें ही फल देनेवाला होता है। स्त्री-समागम, सुरापान, शिकार और जुएके प्रसंगमें अनधिकारी मनुष्यको जो कुछ दिया जाता है, वह '**कामदान**' कहलाता है। भरी सभामें याचकोंके माँगनेपर लज्जावश देनेकी प्रतिज्ञा करके जो कुछ दिया जाता है, वह '**लज्जादान**' है। कोई प्रिय कार्य देखकर अथवा प्रिय समाचार सुनकर हर्षोल्लाससे जो कुछ दिया जाता है, उसे विद्वानोंने '**हर्षदान**' कहा है। हिंसाका निवारण, निन्दा, अनर्थ इत्यादिके निवारणहेतु अनुपकारी व्यक्तियोंको विवश होकर जो कुछ दिया जाता है, उसे '**भयदान**' कहते हैं।

हे राजन्! दाता, प्रतिग्रहीता, शुद्धि, धर्मयुक्त देयवस्तु, देश और काल—ये दानके छः अंग हैं। दाता नीरोग, धर्मात्मा, देनेकी इच्छा रखनेवाला, व्यसनरहित, पवित्र तथा सदा अनिन्दनीय कर्मसे आजीविका चलानेवाला होना चाहिये। इन छः गुणोंसे दाताकी प्रशंसा होती है। जिसके कुल, विद्या और आचार तीनों उज्ज्वल हों, जीवन निर्वाहकी वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक हो, जो दयालु, जितेन्द्रिय तथा योनिदोषसे मुक्त हो, वह ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र कहा जाता है। याचकोंको देखनेपर सदा प्रसन्न मुख होना, उनके प्रति हार्दिक प्रेम होना, उनका सत्कार करना तथा उनमें दोषदृष्टि न रखना—ये सब सद्‌गुण दानमें शुद्धिकारक माने गये हैं। जो धन किसी दूसरेको न सताकर लाया गया हो, अति क्लेश उठाये बिना अपने प्रयत्नसे उपार्जित किया गया हो, वही देनेयोग्य बताया गया है। कोई धार्मिक उद्देश्य लेकर जो वस्तु दी जाती है, उसे धर्मयुक्त देय कहते हैं। जिस देश अथवा कालमें जो-जो पदार्थ दुर्लभ हो, उस-उस पदार्थका दान करनेयोग्य वही-वही देश और काल श्रेष्ठ है।

हे नृपश्रेष्ठ! महात्माओंने दानके दो परिणाम (फल) बतलाये हैं। उनमेंसे एक तो परलोकके लिये होता है और एक इस लोकके लिये तथा दानके ध्रुव, त्रिक, काम्य और नैमित्तिक—ये चार प्रकार बतलाये गये हैं। कुआँ बनवाना, बगीचे लगवाना, तालाब बनवाना, पोखरे खुदवाना, औषधालय, धर्मशालादि पूर्तधर्म सम्बन्धी सर्वोपयोगी कार्योंमें धन लगाना 'ध्रुव' कहा गया है। प्रतिदिन दिये जानेवाले नित्य दानको 'त्रिक' कहते हैं। जो दान सन्तान, विजय, ऐश्वर्य, स्त्री और बल आदिके निमित्तसे तथा इच्छापूर्तिके लिये किया जाता है; वह 'काम्य' है। 'नैमित्तिक' दान तीन प्रकारका होता है—(१) ग्रहण, संक्रान्ति आदि कालकी अपेक्षासे दिया जानेवाला दान 'कालापेक्ष' नैमित्तिक दान कहा गया है। (२) संस्कार और विद्याध्ययन आदि गुणोंकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'गुणापेक्ष' नैमित्तिक दान कहा गया है। (३) श्राद्ध आदि क्रियाओंकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'क्रियापेक्ष' नैमित्तिक दान कहा गया है।

दानके तीन भेद बताये गये हैं। आठ वस्तुओंके दान उत्तम एवं चार वस्तुओंके दान मध्यम और शेष दान कनिष्ठ दान माने गये हैं। घर, विद्या, मन्दिर, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण—इन आठ वस्तुओंका दान अन्य दानोंकी अपेक्षा '**उत्तम**' है। अन्न, बगीचा, वस्त्र तथा अश्व आदि वाहनोंका दान '**मध्यम**' है। जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि वस्तुओंके दानको '**कनिष्ठ**' बतलाया गया है।

हे राजन्! पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा—ये तीनों ही दानके नाशक हैं। जिसे देकर पश्चात्ताप किया जाय, जो अपात्रको दिया जाय तथा जो बिना श्रद्धाके अर्पण किया जाय, वह दान नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार सात पदोंमें बँधा हुआ यह आकाशवाणीका श्लोक दानका उत्तम रहस्य है। इसकी व्याख्या मैंने आपको सुना दी।

दातुरेवोपकाराय वदत्यर्थीति देहि मे।
यस्माद्दाता प्रयात्यूर्ध्वमधस्तिष्ठेत् प्रतिग्रही॥

(स्कन्दपुराण मा० कुमा० २। ६७)

याचक दाताका उपकार करनेके लिये ही उसके सामने '**देहि**' (दीजिये) कहकर याचना करता है; क्योंकि दाता तो ऊपरके लोकमें जाता है और दान लेनेवाला नीचे ही रह जाता है। जो दान नहीं करते, वे दरिद्री, रोगी, मूर्ख तथा सदा दूसरोंके सेवक होकर दुःखके भागी होते हैं। अतः ऐहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याणके लिये मनुष्यशरीर पाकर यथाशक्ति दान

करना चाहिये।

शतेषु जायते शूरः सहस्त्रेषु च पण्डितः।
वक्ता शतसहस्त्रेषु दाता जायेत वा न वा॥

(स्कन्दपुराण)

सैकड़ों मनुष्योंमें कोई शूरवीर हो सकता है, सहस्रोंमें कोई पण्डित भी मिल सकता है तथा लाखोंमें कोई वक्ता भी निकल सकता है, परंतु इनमें एक भी दाता हो सकता है या नहीं, इसमें सन्देह है।

जीवनचर्यामें पूर्तकर्मका अवदान

(श्रीमती निर्मलाजी उपाध्याय)

वेद-मन्त्रोंमें कही गयी कर्तव्यकर्मों अर्थात् इष्ट और पूर्त कर्मोंकी शिक्षा ही कर्मकाण्ड है। इष्ट वे कर्म हैं, जिनकी विधि वेदमन्त्रोंमें दी गयी है, जैसे—यज्ञादि। पूर्त वे सामाजिक कर्म हैं, जिनकी आज्ञा वेदमें है, किंतु उसकी विधि स्मार्त कर्मोंमें है। जैसे—वृक्षारोपण, जलाशय, कूप, धर्मशाला, देवालयका निर्माण आदि।

जलाशय बनानेका फल—

धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः।
तडागसुकृतं देशे क्षेत्रमेकं महाश्रयम्॥

(महा०, अनु० ५८।६)

शहर या गाँवमें एक तालाबका निर्माण धर्म, अर्थ और काम तीनोंका फल देनेवाला है। तालाबसे सुशोभित होनेवाला स्थान समस्त प्राणियोंके लिये महान् आश्रय है।

जिसके द्वारा तालाबका निर्माण कराया जाता है, उसे अग्निहोत्रके फलकी प्राप्ति होती है। जिसके तालाबमें शरत्कालतक जल उपलब्ध रहता है, वह मरणोपरान्त एक हजार गोदानका उत्तम फल प्राप्त करता है, जिसके तालाबमें हेमन्त ऋतुतक जल रहता है, वह सुवर्ण दक्षिणायुक्त महान् यज्ञके फलका भागी होता है। जिसके तालाबमें ग्रीष्म ऋतुतक जल रहता है, उसे अश्वमेधयज्ञ सम्पन्न करनेका फल मिलता है। इस प्रकार जलका दान महान् और समस्त दानोंमें श्रेष्ठ है।

जलसे ही अन्न उपजते हैं, जिससे मनुष्यकी क्षुधा तृप्त होती है। पितरोंका तर्पण, शौच, सुन्दर रूप और दुर्गन्धका नाश—ये सब जलपर ही निर्भर हैं। कपड़ा धोना और बर्तनोंको धोकर साफ करना जलके अधीन है। इस कारण प्रत्येक कार्यमें जलको पवित्र माना गया है। अतः सब प्रकारके प्रयत्न करके बावली, कूप तथा पोखरा (तालाब)-का निर्माण करना चाहिये। नष्ट होते हुए जलाशयोंका जीर्णोद्धार करनेसे भी महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है।

वृक्ष लगानेका फल—

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥

(महा०, अनु० ५८।२३)

स्थावर भूतोंकी छः जातियाँ कही गयी हैं—वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, त्वक्सार (बाँस आदि) और तृण (घास आदि)।

वृक्ष लगानेवालेकी कीर्ति इस लोकमें बनी रहती है और परलोकमें भी उत्तम फलकी प्राप्ति होती है। वृक्ष लगानेवाला अपने पूर्वजों और भविष्यकी सन्तानोंका तथा पितृकुलका भी उद्धार कर देता है—

अतीतानागते चोभे पितृवंशं च भारत।
तारयेद् वृक्षरोपी च तस्माद् वृक्षांश्च रोपयेत्॥

(महा०अनु० ५८।२६)

वृक्षगण अपने फूलोंसे देवताओंकी, फलोंसे पितरोंकी तथा छायासे अतिथियोंकी सेवा करते हैं।

जलाशयके समीप पीपल वृक्ष लगाकर मनुष्य सैकड़ों यज्ञके फलको प्राप्त करता है। वृक्षपर रहनेवाले पक्षी अपने इच्छानुसार जो फल खाते हैं, उसका अक्षय फल प्राप्त होता है। गर्मीके दिनोंमें गौ, देवता और सन्त-पुरुष जिस पीपलकी छायामें बैठकर आराम करते हैं, उसे लगानेवाले मनुष्यके पितरोंको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है। पीपल वृक्षकी पूजासे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके दर्शनमात्रसे पापका नाश होता है। पीपल वृक्षकी जड़के पास बैठकर जो जप, हवन, स्तोत्र-पाठ और मन्त्रादिके अनुष्ठान किये जाते हैं, उन

मबका फल करोड़ गुना होता है। अश्वत्थ वृक्षके रूपमें साक्षात् 'श्रीहरि' ही इस भूतलपर विराजमान हैं।

पौंसले (प्याऊ) बनानेसे लाभ—जहाँ पेयजलका अभाव हो, ऐसे मार्गमें पवित्र स्थानपर एक मण्डपके अन्दर पेयजलका प्रबन्ध रखकर गर्मी, बरसात और शरद् ऋतुमें राहगीरोंको जल पिलाना चाहिये। जलाशय बनवानेसे जो पुण्य होता है, वही पौंसले (प्याऊ) बनानेसे होता है।

गोचर भूमि छोड़नेका फल—जो मनुष्य गौके लिये गोचरभूमि छोड़ता है, वह स्वर्गसे च्युत नहीं होता। गोदान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही फल गोचर-भूमि छोड़नेसे मिलता है।

देवालय-निर्माणका फल—जो मनुष्य भगवान् श्रीविष्णुकी प्रतिमाके लिये तीन या पाँच खम्भोंसे युक्त, शोभासम्पन्न और सुन्दर कलशसे विभूषित देवालयका निर्माण करता है, उसके खर्चके लिये धन और वृत्ति लगाता है, देवालयमें अपने इष्टदेवकी प्रतिमा स्थापित कराता है तथा शास्त्रोक्त विधिसे उसकी प्रतिष्ठा कराता है, उसे सायुज्य मोक्षकी प्राप्ति होती है। श्रीविष्णु या श्रीशिवकी प्रतिमाके साथ अन्य देवी-देवताओंकी भी मनोहर मूर्ति-निर्माण करानेसे मनुष्य जो फल पाता है, वह इस पृथ्वीपर हजारों यज्ञ, दान, व्रत आदि करनेसे भी नहीं मिलता है।

इसलिये यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

प्रतिमापूजादिकृतो नानेया नरकं नराः॥
देवालयाद्यकर्तारं आनेयास्ते विशेषतः।

(अग्निपु० ३८। ३५-३६)

अर्थात् देवप्रतिमाका निर्माण तथा उसकी पूजा आदि करनेवाले मनुष्योंको तुमलोग नरकमें नहीं लाना तथा जो देवमन्दिर आदि नहीं बनवाते, उन्हें निश्चित तौरपर पकड़कर ले आना।

जहाँ एक ओर पूर्तकर्मोंसे पर्यावरणकी रक्षा होती है, वहीं दूसरी ओर '**बहुजनसुखाय बहुजनहिताय**' के नियमका अनुपालन भी होता है।

स्मृतियों तथा पुराणोंमें पूर्तधर्मकी विशेष महिमा प्रतिपादित हुई है। लघुयमस्मृतिमें कहा गया है कि इष्टकर्मोंसे स्वर्ग तथा पूर्तकर्मके अनुपालनसे मोक्ष प्राप्त होता है—'**इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्ते मोक्षं समश्नुते॥**' देवगुरु बृहस्पति अपनी स्मृतिमें बतलाते हैं कि निःस्वार्थ भावसे कुआँ, बावड़ी, तालाब, देवालय, धर्मशाला, विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सालय, मन्दिर, पौसला आदि बनवाना तथा उनका जीर्णोद्धार और छायादार एवं फलदार वृक्ष लगाना तथा मार्ग आदि बनवाना—ये सभी लोकोपकार एवं जनहितके कार्य करना-करवाना पूर्त-धर्म कहलाता है। आचार्य बृहस्पतिने पूर्त-धर्मकी विशेष महिमा गायी है और कहा है कि जो नये तालाबका निर्माण करवाता है अथवा पुराने तालाबका जीर्णोद्धार कराता है, वह अपने कुलका उद्धार कर देता है और स्वयं भी स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। पुराने बावड़ी, कुआँ, तालाब, बाग-बगीचेका जीर्णोद्धार करानेवाला नये तालाब आदि बनवानेका फल प्राप्त करता है। आचार्य बृहस्पति कहते हैं—'हे देवराज इन्द्र! जिसके बनाये हुए तालाब आदिमें गरमीके दिनोंमें भी पानी बना रहता है, सूखता नहीं, उसे कभी कठोर विषम दुःख प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह सर्वदा सुखी रहता है।' आचार्यके मूल वचन इस प्रकार हैं—

यस्तडागं नवं कुर्यात् पुराणं वापि खानयेत्।
स सर्वं कुलमुद्धृत्य स्वर्गे लोके महीयते॥
वापीकूपतडागानि उद्यानोपवनानि च।
पुनःसंस्कारकर्ता च लभते मौलिकं फलम्॥
निदाघकाले पानीयं यस्य तिष्ठति वासव।
स दुर्गं विषमं कृत्स्नं न कदाचिदवाप्नुयात्॥

(बृहस्पति० ६२—६४)

भीख, भिक्षा और दान

(प्रो० श्रीइन्द्रवदन बी० रावल)

भीख, भिक्षा और दान—ये तीनों एक ही परिवारके हैं। तीनोंमें देने और लेनेकी प्रक्रिया समान है। तीनों धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक महत्त्व रखते हैं। इनमें देनेवाला पुण्य एवं प्रसन्नता प्राप्त करता है तो लेनेवाला आवश्यकताकी पूर्तिके कारण प्रसन्न होता है। यहाँ देनेवालेको दाता या दानी कहते हैं, जबकि लेने या माँगनेवाले जो स्वीकर्ता हैं, उनकी पहचान भिन्न-भिन्न नामोंसे होती है।

भीख माँगनेवाला भिखारी, भिखमंगा या भिक्षुक कहलाता है। वह निर्धन है, जीविकाका साधन जुटानेमें प्रायः असमर्थ। ज्यादातर भिखमंगे भूख मिटानेके लिये भीख माँगते दीखते हैं। उनके प्रति दयासे प्रेरित लोग अन्न देते हैं—'**अन्नदानं महादानम्।**' महाभारतकी कथा सुनहरा नेवलामें अन्नदानका भव्य महिमागान है। कड़ी भूखके बावजूद अतिथिको अन्न देकर स्वयं भूखों रहनेवाले दानी ब्राह्मणके आँगनकी धूलिसे नेवलेका आधा शरीर स्वर्णमय हो गया, मगर शेष शरीर युधिष्ठिरकी यज्ञधूलिसे भी स्वर्णमय नहीं हो पाया।

कबीर कहते हैं—***कर साहिबकी बन्दगी और भूखे को दो अन्न।*** कुछ लोग तो भूखेको अन्न देना ही साहिबकी बन्दगी समझते हैं और मन्दिर आदि बनवानेके बजाय अन्नक्षेत्र खोलते-चलाते हैं। भारतके सिवा किसी अन्य देशमें इतने अन्नक्षेत्र नहीं हैं। कहीं-कहीं तो आज ऐसे अन्नक्षेत्र चलते हैं; जो विकलांग, अशक्त, अनजानोंको उनकी जगह जाकर भोजन देते हैं। भारतीय संस्कृतिकी यह महती विशेषता है।

हिन्दीके प्रसिद्ध कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' बड़ी रकमका पुरस्कार लिये ताँगेमें घर जा रहे थे। तभी पीछेसे 'बेटा! कुछ दे दे' की पुकार करनेवाली भिखारिनको पूरी पुरस्कारराशि दे बैठे थे। आखिर निराला जो थे।

किसीने भिक्षुकोंकी युक्तिपूर्ण वकालत की है—

बोधयन्ति न याचन्ते भिक्षासारा गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां किञ्चिददातुः फलमीदृशम्॥

भिखमंगोंको कोसना मत। वे भीख नहीं माँगते, घर-घर जाकर लोगोंको बोध देते हैं कि पूर्वजन्ममें दान न करनेसे हमें इस जन्ममें भिक्षुक बनना पड़ा है। हम-जैसी दशासे बचना हो तो यहींपर कुछ दीजिये, दीजिये।

घर आये भूखोंको खाली हाथ लौटानेवाला घर 'घर' नहीं है—'**न तद् ओकः अस्ति**' (ऋग्वेद)। ऐसे मनुष्य—भूखेको अतिथि मानकर अन्न देना मनुष्ययज्ञ है—पंच महायज्ञोंमेंसे एक। अतः यह गृहस्थका कर्तव्य भी है, उसकी शोभा भी है।

सुभाषितकारने बड़ी गम्भीर बात कही है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशः गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स तस्य पुण्यमादाय पापमादाय गच्छति॥

घरसे निराश लौटनेवाला अतिथि उस घरका पुण्य ले जाता है और अपना पाप वहाँ छोड़ जाता है।

सामाजिक दृष्टिसे भीख माँगना तुच्छ तथा स्वमानघाती है। कवि रहीम याचक एवं दाता दोनोंके लिये कहते हैं—***रहिमन वे नर मर चुके जो कहिं माँगन जाहिं। उन ते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं॥***

अगर माँगना ही पड़े तो खूब देनेवाले, पर अधमजनकी अपेक्षा गुणीजनसे माँगना बेहतर है, चाहे वह न भी दे। मेघदूतमें कालिदासने '**याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा**' कहकर इसी भावको उजागर किया है। इस सन्दर्भमें चातक एक आदर्श उदाहरण है। उसकी प्रशस्तिमें कवि कहता है—

एक एव खगमणिश्चिरं जीवतु चातकः।
पिपासया वा म्रियते याचते वा पुरन्दरम्॥

चातक प्याससे मर जाय मगर पुरन्दर—इन्द्रके सिवा किसी औरसे माँगना उसे मंजूर नहीं।

भीखका अति सुलभ होना माँगनेवालेमें निरुद्यम और आलस्य पैदा करता है और कई अनिष्टोंको जन्म देता है। यही कारण है कि विश्वमें कई सरकारोंने भीख माँगना प्रतिबन्धित किया है।

भिक्षा—भिक्षाकी परम्परा बहुत पुरानी है। एक

आश्चर्य है कि ऋग्वेदके १०वें मण्डलमें ११७वें सूक्तके ऋषि भिक्षु आंगिरस हैं और सूक्तका एक नाम भिक्षुसूक्त भी है।

भिक्षा माँगनेवाले प्राय: ब्रह्मचारी, संन्यासी, भिक्षु, जोगी आदि होते हैं। भीखमें क्षुद्रता है, भिक्षामें आदरभाव। प्राचीन भारतमें तपोवन या गुरुकुलकी तेजस्वी संस्कृति पनपी थी। उसके मूलमें गुरु-शिष्यकी परम्परा थी। विद्यादान करनेवाले गुरु गृहस्थ भी होते थे, नहीं भी होते थे। शिष्य-ब्रह्मचारी* गृहस्थोंके घरसे भिक्षा माँगता था और गृहस्थ भिक्षान्न देकर अपनेको धन्य समझता था। संन्यासी, भिक्षु या जोगी भी भिक्षान्नभोजी थे। वे धर्मप्रचारार्थ घूमते रहते थे। भगवान् बुद्धने भिक्षुसंघ रचा था और ***'चरथ भिक्खवे'***, चरथ—'घूमते रहो' का उपदेश दिया था। उसके फलस्वरूप कई देश आज भी बौद्धधर्मावलम्बी हैं।

राजमहलके द्वारपर खड़े बुद्धको भिक्षा दे रहे यशोधरा-राहुलका चित्र तथा राजसंन्यासी भर्तृहरिकी ***'भिक्षा दे दे मैया पिंगला जोगी खड़ा है द्वार'*** की ध्वनि मनको पवित्रतासे भर देती है। आदि शंकराचार्यने वादजयी पं० मण्डनमिश्रको शास्त्रार्थके लिये राजी करनेके हेतु उनसे वादभिक्षाके नामसे भिक्षा माँगी थी। शंकराचार्य ब्रह्मचारीसे सीधे ही संन्यासी बने थे। वे मृत्युपर्यन्त भिक्षाजीवी रहे। सनातनधर्मकी विजयपताका फहराते हुए वे देशके कोने-कोनेमें घूमे। उस दौरान उनको भिक्षा देनेवाली आबालवृद्ध नारीमें माता अन्नपूर्णाके विराट् स्वरूपके दर्शन हुए। उन्होंने कृतज्ञभावसे गाया—**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी**। उनके सुरमें जनगणका सुर मिले तो नारीके साथ अविनय (दुर्व्यवहार)-की कोई समस्या नहीं रह सकती।

दान—भीख या भिक्षाके रूपमें भी दान ही किया जाता है। दानकी महिमा अपार है। अतः सब धर्मोंमें दानका उपदेश है। **धर्मो धारयते प्रजाः**—धर्मका काम प्रजाका धारण-पोषण करना है, जिसमें दानका बड़ा योगदान है। ऊपरके सन्दर्भवाला ऋग्वेदका सूक्त दानस्तुतिका उत्तम उदाहरण है। दानकी इतनी वैविध्यपूर्ण एवं काव्यात्मक प्रशस्ति मुग्धकारी विस्मय ही है। **केवलाघो भवति केवलादी** (बिना बाँटे, अकेले खा लेनेवाला मनुष्य पापी है) सूक्तकी इस कहावतरूप पंक्तिको मनुस्मृति तथा गीताने **'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्'** कहकर प्रतिध्वनित किया है। दान दैवी सम्पत्तिका अंश है, जिसे गीता मोक्षप्राप्तिका साधन कहती है। गीतामें दानका गुणत्रय आधारित विभाजन दानके विषयमें मनोवैज्ञानिकताको प्रकट करता है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

(१७। २०)

दान देना कर्तव्य है, ऐसा समझकर जो दान योग्य स्थान तथा योग्य समयपर सुपात्रको दिया जाय और जो उपकारके बदलेमें न हो, वह दान सात्त्विक या श्रेष्ठ दान है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

(१७। २१)

परंतु जो दान किसीके उपकारका बदला चुकानेके रूपमें हो या कुछ लाभकी कामनासे हो तथा मनकी प्रसन्नताके बजाय विषादपूर्वक दिया जाता हो, वह दान राजस है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

(१७। २२)

जो दान बिना सत्कार किये, तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य स्थान तथा समयमें, वह भी कुपात्रको दिया जाय, वह तामस दान कहलाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है—**श्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।** अर्थात् दान श्रद्धापूर्वक, वैभवके अनुसार, विनयपूर्वक, शास्त्रोंकी आज्ञाका डर रखते हुए, देश-काल-पात्रकी परख करके देना चाहिये।

उपर्युक्त वचनोंको मिलाकर देखें तो उत्तम योग्यताके

---

* वेदमें विद्यार्थीके लिये शिष्य शब्द नहीं, ब्रह्मचारी शब्द है और उपनिषद्में अन्तेवासी। देखिये—अथर्ववेदका ब्रह्मचर्यसूक्त एवं तैत्तिरीय उपनिषद्।

बिना उत्तम दाता बनना या उत्तम दान कर पाना टेढ़ी खीर है। दाता, देय वस्तु एवं स्वीकर्ताको लेकर कुछ उदाहरण याद करें; जो स्मरणीय, स्पृहणीय एवं प्रेरक हैं।

'मुझे केवल एक सौ नचिकेता दे दो, मैं मनुष्यजातिका भविष्य बदल दूँगा'—स्वामी विवेकानन्दको यूँ आकृष्ट करनेवाले नचिकेता कठोपनिषद्के उपहार हैं। गोदानप्रेमी पिता वाजश्रवाके आसक्तियुक्त गोदानकी आलोचना करनेवाला नचिकेता अपनी ज्ञानपिपासा तथा तत्परताके बलपर यमदेवताको प्रसन्न कर देता है। यम उन्हें वरदानके रूपमें मृत्युका रहस्य तथा वैश्वानरविद्या या ब्रह्मविद्याका ज्ञान देते हैं।

रघुवंशमें वर्णित रघु-कौत्स-प्रसंग दानभावनाकी दृष्टिसे अद्भुत है। राजा रघु यज्ञमें सर्वस्व दान करके अकिंचन हो गये थे तो भी उनकी दाननिष्ठाके प्रतापसे, गुरुदक्षिणार्थ ब्रह्मचारी कौत्सपर स्वर्णमुद्राओंकी वर्षा हुई, मगर आचार्य वरतन्तुके इस सुयोग्य शिष्यने आवश्यकतासे अधिक एक भी मुद्राको छुआतक नहीं। कहाँ आजका धनलोलुप परिग्रहप्रेमी जनमानस और कहाँ दाता-स्वीकर्ताका वह आदर्श।

दानवीरके रूपमें कर्णका सानी नहीं। **'देवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्'** की वीरघोषणा करनेवाला कर्ण जन्मजात कवचकुण्डलके कारण अजेय था। सूर्योपस्थानके समय मुँहमाँगा दान देनेकी उसकी प्रतिज्ञा। उसकी आड़में इन्द्रने छद्मवेषी ब्राह्मण बनकर कवचकुण्डल माँग लिये। महाभारतयुद्धमें अर्जुनको जितानेकी इस कुटिल चालको ताड़नेपर भी कर्णने प्राणपणसे अपनी प्रतिज्ञा निभायी। वह सूर्यपुत्र यदि शकुनि या दुर्योधनके समान कूटनीतिज्ञ होता तो··· तो वह कर्ण ही न होता।

'ऐसी सुन्दर स्त्री मेरी माँ होती तो मैं कितना सुन्दर होता।' युद्धमें जीती गयी सुन्दरीके प्रति उच्चारित ये आदरभरे शब्द छत्रपति शिवाजीके हैं, जो शासकके चारित्र्यका आदर्श प्रस्तुत करता है। याद रहे, गुरु रामदासको अपना राज्य दान कर देनेपर शिवाजी स्वामी रामदासकी धरोहर समझकर ही राज्यका शासन सँभालते थे। फिर दुःशासन कैसे हो सके?

एक दान कन्यादान है, जो बड़ी धूम-धामसे होता है। वह वरदान साबित होता है यदि नारीके साथ छेड़खानी, बलात्कार, दहेजमृत्यु जैसे अपराध न हों। कुछ महिला संगठन कहते हैं, क्या कन्या कोई चीज है, जिसका दान किया जा सके। कन्यादान शब्दप्रयोग नारीका अपमान है।

दानप्रक्रियामें देय या दीयमान वस्तुका महत्त्व भी कम नहीं है। शंकराचार्यने **'योऽर्थशुचिः स शुचिः'** कहा है। अर्थोपार्जनमें शुचिता मनुष्यकी सच्ची शुचिता है। धार्मिक समारम्भ, समाजसेवा आदिके नामपर प्रयुक्त हो रहा धन काला है या सफेद, नैतिक रीतिसे अर्जित किया गया है या अनैतिक रीतिसे—इसकी परवाह प्रायः कम होती है; क्योंकि धन रामबाण-सा है। आज हालात इतने गिरे हुए हैं कि धनसे सब कुछ खरीदा जा सकता है। काले धनके दानसे भी नाम कमानेका मोह मनुष्यको नहीं छोड़ता। ज्यादातर दान कीर्तिदान होते हैं। इस बदलती दुनियामें नामकी क्या गति?

कुछ लोग गुप्तदान करते हैं। बाइबिल कहती है—दायाँ हाथ दान करे, बायें हाथको पता नहीं लगना चाहिये। मगर इसमें भी लोग काले धनके दानसे पुण्य कमानेका मिथ्या सन्तोष लेते हैं। अतीव उपकारक साध्यके लिये भी अशुद्ध साधनका गांधीजीने हर हालमें विरोध किया है।

संन्यासी बने भर्तृहरिको किसीने गाली प्रदान की। भर्तृहरिने मार्मिक उत्तर दिया—**ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तः। वयमपि तदभावात् गालिदानेऽसमर्थाः॥** आपके पास गालियोंका खजाना है, दीजिये। हमारे पास तो एक भी नहीं, फिर क्या गाली देंगे।

दानकी एक अजीब दास्तान कवि माघकी है। जितने बड़े कवि, उतने ही बड़े दानी। एक दिन राजसभामें प्राप्त पारितोषिककी पूरी राशि रास्तेमें ही याचकोंमें बाँट दी। खाली हाथ पहुँचे तो घरके द्वारपर भी याचक! बड़ी उलझन, बड़ा धर्मसंकट। सोचने लगे—धन है नहीं, दानके बिना चैन नहीं, दानार्थ किसीसे माँगना क्षुद्रता है, खुदकुशी कर लूँ—मगर वह तो पाप है! तो ऐ मेरे प्राण! इस विवशतामें आप स्वयं मुझे छोड़ चलिये। हृदयको छूनेवाला श्लोक है—

अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा
त्यागान्न सङ्कुचति दुर्ललितं मनो मे।
याच्ञा च लाघवकरी स्ववधे च पापं
प्राणाः स्वयं व्रजत किं प्रविलम्बितेन॥

शंकराचार्यने '**दानं संविभागः**' कहा है। सम्पत्तिका सम्यक् विभाजन ही दान है। विनोबाजीने भूदान आन्दोलनद्वारा इस आर्थिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक (Eco-Socio Philosophical) उक्तिको चरितार्थ कर दिखाया है। जरूरतसे काफी ज्यादा भूमि रखनेवालोंसे अतिरिक्त भूमि दानमें माँगकर गरीब अकिंचनोंमें बाँटी गयी। लाखों एकड़ भूमिका ऐसा आदान-प्रदान विश्वभरमें अनूठा है। इससे एक समाजवादी क्रान्ति हो गयी। रशियन क्रान्तिमें कई धनी जमींदारोंकी हत्याएँ हुई थीं। यहाँ ऐसा नहीं हुआ; क्योंकि विनोबाने भूदानको यज्ञका गौरव दिया। दानका यज्ञसे आत्मीय सम्बन्ध है। यज्ञ शब्द यज् धातुसे बना है, जिसमें देवपूजन, संगतीकरण, दान—तीनों अर्थ समन्वित हैं। इसीलिये तो श्रुतिने '**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' कहा है। भूदानके साथ-साथ सम्पत्तिदान यज्ञ भी चला, जिसके जरिये भूमि जोतनेके साधन आदि भी जुटवाये गये—

दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

अर्थात् धनका उपभोग या दान, कुछ नहीं करनेसे धनका नाश होता है, वह डेड मनी बनकर पड़ा रहता है, क्या फायदा ऐसे धनसे? नीतिशतककी इस चेतावनीका सर्वाधिक उच्चारण विनोबाने दानकी अपीलके दौरान किया है। समाजमें फैली घोर विषमताको कम करनेका धर्मपूत उपाय दान है—यह बात प्रयोगसिद्ध बनी।

दानके हिमालयका एवरेस्ट आत्मबलिदान है। ऋषि दधीचि, गृध्रराज जटायु तथा इस युगके भगतसिंह आदि स्वातन्त्र्य वीरों एवं अब्दुल हमीद-जैसे हमारे फौजी जवानोंने देशके लिये अपना जीवन और प्राण दान कर दिया। समाजको इनसे प्रेरणा लेकर भारतमाता और उसके इन वीरसपूतोंका ऋण अदा करना है।

चलें, इस दानरूप हिमालयकी पवित्र यात्रा शुरू करें।

जीवनचर्या, प्रकृति और पर्यावरण

(डॉ० श्रीश्यामसनेहीलालजी शर्मा, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें वह चितिशक्ति व्याप्त है, जिससे जड़ एवं जंगम सभी अनुप्राणित हैं। जड़वत् प्रतीत होनेवाले पर्वत, नदियाँ, वन, वनस्पति आदि भी चेतनासे असम्पृक्त नहीं हैं। दिव्य दृष्टिसम्पन्न हमारे ऋषियों, मुनियोंने उस जड़-से प्रतीत होनेवाले पर्यावरणमें भी चेतनाका अवलोकन किया था, तभी तो उन्होंने हिमालयको 'देवतात्मा' कहा, गोवर्धन पर्वतमें श्रीविष्णु-श्रीहरिका बिंब देखा और अगस्त्य ऋषिकी आज्ञासे विन्ध्यगिरिको शीश झुकाकर खड़े देखा। गंगाको मोक्षप्रदायिनी शिवप्रिया और नर्मदाको शिवस्वेदजा कन्याके रूपमें पहचाना। ऐसी विलक्षण मनीषा, अद्भुत शेमुषी, दिव्यदृष्टि और चमत्कारी प्रतिभाके धनी मुनिवरोंने प्रकृति और पर्यावरणके वास्तविक स्वरूपको पहचाना था और वे ही उसके यथार्थ स्वरूपके ज्ञाता हैं।

महान् मुनिप्रज्ञाने सभ्यताके आदिम युगमें ही सत्यका साक्षात्कार करके अनन्तकालके लिये नियमों, नीतियों एवं सिद्धान्तोंके मानदण्ड स्थापित कर दिये थे। साथ ही श्वेतवराह कल्पके सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरके अन्तर्गत अट्ठाईसवें कलियुगके प्रथम चरणमें आनेवाले पर्यावरणिक संकटोंके संकेतोंको समझकर ही मानो उनसे बचनेके उपाय भी सुझा दिये थे। दूसरे शब्दोंमें ऋषियोंद्वारा स्थापित वैज्ञानिक नियम आजतक अकाट्य हैं। मानवीय जीवन ब्रह्माण्डीय पर्यावरणसे न केवल सम्बद्ध अपितु अखण्ड रूपसे आबद्ध है। अतः मुनिप्रज्ञाद्वारा निर्दिष्ट नियम प्रकृति और पर्यावरणके सन्दर्भमें उसकी जीवनचर्याको नियमित करते हैं। प्रकृतिके विकृत और पर्यावरणके प्रदूषित हो जानेपर जीवनकी कल्पना भी दुःसाध्य है। अतः हमारे मनीषियोंद्वारा स्थापित नियमोंके अनुरूप ही जीवनचर्या अपनाकर मानव प्रकृति और पर्यावरणकी संरक्षा कर सकता है और इसके लिये

आवश्यक है कि वह अपनी स्वार्थवृत्ति और अतिशायित भोगलिप्साकी हठधर्मिताका परित्यागकर विज्ञानके दुस्साहसिक एवं विनाशकारी प्रयोगोंसे संसारको आक्रान्तकर जीव-जगत्के जीवनको संकटापन्न न करे।

प्राचीन मानवकी जीवनचर्यामें प्रकृतिकी पवित्रता और पर्यावरण-संरक्षण बनाये रखनेके प्रति इतनी जागरूकता थी कि उस समय पर्यावरण-प्रदूषण-जैसी कोई समस्या नहीं थी। वह युग यह मानकर चलता था कि '**प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्**' अर्थात् पैरको कीचड़में सानकर फिर उसे धोनेसे अच्छा है कि पैरमें कीचड़ लगने ही न दिया जाय। माघ कविका यह वाक्य प्रदूषणके निषेधकी ओर संकेत करता है और प्रकृतिकी शुचिता बनाये रखनेके लिये जीवनचर्याको तदनुकूल ढालनेकी प्रेरणा देता है।

वैदिक साहित्यमें पर्यावरणीय तत्त्वों—अन्तरिक्ष, जल, वायुकी शुद्धता और पर्वत, नदी, सरोवरादिके कल्याणकारी बने रहनेकी कामना की गयी है।* '**मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।**' (यजु० १३। २७) इत्यादिके रूपमें पर्यावरणीय उपादानोंसे माधुर्यकी चाह की गयी है। यह उस आदर्श जीवनचर्याका स्वस्थ चिन्तन है, जो पर्यावरणकी पवित्रताके प्रति पूर्णतः सचेत है।

सामान्य रूपसे हरी-भरी प्रकृति ही मानवका पर्यावरण है। 'हरी' से तात्पर्य 'सुजला सुफला मलयजशीतला शस्यश्यामला पृथ्वी' से है तथा 'भरी' से अभिप्राय पशु-पक्षी, जीव-जन्तुओंकी समृद्धिसे है। आधुनिक विकासकी जो भी नीति रही हो अथवा जो भी उसके पुरोधा रहे हों, इसके द्वारा भौतिक संसाधनोंका विकास तो हुआ है, परंतु मानवताका विकास नहीं हुआ। यह भौतिक विकास पूर्णतया भोगवादकी संस्कृतिपर आधारित है। आज पर्यावरण-संरक्षणके लिये समग्र जीवन-दर्शनकी आवश्यकता है। आज आवश्यक हो गया है कि मानव अपनी जीवनचर्यामें उन प्राचीन आदर्शोंको पुनः अपनाये, जो पर्यावरणके साथ उसके अविभाज्य सम्बन्धोंका पक्षधर था और प्रकृति तथा पर्यावरणके प्रति पूज्य भाव रखते हुए पर्यावरण-संरक्षणके प्रति समर्पित था।

समग्र प्रकृति एवं मनुष्यके पारस्परिक सम्बन्धोंकी मधुरता या आनुपातिक सन्तुलनका नाम ही पर्यावरण-संरक्षण है। पर्यावरणकी पवित्रता बनाये रखनेके अनेक साधनोंमें धार्मिक भावनाका आधार भी प्रमुख है। प्रकृतिके प्रति धार्मिक सद्भावना प्राचीन अवधारणाका केन्द्र बिन्दु है। 'ज्ञान', 'कर्म' एवं 'उपासना' की त्रिवेणीसे आप्लावित वैदिक साहित्यमें 'कर्म' (यज्ञ, यागादि)-का सीधा सम्बन्ध भैषज्य एवं पर्यावरण-शुद्धिसे है तो 'उपासना' विशुद्धरूपसे प्राकृतिक उपादानोंसे सम्बन्धित है। अग्नि, मरुत्, पर्जन्य, वरुण, सोम, सविता, पृथ्वी, उषस् इत्यादि प्राकृतिक तत्त्व वैदिकोंकी जीवनचर्यामें पूज्य रहे हैं। उन्होंने इनमें देवत्वकी भावना समाहित की और इनकी प्रसन्नता या इनसे अपने कल्याण एवं सुख-समृद्धिकी प्राप्तिके लिये स्तुतियोंका विधान किया। प्राकृतिक शक्तियोंकी उपासनाके मूलमें मानवकी श्रद्धासंवलित कृतज्ञताकी अभिव्यक्ति होती थी। यह वह समय था, जब पर्यावरण-प्रदूषण-जैसी कोई समस्या नहीं थी तथापि इस सन्दर्भमें प्राचीन ऋषियोंका चिन्तन अतिशय व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक रहा है, जो वायु, नदियों, औषधियों, रात, प्रभात, द्यौ, वनस्पतियों, सूर्य और गायों—सभीसे मधुर बने रहनेका आकांक्षी है।

प्रकृति एवं मनुष्य एक-दूसरेके पूरक हैं, एकके अभावमें दूसरेके सद्भावकी कल्पना नहीं की जा सकती। यही कारण है कि पुराकालसे पर्यावरण मानवीय जीवनचर्यामें मिला हुआ है। मानवकी नित्यक्रिया, संस्कार, व्रत-अनुष्ठान, तप-उपासना, त्यौहार, क्रियाकर्म, पूजा-पद्धति, नृत्य-संगीत सभीमें पर्यावरण समाहित है। नित्यक्रियामें प्रातःकाल उठनेपर प्रत्येक आस्थावान् व्यक्ति आज भी—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

—का उच्चारण करता हुआ पृथ्वी माँका स्पर्श करता है। उसके लिये 'पृथ्वी माता है और वह उसका पुत्र' है—

* ऋग्वेद ७। ३५। ३; ७। ३५। ५-६; ७। ३५। १३; १। १३। ९; अथर्ववेद १। ६। ४

'**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।**'[१] शौचक्रिया जलमें, अग्निमें, उद्यानमें, वृक्षके नीचे, शस्ययुक्त क्षेत्रमें, बस्ती तथा देवस्थानके समीप नहीं करनी चाहिये।[२] स्मृतियोंने पर्यावरण-संरक्षणके लिये व्यापक नियम बनाये हैं।[३]

प्राचीन मानव स्नान चाहे जहाँ करे, पर उसके मनमें पवित्र नदियोंकी भावना समायी रहती थी। कूप-नदी या सरोवरादिके जलको प्रदूषित करना निन्दनीय माना जाता था।[४] जलमें अग्निका वास होता है, अतः नग्नस्नान वर्जित था। पुराणोंमें ऐसे कार्योंकी सूची दी गयी है, जिनको किसी भी पवित्र नदीके किनारे नहीं करना चाहिये। नदियोंमें प्रदूषण रोकनेके लिये ये आज भी प्रभावकारी हैं—

गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्।
शौचमाचमनञ्चैव निर्माल्यं मलघर्षणम्॥
गात्रसंवाहनं क्रीडां प्रतिग्रहमथो रतिम्।
अन्यतीर्थरतिं चैव अन्यतीर्थप्रशंसनम्॥
वस्त्रत्यागमथाघातं सन्तारं च विशेषतः।
नाभ्यङ्गितः प्रविशेच्च गङ्गायां न मलार्दितः॥
न जल्पन्न मृषा वीक्षन्न वदन्ननृतं नरः।

'पुण्यतोया श्रीगंगाजीमें मल-मूत्रत्याग, मुख धोना, दंतधावन, कुल्ला आदि करना, निर्माल्य फेंकना, मल-संघर्षण या बदनको मलना नहीं चाहिये। जलक्रीडा अर्थात् स्त्री-पुरुषोंको रतिक्रीडा नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार दान-ग्रहण भी नहीं करना चाहिये। गंगाजीके प्रति अभक्ति और अन्य तीर्थकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। पहिने हुए वस्त्रका छोड़ना, जलपर आघात करना या तैरना भी नहीं चाहिये। बदनमें तेल मलकर या मैले बदन होकर गंगाजीमें प्रवेश नहीं करना चाहिये। गंगाजीके किनारे वृथा बकवाद, मिथ्याभाषण या कुदृष्टि नहीं करनी चाहिये।'

वस्तुतः '**अप्सु अमृतम्**' और '**अप्सु भेषजम्**' जैसे शब्दोंमें प्रकट जलकी कल्याणकारिता और आरोग्य-प्रदायिनी शक्तिसे लोग परिचित थे और इसीलिये जलकी स्वच्छता बनाये रखनेके लिये वे मुनिप्रज्ञाद्वारा निर्दिष्ट नियमोंका पालन करते थे। अपवित्र जलका स्पर्श करना पाप माना जाता था। अशुद्ध जल पीनेपर चान्द्रायण व्रत करनेका नियम था।[५] स्नानक्रियाके बाद देवता एवं देवतुल्य वृक्षोंपर जल चढ़ानेका नियम था। भोजनमें पत्र, पुष्प, फल, कन्द, मूलादिकी प्रचुरता रहती थी। भोजनसे पूर्व भगवान्‌का भोग लगाना अनिवार्य था। भोग लगानेके पश्चात् प्रसादके रूपमें गंगाजल एवं तुलसीदलको भोजनमें मिला लिया जाता था। भोजनका कुछ अंश भूतबलिके रूपमें सभी प्राणियोंके लिये दिया जाता था।

प्राचीन आर्योंकी जीवनचर्या आश्रमोंमें व्यवस्थित थी। इनमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यासमें व्यक्ति प्रकृतिकी शरणमें रहकर उसीका संरक्षण एवं अभिवर्द्धन करता हुआ उसीमें अपना जीवन-यापन करता था, जबकि गृहस्थाश्रमपर शेष तीन आश्रमोंकी सुव्यवस्थाका उत्तरदायित्व था। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्थामें भी पर्यावरण-व्यवस्था प्रतिष्ठित थी। कवि 'कालिदास' के 'रघुवंश' में अभ्यागत ऋषि कौत्ससे रघुके योग-क्षेमविषयक प्रश्नमें पर्यावरणीय जागरूकता देखी जा सकती है। महाराज रघु ऋषिसे पूछते हैं कि 'जिन जलोंमें आप स्नान, सन्ध्या और यज्ञ करते हैं, जिनमें पितरोंको अंजलि देते हैं, जिनके किनारे बालूपर हमारे लिये उपजका छठा भाग निकालकर रखते हैं, वे आपके तीर्थजल प्रदूषित तो नहीं हैं'—

निवर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्।
तान्युञ्छषष्ठांकितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्॥[६]

जलशुद्धिके विषयमें एक राजाकी यह चिन्ता वरेण्य है। 'प्रतिमानाटक' में 'भास' के राम आश्रममें सीताको छोटे पौधोंको सींचते देख पूछ लेते हैं—'मैथिलि! **अपि तपो वर्धते**?'[७] उनकी दृष्टिमें पौधोंका सिंचन-कर्म किसी तपसे कम नहीं है। मण्डनप्रिया होनेपर भी 'अभिज्ञाननाटक' की शकुन्तला[८] और 'अभिषेकनाटक' की मन्दोदरी[९] पुष्प-चयन और पल्लव-स्पर्शतक नहीं करतीं। पर्यावरण-संरक्षण इनकी जीवनचर्याका अंग है।

भारतीय लोकजीवनमें पृथ्वी, जल, वायु, अन्तरिक्ष, अग्नि, सोम, सूर्य इत्यादि ही नहीं; अपितु गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी आदि सभी नदियाँ देवियाँ

१-अथर्ववेद १२। १। १२; २-मनुस्मृति ४। ४६-४७; ३-विष्णुस्मृति ६०। १-२४; मनुस्मृति ४। ५६; २। ६१, २। ६७; ४-तैत्तिरीय आरण्यक; ५-भविष्यपुराणसे उद्धृत निर्णयसिन्धु-३/पूर्वार्द्ध; ६-रघुवंश; ७-प्रतिमानाटक; ८-अभिज्ञानशाकुन्तल चतुर्थ अंक; ९-अभिषेकनाटक ३। १।

हैं और महेन्द्र, मलय, कैलास, हिमालय, विन्ध्य आदि सभी पर्वत देवता हैं, अतः पूज्य हैं। माताके रूपमें पृथ्वी एवं गायकी, गणेशके रूपमें हाथीकी, नन्दी एवं शिववाहनके रूपमें वृषभकी, दुर्गावाहनके रूपमें सिंहकी, शीतलावाहनके रूपमें गर्दभकी, गणेशवाहनके रूपमें मूषककी धार्मिक प्रतिष्ठा रही है। पक्षियोंमें गरुड विष्णुवाहनके रूपमें, हंस ब्रह्मावाहनके रूपमें, मयूर कार्तिकेयवाहनके रूपमें तथा उल्लू लक्ष्मीवाहनके रूपमें आज भी संरक्षणीय हैं।

भारतीय व्रतों, पर्वों एवं मांगलिक कृत्योंमें पर्यावरणके तत्त्वोंकी ही प्रधानता है। वटसावित्रीमें वटपूजा, कार्तिकमें तुलसीपूजा, एकादशीपर आँवलेकी पूजा, नागपंचमीपर नागकी पूजा, दशहरेपर नीलकण्ठ एवं अश्वकी पूजा, कार्तिकमें गोवर्द्धन-पूजा, हलषष्ठीमें कुशकी पूजा भी क्षेत्रीय परम्परानुसार की जाती है। लोगोंकी जीवनचर्यामें कहीं-कहीं संतानके लिये केलेकी, संतान-वृद्धिके लिये कुश-काँस एवं बाँसकी, अनुरूप वरप्राप्तिके लिये पीपलकी, ऋद्धि-सिद्धिके लिये सुपारी, खजूर एवं बाँस वृक्षकी उपासना आज भी प्रचलित है। आज भी लोकमें प्रातःकाल नेवलेका, दशहरे (विजयादशमी)-के दिन नीलकण्ठका, प्रस्थानके समय हाथी-घोड़ा, गाय, बैल, गोबर, लोवा पक्षी आदिका दर्शन शुभ माना जाता है। लोगोंकी दिनचर्यामें चींटियोंको आटा, मछलियोंको आटेकी गोलियाँ, बन्दरोंको भुना हुआ चना, गायोंको ग्रास, चीलोंको पकौड़ी एवं बड़ा, कुत्तोंको कौरा देनेकी प्रथा कहीं-कहीं आज भी दृष्टिगत होती है। अनेक प्राकृतिक तत्त्व और पर्यावरणीय औषधियाँ मानवकी शारीरिक और मानसिक व्याधियोंको दूर करनेमें अति महत्त्वपूर्ण हैं अतः मनुष्यकी जीवनचर्यामें इनके प्रति श्रद्धाका भाव देखा जाता है।

भारतीय लोक-नृत्योंकी रंगसज्जा पर्यावरणप्रधान-संस्कृति-समन्वित होती है। हिन्दू धर्मशास्त्रोंमें संस्कारोंकी सम्पन्नतामें गायके गोबर, गायके दूध, घृत एवं दधिका महत्त्व वर्णित है। यह विवेचन पर्यावरणके प्रति लोगोंकी अवधारणाको स्पष्ट करता है। पुराकालमें प्राकृतिक तत्त्वोंमें देवत्वकी भावनाका एक दूरगामी परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर पाप एवं पुण्यकी अवधारणा इससे जुड़ गयी। प्राकृतिक तत्त्वोंकी पूजा और पर्यावरण-संरक्षण पुण्य कार्यमें प्रतिष्ठित हो गया। लोगोंने अपनी जीवनचर्यामें इस पुण्य-संचयको महत्त्व दिया और इसके भक्षण या विनाशको पाप मानकर इसका निवारण किया। पर्यावरणीय तत्त्वोंके साथ पाप-पुण्यकी इस अवधारणासे प्राचीन साहित्य भरा पड़ा है।[१] पशुहत्या एवं वृक्षोंके विनाशपर पंचतन्त्रका निम्नोक्त व्यंग्य द्रष्टव्य है—

वृक्षांश्छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते॥

अर्थात् वृक्ष काटकर, पशुओंको मारकर तथा उनके रुधिरसे कीचड़ करके यदि स्वर्गकी प्राप्ति होती है तो फिर नरक पहुँचानेवाला कौन-सा कर्म है? प्राचीनकालकी इसी आस्थाके वशीभूत आज भी गाँवका आदमी हरा वृक्ष नहीं काटता है, सभी अपने घरके आस-पास वृक्षारोपण करते हैं। यह नैतिक आस्था उनकी जीवनचर्याका अंग है। मनुष्य एवं प्रकृतिके मध्य केवल पूज्य-पूजक भाव ही नहीं है; अपितु परस्पर स्नेहिल सम्बन्ध भी रहे हैं। वेदोंमें पृथ्वीको माता और अन्तरिक्ष (द्यौ)-को पिता कहा गया है। महाभारत एवं पुराणोंमें वृक्षोंको धर्मपुत्र माना गया है।[२] पुत्रहीनोंको उनके द्वारा लगाये गये वृक्ष ही तारनेवाले होते हैं, यह मान्यता भी बद्धमूल है।[३] वृक्ष सर्वदा कल्याणकारी हैं।

प्राकृतिक सत्त्वोंके प्रति मानवीय संवेदनाका एक उत्कृष्ट आदर्श 'रघुवंश' में मिलता है, जहाँ चक्रवर्ती राजा दिलीप गुरुकी आज्ञासे गायकी सेवा करते हैं। गोरक्षाके निमित्त वे अपना सर्वस्व समर्पण करनेको भी तत्पर हो जाते हैं। वस्तुतः गाय पृथ्वीपुत्री और धात्री है। वह वैदिक ऋषियों और पुराणकारोंके द्वारा बहुत अधिक समादृत हुई है। रामायण, महाभारत भी उसका गुणगान करते नहीं थकते। कृषि-संस्कृतिका वह प्राण है। कृष्णकी वह अभिन्न है। कृष्ण गोकुल-लीलामें उनका उद्धार करते हैं। दावानलसे उनकी रक्षाकर वे भारतीय आदर्शकी ही रक्षा

१-शुक्लयजुर्वेद ११। ४३—४५; महाभारत-उद्योगपर्व, ३; मनुस्मृति ५। ३८; विष्णुस्मृति; गौतमधर्मसूत्रपरीक्षा २। ६। ६; शिवपुराण ५। १६। १८; ऋग्वेद १०। ९७। १५; अग्निपुराण ८१। २, ३१। ६ आदि। २-महाभारत, अनु० पर्व ५८। २७, ३०, ३१; ३-शिवपुराण ५। १२। १७-२१।

करते हैं। ऋग्वेदमें इन्द्रका श्रेष्ठ पराक्रम गोरक्षण ही है। वस्तुतः गाय लोकजीवनमें सदैव सम्पूज्य रही है। लोक-देवता मैकासुर, पाबूजी, तेजोजी आदि गोरक्षा, गो-सेवा और गोवंश-संवर्द्धन तथा संरक्षणके कारण ही लोकपूज्य वीरोंकी कोटिमें आते हैं।

इस प्रकार प्रकृति और पर्यावरणीय तत्त्वोंके प्रति पूज्य-पूजक भावना, पाप-पुण्यकी अवधारणा, मानवीय संवेदना एवं पारिवारिक आत्मीय सम्बन्धोंके चलते मानवकी जीवनचर्यामें पर्यावरण-संरक्षण महत्त्वपूर्ण रहा है। मानवीय भावनाओंद्वारा पर्यावरण-संरक्षणकी आज महती आवश्यकता है।

'शिखा' की आवश्यकता

(वैदिक सार्वभौम महायाज्ञिक पं० श्रीभगवत् प्रसादजी मिश्र, वेदाचार्य)

'शिखा' हिन्दुओंका एक परम पवित्र और आवश्यक चिह्न है। इसका महत्त्व समझकर ही हमारे पूर्वज महर्षियोंने इसे रखनेकी आज्ञा दी है। जिन कारणोंसे शिखा रखी जाती है, उनमें प्रधान कारण निम्नलिखित हैं—

(१) आध्यात्मिक दृष्टिसे—वेद-मन्त्र या आर्ष वचनोंके अमृतरूप वर्ण-समुदायके उच्चारण एवं उससे प्रतिपादित कर्मके अनुष्ठानसे उत्पन्न अमृत सनसनीसे सिरमें वर्तमान सहस्रदल चक्रकी कर्णिकामें प्रविष्ट होता है। सविधि मन्त्रोच्चारण या कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न अमृतमें इतनी तेजी रहती है कि वह कर्णिकामें घुसकर सिरसे बाहर निकलकर ऊपरकी ओर वर्णामृतसिन्धु त्रयीमय सहस्ररश्मि सूर्यदेवमें मिलना चाहता है; परंतु शिखा रहनेपर वह अमृत उसकी गाँठकी उलझनसे टकराकर शिरःस्थित सहस्रदल कमलकी कर्णिकामें ही रह जाता है। यदि वेद-मन्त्रोच्चारण या वैदिक कर्मानुष्ठान करते समय शिखा खुली रहती है तो वह अमृत शिखाके बालोंसे होकर नीचे जमीनमें प्रवेश कर जाता है तथा शिखा न रहनेपर वह अमृत सिरसे बाहर निकलकर ऊपर उठता है, परंतु प्रबल शक्तियुक्त न रहनेके कारण वायुसे टकराकर अन्तरिक्षमें ही नष्ट हो जाता है, जिससे उस मन्त्रोच्चारण या कर्मका अनुष्ठान विफल होता है। इसलिये शास्त्रकारोंने कहा है कि मनुष्यको सदा शिखा बाँधकर ही रहना चाहिये। यदि मनुष्य बिना शिखा बाँधे या बिना शिखाके काम करता है तो उसका किया-कराया सब बेकार हो जाता है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

(महर्षि कात्यायन)

(२) आधिदैविक दृष्टिसे—सनातन सिद्धान्त है कि—(१) प्रत्येक पदार्थमें प्राण या देवशक्ति है। इस प्राण या देवशक्तिसे परिव्याप्त स्थावर-जंगमात्मक संसारका व्यक्ति किसी प्राणीके अपने मानव-जीवन या अन्य योनियोंमें किये गये कर्मका प्रतिफल है। (२) यह ब्रह्माण्ड अपने पिण्डशरीरमें छायारूपसे व्यवस्थित है, इस सिद्धान्तके अनुसार लता-वृक्षादि उद्भिज्जसंसारके प्राणी किसी समयके हमारे पूर्वज हैं, जो अपने कर्मवश इस रूपमें हैं। इस उद्भिज्जसंसारका ही चित्र हमारे शरीरमें शिखारूपसे है। इस शिखामें अमृतका संघर्ष होनेके कारण इसमें कुछ अमृतका लेश रह जाता है। इसीलिये हमारे मनुष्योंने देव, ऋषि, महर्षियोंके तर्पणका उपदेश देकर उद्भिज्जसंसारके चित्ररूप शिखाके जलसे उद्भिज्जसंसारको तर्पण करनेका उपदेश दिया है—

लतागुल्मेषु वृक्षेषु पितरो ये व्यवस्थिताः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु मयोत्सृष्टैः शिखोदकैः॥

(संस्कारगणपति)

(३) आधिभौतिक दृष्टिसे—मनुष्य ज्ञानेन्द्रिय (आँख, नाक, कान, त्वचा, जिह्वा) एवं कर्मेन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ)-से जो काम करता है, उसके फलस्वरूप उसे सुख-अनुभव आदि प्राप्त होते रहते हैं। प्राप्त अनुभवादिको स्मरण रखते हुए अपने भविष्यत् जीवनमें उपयोग करना ही उन्नतिका साधन है। इसी उपदेशकी स्थिर स्मृति शिखाद्वारा की गयी है। जिस प्रकार शिखा कभी कटाये न जानेके कारण हिन्दुओंका स्थिर चिह्न है, उसी प्रकार अपने जीवनके कर्तव्योंका स्मरण रखकर कार्य करना उन्नतिका स्थिर चिह्न है। जिसके शिखा नहीं है, उसने अपने जातीय हिन्दुत्वके परम

चिह्नको हटा दिया है, अर्थात् उसके हृदयमें प्रभावोत्पादक हिन्दुत्वका कोई सुस्थिर चिह्न नहीं है, इसलिये वह रीते घड़ेके बराबर है। शिखा रहनेसे हिन्दुत्वकी गौरव-स्मृतिके सर्वदा बने रहनेके कारण यह पुरुष अपने गौरवसे भरा हुआ एवं शिखारूप ढकनेसे ढँका हुआ एक उपयुक्त घड़ा है। इसलिये शिखा रखना परमावश्यक है।

'रिक्तो वा एष यन्मुण्डस्तस्यैतदपिधानं यच्छिखा।'

(भगवती श्रुति)

पूर्व कारणोंसे हमारे पूर्वज महर्षियोंने शिखा रखनेकी आज्ञा दी है।

यज्ञोपवीत-संस्कार और उसकी आवश्यकता

(डॉ० श्रीउदयनाथजी झा 'अशोक', साहित्यरत्न, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

यज्ञोपवीत-संस्कार अथवा उपनयन-संस्कारसे बालक 'द्विज' की कोटिमें आ जाता है, यह बालकके दूसरे जन्मका सूचक होता है। इस जन्ममें सावित्री उसकी माता और आचार्य पिताका स्थान ग्रहण करते हैं। पुत्रीकरणकी यह प्रक्रिया अथर्ववेद (११।५।३)-में वर्णित भी है— **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥**

इस संस्कारके बाद उपनीत बालकको वेदाध्ययन, स्वाध्याय आदिका अधिकार भी प्राप्त हो जाता है। यह ब्रह्मचर्यावस्थाकी प्रथम सीढ़ी है, जिसके द्वारा बालककी बुद्धिका परिमार्जन होता है। शास्त्र-नियमके अनुसार इस संस्कारमें ब्रह्मचर्यव्रतकी दीक्षा दी जाती है, ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करनेके लिये शास्त्रादेश बताये जाते हैं। इस व्रतका पालन करनेवाला बालक तेज, वर्चस्व एवं बुद्धिमें प्रगल्भ बन जाता है। गायत्री-प्रबोध हो जानेसे उसमें ब्रह्मतेज आ जाता है।

यज्ञोपवीत-संस्कारसे ही बालक यज्ञोपवीत धारण करता है, यज्ञ-उपवीत अर्थात् यज्ञको प्राप्त करनेवाला बन जाता है। अभिप्राय यह कि यज्ञोपवीतको धारण करनेसे व्यक्ति सर्वविध यज्ञ करनेका अधिकारी हो जाता है। बिना यज्ञोपवीत धारण किये व्यक्तिको न तो गायत्री-सावित्री जपनेका अधिकार है, न वेदपाठ करनेका और न यज्ञादि शुभ-कर्मका ही। इसीलिये शास्त्रोंमें इसे संस्कारकी संज्ञा दी गयी है। यज्ञोपवीतका एक नाम 'ब्रह्मसूत्र' भी है, क्योंकि इसके धारणसे ही व्यक्ति ब्रह्म, ब्रह्माण्ड या परब्रह्म परमेश्वरके प्रति समर्पित हो जाता है। निश्चय ही यह ब्रह्मसूत्र बल, वीर्य, आयु और तेजको देनेवाला सूत्र है, परम पवित्र है। इसीको जटाधरने 'यज्ञसूत्र' नाम दिया है— '**पवित्रं यज्ञसूत्रञ्च यज्ञोपवीतमित्यपि**'। कल्किपुराणमें भी कहा है, यथा—'**ऊर्ध्वन्तु त्रिवृतं सूत्रं सधवानिर्मितं शनैः। तन्तुत्रयमधोवृत्तं यज्ञसूत्रं विदुर्बुधाः॥**'

व्यासदेवने जहाँ इसे 'व्रतादेश' नाम दिया है (१।१४), वहीं कुछ स्मृतिकार इसे 'मौंजीबन्धन' भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि यज्ञोपवीत-संस्कारमें माणवकके कमरमें या उसके शरीरपर बाँये कन्धेसे लगाकर मूंज-मेखला बाँधी जाती है। इसी पावन संस्कारकी स्मृतिमें यज्ञोपवीत-संस्कार 'मौंजीबन्धन-संस्कार' भी कहलाता है। यह 'व्रतबन्ध' भी कहलाता है; क्योंकि इसी संस्कारसे वह व्यक्ति अनेक प्रकारके व्रत-नियमोंमें बँध जाता है, दृढप्रतिज्ञ हो जाता है। 'उपनयन-संस्कार' इसी संस्कारका पर्यायवाची शब्द है, 'उप' अर्थात् निकट, 'नयन' अर्थात् आनयन, लाना अथवा ले जाना। प्राचीनकालमें पिता अपने पुत्रको आचार्यके आश्रममें लाकर उनसे प्रार्थना करते थे कि हमारे पुत्रको ब्रह्मचारी बनायें, ब्रह्मचर्यकी शिक्षा दें, वेदाध्ययन करायें। आचार्य भी ब्रह्मविद्या प्रदान करनेके लिये उसे शिष्यरूपमें स्वीकार करते थे। इसीलिये कहीं-कहीं उपनयन-संस्कार 'आचार्य-करण' भी कहलाता है। पाणिनि (१।३।३६) इसी ओर संकेत करते हैं और काशिकाकारने भी लिखा है—'**स्वीकरणमेवोपनयनस्य धात्वर्थः**'। शतपथब्राह्मण (११।५।४)-में इस बातका संकेत मिलता है कि वैदिककालमें विद्यार्थी स्वयं आचार्यके पास जाता था और उनसे ब्रह्मचर्यमें दीक्षित करनेकी प्रार्थना करता था। उपनिषद्में तो सत्यकामके उपनयन-प्रकरणमें इसकी विधि भी बतायी गयी है। गुरुके आश्रममें रहकर

बालक वेदाध्ययन करता है, उसमें बुद्धिके अधिष्ठाता सूर्यदेवकी आराधना और यज्ञका विधान होता है। यज्ञमें पलाशकी समिधाओंकी आहुति दी जाती है और पलाश-दण्ड धारण किया जाता है। पलाशको आयुर्वेदमें बुद्धिवर्धक माना गया है। इस संस्कारके पीछे एक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी है। शरीरके पृष्ठभागमें पीठपरसे जानेवाली एक ऐसी प्राकृतिक रेखा है, जो विद्युत्-प्रवाहकी भाँति काम करती है। यह रेखा बायें कन्धेसे होकर दाहिनी ओरके कटि-प्रदेशतक स्थित होती है। यह नैसर्गिक रेखा अतिसूक्ष्म नस है, जिसका स्वरूप लाजवन्ती वनस्पतिकी तरह होता है। जब यह नस संकुचित अवस्थामें होती है तब मनुष्य संयमित रहता है और काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि विकारोंसे दूर रहता है। मनुष्य उस नसको तो देख नहीं पाता, पर यज्ञोपवीत धारण करके उस नसका अनुभव अवश्य करता है। उसके कन्धेपर यज्ञोपवीत होनेसे वह यह मानकर चलता है कि हमें दुराचरण और भ्रष्टाचारसे परावृत होना चाहिये।

'यजनभास्कर' के अनुसार एक यज्ञोपवीत (जनेऊ)-में तीन धागे होते हैं, जो त्रिगुणात्मक शक्तिके प्रतीक हैं। इसका एक-एक धागा वेदत्रयीका रक्षक-पोषक होनेके कारण ऋक्-यजु:-सामकी रक्षा करता है। यह तीनों जगह (पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यौ), त्रिलोक (भू:-भुव:-स्व:)-का प्रतिनिधित्व करता है, उन्हींका प्रतीक है। यज्ञोपवीतधारीकी पूजा-अर्चनासे ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनों प्रसन्न होते हैं। यह आचारत्रय (सदाचार-शौचाचार एवं शिष्टाचार)-को स्मरण दिलाता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंमें सत्त्व-रज एवं तम—इन तीन गुणोंकी सगुणात्मक वृद्धि भी ये ही तीन धागे (तन्तु या सूत्र) करते हैं। साथ ही यज्ञोपवीतके ये तीन तन्तु त्रिगुणात्मक शक्ति (बल, वीर्य एवं ओज)-के भी वर्धक होते हैं, जो ईश्वरसे उत्पन्न तत्त्व माने गये हैं। लौकिक जगत्में भी ये तीन धागे हमें तीन कर्तव्योंके प्रति सचेष्ट करते हैं, उनके प्रति बाँधनेका काम करते हैं। अर्थात् माता-पिता एवं गुरुके प्रति समर्पण तथा कर्तव्यपरायणताका ये धागे हमें बोध कराते हैं, कर्तव्यनिष्ठा जाग्रत् करते हैं।

विवाह-संस्कारके अनन्तर व्यक्तिको दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहिये—'**यज्ञोपवीते द्वे धार्ये एकं नैव कदाचन**', एक कभी भी नहीं। एक यज्ञोपवीत अविवाहित उपनीतके लिये विहित है। आश्वलायनगृह्यसूत्रमें कहा गया है कि—'**यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि। तृतीयमुत्तरार्थे च वस्त्राभावे तदिष्यते॥**' अर्थात् श्रौत, स्मार्तरूपी धर्मानुष्ठानोंमें उसकी सर्वांगीण सफलताके लिये दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहिये। उत्तरीयवस्त्रका यदि अभाव हो तो तीसरा यज्ञोपवीत भी धारण किया जा सकता है। हेमाद्रिने भी लिखा है—'**तृतीयं चोत्तरीयं स्याद् वस्त्राभावे चतुर्थकम्।**' इस दूसरे यज्ञोपवीत के तीन तन्तु क्रमशः अपने प्रति कर्तव्य, स्त्रीकी मान-मर्यादाकी रक्षाका दायित्व और आजीविकाके साथ सन्तान एवं भावी पीढ़ीके प्रति कर्तव्यपालनके संकेत करते हैं। कुछ शास्त्रकार यह मानते हैं कि प्रथम तीन धागे अपने प्रति और माता-पिताके प्रति कर्तव्यबोध कराते हैं। जबकि दूसरे तीन धागे सास, श्वसुर तथा पत्नीके प्रति कर्तव्योंका स्मरण दिलाते हैं। ब्रह्मचर्यका पालन, गायत्रीजप, गुरुकी सेवा-सुश्रूषा, संयमित जीवन जीना, भिक्षा माँगकर भी गुरुगृहका पालन-पोषण करना, अपने प्रति कर्तव्यमें ही समाहित हैं। ये सब कार्य प्रथम तन्तु ही कराता है।

बायें कन्धेसे लेकर नाभिका स्पर्श करता हुआ कटिभागतक पहुँचनेवाला यज्ञोपवीत ही धारण करना चाहिये। इससे छोटा या बड़ा नहीं। गृह्यसूत्रोंमें कहा गया है कि '**पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्। तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥**' क्योंकि छोटा धननाशक माना गया है और बड़ा यशनाशक। प्रत्येक यज्ञोपवीतमें एक-एक 'ब्रह्मग्रन्थि' हुआ करती है, जो प्रवरानुकूल गाँठ बाँधनेके काम आती है।

त्रिगुणं तद्ग्रन्थियुक्तं वेदप्रवरसम्मितम्।
शिरोधरान्नाभिमध्यात् पृष्ठार्द्धपरिमाणकम्॥
यजुर्विदां नाभिमितं सामगानामयं विधिः।
वामस्कन्धेन विधृतं यज्ञसूत्रं बलप्रदम्॥

(कल्किपुराण)

ध्यान, उपासना और मन्त्र-जप, तर्पण आदि कर्मोंके सम्पादनके समय इस ब्रह्मग्रन्थिको आधार बनाया जाता है। यदि गाँठ न देंगे तो जनेऊ खुल जायगा। जनेऊ न खुले, इस हेतु गाँठ अनिवार्य है, परंतु यह गाँठ स्मारक भी है। गाँठ (ग्रन्थि) बाँधनेसे व्यक्तिको यह स्मरण रहता है कि

हमें क्या-क्या काम करना है? अपने कर्तव्यका बोध होता रहे, अतः ग्रन्थि अपेक्षित है। सामान्य बातोंके लिये भी समाजमें 'गाँठ बाँध लेना' जैसी लोकोक्ति देखी जाती है। महिलाएँ भी अपने पल्लूमें किसी बातको स्मरण रखनेहेतु गाँठ लगा देती हैं। उसी प्रकार 'ब्रह्म' के लिये गाँठ बाँधनेको 'ब्रह्मग्रन्थि' कहते हैं। यह ब्रह्मप्राप्तिरूप चरम लक्ष्यकी स्मारक होती है, ब्रह्मसूचक होती है, तन्निमित्तक होती है। यह गाँठ गोत्र-प्रवर और कुल-परम्पराके अनुसार १, ३ या ५ हुआ करती हैं, युग्म नहीं और न पाँचसे अधिक ही। गाँठकी लपेट ढाई होती है। भोगभूमि 'पृथ्वी' और यातनाभूमि 'नरक'—दोनोंको कर्तव्यरूपी अर्धभागसे लपेटकर उसे अपने अधीन कर लेते हैं। इससे यह प्रतीक बनता है कि हमें अपने कर्तव्यरूपी आधे भागसे पृथ्वी (संसार) और नरक—दोनोंसे मुक्ति मिले, उन्हें हम बाँध दें। कर्तव्यको आधा इसलिये माना गया है कि आधा तो नियति है, प्रकृति है, विधाताके अधीन है। हम तो बस आधेके ही अधिकारी हैं, कर्तव्य ही हमारा साध्य है। जब हम पूर्ण नहीं हैं तो हमारा कर्तव्य कैसे पूर्ण होगा? एकमात्र विधाता ही पूर्ण हैं, उसपर भी हमारा आधा उन्हींके पास है।

हमारे शास्त्रकार ऋषि-मुनियोंने इस पावन सूत्रको धारण करनेहेतु कुछ नियम भी निर्धारित किये हैं, जिसके अनुसार इस सूत्रको हाथसे ही बना होना चाहिये, चाहे स्वयं स्वदेशी कपासके द्वारा शास्त्रीय विधिसे बनायें या फिर ब्राह्मण नारियोंके द्वारा काता जाय—कोई विशेष अन्तर नहीं है, परंतु कलियुगमें कपाससे बना हुआ यज्ञोपवीत ही धार्य है। युगानुसार यज्ञोपवीत-धारणका विधान शास्त्रोंमें इस प्रकार कहा गया है—

कृते पद्ममयं सूत्रं त्रेतायां कनकोद्भवम्।
द्वापरे रजतं प्रोक्तं कलौ कार्पाससम्भवम्॥

बृहद्राजमार्तण्डके अनुसार—'**सत्ये स्वर्णमयं सूत्रं त्रेतायां राजतं तथा। द्वापरे ताम्रजं प्रोक्तं कलौ कार्पाससम्भवम्॥**' जबकि वृद्धादित्यसंहितामें—'**यज्ञार्थं धार्यते सूत्रं यज्ञं ब्रह्मण्यमिष्यते। स्वर्णं रौप्यं ताम्रमूर्णं पट्टं कार्पासवार्हिषम्॥**' कहा गया है।

हस्तनिर्मित जनेऊको ९६ चव्वेवाला होना चाहिये तथा समय-समयपर इसे बदलते रहना चाहिये। जनेऊ बदलनेके लिये वैसे तो कोई खास समय नहीं है, परंतु सामान्यतः टूटनेपर, जननाशौच-मरणाशौचकी समाप्तिपर, रजस्वला स्त्री-चाण्डाल-शव-श्वान आदिके स्पर्श होनेपर, सूर्य-चन्द्रग्रहणोपरान्त, क्षौरकर्मके पश्चात् जनेऊ बदले जाते हैं, क्योंकि इन सब अवसरोंपर यह अपवित्र हो जाता है। आश्वलायन लिखते हैं—

सूतके मृतके चैव गते मासचतुष्टये।
नवयज्ञोपवीतानि धृत्वा जीर्णानि सन्त्यजेत्॥
पतितं त्रुटितं वापि ब्रह्मसूत्रं यदा भवेत्।
नूतनं धारयेद्विप्रः स्नानसङ्कल्पपूर्वकम्॥

इसी प्रकार मंगल-कृत्यमें भी जनेऊ बदले जाते हैं। स्वयंके विवाहमें, श्रावणीकर्ममें, यज्ञ-यजनके अवसरपर, नवरात्रिके समय भी जनेऊ बदलनेकी परिपाटी रही है।

लघुशंका आदिके समय दायें कानपर जनेऊ धारणका निर्देश शास्त्र हमें इस प्रकार देता है कि '**निवीती दक्षिणकर्णे यज्ञोपवीतं कृत्वा मूत्रपुरीषे विसृजेत्**' अर्थात् मूत्र-पुरीष-विसर्जनके समय यज्ञोपवीतको दक्षिण-कर्णपर रखा जाय। इसका कारण यह है कि वह पवित्रतम सूत्र अपवित्रतासे बच सके, साथ ही लोगोंको यह देखकर संकेत मिल सके कि यह व्यक्ति अभी अपवित्र है। जबतक हाथ-पाँव न धोये, कुल्ला न करे, इससे दूर रहना चाहिये। इस नियमके मूलमें शास्त्रीय कारण यही है कि शरीरके नाभिप्रदेशसे ऊपरका भाग जहाँ धार्मिक क्रियाके लिये पवित्र माना गया है, वहीं नीचेका हिस्सा अपवित्र। दाहिने कानमें आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, वायु, धर्म, जल, सोम, सूर्य आदि देवताओंका वास है, जिससे यह बोध होता है कि ब्रह्मसूत्रको उसकी पवित्रताकी रक्षाके लिये दाहिने कानपर देकर ईश्वरके पास संरक्षित कर दिया है। कहा भी गया है—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः॥

यही कारण है कि दायें कानको दायें हाथसे '**हरिर्हरिः**' '**विष्णुर्विष्णुः**' उच्चारण करते हुए मात्र छू लेनेसे ही आचमन करनेका फल प्राप्त हो जाता है। दाहिने कानपर यज्ञोपवीत धारण करनेका एक वैज्ञानिक कारण भी है। इस कानकी नसका गुप्तेन्द्रिय और अण्डकोषके साथ आपसमें बहुत गहरा सम्बन्ध है। चिकित्साशास्त्र यह मानता है कि 'लोहितिका'

नामक मानवीय नाड़ी दाहिने कानसे होकर ही मल-मूत्रद्वारतक पहुँचती है। दाहिने कानको थोड़ा-सा दबा देनेमात्रसे व्यक्तिका मल-मूत्रद्वार खुल जाता है, जिससे मल-मूत्र त्यागनेमें सुविधा होती है। यही कारण है कि कई बच्चोंको अभिभावक या शिक्षकके द्वारा जोरसे कान पकड़े जानेपर पेशाब भी होने लगता है। लोहितिका नाड़ीका सम्बन्ध अण्डकोषसे भी है, इसलिये हार्निया रोगकी रोकथामके लिये डॉक्टर दाहिने कानको ही नाड़ीकी जगहसे बेधते हैं। मल-मूत्रसम्बन्धी रोग न हो, वह साफ और सहज बाहर आ जाय—इसलिये दाहिने कानपर जनेऊ धारणका विधान है। चिकित्सा वैज्ञानिक यह मानते हैं कि मल-मूत्रके त्यागनेके समय कई लोग जोर भी लगाते हैं, जिससे वीर्य स्खलित होनेका भय बना रहता है। यह स्खलन इस सूक्ष्मरीतिसे होता है कि लोगोंको सामान्यतः पता ही नहीं चलता और धीरे-धीरे भयंकर रोगका रूप ले लेता है। मधुमेह, प्रमेह ही नहीं, किडनी (गुर्दा)-तक खराब हो सकती है। अतएव लोहितिका नाड़ीको ब्रह्मसूत्रसे बाँधकर उसे जाग्रत् किया जाता है, जिससे न केवल नाड़ी सचेष्ट होती है, बल्कि स्वयं भी मल-मूत्र त्यागमें सुविधा होती है। अनावश्यक शुक्रनाशसे बचाव होता है। आयुर्वेदकी दृष्टिमें भी जिसे बार-बार स्वप्नदोष होता हो, उसे दायें कानको बाँधकर सोनेपर रोग दूर हो जाता है। बिस्तरमें पेशाब करनेवाले बच्चे भी यदि इस कानमें धागा बाँधकर सोयें, तो यह प्रवृत्ति रुक जाती है। यहाँतक कि उच्छृंखल जानवरका भी दायाँ कान पकड़ लेनेसे, वह उसी क्षण नरम पड़ जाता है। आयुर्वेदके अनुसार अण्डवृद्धिके सात कारण होते हैं, जिनमेंसे एक कारण मूत्रज अण्डवृद्धि भी है। यदि दायाँ कान मूत्र-त्यागके समय सूत्रवेष्टित होगा, तो इस कारणसे होनेवाली अण्डवृद्धिका प्रतिकार हो सकता है अर्थात् इससे वृद्धि रुक जायगी।

यज्ञोपवीतमें; जैसा कि कहा है ९६ चव्वे होते हैं, उस संख्याके पीछे भी हेतु है, कारण है। यज्ञोपवीतका कार्य होता है व्यक्तिको ब्राह्मण बनाना, संस्कारित करना और संस्कारसम्पन्न किसी ब्राह्मणका कर्तव्य माना गया है—गायत्री जपना। इस प्रकार गायत्री और यज्ञोपवीतका चोली-दामनका सम्बन्ध है। वेद चाहे कोई भी हो, प्रत्येक वेदमें जो गायत्री मन्त्र है, उनके अक्षरोंकी संख्या समान है, अर्थात् २४ (चौबीस)। प्रत्येक ब्राह्मणका गायत्री-मन्त्र भले ही भिन्न हो, पर अक्षर चौबीस ही होते हैं। इन चारों गायत्रियोंके (वेदानुसार) अक्षरोंको जोड़नेसे ९६ की संख्या बनती है, अतएव यज्ञोपवीतमें ९६ चव्वे होते हैं, एक अक्षरका एक चव्वा। एक और कारण है, जिसके अनुसार हमारा भौतिक शरीर त्रिगुणात्मक गुणोंसे आकृष्ट होकर २५ तत्त्वोंसे वेष्टित होता है। इन २५ तत्त्वोंके अतिरिक्त ३ गुण, १५ तिथियाँ, ७ दिन, २७ नक्षत्र, ४ वेद, ३ काल और १२ मास भी हैं। इन्हीं सबके बलपर या इन्हीं सबके द्वारा हमारा शरीर चलता है, हमारा संस्कार जीवित रह पाता है। इन सभी संख्याओंको जोड़नेसे ९६ संख्या बनती है। अतः यज्ञोपवीतके चव्वोंकी संख्या भी ९६ ही मानी गयी है। अर्थात् शरीरके ९६ अंगोंसे जनेऊका एक-एक चव्वा मिलना चाहिये। इसी प्रकार सामुद्रिक शास्त्रमें मानव शरीरका आयाम ८४ अंगुलसे लेकर १०८ अंगुलतक कहा गया है। इन दोनों संख्याओंके मध्यका मध्यमान ९६ होता है, अतः यज्ञोपवीतके चव्वे भी ९६ होते हैं। किसी औरके मतमें इस ९६ संख्याका आधार या रहस्य न तो मानव-शरीर है और न शरीरके उपयोगी-उपभोगी अंग। बल्कि जिस प्रकार गायत्री-मन्त्रके ९६ अक्षर थे, उसी तरह वेदके मन्त्र भी हैं। वैदिक ऋचाओंकी संख्या चारों वेदोंको मिलाकर एक लाख कही गयी है, जिनमेंसे ८० हजार मन्त्र कर्मकाण्डसम्बन्धी हैं। शेष १६००० उपासनासम्बन्धी और ४००० ज्ञानकाण्डसम्बन्धी, परंतु इनमेंसे ज्ञानकाण्डसम्बन्धी मन्त्रोंको छोड़कर अवशिष्ट ९६००० मन्त्रोंपर ही व्यक्तिका अधिकार बनता है। अतः उन मन्त्रों या ऋचाओंके प्रतीकात्मक ९६ चव्वे यज्ञोपवीतमें रखे जाते हैं।

कुछ विशेष परिस्थितिमें व्यक्तिका दुबारा उपनयन भी होता है, जिसे 'पुनरुपनयन' कहा जाता है। शास्त्रीय निर्देशके अनुसार—

(१) अपने कुलका वेदाध्ययन कर लेनेके बाद यदि कोई अन्य वेदका अध्ययन करना चाहे, तो उसे आश्वलायन अपने गृह्यसूत्रमें 'पुनरुपनयन' करनेको कहते हैं।

(२) यदि प्रथम उपनयनमें भ्रमवशात् तिथि त्रुटिपूर्ण रही हो, अनध्याय रहा हो, भूलसे कुछ बातें छूट गयी हों—तो उसका 'पुनरुपनयन' आवश्यक होता है।

(३) गौतम-वसिष्ठ-बौधायन-विष्णु आदिके मतमें

जिसने सुरापान, मानव मल-मूत्र-वीर्य, जंगली पशु (ऊँट-गदहा) या ग्रामीण शूकर-मुर्गे आदिका मांस भक्षण किया हो—उसे पुनरुपनयनसे शुद्ध किया जा सकता है।

(४) भयानक पाप या त्रुटिके प्रायश्चित्तस्वरूप भी पुनरुपनयनकी व्यवस्था की गयी है।

नूतन यज्ञोपवीत धारण करनेके लिये संकल्पपूर्वक विनियोगपूर्वक यज्ञोपवीत परिधानमन्त्र कहना चाहिये। यथा—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

परिधानके पश्चात् पुराने जनेऊका परित्याग करना चाहिये। यद्यपि परित्याग करनेके भी मन्त्र हैं, परंतु कहीं-कहीं इसका ह्रास देखा जाता है और कहीं-कहीं मन्त्रभेद भी पाया जाता है। जैसे—

यज्ञोपवीतं यदि जीर्णवन्तं विद्यादिवेद्यं परब्रह्मतत्त्वम्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं विसृजन्तु तेजः॥

अथवा—

एतावद्दिनपर्यन्तं ब्रह्म त्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात्त्वत् परित्यागो गच्छ सूत्र यथासुखम्॥

द्विजातिमें प्रत्येकके लिये यज्ञोपवीत-संस्कारका समय और वर्ष पृथक्-पृथक् निर्धारित है। इसके अनुसार ब्राह्मण बालकका यज्ञोपवीत-संस्कार सामान्यतः आठवें वर्षमें होता है। वैसे विलक्षण बौद्धिक प्रतिभाके कारण ५वें वर्षमें और विशेष परिस्थितिमें १६वें वर्षमें भी हो सकता है, परंतु इससे अधिक वयमें नहीं। क्षत्रियोंमें ग्यारहवाँ वर्ष और वैश्योंमें बारहवाँ वर्ष यज्ञोपवीतके लिये निर्धारित किया गया है। इनके अन्तिम वर्षकी सीमा क्रमशः २२वाँ और २४वाँ वर्ष कही गयी है। मनु (२।३८) लिखते हैं—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥

वर्षकी अन्तिम सीमा लाँघनेपर बालक द्विजातिसे च्युत हो जाता है और सभी पुण्य कर्मोंसे उसे बहिष्कृत कर दिया जाता है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें यज्ञोपवीतका काल भी निर्धारित है, जिसके अनुसार वसन्त ऋतुमें ब्राह्मणोंका, ग्रीष्ममें क्षत्रियोंका तथा शरद्‌में वैश्योंका उपनयन होता था। काम्य-साध्योंके सम्बन्धमें मनु (२।३७) कहते हैं—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

जिस प्रकार हिन्दुओंके लिये शिखाधारण अनिवार्य कहा गया है, उसी प्रकार द्विजातियोंके लिये यज्ञोपवीत धारण सदैव अनिवार्य माना गया है। कृत्यमहार्णवके अनुसार तो यज्ञोपवीतके बिना किया गया कार्य ही निष्फल हो जाता है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीती च यत्करोति न तत्कृतम्॥

अकिंचनता

तपःसंचय एवेह विशिष्टो धनसञ्चयात्॥
त्यजतः सञ्चयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवाः। न हि सञ्चयवान् कश्चित् सुखी भवति मानद॥
यथा यथा न गृह्णाति ब्राह्मणः सम्प्रतिग्रहम्। तथा तथा हि सन्तोषाद् ब्रह्मतेजो विवर्धते॥
अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयन्। अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि जितात्मनः॥

(पद्म० सृष्टि० १९।२४६—२४९)

इस लोकमें धन-संचयकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है। जो सब प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं। मानद! संग्रह करनेवाला कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। ब्राह्मण जैसे-जैसे प्रतिग्रहका त्याग करता है, वैसे-ही-वैसे सन्तोषके कारण उसके ब्रह्म-तेजकी वृद्धि होती है। एक ओर अकिंचनता और दूसरी ओर राज्यको तराजूपर रखकर तोला गया तो राज्यकी अपेक्षा जितात्मा पुरुषकी अकिंचनताका ही पलड़ा भारी रहा।

सनातन वैदिक संस्कृतिमें विवाहकी अवधारणा

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा, एम०ए०, पी-एच०डी०, साहित्याचार्य, पूर्व प्राचार्य)

सनातन वैदिक संस्कृतिमें विवाहकी अवधारणा यथार्थ एवं आदर्शकी आधारशिलापर आधारित है। हमारे ऋषि-मुनियोंने मानवजीवनकी सार्थकता एवं सफलताको समग्र रूपमें लिया है, इसीलिये उन्होंने जीवनको चार भागों या आश्रमोंमें विभाजित किया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इस व्यवस्थाके तहत कौमार्य या ब्रह्मचर्य-अवस्थामें विद्या, संयम एवं सदाचरणकी शिक्षाके उपरान्त युवावस्थामें धनार्जन तथा मर्यादित होकर समस्त सांसारिक सुखोंका सदुपयोग करते हुए योग्य संतानका निर्माण तथा समाज एवं राष्ट्रकी उन्नतिमें यथाशक्ति योगदान करनेके लिये विवाहके पवित्र बन्धनमें बँधकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका विधान है।

भारतीय संस्कृतिमें विवाह-संस्कार वस्तुतः धार्मिक आयोजन होनेके साथ-साथ एक अत्यन्त आनन्दमय, भावमय तथा संवेदनामय अवसर है, जबकि वर तथा कन्या पक्षके लोग (स्त्री-पुरुष) शुभ मुहूर्तमें एकत्र होते हैं। कन्यापक्षकी ओरसे वरका स्वागत और इसके अन्तर्गत वरको मधुपर्क, जिसमें दही-घी-शहद इन तीनों पदार्थोंका विषम मात्रामें मिश्रण होता है, उसका सेवन—'**यन्मधुनो-मधव्यम्**' इत्यादि मन्त्रोच्चारणके साथ कराया जाता है। मधुपर्ककी यह विधि इस बातकी द्योतक है कि गृहस्थाश्रममें रहकर पति-पत्नी घी, दूध, दही, शहद आदि जैसे स्वादिष्ट, पौष्टिक, सात्त्विक एवं शान्तिदायक खाद्य तथा पेय पदार्थोंका सेवन करेंगे—तामसिक एवं मादक पदार्थोंका नहीं। साथ ही इससे यह सन्देश भी प्राप्त होता है कि दम्पतीका जीवन प्रेमके माधुर्यसे सराबोर रहेगा। दोनों एक-दूसरेके प्रति मधुमयी वाणी बोलेंगे, जो कि पारिवारिक सुखकी आधारशिला है। तत्पश्चात् गोदान एवं कन्यादान आदिकी प्रक्रियाओंके बाद वर-वधू दोनों यज्ञ-मण्डपमें उपस्थित अपने बुजुर्गों एवं समाजके वरिष्ठ विद्वज्जनोंको सम्बोधित करके कहते हैं—'**समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ**' अर्थात् आप हमें आशीर्वाद दें कि हम दोनोंके हृदय परस्पर इस तरह मिल जायँ जिस तरह दो कुओं या दो जलाशयोंके जल मिलकर एक हो जाते हैं और फिर उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता।

वैदिक विवाहकी सभी प्रक्रियाएँ वैज्ञानिकता तथा भावुकताको लिये हुए हैं, जिनमें सुखी जीवनके शाश्वत सन्देश निहित हैं। विवाहके अवसरपर वर-वधू दोनों मिलकर यज्ञ करते हैं। आदर्श गृहस्थ जीवन बिताने, जीवनभर एक-दूसरेका साथ निभाने तथा परस्पर एक-दूसरेका अनुगमन करनेके संकल्पके साथ अग्निकी परिक्रमा करते हैं। इस अवसरपर प्रधान होमके अतिरिक्त जयाहोम, अभ्यातानहोम एवं राष्ट्रभृत्होमकी आहुतियाँ दी जाती हैं, जिनमें व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवनके सुख-भोगके साथ-साथ समाज एवं राष्ट्रकी उन्नतिका भी ध्यान रखनेके संदेश दिये गये हैं। तत्पश्चात् पाणिग्रहणकी विधि सम्पन्न होती है। वर अपने दायें हाथसे वधूका दायाँ हाथ पकड़कर मन्त्र बोलते हुए यह भावना व्यक्त करता है—'हे देवि! आज मैं अपने सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये तेरा हाथ पकड़ रहा हूँ, जिससे कि तू मेरी पत्नी होकर मुझ पतिके साथ सुखपूर्वक वृद्धावस्थाको प्राप्त हो।' आजसे तू धर्म अर्थात् सदाचरणके आधारपर मेरी पत्नी है और मैं धर्मसे तेरा पति हूँ—

(क) गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

(ख) पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्त्व॥

(अथर्ववेद १४।१।५०-५१)

यहाँ ध्यान देनेयोग्य है कि वैदिक संस्कृतिके अनुसार स्त्री-पुरुष दोनों ही अपने-अपने धर्म अर्थात् व्रतपालन एवं कर्तव्य-निष्ठाके लिये ही पति-पत्नीके रूपमें प्रेमकी डोरसे आबद्ध होते हैं।

भारतीय परम्परामें विवाहका लक्ष्य केवल शारीरिक सम्बन्ध ही नहीं है, अपितु यह तो दो हृदयोंका मधुर मिलन है। दो आत्माओंका शाश्वत सम्बन्ध है, जिसमें पति-पत्नीके रूपमें दोनों एक ही गृहस्थरूपी रथके पहिये बनकर मर्यादित रूपसे सांसारिक विषयभोगोंका भी

आनन्द लेते हैं तथा योग्य संतानकी उत्पत्ति एवं अपने परिवार एवं समाजके उत्थानके लिये भी तत्पर रहते हैं। विवाह-पद्धतिमें एक स्थानपर दूल्हा, दुल्हनसे कहता है—मैं (पति) साम हूँ और तू ऋचा है अर्थात् तू मेरी कविता है और मैं तेरे जीवनका संगीत हूँ। मैं द्युलोक अर्थात् प्रकाश एवं वर्षा करनेवाले सूर्यलोकके समान हूँ और तू गृहस्थीके भारको अपने धैर्य एवं अपनी सहनशीलतासे धारण करनेवाली पृथ्वी है—'**सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्**' इसके पश्चात् दोनों प्रतिज्ञा करते हैं—हम-तुम दोनों विवाह करें, साथ मिलकर वीर्यको धारण करें, उत्तम प्रजाको उत्पन्न करें, अनेक पुत्रोंको पायें, हम दोनों परस्पर प्रेम और सौमनस्यसे एवं सहृदयताके साथ सौ वर्षतक सुखपूर्वक जीवित रहें—'**तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै''''' पुत्रान् विन्दावहै।**'

विवाह-संस्कारमें शिलारोहण एवं लाजाहोमका भी अपना महत्त्व है, जिसके अन्तर्गत कन्याका भाई पत्थरकी शिलापर उसका दाहिना पैर रखवाकर मन्त्रोच्चारण करते हुए कहता है—'**अश्मेव त्वं स्थिरा भव**' अर्थात् बहन! तू अपने पतिव्रत धर्मपर पत्थरकी तरह अडिग रहना; क्योंकि गृहस्थ जीवनमें अनेक कठिनाइयाँ भी आती हैं। उसके बाद वह अपनी बहन एवं बहनोईके हाथोंकी अंजुलियोंको मिलवाकर उन्हें लाजाओं अर्थात् भूने हुए धानकी खीलोंसे भर देता है और वे दोनों वेद-मन्त्रोंको बोलकर अग्निकुण्डमें तीन बार उसकी आहुति देते हैं। तीनों बार भाई स्वयं ही खीलोंसे वर-वधूकी अंजलियोंको भरता है। इससे पति-पत्नीको यह सन्देश दिया जाता है कि तुम्हारे दाम्पत्य जीवनमें कितनी भी विपत्तियाँ क्यों न आयें, तुम इसी तरह हाथसे हाथ मिला अपने कर्तव्य-पथपर आगे बढ़ते रहना, यज्ञादि धार्मिक क्रियाओंसे विमुख न होना, अग्निमें तपकर खिली हुई इन खीलोंकी तरहसे प्रत्येक विषम परिस्थितिमें भी खिलखिलाते हँसते रहना।

अन्तमें सप्तपदी होती है, जो कि विवाहकी सबसे महत्त्वपूर्ण रस्म है, जिसके बिना कन्या कुमारी मानी जाती है—'**यावत् सप्तपदी न स्यात् तावत् कन्या कुमारिका।**' सप्तपदीमें सात पद अर्थात् मन्त्रके रूपमें सात वाक्य बोले जाते हैं और प्रत्येक मन्त्रके साथ एक-एक पद अर्थात् एक-एक कदम वर-वधू दोनों मिलकर चलते हैं। इस विधिमें दोनोंके कन्धेपर पड़े उत्तरीय वस्त्रों या दुपट्टोंमें एक गाँठ बाँध दी जाती है, मानो दोनोंको एक प्रेमकी डोरीमें बाँध दिया गया हो। वधूके दाहिने कन्धेपर अपना दाहिना हाथ रखकर और उसे अपने साथ लेकर वर सात प्रतिज्ञाएँ कराते हुए सात कदम चलता है। इन सात कदमोंमें वस्तुतः दाम्पत्य जीवनकी परिपूर्णता एवं सफलताका रहस्य छिपा है। ये सातों पद क्रमशः इस प्रकार हैं—

पहला पग	अन्नादिकी प्राप्तिके लिये	इषे एकपदी भव..।
दूसरा पग	बलकी प्राप्तिके लिये	ऊर्जे द्विपदी भव..।
तीसरा पग	ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये	रायस्पोषाय त्रिपदी भव..।
चौथा पग	दाम्पत्य सुखके लिये	मायोभवाय चतुष्पदी भव..।
पाँचवाँ पग	पश्वादिकी प्राप्तिके लिये	पशुभ्यः पञ्चपदी भव..।
छठा पग	ऋतुओंकी अनुकूलताके लिये	ऋतुभ्यः षट्पदी भव..।
सातवाँ पग	आजीवन मित्रभावके लिये	सखे सप्तपदा भव..।

यहाँ सखाभावके लिये सातवाँ कदम भारतीय संस्कृतिकी उदारता तथा महनीयताका द्योतक है, जिसके तहत पति-पत्नीके मध्य कोई ऊँच-नीच एवं हीनताकी भावनाका प्रश्न ही नहीं उठता। दोनों सखा हैं। जीवन-साथी हैं तथा दोनों ही गृहस्थ-जीवनके रथको आगे बढ़ानेके लिये समान रूपसे अधिकृत एवं उत्तरदायी हैं।

इस सप्तपदीके पश्चात् जलसेचन एवं सूर्यदर्शन करके हृदयस्पर्शकी मार्मिक एवं आकर्षक विधि सम्पन्न होती है। जिसके अन्तर्गत वर-वधूके हृदयदेशमें अपना दाहिना हाथ रखकर कहता है—'मैं तेरे हृदयको अपने अनुकूल धारण करता हूँ, तेरा चित्त सदा मेरे चित्तके अनुकूल रहे, तू सदा मेरी वाणी एकाग्रचित्त होकर सुना करे, सारी प्रजाका पालन करनेवाले परमात्माने तुझे मेरे लिये ही नियुक्त किया है'—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अन्तमें वर वधूके मस्तकपर हाथ रखकर आयोजनमें उपस्थित सभी लोगोंको सम्बोधित करते हुए घोषणा करता है—हे महानुभाव! यह मंगलमयी मेरी वधू मेरे

साथ है, यह मेरी संगिनी है, आप इसे देखें और आशीर्वाद देकर प्रस्थान करें तथा भविष्यमें भी इसी प्रकार आशीर्वाद देते रहें—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमाःसमेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥

यह सुनकर सभी जन—'**ॐ सौभाग्यमस्तु। ॐ शुभं भवतु।**' ऐसा कहकर आशीर्वाद देते हैं और यहींपर विवाह-संस्कारकी विधि पूर्णताको प्राप्त होती है। यद्यपि इसके अतिरिक्त भी वरद्वारा स्त्रीकी माँगमें सिन्दूर भरना, ध्रुव तथा अरुन्धती तारोंके दर्शन आदिकी रस्में भी दम्पतीके परस्पर प्रेमकी प्रगाढ़ता तथा गृहस्थ जीवनमें स्थिरता एवं दृढ़ताके प्रतीकके रूपमें करायी जाती हैं।

यह है सनातन वैदिक हिन्दू विवाहकी आदर्श रीति, जिसके द्वारा युवक-युवतियाँ दाम्पत्य-प्रेमके पवित्र बन्धनमें बँधकर एक सद्‌गृहस्थके रूपमें मर्यादित होकर अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हैं तथा शिक्षित एवं आचारवान् सन्तानके द्वारा मानववंशकी वृद्धि एवं समाजकी उन्नतिमें भी अपना योगदान देते हैं।

भारतीय जीवनमें कुटुम्बकी अवधारणा

(श्रीगदाधरजी भट्ट, पूर्व निदेशक राजस्थान संस्कृत अकादमी)

परिवार सामाजिक जीवनकी आधारभूत इकाई है। भारतीय संस्कृतिमें उत्कृष्ट सामाजिक जीवनके विकासमें गुण-कर्म-आधारित वर्णव्यवस्था, आश्रम-विधान एवं परिवारकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस व्यवस्थाकी उपादेयतापर भारतीय सोचकी दूरदृष्टिने पश्चिम जगत्‌को भी अचम्भित किया है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे वैदिक कालमें ही परिवारकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। कुटुम्बमें माता-पिता एवं सन्तानोंके साथ तीन पीढ़ीतकके परिजन सम्मिलित थे। कुटुम्बकी एकता तथा सरसता तीन पीढ़ियोंतक बनी रहना सामान्य बात थी। भारतीय कुटुम्बकी अवधारणामें परिवारमें सभी सदस्य एक ही गृहमें रहते हुए सम्पत्ति एवं सुख-दुःखके भागीदार थे। गृह्यसूत्रमें परिवारका इस प्रकार गुणगान किया गया है—

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसम्मुदः।
अरिष्टा सर्वपूरुषाः गृहः नः सन्तु सर्वदा॥

हे गृहो! तुम्हारे वासी नीरोगी हों, सम्पत्तिवाले हों, मित्रोंका स्वागत हो, स्वादिष्ट भोजनमें सभी सहभागी हों।

वेदोंमें आदर्श परिवारके माध्यमसे प्रजा एवं धनसे परितृप्त होते हुए घरोंके सुगन्धित बन जानेकी कामना की गयी है। जिनसे उनका गुण-सौरभ दूर-दूरतक व्याप्त हो—

आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु।
(अथर्व० १८।३।१७)

वेदोंमें हमारे पारिवारिक जीवनका जो स्पृहणीय चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह हमारे हृदयोंको उद्‌बोधन देता है। यह त्रैकालिक सत्य है—माता-पिता, पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन परिवारके अभिन्न अंग हैं। अपनत्वके एक सूत्रमें बँधे हों, इस सम्बन्धमें अथर्ववेद (३।३०।२-३)-में कहा गया है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

पुत्र पिताका अनुगामी एवं माताके मनोनुकूल हो। पत्नी तथा पति परस्पर मधुरभाषी बनें। भाई-भाई एवं बहन-बहन या भाई-बहनोंमें कभी किसी प्रकारका द्वेष न हो। कल्याणकारी बनें।

भारतीय संस्कृति पुकार-पुकारकर कहती है, हम सबको साथ लेकर चलें। सबके साथ हाथ मिलाकर सोचें, जियें तथा एक मन होकर समा जायँ। यह है भारतीय परिवारका आदर्श स्वरूप—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
(ऋग्वेद)

परिवारमें इससे बढ़कर समाजवाद या जनतन्त्र क्या हो सकता है? आज भूमण्डलीकरणका युग है। हजारों वर्षोंपूर्व हमारे ऋषियोंने सम्पूर्ण जगत् (वसुधा)-को एक छोटेसे परिवारके रूपमें देखा था। वर्तमानमें

उपभोक्ता संस्कृति तथा पश्चिमकी चकाचौंधने हमें अँधिया दिया है। भारतीय चिन्तनके लिये हमारे पास समय कहाँ है? पश्चिमी देशोंका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण केवल प्रत्येक व्यक्तिके अपने सुख तथा सन्तुष्टिपर टिका है। हमारे यहाँ पारिवारिक जीवनका ढाँचा अधिक सुदृढ़ है तथा व्यक्तिगत हितोंकी अपेक्षा सामाजिक हितोंको अधिक महत्त्व देता है मूल्योंके विघटन एवं परिवारोंके विखण्डनकी प्रक्रिया आरम्भ होनेके साथ हमारे समाजमें वृद्धजनोंके सामने समस्याओंका अधिक उग्र रूप दिखायी देने लगा है।

भारतीय परिवारप्रणाली इतिहासकी कहानी बनती जा रही है। पश्चिमके अनुकरणपर परिवार, पति-पत्नी और बालक भी टूट रहे हैं। कुटुम्बको एक सूत्रमें बाँधकर रखनेवाले जीवनमूल्य, सौहार्द, प्रेम, सहयोग, सहिष्णुता, समर्पण अब कहाँ हैं? तभी तो आचार्य तुलसीका कहना है—परिवारकी वापसी अब आवश्यक है। वर्तमानमें बदलते हुए परिवेशमें गिरते हुए जीवनमूल्योंपर दृष्टि डालें, विज्ञान और तकनीककी गगनचुम्बी ऊँचाइयोंके बीच हम २१वीं सदीके रूपमें प्रवेश कर चुके हैं। इस चरम भौतिक विकासने हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक जीवनको विकारमय बना दिया है। परिवारप्रणाली हमारे सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवनकी आधारशिला रही है। एकल परिवारोंमें भी दरारें उभर रही हैं। आज हम व्यक्तिनिष्ठ होकर एकांगी बनते जा रहे हैं। सबसे अधिक त्रस्त एवं उपेक्षित हैं—हमारे वयोवृद्धजन।

पश्चिमी सोचने परिवारको पति-पत्नी एवं सन्तानोंतक सीमित कर दिया है। भारतीय परिवारका केन्द्रबिन्दु गृहस्वामी वृद्धजन होता रहा है, जो सौरमण्डलमें गुरुत्वाकर्षण शक्तिकी भाँति परिवारके सभी सदस्योंको एक सूत्रमें बाँधे रखता है। वर्तमानमें परिवारको अन्तरंग-रूपमें जोड़नेवाली समर्पणभावना जो प्रेमका उत्कृष्ट रूप है, समाप्त होती जा रही है। अपनापन खोजनेपर भी दुर्लभ होता जा रहा है। वयोवृद्ध परिजन उपेक्षा एवं तिरस्कारका जीवन जी रहे हैं। उनके अनुभूत ज्ञान एवं परिपक्व अनुभवसे लाभ उठाना हमारे लिये श्रेयस्कर है। वृद्धजनोंको सम्मान तथा संरक्षण देना हमारी संस्कृतिका आग्रह है।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्थामें युगोंसे स्थापित हमारी कुटुम्बप्रणालीपर भारी आघात लगा है। जीवनमूल्योंके ह्रासका सबसे अधिक प्रभाव वृद्धजनोंपर पड़ा है। वर्तमानमें नयी पीढ़ीकी परिवारसम्बन्धी धारणामें वृद्धोंके लिये कोई स्थान नहीं है। एकल परिवारकी पक्षधर नयी पीढ़ी केवल चरम भौतिक सुखसे जीनेकी कामना रखती है।

'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव**' जैसे उपनिषद्-वाक्य अर्थवाद बनकर गूँज रहे हैं। हम अपने वृद्धजनोंसे लाभान्वित हों, उनको सम्मान-सुविधा दें, उनकी जीवन-सन्ध्यामें प्रकाश तथा सहारा बनें। ऐसे नैतिक दायित्वपूर्ण मूल्यको चुकानेके लिये संयुक्त कुटुम्ब अनिवार्य है। वृद्धजनोंके मनमें हमारे सामाजिक मूल्यको लेकर मार्मिक पीड़ा है। सामाजिक जीवनके विश्वासघातों, पारिवारिक जीवनकी यन्त्रणाओं तथा निजी जीवनमें सम्बन्धोंकी सारहीनताको वे शब्दोंमें व्यक्त करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। पीड़ाकी यह पराकाष्ठा है।

अतः वृद्धोंके कल्याणके लिये एकमात्र विकल्प भारतीय परिवारकी ओर लौटना है, जिसमें वृद्धजनोंके प्रति सुरक्षा, संवेदनशीलता तथा सेवाभावनासे तथा युवा पीढ़ीके प्रति उदारता एवं अपनत्वके विकासकी सम्भावनाओंसे दोनों पीढ़ियोंको परस्पर निकट लाया जा सकता है।

इससे परिवारमें स्नेह और अपनत्वका झरना निरन्तर प्रवाहित होता रहेगा। ऋषिवाणी आज भी गूँज रही है—'**सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः**' (अथर्व० ३। ३०। १) तुम सहृदय तथा समान मनवाले बनो, परस्पर द्वेष मत करो। यह हमारे भारतीय पारिवारिक जीवनका आदर्श है, जो वर्तमानमें स्पृहणीय एवं वांछनीय है।

दाम्पत्य-जीवनपर पाश्चात्य जीवन-शैलीका दुष्प्रभाव

(श्रीओमप्रकाशजी सोनी)

कहा गया है कि किसी देशको नष्ट करनेके लिये सेनाकी आवश्यकता नहीं है। उस देशकी संस्कृति नष्ट कर दी जाय, देश नष्ट हो जायगा।

देशको स्वतन्त्र हुए साठ वर्षसे अधिक हो गये, किन्तु हम अपनी संस्कृतिकी ओर ध्यान न देकर पाश्चात्य संस्कृतिकी ओर दौड़ लगा रहे हैं—परिणाम सामने है।

हिन्दू-संस्कृतिमें विवाहको एक बहुत महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है, परंतु आज विवाह वासनाप्रधान बनते चले जा रहे हैं। रूप, रंग एवं वेश-विन्यासके आकर्षणको पति-पत्नीके चुनावमें प्रधानता दी जाने लगी है। यह प्रवृत्ति बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है। हिन्दू-संस्कृतिमें विवाहके समय नौ प्रतिज्ञाएँ वरसे एवं नौ प्रतिज्ञाएँ कन्यासे अग्निके समक्ष करायी जाती हैं, तत्पश्चात् शिलारोहण, सप्तपदी आदि सम्पन्न कराये जाते हैं। इन प्रतिज्ञाओंपर यदि ध्यान दिया जाय तो पाश्चात्य जीवन-शैलीका प्रभाव आ ही नहीं सकता।

भारतीय नव-दम्पतियोंमें आजकल पाश्चात्य परिवार प्रणालीकी नकल करनेकी ललक बढ़ती जा रही है। किसीसे कोई अच्छी बात सीखना अच्छा है, किन्तु अविवेकपूर्ण ऊपरी रूप देखकर भीतरी स्थितिका अध्ययन किये बिना किसी बातको अपना लेना बुद्धिकी मन्दता अथवा मानसिक दासताका चिह्न ही कहा जा सकता है।

विदेशोंमें परिवार-व्यवस्थाके साथ उच्च मूल्योंको नहीं जोड़ा गया। फलतः उनमें मौज-मजेकी छूट विशेष रूपसे दीखने लगी। यही आकर्षणका कारण बनती जा रही है; किन्तु यह तो उसका एक पहलू हुआ, दूसरा पहलू देखा जाय तो घोर निराशा ही हाथ लगती है। यह सस्ता आकर्षण दुःखद पारिवारिक अस्थिरता तथा भयंकर मानसिक घुटनका कारण बन गया। दूरसे आकर्षक, अनुकरणीय-जैसा दिखनेवाला उनका दाम्पत्य-जीवन अन्दरसे जीर्ण-शीर्ण और दयनीय स्थितिमें जा गिरा है।

जहाँ सुखोपभोगका आधार भौतिक वस्तुओंमें ढूँढ़ा जाता है, वहाँ पत्नी यौन-तुष्टि और परिहास-विनोदकी वस्तु बनकर रह जाती है। उसका रमणी, भोग्या और विनोदिनीरूप ही प्रधान हो जाता है। इस रूपके प्रतिष्ठित हो जानेपर पत्नीकी गरिमा तो बचती नहीं, विशेषता भी शेष नहीं रह जाती। पाश्चात्य देशोंमें आज ऐसे नाइट क्लबोंकी भरमार है, जहाँ नारी शरीरका क्रय-विक्रयतक होता है। पाश्चात्य जीवन-शैलीके प्रभावसे हमारे देशमें भी ऐसे क्लबोंकी भरमार होती जा रही है।

स्वेच्छाचारी जीवन वैसे भले ही आकर्षक लगे, किन्तु मनुष्यकी नैतिक बुद्धिपर निरन्तर दबाव डालता है। इससे मानसिक विकृतियाँ पनपती हैं और जीवनमें असन्तोष, कुण्ठा, हताशा एवं उलझनोंकी वृद्धि होती जाती है। संशय, अविश्वास, घुटन और अवसाद बढ़ते जाते हैं। हृदयकी कोमल भावनाओंका कहीं स्थान नहीं रहता है।

पाश्चात्य जीवन-शैलीके प्रभावमें हम संवेदना खोते जा रहे हैं। अमुक व्यक्तिने आत्महत्या कर ली, पत्नीने प्रेमीके साथ मिलकर पतिको मार डाला, पतिने पत्नी एवं बच्चोंको मौतके घाट उतार दिया आदि घटनाएँ आये दिन समाचार पत्रोंमें प्रकाशित होती रहती हैं। शायद ही कोई ऐसा दिन होगा जिस दिन ऐसे समाचार न प्रकाशित हुए हों। ये समाचार एक ओर उस पतनके द्योतक हैं, जिससे आजका दाम्पत्य-जीवन एवं समाज बुरी तरह ग्रस्त होता चला जा रहा है। दूसरी ओर वे इस तथ्यके प्रमाण भी हैं कि हमारा दाम्पत्य-जीवन किस तरह पीड़ा और पतनका प्रतीक बनता जा रहा है।

बढ़ती हुई तलाककी प्रवृत्तिके परिणामस्वरूप पारिवारिक विघटनके साथ आर्थिक दबाव भी पड़ता है। विश्वके मूर्धन्य समाजशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक इस तथ्यको स्वीकार करते हैं कि तलाक पारस्परिक विग्रहों, मतभेदोंका समाधान नहीं है। तलाकसे एक तात्कालिक समस्यासे छुटकारा पा लिया जाय तो भी अनेक प्रकारकी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। ऐसे व्यक्ति जीवनपर्यन्त दूसरोंका विश्वास नहीं अर्जित कर पाते, अविश्वस्त ही बने रहते हैं। बच्चोंका भविष्य सदाके लिये अन्धकारमय हो जाता

है। मन-मस्तिष्कके कोमल तन्तु इस आघातको सहन नहीं कर सकते। बिखरते परिवार—बिलखते मासूम बच्चे""।

अमेरिकामें जन्म लेनेवाले बच्चोंमेंसे प्रतिवर्ष करीब ५० प्रतिशत बच्चे तलाकशुदा माता-पिताकी सन्तान होते हैं। वयस्क होनेसे पूर्व ही उन्हें माता या पिता किसी एकसे वंचित हो जाना पड़ता है। पाश्चात्य जीवन-शैली जो केवल भौतिकता प्रधान है, हमारे देशको भी लगातार प्रभावित कर रही है। अंग्रेज भारत छोड़कर चले गये, किंतु हम उनकी संस्कृतिको पकड़कर बैठे हैं। पकड़कर ही नहीं बैठे हैं, उसको निरन्तर बढ़ावा दे रहे हैं। इन्द्रिय भोगोंको प्रधानता देनेवाली सभ्यता हमारी संवेदनाएँ सोखती एवं मानवीय मूल्योंको नष्ट करती जा रही है। आज स्थिति यह है कि चारों ओर बलात्कार, महिलाओंसे दुर्व्यवहार, छीना-झपटी आदि की हृदयविदारक, लज्जाजनक घटनाएँ भयानकरूपसे तेजीसे फैल रही हैं।

गृहस्थ जीवनको प्रसन्नतासे भरा-पूरा बनानेके लिये अर्थ महत्त्वपूर्ण तो है, पर वह परिपूर्ण नहीं है। यदि अर्थकी ही महत्ता होती तो आज सम्पन्न परिवारोंमें कलह और अशान्तिकी छाया दिखायी नहीं देती। प्रायः देखा जाता है कि अमीर परिवारोंमें प्रचुर मात्रामें धन-सम्पति होते हुए भी नारकीय वातावरण बना रहता है। इसके विपरीत गरीब परिवारोंमें प्रायः शान्ति एवं संगठन पाया जाता है, सभी आपसमें एक-दूसरेका दुःख-दर्द समझते हुए सहायता करनेको तत्पर रहते हैं।

संवदेना और प्रेमका स्रोत पाश्चात्य संस्कृतिमें है ही नहीं तो पायेंगे कैसे? आज हम अन्धकारमें प्रवेश करके पाश्चात्य जीवन-शैलीको अपना रहे हैं; क्योंकि वहाँ अन्धकारकी ही महत्ता है। मनोरंजन, जिसे डिस्कोके नामसे कहा जाता है, अँधेरेमें ही होता है, जन्म-दिवस आदि भी मोमबत्तियोंको बुझाकर ही मनाते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों दम्पतियोंका अध्ययन-विश्लेषण करनेवाले समाजशास्त्रियोंका सर्वसम्मत निष्कर्ष है कि भारतीय दम्पती पारिवारिक अधिक हैं, जबकि पाश्चात्य प्रधानतः व्यक्तिगत हैं। पाश्चात्य जीवन-शैलीको अपनाकर भारतीय दम्पतियोंने आपसी संवेदना एवं सामंजस्यको खो दिया है। सुखकी आशामें मानसिक दुःख ही भोग रहे हैं। पाश्चात्य जीवन-शैलीको अपनानेकी ललकमें भारतीय दम्पती आपसी सहकार एवं त्यागकी भावनाको छोड़कर अहंको अपनाते जा रहे हैं, जिसके दुष्परिणाम सामने हैं।

हमारी संस्कृतिमें गृहस्थ-आश्रमको सभी आश्रमोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। महर्षि व्यासके शब्दोंमें '**गृहस्थमेव हि धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते**' गृहस्थाश्रम ही सब धर्मोंका आधार है। गृहस्थका आधार है वैवाहिक जीवन। स्त्री और पुरुष विवाह-संस्कारके द्वारा गृहस्थ जीवनमें प्रवेश करते हैं, तब वे दम्पती कहलाते हैं। हमारी संस्कृतिमें विवाहसंस्कारका अर्थ दो शरीरोंका मिलन नहीं होता है। हमारे यहाँ विवाह स्थूल नहीं वरन् हृदयकी, आत्माकी, मनकी एकताका संस्कार है। जो विवाहको शारीरिक निर्बाध कामोपभोगका सामाजिक स्वीकृति-पत्र समझते हैं, वे भूल करते हैं। भारतीय जीवनपद्धतिमें विवाहका उद्देश्य बहुत बड़ा है, दिव्य है, पवित्र है।

पाश्चात्य जीवन-शैली अपनानेके दुष्परिणाम अनेक हैं, जो कि हमारे सामने हैं; किन्तु स्वेच्छाचारी जीवनके आकर्षणमें नैतिक बुद्धिको दर-किनार कर दिया जाता है।

पश्चिमी सभ्यताका प्रभाव तेजीसे बढ़ रहा है। बदलते समयके साथ जन्म-जन्मान्तरके सम्बन्धोंपर शारीरिक सुखको महत्त्व दिया जा रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण नैतिक एवं मानवीय मूल्योंमें गिरावटका आना है। यह आनेवाले समयमें बहुत घातक सिद्ध हो सकता है। अवैध सम्बन्धोंके चलते पति-पत्नीद्वारा एक-दूसरेकी हत्या करनेके बढ़ते जा रहे मामलोंपर समाजशास्त्री यह राय व्यक्त कर रहें हैं—

बिखरते हुए दाम्पत्य-जीवन और टूटते हुए परिवारोंकी समस्याकी रोकथाम केवल चिन्तनमात्रसे नहीं होगी, हमारी संस्कृतिको चरित्रमें लाना होगा। बच्चोंको भारतीय जीवन-पद्धतिकी ओर आकर्षित करना होगा और यह तभी सम्भव है, जब पहले माता-पिता इसे अपनायें एवं आदर्श स्थापित करें।

दाम्पत्य-जीवन कैसे सफल रहे ?

(श्रीदीनानाथजी झुनझुनवाला)

विवाहके पहले कन्या पक्ष तथा वर पक्षमें कितना उत्साह, उमंग तथा उल्लास रहता है। विवाहकी तैयारियाँ वर्षों पहलेसे प्रारम्भ हो जाती हैं। विवाहके समय सभी रिश्तेदारों, मित्रों, परिवारजनों, परिचितों आदिको आमन्त्रित किया जाता है ताकि इस परम उल्लासके वातावरणमें सभी सम्मिलित हो सकें। विवाहके साक्षी गाँव-समाज-मित्र-परिवार-रिश्तेदार आदि होते हैं। हम अग्निको साक्षी मानकर विवाहके पवित्र गठबन्धनमें प्रतिज्ञा करते हैं कि यह गठबन्धन आजीवन इसी प्रकार सुरक्षित रहेगा। हमारे देशमें विदेशोंकी तरह विवाह एक शर्तनामा (कन्ट्रैक्ट) नहीं है। विदेशोंमें कब किस बातको लेकर तलाक हो जायगा, कोई नहीं जानता। एक स्त्री-पुरुष कितनी-कितनी बार विवाह करते हैं, इसकी भी कोई संख्या निर्धारित नहीं है। उनके पूर्व विवाहके बच्चोंको भी आजीवन सँभालनेकी उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं है। कुल मिलाकर हमारे देशमें तथा विदेशोंमें वैवाहिक पद्धति तथा उद्देश्यमें जमीन-आसमान का अन्तर है।

पहले हमारे देशमें इक्का-दुक्का तलाककी बात आती थी तो आश्चर्य होता था। लेकिन तलाककी हवा हमारे देशमें भी चल पड़ी है। यह तो बच्चोंने बाँध रखा है वरना तलाककी संख्या हमारे देशमें और भी बढ़ जाती। हमारे देशमें भी 'प्रेम-विवाह' की संख्या बढ़ गयी है। प्रेम-विवाह दोनों ही प्रकारसे होते हैं। दोनों पक्षके घरके लोग जब प्रेम-विवाहको स्वीकृति दे देते हैं तब तो धूमधामसे विवाह होता है, लेकिन घरकी स्वीकृति न मिलनेपर कचहरीमें जाकर 'कोर्ट-मैरेज' कर लेते हैं। आपसमें अँगूठियोंका आदान-प्रदान करके भी विवाहके बन्धनमें आबद्ध हो जाते हैं।

विवाह सृष्टिके क्रमको आगे बढ़ानेके लिये आवश्यक है। विवाहके बिना स्त्री-पुरुष दोनों अधूरे हैं। दोनों मिलकर इसे पूर्णता प्रदान करते हैं। दोनों अर्धांग यानी आधे हैं और दो आधे मिलकर पूर्ण होते हैं। पत्नीका स्थान पुरुषके वामांगमें क्यों है ? कारण हृदय (दिल) बायीं तरफ होता है। प्रेमका निवास दिलमें होता है। अतः पत्नीको प्रेमका मूर्तिमान् रूप भी कहा जाता है। पत्नी घरका काम देखती है, बच्चोंका लालन-पालन करती है तथा पुरुष आयके लिये उद्योग-व्यापार या नौकरी करता है। दोनोंके मिलनेपर ही गृहस्थ जीवनका प्रारम्भ होता है। लेकिन आजकल हो क्या रहा है ? पति-पत्नीके सम्बन्धोंमें प्रेम एवं आकर्षणकी जगह खिँचाव एवं दूरियाँ बढ़ रही हैं। जो विवाह आनन्द एवं उल्लासके वातावरणमें सम्पन्न हो तथा विवाहके बाद भी प्रेम एवं आकर्षण बना रहे, उसमें एकदम उलटा सम्बन्ध यानी कटुता क्यों और कैसे आ गयी, सम्बन्धोंका यह खिँचाव तथा दूरियाँ कैसे समाप्त हों, यह आजकी ज्वलंत पारिवारिक एवं सामाजिक समस्या है।

पति-पत्नीको जब आजीवन साथ रहना है तो यह संकल्प लेना होगा कि प्रेमसे रहेंगे। सारी विभिन्नताओंमें भी अभिन्नताका सूत्र खोजना होगा और दोनों पक्षोंको अपनी-अपनी कमी पहले देखनी होगी तथा अपनी-अपनी कमीको पहले दूर करना होगा। दूसरेकी कमी जबतक बताते रहेंगे, सम्बन्धोंमें कड़ुवाहट बनी रहेगी तथा कभी मिठास नहीं आयगी। दूसरा सूत्र है पहले समझानेका प्रयास बन्द करें, एक-दूसरेके कष्टको समझनेका प्रयास करें। बिना समझे एवं सुने आपका समझाने एवं सुनानेका प्रयास बेकार होगा। तीसरा सूत्र है, उभय पक्ष हमेशा अपनेको ही सही न समझे। सारी विषमताओंकी जड़ यही है। दूसरेकी बात सुनने-समझनेके बाद अगर यह समझमें आता है कि दूसरा पक्ष गलत है तो उसकी गलती न बताकर अपनी बातोंको सहज, सरल एवं तार्किक ढंगसे उसके गले उतारनेका प्रयास करें। फिर भी गले न उतार सकें तो प्रतीक्षा कीजिये, कारण बहुत-सी समस्याएँ समय पाकर अपने-आप समाप्त हो जाती हैं, लेकिन किसी भी कारणसे बिगड़कर, मारपीटकर या गाली गलौजकर समझानेका प्रयास कतई न करें। अगर ऐसा प्रयास करेंगे तो उसका नतीजा क्या होगा कि आप उसको समझा तो

नहीं ही पायेंगे, आपसी सम्बन्धोंमें कड़ुवाहटका बीजारोपण कर देंगे। यही बीजारोपण आगे पल्लवित-पुष्पित होकर तलाकके रूपमें फलित हो जायगा। अतः ऐसी स्थिति न आने दें। अपनी पत्नी-बच्चोंको कमजोर समझकर हाथ उठाने एवं अपशब्द कहनेके प्रयाससे विरत रहें।

यह भी देखा गया है कि पति अपनी पत्नीके माता-पिता तथा परिवारवालोंके प्रति भी अपशब्द कहते हैं और यह सर्वथा अनुचित है। कभी भी पत्नीके परिवारवालोंके लिये अपशब्दोंका प्रयोग न करें। जबतक आप ऐसा करते रहेंगे, आपके घरमें सुख, शान्ति नहीं रहेगी और पति-पत्नीका खिँचाव बना रहेगा। पत्नी भी अपने माता-पिता तथा परिवारकी तारीफ अपने ससुरालमें करनेसे परहेज रखे। कारण यह भी सुख-शान्तिमें कमी लायेगा तथा दूरियाँ बढ़ायेगा। शादीके बाद पत्नीको अपनी ससुरालको ही अपना मुख्य घर मानना चाहिये तथा पत्नीके माता-पिता, भाई-भाभीको उसकी ससुरालमें हस्तक्षेप या आलोचनासे परहेज करना चाहिये। माता-पिताको अपनी पुत्रीको हमेशा यही सीख देनी चाहिये कि अब तेरे माता-पिता तेरे सास-ससुर ही हैं तथा तेरे भाई-बहन तेरे जेठ-देवर तथा ननद ही हैं। पत्नीको सुख उसकी ससुरालमें ही मिलेगा। अतः ससुरालमें ही अपनी सुख-शान्ति खोजें। पति भी अपनी ससुरालसे धनकी अपेक्षा न करे। अपनी पत्नीको ही दहेज समझकर प्यार करे। ऐसी स्थितिमें पति जब अपनी ससुराल जायगा तो वहाँ उसका दामादकी तरह पूरा सम्मान होगा तथा पत्नी भी अपने पीहर जायगी तो उसे भी माता-पिता एवं परिवारका सहज प्यार तथा सुख मिलेगा।

पति हमेशा यह अनुभव करे कि मेरी सफलताका रहस्य मेरी पत्नीकी प्रेरणा ही है। पति-पत्नीको जब साथ रहना है तो एक-दूसरेकी कमजोरियोंको निवाहके चलना होगा। दोनोंको हमेशा अपना स्वास्थ्य भी ठीक रखना चाहिये। स्वास्थ्यको ठीक रखनेके लिये सूर्योदयके पहले उठना, प्रातःभ्रमण करना, थोड़ा योग करना, सन्तुलित भोजन करना, गरिष्ठ भोजनसे परहेज करना तथा मनको भी शान्त रखना आवश्यक है। मनमें भी अनावश्यक तथा दूसरोंके प्रति गलत धारणाके विचारोंको न आने दें। जब तन-मन ठीक रहेगा तो आप स्वस्थ रहेंगे। उम्र कुछ भी हो जाय, आप अपने प्रयत्न एवं प्रयाससे अपनेको स्वस्थ एवं सुखी रख सकते हैं। जिन्दगीको कभी बोझ न समझें। आध्यात्मिक पुस्तकोंको जरूर पढ़ें। उनके पढ़नेसे जीवनको एक दिशा मिलेगी। दिशा ठीक होगी तो दशामें सुधार आना निश्चित है। आपसमें घरमें कभी-कभी हँसी-मजाक भी कर लेना चाहिये, ताकि उमंग एवं उल्लासका वातावरण बना रहे।

जगद्गुरु आदि शंकराचार्यके अद्वैत मतका कोई प्रतिपादन करता है तो पति-पत्नी। यानी दो शरीर होकर भी एक हैं— यही अद्वैत मत है। हमेशा अपना अद्वैत भाव बनाये रखें। सभी भिन्नताओंमें अभिन्नता कायम रखना ही दाम्पत्य-जीवनकी सफलताका राज है। एक सत्-संन्यासीसे सद्-गृहस्थ होना ज्यादा कठिन है। विवाहके यज्ञमें स्वार्थकी आहुति दे दो, प्रेम प्रकट हो जायगा। नारी शक्ति है एवं पुरुष शक्तिमान् है। शक्तिके बिना शक्तिमान्का अस्तित्व नहीं और शक्तिमान्के बिना शक्तिके लिये कोई स्थान नहीं। पति-पत्नी दोनों यह समझें कि भोगोंसे कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता। त्याग एवं कर्तव्य-पालनसे ही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। हमें जिस बर्तावसे कष्ट होता हो, वह बर्ताव दूसरेके साथ कभी नहीं करना चाहिये। यह धर्मका सार-तत्त्व है। पतिको यह मानना चाहिये कि पत्नी मेरी सहधर्मिणी है, मित्र है, गुलाम नहीं है। एक-दूसरेसे ऐसा व्यवहार न करें कि कोई पक्ष अपमानित अनुभव करे। जिसे अपने अनुकूल बनाना हो, हमें पहले उसके अनुकूल बनना चाहिये। उसकी आलोचना न करके उससे प्रेम करना चाहिये। उसकी अच्छी बातोंका हृदयसे तथा वाणीसे समर्थन करना चाहिये।

आप ध्यान रखें, विवाद या कलह एक ही ओर से नहीं होता। कुछ न कुछ कारण दोनों ही ओर रहता है। दोनों ओरका ठीक-ठीक अध्ययन करके उसे दूर करनेकी चेष्टा की जाय, विवादकी जड़ कट सकती है।

पाश्चात्य संस्कृतिका अनुकरण सर्वथा अनुचित

[वैलेण्टाइन-डे मनाना उचित नहीं]

(श्रीरमेशचन्द्रजी बादल, एम०ए०, बी०एड०, विशारद)

वर्तमानमें पाश्चात्य संस्कृति और परम्पराओंका अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति देशके युवकों-युवतियोंमें दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है। अन्धानुकरणकी यह प्रवृत्ति देशकी संस्कृति और सभ्यताके प्रतिकूल होनेके साथ-साथ युवक-युवतियोंको गुमराह भी कर रही है। अनेक प्रकारकी सामाजिक-पारिवारिक समस्याओंके उत्पन्न होनेकी शुरुआत भी इस प्रकारके आयोजनोंद्वारा हो रही है। हमारे देशकी पारिवारिक-सामाजिक परिस्थितियाँ और परम्पराएँ दूसरे देशोंसे सर्वथा भिन्न हैं, इसलिये पाश्चात्य देशोंकी परम्पराओंकी नकल करना अनुचित है। प्रतिवर्ष १४ फरवरीको 'वैलेण्टाइन-डे' (प्रेमदिवस)-के रूपमें मनाये जानेकी शुरुआत अभी बड़े नगरों-महानगरोंतक ही सीमित है, लेकिन यदि इस विषयमें पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया तो यह आयोजन छुआछूतकी बीमारीकी तरह छोटे-छोटे शहरोंतक भी फैल सकती है। 'वैलेण्टाइन-डे' की तरह 'लिव इन रिलेशन' (बिना विवाह युवकों एवं युवतियोंका एक साथ रहना) भी प्रारम्भ होता जा रहा है, बड़े-बड़े

होटलोंमें 'पव' एवं 'रेव' पार्टियोंका आयोजन भी जोर पकड़ता जा रहा है। इन आयोजनोंमें युवकों और युवतियोंकी भागीदारी प्रमुख रहती है। ये सभी आयोजन पाश्चात्य संस्कृतिका अनुकरण करनेके उदाहरण हैं। एक ओर तो हमारे देशकी संस्कृति-परम्पराओंसे अन्य देशोंके लोग प्रभावित होकर उनको अपना रहे हैं तो दूसरी ओर देशके युवकों और युवतियोंमें पाश्चात्य संस्कृतिकी बेतुकी परम्पराओंकी बिना सोचे-समझे नकल करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

प्राय: देशके सभी समाचार-पत्रोंमें इस प्रकारके आयोजनोंकी तीव्र आलोचना भी की जाती है। कुछ सामाजिक संगठन इन आयोजनोंके विरोधमें अपना आक्रोश प्रकट भी करते हैं। किंतु उसका कोई प्रभाव पड़ता नहीं दिखायी देता। सरकारको भी इन आयोजनोंके विषयमें गम्भीरतापूर्वक सोचना और निर्णय लेना चाहिये। भविष्यमें अप्रिय घटनाओंसे बचनेके लिये इस दिशामें राष्ट्रीय स्तरपर शीघ्र निर्णय लिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

'वैलेण्टाइन-डे' (प्रेमदिवस) रोमके धार्मिक गुरु सन्त वैलेण्टाइनके सम्मानमें प्रतिवर्ष १४ फरवरीको मनाया जाता है। कहा जाता है कि किसी समय रोममें सम्राट् 'क्लाडियस' का शासन था। वे मानते थे कि प्रेममें डूबे युवक अच्छे सैनिक साबित नहीं हो सकते, इसलिये वे विवाह करनेवालोंको मृत्युदण्ड देते थे। सन्त वैलेण्टाइनने इस आदेशका विरोध किया और कई प्रेमियोंकी शादी करायी। विरोध करनेके फलस्वरूप १४ फरवरीको उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया और तभीसे यह दिवस मनाया जाता है।

अंग्रेजी भाषाके प्रसिद्ध लेखक चार्ल्स लेम्बने ईसाई धर्मके सन्तोंमें सन्त वैलेण्टाइनको सबसे श्रेष्ठ बताया है। अन्य सन्तोंने प्यारकी निन्दा की है, किंतु सन्त वैलेण्टाइनने प्रेमको सर्वोच्च स्थान दिया है। भारतीय संस्कृति-सभ्यता और परम्पराओंके अनुसार प्रेमी युगलोंका सार्वजनिक रूपसे अपने प्रेमके इजहार करनेको उचित नहीं माना जाता है, इसलिये इस दिवसका विरोध भी होता है। विरोध करनेवालोंकी आपत्ति है कि पश्चिमी देशोंकी संस्कृतिकी नकल करना उचित नहीं है, ऐसे आयोजन देशकी

संस्कृतिके प्रतिकूल हैं और इससे तलाक लेनेकी घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हैं। पश्चिमी देशोंकी परम्परा (तलाकके विषयमें)-का यहाँ भी अनुकरण होने लगा है।

पश्चिमी समाज और अपने देशकी सामाजिक परम्पराओंमें बहुत अन्तर है। पश्चिमी समाजमें सामाजिक मूल्योंका कोई महत्त्व नहीं होता जबकि अपने देशमें मनुष्यका सामाजिक जीवन विशेष महत्त्व रखता है। विवाह जीवनका एक प्रमुख संस्कार माना जाता है। विवाहमें वर-वधू दोनों पक्षोंके सदस्योंकी उपस्थितिमें विधि-विधानपूर्वक वैदिक मन्त्रोंके साथ अग्निकी साक्षीमें समस्त रस्में पूरी की जाती हैं। दोनों पक्षोंके सदस्योंमें अत्यन्त उत्साह और उल्लासका वातावरण देखा जाता है। विवाहके अवसरपर वर-वधू पक्षके सदस्योंके अतिरिक्त अतिथि और निकट सम्बन्धी भी उपस्थित रहकर नवविवाहित जोड़ेको अपना आशीर्वाद एवं शुभकामनाएँ देते हैं। विवाहके समस्त आयोजन शुभ तिथि, दिन, नक्षत्र आदिके अनुसार सम्पन्न किये जाते हैं। सारांश यह कि विवाह-संस्कारको एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। इस संस्कारको 'पाणिग्रहण-संस्कार' भी कहा जाता है, क्योंकि इस संस्कारमें धार्मिक कृत्योंके साथ कन्याके माता-पिताद्वारा कन्यादानकी रस्म पूरी की जाती है और वरद्वारा वधूका हाथ पकड़कर, उसे धर्मपत्नीके रूपमें स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार सम्पन्न होनेवाले विवाह संस्कारद्वारा पति-पत्नीमें पवित्र प्रेम उत्पन्न होता है, जो जीवनपर्यन्त रहता है और जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह धर्मनिष्ठ होती है। विवाहके समय अग्निदेवताको साक्षी मानकर वर-वधूद्वारा सुखी और सफल जीवनके लिये प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं। वर-वधूद्वारा कहा जाता है कि 'हम दोनोंका हृदय एक है और हम धर्मार्थ-काममें कभी मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करेंगे।' इस प्रकार धार्मिक विधि-विधानके साथ विवाहको एक पवित्र संस्कार माना जाता है।

आज हमारे देशकी संस्कृति-सभ्यताके विपरीत पाश्चात्य संस्कृतिके अनुसार विवाहकी भूमिका 'वैलेण्टाइन डे' से शुरू हो जाती है और 'कोर्ट मैरिज' पर समाप्त हो जाती है। यह एक भारी विडम्बना है। पाश्चात्य संस्कृतिमें विवाह एक अनुबन्धके रूपमें माना जाता है। अनुबन्ध परस्पर विचारोंमें विरोध-भिन्नता होनेपर टूट भी जाता है। अनुबन्धका टूटना तलाक हो जाना माना जाता है। तलाक भी बहुत आसानीसे हो जाता है। पाश्चात्य देशोंमें बहु विवाहकी प्रथा पुरानी है। वहाँ पति-पत्नी कब तलाक ले लेंगे, यह निश्चित नहीं रहता। तलाकके कारण अनेक सार्वजनिक समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। बच्चोंकी शिक्षा, देख-रेखकी व्यवस्था कौन करे? तलाकके बाद बच्चोंकी जिन्दगी एक समस्या बन जाती है। इन सभी समस्याओंका मूल कारण है 'वैलेण्टाइन डे' और 'लिव इन रिलेशनशिप'। इन दोनों परम्पराओंने पाश्चात्य देशोंके लोगोंका जीवन अशान्त कर दिया है।

हमारे देशमें पर्यटनहेतु आनेवाले कई विदेशी युगल यहाँकी संस्कृति और सभ्यतासे अत्यन्त प्रभावित होते हैं। वे भारतीय संस्कारोंकी सराहना करते हैं और उन्हें यहाँ अत्यन्त आत्मीयता और शान्ति मिलती है। कई विदेशी युगल तो भारतीय परिधान भी प्रसन्नतासे अपना लेते हैं और कुछ युगल तो भारतीय पद्धतिसे अपना विवाह-संस्कार भी करानेमें गर्व अनुभव करते हैं, किंतु हमारे लिये यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे देशके युवक-युवतियाँ पाश्चात्य संस्कृतिको पसन्दकर 'वैलेण्टाइन डे' और 'लिव इन रिलेशनशिप' जैसे बेतुके आयोजनोंकी नकल करनेमें संकोच नहीं करते।

सारांश यही है कि पाश्चात्य देशोंकी संस्कृति, सभ्यता और परम्पराओंकी नकल (अनुकरण) करना देशके युवकों और युवतियोंके लिये सर्वथा अनुचित है। बिना सोचे-समझे 'वैलेण्टाइन डे' (प्रेमदिवस)-जैसे आयोजनोंका मनाया जाना देशकी संस्कृति-सभ्यताके प्रतिकूल होनेके साथ-साथ अत्यन्त घातक है। इन आयोजनोंको बढ़ावा देनेसे परिवार-व्यवस्था और पारिवारिक आदर्शोंका लोप हो जाना स्वाभाविक है। पूरा सामाजिक ढाँचा चरमरा सकता है। बुद्धिमत्ता तो यही है कि ऐसे आयोजनोंको यथाशीघ्र प्रतिबन्धित करनेका कदम उठाया जाय। भारतीय संस्कृति-सभ्यताको बचाये रखनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। देशकी संस्कृतिकी रक्षा करना सभीका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होना चाहिये।

जन्मदिन कब और कैसे मनायें ?

(आचार्य पं० श्रीबालकृष्णजी कौशिक, धर्मशास्त्राचार्य, एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी),
एम०कॉम०, एम०एड०, ज्योतिर्भूषण, कर्मकाण्डकोविद)

आजकल जन्मदिन मनानेका प्रचलन सर्वत्र दिखायी दे रहा है। भारतीय धर्मशास्त्रमें प्राचीनकालसे ही इसका विस्तृत उल्लेख है। धर्मशास्त्रमें इसे वर्धापनसंस्कार, अब्दपूर्तिकृत्य, वर्षवृद्धिकर्म, आयुष्यवृद्धिकर्म कहा गया है। आजकल इसे वर्षगाँठ, सालगिरह, जन्मदिवस, बर्थ-डेके नामसे मनाया जाता है।

कब मनायें—आजकल तो प्राय: अंग्रेजी दिनांकसे जन्मदिन मनाया जा रहा है। धर्मशास्त्रमें कहा गया है कि सौर वर्षके अन्तमें जब जन्मनक्षत्र हो तो उस दिन मनाये। अर्थात् जैसे किसीका सूर्य जन्मसमयमें मकरराशिका हो तो चालू वर्षमें जब सूर्यके मकरराशिमें रहते जन्मनक्षत्र आये तब जन्मदिन मनाये। कदाचित् यदि सूर्यके मकरराशिमें रहते दो बार जन्मनक्षत्र आये तो पहलेमें मनाये। यदि प्रथम जन्मनक्षत्र खण्डित हो, अशुद्ध समय हो तो दूसरे जन्मनक्षत्रको ग्रहण करे। यदि जन्मनक्षत्र दो दिन लगातार हो तो सूर्योदय एवं प्रात:कालव्यापी जन्मनक्षत्र अधिक श्रेष्ठ है।

यस्मिन् दिने सवितरि तन्नक्षत्रदिनं भवेत्।
प्रत्यब्दान्ते च नक्षत्रे विधिं वक्ष्ये नृणां परम्॥
येनायुर्वर्द्धते नित्यं बलं तेजः सुखं सदा।

(वीरमित्रोदय-संस्कारप्रकाशमें गर्गका वचन)

एकमासे द्विजन्मर्क्षे प्रथमे जन्म चाचरेत्।
तस्मिन्नक्षत्रखण्डे तु अन्त्यखण्डे समाचरेत्॥
उदयव्यापिजन्मर्क्षे तस्माद् ग्राह्यं तु जन्मनः।
सद्भावव्यापिखण्डर्क्षे तत्र जन्म वरं शुभम्॥

(वृद्धगार्ग्य)

यदि किसीको जन्मदिन याद न हो या अतिक्रमण हो जाय तो शुभ तिथि, वार, नक्षत्र देखकर, धनुराशिके चन्द्रका त्यागकर जन्मदिवस मना सकते हैं। इसके अलावा जन्मतिथि (भारतीय मासोंके अनुसार)-को भी मनानेका प्रचलन चन्द्रमासानुसार है। जन्मोत्सवमें रिक्ता तिथि, पर्व, अष्टमी, कृष्णपक्षकी चतुर्दशी, अमावास्या तथा धनुराशिका चन्द्रमा निषिद्ध है। हस्त, मूल, अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, उत्तरात्रय, धनिष्ठा, रेवती, पुनर्वसु एवं पुष्य नक्षत्र श्रेष्ठ हैं। शकुनि, विष्टि करण त्याज्य हैं।

शुभानां वारवर्गाश्च राशयश्च धनुर्विना।
श्रेष्ठा नेष्टास्तथा शेषा मकरो मध्यमो भवेत्॥

(संस्कारप्रकाश)

ज्योतिषमें जन्मकालीन सूर्यराशि अंशोंके आधारपर गत वर्षोंको जोड़ते हुए वर्षफल निकालकर वर्षभरका फलित भी बताया जाता है। अत: ज्योतिषशास्त्रीय गणनानुसार शोधित दिवस भी जन्मदिवस मनानेहेतु उचित है।

जन्मदिवस कैसे मनायें ?—जन्मदिवसकी पूर्व रात्रिमें पत्तोंकी बन्दनवार बाँधकर शान्तिमन्त्रसिक्त जलसे अभिषेक करें, शुद्ध खाद्य-पेय पदार्थका प्राशन करायें। प्रात:काल मंगलस्नानकर या समीपस्थ नदी-तीर्थादिके जलसे स्नानकर नूतन वस्त्र धारण करें। सुवर्णसूत्र भी गृहव्यवस्थानुसार धारण करें। रक्षोघ्नसूक्तसे अभिमन्त्रित करके कटिसूत्र बाँधें।

यदि बालक हो तो माता-पिता एवं युवा, प्रौढ़ हो तो स्वयं वर्धापन, अब्दपूर्ति-संस्कारका संकल्प करें—

ॐ मम कुमारस्य दीर्घायुरारोग्यैश्वर्यादिवृद्ध्यर्थं श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विध-पुरुषार्थसिद्धिद्वारा श्रीमार्कण्डेयदेवतामृत्युञ्जयदेवताप्रीत्यर्थं ग्रहशान्तिरक्षाविधानपूर्वकवर्धापनाख्यं कर्म करिष्ये।

वर्धापनसंस्कारमें गणपति, गौरी, ग्रहशान्तिके साथ पितृपूजन, मार्कण्डेयपूजन, चिरंजीवीपूजन, महामृत्युंजयपूजन तथा हवन, महाषष्ठीदेवीपूजन, नक्षत्र तथा नक्षत्रेशपूजन, अनिष्ट ग्रहजन्यशान्ति, संवत्सर, मास, पक्ष, तिथि, राशि आदिका पूजन, कुलदेवता, क्षेत्रपाल आदिका पूजन मुख्य है।

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयं तथाष्टमम्।
जीवेद् वर्षशतं साग्रमपमृत्युविवर्जितः॥

प्रह्लादजीसहित इनका स्मरण करें। मध्याह्नमें मधु, घी, दही मिलाकर दूर्वासे एक हजार बार या अट्ठाईस बार मृत्युंजय मन्त्रसे हवनकर आयुष्यहोम करके श्रोत्रिय विप्रको भोजन करवाना चाहिये।

मार्कण्डेयस्तुति—मार्कण्डेयजीको श्वेत तिलमिश्रित गुड़-दूध अर्पित करें तथा निम्न स्तुति करें—

द्विभुजं जटिलं सौम्यं सुवृद्धं चिरजीविनम्।
मार्कण्डेयं नरो भक्त्या पूजयेत् प्रयतः सदा॥
आयुष्प्रद महाभाग सोमवंशसमुद्भव।
महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते॥
मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिध्यर्थमस्माकं वरदो भव॥
चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने।
रूपवान् वित्तवांश्चैव श्रिया युक्तश्च सर्वदा॥
मार्कण्डेय नमस्तेऽस्तु सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं प्रसीद भगवन्मुने॥
चिरजीवी यथा त्वं तु मुनीनां प्रवरद्विज।
कुरुष्व मुनिशार्दूल तथा मां चिरजीविनम्॥

षष्ठीदेवी-पूजनमन्त्र—षष्ठीदेवीको दही, भात अर्पित करें तथा निम्न प्रार्थना करें—

जय देवि जगन्मातर्जगदानन्दकारिणि।
प्रसीद मम कल्याणि महाषष्ठि नमोऽस्तु ते॥
रूपं देहि यशो देहि भगं भगवति देहि मे।
पुत्रान् देहि धनं देहि सर्वान्कामांश्च देहि मे॥

रक्षामन्त्र—

त्रैलोक्ये यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
ब्रह्मविष्णुशिवैः सार्धं रक्षां कुर्वन्तु तानि मे॥

भूलकर भी मोमबत्ती न बुझायें। यदि कदाचित् जन्मदिवसके समय बालक, युवक या प्रौढ व्यक्ति रुग्ण हो तो अपमृत्युनाशहेतु मृत्युंजयमन्त्रसे हवनमें अग्रलिखित विशेष आहुति देनी चाहिये—

मृत्युर्नश्यतु आयुर्वर्धतां भूः स्वाहा, मृत्युर्नश्यतु आयुर्वर्धतां भुवः स्वाहा, मृत्युर्नश्यतु आयुर्वर्धतां स्वः स्वाहा, मृत्युर्नश्यतु आयुर्वर्धतां भूर्भुवः स्वः स्वाहा। (वीरमित्रोदय)

ब्राह्मणोंसे यथासम्भव वेदोक्त पुण्याहवाचन करवायें, इसका विशिष्ट फल है। फिर मार्कण्डेयजीको निवेदित तिलगुड़मिश्रित दूध पाँच बार निम्न मन्त्रसे पीयें।

मन्त्र—

सतिलं गुडसम्मिश्रमञ्जल्यर्धमितं पयः।
मार्कण्डेयाद्वरं लब्ध्वा पिबाम्यायुःप्रवृद्धये॥

जन्मदिवसको क्षौरकर्म, स्त्रीसंग, नखच्छेदन, हिंसा, कलह, यात्रा, मांसाहार, गर्मजलसे स्नान निषेध है—

खण्डनं नखकेशानां मैथुनाध्वानमेव च।
आमिषं कलहं हिंसां वर्षवृद्धौ विवर्जयेत्॥

वर्षवृद्धि-संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि चारों वर्णोंके लिये प्रशस्त है। छोटे बालकोंके कटिसूत्र, स्वर्णकरधनी या कमरमें नया धागा बाँधना चाहिये। पुरुषोंको भी कटिसूत्र बदलना चाहिये।

सर्वैश्च जन्मदिवसे स्नाने मङ्गलपाणिभिः।
गुरुदेवाग्निविप्राश्च पूजनीयाः प्रयत्नतः॥

सायंकाल छायापात्र दान करें एवं बड़ों, बुजुर्गों, गुरु, माता-पिता, वृद्धजनों, विप्रोंका आशीर्वाद लेकर देवदर्शन करें।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

यदि हो सके तो जन्मदिवसपर वर्षानुसार दीपक प्रज्वलित करें। ६०वें जन्मदिनपर षष्ठीपूर्ति, ७०वें जन्मदिनपर सहस्रचन्द्रदर्शन आदि विशेष संस्कार करें। भारतीय संस्कृतिके अनुसार ही जन्मदिवस मनायें एवं जन्मनक्षत्रको महत्त्व दें, न कि जन्मतारीखको। दीप बुझायें नहीं, अपितु दीप जलाकर अपने जीवनको प्रकाशित करें।

भारतीय संस्कृतिमें दीपज्योतिकी पूजाका महत्त्व है, यह दीपकरूपी मोमबत्ती बुझाकर अखाद्य पदार्थोंसे बना केक काटना शास्त्रसम्मत नहीं है। दीपनिर्वापण तथा उसकी गन्ध ग्रहण करना आयुष्यनाशक माना गया है।

वर्ष-वृद्धि संस्कार (वर्धापन-प्रसंग)

(श्रीअशोकजी चितलांगिया)

मानवके रूपमें जन्म हमारे लिये भगवान्‌का सबसे बड़ा उपहार है। मानव-जीवन ऊर्ध्वगमन अर्थात् मोक्षका सोपान (सीढ़ी) है। अच्छे कर्मोंके लिये मानव-जीवन सर्वोत्तम योनि है। देवोंके लिये भी दुर्लभ मानवदेह प्राप्तिका प्रारम्भ अर्थात् जन्मतिथि अपने माता-पिता, पितृगण, देव, ऋषि, मान्यजन, प्रकृति-धरतीमाताके प्रति कृतज्ञता-समर्पणका विशेष दिवस है। जन्म-दिवस स्नेही स्वजनके मिलनका उत्सव है। जन्म-दिवस सामूहिक प्रार्थना, शुभेच्छा-ग्रहण, अभिवादनकर आशीर्वचन प्राप्त करनेका सुअवसर है। जन्म-दिवस भविष्यके उन्नयन (सफलता)-के लिये प्रार्थना करनेका सुयोग है। अतः जन्म-दिवसको अपनी संस्कृतिसे जोड़कर अपनेपनमें गौरव करनेका पावन अवसर बनायें। हमारा सनातन दर्शन हमें असत्यसे सत्यकी ओर, मृत्युसे अमरत्वकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढ़नेको प्रेरित करता रहा है। वेदोंका शाश्वत सन्देश '**तमसो मा ज्योतिर्गमय**' है। अतः सर्वत्र प्रकाश फैलानेकी कामना करनेवाली अपनी संस्कृतिपर गौरव करना चाहिये।

वर्तमानमें प्रचलित 'बर्थ-डे' जन्म-दिवसका विकृत रूप

बर्थ-डे (जन्मोत्सव) मनानेकी वर्तमान शैली भाव-प्रधान न होकर यान्त्रिक रूपसे पश्चिमी शैली (Western culture)-का अन्धानुकरणमात्र है। जिसके अन्तर्गत मर्यादाहीन नृत्य, गायन, बेसुरे वाद्ययन्त्रोंका कर्णभेदी शोर, अण्डे-जैसे अखाद्य पदार्थनिर्मित केकका प्रयोग, चाकूसे केक काटने, मुँहकी फूँकसे मोमबत्तियाँ बुझाने, मुँहके थूकसे जूठे हुए केकका आदान-प्रदान, दिखावट-जैसे अनावश्यक उछल-कूद, उच्छृंखलता, अभक्ष्यभक्षण, उच्छिष्ट खानपान आदिका बाहुल्य रहता है। फिल्मोंके नकलरूपी ऐसे आयोजन समय, श्रम, सेहत, रुपयोंकी बर्बादी तो हैं ही, अपनी संस्कृतिके प्रति कुठाराघात भी हैं। अतः सचेष्ट रहकर ऐसे कृत्योंसे बचना अपनी संस्कृतिके प्रति उपकार करना है।

पारम्परिक जन्मोत्सव-पद्धतिके विस्मरणके चलते वर्तमानमें बहुतोंके लिये पश्चिमी-फिल्मी शैलीके 'बर्थ डे' आकर्षक एवं नयेपनके नमूने बन गये हैं और अब तो विधिके रूपमें प्रचलित हो रहे हैं, जो कि दुर्भाग्यपूर्ण है।

सनातन दर्शनमें जन्मतिथिमें की जानेवाली विधिका सविस्तार वर्णन पाया जाता है। जरूरत इस बात की है कि हम जन्मोत्सव मनानेकी अपनी कल्याणकारी परम्पराकी तरफ पुनः लौट चलें।

आजके परिवेशमें भी दृढ़संकल्पके साथ जन्म-दिवसका सांस्कृतिक रूपमें पुनर्स्थापनकर औरोंके लिये भी संस्कार और संस्कृति-संरक्षणका दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है।

जन्म-दिवस मनानेकी विधि

जन्मतिथिके दिन प्रातःकालमें नित्यक्रियाके पश्चात् शीतल जलसे स्नानकर स्वच्छ/नवीन वस्त्र धारण करके अपने कुलदेवता, इष्टदेवता, अन्य देवी, देव एवं गौमाताका दर्शन-पूजनकर उनसे मंगलकी कामना करें। बड़ोंको प्रणामकर उनका आशीर्वाद लें।

श्रीगणेशजी, षष्ठिका देवी एवं अष्टचिरंजीवी—बलि, महर्षि वेदव्यास, भक्तशिरोमणि हनुमान्‌जी, श्रीराम-भक्त विभीषण, परशुरामजी, कृपाचार्य, अश्वत्थामा एवं मार्कण्डेय ऋषिका स्मरण-पूजन विशेष रूपमें कर उनसे बल, विद्या, सद्‌बुद्धि, विनय, आयु, आरोग्य, रूप, शील, सदाचार तथा स्थायी श्रीकी प्रार्थना करें। उन्हें नमन, पूजन, अभिवादन करें। अपने जन्म-नक्षत्र, जन्म-तिथिपर पितृ, सूर्य-अग्निदेवता, प्रजापति-ब्रह्मा, गुरु, ब्राह्मण-विद्वज्जनका भी पूजन करें।

जितने वर्ष व्यतीत हुए हों, उतने मंगलदीप घर या देवमन्दिरमें जलायें। वर्ष-अभिवृद्धिका प्रतीक बड़ा दीपक उपस्थित वरिष्ठ जनद्वारा प्रज्वलित कराकर प्रारम्भ हुआ वर्ष मंगलकारी होनेका आशीर्वाद लें।

अभावग्रस्तको सामर्थ्यके अनुरूप दान दें। मित्रोंमें प्रसाद-वितरण करें।

गौसेवाके लिये चारा-पानी आदिका यथाशक्य प्रबन्धन करें, करवायें। पर्यावरणरक्षक वृक्षोंका रोपणकर उनके संरक्षणकी व्यवस्था करें, करवायें।

विशेष रूपसे जप, हवन, यज्ञादि या भजन, कीर्तन आदिका आयोजन करें। याद रखें! आत्मीय जनके प्रति हार्दिक सद्भावसहित स्नेहिल उपस्थिति ही जन्म-दिवसका सबसे बड़ा उपहार है।

जन्म-दिवसके दिन इनसे बचें—

—गरम पानीसे स्नान न करें।

—नख, केश आदि न कटायें।

—सादगी, धैर्य एवं पूर्ण संयमपूर्वक रहें।

—घरमें बना शुद्ध सात्त्विक खाद्य पदार्थ ही खायें।

—मादक तथा अखाद्य पदार्थ अर्थात् शराब, तम्बाकू, अण्डा, मछली, मांस-भक्षण आदि न करें। विशेषकर जन्म-दिवसके दिन इनका चिन्तन भी न करें।

—मन, कर्म या वाणीसे किसीका अहित न चाहें, न करें अर्थात् सभी प्रकारकी हिंसासे दूर रहें।

—किसीके साथ कलह न करें, किसीसे द्वेषभाव न रखें। खुशी बाँटें, प्रसन्न रहें।

ध्यान रहे, अपनी संस्कृति विश्वकी सबसे प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। अपनी संस्कृति सनातन (अविनाशी) है। ऐसी अद्वितीय अनुपम संस्कृतिमें जन्म लेनेका सुअवसर प्राप्तकर हमें गौरवान्वित होना चाहिये। अपनी संस्कृतिको सहेजकर भावी पीढ़ीको सुरक्षित हस्तान्तरण करना हमारा भी दायित्व है। हमें अपने ऐसे दायित्व-बोधका हमेशा स्मरण रहना चाहिये। करोड़ों वर्ष पुराना वैभवशाली अतीत हमारा स्वाभिमान है और जिसे निज गौरव तथा निज संस्कार-संस्कृतिका अभिमान न हो, वह नर नहीं, निरा नरपशु और मृतकके समान है। अतः अपनी जीवन्तता बनाये रखें।

जीवनचर्या और सद्वृत्त

(साधु श्रीनवलरामजी शास्त्री, साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम०ए०)

मानव-जीवनमें आत्मिक अभ्युदयके लिये धर्मशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र तथा लोकव्यवहारके अनुसार कुछ सिद्धान्त पालनीय हैं तथा कुछ त्याग करनेयोग्य हैं। जो पालनीय हैं, उन्हें सद्वृत्त कहते हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं—

भगवत्स्मृति—'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्' (श्रीमद्भा० ८।१०।५५) अर्थात् भगवत्स्मृति सब आपदाओंको हरनेवाली है।

आचार्यदेवो भव—आचार्य, गुरुजन, पूज्यजनोंका सदा सम्मान एवं अभिवादन करना चाहिये।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव—माता-पिताको सदा सम्मान एवं प्रणाम करना चाहिये, उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

तपका पालन—देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका यथायोग्य पूजन, सम्मान एवं उन्हें प्रणाम करना चाहिये। शरीरकी शुद्धि रखनी चाहिये। सरलता होनी चाहिये। ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। किसीका अहित नहीं करना चाहिये—यह शारीरिक तप है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७।१४)

स्वाध्यायान्मा प्रमदः—अपना कल्याण चाहनेवालेको गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका सदा मननपूर्वक अध्ययन करना चाहिये, इसमें प्रमाद नहीं करना चाहिये।

पवित्र करनेवाले कर्म—यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको तो करना ही चाहिये; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता १८।५)

दैवीसम्पदाका धारण—अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोध न करना, संसारकी कामनाका त्याग करना, मनमें अनुकूलता एवं प्रतिकूलताके समय शान्तभाव रखना, चुगली न करना, प्राणियोंपर दया करना, सांसारिक विषयोंमें राग न करना,

अन्तःकरणकी कोमलता, निन्दनीय कार्य करनेमें लज्जा, चंचलता नहीं करना, तेज, क्षमा, धैर्य, शरीरकी शुद्धि, वैरभावका न होना, मानको न चाहना—ये दैवीसम्पदाके लक्षण हैं, इन्हें धारण करना चाहिये—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६।२-३)

आसुरी लक्षणोंका त्याग—दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अविवेकका होना—ये आसुरी सम्पदाके लक्षण हैं। इनको धारण नहीं करना चाहिये—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

(गीता १६।४)

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और संग्रहवृत्तिका त्याग करनेसे तथा संसारसे ममतारहित होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १८।५३)

इन्द्रियोंका निग्रह रखना, सब जगह भगवद्भाव रखना और सब प्राणिमात्रका हित चाहना—इनके पालनसे परम शान्ति—परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

त्याज्य कर्म—काम, क्रोध, लोभ—ये तीनों नरकके दरवाजे हैं, जीवात्माका पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६।२१)

सद्वृत्तके विधि-निषेध

सन्ध्याकालमें खाना-पीना, मैथुन, सोना, पढ़ना एवं संसारका चिन्तन न करे, अपितु ईश्वर-चिन्तन करे। जल, अग्नि तथा पूज्यजनोंके बीचमें होकर न जाय, श्मशानमें चिताके धुएँसे बचकर रहे। मद्य, भाँग, तम्बाकूका सेवन न करे। स्त्रियोंसे दूर रहे तथा स्त्रियोंका अति विश्वास न करे। अपनी आरोग्यताका, विद्याका, धनका एवं सुन्दरताका अभिमान न करे, इन्हें स्थायी न समझे। वास्तुशास्त्रसे निन्दित घरमें न रहे, जिस देशमें अधिक रोग होते हों, जिसका नेता शासक न हो, अधर्मी लोग ज्यादा हों, दस्यु तथा डाकू आदि हों, वहाँपर वास नहीं करे। जलबाहुल्य देशमें, जहाँपर सब अन्न पैदा होते हों, अच्छे नागरिक हों, वैद्य, डॉक्टर, विद्वान् और धनीलोग हों; वहाँपर रहे।

हिंसा, मार-पीट, चोरी, पैशुन्य—चुगली करना, परुष वाक्य (कठोर वचन) एवं झूठ नहीं बोलना चाहिये। धर्मपूर्वक कमाये गये धनके दानसे कल्याण होता है, वही कल्याण दान दिये बिना अपने धर्मपालनसे हो जाता है। अतः धर्मपूर्वक धन कमाये तथा धनके अभावमें भी धर्मका पालन करे। सम्पत्ति एवं विपत्ति आनेपर सम रहे, सुखी-दुःखी न हो। क्षमाशील तथा सहनशील बना रहे। सरल एवं सावधान रहे। कोई कार्य बिना विचारे न करे। चिन्तनशील रहे। कार्यमें उत्साह रखे। सम्पत्तिसे सबका उपकार करता रहे। अतिथियोंकी प्रेमपूर्वक सेवा करता रहे एवं उनका सम्मान करे। अपनी गुप्त बातें किसीसे भी नहीं कहे। अपने आश्रितोंसे प्रेम रखे। दयाका स्वभाव बनाये रखे।

पितरोंके लिये श्राद्ध, तर्पण एवं पिण्डदान करता रहे। सदाचारी, विद्वान्, वयोवृद्ध सभीका सम्मान करे। जो अपने हित-अहितको न समझता हो, ऐसे मूर्खपर दया करनी चाहिये तथा मधुर भाषामें समझाना चाहिये। अपनी प्रशंसा न करे। जिनकी आजीविका कम हो, जो गरीब हों, शरीरसे अपंग हों, विद्यामें न्यून हों—उनका तिरस्कार कभी न करे, अपितु उनका सहयोग करे। किसीको कटु वचन न कहे, क्रूर व्यवहार न करे। किसीकी सफलतापर ईर्ष्या न करे। बुरेके साथ बुराई न करे। अपना भलाईका स्वभाव न छोड़े। विपत्तिमें शान्त रहे एवं दूसरोंको भी शान्त रखे। उद्गार, छींक, जम्हाईमें मुँहको हाथसे या वस्त्रसे ढकना चाहिये। अग्नि एवं जल एक साथ लेकर न चले।

रात्रिमें, मध्याह्नमें, सूर्यास्त एवं सूर्योदयके समय चौराहेपर न बैठे। रात्रिमें वृक्षके नीचे न बैठे। गुरुजन, वृद्धजन, सम्माननीय व्यक्ति, मन्दिर तथा गौको अपने दाहिने करके प्रणाम तथा सम्मान करके जाना चाहिये। पीपल वृक्ष तथा वटवृक्षको प्रणाम करना चाहिये। अज्ञातके साथ तथा अकेला लम्बी यात्रा न करे। यात्रामें रोगीको, वृद्धको, नारीको, भारवाहकको, गाड़ी, मोटर, ताँगा, साइकिल तथा ब्राह्मण आदि पूज्यजनोंको स्वयं रुककर मार्ग देना चाहिये। शरीरके सभी अंगोंको साफ रखे। उदित और अस्त होते हुए एवं मध्याह्न तथा ग्रहणकालमें सूर्यको न देखे। स्त्रीको एकटक न देखे, उसके साथ एक शय्यापर न बैठे। जूठे मुँह चलना, फिरना आदि कार्य न करे। अपना धन, बल, अपने घरके दोषोंको तथा अपने अपमानको दूसरोंसे न कहे। सुरापान न करे, नदीके किनारे न लेटे। दूसरेके घरमें बिना आवाज दिये न जायँ, घरके मालिकके मना करनेपर भीतर नहीं जाना चाहिये। घरके मालिकके बिना कहे पलंग, सोफा, कुर्सी आदिपर नहीं बैठना चाहिये। क्षौरकर्मके बाद स्नान करना चाहिये, मंगलवार तथा शनिवारको क्षौरकर्म नहीं करना चाहिये।

न वेगान् धारयेत्—१-अपानवायु, २-पुरीष, ३-मूत्र, ४-छींक, ५-तृट् (तृषा, प्यास), ६-क्षुधा, ७-नींद, ८-खाँसी, ९-श्रमसे बढ़ा श्वास, १०-जम्हाई, ११-अश्रु (आनन्द तथा शोकके), १२-छर्दि (उलटी, वमन) तथा १३-शुक्रके वेगोंको नहीं रोकना चाहिये—

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्राश्वासश्रमकासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम्॥

विनयसहित मधुर वचन बोलना चाहिये—

मीठी वाणी बोलिये रामा सोच बिचार।
सुख पावै साँई मिलै औराँ कूँ उपकार॥

किसीका भी बुरा न सोचे, न बुरा कहे, न बुरा देखे और न बुरा करे। सबमें भगवद्भाव देखे। अपना काम स्वयं करे, आत्मनिरीक्षण हमेशा करना चाहिये, नग्न होकर स्नान न करे, खड़ा होकर पेशाब न करे। पवित्र स्थानोंमें, मन्दिरोंमें, तीर्थोंमें, सत्संगमें तथा सन्तोंके दर्शनहेतु अवश्य जाना चाहिये। जंगलमें शौचके लिये जाय तो नदी, तालाब, बगीचा एवं मन्दिरके पास न जाय, मल-मूत्रके त्यागके बाद शुद्धिपूर्वक हाथ-पैर धोये तथा कुल्ला भी करे। कुक्कुट, श्वान, सूकर, रजस्वला स्त्री और नपुंसककी दृष्टिके सामने भोजन न करे। सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहणमें भोजन नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार जीवनमें इन विधि-निषेधोंके पालनसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है।

आदर्श नारी ही गृहस्थाश्रमकी आधारशिला

(श्रीमती शोभाजी मिश्रा, एम०एच०एस-सी० (गृहविज्ञान))

भारतीय समाजमें नारी एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थानपर प्रतिष्ठित रही है। धर्मग्रन्थोंमें उसे 'मातृदेवता' कहा गया है। 'जाया' के स्वरूपमें नारी सृष्टिके विस्तारमें नरको स्वयं अपने गर्भसे उत्पन्नकर ब्रह्माजीकी सहायता करती आ रही है। वह सदासे आर्यपुरुषकी अर्धांगिनी रही है। इतना ही नहीं, व्यवहारमें पुरुषमर्यादासे नारीमर्यादा सदा उत्कृष्ट मानी गयी है। अतः जिस कुलमें नारीका समादर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं और जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ सम्पन्न होनेवाले सभी धार्मिक कृत्य व्यर्थ जाते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

नारी समाजके प्रति यह मात्र शाब्दिक सद्भावनाका प्रदर्शन ही नहीं है, इसका व्यावहारिक यथार्थ भारतीय गृहस्थजीवनमें पदे-पदे देखा जा सकता है। भले ही आजका भौतिकवादी पाश्चात्य भावापन्न समाज इसके महत्त्वको न समझ पानेके कारण नारी-स्वातन्त्र्य एवं नारी-जागरणको बढ़ावा देते हुए इस सामाजिक बन्धनसे नारीको मुक्त करानेकी बात कर रहा है, पर इन सामाजिक मर्यादाओंमें नारीकी अस्मिताको सुरक्षित करनेका ही प्रयास किया गया है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

बाल्यावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्रकी सुरक्षामें ही नारीका स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रहता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्थाके निर्माता-निर्देशक धर्मशास्त्रियोंद्वारा स्थापित यह मर्यादा कहाँसे और किस तरह नारी-स्वतंत्रताको बाधित करती है, यह समझसे परे है! मैं स्वयं आधुनिक शिक्षा और वातावरणमें पली-बढ़ी हूँ, सफल गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रही हूँ। मेरी दृष्टिमें धर्मशास्त्रियोंका यह कृत्य नारी-स्वातन्त्र्यका अपहरण न होकर नारीको निर्बाधरूपसे अपना स्वधर्म पालनमें बाह्य हस्तक्षेपसे उसकी रक्षाके लिये पुरुष-समाजको सौंपा गया दायित्व है। आज पाश्चात्य समाज द्वारा प्रदत्त नारी-स्वातन्त्र्य सीमा तोड़कर स्वच्छन्दताका रूप ले रहा है। गृहस्थीका अस्तित्व नकारा जा रहा है, परिवार टूटकर बिखर रहे हैं। देहतुष्टिकी भावनासे ही स्त्री-पुरुष मिलते हैं।

नारीकी दृष्टिसे गृहस्थाश्रमकी आवश्यकता उपादेयताको मैंने स्वयं अपनाते हुए जो अनुभव किया है, उसे धर्म-साहित्यके साथ प्रासंगिक करते हुए प्रस्तुतकर समस्त पाठकोंसे निवेदन करती हूँ कि ***'बँधी मुट्ठी लाखकी खुल गयी तो खाककी'***—इस मुहावरेको ध्यानमें रखते हुए दोनों पक्ष (पति-पत्नी) आपसी प्रेम-समर्पण, सहयोग और साहचर्यसे अपनी गृहस्थीको अटूट अविच्छिन्न बनाये रखें। गृहस्थाश्रमकी सफलतामें ही समाजकी एकता और उसका उज्ज्वल भविष्य निर्भर है।

भारतीय संस्कृतिमें वैदिक कृत्योंको श्रेष्ठता प्रदान करते हुए नर-नारीकी अवस्थाके अनुसार कृत्योंका विभाजन चार आश्रम-व्यवस्था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासमें करते हुए 'गृहस्थाश्रम' को प्रधानता दी गयी।

इन चार आश्रमोंकी उत्पत्ति गृहस्थाश्रमसे होती है और इसीसे ये चलते हैं। जैसे सब नद और नदियाँ सागरमें जाकर मिलते हैं, उसी तरह सब आश्रमवाले गृहस्थाश्रममें ही जाकर अवस्थान पाते हैं—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम्॥

(मनु० ६।९०)

गृहस्थाश्रम पुरुष और नारीके मध्य वैवाहिक संस्कारसे प्रारम्भ होता है। यह एक नैसर्गिक बन्धन है। स्त्री-पुरुषका संयोग ही पारिवारिक विकासका मूल है, सृष्टिका विस्तार है। उससे उन्हें एक अद्‌भुत ऐन्द्रिय सुख और मानसिक तृप्ति मिलती है, साथ ही संयोगसे उत्पन्न संततिके द्वारा अपने पूर्ण विकास और स्वरूप उपलब्धिकी निश्चित सम्भावना सन्निहित होती है। इस मिलन और संयोगमें आत्मीय प्रेम, समर्पण और सम्पूर्णता रहे, इसके लिये स्वयं परमात्माने अपनेको दो रूपों—स्त्री और पुरुषमें विभक्तकर 'अर्धनारीश्वर' का स्वरूप धारणकर यह सन्देश दिया कि नर और नारी अलग-अलग शरीर होते हुए भी दोनों अविच्छिन्न भाग हैं, एक-दूसरेके पूरक हैं। पति और पत्नी दो पहिये हैं, जो गृहस्थकी गाड़ीको एक-दूसरेको समान बल और सहयोग देते हुए चलाते हैं, पर वे तभी ऐसा कर सकते हैं—जब दोनोंके विचार, मन और भावना समान हों। विवाह-संस्कारद्वारा गृहस्थी-संचालनके लिये स्त्री-पुरुषरूपी दोनों पहिये एक घरकी ओर तथा एक बाहरकी ओर जोड़ दिये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पुरुष गृहस्थी चलानेके लिये बाहर रहकर सम्पत्ति अर्जितकर पत्नीको सौंप देता है, जिसे वह गृहस्वामिनीके रूपमें घरकी सम्पत्ति मानकर उसका सदुपयोग करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थाश्रमके यावन्मात्र कार्य नारीके सहयोगके बिना सिद्ध नहीं हो सकते। इसीलिये मनुष्य जब गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है, उस समय वह देवता, अग्नि और ऋत्विजोंकी साक्षीमें यह प्रतिज्ञा करता है—**'धर्मे चार्थे नातिचरामि'** अर्थात् धार्मिक एवं अर्थादि सम्बन्धी निर्णय पत्नीके परामर्श बिना नहीं करूँगा। याद रखें! विवाह-संस्कार स्त्री-पुरुषके बीच कोई समझौता (Agreement) या अनुबन्ध (Contract) नहीं, अपितु एक व्रत है, जिसमें दोनों पक्ष अपने अधिकार और स्वतन्त्रताकी सुरक्षाके साथ, सह अधिकार (Joint Rights)-पूर्वक जीवन-निर्वाह करनेका संकल्प बिना किसी दबाव या

विवशताके खुशी-खुशी स्वीकारते हैं, तभी तो विवाह सम्पन्न होनेपर कुटुम्बीजन दोनोंको यह आशीर्वाद देते हैं—'**सह धर्मं चरतम्**' तुम दोनों एक साथ मिलकर धर्माचरणके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करो।

नारीका सम्पूर्ण स्वरूप और महत्ता गृहस्थाश्रममें ही देखनेको मिलती है। सर्वप्रथम वह जिस घर एवं मकानमें प्रवेश करती है। उसे घर नहीं 'गृह' कहा जाता है।

'**न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।**' घर गृह नहीं, ईंट गारेका बना मकान है; जहाँ गृहणी रहती है, वही गृह कहलाता है। गृहस्वामिनी ही गृहलक्ष्मी कहलाती है। सास, ननद-देवरानियाँ तो परिजन होते हैं। पुरुष भी गृही या गृहस्वामी तभी कहलाता है जबकि वह पत्नीवान् हो और पत्नी भी ठीक उसके अनुकूल हो। यदि ऐसा है तो इसी पत्नीके सहारे वह त्रिवर्गका फल भोग करता है।

गृहणीके कारण ही गृहोंकी उत्पत्ति हुई है। यदि नारी उन्हें त्याग देती है, तो वे ईंट, मिट्टी-पत्थरके घर बनकर रह जायँगे। पुरुष तो वृक्षोंके नीचे भी रह लेगा किंतु गृह तोड़कर नारी स्वयं अपना आश्रय समाप्तकर गृहस्थाश्रमके अस्तित्वको ही संकटमें डाल सकती है। अतः नारीसे ही गृहस्थी है, वही इसकी मूलभित्ति या आधारशिला है।

गृहस्थाश्रममें नारी भार्याके रूपमें प्रवेश करती है। मनु कहते हैं—'**यो भर्ता सा स्मृताङ्गना**' (९।४५) जो भर्ता है, वही भार्या है और दोनों (पति-पत्नी)-को मरणपर्यन्त परस्पर अनुकूल रहकर अर्थ-धर्म, काम-मोक्षरूप चतुर्वर्गको प्राप्त करना चाहिये—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥

(मनु० ९।१०१)

गृहस्थीके रंगमंचपर नारी अपने नायक पतिकी नायिका है। यह स्वकीया नायिका साहित्यदर्पणोक्त '**विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया**'—इस वचनमें निर्दिष्ट गुणोंको अपनेमें लानेका प्रयत्न करती है। उसके प्रेमपाशसे बँधे हुए पतिदेवका मन अन्यत्र विचलित नहीं होता। अतएव वह '**स्वाधीनभर्तृका**' और '**अखंडिता**' है। पतिव्रता होनेके कारण वह एकमात्र अपने प्रियतमकी ही '**अभिसारिका**' है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(श्रीमद्भा० ९।१९।१४)

इस सम्मतिसे नारी अपने दाम्पत्यभावके सदनको '**काम**' की कच्ची नींवपर न रखकर प्रीतिकी सुदृढ़ भित्ति—आधारशिलापर स्थापित करती है। बुद्धिमती नारी ऐसे दाम्पत्य जीवनको भोगते हुए, अपनी संततिका लालन-पालन करते हुए उन्हें अच्छी शिक्षा-दीक्षा देकर आदर्श चरित्रमें गठितकर समाजमें यथोचित पदपर प्रतिष्ठित करनेमें संलग्न रहती है। समय पाकर यह सौभाग्यशालिनी
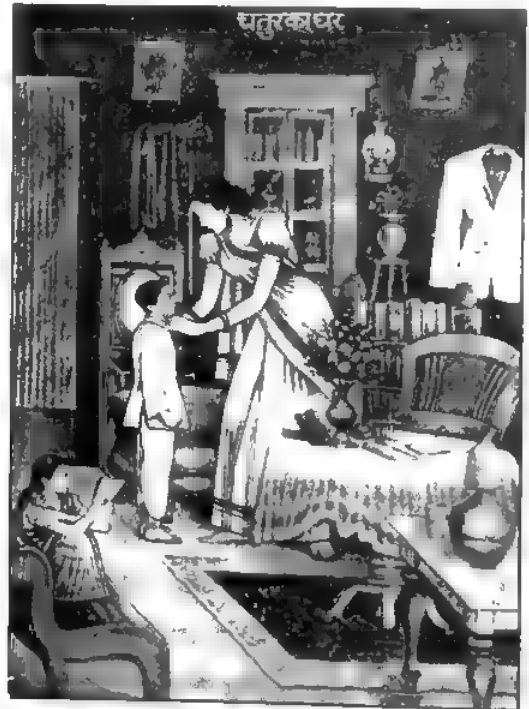
नारी अपने घरको सुव्यवस्थितकर उसे गृहमन्दिर-सा सँवारनेके साथ-साथ उसमें रहनेवाले सास-ससुर, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, ननदके प्रति सम्मान एवं स्नेह-भाव रखते हुए उन्हें सन्तुष्ट रखने और समयपर दादी-नानीका सम्मान्य पद भी प्राप्त करती है। पोते-पोतियोंके साथ खेलते हुए वृद्ध नर-नारियोंका मनोरंजन ही भारतीय-गृहस्थाश्रम जीवनकी विशेषता है—'**क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।**' स्वभाव, बुद्धि, शारीरिक रचना

और बल-पौरुषके आधारपर नारीका कार्यक्षेत्र स्पष्ट रूपसे पुरुषसे पृथक् रखा गया है। पुरुषको घरके बाहरके कार्य, जिसमें श्रम, बुद्धि और बल-पौरुषकी आवश्यकता होती है, सौंपे जाते हैं, जिससे अर्जित अर्थको वह पत्नीको सौंप देता है। पत्नी गृहस्वामिनी और गृहलक्ष्मीके रूपमें स्वतन्त्र रूपसे घरके सभी लोगोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिहेतु धनका सदुपयोगकर भविष्यके लिये कुछ अर्थ संचितकर रखती है। इसीलिये कहा गया है कि गृहस्थ-आश्रमका मूल भार्या है, सुखका मूल कारण भार्या है। सन्तानवृद्धि (वंशवृद्धि)-का भार्या ही कारण है। घरमें भार्या होनेसे ही देवताओं-पितरों, अतिथियों और गृहजनोंकी तृप्ति होती है। वास्तवमें गृहस्थ उसीको समझना चाहिये जिस घरमें पतिव्रता स्त्री है। जिस तरह गंगास्नानसे शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन करके सम्पूर्ण गृह पवित्र होता है।

नारी जब पत्नीके रूपमें गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने पीहरसे ससुराल जानेको तैयार होती है, तब कन्याके माता-पिता एवं अन्य वरिष्ठ स्त्रियाँ उसे सीख देते हुए कहती हैं कि 'बेटी! संसारका सबसे दुष्कर भार अब तेरे कन्धेपर आ रहा है। पत्नी बनकर पतिव्रता होने और मातृत्वका पद ग्रहणकर तुझे आगे आदर्श गृहणी और आदर्श माताका दायित्व लेना है। यदि तुमने इन पदोंको अपने अच्छे आचार-व्यवहार, कर्म और सेवाभावसे अपने पति एवं अन्य परिवारजनोंका मन जीत लिया, तो तेरा गृह स्वर्ग बन जायगा; अन्यथा वह नरक बनकर दुःख संतापसे भरा श्मशान-सा दिखायी देगा। तुझपर ही 'गृह' का नाम, यश और लाज रखनेका दायित्व है।' अतः अपने सामने इन आदर्शोंको अपने आँचलके छोरमें गाँठ बाँधकर आगे कदम बढ़ा—

मातु-पिता सम सास-ससुर में। कीजै भाव जाय पतिपुर में॥
सेवाबिधि मर्यादि समेता। नारि-धर्म कह बुद्धि निकेता॥
अति आदर करु जेठ-जेठानी। बालक सम देखहु देवरानी॥
बहिन समान ननद को जानौ। शुद्ध भाव सबही में आनौ॥
सहनसील निज करहु स्वभावा। जो सब नर-नारी को भावा॥
सब की सेवा पति के नाता। दरसावहु गुण-गण की बाता॥
मैके रह प्रसन्न सब काजी। पति-गृह सास-ससुर हों राजी॥

कवि कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तल (४।१८)-में महर्षि कण्वने अपनी पोष्यपुत्री शकुन्तलाको ससुराल भेजते समय यही आदर्श पालन करनेकी सीख दी थी—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
पत्युर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः॥
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

बेटी! ससुरालमें जाकर सास-ससुर आदि बड़ोंकी सेवा करना, अपने पतिकी अन्य पत्नियोंके साथ (यदि कोई हो) मित्रताका, प्रेमका बर्ताव करना; यदि कभी पतिका तिरस्कार भी मिले तो क्रोधके वशीभूत होकर उनके प्रतिकूल आचरण भूलकर भी न कर बैठना; दास-दासियोंके प्रति सदा दयाका भाव बनाये रखना और प्रचुर भोग-सामग्री प्राप्त करके अभिमानसे फूल मत जाना। इस प्रकारका आचरण करनेसे ही युवतियाँ 'गृहणी' के सम्मान्य पदपर प्रतिष्ठित होती हैं और जो इसके विपरीत आचरण करती हैं, वे तो कुलघातनी बनकर क्लेशदायक होती हैं।

भारतीय संस्कृतिके प्रत्येक साहित्य खण्डमें नारीधर्मपर इतनी सामग्री संकलित है कि उन्हें पढ़कर यही संकेत प्राप्त होता है कि भारतीय संस्कृति सदाचारको आधार बनाकर ईश्वरकी सृष्टि-विस्तारमें गृहस्थाश्रमकी उपादेयता और उसमें नर-नारीकी भूमिकाको अपने अर्धनारीश्वर स्वरूपमें प्रस्तुतकर नारीकी विशिष्ट स्थितिको (पतिव्रता एवं मातृत्वभाव) स्पष्ट करनेका सतत प्रयास करती रही है।

नारी ही सृष्टि-विस्तारकी आधारपीठिका है। गृहस्थाश्रमकी स्थापनामें नारी पुरुषकी अर्धांगिनी बनकर उसकी स्थिति और स्थिरताकी सुदृढ़ भित्तिका या आधारशिलाकी भूमिका निभाती है। गृहस्थीके निर्माण और संवर्धनमें नारी वामा, अबला, सुन्दरी, प्रमदा, मानिनी, जाया, माता, लालिनी आदि शब्द व्युत्पत्तिके सहारे अपने विशिष्ट स्वरूपमें दर्शायी गयी है। एक आदर्श गृहस्थ नारीकी ये विशेषताएँ बड़े महत्त्वकी हैं—

रागमयी—नारी रागमयी होती है। वह कभी

कल्पनाओंमें न उड़कर वास्तविक धरातलपर रहकर वर्तमान परिस्थितिको अपने अनुकूल रखकर अपने परिवारकी प्राथमिकताओंको पूरा करते हुए उन्हें खुशहाल रखनेका प्रयत्न करती है। उसके लिये उसका परिवार ही सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। इसीलिये उसे अपनोंमें रागमयी देखा जा सकता है।

महामाया—नारी महामायाका रूप है; वह पुरुषको अपने अनेक रूपों—भार्या, भगिनी, जननी, माता, प्रेमिका आदिके द्वारा आकर्षितकर अपने परिवारके सभी जनोंको मोहित किये रहती है। गृहके हर कोनेमें, हर कार्यमें, हर निर्णयमें वह गृहस्वामिनीके रूपमें विद्यमान रहती है।

उत्सर्गमयी—नारी अपनी गृहस्थीमें अपने सुखके लिये नहीं, अपने परिवारकी अभिवृद्धि और रक्षाके लिये कोई भी उत्सर्ग करनेके लिये तैयार रहती है। अपनोंकी सेवा-रक्षा-उत्सर्ग—यही उसके प्रयत्नोंका लक्ष्य है। जब वह त्यागमयी बनती है, तब भी उसकी प्रेरणाका केन्द्र 'अपना घर' ही रहता है।

महालक्ष्मी-महासरस्वती—गृहस्थ जीवनके लिये आवश्यक धनके उपार्जनमें वह पुरुषकी प्रेरणाशक्ति और अर्थके संरक्षण और व्ययमें महालक्ष्मी रहती है। शिशुके पालन-पोषणके साथ उसकी शिक्षा-दीक्षामें माँ सरस्वतीके रूपमें वह पहली शिक्षिका होती है। नारीकी प्रेरणा ही पुरुषको पुरुषार्थी बनाती है, उसे गृह-व्यवस्थामें सहयोग देनेको प्रेरित करती है।

गुणोंकी खान—गृहस्थाश्रममें नारी पतिव्रता, साध्वी, लक्ष्मी और सती स्त्री है, जो अपने मन और इन्द्रियोंको अपने नियन्त्रणमें रखकर तन-मन और वचनसे पतिपर निर्मल प्रीति रखते हुए उसके प्रति समर्पित रहती है। पति ही उसका परमेश्वर होता है। सत्य और शील उसके आभूषण हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर और तृष्णाको वह अपना शत्रु मानती है। सन्तोष, समता, शील, त्याग, विनय, समर्पण, उत्सर्ग, सहिष्णुता, सत्य और क्षमा आदिको मित्र मानकर उन्हें सम्मान और समादर प्रदान करती है; धर्म, नीति, कला-कौशल और व्यवहारकी शिक्षा ग्रहणकर अपने परिवार और संतानको उनमें ढालने, पोषित करने और आचरणमें उतारने एवं उन्हें सन्मार्गमें प्रयुक्त करनेका सत्प्रयास करती रहती है। हर्ष-शोक, सुख-दुःखमें सम रहती है। न किसीकी निन्दा करती है और न ही किसीकी निन्दा सुनना पसन्द करती है। सद्गुणी और सुपात्र स्त्रियोंकी ही संगति करती है। न कटु बोलती है, न ही व्यर्थ बकवाद करती है। पतिका न अपमान करती है और न ही उसका अपमान सहन करती है। भक्ति, सादगी, निरभिमानिता, मितव्ययिता, उदारता, परदुःखकातरता, श्रमशीलता, सेवा-शुश्रूषा, सद्भावना उसके आदर्श हैं। सारमें कहा जा सकता है कि जिस गृहमें एक शुभलक्षणा स्त्री हो, वहाँ उपर्युक्त सभी गुण-विशेषताएँ भासित होती हैं।

एक गृहस्थ उत्तम नारीके सम्बन्धमें जितना कहा एवं लिखा जाय, उतना ही कम है। किंतु आजकी गृहस्थ नारीके स्वभाव, उनके चिन्तन और व्यवहारको देखकर बहुत दुःख होता है। भारतीय संस्कृतिद्वारा स्थापित इस गृहस्थाश्रम-व्यवस्थाको वे अपने पराधीन होने और अधिकार एवं स्वातन्त्र्यके विरुद्ध मानकर पश्चिमकी उच्छृंखल, उन्मत्त और दिशाहीन संस्कृतिकी ओर आकर्षित हैं।

आज नारी-जागरणकी चर्चा चल रही है। इसका अभिप्राय अधिकारमें पुरुषके साथ समानता और स्वतन्त्र व्यक्तित्वके विकासके समान अवसर प्राप्तिसे है। वे तुलसीके इस पद ***'एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥'*** को अपनी पराधीनता और स्वतन्त्रताका हनन मानकर विद्रोही रुख अख्तियार कर चुकी हैं। यथार्थमें नारी तुलसीके इस पदका शब्दार्थ लेकर भड़क उठी हैं। उन्होंने इसके पीछेका भावार्थ समझा ही नहीं। भारतकी पराधीनता ही स्त्री-पुरुषकी अधोगतिका कारण रही है, न तो नारी कभी अबला रही और न ही सामाजिक नियमोंने उसके अधिकार और स्वतन्त्रताको कभी बाँधकर रखा है। भारतीय समाजविज्ञानमें स्त्री-पुरुषको न तो कभी वैयक्तिक अधिकार और न ही समान अधिकारको मान्यता दी गयी है। वह सहाधिकारका पक्षधर रहा है। **'सहधर्म चरतम्'** द्वारा एक साथ मिलकर (नर-नारी) एक-दूसरेके अधिकारों एवं स्वतन्त्रताका

सम्मान करते हुए गृहस्थ-रथके दो पहियोंके समान समान गति और समान बलसे खींचनेका व्रत लेते हैं। यही नर-नारीका अविनाभाव सम्बन्ध है, जिसमें दोनों एक-दूसरेके अधिकारों और स्वतन्त्रताका सम्मान करते हुए अपनी सीमाका निर्धारण स्वयं करते हैं। यदि किसीने इस सीमाका अतिक्रमण किया है तो उसका समाधान गृहस्थाश्रमको तोड़कर नहीं वरन् प्रथमतः दोनों आपसमें विचारकर सुधार लें अथवा समाजका सहयोग लें। अन्यथा स्वर्गरूपी गृह परागमन शिविर बनकर रह जायगा। पुरुष तो वृक्षके नीचे रहकर भी जी लेगा, पर स्त्रीका सुरक्षित आश्रय हमेशाके लिये नष्ट हो जायगा। इससे गृहणी गर्हित होगी, सामाजिक ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो जायगा।

अतः मर्यादामें रहकर गृहस्थाश्रम-व्यवस्थाको आँच न आने दें। नारी ही इसकी मूलभित्ति और आधारशिला है।

नित्य स्नान—शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दृष्टिमें

(पं० श्रीबनवारीलालजी चतुर्वेदी, एम०ए०)

सृष्टिका निर्माण स्वयं सर्वशक्तिमान् नारायणने मायाके द्वारा किया है; अतः मायामय जगत्की नश्वर एवं अपवित्र वस्तुका संसर्ग शरीर अथवा शरीरके किसी तत्त्वसे हो जाय तो उसे अपवित्र माना जाता है, जिसकी शुद्धिहेतु सामान्य विधान स्नान ही है। स्नानसे मात्र शुद्धि ही नहीं, अपितु रूप, तेज, शौर्य आदिकी भी वृद्धि होती है—

गुणा दश स्नानकृतो हि पुंसो रूपं च तेजश्च बलं च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं दुःस्वप्ननाशं च तपश्च मेधा॥

(विश्वा० स्मृ० १।८६)

उपर्युक्त श्लोकसे स्पष्ट है कि स्नान हमारे लिये न केवल आध्यात्मिकताकी दृष्टिसे ही आवश्यक है, अपितु यह शरीरकी बहुत बड़ी आवश्यकता भी है। नवजात बालक हो अथवा वृद्ध व्यक्ति बिना स्नानके रोगोंका संक्रमण ही बढ़ेगा। अतः स्नान हमारी शारीरिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही आवश्यकता है; जिसे लगभग सभी व्यक्ति करते भी हैं, किंतु इसके बारेमें कुछ शास्त्रीय नियम भी हैं, जिन्हें अधिकांश व्यक्ति (बिना जानकारीके कारण) उपेक्षित कर देते हैं; अतः स्नानके कुछ नियमोंको यहाँ रेखांकित किया जाता है—

स्नान करनेमें सर्वप्रथम ध्यान देनेकी बात है कि स्नानसे शरीरको शुद्ध करना है, अतः स्नान भी शुद्ध जल एवं शुद्ध पात्रमें रखे जलसे ही करना चाहिये। '**शुद्धोदकेन स्नात्वा नित्यकर्म समारभेत्**' आदि शास्त्रीय वाक्य स्पष्ट ही हैं। गंगादि पुण्यतोया नदियोंमें स्नान करना उत्तम माना गया है, तडागका मध्यम तथा घरका स्नान निम्न कोटिका है—

उत्तमं तु नदीस्नानं तडागं मध्यमं तथा।
कनिष्ठं कूपस्नानं च भाण्डस्नानं वृथा वृथा॥

स्नानसे पूर्व संकल्प तथा किसी नदी आदिपर स्नानके समय स्नानांग-तर्पण करनेका भी विधान है—

'**स्नानाङ्गतर्पणं विद्वान् कदाचिन्नैव हापयेत्।**'

जल सृष्टिका प्रथम तत्त्व है और जलमें सभी देवताओंका भी निवास है—'**अपां मध्ये स्थिता देवा सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्**' तथापि स्नानसे पूर्व जलमें जलाधिपति वरुण, गंगा-यमुना आदि नदियोंका आवाहन कर लेना चाहिये। गंगाजीके नन्दिनी-नलिनी आदि नामोंका* स्मरणकर स्नान करनेपर उस जलमें स्वयं गंगाजीका ही वास होता है, ऐसा स्वयं भगवती गंगाजीका कथन है—

द्वादशैतानि नामानि यत्र यत्र जलाशये॥
स्नानोद्यतः पठेज्जातु तत्र तत्र वसाम्यहम्।

स्नान ताजे जलसे ही करे, गरम जलसे नहीं। यदि गरम जलसे स्नानकी आदत हो तो भी श्राद्धके दिन, अपने जन्म-दिन, संक्रान्ति, ग्रहण आदि पर्वों, किसी अपवित्रसे स्पर्श होनेपर तथा मृतकके सम्बन्धमें किया जानेवाला स्नान गरम जलसे न करे। चिकित्सा विज्ञान भी गरम जलसे स्नानको त्वचा एवं रक्तके लिये उचित नहीं मानता। तेल-मालिश स्नानसे पूर्व ही करनी चाहिये; स्नानोपरान्त नहीं।

स्नान करनेसे पूर्व हाथ-पैर-मुँह धोना चाहिये तथा इसके पश्चात् कटि (कमर) धोना चाहिये। यहाँ यह ध्यान रखें कि कमरपर पहना हुआ वस्त्र पूर्णरूपेण भीगा है कि

* नन्दिनी नलिनी सीता मालती च मलापहा। विष्णुपादाब्जसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी॥ भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी।

नहीं? कहींसे सूखा न रह जाय, तत्पश्चात् सिरको गीलाकर स्नान करे—'**आदौ पादौ कटिं तथा**'।

बिना वस्त्रके (निर्वस्त्र-अवस्थामें) स्नान न करे। स्नान करते समय पालथी लगाकर बैठे या खड़े होकर स्नान करे, प्रौष्ठपाद (पाँव मोड़कर उकड़ू) बैठकर नहीं—

स्नानं दानं जपं होमं भोजनं देवतार्चनं।
प्रौढ़पादो न कुर्वीत स्वाध्यायं पितृतर्पणम्॥

स्नान घबड़ाहट या जल्दबाजीमें नहीं करना चाहिये। भोजनके बाद और रुग्णावस्था तथा अधिक रातमें स्नान नहीं करना चाहिये—

'**न स्नानमाचरेत् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।**'

यह बात आयुर्वेद एवं वर्तमान चिकित्सासे भी सम्मत है।

स्नानके पश्चात् शरीरको तुरंत नहीं पोंछना चाहिये, कुछ क्षण रुककर पोंछे; क्योंकि इस समय शरीर (एवं बालों)-से गिरा हुआ जल अतृप्त आत्माओंको तृप्ति देनेवाला होता है।

स्नानोपरान्त शरीरको पोंछने एवं पहननेके लिये शुद्ध एवं धुले हुए वस्त्रका ही प्रयोग करें।

शरीरपर जो वस्त्र पहना हुआ है, उसीको निचोड़कर फिर उसीसे शरीरको पोंछनेका शास्त्रोंमें पूर्णतः निषेध ही नहीं, अपितु इस कार्यको अपवित्रतादायक माना गया है। हाँ! इस वस्त्रको पुनः जलसे धोकर शरीर पोंछ सकते हैं।

तीर्थ-स्नानके बारेमें विशेष—किसी भी (गंगा-यमुना आदि नदी हो अथवा कुण्ड-सरोवर-आदि जलाशय) तीर्थपर स्नान अथवा दूसरी कोई भी क्रिया तीर्थकी भावनासे ही करे। अपने मनोरंजन, खेलकूद या पर्यटनकी भावनासे नहीं। वैसे जल-क्रीडा आदि घरपर भी नहीं करनी चाहिये। इससे जल-देवताका अपमान होता है।

किसी तीर्थ, देवनदी आदिपर स्नान करनेसे पूर्व भी एक बार घरमें स्नान करना ज्यादा उचित है; क्योंकि पहला स्नान नित्यका स्नान तथा दूसरा स्नान ही तीर्थ-स्नान होगा। ग्रहण आदिको छोड़कर किसी भी नदी आदिके सुनसान घाटपर अथवा मध्य रात्रिमें स्नान न करे—'**न नक्तं स्नायात्**'। तीर्थ-स्नानके पश्चात् शरीरको पोंछना नहीं चाहिये, अपितु वैसे ही सूखने देना चाहिये।

पुनः-स्नान—क्षौर (हजामत बनवानेपर), मालिश, विषय-भोग आदि क्रियाओंके पश्चात्, दुःस्वप्न अथवा भयंकर संकट-निवृत्तिके पश्चात् एवं अस्पृश्य (रजस्वला-कुत्ता आदि)-से स्पर्शके पश्चात् स्नान किये हुए व्यक्तिको भी स्नान करना चाहिये। पुत्र-जन्मोत्सव आदि कई अवसरोंपर सचैल (वस्त्र-सहित)-स्नानकी विधि है।

चरित्र-शिक्षाकी दिशा

बाल्यकाल चरित्र-शिक्षाका समुपयुक्त समय है। बालकका चरित्र-निर्माण बाल्यावस्थासे ही प्रारम्भ हो जाता है। चरित्रकी नींव माता-पिताकी संस्कृति होती है और उसकी भित्ति-सामग्री सामाजिक परिवेश होता है। माता पिताकी संस्कृति जैसी होती है, बालकका चरित्र भी वैसा ही बनता जाता है। दयाशील, सहृदय, सौहार्द-सम्पन्न व्यक्तिका बालक संकोची, विनयी एवं सुशील बनता है, पर क्रूर-कुटिल एवं कठोर-हृदयकी सन्तान दुःशील, निर्दयी और निर्मोही निकलती है। अतः यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि यदि आप चाहते हैं कि आपकी सन्तान सुसन्तान बने; सदय, सहृदय और सुसंस्कृत हो तो आप भी वैसे अवदात, अनवद्य गुणोंका आत्मावधान कीजिये। संतानोत्पत्ति सोद्देश्य होनी चाहिये। हमें भावना करनी चाहिये कि हमारी सन्तान देश-धर्मकी सेवामें तन, मन लगानेवाली और प्रभुभक्त हो। तभी हम चरित्रशील पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्नकर अपना तथा देशका कल्याण और विश्वका मंगल कर सकते हैं। चारित्र्यसे युक्त राम-जैसे पुत्र उत्पन्न करनेवाले देशमें 'रावण' उत्पन्न न हो, इसके लिये उक्त दिशाका पथिक बनना चाहिये। पर प्रश्न यह होता है कि क्या हम इस दिशामें बढ़ रहे हैं?

सत्साहित्य तथा विविध धर्म-सम्प्रदायोंमें जीवनचर्याका निदर्शन

वेदोंमें प्रतिपादित पारिवारिक जीवनचर्या

(डॉ० श्रीवागीशजी 'दिनकर')

'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' तथा **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इत्यादि वचनोंके अनुसार विधि अर्थात् ब्राह्मण, विधेय अर्थात् मन्त्र—इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण, दोनोंका नाम वेद है। शतपथ आदि ब्राह्मण, ऐतरेय आदि आरण्यक, मुण्डक आदि उपनिषद्—इन तीनोंको वेद नामसे अभिहित किया जाता है। आश्रम-व्यवस्थाके सुव्यवस्थित न होनेके कारण आज संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदोंका अध्ययन-अध्यापनका क्रम भी विच्छृंखलित हो गया है, तदनुसार जीवनचर्या भी विखण्डित हो गयी है। वेदोंमें प्रतिपादित जीवनचर्याकी एक झाँकी यहाँ प्रस्तुत है—

श्रीशुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखाकी वाजसनेयी संहिता (१।१)-का शुभारम्भ ही '**......आप्यायध्व मघ्न्याः.........अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः....**।' इस मन्त्रसे गोपति अर्थात् परिवारप्रमुखके यहाँ पारिवारिक जीवनकी प्राणभूता गौओंकी वृद्धि होनेसे होता है। इतना ही क्यों, अथर्ववेद (७।७३।८)-में तो '**हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्। दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥**' इस प्रत्याहार शैलीसे हिन्दुत्वके बोधक इस मन्त्रमें गौ-की वृद्धिको महान् सौभाग्यका विषय माना गया है। अथर्ववेद (१।३१।४)-के '**स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।**'—इस मन्त्रमें जहाँ माता और पिताके कल्याणकी कामना की गयी है, वहीं गौओंकी कल्याणकामना भी प्रतिपादित हुई है।

वैदिक आर्य अग्निस्वरूप परमेश्वरसे यह प्रार्थना करता है कि हे प्रभो, जिस प्रकार पिता अपने पुत्रको अनेक प्रकारके उपहारोंसे उपहृत करके सर्वसमर्थ बनाता है, इसी प्रकार आप भी मेरे वर्तमानको सुन्दर बनानेकी कृपा करें—

'**स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥**' (यजु० ३।२४)

शुक्लयजुर्वेदके ही दशम अध्यायके बीसवें मन्त्रमें—'**प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु...... वयꣳस्याम पतयो रयीणां....**।'—कहकर यह प्रार्थना की गयी है कि हम धनके स्वामी बनें। यहाँ 'वयम्' पदसे एकवचनका नहीं, बहुवचनका ही अर्थ संगत होता है। इससे प्रतीत होता है कि वेदोंके प्रादुर्भावकाल अर्थात् वैदिक युगसे ही हमारी संयुक्त पारिवारिक जीवनचर्या निरन्तर चली आ रही है।

आज भी भारतकी संयुक्त परिवार-प्रथा विश्वभरके लिये अभिनन्दनीय कोटिमें बनी हुई है। अथर्ववेदसंहिताके तृतीय काण्डके तीसवें सूक्तमें प्रतिपादित—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

—इन मन्त्रोंमें संयुक्त पारिवारिक जीवनचर्याका

प्रत्यक्ष रूप दिखायी दे रहा है। पिताके अनुसार पुत्रका अनुसरण करना तथा माँके साथ सामञ्जस्य बनाये रखना तो यहाँ उद्धृत है ही, पत्नीका पतिके प्रति मधुमय अभीष्ट व्यवहार भी निरूपित है। भाई भाईसे द्वेष न करे, बहन बहनसे द्वेष न करे, इस प्रकारकी संयुक्त परिवारकी जीवनचर्याकी झाँकी वैदिक वाङ्मयका अनुसरण करनेवाले भारत राष्ट्रको छोड़कर और कहाँ मिलेगी? श्रीशुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखाके उन्नीसवें अध्यायके ३७वें मन्त्रमें तो स्पष्ट कर दिया गया है कि हे परमेश्वर! मेरे पिता एवं अन्य चाचा-ताऊ आदि मेरे पितामह तथा मेरे प्रपितामह पवित्र १०० वर्षकी आयु जीते हुए मुझे पवित्र करें— **'पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा।'**

यह प्रार्थना तभी सम्भव है जबकि समाजमें संयुक्त पारिवारिक जीवनका स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता हो। इसी संहिताके २५वें अध्यायके २२वें मन्त्रमें देवशक्तियोंसे प्रार्थना की गयी है कि मेरे पुत्र जबतक पिता न बन जायँ, उससे पूर्व उनकी आयुका क्षय न हो। मन्त्रमें कहा गया है कि वृद्धावस्थासे पूर्व मेरी आयुका भी क्षय न हो—

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥

ऋक् संहिताके दशम मण्डलके १५९वें सूक्तका तीसरा मन्त्र जो पुत्र, पुत्री तथा पत्नीके स्वस्त्ययनकी कामनापरक है, वैदिक पारिवारिक जीवनचर्याकी ही एक झलक प्रस्तुत करता है—

मम पुत्राः शत्रुहणो ऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥

आदर्श पत्नी उक्त मन्त्रमें कह रही है कि—मेरे पुत्र शत्रुओंका विनाश करनेवाले हैं। मेरी पुत्री विराट् है। पतिके प्रति मेरे उत्तम विचार हैं, अतः गृहस्थमें मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

अथर्ववेदका ऋषि आशीर्वादस्वरूप श्रोताओंसे बहुवचनका प्रयोग करते हुए कह रहा है कि—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(अथर्व० ६। ६४। ३)

अर्थात् तुम्हारे विचार तथा हृदयोंमें समानता बनी रहे, तुम्हारा मन सौमनस्यसे युक्त हो। इससे प्रतीत होता है कि हमारी संयुक्त पारिवारिक जीवनचर्याकी झाँकी वेदकालसे ही निरन्तर चली आ रही है।

पारिवारिक जीवनमें कर्म करते रहनेकी परम्परा भी वैदिक वाङ्मयसे ही प्रथित रही है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजु० ४०। २)

इस मन्त्रमें स्पष्ट उल्लेख है कि कर्म करते हुए ही जीवन बीतना चाहिये। ऐसा होनेसे अन्यथा भाव नहीं होगा और कर्मका सम्बन्ध शुभ या अशुभ रूपमें पुरुषसे भी नहीं होगा। शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखाकी संहिताके १६वें अध्यायके ४८वें मन्त्रमें संयुक्त पारिवारिक जीवनचर्याकी यह सीमा मानवमात्रतक सीमित न रहकर चतुष्पद पशुसमाजतक विस्तृत हो गयी है तथा परिवारका विस्तार कुटुम्ब एवं ग्रामतक फैल गया है। यजमान परमेश्वरसे प्रार्थना करता है कि हमारी मतिके अनुसार मानव ही नहीं गौ आदि पशु-समाजकी कल्याण-भावना भी पूरी हो तथा हमारे ग्रामका कोई प्राणी रोगयुक्त न रहे, रोगमुक्त रहे—

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥

(१६। ४८)

लगता है कि—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

—इस सुभाषितका जन्म ही वैदिक पारिवारिक जीवनकी उत्कृष्टता एवं महत्ताको देखकर हुआ है, जिसमें बताया गया है कि यह अपना है तथा यह पराया है, ऐसी गणना संकीर्ण विचारवालों की है, किंतु जो उदार चरित्र वाले हैं, उनके लिये सम्पूर्ण विश्व ही कुटुम्बके समान है।

सनातनधर्मकी परम्पराके अनुसार भगवान् शंकरका रुद्राभिषेक करनेवाला भक्त अपनी स्वार्थभावनासे दूर रहकर संसारकी कल्याणकामनासे प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभो! संसारका कोई प्राणी राजयक्ष्मा-जैसे दुःसाध्य रोगोंसे पीड़ित न रहकर परस्पर सौमनस्यभाव बनाये रखे—

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳ सुमना असत्॥

(शुक्ल यजु० १६। ४)

इस मन्त्रमें पढ़ा गया 'नः' पद और भी अधिक महत्त्वका है। नः=अर्थात् हमारा। हम कह सकते हैं कि विश्वभरके समाजको अपना माननेवाला हिन्दूसमाज अर्थात् आर्यपरिवार वन्दनीय तथा पूज्य ही है।

उपर्युक्त तथ्योंके आधारपर निःसंकोच कहा जा सकता है कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण, तीनों लोक, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम और भूत, भविष्य तथा वर्तमान—सब कुछ वेदसे ही प्रसिद्ध होता है—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥

मनु महाराजके इस सद्वचनके अनुसार विश्वभरकी आधुनिकसे आधुनिक तथा प्राचीनसे प्राचीन सभी विद्याओंके एकमात्र अधिष्ठान वेद भगवान्‌के द्वारा निर्दिष्ट पारिवारिक जीवनचर्याका आश्रयण जहाँ हम सबके लिये उपासनीय है, वहीं उपयोगिताकी दृष्टिसे उपादेय भी है और स्पृहणीय भी।

वैदिक वाङ्मयमें समाज, राष्ट्र एवं विश्वके प्रति नागरिकोंके कर्तव्य

(आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, एम०ए०, पी-एच०डी०)

सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने ब्रह्माजीद्वारा बनाये गये [सृष्टिके] आदिराष्ट्र[1] भारतवर्षमें गुणकर्मका विभाग करते हुए चातुर्वर्ण्यात्मक भारतीय समाजकी सृष्टि की[2] तथा उसकी सुव्यवस्थाहेतु श्रुतियोंको प्रतिष्ठापित किया। भगवान्‌के श्वाससे निःसृत श्रुतियोंमें[3] निजी जीवनके नियमन एवं उत्कर्षके अतिरिक्त पारिवारिक सौमनस्यता, सामाजिक सद्भाव तथा राष्ट्रोन्नतिसे सम्बन्धित भी अनेक व्यवस्थाएँ दी गयी थीं। विशेषतः इनमें राष्ट्रकी सर्वांगीण अभ्युन्नतिहेतु नागरिकोंके कर्तव्य ठीक उसी प्रकार सुनिश्चित किये गये थे, जिस प्रकार आधुनिक कालमें भारतीय संविधानमें नागरिकोंके मूल कर्तव्य[4] निर्धारित किये गये हैं।

श्रुतियोंने राष्ट्रकी भूसम्पदाको माताका गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है तथा नागरिकोंको उसका पुत्र बतलाया है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
(अथर्व० १२।१।१२)

---

१. श्रीमद्भागवत और वायुपुराणके साक्ष्यपर भारतको आदिराष्ट्र कहा गया है तथा इसका प्राचीन नाम अजनाभवर्ष कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि ब्रह्माने भगवान्‌के नाभिकमलपर विराजमान होकर जिस प्रथम लोकका निर्माण किया, वही अजनाभवर्ष कहलाया। इसीलिये मनुने इसे ब्रह्मावर्त कहना संगत समझा—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ (मनुस्मृति २।१७)

२. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (गीता ४।१३)

३. जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। (रा०च०मा० १।२०४।५)

४. भारतीय संविधानके भाग ४ क अनुच्छेद ५१ (क) के अनुसार मूलकर्तव्य—भारतके प्रत्येक नागरिकका यह कर्तव्य होगा कि वह—

(क) संविधानका पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज तथा राष्ट्रगानका आदर करे।

(ख) स्वतन्त्रताके लिये हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनको प्रेरित करनेवाले उच्चादर्शोंको हृदयमें सँजोये रखे और उनका पालन करे।

(ग) भारतकी सम्प्रभुता, एकता और अखण्डताकी रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।

(घ) देशकी रक्षा करे और आह्वान किये जानेपर राष्ट्रकी सेवा करे।

(ङ) भारतके सभी लोगोंमें समरसता और समान भ्रातृत्वकी भावनाका निर्माण करे, जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्गपर आधारित सभी भेदभावसे परे हो, ऐसी प्रथाओंका त्याग करे जो स्त्रियोंके सम्मानके विरुद्ध हों।

(च) हमारी सामाजिक संस्कृतिकी गौरवशाली परम्पराका महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरणकी; जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्यजीव हैं, रक्षा करे और उनका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्रके प्रति दयाभाव रखे।

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधारकी भावनाका विकास करे।

(झ) सार्वजनिक सम्पत्तिको सुरक्षित रखे और हिंसासे दूर रहे।

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियोंके सभी क्षेत्रोंमें उत्कर्षकी ओर बढ़नेका सतत प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धिकी नयी ऊँचाइयोंको छू सके।

(ट) जो माता-पिता या संरक्षक हैं या जैसी भी स्थिति हो, छः और चौदह वर्षकी आयुके बीचका प्रतिपाल्य है, शिक्षाके लिये व्यवस्था करनेका अवसर दिलायें।

(संविधान ४२वाँ संशोधन १९७६ तथा ८६वाँ संशोधन १९९२ द्वारा अन्तः स्थापित) [भारतका संविधान]

श्रुतियोंका अभिप्राय है कि राष्ट्रके नागरिक देशकी भौतिक सम्पदा—वनोपवन, पर्वतादि पर्यावरणका मातृवत् पालन, संवर्धन तथा संरक्षण करें। अथर्ववेदके पृथ्वीसूक्तमें मातृभूमि (पृथ्वी)-के आधिभौतिक एवं आधिदैविक दोनों रूपोंका स्तवन करते हुए नागरिकोंमें भूमाताके प्रति आदरके भाव जाग्रत् करनेवाले अनेक मन्त्र दिये गये हैं। इन मन्त्रोंमें कामना की गयी है कि जिस मातृभूमिके अंकमें समुद्र लहराता है, सरिताएँ कलगान करती हैं, खेती होती है, भरपूर अन्न उपजता है तथा जिसपर जड़-जंगम सम्पूर्ण विश्व बसता है, वह भूमि हमें मधुर पेय पान कराये। जिसे हमारे पूर्वजोंने अपने पुरुषार्थसे सँवारा था, वह गाँवों, अश्वों तथा पक्षियोंको आश्रय देनेवाली भूमाता हमें ऐश्वर्य-तेज प्रदान करे। हे मातृभूमे! तेरे हिमालयादि पर्वत और गहन जंगल हमारे लिये मोद (प्रसन्नता)-के निकेतन बनें। हे माते! हम जो तुम्हारे कन्द-मूलादि फल खा रहे हैं, वे तुममें शीघ्र ही पुनः उग आयें और हम कदापि तथा कथमपि तुम्हारे मर्मपर आघात न करें[1]—

श्रुतियाँ हमें आदेश देती हैं कि हम अपनी मातृभूमिकी निरन्तर सेवा करें और स्वराज्यके लिये सर्वदा यत्न करें। हम अपने देशमें सावधान होकर पुरोहित (अगुआ या नेता) बनें—

उप सर्प मातरं भूमिम्। (ऋक्० १०। १८। १०)
यतेमहि स्वराज्ये। (ऋक्० ५। ६६। ६)
वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः। (यजु० ९। २३)

किसी भी राष्ट्रके नागरिक उस राष्ट्रके महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। उत्तम चरित्रवाले सदाचारी एवं उत्साहसम्पन्न नागरिकोंसे ही राष्ट्रका अभ्युदय सम्भव है। अतः श्रुतियोंमें नागरिकोंके वैयक्तिक (चारित्रिक) उत्कर्ष एवं उत्साहवर्धनहेतु भी अनेक मन्त्रवाक्य दिये गये हैं। यथा—हम कल्याणमार्गके पथिक हों, हमारी कामनाएँ सच्ची हों तथा हमारा मन उत्तम संकल्पोंवाला हो। हम कर्म करते हुए तथा दीनतारहित होकर सौ वर्षोंतक जीयें। हम कानोंसे सदा कल्याणकारी वचन सुनें तथा हमारा मन पराये धनपर न ललचाये। पुण्यकी कमाई हमारे घरकी शोभा बढ़ाये, पापकी कमाई नष्ट हो जाय, हमारे दाहिने हाथमें कर्म है तथा हमारे बायें हाथमें सफलता रखी हुई है। हम बुढ़ापेसे पहले न मरें। मृत्यु हमसे दूर हो तथा अमृतपद हमें प्राप्त हो।[2]

कौटुम्बिक सौमनस्यता तथा प्रेमको सुदृढ़ करनेके लिये अथर्ववेदकी पैप्पलाद शाखाके संज्ञानसूक्तमें बड़े ही मनोहर और प्रभावशाली निर्देश दिये गये हैं। सूक्त कहता है कि जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार सब एक-दूसरेसे प्रेम करें। लोगोंके मनसे विद्वेष हट जाय और उनमें संमनस्कता स्थापित हो। पुत्र माता-पिताका आज्ञाकारी हो तथा पत्नी मृदुभाषिणी हो। भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें तथा बहनें आपसमें ईर्ष्या न करें। सभी परिवारजन एक मत और समान व्रतवाले बनकर मृदुवाणीका प्रयोग करें। श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सभी लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहें। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझको खींच ले चलें[3]—

---

१. यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥
यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्। गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥ (पृथ्वीसूक्त, अथर्व० १२। १। ३, ५, ११, ३५)

२. स्वस्ति पन्थामनुचरेम। (ऋक्० ५। ५१। १५), अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्याः। (यजु० २। १०), तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। (यजु० ३४। १), कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजु० ४०। २), अदीनाः स्याम शरदः शतम्। (यजु० ३६। २४), भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम। (यजु० २५। २१), मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (यजु० ४०। १), रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। (अथर्व० ७। ११५। ४), कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। (अथर्व० ७। ५०। ८), मा पुरा जरसो मृथाः। (अथर्व० ५। ३०। १७), परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु। (अथर्व० १८। ३। ६२)।

३. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥
(संज्ञानसूक्त ३। ३०। १-२, ३-५)

देशवासियोंमें परस्पर सौहार्द हो, एतदर्थ श्रुतियाँ कहती हैं कि हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें। हम सब शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें। हममें कोई भी द्वेष करनेवाला न हो। अन्नादि हमारे लिये कल्याणकारी और स्वादिष्ट हों। हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (यजु० ३६।१८), **अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः** (अथर्व० ५।३।५), **मा नो द्विक्षत कश्चन** (अथर्व० १२।१।२४), **शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्** (अथर्व० ६।७१।३), **सर्वमेव शमस्तु नः** (अथर्व० १९।९।१४)।

ऋग्वेदमें राष्ट्रीय एकता और अखण्डताकी दृष्टिसे नागरिकोंको निर्देश दिये गये हैं कि वे सभी मिलकर चलें तथा मिलकर बोलें। वे शुद्ध और पवित्र चित्तवाले बनें। वे परोपकारमय जीवन जीयें। सौ हाथोंसे इकट्ठा करें तो हजार हाथोंसे बाँटें। वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रको सहायता नहीं देता—

संगच्छध्वं संवदध्वम् (ऋक्० १०।१९१।२), **शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः** (ऋक्० ५।५१।१), **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर** (अथर्व० ३।२४।५), **न स सखा यो न ददाति सख्ये** (ऋक्० १०।११७।४)।

यजुर्वेद (२२।२२)-में सर्वशक्तिमान् ईश्वरसे कामना की गयी है कि वे हमारे प्रिय भारतवर्षको सभी संसाधनोंसे परिपूर्ण और समुन्नत बनायें—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

इस मन्त्रके भावोंको एक गीतके रूपमें इस प्रकार गुम्फित किया गया है[1]—

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा,
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन्! देश हमारा।
हों ब्राह्मण विद्वान् राष्ट्रमें ब्रह्मतेज-व्रत-धारी,
महारथी हों शूर धनुर्धर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी।
गौएँ भी अति मधुर दुग्धकी रहें बहाती धारा।
सब साधनसे रहे.........
भारतमें बलवान वृषभ हों, बोझ उठायें भारी,
अश्व आशुगामी हों दुर्गम पथमें विचरणकारी।
जिनकी गति अवलोक लजाकर हो समीर भी हारा।
सब साधनसे रहे.........
महिलाएँ हों सती सुन्दरी सद्गुणवती सयानी,
रथारूढ भारत-वीरोंकी करें विजय-अगवानी।
जिनकी गुण-गाथासे गुंजित दिग्-दिगन्त हो सारा।
सब साधनसे रहे.........
यज्ञ-निरत भारतके सुत हों, शूर सुकृत-अवतारी,
युवक यहाँके सभ्य सुशिक्षित सौम्य सरल सुविचारी।
जो होंगे इस धन्य राष्ट्रका भावी सुदृढ़ सहारा।
सब साधनसे रहे.........
समय-समयपर आवश्यकतावश रस घन बरसाये,
अन्नौषधमें लगें प्रचुर फल और स्वयं पक जायें।
योग हमारा, क्षेम हमारा स्वतः सिद्ध हो सारा।
सब साधनसे रहे.........

भारतीय संस्कृतिमें सम्पूर्ण वसुधाको कुटुम्बवत् माना गया है।[2] हमारा यह भाव रहता है कि सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीका कल्याण हो, किसीको भी कभी दुःख न हो।[3] अपनी इन्हीं उदात्त भावनाओंके बलपर भारतको विश्वगुरुका गौरव प्राप्त था और भारतवर्षके सदाचार समस्त विश्वके लिये आचरणीय (अनुकरणीय) कहे जाते थे।[4]

---

१. यह पद्यानुवाद आजसे लगभग ६-७ दशकपूर्व स्व० पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' द्वारा किया गया था।

२. वसुधैव कुटुम्बकम्।

३ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

४. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें निरूपित भगवान् श्रीरामकी जीवनचर्या

(डॉ० श्रीमती प्रभासिंहजी, एम०ए०, पी-एच०डी०)

भगवान् श्रीराम अद्वितीय मर्यादारक्षक थे। उन्होंने लोकहितार्थ एवं धर्मरक्षार्थ ही वसुधापर अवतार लिया था। मानवजातिके समक्ष आदर्श प्रस्तुत करनेके हेतु उन्होंने एक सदाचारमय जीवनचर्याका प्रतिमान प्रतिष्ठित किया।

प्रात:जागरणसे लेकर रात्रि-शयनपर्यन्त व्यक्तिविशेषद्वारा किये जानेवाले कार्य या आचार-विचार ही उसकी दैनिक चर्याकी संज्ञासे अभिहित होते हैं। दैनिक चर्या ही जीवनचर्याका मूल होती है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जीवनयापनकी शैली ही जीवनचर्या कहलाती है।

श्रीरामचन्द्रजीकी दिनचर्या सुनियमित एवं शास्त्रोक्त नियमोंकी अनुसारिणी थी। इसीके परिणामस्वरूप उनकी जीवनचर्यामें आध्यात्मिकताका पूर्णरूपेण समावेश था। व्यक्तिविशेषकी जीवनचर्या उसके चरित्रका दर्पण होती है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी जीवनचर्या आदर्श थी, इसी कारण उनका चरित्र उत्कृष्ट कोटिका था—'**नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः॥**' (वा०रा० २।४४।२६)

भगवान् श्रीराम सद्गुणोंके सागर थे। अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान, एकपत्नीव्रत, प्रजारंजकता, व्यवहारकुशलता, न्यायप्रियता, पवित्रता, सत्यवादिता, नीतिज्ञता, प्रतिज्ञापालन आदि सभी गुण मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराममें पूर्ण विकसित अवस्थामें विद्यमान थे। सत्यका पालन उन्हें सदैव प्रिय था—'**सत्यमिष्टं हि मे सदा।**' (वा०रा० ३।१०।१८)।

भगवान् श्रीराम दृढ़प्रतिज्ञ थे। वे अपना अहित करनेवालोंके प्रति भी सद्व्यवहार करते थे। उनकी जीवनचर्यामें मातृभक्ति, पितृभक्ति, भ्रातृप्रेम, सख्यप्रेम, शरणागतवत्सलता, कृतज्ञता, पराक्रम तथा क्षमाका पर्याप्तरूपेण समावेश था।

कौसल्यानन्दवर्धन श्रीराम सर्वगुणसम्पन्न थे। वे गाम्भीर्यमें समुद्र, धैर्यमें हिमालय, पराक्रममें विष्णु, प्रियदर्शनमें चन्द्रमा, क्रोधमें कालाग्नि, क्षमामें पृथिवी, त्यागमें कुबेर तथा सत्यपालनमें साक्षात् धर्मके समान थे—

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः।

(वा०रा० १।१।१७—१९)

सत्कार्य करके नैतिकताके उत्कृष्टतम स्तरपर पहुँचना उनकी जीवनचर्याका अंग था एवं उनके जीवनका परम लक्ष्य था। भगवान् श्रीराम आचरणसे मौन रहकर नीतिका शिक्षण करते थे, बहुभाषणसे नहीं। नीतिशास्त्रकार शुक्राचार्यके अनुसार वे अद्वितीय नीतिमान् राजा थे—

न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्।

(शुक्रनीति ५।४१)

लोकशिक्षणकी दृष्टिसे उनकी जीवनचर्याका अत्यन्त महत्त्व है। भगवान् श्रीरामका समग्र चरित्र आदिसे अन्ततक एक सुसंस्कृत मर्यादासम्पन्न सदाचारी महापुरुषका चरित्र है। बालक श्रीरामकी पवित्र दिनचर्या आजकलके बालकोंके लिये प्रेरणाका स्रोत है। भगवान् श्रीरामके नैतिक, धार्मिक एवं सुसंस्कृत सदाचारमय जीवनकी झाँकी उनकी दिनचर्या एवं जीवनचर्यामें दर्शनीय है।

भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याका आरम्भ अनेक प्रकारके धार्मिक कृत्योंसे होता था। प्रात:जागरणके उपरान्त स्नानादिसे निवृत्त होकर देवताओंका तर्पण, सन्ध्योपासना तथा गायत्री-जप उनकी दिनचर्याका अभिन्न अंग था—

प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च॥
प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम्॥

(वा०रा० १।२९।३१-३२)

वे सूर्यदेवका दर्शन एवं उपस्थान करते थे। वे तीनों काल स्नान करते थे। प्रात:काल देवताओंका पूजन करते थे। वे देवताओं, पितरों एवं ब्राह्मणोंकी विधिवत् पूजा करते थे। श्रीवाल्मीकिरामायणमें उनके द्वारा किये गये गोदावरीस्नानके उपरान्त देवताओंके तर्पणका उल्लेख मिलता है।

श्रीराम देवोपासना किया करते थे। श्रीवाल्मीकिरामायणमें उनके द्वारा मधुसूदनको प्रणाम, शुद्ध अग्निमें आहुतिके उपरान्त देवमन्दिर जाने तथा श्रीनारायण (रंगनाथ)-की उपासनाका उल्लेख मिलता है—

कृतोदकः शुचिर्भूत्वा काले हुतहुताशनः।
देवागारं जगामाशु पुण्यमिक्ष्वाकुसेवितम्॥

(वा०रा० ७।३७।१३)

श्रीवाल्मीकिरामायणमें अनेक स्थलोंपर भगवान् श्रीरामद्वारा

किये गये प्रणाम, चरणस्पर्श, आचमन आदिका उल्लेख है। मुनि विश्वामित्रसे बला और अतिबला विद्याओंको ग्रहण करनेसे पहले श्रीरामने आचमन किया—

ततो रामो जलं स्पृष्ट्वा प्रहृष्टवदनः शुचिः॥

(वा०रा० १। २२। २१)

प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः।

(वा०रा० १। २२। २२)

श्रीवाल्मीकिरामायणमें श्रीरामके द्वारा पिताके चरणोंमें प्रणाम, माताओंके चरणस्पर्श एवं उनको प्रणाम, मुनियोंको
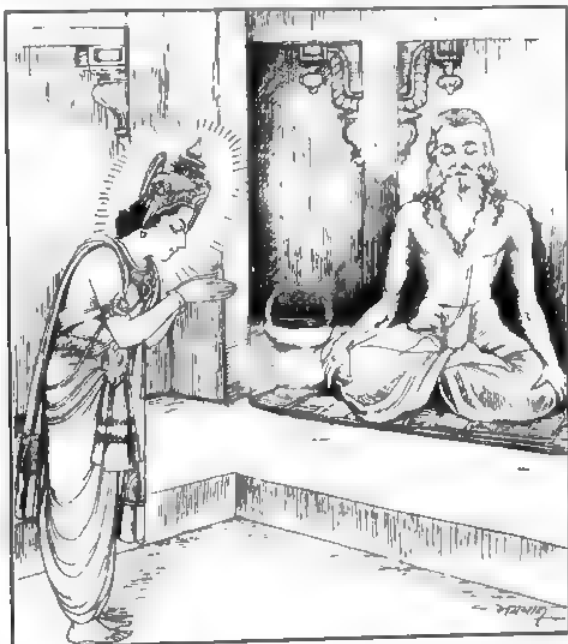
प्रणाम, हाथ जोड़ना, माता-पिताकी परिक्रमा एवं स्वस्तिवाचनमें विश्वासका अनेकशः उल्लेख है।

राक्षसोंके संहारके उपरान्त राज्यप्राप्ति होनेपर जब सम्पूर्ण ऋषि-महर्षि श्रीरामका अभिनन्दन करने अयोध्यापुरी आये तब वे मुनियोंको देखकर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उन्होंने एक-एक गाय भेंटकर पाद्य, अर्घ्य आदिके द्वारा उनका आदरपूर्वक पूजन किया और उनको प्रणामकर आसन प्रदान किया—

दृष्ट्वा प्राप्तान् मुनींस्तांस्तु प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
पाद्यार्घ्यादिभिरानर्च्य गां निवेद्य च सादरम्॥
रामोऽभिवाद्य प्रयत आसनान्यादिदेश ह।

(वा०रा० ७। १। १३-१४)

भगवान् श्रीराम माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवा दत्तचित्त होकर करते थे। वे अपने गुरु विश्वामित्रके समस्त कार्य सेवा-भावसे करते थे—

गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे।

(वा०रा० १। २२। २३)

इसी प्रकार वे पिताको देवताओंका भी देवता मानते थे और उनकी आज्ञाका पालन करते थे—

'पिता ही दैवतं तात देवनानामपि स्मृतम्।'

(वा०रा० २। ३४। ५२)

भरतके ननिहाल चले जानेपर श्रीराम और लक्ष्मण अपने देवोपम पिताकी पूजामें संलग्न रहते थे—

गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः॥

(वा०रा० १। ७७। २०)

पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा।

(वा०रा० १। ७७। २१)

वे माता-पिता और गुरुको परम देवता मानते थे। उनकी मान्यता थी कि माता-पिता एवं गुरुकी आराधना करनेपर धर्म, अर्थ और काम—तीनोंकी प्राप्ति होती है तथा तीनों लोकोंकी आराधना सम्पन्न हो जाती है। वे पितृसेवाको कल्याणप्राप्तिका प्रबल साधन मानते थे। उनके मतानुसार सत्य, दान, मान एवं पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ भी पितृसेवाके तुल्य नहीं होते। गुरुजनोंकी सेवासे स्वर्ग, धनधान्य, विद्या, पुत्र एवं सुख सब सुलभ हो जाते हैं। ऐसा उनका अटूट विश्वास था। माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं—

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः॥

(वा०रा० २। ३०। ३७)

दानका उनकी जीवनचर्यामें विशेष रूपसे समावेश था। असंग्रह एवं अनासक्तिकी भावना उनके चरित्रमें समाविष्ट थी। वे अर्थपरायणताको उचित नहीं मानते थे। दान, भोग एवं नाश धनकी तीन स्थितियाँ होती हैं। श्रीरामने प्रथम स्थितिका पालन किया है। उन्होंने प्रजाके हितार्थ यज्ञादि कर्मोंमें सर्वस्व दान किया।

वन जानेसे पूर्व उन्होंने सीतासे उत्तम वस्तुएँ—आभूषण, वस्त्रादि दान करनेके लिये कहा—

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम्॥

(वा०रा० २। ३०। ४३)

भगवान् श्रीराम पिताकी आज्ञासे नगरवासियोंके हितकारी

कार्य करते थे। वे अपनेको बड़े संयममें रखते थे और समय-समयपर माताओंके लिये उनके आवश्यक कार्य पूर्ण करके गुरुजनोंके भारी-से-भारी कार्योंको भी सिद्ध करनेका ध्यान रखते थे—

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः॥
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च।
मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परमयन्त्रितः॥
गुरूणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत।

(वा०रा० १।७७।२१—२३)

वे किसीके दोष नहीं देखते थे। वे सदा शान्तचित्त रहते एवं मीठे वचन बोलते थे। यदि उनसे कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे। उपकारको माननेसे उनमें कृतज्ञताका गुण था। किसीके अपराधोंको वे याद नहीं रखते थे। सीतासे मिलकर आनेपर वृत्तान्त जानकर उन्होंने हनुमान्‌के प्रति कृतज्ञता दर्शाते हुए कहा कि आज हनुमान्‌ने सीताका पता लगाकर धर्मानुसार मेरी, समस्त रघुवंशकी और महाबली लक्ष्मणकी भी रक्षा की है—

अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः।
वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः॥

(वा०रा० ६।१।११)

नीतिरक्षण, धर्मपालन, प्रेमविवशता एवं सेवकसुख-दातृत्वके गुण भगवान् श्रीराममें थे। उनका चरित्र राजर्षियों-जैसा पवित्र था। भगवान् श्रीराममें क्रूरताका अभाव, दया, विद्या, शील, दम एवं शम—छः गुण विद्यमान थे—

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम्॥

(वा०रा० २।३३।१२)

भगवान् श्रीराम धर्मात्मा पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करते थे। लक्ष्मणको धर्मकी श्रेष्ठता बताते हुए उनका कथन है कि प्रतिज्ञा करके पालन करना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि वे दृढ़प्रतिज्ञ थे। उन्होंने धर्मकी रक्षाके लिये सन्मार्गपर स्थित रहनेवाले वनवासी ऋषि-मुनियोंका पक्ष लिया। वे उत्तम नियमोंका पालन करते थे। वे सन्मार्गपर स्थित रहनेको कुलधर्मका वर्धन करनेवाला मानते थे। वे सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, सबसे प्रिय वचन बोलना तथा देवताओं, अतिथियों और ब्राह्मणोंकी पूजाको स्वर्गलोकका मार्ग मानते थे—

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥

(वा०रा० २।१०९।३१)

भगवान् श्रीराम श्राद्ध करते थे एवं उत्तम वस्तुएँ ब्राह्मणोंको देते थे। वे पितरों एवं देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिये बड़े-बड़े पिण्डात्मक पितृयज्ञोंका अनुष्ठान करते थे—

पित्र्याणि ब्रह्मरत्नानि यज्ञान् परमदुस्तरान्।
चकार रामो धर्मात्मा पितॄन् देवान् विवर्धयन्॥

(वा०रा० ७।९९।१९)

श्रीरामने पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अग्निष्टोम, अतिरात्र, गोसव तथा अन्य बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया। श्रीराम धर्मपालक तपस्वी राजा थे—

अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां गोसवैश्च महाधनैः।
ईजे क्रतुभिरन्यैश्च स श्रीमानाप्तदक्षिणैः॥

(वा०रा० ७।।९९। १०)

धार्मिक होनेके साथ-साथ भगवान् श्रीराम मधुर फल-मूलका आहार करते थे। इस प्रकार वे सात्त्विक भोजन ग्रहण करते थे एवं शाकाहारी थे। जाबालि मुनिके नास्तिक मतका खण्डन करते हुए श्रीरामने फल-मूल आदि ग्रहण करनेके विषयमें कहा है—

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः।
मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन्॥

(वा०रा० २।१०९।२६)

भरतको राजनीतिविषयक उपदेश देते हुए उनका मत है कि स्वादिष्ट भोजन अकेले नहीं खाना चाहिये—

कच्चित् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि॥

(वा०रा० २।१००।७५)

इस प्रकार भगवान् श्रीरामका आहार एवं विचार सात्त्विक था।

श्रीरामने कभी शत्रुका भी अनिष्ट नहीं किया। उनकी किसीसे भी शत्रुता नहीं थी। वे तो रावणके भी हितचिन्तक थे। श्रीरामचन्द्रजी अस्त्र-शस्त्ररहित अनीतिरत क्रूर रावणके साथ युद्धको धर्मविरुद्ध समझते थे। उन्होंने उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया। उन्होंने उसे शस्त्रसहित रथारूढ़

होकर आनेके लिये कहा—

प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्वं
प्रविश्य रात्रिंचरराज लङ्काम्।
आश्वस्य निर्याहि रथी च धन्वी
तदा बलं प्रेक्ष्यसि मे रथस्थः॥

(वा०रा० ६।५९।१४३)

रावणको अपना स्नेहभाजन बतलाकर विभीषणको अन्त्येष्टि करनेकी अनुमति देना भगवान् श्रीरामकी उदार युद्धनीतिका प्रमाण है। उन्होंने रणक्षेत्रमें भी सदा मर्यादा एवं शालीनताका अनुपालन किया। रावणकी मृत्युपर उनका कथन है कि मरनेके बाद वैरोंका अन्त हो जाता है—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

(वा०रा० ६।१०९।२५)

भगवान् श्रीरामके राज्यकालमें एक साधारणसे साधारण जीवको भी न्याय प्राप्त होता था। इस विषयमें कुत्तेका आख्यान उल्लेखनीय है। उनके राज्यकालमें प्रजाजन उनकी आदर्श जीवनचर्यासे प्रभावित हुए; क्योंकि राजाओंके जैसे आचरण होते हैं, प्रजा भी वैसे ही आचरण करने लगती है।

श्रीरामके सदाचारमय आचरणका यह पावन सन्देश है कि एक राजपुरुषको आस्तिक होना चाहिये। उसे ज्ञानियोंका संग, सद्ग्रन्थोंका अध्ययन एवं श्रवण तथा मांगलिक कार्योंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये तथा सात्त्विक आहार ग्रहण करते हुए भोजन आदि ऐश्वर्योपभोगमें भाई-बन्धुओंसे दुराव और द्वैध नहीं करना चाहिये। वृद्धों एवं पूज्यजनोंका सम्मान उनकी जीवनचर्याका महत्त्वपूर्ण अंग था।

इस प्रकार भगवान् श्रीरामकी जीवनचर्या एक आदर्श जीवनचर्या थी। यही कारण है कि वे मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये।

आनन्दरामायणमें भगवान् श्रीरामकी आदर्श दिनचर्या

(आचार्य श्रीसुदर्शनजी मिश्र, एम०ए०)

आनन्दकन्द कौसल्यानन्दवर्धन दशरथनन्दन सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा अनन्तानन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामजीकी दिनचर्या एवं जीवनचर्या समस्त मानवमात्रके लिये मननीय एवं अनुकरणीय है।

दिनचर्या—प्रातःकालसे रात्रितक तथा रात्रिसे प्रातःकालतक दिनचर्याका विवरण जैसा श्रीआनन्दरामायणमें प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भगवान् श्रीराम तो साक्षात् विग्रहवान् धर्म हैं, अतः उनकी समस्त क्रियाएँ धर्मशास्त्रसम्मत तथा लोककल्याणकारक होती हैं—

चतुर्नाड्यवशिष्टायां निशायां रघुनायकम्।
उद्बोधनार्थं सम्प्राप्ता रतिशालाबहिः स्थिताः॥
वन्दिनो मागधाः सूता नर्तक्यश्च नटादयः।
वादयामासुर्वाद्यानि ननृतुश्चाप्सरोगणाः॥
जगुर्मङ्गलगीतानि स्तोत्राणि विविधानि च।
प्राभातिकीं स्तुतिं प्रोचुः कलकण्ठैर्मनोरमैः॥

(आनन्दरामायण विलास० ४।१—३)

चार घड़ी अर्थात् सूर्योदयसे लगभग पौने दो घण्टे पूर्व बन्दीजन, मागध, सूत, नर्तकियाँ, नट आदि प्रभुके शयनकक्षके बाहर मंगल वाद्योंकी मधुर ध्वनि तथा कोमल कण्ठसे स्तोत्रपाठ तथा समस्त दिव्य शक्तियोंसे प्रभु श्रीरामके सुप्रभातकी शुभकामना करते हैं।*

इस प्रकार वन्दीजन आदिकी स्तुति एवं पालतू पक्षियोंके

* विघ्नेश्वरः सकलविघ्नविनाशदक्षो दक्षात्मजा भगवती हि सरस्वती च।
दृप्ताष्टभैरवगणा नव दिव्यदुर्गा देव्यः सुरास्तु नृपते तव सुप्रभातम्॥
भानुः शशी कुजबुधौ गुरुशुक्रमन्दा राहुः सकेतुरदितिर्दितिरादितेयाः।
शक्रादयः कमलभूः पुरुषोत्तमेन्द्रो रुद्रः करोतु सततं तव सुप्रभातम्॥
पृथ्वी जलं ज्वलनमारुतपुष्कराणि सप्ताद्रयोऽपि भुवनानि चतुर्दशैव।
शैला वनानि सरितः परितः पवित्रा गङ्गादयो विदधतां तव सुप्रभातम्॥
दिक्चक्रमेतदखिलं दिगिभा दिगीशा नागाः सुपर्णभुजगा नगवीरुधश्च।
पुण्यानि देवसदनानि बिलानि दिव्यान्यव्याहतं विदधतां तव सुप्रभातम्॥
वेदाः षडङ्गसहिताः स्मृतयः पुराणं काव्यं सदागमपथो मुनयोऽपि दिव्याः।
व्यासादयः परमकारुणिका ऋषीणां गोत्राणि वै विदधतां तव सुप्रभातम्॥ (आनन्दरामायण विलास० ४।४—८)

मृदुल स्वरोंसे सीताजीसहित प्रभु श्रीरामजीकी निद्रा पूर्ण होती है। तदनन्तर पहले सीताजी उठती हैं—'**आदौ प्रबुद्धा सा सीता पश्चाद्बुद्धो रघूत्तमः।**' जागनेपर श्रीरामचन्द्रजी देवाधिदेव भगवान् शिव, देवी, गुरु, देवताओं, दशरथजी, पवित्र तीर्थों, माताओं, देवमन्दिरों, अनेक क्षेत्रों, अरण्यों, पर्वतों, सरोवरों, नदी, नदोंका स्मरण करते हैं।

सीताजी दुर्गादेवी, गंगाजी, सरस्वतीजी, दशरथजी, कौसल्यादि माता, गुरुपत्नी तथा अपनी माताजीका स्मरणपूर्वक मानसिक वन्दन करके प्रभुको प्रणाम करती हैं। प्रभु श्रीराम सीताजीसहित (पलंग)-से उतरते हैं। शयनकक्षके बाहर अनेक दास-दासीकी सेवा स्वीकारते हैं, शौचादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर कभी महलमें ही स्नान करते हैं तो कभी पालकीपर बैठकर सरयूजीको जाते हैं। पालकीसे उतरकर कुछ दूर पैदल ही चलकर सरयूजीको प्रणाम करके दक्षिणासहित ताम्बूल-नारियल समर्पित करके प्रार्थनाकर स्नानार्थ सरयूमें प्रवेश करते हैं। विप्रगणोंकी वैदिक ऋचाओंकी मंगल ध्वनिके साथ स्नान करके प्रात:कालीन सन्ध्योपासन करके ब्राह्मणोंको विविध प्रकारसे दान-दक्षिणा देकर रथपर सवार होकर महलोंको लौटते हैं। सीताजीसहित विधिपूर्वक हवन करके शिवजीका पूजन करते हैं फिर माताओंकी भी पूजा करते हैं। तत्पश्चात् कामधेनु, कल्पवृक्ष, पारिजात, पुष्पकविमान, चिन्तामणि, कौस्तुभमणि तथा तुलसी, पीपल आदि पवित्र वृक्षोंका पूजन करके सूर्यनारायणकी पूजा करते हैं। रथ, वाहनादिका पूजनकर सिंहासन, छत्र, चँवर, व्यजन, मुकुटादिका पूजनकर ऊँचे आसनपर विराजमान गुरुदेवकी पूजाकर भ्राता तथा माताओंसहित गुरुदेवके मुखसे कथाश्रवणकर; गुरुदेवसहित विप्रगणोंको भोजन कराकर ताम्बूल-दक्षिणा देकर, प्रणामकर विदा करते हैं। भ्राताओं तथा माताओंसहित स्वयं भोजनकर ताम्बूल खाते हैं। तदनन्तर सुन्दर वस्त्र-भूषणादि धारणकर अस्त्र-शस्त्र भी धारण करके पहलेसे आये ज्योतिषीजी एवं वैद्यजीका सम्मानकर सिंहासनपर बैठ जाते हैं। वैद्यजी नाड़ी-परीक्षणकर मुसकराकर कानमें कहते हैं—'**रात्रावाचरितः श्रमः।**' श्रीरामजी वैद्यजीको ताम्बूल-दक्षिणा सम्मानपूर्वक प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् ज्योतिषीजी भी पंचांग खोलकर श्रेष्ठ मंगलदायक श्लोक पढ़ते हैं—

विघ्नेश्वरो ब्रह्महरीश्वराः सुरा
भानुः शशीभूमिसुतो बुधः शुभः।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
सर्वे ग्रहा मंगलदा भवन्तु ते॥

अर्थात् श्रीगणेशजी, ब्रह्माजी, विष्णुजी, शंकरजी, समस्त देवता तथा सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु आदि समस्त ग्रह आपके लिये मंगलदायक हों। तत्पश्चात् ज्योतिषीजी ग्रहोंका विस्तृत फलादेश सुनाकर शुभाशीर्वाद देते हैं। ज्योतिषीजीको ताम्बूल दक्षिणा प्रदानकर श्रीरामजी प्रणाम करते हैं, फिर माली बाँसकी डलियोंमें अनेक सुन्दर सुगन्धित फूल-मालाएँ अर्पण करता है। श्रीरामजी सबको वितरितकर स्वयं भी धारण करते हैं। तत्पश्चात् नाई स्वर्णमण्डित शुभ्र दर्पण श्रीरामजीको दिखाता है। प्रभु अपना मुख भलीभाँति देखकर प्रसन्न होते हैं। तभी एक सेवक सुलगती सुगन्धित धूपदानी प्रस्तुत करता है।

अब प्रभु स्वर्णरत्नादिजटित सुन्दर शिविकामें बैठकर महलसे बाहर निकलते हैं। बाहर आँगनमें वंदीजन स्तुति-पाठ करते तथा प्रभुको प्रणाम करते हैं। मंगल वाद्योंकी ध्वनिमें नर्तकियाँ नृत्य करती हैं। तीसरे आँगनमें अनेक अश्व, गज, रथ आदि सुसज्जित हैं। चौथे आँगनमें अनेक नृपगण, पुरवासी आदि प्रभुके दर्शनार्थ उपस्थित हैं। पाँचवें चौकमें पुष्पवाटिकामें पुष्पक विमान है तथा अनेक सुसज्जित सैनिक खड़े हैं। छठवें चौकमें हाथ जोड़े अनेक घुड़सवार वीर प्रभुको अभिवादन करते हैं। सातवें चौकमें राजसभामें प्रभु पालकीसे उतरकर प्रवेश करते हैं। सिंहासनको प्रणामकर दाहिनी ओरसे शनैः-शनैः सीढ़ियोंसे चढ़कर सिंहासनपर बैठते हैं। श्रीरामजीके बैठ जानेपर लक्ष्मणजी छत्र लेकर पीछे खड़े हो जाते हैं, दाहिनी ओर भरतजी चँवर, बाँयीं ओर शत्रुघ्नजी व्यजन लेकर सेवामें तत्पर; सामने पादुकापीठके निकट हनुमान्‌जी, वायव्य कोणमें सुग्रीव जलपात्र लिये हैं, ईशानकोणमें विभीषणजी दिव्य दर्पण, अग्निकोणमें अंगदजी ताम्बूलपात्र तथा नैर्ऋत्यकोणमें जाम्बवान्‌जी वस्त्रकोष लिये सेवामें उपस्थित हैं। श्रीरामजीके दाहिनी ओर ऊँचे आसनपर मुनिगण; सामने नृत्यांगनाएँ और अनेक नृपगण हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। उनके पीछे वीरगण फिर अनेक दूतगण। रामजीकी अनुमतिसे अनेक नृपगण, मित्रगण तथा मुख्य नगर-निवासी अपने-अपने मंचासनपर बैठ जाते हैं। सुमन्त्रजीके अतिरिक्त सभी सेवक खड़े रहते हैं। इस प्रकार सभामें श्रीरामजीकी दिव्य शोभा दर्शनीय है। सभामें बैठकर प्रभु अनेक राजकार्योंको देखते हैं तथा भ्राताओं और राजकुमारोंको कितने ही काम सौंपकर उठकर पहलेके कहे हुए मार्गसे महलमें आ जाते हैं।

महलमें सीताजी सुसज्जित प्रसन्नमुख आगे बढ़कर प्रभुको पाद्य, आचमनादि हेतु जलपात्र देती हैं। श्रीरामजी लक्ष्मण आदिको विदाकर अन्त:पुरमें प्रवेश करते हैं। तदनन्तर स्नानकर मध्यकालीन सन्ध्यादि करते हैं तथा भोजनार्थ सबको निमन्त्रण भेजते हैं। शिवजीका पूजनकर पितरोंका तर्पणकर बलिवैश्वदेव करते हैं, काकबलि भी बाहर निकालते हैं। इसी समय ब्राह्मण तथा अतिथिगण भी आ जाते हैं, स्वर्णपात्रोंमें जानकीजी पुत्रवधुओंसहित सबको भोजन कराती हैं। भोजनके पश्चात् श्रीरामजी स्वयं सबको ताम्बूल एवं दक्षिणा देते हैं। तत्पश्चात् भ्राताओं तथा माताओंसहित स्वयं भी भोजनकर ताम्बूल खाकर सौ कदम चलकर निद्राशालामें जाते हैं। जानकीजी भी भोजन करके आ जाती हैं तथा पंखा झलने लगती हैं, फिर कुछ मनोविनोदकी वार्ता होती है तथा सीतारामजी शयन करते हैं और सेविकाएँ पंखा झलती हैं।

कुछ समय पश्चात् सीताजी जगती हैं तथा प्रभु भी जाग जाते हैं। तनिक मनोरंजनार्थ चौसर आदि खेलकर वाटिकामें आते हैं, जहाँ फौवारे चल रहे हैं। अंगूरकी झाड़ीके निकट पालतू पक्षी स्वर्ण-पींजरोंमें मधुर ध्वनि कर रहे हैं। तत्पश्चात् सीताजीका हाथ पकड़कर सीढ़ियाँ चढ़ते हुए सर्वोच्च प्रासादपर पहुँचकर अयोध्याकी शोभा देखते हैं। नीचे आकर गौशालामें आते हैं, सीताजीको दासियोंके साथ भेजकर सेवकोंके साथ अश्वशाला, गजशाला, उष्ट्रशाला, व्याघ्रशाला, महिषीशाला, रथशाला आदि देखते हुए सातों चौक पारकर आठवें चौकमें पहुँचते हैं; जहाँ युद्धके समय प्रयोग किये जानेवाले नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रादि सुरक्षित हैं तथा सजग सशस्त्र प्रहरीगण हैं। तदनन्तर नवें चौकमें पहुँचते हैं, जहाँ अनेक सशस्त्र घुड़सवार, हाथीपर सवार सशस्त्र सिपाही रात-दिन स्थानोंकी सुरक्षामें लगे हैं। इस प्रकार नवों कक्षाओंको लाँघकर कोटके बाहर जलसे भरी खाइयोंका निरीक्षणकर बाग-बगीचे देखते हुए भाइयों और पुत्रोंके साथ सरयूतटपर आ जाते हैं। सबके साथ एक अच्छी नौकामें बैठकर सैर करते हुए सैन्य शिविरमें पहुँचते हैं, वहाँ सैनिकोंसे बात-चीतकर पूर्ववत् महलमें आ जाते हैं, किंचित् अल्पाहार एवं ताम्बूल ग्रहणकर भाइयोंसहित सभाभवनमें पहुँचते हैं। सिंहासनपर पूर्ववत् बैठकर आवश्यक कार्य सम्पादनकर मन्त्रीगण आदिको उचित आदेश-निर्देश देकर महलमें आकर सायं सन्ध्या-पूजाकर, भोजन करके; भाइयों तथा पुत्रोंसहित पालकीमें बैठकर देवताओंके मन्दिरोंमें जाते हैं। यथायोग्य पूजन दानादि देकर कुछ समयतक वहाँ कीर्तन आदिका आनन्द प्राप्त करते हैं। सवारीपर सवार होकर मणिदीपोंके प्रकाशमें राजमार्गसे महलको वापस आते हैं। एक प्रहर रात्रितक भाइयों आदिसे पारस्परिक बात-चीतकर विदा कर देते हैं। डेढ़ प्रहर रात्रि बीतनेपर शयनकक्षमें प्रवेश करते हैं, जहाँ सुन्दर फूलोंकी शय्यापर सीताजी उनकी प्रतीक्षामें बैठी हैं, रामजीका खड़े होकर स्वागत करती हैं तथा दासियोंको विदाकर प्रसन्न मुख अनेक विगत मधुर चर्चाएँ करती हुई वे शयन करती हैं।

यह तो प्रभु श्रीरामजीकी सामान्य दैनिक चर्या है। इसके अतिरिक्त कभी जल-विहार कभी नौका-विहारका भी रोचक वर्णन है। श्रीसीताजीकी गर्भावस्थामें उपवन-विहारका अति विस्तृत एवं रोचक वर्णन है।

प्रभु श्रीरामजीकी जीवनचर्याके कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंग भी दर्शनीय हैं। एक बार प्रभु श्रीराम सीता महारानीके साथ अपने सर्वोच्च प्रासादपर अयोध्याके बाजार आदिका निरीक्षण कर रहे थे। उसी समय सीताजीकी दृष्टि एक दीन महिलापर पड़ी, जो भिखारिणी-जैसी मलिन अवस्थामें थी। सीताजीने अपनी सेविकाद्वारा उसे शीघ्र बुलवाया तथा उस महिलासे इस दीनता-हीनताका कारण पूछा तो महिलाने बताया कि उसका पति तीर्थयात्राको गया है और बहुत समयतक नहीं लौटा तथा वृद्ध पिता भी मृत्युको प्राप्त हो गये हैं, अतः वह भी भ्रमण करती हुई तीर्थयात्राको निकल पड़ी है। अयोध्यामें आज आपका दर्शन करके कृतार्थ हो गयी है। सीताजीने सेविकाओंसे कहा कि अभी इन्हें सुन्दर वस्त्र-अलंकारोंसे सुसज्जितकर मेरे पास लाओ और उस महिलासे कहा कि श्रीलक्ष्मणजीसे एक लाख स्वर्णमुद्रा लेकर आनन्दसे रहो। प्रभु श्रीरामजीसे कहा कि आपके राज्यमें कोई भी दीन-हीन नहीं होना चाहिये। अतः श्रीलक्ष्मणजीको बुलाकर सातों द्वीपोंमें यह आदेश करवा दें—

सप्तद्वीपेषु सर्वत्र पृथग्वर्षेषु सादरम्।
काचिन्नारी पुमान् वापि विना सद्वस्त्रभूषणैः॥
दृष्टश्चारैर्मया ज्ञातो यद्देशे यत्पुरे कदा।
तद्राज्ञश्चास्तु मे दण्डो रामस्यापि विशेषतः॥

अर्थात् जिस किसी राजाके राज्यमें कोई भी नर-नारी दुःखी, दीन-हीन दिखायी पड़ेगा, उस राजाको दण्ड दिया जायगा।

रामराज्यका राज्यकाण्ड (उत्तरार्द्ध १५।५४)-में इस प्रकार वर्णन है—'**हृष्टाः पुष्टाः प्रजाः सर्वाः फलवन्तोऽभवन्नगाः। आसन्सदा सुकुसुमैर्विनम्राः सौख्यदा नृणाम्॥**' श्रीरामराज्यमें सभी पुरवासी अति आनन्दित थे, सभीका श्रीरामजी ध्यान रखते थे। कुत्तेको भी न्याय प्राप्त होता था।

योगवासिष्ठमें निर्दिष्ट साधककी जीवनचर्या

(श्रीरघुराजसिंहजी बुन्देला 'व्रजभान')

जीवनमें समस्त दुःख अज्ञानजनित हैं। अज्ञानके कारण हम विज्ञानसम्मत यज्ञीय कर्म नहीं करते, इस कारण हम ज्ञान-विज्ञानसे दूर होते चले जाते हैं और हमारे दुःखोंकी शृंखला बढ़ती चली जाती है। योगवासिष्ठ महारामायणमें ब्रह्मर्षि सद्गुरु वसिष्ठजीने अपने शिष्य भगवान् रामको साधककी जीवनचर्या कैसी होनी चाहिये—यह विस्तारसे बताया है। वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह बतलाया है कि आत्मज्ञानद्वारा दुःखोंसे मोक्ष पाने और परमानन्दके अनुभवकी सिद्धिके लिये किस प्रकारके पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है।

(१) चित्तशुद्धि—सबसे पहले जो साधकको करना चाहिये वह है मनकी शुद्धि; क्योंकि बिना चित्तके शुद्ध हुए उसमें आत्माका प्रकाश नहीं होता। मन शुद्ध हुए बिना न शास्त्र ही समझमें आते हैं और न गुरुके वाक्य, आत्मानुभव होना तो दूरकी बात है।

वसिष्ठजीने कहा है, हे राम! सबसे पहले शास्त्रोंके श्रवणसे, सज्जनोंके सत्संगसे और परम वैराग्यसे मनको पवित्र करो। वैराग्य, शास्त्र और उदारता आदि गुणरूपी यत्नसे आपत्तियोंको मिटानेके लिये अपने-आप ही अपने मनको ऊपर उठाना चाहिये। शास्त्राध्ययन, सज्जनोंके संग और शुभ कर्मोंके करनेसे जिनके पाप दूर हो गये हैं, उनकी बुद्धि दीपकके समान चमकनेवाली होकर सार वस्तुको पहचाननेयोग्य हो जाती है। जब भोगोंकी वासनाएँ त्याग देनेपर, इन्द्रियोंकी कुत्सित वृत्तियोंके रुक जानेपर मन शान्त हो जाता है, तब ही गुरुकी वाणी मनमें प्रवेश करती है, जैसे केशरके जलके छींटे श्वेत और धुले हुए रेशमपर ही लगते हैं। जब मनसे वासनारूपी मल दूर हो गया तभी कमलदण्डमें तीरके समान गुरुके वाक्य हृदयमें प्रवेश करते हैं।

(२) मोक्षके चार द्वारपाल—चित्तशुद्धिके लिये साधकको चार साधनोंका आश्रय लेना चाहिये। (अ) शम, (आ) सन्तोष, (इ) साधुसंग और (ई) विचार। वसिष्ठजीने इन्हें मोक्षके चार द्वारपाल कहा है।

(अ) शम—शमयुक्त सज्जनके भीतर, जो कि सब जीवोंके प्रति मित्रताका भाव रखता है, परम आत्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है। शान्त अर्थात् शमयुक्त उसको कहते हैं, जो अपनी इन्द्रियोंको जीतकर सब प्राणियोंके साथ एक-सा व्यवहार करता है। शमयुक्त अर्थात् शान्त उसको कहते हैं, जो न किसी वस्तुका त्याग करता है और न ही किसी वस्तुकी कामना करता है तथा जिसकी अमृत बरसानेवाली सौभाग्यशाली प्रेमपूर्ण दृष्टि सब लोगोंके प्रति समान भावसे पड़ती है। शमयुक्त पुरुषको पिशाच, राक्षस, दैत्य, व्याघ्र, सर्प और शत्रु कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकते हैं।

(आ) सन्तोष—जिस प्रकार मलिन शीशेमें मुखका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार आशाओंके वशीभूत सन्तोषरहित चित्तमें ज्ञानका प्रकाश नहीं होता। सन्तुष्ट व्यक्तिकी सेवामें महान् ऋद्धियाँ इस प्रकार उपस्थित होती हैं, जिस प्रकार राजाकी सेवामें राजाके सेवक। सन्तुष्ट वह कहलाता है, जो अप्राप्त वस्तुकी वांछाको छोड़कर प्राप्त वस्तुमें समभावसे वर्तता है और जिसको कभी भी खेद और हर्षका अनुभव नहीं होता।

(इ) साधुसंग—सज्जनोंका संग इस लोकमें सन्मार्ग दिखानेवाला और हृदयके अन्धकारको दूर करनेवाला ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश है। जो सत्संगतिरूपी शीतल और निर्मल गंगामें स्नान करता है, उसको किसी तीर्थ, दान, तप और यज्ञसे क्या करना है। जो रागरहित हो गये हों, गत-सन्देह हों और जिनकी हृदयकी गाँठें खुल गयी हैं, ऐसे साधु लोग विद्यमान् हैं तो हे राम! फिर किसी तीर्थपर जानेकी अथवा तप करनेकी क्या आवश्यकता है?

(ई) विचार—बिना विचार किये कोई भी तत्त्व अच्छी तरह नहीं जाना जाता। विचारसे ही तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञानसे आत्मामें शान्ति आती है। मैं कौन हूँ? संसार नामक यह मरणधर्मी दोष कैसे उत्पन्न हो गया? जन्म और मरण क्या है? पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, सत्य-असत्य और बन्धन-मोक्ष क्या है? इन बातोंको न्यायपूर्वक सोचना अर्थात् बिना किसी पूर्वाग्रहके खुले मस्तिष्कसे सोचना 'विचार' कहलाता है। साधक यदि इन साधनोंको अपनी जीवनचर्यामें अपना लेता है तो वह जीवन्मुक्त और विदेह हो जाता है।

पुराणोंमें गृहस्थाश्रमके दिग्दर्शक सूत्र

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय')

सृष्टिके मुकुटमणि मानवके जीवनकी रीढ़ गृहस्थाश्रम ही है। यही समाजकी आधारशिला है। '**गृहाश्रमः पुण्यतमः सर्वदा तीर्थवद् गृहम्।**' (पद्मपुराण उ० खं० ७४।१२) जिस प्रकार सभी नदी-नद समुद्रकी ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमीकी ओर ही प्रधावित होते हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासीके भरण-पोषणकी भूमिका निभानेवाले गृहस्थको 'विश्वम्भर विष्णुका' लघु संस्करण माना जा सकता है। गृहस्थीके संरक्षण-पोषणसे ही जीवन-लताका प्रस्फुटन होता है। सभ्यता और संस्कृतिके विकासमें इस आश्रमकी महती भूमिका है। परिवार ही सामाजिक जीवनकी पहली पाठशाला है। जैसे समस्त जीव वायुका सहारा लेकर जीते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमके सहारे अपना जीवन चलाते हैं (मनुस्मृति ३।६६)। मनुष्य गृहस्थाश्रमका आश्रयणकर अखिल जीवोंका भरण-पोषण करता है और उसी पुण्यके प्रभावसे समस्त वांछित लोकोंको प्राप्त करता है। पितृगण, देवगण, भूतगण, नरगण, कृमि, कीट, पतंग, पशुगण और असुरगण गृहस्थका अवलम्बनकर जीवन-यात्रा-निर्वाह करते हैं—

वत्स गार्हस्थ्यमादाय नरः सर्वमिदं जगत्।
पुष्णाति तेन लोकांश्च स जयत्यभिवांछितान्॥
पितरो मुनयो देवा भूतानि मनुजास्तथा।
कृमिकीटपतङ्गाश्च वयांसि पशवोऽसुराः॥
गृहस्थमुपजीवन्ति ततस्तृप्तिं प्रयान्ति च।

(मार्कण्डेयपुराण २९।३-५)

'**धन्यो गृहस्थाश्रमः**' की उद्घोषणाका यही रहस्य है। इस आश्रमके लोगोंके द्वारा देवताओंका पूजन होता है, अतिथियोंको भोजन मिलता है और पथिकोंको आश्रय मिलता है, इसीलिये यह धन्यतम है। गृहस्थ-जीवन धैर्य, उदारता, त्याग, सत्कर्म और साहसकी परीक्षाकी कसौटी है। गृहस्थाश्रम महाश्रम है। (म० शां० ६०।२)

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिः सेवारताः सेवकाः।
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्ग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

(सूक्ति-सुधाकर)

घर आनन्द-मंगलसे भरपूर हो, बच्चे सद्गुण-सद्बुद्धिसे सम्पन्न हों, पत्नी मनोरम हो, सच्चे मित्र हों, न्याय-वृत्तिसे उपार्जित धन-धान्यकी प्रचुरता हो, अपनी धर्मभार्यामें रति हो, भृत्य आज्ञापालक हों और प्रतिदिन भगवान् और अतिथियोंका पूजन-भजन होता हो—ऐसा गृहस्थाश्रम धन्य है।

चूँकि तीनों आश्रमवाले गृहस्थोंके द्वारा ही प्रतिपालित होते हैं, इसलिये ज्ञान और अन्नदान आदिके द्वारा प्रतिपालन करनेवाला गृहस्थाश्रम ही ज्येष्ठाश्रम है—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

(मनुस्मृति ३।७८)

अस्तु, निगमागमसे लेकर स्मृति, पुराण एवं लौकिक साहित्यपर्यन्त—महाकाव्य, गद्य, नाट्य, गीति और नीति-ग्रन्थोंमें इसकी महिमा गायी गयी है। विशेषतः वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, स्कन्द, पद्म, ब्रह्म, विष्णु, नारद, वराह, कूर्म तथा मार्कण्डेय आदि पुराणोंमें गृहस्थ जीवनको सँवारनेवाले नियमों और इस आश्रममें अनुपालनीय सावधानियोंका विस्तृत उल्लेख मिलता है।

प्रस्तुत निबन्धमें अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ '**महानिर्वाणतन्त्र**' तथा पुराणोंमें उपनिबद्ध गृहस्थाश्रमको धन्य बनानेवाले स्वर्णिम सूत्रोंका उल्लेख किया जा रहा है। इन सारगर्भित सूत्रोंको दृष्टिपथमें रखनेसे जीवनमें आलोक और मधुरिमाका संचार होगा, ऐसी आशा है। महानिर्वाणतन्त्रमें भगवान् शिवद्वारा पार्वतीसे कहा गया है—

गृहस्थको ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति

ही उसके जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। फिर भी उसे अपने कर्मोंका निरन्तर पालन करते रहना चाहिये, अपने कर्मफलोंको ईश्वरको समर्पित कर देना चाहिये, मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिये, दूसरोंके प्रति शठतापूर्ण आचरण भी नहीं करना चाहिये, सदा ही ईश्वर और अतिथिपूजनमें यत्नशील रहना चाहिये। माता-पिताको साक्षात् ईश्वर मानते हुए गृहस्थको उन्हें सब प्रकारसे प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। माता-पिताके प्रसन्न रहनेपर हे जगज्जननी! मेरी-तुम्हारी कृपा ऐसे लोगोंपर सदा बनी रहती है। अपने माता-पिताके समक्ष औद्धत्य, परिहास, क्रोध और चंचलताका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। वह पुत्र वास्तवमें श्रेष्ठ होता है, जो अपने माता-पिताको एक भी कटु शब्द नहीं कहता। माता-पिताके दर्शनकर पुत्रको उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। उनके आनेपर उठ खड़ा होना चाहिये और जबतक वे बैठनेके लिये न कहें तबतक बैठना नहीं चाहिये। जो गृहस्थ अपने माता-पिता, बच्चों, स्त्री, बान्धवों और अतिथिको भोजन कराये बिना स्वयं भोजन कर लेता है, वह इस लोकमें निन्दित होता है और परलोकगमनके पश्चात् नरकका भागी होता है। पिता-माता द्वारा ही यह शरीर उत्पन्न और संवर्द्धित हुआ है, स्वजनोंद्वारा इसे शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त हुआ है, अतः मनुष्यको हजार-हजार कष्ट सहकर भी उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये। यह सनातनधर्म है।[१]

गृहस्थ पुरुषको स्त्रियोंको प्रताडित नहीं करना चाहिये। उन्हें मातृवत् स्नेह-समादरपूर्वक पालन-पोषणसे

सन्तुष्ट रखना चाहिये। यदि पत्नी साध्वी और पतिव्रता है तो घोर कष्टमें भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। अपनी पत्नीमें चित्त समाहितकर परायी स्त्रीका स्पर्श नहीं करना चाहिये। स्पर्श करनेवाला घोर नरकका भागी होता है। ज्ञानी मनुष्यको परस्त्रीके साथ एकान्त स्थानमें शयन या वास नहीं करना चाहिये। स्त्रियोंके सम्मुख अनुचित वाक्य नहीं कहना चाहिये, न अपने शौर्य-पराक्रमकी डींग ही हाँकनी चाहिये। अपनी पत्नीको धन, वस्त्र, प्रेम, श्रद्धा और अमृततुल्य वचनसे प्रसन्न रखना चाहिये। उसे किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं करना चाहिये। हे पार्वति! जो पुरुष अपनी भार्याका प्रेमभाजन बननेमें सफल होता है, वही स्वधर्म-आचरणमें सफल होता है। वही व्यक्ति तुम्हारा प्रिय होता है। चार वर्षोंतक पुत्रोंका लालन-पालन करना चाहिये। सोलह वर्षोंतककी अवस्थापर्यन्त उनके गुण-ज्ञानकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। बीस वर्षसे अधिकका होनेपर उन्हें गृहस्थधर्मके पालनमें प्रवृत्त करना चाहिये। कन्याओंका पालन-पोषण भी इसी प्रकार करना

१-ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थः स्यात् ब्रह्मज्ञानपरायणः। यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत्॥
न मिथ्याभाषणं कुर्यात् न च शाठ्यं समाचरेत्। देवतातिथिपूजासु गृहस्थो निरतो भवेत्॥
मातरं पितरञ्चैव साक्षात् प्रत्यक्षदेवताम्। मत्वा गृही निषेवेत सदा सर्वप्रयत्नतः॥
तुष्टायां मातरि शिवे तुष्टे पितरि पार्वति। तव प्रीतिर्भवेद्देवि परब्रह्म प्रसीदति॥
औद्धत्यं परिहासञ्च तर्जनं परिभाषणम्। पित्रोरग्रे न कुर्वीत यदीच्छेदात्मनो हितम्॥
मातरं पितरं वीक्ष्य नत्वोत्तिष्ठेत् ससम्भ्रमः। हित्वा गृही न भुञ्जीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि॥
वञ्चयित्वा गुरून् बन्धून् यो भुङ्क्ते स्वोदरम्भरिः। इहैव लोके गर्ह्योऽसौ परत्र नारकी भवेत्॥
जनन्या वर्धितो देहो जनकेन प्रयोजितः। स्वजनैः शिक्षितः प्रीत्या सोऽधमस्तान् परित्यजेत्॥
स्वधर्मे महेशानि कृत्वा कष्टशतान्यपि। प्रीणयेत् सततं शक्त्या धर्मो ह्येष सनातनः॥
(म०नि०तं० ८। २३—२६, ३१—३४, ३६-३७)

चाहिये। उनकी शिक्षाके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। तत्पश्चात् उन्हें धन-धान्य-पुरस्सर योग्य वरको समर्पित कर देना चाहिये। इसी प्रकारसे भाइयों, भतीजे-भतीजियों, भगिनेय-भगिनियों, सगोत्रियों, मित्रों और भृत्योंका भी पालन करना चाहिये। उन्हें सब प्रकारसे सन्तुष्ट रखना चाहिये। इसके पश्चात् स्वधर्ममें निरत अपने ग्रामवासियों, अतिथियों, विरक्त संन्यासियों आदिका भी परिपालन करना चाहिये।[१]

गृहस्थको अत्यन्त निद्रा, आलस्य, देहकी सेवा, केश-विन्यास तथा भोजन-वस्त्रमें आसक्तिका त्याग कर देना चाहिये। उसे आहार, निद्रा, भाषण और मैथुन परिमित मात्रामें करना चाहिये। उसे निष्कपट, नम्र, बाह्याभ्यन्तर शौचसम्पन्न होना चाहिये। उसे आलस्यरहित और उद्यमी होना चाहिये। उसे न तो निन्दित व्यक्तियोंको सम्मान देना चाहिये, न सम्माननीय व्यक्तियोंका अपमान करना चाहिये। उसे अपने शत्रुओंके सामने शूर तथा गुरुजनों और बन्धुओंके प्रति विनम्र होना चाहिये। उसे किसी मनुष्यके साथ रहकर उसके सौहार्द, व्यवहार, प्रकृति और प्रवृत्तिका निरीक्षणकर ही उसपर विश्वास करना चाहिये। धर्मज्ञ गृहीको अपना यश, पौरुष, दूसरोंकी बतायी हुई गुप्त बात तथा दूसरोंके प्रति उसने जो उपकार किया है, इन सबका वर्णन एवं प्रचार सबके सम्मुख नहीं करना चाहिये। उसे यत्नपूर्वक विद्या, धन, यश और धर्मका अर्जन करना चाहिये। उसे दुर्व्यसन, कुसंग, मिथ्या-भाषण और परद्रोहका परित्याग कर देना चाहिये। धीर गृहस्थको सत्य, मृदु, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। उसे अपने उत्कर्षकी चर्चा और परनिन्दा नहीं करनी चाहिये। जो व्यक्ति सब लोगोंकी सुविधाके लिये जलाशय खुदवाता है, सड़कोंके किनारे छायादार वृक्ष लगवाता है, पुलों और धर्मशालाओंका निर्माण कराता है, वह तीनों लोकोंको जीत लेता है।[२]

इस प्रकार गृहस्थ जीवनको गरिमा प्रदान करनेवाले, अपने अन्दर जीवनके मौलिक विवेकरत्न छिपाये ये श्लोक नित्य विचारणीय हैं। माता-पिताके प्रति सम्मानभाव, सादा जीवन एवं उच्च विचारके जीवन-दर्शनकी प्रतिष्ठापना, अनासक्त कर्म-साधना, ईश्वरभक्ति, सामाजिक चेतनाकी

१-न भार्यां ताडयेत् क्वापि मातृवत् पालयेत् सदा। न त्यजेत् घोरकष्टेऽपि यदि साध्वी पतिव्रता॥
स्थितेषु स्वीयदारेषु स्त्रियमन्यां न संस्पृशेत्। दुष्टेन चेतसा विद्वान् अन्यथा नारकी भवेत्॥
विरले शयनं वासं त्यजेत् प्राज्ञः परस्त्रिया। अयुक्तभाषणञ्चैव स्त्रियं शौर्यं न दर्शयेत्॥
धनेन वाससा प्रेम्णा श्रद्धयामृतभाषणैः। सततं तोषयेत् दारान् नाप्रियं क्वचिदाचरेत्॥
यस्मिन् नरे महेशानि तुष्टा भार्या पतिव्रता। सर्वो धर्मः कृतस्तेन भवती प्रिय एव सः॥
चतुर्वर्षावधि सुतान् लालयेत् पालयेत् सदा। ततः षोडशपर्यन्तं गुणान् विद्याञ्च शिक्षयेत्॥
विंशत्यब्दाधिकान् पुत्रान् प्रेरयेत् गृहकर्मसु। ततस्तांस्तुल्यभावेन मत्वा स्नेहं प्रदर्शयेत्॥
कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः। देया वराय विदुषे धनरत्नसमन्विता॥
एवं क्रमेण भ्रातृंश्च स्वसृभ्रातृसुतानपि। ज्ञातीन् मित्राणि भृत्यांश्च पालयेत्तोषयेद् गृही॥
ततः स्वधर्मनिरतानेकग्रामनिवासिनः। अभ्यागतानुदासीनान् गृहस्थः परिपालयेत्॥
(म०नि०तं० ८। ३९—४२, ४४, ४५—४९)

२-निद्रालस्यं देहयत्नं केशविन्यासमेव च। आसक्तिमशने वसने नातिरिक्तं समाचरेत्॥
युक्ताहारो युक्तनिद्रो मितवाङ्मितमैथुनः। स्वच्छो नम्रः शुचिर्दक्षो युक्तः स्यात् सर्वधर्मसु॥
शूरः शत्रौ विनीतः स्यात् बान्धवे गुरुसन्निधौ। जुगुप्सितान् न मन्येत नावमन्येत मानिनः॥
सौहार्दं व्यवहारांश्च प्रवृत्तिं प्रकृतिं नृणाम्। सहवासेन तर्कैश्च विदित्वा विश्वसेत्ततः॥
स्वीयं यशः पौरुषञ्च गुप्तये कथितं च यत्। कृतं यदुपकाराय धर्मज्ञो न प्रकाशयेत्॥
विद्याधनयशोधर्मान् यतमान उपार्जयेत्। व्यसनं चासतां सङ्गं मिथ्याद्रोहं परित्यजेत्॥
सत्यं मृदुप्रियं धीरो वाक्यं हितकरं वदेत्। आत्मोत्कर्षं तथा निन्दां परेषां परिवर्जयेत्॥
जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि। सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन लोकत्रयं जितम्॥
(म०नि०तं० ८।५१—५४, ५६—५८, ६२-६३)

अभिवृद्धि, व्यावहारिक सतर्कतापर जोर, वाक्संयम, आहारसंयम, भाइयों, पुत्रों, बान्धवों, आश्रितों—सबके प्रति सद्व्यवहार-निर्वाह, अतिथि-सेवा, सत्यनिष्ठा, परोपकार-परायणता-जैसे जीवन-मूल्योंसे विभूषित गृहस्थ जनक, अश्वपति, रघु, श्रीराम, शिवि, दधीचिप्रभृति महामानवोंकी तरह परमादरणीय पद प्राप्त कर सकता है।

भगवान् शिवद्वारा उपदिष्ट गृहस्थ-जीवनको सफलता प्रदान करनेवाले इन सूत्रोंका निदर्शन पुराण-वाङ्मयमें भी यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलता है। यथा—

ब्रह्मपुराणके अनुसार—गृहस्थको श्राद्धके द्वारा पितरों, यज्ञद्वारा देवताओं, अन्नद्वारा अतिथियों, स्वाध्यायद्वारा मुनियों, सन्तानोत्पादनद्वारा प्रजापति, बलिवैश्वदेवद्वारा सम्पूर्ण भूतों और सत्यवचनके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌का पूजन करना चाहिये। मनको वशमें करके गृहस्थको अपनी आयका एकभाग (चतुर्थांश) पारलौकिक कल्याणके लिये संगृहीत करना चाहिये। $^1/_2$ भागसे नित्य, नैमित्तिक कर्तव्योंका निर्वाह करना चाहिये और $^1/_4$ भागको मूल पूँजीके रूपमें रख लेना चाहिये।

कूर्मपुराणानुसार—गृहस्थको सतत क्षमाशील और दयालु होना चाहिये। उसे अपनी सम्पत्तिके पाँच विभागकर उसका सदुपयोग—धर्म, यश, सम्पत्ति-वृद्धि, भोग और स्वजनपोषणके निमित्त करना चाहिये। '**विभागशीलः सततं क्षमाशीलो दयालुकः। गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्॥**' (कूर्मपु० उ०वि० १६।२६)

स्कन्दपुराणके अनुसार—जो न्यायसे धनका उपार्जन करता है, तत्त्वज्ञानमें स्थित है, अतिथियोंको प्यार करनेवाला है तथा श्राद्धकर्ता और सत्यवादी है, वह गृहस्थ होकर भी इस जगत्‌में मुक्त हो जाता है। गृहस्थपुरुष दीनों, अन्धों, दरिद्रों एवं याचकोंको विशेषरूपसे दान देकर गृहकर्मोंका अनुष्ठान करता रहे तो कल्याणका भागी होता है। (स्कन्दपु० काशीखण्ड-पूर्वार्ध अ० ४०)

मार्कण्डेयपुराणानुसार—गृहस्थको स्वीय कर्मद्वारा न्यायानुसार अर्थ उपार्जितकर शक्त्यनुरूप यथाविधि पितर, देवता और अतिथिगणोंको तृप्त करना एवं आश्रितजनोंका पोषण करना चाहिये। भृत्य, पुत्र, दीन, अन्ध, पतित और पशु-पक्षियोंका अपनी शक्तिके अनुसार अन्नदानद्वारा पालन करना चाहिये। ऋतुकालमें अभिगमन और यथाशक्ति पंचयज्ञका अनुष्ठान करना—यह गृहस्थका धर्म है। विभवके अनुसार सादर पितृगण, देवगण, अतिथिगण और ज्ञातिगणको अर्पणकर स्वयं भृत्यगणसहित अवशिष्ट भोजन करना चाहिये। (मा०पु० २५।१९-२२)

भविष्यपुराणके अनुसार—गृहस्थोंको वैवाहिक अग्निमें विधिपूर्वक गृह्यकर्मोंको करना चाहिये तथा पंच महायज्ञोंको सम्पन्न करना चाहिये। ये पंच महायज्ञ हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) दैवयज्ञ, (४) भूतयज्ञ और (५) अतिथियज्ञ।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतस्तथाऽन्योऽतिथिपूजनम्॥

(भविष्यपु०, ब्राह्मपर्व १६।७)

अध्ययन-अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पणादि कर्म पितृयज्ञ है, देवताओंके लिये हवनादिकर्म दैवयज्ञ है, बलिवैश्वदेवकार्य भूतयज्ञ है तथा अतिथि-अभ्यागतोंका स्वागत-सत्कार अतिथियज्ञ है। अतः '**सर्वेषां पालने गृही**' (शुक्रनीति—४।३४१)-की महत्त्वपूर्ण भूमिकाको दृष्टिपथमें रखते हुए गृहस्थको सदैव सावधान रहना चाहिये, अन्यथा मनुष्य-समाजकी वेलि ही सूख जायगी। धर्म मिट जायगा। '**शास्त्रदृष्टपरो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः॥**' (भीष्मवचन शान्तिप० २३।२) शास्त्रोपदिष्ट परमधर्म गृहस्थाश्रमपर टिका है। हमें इस वसिष्ठवचनको नहीं भूलना चाहिये—

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः॥

(वसिष्ठस्मृति अ० ८)

जिस प्रकार माताके सहारे ही सभी जीव-जन्तु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थके आश्रयसे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी सबका जीवन-यापन होता है। अवतारी भगवान् भी गृहस्थ माता-पिताकी गोदमें खेलते हैं। इसीलिये गृहस्थाश्रमको धन्य कहा गया है।

महाभारतमें प्रतिपादित आदर्श जीवनचर्या

(डॉ० श्रीविनोदकुमारजी शर्मा, एम०ए० (हिन्दी-संस्कृत), प्रभाकर (संगीत), पी-एच०डी०)

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥[१]

महर्षि वेदव्यासकी यह उक्ति महाभारत महाकाव्यकी सांस्कृतिक महत्ताके विषयमें सर्वथा सार्थक है। यह महाग्रन्थ कौरवों तथा पाण्डवोंके युद्धका वर्णनमात्र ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु हिन्दूधर्म, संस्कृति-सभ्यता, शिक्षा एवं दर्शनका सम्पूर्ण चित्र भी उपस्थित करता है। वस्तुत: शतसाहस्त्री महाभारतसंहिता भारतीय चिन्तनका विराट् विश्वकोष है, इसीलिये 'महाभारत' इसकी अन्वर्थ संज्ञा है—**'महत्त्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।'**

महाभारतमें मनुष्यको बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है—**'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'**[२] इसमें कहा गया है कि षडंगवेद एवं धर्मशास्त्र मानवके श्रेयका निदर्शन करते हैं। मानवका श्रेय:पथ प्रदर्शित करना ही वेद एवं धर्मशास्त्रोंका लक्ष्य है।[३]

महाभारतमें मानवकी आदर्श जीवनचर्याका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।[४] प्रात: शय्यात्यागसे लेकर रात्रिको पुन: शय्याग्रहणतक मनुष्यको क्या-क्या करना चाहिये, यह विस्तारसे निर्दिष्ट किया गया है। महाभारतमें प्रतिपादित आदर्श जीवनचर्या यहाँ कतिपय बिन्दुओंके आधारपर संक्षेपमें प्रस्तुत है।

१-श्रद्धासहित शास्त्रोक्त नियमोंका पालन करना चाहिये। जो व्यक्ति न तो शास्त्रोंपर श्रद्धा करता है और न महापुरुषोंका अनुसरण करता है, वह इहलोक-परलोक कहीं भी श्रेय:लाभ नहीं कर सकता।[५] श्रद्धाके बिना किसी भी अनुष्ठानका फल नहीं मिलता। अश्रद्धा पापका मूल है और श्रद्धा पापसे छुटकारा दिलाती है।[६] मनके भाव यदि निर्मल न हों तो अग्निहोत्र, वनवास, व्रत-उपवास सब व्यर्थ हैं।[७]

२-शास्त्रविहित प्रशंसनीय आचरण ही सदाचार कहलाता है। अपने आचरणद्वारा व्यक्ति दीर्घजीवी हो सकता है तथा इहलोक-परलोकमें धन, ऐश्वर्य और कीर्ति प्राप्त कर सकता है।[८] दुराचारी मनुष्य दु:खी तथा अल्पायु होता है। अत: उन्नतिकी अभिलाषा करनेवाले मनुष्यको सर्वदा शुद्ध आचरणका पालन करना चाहिये।

३-महाभारतमें अनेक स्थलोंपर आचार्यकी पूजा तथा सेवाका उपदेश दिया गया है। इस विषयमें कचकी उक्ति उल्लेखनीय है—जो मेरे कानोंमें अमृत घोलते हैं, मेरी मूर्खताओंको दूर करते हैं, उन्हें मैं माता-पिता समझता हूँ। जो विद्वान् अमूल्यनिधिस्वरूप वेदके दाता आचार्यकी पूजा नहीं करता, वह अप्रतिष्ठित होता है और नरकमें जाता है।[९]

४-गुरुजन तीर्थके समान पूज्य होते हैं—**'तीर्थानां गुरवस्तीर्थम्'**[१०] गुरुजनोंमें माता-पिताको महागुरु कहा जाता है। पुत्र धार्मिक, यशस्वी तथा विद्वान् हो तो माता-पिताको असीम आनन्दका अनुभव होता है। जो सन्तान माता-पिताकी आज्ञाका पालन करती है, उनकी आशा पूर्ण करती है, उसका कल्याण होता है। अत: मन, वचन तथा

---

१. महाभारत आदिपर्व ६२।५३
२. महाभारत शान्तिपर्व २९९।२०
३. धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडङ्गानि नराधिप। श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मण:॥ (महाभारत शान्तिपर्व २९७।४०)
४. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ११०, १९३ तथा २९४। अनुशासनपर्व अध्याय १०४, १०६, १३५, १४५
५. यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि। नैव तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चय:॥ (महाभारत, वनपर्व)
६. अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी। (महाभारत शान्तिपर्व)
७. अग्निहोत्रं वने वास: शरीरपरिशोषणम्। सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मल:॥ (महाभारत वनपर्व २००।९७)
८. आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्। आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुष: प्रेत्य चेह च॥ (महाभारत अनु० १०४।६)
९. य: श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेत्। (महाभारत आदिपर्व ७६।६३)
१०. महाभारत अनु० १६२।४७

कायासे माता-पिताकी सेवा करना सन्तानका परम कर्तव्य है।[१]

५-महाभारतमें गुरुजनोंके अभिवादनकी गणना दैनिक कृत्योंमें की गयी है। कहा गया है कि कल्याणके इच्छुक व्यक्तिको प्रातः शय्यात्याग करके माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये।[२] यात्रा आरम्भ करने[३] तथा गृहप्रवेशके पूर्व[४] भी गुरुजनोंका अभिवादन करना चाहिये। गुरुजनोंके चरणोंमें मस्तक झुकाकर तथा चरणस्पर्श करके प्रणाम किया जाना चाहिये।

६-तीर्थाटनसे यज्ञयागादिका फल प्राप्त होता है[५] तथा अन्तःकरण शुद्ध होता है। यथोक्त फल पानेके लिये चित्तकी निर्मलता परमावश्यक है। पवित्र अन्तःकरण सबसे बड़ा तीर्थ है।[६] जिसकी इन्द्रियाँ और मन संयत हों, जो दुर्व्यसनी न हो, दम्भसे रहित हो, अक्रोधी, सत्यनिष्ठ, दयालु और भक्तिपरायण हो, उसे ही तीर्थाटनका फल प्राप्त होता है।[७]

७-सन्ध्या होनेपर हर प्रकारके वैषयिक कार्यसे विरति ले लेनी चाहिये।[८]

८-उत्तर या पश्चिमकी ओर सिर करके नहीं सोना चाहिये। पूर्व या दक्षिणकी ओर सिर करके सोना चाहिये।[९] टूटी खाटपर नहीं सोना चाहिये।

९-पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके श्मश्रुकर्म करना—हजामत बनाना चाहिये। इससे आयुमें वृद्धि होती है।[१०]

१०-सूर्योदयसे पूर्व ही शय्या त्याग देनी चाहिये।[११] ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या त्यागकर स्कन्द, विष्णु, अम्बिका आदि देवों, यवक्रीत, अर्वावसु, परावसु, काक्षीवान्, औशिज आदि राजाओं एवं वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, गौतम, भरद्वाज, व्यास, विश्वामित्र आदि महर्षियोंका स्मरण करना चाहिये। जो ब्राह्ममुहूर्तमें इनका स्मरण करता है, उसका कभी अमंगल नहीं होता।[१२]

११-प्रातःकाल घृत, दही, रोचना आदि मांगलिक द्रव्योंका स्पर्श करना चाहिये; क्योंकि इनका स्पर्श शुभ होता है।[१३]

१२-राजमार्गपर, चरागाहमें, खेतमें, जलमें, राखके ढेरमें एवं गाँवके अतिनिकट मलमूत्रत्याग नहीं करना चाहिये।[१४] दिनमें उत्तरकी ओर मुख करके तथा रात्रिमें दक्षिणकी ओर मुख करके मलमूत्रत्याग नहीं करना चाहिये। सूर्यकी ओर मुख करके मलमूत्रविसर्जन अत्यन्त अनुचित है।[१५]

१३-शौच आदि करके भलीभाँति पादप्रक्षालन तथा आचमन करना चाहिये। कहींसे चलकर आनेके बाद भी पैर अवश्य धोने चाहिये। कहा गया है कि पादप्रक्षालन न करनेके कारण ही राजा नल कलिके द्वारा सताये गये थे।[१६]

---

१. महाभारत आदिपर्व ८५। २५—३०
२. मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्॥ (महाभारत अनु० १०४। ४३)
३. महाभारत आदिपर्व १४५। १
४. महाभारत आदिपर्व ११३। ४३
५. तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते॥ (महाभारत वनपर्व ८२। १७)
६. तीर्थानां हृदयं तीर्थम्। (महाभारत शान्तिपर्व १९३। १८)
७. यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥ (महाभारत वनपर्व ८२। ९)
८. सन्ध्यायां न स्वपेद् राजन् विद्यां न च समाचरेत्॥ (महाभारत अनु० १०४। ११८)
९. उदक्शिरा न स्वपेत् तथा प्रत्यक्शिरा न च। प्राक्शिरास्तु स्वपेद्विद्वानथवा दक्षिणाशिराः॥ (महाभारत अनु० १०४। ४८)
१०. प्राङ्मुखः श्मश्रुकर्माणि कारयेत् सुसमाहितः। उदङ्मुखो वा राजेन्द्र तथायुर्विन्दते महत्॥ (महाभारत अनु० १०४। १२८)
११. न च सूर्योदये स्वपेत्। (महाभारत शान्तिपर्व १९३। ५)
१२. महाभारत अनु० १५०। २८—६०
१३. कल्य उत्थाय यो मर्त्यः स्पृशेद् गां वै घृतं दधि। (महाभारत अनु० १२६। १८)
१४. नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके। (महाभारत अनु० १०४। ५४)
१५. महाभारत अनु० १०४। ६१, ७६
१६. कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्त नैषधः। अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत्। (महाभारत वनपर्व ५९। ३)

१४-मौन धारण करके शास्त्रविहित दातौनसे प्रातःकाल दन्तधावन करना चाहिये।[1]

१५-दन्तधावनके उपरान्त ही स्नान करनेका नियम है। मध्याह्नके समय पुनः स्नान करना चाहिये। नदीमें स्नान करना उत्तम माना गया है।[2] नग्न होकर तथा रात्रिमें स्नान करना निषिद्ध है। महाभारतमें स्नानके दस गुण बताये गये हैं—बलवृद्धि, रूप, स्वर एवं वर्णकी विशुद्धि, सुस्पर्श तथा सुगन्ध, विशुद्धि, श्री तथा सुकुमारताकी वृद्धि एवं नारीका प्रियत्व।[3]

१६-स्नानके अनन्तर ही सन्ध्या-उपासना, तर्पण आदि कृत्य करने चाहिये।[4] ऋषि-मुनि अपना अधिकांश समय नित्य सन्ध्या-वन्दनमें ही व्यतीत करते थे, इसलिये वे दीर्घजीवी होते थे।[5]

१७-प्रातः एवं सान्ध्यकर्मोंमें होम भी नित्यकर्म है। शास्त्रविधिसे अग्न्याधान करना द्विजातिका आवश्यक कर्तव्य है। अग्निकी परिचर्यासे उत्तम गति प्राप्त होती है। अग्निहोत्र यज्ञ ही समस्त वैदिक कृत्योंका मूल है।[6]

१८-देवपूजाके लिये पूर्वाह्न उत्तम समय है।[7] सन्ध्याके अनन्तर देवपूजा करनी चाहिये। देवपूजा किये बिना कहीं भी यात्रापर नहीं जाना चाहिये। केशप्रसाधन, अंजन तथा अनुलेपन आदि भी पूर्वाह्नमें ही कर लेना चाहिये।[8]

१९-महाभारतके अनुसार उपासना जीवनचर्याका अभिन्न अंग है। उपासना मुक्तिलाभका उपाय है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—जो मेरी उपासना करते हैं, मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसारसागरसे उनका उद्धार करता हूँ।[9] जप उपासनाका प्रधान अंग है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार यज्ञोंमें जप ही श्रेष्ठ है।[10] तीनों सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं अर्चना नित्यकर्मोंमें गण्य हैं तथा बाह्य उपासनाके अंग हैं।[11]

२०-प्रतिदिन पितरोंका स्मरण करना और उनके लिये श्राद्ध-तर्पण करना प्रत्येक सन्तानका कर्तव्य है।[12] श्राद्धतर्पणके द्वारा पितृ-ऋणका परिशोधन होता है[13] तथा आत्मतुष्टि मिलती है।

२१-गृहस्थके लिये प्रतिदिन पंचयज्ञ करनेका विधान है। अध्ययन-अध्यापनको ब्रह्मयज्ञ, तर्पणको पितृयज्ञ, होमको देवयज्ञ, सभी प्राणियोंके लिये भोज्यदानको भूतयज्ञ और अतिथिसत्कारको नृयज्ञ कहा गया है। प्रत्येक गृहस्थको पंचयज्ञोंका अनुष्ठान करनेका आदेश दिया गया है। जो गृहस्थ पंचयज्ञोंका अनुष्ठान नहीं करता, वह इहलोक-परलोकमें होनेवाले कल्याणसे वंचित रहता है।[14]

२२-भोजन करनेसे पहले बलि, भोज्यदान तथा बलिवैश्वदेव विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। यज्ञके द्वारा देवता, आतिथ्यसे मनुष्य तथा बलिकर्मद्वारा सर्वभूतोंकी तुष्टि की जाती है।[15] अन्न पकानेके उपरान्त उस अन्नसे अग्निमें यथाविधि वैश्वदेवबलि देनी चाहिये।

---

१. दन्तकाष्ठं तु यः खादेदमावास्यामबुद्धिमान्। (महाभारत अनु० १२७।४)
२. उपस्पृश्य नदीं तरेत्। (महाभारत शान्तिपर्व १९३।४)
३. गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते। (महाभारत उद्योगपर्व ३७।३३)
४. सायं प्रातर्जपेत् सन्ध्यां तिष्ठन् पूर्वां तथेतराम्। (महाभारत शान्तिपर्व १९३।५)
५. ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन्॥ (महाभारत अनु० १०४।१८)
६. आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तमः। (महाभारत शान्तिपर्व २९२।२०)
७. पूर्वाह्ण एव कार्याणि देवतानां च पूजनम्। (महाभारत अनु० १०४।२३)
८. प्रसाधनञ्च केशानामञ्जनम्.... पूर्वाह्ण एव कार्याणि। (महाभारत अनु० १०४।२३)
९. अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। (महाभारत भीष्मपर्व ३६।६-७)
१०. यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। (महाभारत भीष्मपर्व ३४।२५)
११. महाभारत अनु० १३०।२०
१२. नदीमासाद्य कुर्वीत पितृणां पिण्डतर्पणम्॥ (महाभारत अनु० ९२।१६)
१३. स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा। पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च॥ (महाभारत शान्तिपर्व २९२।१०)
१४. पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे। तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः॥ (महाभारत शान्तिपर्व १४६।७)
१५. सदा यज्ञेन देवाश्च सदातिथ्येन मानुषाः। (महाभारत अनु०)

२३-बलिकर्मके अनन्तर द्वारपर स्थित द्विजको भिक्षा देनेका नियम है। ब्राह्मणकी अनुपस्थितिमें भोज्यका अग्रभाग अग्निको अर्पित कर देना चाहिये।[१]

२४-उपर्युक्त विधिसे अन्न निवेदित करनेके उपरान्त जब परिवारके सभी सदस्य भोजन कर चुकें तब गृहस्थको अन्न ग्रहण करना चाहिये।[२]

२५-आहारके साथ मनका अद्भुत सम्बन्ध है। मनपर भोज्य पदार्थोंका विशेष प्रभाव पड़ता है। अतः जो खाद्य वस्तुएँ आयु, सत्त्व, आरोग्य, बल, सुख एवं प्रीति-वर्धक हों, जो स्वादिष्ट, रसीली और मनपसन्द हों—ऐसी वस्तुओंका ही सेवन सात्त्विक लोगोंको करना चाहिये।[३]

आहारमें संयम रखनेसे पापका क्षय होता है।[४] शरीर स्वस्थ रहता है तथा व्याधियोंसे छुटकारा मिलता है। अतः शरीर और मनके अनुकूल सात्त्विक आहार ही ग्राह्य है। तामस भोजन सर्वथा त्याज्य है।

भूख लगनेपर भोजन स्वादिष्ट लगता है,[५] अतः साधारणतया दिनमें एक बार तथा रातको एक बार इस प्रकार दो बार भोजन किया जा सकता है।[६]

२६-कर्मका फल अवश्यम्भावी होता है, अतएव विधिपूर्वक यज्ञयागादिका अनुष्ठान करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है।[७] अनुष्ठान किये बिना चित्तशुद्धि नहीं होती।

२७-समस्त व्रतोंमें अनशन ही प्रधान व्रत है। प्रत्येक व्रत, अनुष्ठान आदिकी सिद्धिके लिये दक्षिणा देनी चाहिये। यज्ञ-यागादि दक्षिणाके बिना पूर्ण नहीं होते। दक्षिणाके रूपमें भूमि, गाय, कंचन आदि देनेका विधान है।[८] ब्राह्मणसे तत्त्वकथा, पुराणादिका श्रवण करनेपर भी दक्षिणा देनेका नियम है।[९]

महाभारतमें कहा गया है कि जो व्यक्ति शास्त्रविहित जीवनचर्याका पालन करता है, वह सुखी एवं स्वस्थ जीवनके शतवर्ष व्यतीत करता है[१०] तथा मृत्युके अनन्तर उत्तम गतिको प्राप्त होता है। अतः शास्त्रोक्त समस्त आचारोंका पालन जन-जनके लिये सर्वथा उचित एवं कल्याणकारी है।

---

१. एवं कृत्वा बलिं सम्यग् दद्याद् भिक्षां द्विजाय वै। अलाभे ब्राह्मणस्याग्नावग्रमुद्धृत्य निक्षिपेत्॥ (महाभारत अनु० ९७।१५)
२. गृहस्थः पुरुषः कृष्ण शिष्टाशी च सदा भवेत्। (महाभारत अनु० ९७।२१)
३. आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (महाभारत भीष्म० ४१।८)
४. आहारनियमेनास्य पाप्मा शाम्यति राजसः॥ (महाभारत शान्तिपर्व २१७।१८)
५. क्षुत् स्वादुतां जनयति। (महाभारत उद्योगपर्व ३४।५०)
६. सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्। (महाभारत शान्तिपर्व १९३।१०)
७. महाभारत वनपर्व ३१।३८-३९
८. वेदोपनिषदश्चैव सर्वकर्मसु दक्षिणाः। सर्वक्रतुषु चोद्दिष्टं भूमिर्गावोऽथ काञ्चनम्॥ (महाभारत अनु० ८४।५)
९. महाभारत शान्ति ३१८।९६
१०. शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च जायते। (महाभारत अनु० १०४।१)

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रतिपादित जीवनचर्या

(१) कामनाका त्याग करें—(१) किसी भी प्रकारकी सांसारिक इच्छा नहीं रखना। (२) संयोगजन्य सुखकी आशा नहीं रखना। (३) किसी भी वस्तु, व्यक्तिसे सुख नहीं लेना। (४) 'ऐसा होना चाहिये' और 'ऐसा नहीं होना चाहिये'—इसीमें सब दुःख भरे हुए हैं। (५) मुझे कुछ नहीं चाहिये, ऐसा भाव रखना। (६) अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल जितनी वस्तु भी हमारी और हमारे लिये नहीं है। (७) मनमें किसी वस्तुकी चाहना रखना ही दरिद्रता है। (८) धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका संयम करें। (९) अपने आपसे अपने आपमें सन्तुष्ट रहें।

(२) भगवान्‌को याद करें—(१) भगवन्नामका जप करें, कीर्तन करें। (२) सत्-शास्त्रों—श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामचरितमानस आदि का स्वाध्याय करें। (३) थोड़ी-थोड़ी देरमें कहते रहें—'हे नाथ! हे मेरे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।' (४) शुद्ध-अशुद्ध प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌को याद करना। (५) भगवान्‌के गुण, प्रभाव एवं लीला-रहस्योंको भक्तोंसे कहना-सुनना।

(३) अपने कर्तव्यको कुशलतापूर्वक करें—(१) अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ साधक परमसिद्धि अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है। (२) कर्मके द्वारा परमात्माकी पूजा होती है। (३) कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। यदि कर्तव्य-कर्मको कुशलतापूर्वक नहीं करेंगे तो शरीरका निर्वाह भी ठीक नहीं होगा। (४) अपने स्वभावको शुद्ध बनानेके समान कोई उन्नति नहीं है। (५) कर्तव्य-कर्म करनेमें सावधानी रखनी चाहिये तथा फलकी प्राप्ति जो भी हो, उसमें प्रसन्न रहना चाहिये। (६) साधक सम्पूर्ण कर्मोंको करता हुआ भी भगवान्‌की कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है, अतः भगवान्‌का आश्रय लेकर कर्म करें।

(४) दूसरोंकी भलाई करें—(१) अपनी जीवन-शैली इस प्रकारकी हो, जिसमें दूसरोंका भला हो, किसीको कष्ट न हो। (२) दूसरोंको सुख कैसे मिले? यह भाव महान् है। (३) वस्तुका सबसे बढ़िया उपयोग है—दूसरोंके हितमें लगाना। (४) श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो दूसरोंके हितमें लगा हुआ है। (५) अपने कर्तव्यका पालन करना तथा दूसरेके अधिकारोंकी रक्षा करना कल्याणकारी आचरण है।

(५) भगवान्‌से अपनापन रखें—(१) एक भगवान् ही मेरे अपने हैं। दूसरा कोई मेरा अपना नहीं है। *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'* यह 'दूसरो न कोई' विशेष बात है। (२) भगवान्‌से अपनापन सबसे सुगम और श्रेष्ठ साधन है। (३) परमात्माके आश्रयसे बढ़कर दूसरा कोई आश्रय नहीं है। (४) यदि कोई अतिशय दुराचारी भी एक निश्चय कर ले कि 'मुझे तो परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है।' तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा परमात्म-प्राप्तिरूपी शान्तिको प्राप्त हो जाता है। (५) भगवान्‌के शरण होना अर्थात् शरणागति सभी साधनोंका सार है। (६) भगवान्‌की कृपासे व्यक्ति सम्पूर्ण विघ्नोंसे तर जाता है, अतः भगवान्‌का आश्रय (सहारा) सभी साधनोंका सार है।

(६) परिवर्तनशील स्थितियोंमें समबुद्धि रखें—(१) सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, शत्रु-मित्र, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सफलता-असफलता (सिद्धि-असिद्धि), निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण—सभी स्थितियाँ परिवर्तनशील हैं अर्थात् आने-जानेवाली और अनित्य हैं। इनसे विचलित न होवे, इन्हें सहन करे। (२) स्त्री, पुत्र, मकान आदि क्षणभंगुर तथा परिवर्तनशील हैं, अतः इनमें एकात्म बुद्धि (घनिष्ठता) नहीं रखना। (३) मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धिवाला रहे। (४) कूटकी तरह निर्विकारयुक्त रहें। (५) अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त हो।

(७) सबमें भगवान्‌के दर्शन करें—(वासुदेवः सर्वम्) (१) सब कुछ परमात्मा ही है। 'धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा (संसारसे) धीरे-धीरे उपराम हो जाय और मन (बुद्धि)-को परमात्म स्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

(२) बाहर-भीतरसे चुप। जहाँ आप हैं, वहाँ पूरे-के-पूरे हैं। कुछ भी इच्छा मत करो। बाहर-भीतर चुप हो

जाओ! चुप हो जाओ! चुप होनेपर आपकी स्थिति स्वतः परमात्मामें होगी।

(८) भक्तियोगीके लक्षण अपनायें—(१) सब प्राणियोंमें द्वेषभावरहित, मित्रभाववाला, दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील (२) निरन्तर सन्तुष्ट योगी, शरीरको वशमें किये हुए, दृढ़ निश्चयवाला, मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला, (३) जिससे कोई प्राणी उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता, जो स्वयं किसी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय और क्रोध (हलचल)-से रहित है। (४) जो अपेक्षा (आवश्यकता)-से रहित है। बाहर-भीतरसे पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथासे रहित, सभी आरम्भों अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका सर्वथा त्यागी (५) जो न कभी हर्षित होता है, जो न द्वेष करता है, जो न कामना करता है। जो शुभ-अशुभ कर्मोंसे ऊँचा उठा हुआ (रागद्वेषसे रहित) है। (६) जो शत्रु-मित्रके पक्षमें सम है। शीत-उष्ण (शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख (मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता)-में सम, आसक्तिरहित है। (७) जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील, जिस किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होने, न होनेमें) सन्तुष्ट, रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममता, आसक्तिसे रहित तथा स्थिरबुद्धिवाला है। उक्त ३३ लक्षण भक्तियोगीके हैं, इन लक्षणोंके पालनका प्रयास करनेवाला भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है।

(९) शरीर तथा आत्माको अलग-अलग समझें—(१) शरीर नाशवान् तथा परिवर्तनशील है जबकि आत्मा अजर, अमर तथा अविनाशी है। शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता है। शरीरके नाशको लेकर शोक न करें। (२) नाशवान् शरीरसे संसारकी सेवा करनी है तथा अविनाशी आत्माका परमात्मासे अपनापन करना है, जो स्वतः सिद्ध है। नष्ट होते हुए शरीरोंमें अविनाशी समरूप परमात्माको देखना है। (३) सब संसार नाशकी तरफ जा रहा है। परिवर्तन ही परिवर्तन हो रहा है। विचार करें—क्या ये दिन सदा ऐसे ही रहेंगे? नहीं रहेंगे। केवल एक परमात्मा ही अपने हैं, शेष सभी नाशवान् हैं। (४) एकान्तमें रहनेका स्वभाव, जन-समुदायमें प्रीतिका न होना, इन्द्रियोंका विषयोंसे वैराग्य होना, मनका वशमें होना, आसक्तिरहित होना, अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना, गुरुकी सेवा, परमात्मामें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना आदि लक्षण अपनायें।

(१०) भगवान्‌को पुरुषोत्तम एवं सबका मूल कारण समझें—(१) भगवान् ही संसारमात्रके प्रभव (मूल कारण) हैं और भगवान्‌से ही सारा संसार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है। (२) भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है, इसी हेतुसे जगत्‌का (विविध प्रकारसे) परिवर्तन होता है। (३) भगवान् अपने किसी एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हैं अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड भगवान्‌के किसी एक अंशमें है। (४) भगवान्‌की कृपासे व्यक्ति सम्पूर्ण विघ्नोंसे तर जाता है।

(११) दैवी सम्पत्ति अपनायें—(१) मेरे ही दृढ़ भरोसे अभय रहना। (२) अन्तःकरणमें मेरेको प्राप्त करनेका एक दृढ़ निश्चय। (३) मुझे तत्त्वसे जाननेके लिये हरेक परिस्थितिमें सम रहना। (४) सात्त्विक दान देना। (५) इन्द्रियोंको वशमें रखना। (६) अपने कर्तव्यका पालन करना। (७) शास्त्रोंके सिद्धान्तोंको जीवनमें उतारना। (८) कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहन करना। (९) शरीर, मन तथा वाणीकी सरलता। (१०) तन-मन और वाणीसे किसी भी प्राणीको कभी किंचिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचाना। (११) जैसा देखा, सुना और समझा वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना। (१२) मेरा स्वरूप समझकर किसीपर भी क्रोध न करना। (१३) संसारकी कामनाका त्याग। (१४) अन्तःकरणमें रागद्वेषजनित हलचलका न होना। (१५) चुगली न करना। (१६) प्राणियोंपर दया करना। (१७) सांसारिक विषयोंमें न ललचाना। (१८) अन्तःकरणकी कोमलता। (१९) अकर्तव्य करनेमें लज्जा। (२०) चपलताका अभाव (उतावलापन न होना)। (२१) शरीर और वाणीमें तेज (प्रभाव) होना। (२२) अपनेमें दण्ड देनेकी सामर्थ्य होनेपर भी अपराधीके अपराधको क्षमा करना। (२३) हरेक परिस्थितिमें धैर्य रखना। (२४)

शरीरकी शुद्धि। (२५) बदला लेनेकी भावना न होना तथा (२६) अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना—ये २६ लक्षण दैवी सम्पत्तिके हैं। इसके विपरीत दम्भ, अविवेक आदि आसुरी सम्पत्तिके लक्षण हैं। आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली है और दैवी सम्पत्ति मुक्त करनेवाली है। अतः हमें अपनी चर्यामें दैवी सम्पत्तिका आश्रयण ग्रहण करना चाहिये।

गीताजीका माहात्म्य—श्रीमद्भगवद्गीताको पढ़ने, सुनने तथा सुनानेसे भगवत्कृपा बरसती है तथा जो भगवान्‌के भक्तोंमें प्रचार करता है, वह भगवान्‌का अतिशय प्रिय होता है। गीताजीका स्वाध्याय करना ज्ञानयज्ञ है। 'गीता सुगीता'—गीताजीका भलीप्रकार गान (स्वाध्याय) करना चाहिये।

गीताजीके विविध पालनीय बिन्दु—

(१) जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियोंमें दुःखरूप दोषोंका बार-बार देखना।

(२) प्रकृतिके गुणोंद्वारा विचलित नहीं होना; क्योंकि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।

(३) ब्रह्मचर्यका पालन करना।

(४) देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषोंका यथायोग्य पूजन करना, पूज्य भाव रखना। जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे सुनकर उपासना करना।

(५) मनको सदा प्रसन्न रखना। अनुकूलतामें सम रहना तथा व्यथित न होना। कोई भी परिस्थिति आये, ऐसा समझें कि आने-जानेवाली और अनित्य है, इसलिए सहन करें तथा इस मन्त्रका जप करें। '**आगमापायिनोऽनित्याः**।'

(६) यथायोग्य नियत तिथि, वार आदि को अन्य देवताओंका निष्कामभावपूर्वक पूजन-अर्चन करना।

(७) सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं। अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है। अतः किसी भी कार्यमें अपनेको कारण नहीं मानें, केवल निमित्तमात्र मानें।

(८) शास्त्रविधिके अनुसार चलें। कल्याणकारी शास्त्रोंको आदर्श मानें।

(९) सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌को अर्पण करनी चाहिये। जो कुछ करें, जो कुछ खायें, जो कुछ हवन करें, जो कुछ दान दें, जो कुछ तप करें—सब कुछ प्रभुको अर्पण करें।

(१०) ज्यादा नींद नहीं लें तथा आवश्यकतासे कम नींद भी न लें। आवश्यकतासे अधिक भोजन न करें तथा जानकर भूखे न रहें। पूर्णिमा, एकादशी आदि व्रत शास्त्रोक्त होनेसे करने चाहिये।

(११) स्मृति, ज्ञान तथा संशयोंका नाश परमात्मा करते हैं।

(१२) मन और बुद्धिको परमात्मामें तदाकार रखें।

(१३) विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें, चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले ज्ञानी महापुरुष हैं।

(१४) अन्तःकरण समतामें स्थित होना चाहिये।

(१५) इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले जो भोग (सुख) हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता। (५।२२)

(१६) इस मनुष्य-शरीरमें जो कोई मनुष्य-शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है, वह नर योगी है और वही सुखी है। (५।२३)

(१७) जो मनुष्य केवल परमात्मामें सुखवाला और केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है, वह ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करनेवाला (ब्रह्मरूप बना हुआ) सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है।

(१८) परमात्मा सबके सुहृद् (अकारण हित करनेवाले) हैं, ऐसा जानकर शान्तिका अनुभव करना।

(१९) भगवान्‌के परायण होकर साधन करें। मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। मेरा दूसरा कोई आश्रय नहीं है। संसारके सभी आश्रय जलमें मगरमच्छके आश्रयके समान हैं, अतः परमात्मारूपी परम आश्रयका ग्रहण करना चाहिये।

(२०) सभी मनुष्य सब प्रकारसे भगवान्‌के ही मार्गका अनुसरण करते हैं, अतः भगवान्‌द्वारा बताये गये उपदेशोंको ग्रहण करना चाहिये।

(२१) ममता और अहंकारका त्याग करें।

(२२) अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणोंकी कमीवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।

(२३) अपने द्वारा अपना उद्धार करें, अपना पतन न करें; क्योंकि व्यक्ति स्वयं अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

(२४) अनन्य भक्तिके लिये साधकको क्या करना है?

१. सब कर्मोंको मेरे लिये करना। २. मेरे ही परायण होना। ३. मेरे ही प्रेमी-भक्त होना। ४. सर्वथा आसक्तिरहित होना। ५. प्राणिमात्रके साथ वैरभावसे रहित होना।

(२५) भगवान् अपने भजनकी विधि बताते हुए कहते हैं कि—

१. तू मेरा भक्त हो जा।

२. मुझमें मनवाला हो जा।

३. मेरा पूजन करनेवाला हो जा।

४. मुझे नमस्कार कर।

५. अपने आपको (मेरे साथ) लगाकर मेरा परायण हुआ (तू) मुझे ही प्राप्त होगा।

(२६) सच्ची और पक्की बात—यदि आपको दुःख, अशान्ति, आफत चाहिये तो शरीर-संसारसे सम्बन्ध जोड़ लो, उनको अपना मान लो और यदि सुख, शान्ति, आनन्द, मस्ती चाहिये तो परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ लो, उनको अपना मान लो। चुनाव आपके हाथमें है।

[ब्रह्मलीन स्वामी श्रीरामसुखदासजीके प्रवचनोंके आधार पर]

[प्रेषक—श्रीधनसिंहराव]

जीवनचर्याका पावन अधिष्ठान—श्रीरामचरितमानस

(डॉ० श्रीराधानन्दजी सिंह, एम०ए०, पी-एच०डी०, एल-एल०बी०, बी०एड०)

श्रीरामचरितमानस भारतीय आर्ष-परम्पराका वह गौरव ग्रन्थ है, जो सनातन जीवन-मूल्योंके साथ जीवनचर्याका पावन अधिष्ठान है। प्राणी विविध परिस्थितियोंमें जिस जीवनचर्याका अनुसरण करता है, उसका सम्यक् और विशद वर्णन श्रीरामचरितमानसमें मिलता है। इस पावन ग्रन्थमें देव, मानव, दानव, पशु एवं पक्षी सभीकी जीवनचर्याको अनुपम रूपमें दर्शाया गया है।

श्रीराम मानसके मूल प्रतिपाद्य हैं। उनके सारे कर्म, आचार-व्यवहार, मानवीय मूल्योंकी प्रतिस्थापनाके मूलाधार हैं। सच तो यह है कि जीवनचर्याके सारे आदर्श, सारी मर्यादा और सारे मूल्य श्रीरामसे ही पारिभाषित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण जीवनचर्या श्रीरामको पाकर धन्य हो जाती है। श्रीरामचरितमानसमें सनातन जीवनचर्या श्रीरामका अनुसरणकर कृतार्थ हो जाती है और वही पावनधारा युग-युगान्तरसे भारतीय जनजीवनमें निरन्तर प्रवहमान है।

यह सर्वविदित है कि श्रीराम परात्पर सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा हैं। उनका अवतरण इस धराधामपर अत्यन्त करुणावश लोक-कल्याणार्थ हुआ। इस मानवीय लीलामें श्रीरामने सम्पूर्ण जागतिक कर्मोंका सहज रूपमें प्रतिपालन किया। इस क्रममें उनकी दिनचर्याका भी परम आदर्शरूप मानसमें प्रतिपादित किया गया है। प्रातःकाल उठते ही श्रीराम माता-पिता और गुरुको प्रणाम करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

(रा०च०मा० १। २०५। ७)

बालकाण्डके जनकपुर-प्रसंगमें दोनों भाइयोंके रात्रिविश्राम और उठनेके क्रममें गुरु विश्वामित्रके साथ जिस आदर्शमूलक व्यवहारके दर्शन कराये गये हैं, वह भारतीय सनातन दिनचर्याका मानक प्रतिमान है। रात्रिमें दोनों भाई गुरुचरणोंकी सेवा करते हैं। गुरुके बार-बार आज्ञा देनेपर श्रीराम शयन करने जाते हैं। तत्पश्चात् श्रीरामजीकी चरणसेवा श्रीलक्ष्मणजी करते हैं। पुनः प्रभुकी आज्ञा पाकर श्रीलक्ष्मणजी विश्राम करने जाते हैं। प्रातःकाल उठनेका क्रम भी अद्भुत है। गोस्वामीजी मानसमें कहते हैं—

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान॥

(रा०च०मा० १। २२६)

बालकाण्डके अन्तमें प्रभु श्रीरामकी दिनचर्याका विस्तृत वर्णन मिलता है। श्रीरामचन्द्रजीने शिवजी, गुरु और विप्रके चरणोंका स्मरणकर नेत्रोंको नींदके वश किया। प्रातःकाल पवित्र ब्राह्ममुहूर्तमें प्रभु जागे। ब्राह्मणों, देवताओं, गुरु, पिता और माताओंकी वन्दना करके आशीर्वाद पाकर सब भाई प्रसन्न हुए। स्वभावसे ही पवित्र चारों भाइयोंने शौचादिसे निवृत्त होकर पवित्र सरयू नदीमें स्नान किया और प्रातःक्रिया (सन्ध्या-वन्दन आदि) करके वे पिताके पास आये। मानसमें वर्णित है—

राम प्रतोषीं मातु सब कहि बिनीत बर बैन।
सुमिरि संभु गुर बिप्र पद किए नीदबस नैन॥
प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे॥
बंदि बिप्र सुर गुर पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता॥
कीन्हि सौच सब सहज सुचि सरित पुनीत नहाइ।
प्रातक्रिया करि तात पहिं आए चारिउ भाइ॥

(रा०च०मा० १।३५७; १।३५८।५, ७; १।३५८)

इस प्रकार प्रभु श्रीरामने सामान्य रूपसे बाह्य शुद्धिहेतु शौच-स्नानादि क्रिया एवं अन्तःशुद्धिहेतु प्रातःक्रिया-सन्ध्या पाठ, प्राणायाम, दान, दर्शन आदि श्रीसरयूजीके किनारे घाट और मन्दिरमें सम्पन्न किया। यहाँ 'सहज सुचि' का भाव यह है कि प्रभु श्रीराम सभी भाइयोंसहित पवित्र होते हुए भी सम्पूर्ण दिनचर्याका पालन मात्र लोकशिक्षणके लिये ही करते हैं। श्रीमद्भागवतकी स्पष्टोक्ति है—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।

(श्रीमद्भा० ५।१९।५)

अर्थात् हे प्रभो! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसोंके वधके लिये ही नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्योंको शिक्षा देना है।

इस प्रकार दिनचर्या सभी प्राणीके लिये अनिवार्य जागतिक क्रिया है, परंतु जीवनचर्या मनुष्यके संस्कार एवं स्वभावका प्रतिदर्श है। श्रीरामचरितमानसके अनेक पात्रोंकी जीवनचर्यासे ऐसा ही अर्थ ध्वनित होता है। मानसके सारे सात्त्विक पात्र श्रीरामके चरणारविन्दोंमें अपने पावन प्रेमके प्रकटीकरणके लिये भावानुकूल जीवनचर्याका अनुसरण करते हैं। इस भावसे मानसके कुछ पात्रोंकी जीवनचर्या दर्शनीय एवं अनुकरणीय है।

श्रीभरतजी श्रीरामजीके साक्षात् प्रेमस्वरूप हैं। जहाँ सारे भक्त उनके चरणोंकी वन्दना करते हैं। वहाँ वे अपनी पावन प्रीति प्रभु-पाँवरीमें समर्पितकर उनकी नित्य-निरन्तर पूजाको अपनी जीवनचर्या बनाते हैं। वे नन्दीग्राममें सिंहासनपर प्रभु-पाँवरीको विराजितकर सिरपर जटाओंका

जूड़ा और शरीरपर मुनियोंका-सा वल्कल धारणकर पृथ्वीको खोदकर कुशकी आसनी बिछाकर मुनिधर्मका आचरण करते हैं। उनकी यह जीवनचर्या श्रीरामके चरणोंके प्रति अगम प्रेमको प्रदर्शित करती है। गोस्वामी तुलसीदासजी मानसमें कहते हैं—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

(रा०च०मा० २।३२५)

श्रीमनुजीने प्रभुभक्तिके लिये सर्वस्व त्याग दिया और वे भगवान् श्रीराम (श्रीवासुदेव)-के चरणोंमें अनन्य निष्ठाके लिये मुनियोंका-सा वस्त्र धारणकर द्वादशाक्षर मन्त्रको जपते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्मका स्मरण करते हुए कठोर तपको अपनी जीवनचर्या बनाकर साधनारत हुए। मानसकार कहते हैं—

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥
करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥

पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे॥

(रा०च०मा० १। १४३, १। १४४। १-२)

इनकी कठोर जीवनचर्याके वरदानस्वरूप अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक अखिलेश्वर परात्पर प्रभु श्रीरामके रूपमें अवधमें प्रकट हुए। वहाँ भी मनुजीने श्रीदशरथरूपमें सत्यप्रेमकी जीवनचर्याका अनुसरण किया और श्रीरामनामके स्मरणके साथ भौतिक देहका परित्याग किया।

इस प्रकार प्रभु पद प्रीतिकी जीवनचर्याका वर्णन मानसमें अनेक स्थलोंपर मिलता है। श्रीसीताजीके हरणके पश्चात् जब जटायुने रावणसे असाधारण युद्ध किया तो दुष्ट रावणने उनके पंख काट दिये। गोस्वामीजी जटायुजीके अन्तिम समयकी जीवनचर्याका वर्णन करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

(रा०च०मा० ३। ३०। १८)

जहाँ सारे भक्त प्रभुके चरणोंका स्मरण करते हैं, वहाँ जटायुजी श्रीरामके चरणोंमें अंकित (ध्वज, कुलिश आदि) चिह्नोंका स्मरण कर रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि जटायुजीके पास अपार दृष्टि थी। वे वृक्षकी शीर्ष डालियोंपर बैठकर वनमें घूमते प्रभु श्रीरामके चरणांकित चिह्नोंका अवलोकन करते रहते थे और यही उनकी जीवनचर्या थी। अतः अन्त समयमें भी उनकी यही जीवनचर्या बनी रही और प्रभुपदमें अंकित चिह्नोंका वे स्मरण करते रहे।

रावण जब श्रीसीताजीको लेकर लंका गया तो वहाँ भयवश उसने उन्हें महलमें न रखकर अशोक वृक्षकी छायामें रखा। उस अत्यन्त विषम परिस्थितिमें श्रीसीताजीकी जीवनचर्या अद्भुत है। वे कपटमृगके पीछे दौड़ रहे श्रीरामकी छविको हृदयमें रखकर अहर्निश रामनाम रटती रहती हैं। लंकासे लौटनेके पश्चात् भगवान् श्रीरामके श्रीहनुमान्‌जीसे श्रीसीताजीकी जीवनचर्याके बारेमें पूछनेपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

(रा०च०मा० ५। ३०)

अर्थात् सीताजीके मन, वचन और कर्म अहर्निश प्रभुमें ही लगे हैं। अपने पदपर नेत्रको लगानेका तात्पर्य यह है कि प्रभु श्रीरामके दायें और बायें चरणोंके चिह्न सीताजीके क्रमशः बायें और दायें चरणोंमें अंकित हैं। इस प्रकार श्रीसीताजी प्रभुके चरणोंमें अंकित चिह्नोंको ही निर्निमेष निहारती रहती हैं और लंकामें यही उनकी जीवनचर्या है। सोनेकी लंकामें सभी सोये थे, परंतु जनकतनयाके लोचन अहर्निश प्रभुपदमें निमग्न थे।

मानसमें ऋषि-मुनियोंकी जीवनचर्या साधनासे परिपूर्ण है। वे रात-दिन जप, यज्ञ और योगादिमें व्यस्त रहते हैं—

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।

(रा०च०मा० १। २०६। २-३)

इस प्रकार मानसके ऋषि-मुनियोंकी जीवनचर्या एक परमपावन पारलौकिक अनुष्ठान है। श्रीकाकभुशुण्डिजीकी जीवनचर्या भी ऐसी ही है। श्रीहरिके भजनको छोड़कर उन्हें दूसरा कोई काम नहीं—

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप जग्य पाकरि तर करई॥
आँब छाँह कर मानस पूजा। तजि हरि भजनु काजु नहिं दूजा॥

(रा०च०मा० ७। ५७। ५-६)

भगवान् श्रीरामकी दिनचर्या तो वैदिक परम्परापर आधृत है ही, उनकी जीवनचर्या प्रेम और करुणासे परिपूर्ण है। अयोध्यासे लंकातककी यात्रामें वे ऋषि-मुनियोंको अभयदान देते हैं, वनवासियों, आदिवासियोंको प्रेमदान देते हैं, जयन्त, बालि आदिको क्षमादान और मुक्तिदान देते हैं और शरणागत भक्तोंको कृपादान देते हैं। मानो भगवान् श्रीरामके चौदह वर्षोंके वनवासकी यही जीवनचर्या रही। ऐसे भगवान् श्रीराम जब अयोध्याके राजसिंहासनपर बैठते हैं तो वहाँके बालक, वृद्ध, शुक, सारिका सभीकी जीवनचर्या राममय हो जाती है—

सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक॥
जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥

(रा०च०मा० ७। २८। ७, ७। ३०। १)

मानसमें राक्षसोंकी जीवनचर्याका वर्णन विस्तृत रूपमें किया गया है—

करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

(रा०च०मा० १।१८३।४—८, १।१८४।२-३)

गोस्वामीजी कहते हैं कि उपर्युक्त दुर्गुणोंसे परिपूर्ण एवं अवैदिक व्यवहारसे युक्त जीवनचर्याका पालन करनेवाले प्राणी ही असुर हैं।

परंतु इसी निशाचरवंशमें विभीषण-सरीखे संत हैं, जिनकी जीवनचर्या सभी असुरोंसे भिन्न है। सोनेकी लंकामें परम जाग्रत् वीरवर श्रीहनुमान्‌जीने जब सबको सोये देखा तो उन्हें एक रामायुध-अंकित कुटियासे 'राम' नामकी ध्वनि सुनायी पड़ी। हनुमान्‌जीने सोचा जिसकी दिनचर्या ब्राह्ममुहूर्तमें 'राम' नामसे प्रारम्भ हो; वह महान् संत होगा, ऐसा विचारकर उन्होंने विप्ररूप धारणकर विभीषणजीसे प्रीति की। ऐसा प्रतीत होता है कि विभीषणजीकी जीवनचर्याका मुख्यांश प्रभु श्रीरामके चरणारविन्दोंके स्मरणमें ही बीतता था; क्योंकि जैसे ही रावणने विभीषणजीपर पादप्रहार किया। वे हर्षपूर्वक प्रभु-चरणोंका स्मरण करते हुए श्रीरघुनाथजीके पास चले। वे सोचते हुए चले कि आज उन चरणोंके दर्शन होंगे जिनके स्पर्शसे अहल्या तरी, दण्डकवन पवित्र हुआ, जिनको श्रीजानकीजीने हृदयमें धारण किया, जो चरणकमल साक्षात् शिवजीके हृदयकमलमें विराजते हैं और जिनकी चरणपादुकाको भरतजीने अपने मनमें लगा रखा है, उन्हें इन नेत्रोंसे आज निहारूँगा। रावणद्वारा पादप्रहारके पश्चात् श्रीविभीषणजीके मनमें प्रभु श्रीरामके चरणदर्शनका यह अनुपम प्रेम उनके विगत समयकी श्रीरामचरणारविन्दोंमें अतिशय प्रीतियुक्त जीवनचर्याको द्योतित करता है।

श्रीविभीषणजीकी जीवनचर्याका यह सन्दर्भ अत्यन्त प्रीतियुक्त और भक्तिपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी ही जीवनचर्या प्रभुपदके शरणागत होकर कृतार्थ हो जाती है और विभीषण-जैसे संतोंकी जीभसे प्रार्थनाके स्वरमें सहसा कह उठती है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(रा०च०मा० ५।४५)

पर्यावरणको समर्पित बिश्नोई सम्प्रदायकी जीवनचर्या

(श्रीविनोदजम्भदासजी कड़वासरा)

संवत् १५०८ में मारवाड़ (राजस्थान)-में बिश्नोई सम्प्रदायके प्रवर्तक भगवान् श्रीजाम्भोजीका अवतरण हुआ। इनके उपदेश 'शब्दवाणी' के रूपमें संगृहीत हैं और सम्प्रदायमें इन्हें पंचम वेदकी उपमा दी गयी है तथा नित्यप्रति इनका हवनके समय पाठ किया जाता है। जीवनको युक्तिपूर्वक जीना और मरनेके बाद मुक्ति प्राप्त करना—इनके उपदेशका मूल है। १५वीं सदीमें उस क्षेत्रके लोगोंके जीवनकी बहुत शोचनीय अवस्था थी। धर्मपर आधारित सात्त्विक जीवनका उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। मनगढ़ित देवताओंकी पूजा करना, जीवहत्या करना, बोलते समय अपशब्दोंका प्रयोग और कलह करना, शरीर और घरकी सफाईपर ध्यान न देना—ये ही उनके नित्यके कार्य थे। संत कबीरदासजीने अपनी एक रचनामें उस समयके मारवाड़का सटीक वर्णन किया है—

बागड़ देश लूवण का घर है।
वहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है॥
सब जग देखौं कोई न धीरा। परत धूरि सिरि कहत अबीरा॥
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी। न तहाँ सतगुर साधु वाणी॥
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा। ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा॥

हालाँकि इस रचनामें कबीरदासजीका कोई यौगिक सन्देश होगा, पर उस समय वास्तवमें वस्तुस्थिति यही थी। ऐसे लोगोंके बीचमें जाम्भोजीने उपदेश किया और एक ऐसे सम्प्रदायका प्रवर्तन किया, जो अपनी उत्तम जीवनचर्याका उदाहरण बन गया। ब्राह्ममुहूर्तमें उठना, स्नानादि करनेके बाद सूर्योदय होनेपर हवन करना और उसके बाद शुद्ध सात्त्विक जलपान ग्रहण करना। मारवाड़में जलकी उपलब्धता

बड़ी कष्टसाध्य रही है, ऐसेमें प्रात:स्नान करनेके बाद ही वे अपने नित्यकर्ममें प्रवृत्त होते थे। जो लोग कर्महीन होकर अपने घरोंमें बैठे रहते थे, वे भी कर्म करने लगे। जाम्भोजीने २७ वर्षोंतक गोचारण करके गोसेवाका क्रियात्मक उपदेश दिया, लोग खेती-बाड़ीके साथ-साथ बड़े पैमानेपर गोपालन करने लगे और उनकी जीवनचर्यामें गोसेवाका महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। घरोंमें घी भरपूर होने लगा और नित्यका हवन-यज्ञ सभी उत्साहसे करने लगे। जाम्भोजीने कहा हाथोंसे कर्म करो और हृदयमें भगवान्‌का स्मरण करो—

हिरदै नांव विष्णु का जपो हाथै करो टवाई।

(शब्दवाणी ९९।५)

पर्यावरणसंरक्षण एवं पशु-पक्षियों, विशेषकर वन्य जीवोंके प्रति दयाभाव बिश्नोई सम्प्रदायके अनुयायियोंके नित्यकर्ममें शामिल है। प्रत्येक घरमें पक्षियोंके चुगनेके लिये चुग्गा डाला जाता है। फसल कटनेके बाद गाँवोंके मन्दिरोंमें सभी घरोंसे गेहूँ, बाजरा, ज्वार आदि इकट्ठा करके रखा जाता है, उससे पुजारी नित्यप्रति वर्षभर चुग्गा डालता है। प्रत्येक गाँवमें यह अनाज सैकड़ों मन इकट्ठा हो जाता है। पेड़-पौधोंको रोज पानी देते हैं और बाड़ करके उनका संरक्षण करते हैं। हरे-भरे पेड़ोंसे लहलहाता गाँव दूरसे पता चल जाता है कि यहाँ बिश्नोई निवास करते हैं। हिरण आदि वन्य जीव इनके खेतोंमें स्वच्छन्द विचरण करते हैं, इनके घरों और ढ़ाढ़ियोंमें ऐसे बैठे रहते हैं, जैसे पालतू जीव हों। कोई वृक्षोंका उच्छेद करता है तो ये उसका घोर विरोध करते हैं। इस सम्प्रदायमें निरीह जीवोंकी हत्या किये जाने, हरे-भरे वृक्षोंके काटे जाने, अन्यायपूर्वक करोंका संग्रह करनेपर एवं सम्प्रदायमें ही उनके नियमोंका उल्लंघन होनेपर सत्याग्रह करके प्रतिवाद किया गया है। बिश्नोई सम्प्रदायके इतिहासमें हजारों ऐसे अवसर आये, जब वन्यजीवोंकी हत्या रोकने एवं वृक्षोंकी रक्षाके लिये आततायियोंके हाथों सैकड़ों धर्मनिष्ठ बिश्नोई स्त्री-पुरुषोंने अपने प्राणोंका उत्सर्ग किया है। संवत् १७८७ में खेजड़ली (जोधपुर)-में एक ही दिनमें वृक्षोंको बचानेके लिये राजहठके सामने ३६३ स्त्री-पुरुष कुल्हाड़ोंसे कट गये।

सत्य बोलना कलिकालकी तपस्या है। सम्प्रदायमें सत्यका पालन पूरी दृढ़तासे करनेका रिवाज रहा है। बिश्नोई सम्प्रदायवालोंके जीवनमें सत्य इतना रच-बस गया था कि यह सम्प्रदाय सत्यस्वरूप ही हो गया था। सम्प्रदायके इतिहाससे हमें पता चलता है कि उस समयके राजदरबारोंमें एक बिश्नोईकी गवाही प्रमाणित मानी जाती थी और 'स्नानीजी' (नित्य स्नान करनेके कारण) कहकर उनका सम्मान किया जाता था।

बिश्नोई स्वयंपाकी होते हैं, यात्रा आदिके समय भी बिश्नोई अपना राशन साथमें रखते और भोजन स्वयं बनाकर ही पाते थे। समयके साथ इस नियममें शिथिलता आयी है, पर घरमें स्त्रीके रजस्वला होनेपर अब भी भोजन पुरुष ही पकाता है या संयुक्त परिवारमें बूढ़ी औरतें या घरकी दूसरी स्त्रियाँ ही भोजन बनाती हैं। रजस्वला होनेपर स्त्रीको घरके सभी कामोंसे पाँच दिनके लिये पृथक् रहना पड़ता है। जननका सूतक ३० दिनका रखनेका नियम है, तीस दिनतक जच्चा-बच्चाको अलग कमरेमें रखा जाता है। उसके भोजन आदिके बर्तन भी अलग होते हैं। जन्मसे बच्चेको शूद्र माना जाता है, ३०वें दिन सम्प्रदायका साधु हवन करके पाहल (अभिमन्त्रित जल) देकर उस बच्चेको संस्कारित करता है, इस विधिके सम्पन्न होनेके बाद ही वह स्त्री घरके कार्योंमें भाग लेनेके योग्य मानी जाती है।

जाम्भोजीने आचार-विचारकी शुद्धतापर बहुत जोर दिया है, आचारहीन व्यक्तिको उन्होंने धिक्कारा है। उन्होंने कहा है—लोग व्यर्थके वाद-विवादमें तो उलझे रहते हैं, पर पवित्र आचार-विचारके महत्त्वको नहीं समझते—

मरमी भूला वाद विवाद आचार विचार न जाणत स्वाद।

(शब्दवाणी २८।६६-६७)

उन्होंने आचारवान्‌की प्रशंसा करते हुए कहा कि जो सदाचारमें लीन है और जिसका संयम, शील और सहजतामें पूरा विश्वास है, उसको आवागमनके फेरमें पड़नेकी कोई आशंका नहीं रहती—

को आचारी आचारे लीणा, संजमे सीले सहज पतीनां।
तिंहि आचारी नै चीन्हत कौंण, जिंहि की सहजे चूकै आवा गौंण॥

(शब्दवाणी ५२)

जाम्भोजीने जीवनचर्याकी छोटी-छोटी बातोंमें भी विशेष सावधानी बरतनेकी बात कही। पानी, दूध और ईंधन (उपले-लकड़ी आदि)-को छान-बीनकर ही प्रयोगमें

लेना। आज भी बहुत-से बिश्नोई पानी छाननेके लिये कपड़ा अपनी जेबमें रखते हैं। एक अन्य जगह, जब राम-रावण-युद्धके समय लक्ष्मण मूर्च्छित हो जाते हैं और बादमें जब उन्हें होश आता है तो रामजी उनसे मूर्च्छित होनेका कारण पूछते हैं; क्योंकि लक्ष्मण-जैसे तपस्वी योद्धाका मूर्च्छित होना अकारण नहीं था। रामजीने लक्ष्मणको अठारह दोष गिनाये कि कहीं जीवनमें तुमने ये दोष तो नहीं किये हैं। दोष इस प्रकार हैं—

१-नित्य-नैमित्तिक कर्ममें चूक करना, २-सूर्यकी ओर मुँह करके थूकना, ३-खड़े-खड़े बर्तन माँजना, ४-किसीकी झोंपड़ीके तिनकोंको खींचना, ५-किसी ब्राह्मणको भोजनके लिये निमन्त्रण देकर उसे बिना खिलाये ही लौटा देना, ६-कुम्हारके आँवेसे बर्तन चुराना, ७-किसीकी फलोंकी बाड़ीसे फलोंको चुराना, ८-जोगीका भिक्षा-पात्र खण्डित करना, ९-ब्राह्मणकी जनेऊ तोड़ना, १०-वैर-विरोध करके धनको हड़पना, ११-दूधपीते बछड़ेको गायसे अलग करना, १२-किसी गायको चरने या पानी पीनेसे रोकना, १३-परस्त्रीका हरण करना, १४-सगे-सम्बन्धियोंको मारना, १५-स्त्रीपर शस्त्र उठाना, १६-चलते-फिरते दातौन करना, १७-वनमें आग लगाना, १८-रास्ते चलते किसीको लूटना।

लक्ष्मणने कहा ये सब दोष तो मैंने नहीं किये हैं पर तीन और दोष मैंने किये हैं, जिस वजहसे मुझे मूर्च्छित होना पड़ा—१-आप स्वर्णमृगके पीछे गये और मुझे सीताकी रखवालीके लिये छोड़ गये, परंतु मैंने आपकी आज्ञाका उल्लंघन किया, २-निर्दोष भरतको मैंने दोष दिया और ३-निद्राजित् होते हुए भी एक दिन मैं वनमें सो गया था।

ऐसे रोचक प्रसंगोंका उदाहरण देकर जाम्भोजीने लोगोंको जीवनमें विशेष सावधान रहकर आचारवान् होना सिखलाया।

जाम्भोजीने कहा—जिस परिवारके लोगोंके कर्म और व्यवहारमें सदाचार नहीं है, उनका जीवन गेहूँ निकालनेके बाद बचे हुए भूसे और रस निकालनेके बाद बचे गन्नेके अवशेषकी तरह बेकार है—

कंज बिन कूकस, रस बिन बाकस बिन किरिया परवार जिसौ॥

(शब्दवाणी ६५।४-५)

जाम्भोजीने जीवनमें दिखावा करनेवालोंको सावधान करते हुए कहा—जो कार्य तुम अपने जीवनमें नहीं करते, उसे दूसरोंसे करनेके लिये कैसे कहते हो—

पहले किरिया आप कमाइये तो अवरां नै फुरमाइयै।

(शब्दवाणी २८।३२)

जाम्भोजीने लोगोंके जीवनको पशुताके धरातलसे ऊपर उठाकर एक उत्तम मनुष्यके स्तरपर पहुँचाया। जाम्भोजीने उपदेशके साथ-साथ एक ऐसी परिपाटी बनाकर दी, जिसपर चलकर सांसारिक जीवन तो सुखमय बनता ही है, परलोक भी सुधरता है। सम्प्रदायप्रवर्तन (संवत् १५४२) को लगभग ५ शताब्दीसे ऊपर हो गये हैं, उनके अनुयायी आज भी दृढ़तासे उनके बताये मार्गपर चल रहे हैं। सम्प्रदायमें पालन करनेके लिये २९ नियमोंकी एक आचारसंहिता है, जिसे व्यवहारमें पालन करनेवाला ही बिश्नोई कहलाता है। इनमेंसे कुछ नियम जैसे वृक्षों एवं वन्य जीवोंकी रक्षा करना आदि तो इतने आग्रहपूर्वक पाले गये कि इसके लिये सम्प्रदाय एक मिसाल बन गया। पर्यावरणसंरक्षणमें विशेष योगदान देनेके लिये कई पर्यावरण-पुरस्कार एवं वन्य जीवोंके रक्षार्थ शिकारियोंकी गोलियोंसे शहीद होनेपर शौर्यचक्र भी सम्प्रदायके लोगोंको मिल चुके हैं।

२९ नियम इस प्रकार हैं—

१-तीस दिनोंतक जन्मका सूतक रखना, २-पाँच दिनोंतक रजस्वला स्त्रीका गृहकार्योंसे पृथक् रहना, ३-प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व उठना, ४-शीलका पालन करना, ५-सन्तोष रखना, ६-बाह्य (बाहरी) और आभ्यन्तरिक पवित्रता रखना, ७-तीन समय सन्ध्या-उपासना करना, ८-सन्ध्याके समय आरती और हरिगुणगान करना, ९-निष्ठा और प्रेमपूर्वक हवन करना, १०-पानी, दूध और ईंधन आदिको छान-बीनकर व्यवहारमें लाना, ११-वाणी सोच-विचारकर बोलना, १२-क्षमा और दया धारण करना, १३-चोरी नहीं करना, १४-निन्दा नहीं करना, १५-झूठ नहीं बोलना, १६-वाद-विवाद नहीं करना, १७-अमावास्याका व्रत रखना, १८-विष्णुका जप करना, १९-जीवदयाका पालन करना, २०-हरा वृक्ष नहीं काटना, २१-काम-क्रोध आदि विकारोंको वशमें रखना, २२-रसोई अपने हाथसे

बनाना, २३-पालतू जानवरोंको मारनेके लिये कसाईको न देना, २४-बैलको बधिया नहीं करवाना, २५-अफीम न खाना, २६-तम्बाकूका सेवन न करना, २७-भाँगसेवनका निषेध, २८-मद्य और मांसका परित्याग करना, २९-नीले रंगके वस्त्र धारण नहीं करना।

जनसाधारणके जीवनको सामान्य परिवेशमें रहते हुए ही उच्चादर्शों और गुणोंकी ओर अग्रसर करना जाम्भोजीका लक्ष्य था। उन्होंने कहा—बड़े कुलमें जन्म लेनेसे कोई बड़ा नहीं बन जाता, उसके कर्म ही उसे बड़ा बनाते हैं। आयुसे भी कोई बड़ा नहीं बन जाता, अगर वह गुणहीन है तो उसका ऐसा बड़ा होना व्यर्थ है। यदि अपना भला चाहते हो तो परोपकार करो, दुविधावृत्तिका त्याग करो, किसीके दोष न देखते हुए विष्णुका जप करो। जो अत्यन्त विनयशील, क्षमावान् है, काम-क्रोध आदि जिसके वशमें हैं और जो सत्कार्य करता है, उसका कल्याण निश्चित है, सत्कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। जाम्भोजीने गीताका बहुत आदर किया है, उन्होंने कहा—गीताका ज्ञान अन्य काव्योंसे श्रेष्ठ है, जैसे फिटकिरी जलके गन्दलेपनको दूर कर देती है, वैसे ही गीताज्ञान मनके मैल (भ्रम)-को दूर कर देता है। पूरा जीवन पर्यावरण-संरक्षणके लिये समर्पित करके मृत्युके बाद भी बिश्नोई यह बर्दाश्त नहीं करते कि उनकी मृतक देहको जलानेके लिये पेड़ कटे, एक वैदिक हिन्दू होते हुए भी उनका अन्तिम संस्कार भूमिमें गाड़नेपर पूर्ण होता है।

मराठी संतोंद्वारा जीवनचर्याका उपदेश

(डॉ० श्रीभीमाशंकरजी देशपाण्डे)

मराठी संतोंने प्रमुखतासे परतन्त्रताके कालमें समाजको ढाड़स देनेका कार्य किया। उससे यवनोंके सत्ताकालमें समाज, धर्म और पारिवारिक जीवनमें बहुत कुछ धैर्य देनेसे लाभ होता रहा तथा संस्कृतिकी रक्षा होती रही। प्रस्तुत लेखमें कुछ प्रमुख मराठी संतोंके उपदेशों और परामर्शोंको संक्षेपमें उद्धृत किया गया है।

संत ज्ञानेश्वर महाराज—ज्ञानेश्वर महाराजके निर्वाणको ७०० वर्ष बीत गये। उनके समयमें उत्तर भारतसे यवनोंने दक्षिण भारतकी ओर बढ़ना आरम्भ किया। उनके समाधिस्थ होनेके पश्चात् देवगिरिमें यादवोंका राज्य ध्वस्त होकर समाप्त हुआ। इनके निर्वाणके पश्चात्का काल राजकीय दृष्टिसे उथल-पुथलका रहा। अपने समयमें इन्होंने समाजको सुयोग्य मार्गदर्शन करनेका महान् कार्य किया। इनकी लिखी ज्ञानेश्वरी; जो गीताका भाष्य है, वह प्रसिद्ध है। वे डटकर कहते हैं कि हमारे पूर्वजोंने जो मार्ग अपनाया, उस मार्गमें न जानेपर हम लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते। उन्होंने कड़ाईके साथ कहा कि विहित कर्मका त्याग न करे। अपने अमृतानुभव ग्रन्थमें उन्होंने निश्चित कहा है कि हम स्वयं अपने-आपको ही खो गये—ऐसा समझना, और स्वयं ही अपने-आपको ढूँढ़ते रहना और अपने-आपको आप ही मिले, यह कहते हुए आनन्दित समझते रहना। नमकका अपने नमकीनपनाका अभिमान बिसारके समुन्दर होना है।

संत ज्ञानेश्वर आयुमें अति छोटे थे, पर इनमें परमेश्वरका अंश रहनेसे वे अलौकिक माने जाते हैं। ज्ञानेश्वर महाराज अपने अलौकिक अनुभवसे कहते हैं कि विहित कर्म करना ही परमेश्वरकी पूजा है। समस्त

विश्वको इस अमृतानुभवका आनन्द बाँटना, यही परमेश्वरका निश्चित नमन है।

संत एकनाथ महाराज—ज्ञानेश्वर महाराजके पश्चात्

३०० वर्ष बाद संत एकनाथजीका काल है। वे प्राणिमात्रमें भगवद्दर्शन करते थे। एकनाथ महाराज कहते हैं—

धर्मके नामसे अधर्मका राज्य फैला है। वेद-शास्त्रोंकी चिन्ता नहीं रही। स्मृति, पुराण आदि किसीको मालूम नहीं, जिसके कारण ज्ञान, दान, जप, तप—इन साधनोंका लोप हो रहा है। स्वधर्मका आचरण कोई करते नहीं। कर्माकर्मका भेद नष्ट हुआ है। वरिष्ठ वर्गोंने अपना अध्ययन त्यागा है। विद्याका उपयोग उदरनिर्वाहके लिये हो रहा है। अज्ञान फैलनेसे भक्ति लुप्त हुई। ऐसी परिस्थितिमें नेताओंका अध:पतन हुआ है। जिन्हें समाजका मार्गदर्शन करना चाहिये, वे ही सेवाधर्म छोड़कर झूठा एवं उल्टा-पुल्टा धर्म धारण किये हैं। 'धर्म' यह निष्ठा न रहकर वर्णविशेषका व्यवसाय बन गया है। ब्राह्मण वह है, जो पूर्ण ब्रह्मको जानता है। ब्राह्मणोंका ज्ञानमात्रसे सम्बन्ध नहीं रहा। वेदका पठन किया, वेदान्त कण्ठस्थ हुआ, पुराणोंका पठन जिह्वापर स्थिर रहा, पर ज्ञान आचरणमें नहीं उतरा। यही अवस्था महंत और संन्यासियोंकी भी है। उन्हें विदित नहीं होता कि समस्त स्थानमें नारायण ओत-प्रोत हैं। स्वयं ज्ञानी न रहते हुए मन्त्रोंका व्यापार करनेवाले कैसा ज्ञानदान करेंगे? गुरु और शिष्य दोनों पाखण्डी। समीप रहते हुए भी परमात्माको इन ढोंगी लोगोंने दूर किया है। आत्माराम चारों ओर हैं, फिर भी योगी निष्कारण श्रान्त होते हैं। ज्ञान अभागा इसलिये हुआ कि समाजके मार्गदर्शकवर्ग गलत मार्गसे गये, जिससे अज्ञानकी विपुलता हुई। वास्तवमें सच्चे भगवान् पीछे पड़ गये तथा क्षुद्र व झूठे भगवान्को अबुधजनोंसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

इस अनर्थका कारण सत्यधर्मके विषयमें झूठा अज्ञान है। नाथ महाराज स्वयं परम भागवत थे। वे स्वयं भागवतधर्मको आचरणमें लाये। उसे साकार करके समाजको वैसा करनेका उपदेश दिया। नरदेहकी सार्थकता ही परमार्थकी साधना है। जीवनकी सार्थकता करनेके लिये प्रपंचको त्यागना नहीं। प्रपंच और परमार्थ—दोनों परस्पर विरोधी हैं, ऐसा समझना भूल है। युक्तिसे प्रपंच करें तो वह परमार्थको देनेवाला ही होता है। ईश्वरार्पणसे किया हुआ कार्य समाजके लिये उपकारक रहता है।

संत दासोपंत—ये एकनाथ महाराजके समकालीन थे। दासोपंत श्रेष्ठ दत्तोपासक थे। वे जीवको एकान्तस्थानमें रहनेका उपदेश करते हैं। एकान्तका महत्त्व अतिश्रेष्ठ है। इससे परमार्थ विदित होता है। शुष्कवाद करनेका व्यसन छूट जाता है। यहाँ कोरावाद परमार्थमें बड़ा विघ्न रहता है। यह व्यसन लग गया तो उसे छोड़ना कठिन होता है। एकान्तके कारण अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ जाता है। एकान्तप्रिय मनको विकार मालूम होते रहते हैं। सुलभतासे स्थिर—दृढ़ होकर वासनाओंका क्षय होता है। अध्ययनसे एक अभ्यासक कृतकृत्य होता है तो दूसरा विविध शास्त्रोंको पढ़कर भी जीवनभर असमाधानको प्राप्त रहता है। ऐसा अभ्यासक राजस बुद्धिका एवं संस्काररहित रहता है। प्रथम अभ्यासक श्रद्धा और विश्वासके बलपर शीघ्र ही कृतार्थ होता है तो दूसरा अभ्यासक संशयी एवं तार्किक बनकर निष्फल होता है; क्योंकि वह केवल शब्दपण्डित ही बन पाता है। वह जीवनमें केवल शास्त्रोंकी धुनमें कर्मसे भटककर वादी एवं बातूनी विद्वान् बनता है। निश्चित ज्ञान न रहनेसे वह शान्ति एवं समाधानसे वंचित रहता है। ज्ञान प्राप्त होनेमें शास्त्रका अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान यह आचरणके लिये है। यह लोगोंको मोहित करनेके लिये नहीं है। ज्ञानको पचाना पड़ता है। दासोपंत कहते हैं कि चित्तवृत्तिको नहीं संभाला गया तो लाभ नहीं। सम्पत्ति प्राप्त करना और परिग्रह ये ज्ञान पचानेके मार्ग नहीं हैं।

समर्थ रामदास स्वामी—संत दासोपन्तके २००

वर्षके पश्चात् समर्थ रामदास स्वामीजीका काल आता है। इनका दासबोध ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इन्हें दासोपंतके ग्रन्थराज ग्रन्थसे प्रेरणा हुई। उन्होंने उसे विस्तारसे प्रस्तुत किया। दासबोधको ग्रन्थराज यह नाम मिला है।

संतोंमें समर्थ रामदासजीने अध्यात्मके साथ राजनीतिका भी मार्गदर्शन किया। वे छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु थे। उनकी रचना मनाचेश्लोक अति छोटी-सी है। पर अत्यन्त महत्त्व की है। उन्होंने उसमें मानवीय जीवन, उसका आचरण और जीवनकी श्रेष्ठताका मार्गदर्शन किया है। उन्होंने समाजमें भद्र और अभद्रको जाननेकी चेतावनी दी है। मार्गदर्शन किया है। विविध विषयोंपर उन्होंने विवरण दिया है। उन्होंने बताया है कि भक्तिके साथ शक्तिका भी महत्त्व है। उन्होंने शक्तिकी उपासनाकी वृद्धि की। रामकथा ब्रह्माण्डको छेदकर उस पार ले जाती है, ऐसा वे डटकर कहते हैं। उन्होंने राम और हनुमन्तकी उपासनाको महत्त्व दिया तथा इसको समाजमें अंकित किया। इनके स्थापित मठ यवनकालमें विद्यापीठ थे। उन्होंने यवनोंके जुल्मी सत्तासे हिन्दू समाजको धैर्य, उत्साह देकर स्वातन्त्र्यका महत्त्व समझाया। अपने जीवनके प्रत्येक क्षणका उन्होंने राष्ट्रकार्यके लिये समर्पण किया। वे कहते हैं राजाको चाहिये कि वह जनताके लिये जो वन्दनीय कार्य है, उसे समस्त भावसे स्वीकारे और जनता जिसे निन्द्य समझती है, उसका त्याग करे।

संसारका यथावह स्वरूप प्रस्तुत करते हुए समर्थ रामदासजी विषयभोगकी व्याख्या करके समाजको सावधान रहनेका संकेत देकर योग्य मार्गदर्शन करते हैं। इनके समस्त उपदेश मनन करनेयोग्य हैं।

संत तुकाराम महाराज—ये समर्थ रामदासजीके

समकालीन प्रसिद्ध संत हैं। मराठी भाषामें इनके लिखित 'अभंग' बड़े महत्त्वके हैं। इनके समस्त अभंग भागवत श्लोकोंके ही भाष्य हैं। उन्हें वारकरी-सम्प्रदायके मन्दिरका शिखर कहा जाता है। इस सम्प्रदायकी नींवका पत्थर संत ज्ञानेश्वरजीने डाला। तुकाराम महाराजने समाज, धर्म और संस्कृतिके सम्बन्धमें किया हुआ उपदेश समस्त समाजमें फैलाया। छत्रपति शिवाजी महाराजके भेंट किये हुए अपार द्रव्यको इन्होंने मिट्टीके समान समझकर अस्वीकार किया, लौटा दिया। आज भी समाजको किया हुआ इनका उपदेश मार्मिक, अचूक तथा बड़ा ही प्रभावी है। साधुश्रेष्ठ तुकाराम महाराज कहते हैं कि यदि मन शुद्ध और निर्मल नहीं हुआ तो साबुन क्या करेगा? तुकाराम महाराजके अभंगोंका वैशिष्ट्य है कि वेदान्तकी सत्ता और सिद्धान्त सादे शब्दोंके द्वारा समाजके समस्त लोगोंको सुगमतासे प्राप्त हुआ उपदेश है। समाजके ढोंग-ढकोसले, स्वाँग तथा आडम्बरपर उन्होंने अति तीव्रतासे प्रहार किया है। उनका उल्लेखनीय प्रयत्न यह रहा कि सम्पूर्ण समाज देवाभिमुख

हो। केवल भक्ति ही इस भवसागरको पार करनेमें काफी है। किसी भी प्रकारका कष्ट न लेते हुए जीवननौका पार हो सकती है। उन्होंने समाजको उपदेश दिया कि निष्काम बुद्धिसे भगवान्‌का भजन किया करो। उन्होंने वेदान्तके गहन विषयको अभंगके द्वारा समझाया।

शिवरामस्वामीजी—ये संत एकनाथ महाराजकी कन्याके पुत्रके पौत्र हैं। शिवराम स्वामीजीका काल रामदास और तुकारामके समकालीन है। शंकराचार्यके समान इन्हें ३२ वर्षकी आयु प्राप्त थी। इन्होंने आद्य आचार्यके ग्रन्थोंका मराठी-भाष्य किया। नाथ महाराजकी प्रेरणासे एकादश स्कन्धकी टीका मराठी भाषामें की है। वे उपदेश करते हैं कि घरमें जैसे अतिथि आता है जाता है, तदनुसार इस संसारमें आना-जाना रहता है। जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती, वहाँ गुरु कुछ नहीं कर सकता। उन्होंने लगभग १५० ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने शके १६०२ में संत-सम्मेलनका आयोजन किया था। उस सम्मलेनमें समर्थ स्वामी रामदासजी स्वयं प्रमुख अतिथि थे। यह सम्मेलन कल्याणी (बसव कल्याण)-में सम्पन्न हुआ। शिवरामस्वामी कहते हैं कि द्वैतभाव समाप्त होनेपर जीवन्मुक्तिका पूर्ण चन्द्र होता है। अपना मन परिपूर्ण होनेपर समस्त संसार शीतल हो जाता है। तृष्णाके कारण जैसा भूला हुआ व्यक्ति इधर-उधर भटकता रहता है, सम्पूर्ण संसारमें वैसे ही अनुभव करना है। आत्मसुखका समारोह आनन्दी पुरुष ही कर पाता है। ज्ञानी आत्मानन्दमें निमग्न रहकर स्वयं अपने आपमें रमण करता रहता है। यह सिद्धोंके आत्मज्ञानका स्वभाव है।

सिखधर्ममें आदर्श जीवनचर्याका रूप

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

सिखधर्ममें प्रत्येक सिखका जीवन दो प्रकारका माना गया है—१-वैयक्तिक जीवन और २-पान्थिक जीवन। सिखधर्मकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें एक ही सिखमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारोंके गुणोंको इकट्ठा कर दिया गया है। सिख गुरुओंका प्रत्येक सिखके लिये आदेश है कि वह निरन्तर हरिनाम श्रीवाहिगुरुका जप करे, तलवार लेकर अपने देश और धर्मकी रक्षा करे, अपनी गृहस्थीके निर्वाहके लिये सत्यव्यवहार करे और आठों पहर दूसरोंकी सेवाके लिये अपने तन, मन और धनसे तत्पर रहे।

खालसा पंथके अनुयायियोंके विषयमें दशम गुरु श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी ग्रन्थप्रकाशमें कहते हैं—

गुरु-घर जन्म तुम्हारे होए। पिछले जाति बरन सब धोए॥
चार बरन के एको भाई। धरम खालसा पदवी पाई॥
हिन्दू-तुरक ते आहि निहारा। सिंह मजब अब तुमने धारा॥
राखहु कच्छ, केश किरपान। सिंह नाम को यही निशान॥

गुरु गोविन्दसिंहजीकी इस शिक्षा और सिद्धान्तका आज भी सिखधर्ममें अक्षरशः पालन होता है और उनकी जीवनचर्यापर भी इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सिखोंकी जीवनचर्याके प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं—

१-अमृतपान—प्रत्येक सिखके लिये यह जरूरी है कि वह अमृतपान करे। यह अनिवार्य नियम है। कोई भी व्यक्ति किसी भी उम्रमें अमृतपान करके सिख बन सकता है। श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजने १३ अप्रैल सन् १६९९ ई०की वैशाखीको श्रीकेशगढ़ साहिब आनन्दपुर साहिबमें पंच प्यारोंको अमृतपान कराकर इस खालसा-पंथकी शुरुआत की। अमृतपानकी रस्म श्रीगुरुग्रन्थसाहिबकी हजूरीमें होती है। संगतमें कोई भी सिख जिनकी पाँचकी संख्या होती है और जो पहले अमृतपान कर चुके होते हैं पंचप्यारे कहलाते हैं। वे इच्छुक व्यक्तिको अमृतपान करानेकी रस्म पूरी कर सकते हैं। उस व्यक्तिको पूर्णरूपसे स्नान करके पंच ककार धारण करना पड़ता है, ये पंच ककार इस प्रकार हैं—१-केश २-कच्छा, ३-कड़ा, ४-कंघा और ५-कृपाण। पंच ककार धारणकर वे व्यक्ति श्रीगुरुग्रन्थसाहिबकी हजूरीमें समर्पित होते हैं, फिर पाँच प्यारे लोहेके एक विशेष पात्र जिसे बाण कहते हैं, में खंडा (एक तरहकी दुधारी कृपाण) चलाते हुए जल और बतासेका 'अमृत' तैयार करते हैं। इस समय पाँच प्यारे पवित्र गुरुवाणीका पाठ करते हैं। वाणीमें श्रीगुरुनानकदेवजीका जपुजी साहिब, गुरु अमरदासजीका आनन्दसाहिब तथा गुरु गोविन्दसिंहजीका ग्रन्थसाहिब, सवैये, तथा प्रसाद आदि पाँच वाणी हैं। अमृत तैयार होनेके बाद वे श्रीगुरुग्रन्थसाहिबके सामने खड़े होकर अरदास (प्रार्थना) करते हैं। फिर अमृतपान करानेकी प्रक्रिया आरम्भ होती है। अभिलाषी व्यक्ति

आसनकी मुद्रामें पाँच प्यारोंके सामने बैठते हैं। पाँच प्यारे पाँच-पाँच बार अमृत सिखके मुँह, आँख और केशमें डालते हैं और उसे हर बार कहते हैं—बोल वाहे गुरुजीका खालसा। वाहे गुरुजीकी फतेह। इसे अमृतपान करनेवाले सिख दुहराते हैं। एक पंक्तिमें खड़े होकर एक लोहेके बर्तनमें रखा अमृत सभी बारी-बारीसे पीते हैं। इसके बाद अमृतपान करनेवाले अर्थात् अमृतधारी सिख मूलमन्त्रका पाठ करते हैं—

एक ओंकार सतिनाम, करता पुरखु निरभऊ निरवैर।
अकाल मूरति अजूनी सैमं गुरु प्रसादि॥

फिर पाँच प्यारोंमेंसे एक प्यारा सिखधर्मके बुनियादी सिद्धान्तोंको समझाता है—

१-पाँच ककारोंको हमेशा धारण करना है।
२-केश नहीं काटना है।
३-कुठामांस (हलाल) नहीं खाना है।
४-परस्त्री, परपुरुषका गमन नहीं करना है।
५-तम्बाकू, नशाका सेवन नहीं करना है।
इसे वज्र कुरहत कहते हैं।

उपर्युक्त नियमोंमेंसे किसी एकका भी किसी सिखद्वारा जाने-अनजानेमें उल्लंघन हो जाता है तो फिर अमृतपान करना पड़ता है तथा पाँच प्यारोंके सामने माफी माँगनी पड़ती है, साथ ही पाँच प्यारोंद्वारा दी गयी सजाको कबूल करना पड़ता है। जैसे जूठा बर्तन माँजना, जूता साफ करना, पानी पिलाना तथा आर्थिक दण्ड गुरुके गोलकमें डालना, वाणीका पाठ करना आदि फिर प्रसाद चढ़ाना और सच्चे सिखके रूपमें जीवन व्यतीत करनेका वादा करना।

वैयक्तिक जीवनमें यह भी जरूरी है कि प्रत्येक सिख ब्रह्मवेलामें उठकर नित्यक्रियासे निवृत्त होकर स्नान करे तथा नितनेम वाणीका पाठ जपुदादि, जपुजी, सवैया सुखमनी आदिका पाठ करे। सोदर सहरासेकी वाणीका पाठ शामको सूर्यास्तके बाद और सोहिमाका पाठ रातको सोनेसे पहले करना जरूरी है। वाणियोंके पाठ करनेके बाद खड़े होकर अरदास (प्रार्थना) करना जरूरी है। अरदास एक ओंकारसे शुरू होकर 'नानक नाम चढ़दी कला तेरे माणे सरबतका भला' पर समाप्त होती है, इसमें पूरी मानवजातिकी भलाईकी बात होती है। जिसमें विश्वबन्धुत्वकी छाप रहती है। चतुर्थ गुरु श्रीरामदासजीने सिखोंके लिये इस प्रकारकी दिनचर्याका उपदेश किया है—

गुर सतिगुर का जो सिखु अखाए
सु भलके उठि हरिनामु धिआवै।
उदमु करे भलके प्रभाती
इसनानु करे अमृतसरि न्हावै॥
उपदेसि गुरु हरि हरि जपु जापै
सभि किल बिख पाप दोख लहि जावै।
फिरि चढ़ै दिवसु गुरवाणी गावै
बहँदिआँ उठिदिआँ हरिनामु धिआवै॥
जो सासि गिरासि धिआए मेरा हरि हरि
सो गुर सिखु गुरू मनि भावै।
जिसनो दयालु होवै मेरा सुआमी
तिसु गुर सिख गुरू-उपदेसु सुणावै।
जनु नानकु धूड़ि मंगै तिस गुर-सिखकी
जो आपि जपै अवरह नामु जपावै॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिबजी)

सिखधर्ममें गुरुगोविन्दसिंहजी महाराजकी आज्ञाके अनुसार श्रीगुरुग्रन्थसाहिब सर्वोपरि है, यही सब कुछ है। इस श्रीग्रन्थसाहिबके आगे हर आदर्श सिखका माथा टेकना जरूरी है। प्रत्येक सिखके आदर्श जीवनका मूल सिद्धान्त है—नाम जपो, किरत करो तथा बंड छको अर्थात् हमेशा प्रभुका नाम जपो, जीवन-व्यवसायमें मेहनत ईमानदारीसे काम करो और अपनी कमाईका दसवाँ हिस्सा जरूरतमन्दोंमें बाँटो—लंगरकी सेवा करो आदि। आज इसीका फल है कि गुरुद्वारेमें कीर्तन-भजन जरूर होता है। सिखलोग ईमानदारी और परिश्रमसे काम करते हुए अपनी कमाईका दसवाँ हिस्सा लंगरके लिये दान करते हैं और गुरुद्वारोंमें गुरुका लंगर हमेशा चलता रहता है। जहाँ किसी धर्मके लोग जाकर लंगर छक सकते हैं। प्रत्येक सिखके जीवनमें गुरु, गुरुद्वारा और गुरुवाणीका महत्त्व आज भी हमें देखनेको मिलता है। सिखधर्ममें दस गुरु हैं, पर ज्योति एक ही है। जीवनके अन्तिम समयमें श्रीगुरुगोविन्दसिंहने कार्तिक दूज १७०८ ई० में श्रीहजूर साहिब नान्देड़ महाराष्ट्रमें परलोक-गमनके पहले श्रीगुरुग्रन्थसाहिबके सामने नारियल और पाँच पैसे रखकर माथा टेकते हुए प्रदक्षिणा की और आज्ञा दी—

आगिया भई अकाल की तभी चलायो पंथ।
सब सिखन को हुकुम है गुरू मानियो ग्रंथ॥
गुरु ग्रंथजी मानियो प्रकट गुरु की देह।
जो प्रभुको मिलनो चहै खोज शबद में लेह॥

पांथिक जीवनचर्या—सब धर्ममें व्यक्तिसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण पंथ है। पंथ सिखमतमें दीक्षित सभी सिखोंसे मिलकर बना है। हर सिख इस पंथका सदस्य है। सिखधर्मकी सभी समस्याएँ पंथ ही हल करता है। श्रीअकाल तख्त साहिब अमृतसर सर्वोच्च है। अन्तिम फैसला वहींसे होता है। पेचीदा मामला सरबत खालसा बुलाकर हल होता है। इनके पाँच तख्त हैं—१-अकाल तख्त अमृतसर, २-श्रीतख्त हरिमन्दिर पटना साहिब, ३-तख्त श्रीकेशगढ़साहिब आनन्दपुरसाहिब, ४-तख्त हजूर साहिब नान्देड़, ५-तख्त दमदमासाहिब भटिंडा।

संगत और पंगत—एक आदर्श गुरुसिखजीवनचर्याका प्रकाशस्तम्भ है—संगत और पंगत।

संगतसेवा सतिगुरुसेवा पंगतसेवा परमात्मा-सेवाके बराबर है। ये दोनों हर गुरु-सिखके अभिन्न अंग हैं। प्रत्येक सिखके जीवनचर्यामें संगत एवं पंगतका विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। यही कारण है कि आज भी सिखधर्ममें इनकी महत्ताको देखते हुए और धर्मके लोग भी आकर्षित हो रहे हैं। कुल मिलाकर संगतमें बैठकर कीर्तन-भजन करना तथा पंगतमें बैठकर लंगर छकना सामाजिक एकता एवं समरसताका परिचायक है। इसीलिये तो आज सिखधर्ममें हर गुरु-सिखके जीवनचर्यामें उनका शाश्वत जयघोष सर्वकालीन एवं सार्वभौम है—१-वाहि गुरुजीका खालसा वाहि गुरुजीकी फतेह, २-बोले सो निहाल सति श्रीअकाल, ३-नानक नाम चढ़दी कला तेरे माणे सरबत का भला।

राजस्थानके भक्ति-साहित्यमें आदर्श जीवनचर्या

(डॉ० श्रीओंकारनारायणसिंहजी)

अध्यात्म-प्रधान भारतीय संस्कृतिके अन्तर्गत समाज एवं व्यक्तिके प्रत्येक कार्य-कलापको धर्मसम्मत स्वरूप प्रदान करनेका प्रयास किया गया है। इसी विचारदृष्टिसे यहाँका वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक रीति-नीतियाँ अनुशासित रही हैं। उपर्युक्त जीवन-प्रतिमान राजस्थानके भक्ति-साहित्यके अन्तर्गत आदर्श जीवनचर्यापरक उद्बोधनोंके समानान्तर एतद्विषयक सम्प्रदाय-नियमोंके रूपमें प्रतिफलित हुए हैं।

मध्यकालीन राजस्थानके विश्नोई एवं जसनाथी सम्प्रदायोंका आधार मूलतः आचार-प्रधान क्रमशः २९ तथा ३६ नियम ही हैं, जो आदर्श जीवनचर्याकी अनुपम आचरण-संहिता हैं। इसी प्रकार निरंजनी, दादू, लालदासी, चरणदासी और रामसनेही सम्प्रदायोंके अन्तर्गत भी श्रेष्ठ जीवन-व्यवहारपरक निर्देश समुपलब्ध होते हैं। राजस्थानके भक्ति-साहित्यके समग्र विवेचनसे आदर्श जीवनचर्याके उपादान इस प्रकार प्रकाशित होते हैं।

१-शौच-स्नान—दैनन्दिन जीवनचर्याका समारम्भ परम्परानुरूप शौच, दन्तधावन तथा स्नानसे निर्दिष्ट किया गया है—

दासी हाजर खवास कंचन ले झारी।
सौच करो दंतधावन स्नान की तैयारी॥

(मीराँ बृहत्पदावली, पद १५८)

इसी क्रममें जल-मृत्तिकासे बाह्याभ्यन्तरिक पवित्रताके भी निर्देश हैं—

बाह्याभ्यन्तर मजन करिये। मृत्तिका जल करि बपु मल हरिये॥

(सुन्दर-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ३५)

इसी प्रकार विश्नोई-सम्प्रदायका प्रथम और जसनाथी सम्प्रदायका पंचम नियम प्रातः स्नानसे ही सम्बन्धित है।

२-सन्ध्या—स्नानोपरान्त सन्ध्यावन्दनका पारम्परिक नित्यकर्म राजस्थानके भक्ति-साहित्यमें यथावत् निर्दशित होता है। जसनाथी सम्प्रदायके छठे नियममें दोनों काल सन्ध्या एवं ईश्वर-चिन्तन तथा विश्नोई-सम्प्रदायके सातवें नियममें त्रिकाल सन्ध्या-उपासनाका विधान है।

३-हवन—उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायोंके अन्तर्गत हवनके प्रति विशेष निष्ठा प्रदर्शित की गयी है। जाम्भोजीके विश्नोई-सम्प्रदायके नवें नियममें श्रद्धापूर्वक हवन किये जानेका विधान है। राजस्थानके लोकदेवताओं यथा—गोगाजी, पाबूजी, रामदेवजी, हड़बूजी, तेजाजी, मेहाजी तथा देवजीकी नित्य-उपासना एवं जागरणमें भी हवनका विधान है।

४-दान—जसनाथजीने सम्प्रदायके सोलहवें नियममें आयका बीसवाँ भाग दान किये जाने और छत्तीसवें नियममें पक्षियोंको नियमित रूपसे चुग्गा-पानी दिये जानेका निर्देश दिया है। जाम्भोजीद्वारा अपनी वाणीके सौवें सबदमें दानकी महिमा प्रतिपादित की गयी है। दादूदयालने

भी दानका गुणगान किया है। यथा—

दादू दीया है भला, दिया करौ सब कोइ।
घर में धर्‌या न पाइये, जेकर दिया न होइ॥

(दादूदयालकी बानी, प्रथम भाग, गुरुदेवको अंग, साखी ३७)

५-दया—चरणदासने दयाको सर्वोत्तम तपस्या, आत्मबोधका हेतु, ज्ञानका मूल एवं भक्तिका प्राण घोषित करते हुए परमात्मप्राप्तिका साधन निर्दिष्ट किया है—

दया बराबर तप नहिं कोई। आतम पूजा तासों होई॥

(चरणदासकी वाणी, भाग २, पृ० ५२)

दया ज्ञानका मूल है दया भक्ति का जीव।
चरणदास यों कहत हैं दया मिलावै पीव॥

(चरणदासकी वाणी, दयाका अंग, साखी १२)

दादूने जीवदयाको अमृतवत् उल्लिखित किया है। यथा—

'जीवदया यहु पालिये दादू अमृत खाइ।'

(दादूदयालकी बानी, प्रथम भाग, दया निर्वैरताको अंग, साखी ४०)

रामसनेही सन्त स्वामी रामचरणद्वारा 'दया' की महत्ता इस प्रकार प्रतिपादित की गयी है—

दया धर्म की नींव दया करुणा को मंदिर।
दया ज्ञान को थांन दया गुनियन में सुन्दर॥

(रामचरणकी अणभैवाणी, जिज्ञास बोध, पृ० ६२८)

विश्नोई-संप्रदायके बारहवें नियममें क्षमा-दया धारण करने, उन्नीसवें नियममें जीव-दयाका पालन करने, तथा तेईसवें नियममें परोपकारी पशुओंकी रक्षाका निर्देश किया गया है। इसी प्रकार जसनाथी सम्प्रदायके इक्कीसवें नियममें जीव-दयाके अनुपालन, बाईसवें नियममें पशुशालाएँ बनवाकर गौ, बकरे तथा भेड़ोंकी कसाइयोंसे रक्षा एवं तेईसवें नियममें दया धर्मके प्रति निष्ठाका विधान किया गया है। इस प्रकार समग्रतः दयाको धर्मका मूल, आदर्श जीवनचर्याका आधार और साधनाका सर्वस्व घोषित किया गया है।

६-पवित्रता—बाह्याभ्यन्तरिक पवित्रताके समानान्तर दैनिक जीवनमें भी पवित्रतापरक व्यवहारको भक्ति-साहित्यमें विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। विश्नोई-सम्प्रदायके छठे नियममें बाह्याभ्यन्तरिक पवित्रता रखने, दसवें नियममें पानी, दूध एवं ईंधनको छान-बीनकर प्रयोगमें लाने, बाईसवें नियममें रसोई अपने हाथसे बनानेकी बात कही गयी है। इसी प्रकार जसनाथी-सम्प्रदायके चौथे नियममें स्वच्छतापूर्वक अच्छे केश धारण करने, ग्यारहवें नियममें दूध-पानीको वस्त्रसे छानकर पीनेका निर्देश दिया गया है।

७-सात्त्विक भोजन—चरणदासने प्याज लहसुन, गाजर-मसूर इत्यादि को अभक्ष्य निर्दिष्ट करते हुए इनके आहारका निषेध किया है। यथा—

लहसुन गाजर प्याज पुनि कहियत दाल मसूर।
ये अभक्ष्य वस्तु कही इनसों रहिये दूर॥

(श्रीशुक-सम्प्रदाय-सिद्धान्त-चन्द्रिका, पृ० १८३-८४)

विश्नोई-सम्प्रदायके बाईसवें नियममें निर्दिष्ट स्वयंपाकी होनेको सात्त्विक भोजनका आधार कहा गया है। जसनाथी-सम्प्रदायके पाँचवें नियममें स्नानोपरान्त भोजन, अठारहवें नियममें धूम्रपान तथा लहसुन आदिके परित्याग और बत्तीसवें नियममें मांसाहारके निषेधके निर्देश हैं। इसी क्रममें दादूदयालद्वारा भी मद्यपान एवं मांसाहारकी निन्दा करते हुए आहारकी सात्त्विकतापर बल दिया गया है। यथा—***'माँस अहारी मद पिवै बिषै बिकारी सोइ।'***

(दादूदयालकी बानी, प्रथम भाग, साचको अंग ८)

स्वामी रामचरणने मांसाहारको परमात्मासे विमुखताका प्रतीक घोषित किया है। यथा—

जीव मार भक्षण करै। साईं सूँ न डरै॥

(अणभैवाणी पृ० ६४)

८-अतिथि-सत्कार—दादूदयालने अतिथिको 'पाहुणा' की संज्ञासे अभिहितकर उनकी सेवा परमात्म-सेवा तुल्य निर्दिष्ट की है—***'अम्ह घरि पाहुणा ये आव्या आतम राम।'***

(दादूदयालकी बानी, भाग द्वितीय, सबद १६६)

भक्तिमती मीराने अतिथि-स्वरूप साधुजनोंके सेवा-सत्कारको सर्वोपरि बताया है। यथा—

'आयोड़ा सादाँ नैं दीजै बैसणों पंखा पवन डुलाय।'

जसनाथजीने सम्प्रदायके २५वें नियममें आगत अतिथिके सत्कारका आदेश प्रदान किया है।

९-सत्य-व्यवहार—सत्य-व्यवहार आदर्श जीवन-चर्याका सार-सर्वस्व है। लालदासने सत्यपर आरूढ़ रहते हुए दया-धर्मके पालन तथा अनधिकार वस्तुके त्यागहेतु उद्‌बोधित किया है—

सत मत छोड़ो अभख मत भाखो दया धर्म व्रत पाल।
परनिन्दा परहक को त्यागो राखो सुकृत सुमरण हाल॥

(लालदास वाणी, पृ० १७५)

उन्होंने बारम्बार हककी वस्तुके उपयोगकी बात कही है—*'लालजी हक खाइये हक पीजिये हक की करो फरोह।'*

(लालदास वाणी, पृ० ३७)

दादूदयालने क्रयविक्रयरूपी सत्यव्यवहारको 'अर्थ' पुरुषार्थके अर्जनका आधार निर्दिष्ट करते हुए 'जमाखोरी' को निषिद्ध बताया है—

'साचा लीजी साचा दीजी साचा सौदा कीजी रे।'

(दादूदयालकी बानी, भाग द्वितीय, सबद ४३२)

'रोक न राखै झूठ न भाखै दादू खरचै खाइ।'

(दादूदयालकी बानी, भाग प्रथम, मायाको अंग, स० १०७)

जसनाथजी ने सम्प्रदायके दूसरे नियममें स्वधर्म-पालनहेतु कार्यरत रहने एवं पन्द्रहवें नियममें ब्याज-प्रति-ब्याजका निषेध किया है।

१०-शास्त्रीय विधि-निषेधका अनुपालन— राजस्थानके भक्ति-साहित्यके अन्तर्गत शास्त्रोक्त विधि-निषेधको वरीयता प्रदानकर जीवन-व्यवहारमें समाविष्ट किया गया है। लालदासी-सम्प्रदायमें पंचगव्यको शुद्धताका प्रतीक बताकर नवदीक्षार्थीको पवित्र किया जाता है। चरणदासी सम्प्रदायमें गंगा-स्नान एवं एकादशी-व्रतका बड़ा माहात्म्य है—*'तीरथ गंगा जान व्रत ग्यारस को धारो।'*

(श्रीशुक-सम्प्रदाय-सिद्धान्त-चन्द्रिका, पृ० १२५)

जसनाथजीने भी गंगास्नानको विशेष महत्त्व प्रदान किया है। जसनाथी-सम्प्रदायके दसवें नियममें शास्त्रकी भाँति उच्छिष्टमुखसे अग्निमें फूँक देनेका निषेध है। तीसवें नियममें कुल-निन्दाका निषेध एवं तैंतीसवें नियममें दुराचारियोंके संगसे बचनेका निर्देश है। विश्नोई-संप्रदायके सत्रहवें नियममें अमावस्याका व्रत रखना, बीसवें नियममें हरा वृक्ष नहीं काटना, चौबीसवें नियममें बैलोंको बधिया नहीं करवाना तथा उनतीसवें नियममें नीलका त्याग आदि निर्देश शास्त्रीय परम्पराके पालनके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसी क्रममें दोनों सम्प्रदायोंके अन्तर्गत क्रमशः सत्ताईसवें और तीसवें नियममें रजस्वला नारीको गृह-व्यवस्थासे पृथक् रखने तथा उनतीसवें और दूसरे नियममें जनन-मरण अशौचकी अनुपालनासे भी शास्त्रोक्त आचारमें आस्था प्रकाशित होती है।

११-सद्गुणयुक्त जीवन— आदर्श-जीवनचर्या एवं सद्गुणयुक्त व्यवहार परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। लालदासने जहाँ 'शील' को सर्वश्रेष्ठ गुण घोषित करते हुए समस्त सद्गुणोंकी खान कहा है, वहीं दादूने इसे सन्तोष, सत्य और विश्वासका पर्याय बताया है। यथा—

'लालजी शील रतन सबसूँ बड़ा सब रतनन की खान।'

(लालदास वाणी, पृ० १७, साखी २६)

'सिदक सबूरी साच गहि, स्याबित राखि अकीन।'

(दादूदयालकी बानी, प्रथम भाग, बेसासको अंग, सा० ३५)

चरणदासने शील-सन्तोषके समानान्तर दया, नम्रता, दीनता तथा क्षमाको भी मोक्ष-प्राप्तिका हेतु निर्दिष्ट किया है। यथा—

दया नम्रता दीनता क्षमा सील संतोष।
इनकूँ लै सुमिरन करै निस्चै पावै मोष॥

(चरणदास-वाणी, शीलका अंग, साखी १०)

हरिदास, निरंजनी और मीराने भी शील एवं सन्तोषके साथ पूर्वोक्त सद्गुणोंके आचरणहेतु उद्बोधित किया है—*'सील संतोष सति दया सबूरी।'*

(हरिदास-वाणी, पद १८६)

'सील संतोष धरूँ घट भीतर समता पकड़ रहूँगी।'

(मीराँ बृहत्पदावली, पद ४२३)

सुन्दरदासने भी इसी प्रकारके उद्गार व्यक्त किये हैं—

'शीलहू संतोष लेत क्षमा दया धर्म लेत।'

(सुन्दरविलास, साधुको अंग २९)

स्वामी रामचरणने श्रद्धाको शीलके समान ही सर्वसिद्धियोंका हेतु घोषित किया है—

श्रद्धा सैं सबही बणै बिन श्रद्धा बणै न काय।
ताते भजिये राम कूँ श्रद्धा अधिक उपाय॥

(अणभै वाणी, पृ० ४०८)

विश्नोई-सम्प्रदायके अन्तर्गत चौथे-पाँचवें नियममें शील-सन्तोषका पालन, ग्यारहवें नियममें वाणी-संयम, बारहवें नियममें क्षमा-दयाका अनुगमन, सोलहवें नियममें वाद-विवादका परित्याग, अठारहवें नियममें विष्णु-भजनके रूपमें आदर्श आचार-संहिता निर्दिष्ट की गयी है।

इसी प्रकार जसनाथी-सम्प्रदायके प्रथम नियममें उत्तम कार्य, सातवें नियममें शील-सन्तोष एवं शौचका

अनुपालन, सत्रहवें नियममें मन-वचन-कर्मसे परनिन्दाका त्याग, चौबीसवें नियममें विवादका निषेध, चौंतीसवें नियममें सहिष्णुता तथा क्षमाका आचरण उपदिष्ट किया गया है।

१२-व्यसन-परित्याग—राजस्थानका भक्ति-साहित्य दैनन्दिन व्यवहारमें सद्गुणोंकी प्रेरणाके समानान्तर व्यसन दुर्गुण-परिहारपरक उद्बोधनोंसे भी परिपूर्ण है। विश्नोई-सम्प्रदायके तेरहसे पंद्रहवें नियममें चोरी-निन्दा-असत्यके परित्याग, इक्कीसवें नियममें काम, क्रोध, लोभ, मोहका दमन, पच्चीससे अट्ठाईसवें नियममें अफीम, तम्बाकू, भंग और मद्यका सेवन निषिद्ध घोषित किया गया है।

जसनाथी-सम्प्रदायके छब्बीसवें नियममें चोरी-जारी इत्यादि दुष्कर्मोंका मन-वचन-कर्मसे त्याग, अट्ठाईसवें नियममें मदिरापानका निषेध, पैंतीसवें नियममें भाँग, गाँजा, चरसके परित्यागका निर्देश दिया गया है।

हरिदास, निरंजनीने काम-क्रोधादि कषायोंसे मुक्तिके प्रति सचेत किया है—

'काम क्रोध अभिमान कुपह काँटा मत लावौ।'

(हरिदास-वाणी, कवित्त ८)

साथ ही उन्होंने परधन, परत्रिय और परकथाके भ्रामक आकर्षणके प्रति उद्बोधित किया है।

सुन्दरदासने पंच-कषायोंद्वारा दसों दिशाओंमें द्वंद्व उत्पन्न करनेकी बात कही है। यथा—

'कामहु क्रोधहु लोभहु मोहहु लूटत हैं दशहूँ दिशि दुंदर।'

(सुंदरविलास, उपदेश चिंतामणिको अंग, छन्द १८)

चरणदासने तन-मन एवं वचन के दुष्कर्मोंके समानान्तर लोकप्रचलित दुर्व्यसनोंके परित्यागका उपदेश दिया है—

तीन कर्म तन के कहे समझो सन्त सुजान।
चोरी जारी जीव की हिंसा की तज बान॥
मन के कर्म सो तीन है तिनको त्यागो जान।
खोटी चितवन बैरही अरु कहियत अभिमान॥
मिथ्या बोल न दुर्वचन हरिचर्चा बिन आन।
परनिन्दा नहिं कीजिये वचन कर्म पहचान॥

× × × ×

भंग तमाखू अरु अमल सुल्फा चर्म प्रसाद।
इनको पीवै अधम नर जन्म गुमावै बाद॥

(श्रीशुक-सम्प्रदाय-सिद्धान्त-चन्द्रिका, पृ०१८३-८४)

रामसनेही सन्त दयालदासने सप्त-व्यसनोंका त्याग श्रेयस्कर घोषित किया है। यथा—

अमल तमाखू भाँग तजै ऐमुख मदपानम्।
जूवा द्यूत का करम नार पर माता जाणम्॥

(दयालदासकी वाणी, षष्ठ खण्ड, पृ० २१५, छन्द ४)

इस प्रकार भक्त कवियोंने बारम्बार व्यसन-विमुखताहेतु अभिप्रेरितकर जनमानसहेतु आदर्श जीवनचर्याकी रूपरेखा प्रस्तुत की है।

१३-कुरीति-निवारण—वैयक्तिक अवगुणोंके समानान्तर सामाजिक कुरीतियोंका निराकरण भी श्रेष्ठ जीवन-व्यवहारकी दिशामें अत्यावश्यक है। सन्त दयालदासने वैवाहिक समारोह तथा होलीके अवसरपर गाये जानेवाले 'गाली' एवं अश्लील फागको आचार-विरुद्ध घोषित किया है—

गार गीत मुख उच्चरै नारी जनम अकाज।
...होरी डोरी गात हैं, रावण रोज विशाल॥

(दयालदासकी वाणी, प्रथम खण्ड, साखी २४, २२)

उन्होंने भ्रूणहत्या, कन्यावध, सगोत्रविवाह और कन्याका मूल्य लेनेकी पातकपूर्ण कुरीतियोंकी तीव्र आलोचना की है—

'नारी ग्रभवीजण जाय तिनको महादोषण थाय।'

(दयालदासकी वाणी, पंचम खण्ड, पृ० ७२, साखी ८१)

'जन्मत कन्या मारदे चाहत सुत कुशलात।'

(दयालदासकी वाणी, षष्ठ खण्ड, पृ० ३९४, छन्द १२)

किन्या गोत रत मत होय..........................।
कन्या बेच खादी बाप ऐसो नेह कुल संताप॥

(दयालदासकी वाणी, पंचम खण्ड, साखी ५५, २९२)

१४-जीवनचर्याका आदर्श—राजस्थानके विविध भक्तों-सन्तोंने दैनन्दिन जीवन-आचारगत उद्बोधनोंके समानान्तर समग्र जीवनचर्याके व्यावहारिक-पारमार्थिक स्वरूपका श्रीमद्भगवद्गीताके अनुरूप आदर्श प्रस्तुत किया है।

भक्त कवि सुन्दरदासने इसकी सरल-सुबोध व्याख्या की है—

काहू सौं न रोष-तोष काहू सौं न राग-दोष।
काहू सौं न बैर भाव काहू की न घात है॥
काहू सौं न बकवाद काहू सौं न विषाद।

काहू सौं नहीं संग न तौ कोऊ पक्षपात है॥
काहू सौं न दुष्टबैन काहू सौं न लेन-देन।
ब्रह्म को विचार कछु और न सुहात है॥

(सुन्दर-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ३८७)

दादूदयालने आदर्श जीवनका सूत्र इस प्रकार अभिव्यक्त किया—

आपा गर्ब गुमान तजि मद मच्छर हंकार।
गहै गरीबी बन्दगी सेवा सिरजनहार॥

(दादूदयालकी बानी, प्रथम भाग, जीवत मृतकको अंग, ५)

चरणदासने मन-वचन एवं कर्मसे आदर्श जीवन-व्यवहारका मार्मिक प्रतिपादन करते हुए कहा—

मन सों रहु निर्वैरता मुख सूँ मीठा बोल।
तन सूँ रक्षा जीव की चरण दास कहि खोल॥

(चरणदासकी वाणी, दयाको अंग, साखी १४)

सद्‌गृहस्थकी सरल-सहज जीवन-आकांक्षाका सार धन्ना भगतके शब्दोंमें कुछ ऐसे प्रकट हुआ—

दालि सीधा मांगउ घीउ। हमरा खुसी करै नित जीउ॥
पन्हीं आच्छादनु नीका। अनाज मंगउ सतसीका॥
गऊ भैंस मांगउ लावेरी। इक ताजनि तुरी चंगेरी॥
घर की गीहनि चंगी। जनु धन्ना लेवै मंगी॥

(सन्तकाव्य, पृ० २३०, पद ४)

सारांशतः राजस्थानके भक्ति-साहित्यके अन्तर्गत निर्दिष्ट व्यष्टि तथा समष्टिपरक जीवनचर्याके आदर्शके लोक-व्यावहारिक एवं शास्त्रानुकूल स्वरूपका समन्वित चित्रण समुपलब्ध होता है। वस्तुतः 'स्वान्तःसुखाय' और 'सर्वजन-हिताय' के लोक-मंगल आदर्शसे अनुप्राणित भक्तों-सन्तोंके व्यक्तित्व तथा कृतित्व आदर्श जीवनचर्याके मूल आधार एवं प्रेरणास्रोत हैं।

वनवासी, आदिवासी तथा यायावर (घुमन्तू) जनसमूहोंकी व्यावहारिक जीवनचर्या

(डॉ० श्रीलल्लनजी ठाकुर)

शस्यश्यामला सघन वन-सम्पदा तथा प्राकृतिक-सौन्दर्यसे पूर्ण पर्वतमालाओंकी गोदमें बसा झारखण्ड-क्षेत्र प्राचीन कालसे वनवासियों, आदिवासियों और यायावरोंका निवास-स्थल रहा है। इन जन-जातियोंका क्षेत्र झारखण्ड राज्यसे सटे बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेशतक फैला हुआ है। यहाँ जनजातियोंकी आबादी स्थायी अथवा अस्थायी रूपसे निवास करती है।

ये जनजातियाँ सदियोंसे अपनी सांस्कृतिक विरासतको सँजोये हुए अपनी एक भिन्न जीवनचर्याके लिये प्रसिद्ध रही हैं। इन वनवासियोंके रीति-रिवाज और इनका रहन-सहन यहाँके निवासी सदानोंकी जीवन-शैलीसे सामान्यतया भिन्न है।

झारखण्ड ही ऐसी जगह है, जहाँ देशकी तीन प्रमुख संस्कृतियों (आर्य, द्रविड़ और नाग-आर्य)-का मिलन हुआ है। इन सांस्कृतिक धाराओंके भाषाई प्रतिबिम्बके रूपमें अभी भी तीन परिवारकी भाषाएँ बड़ी संख्यामें (लोगोंद्वारा) बोली जाती हैं।

२००१ ई० की जनगणनाके अनुसार इस झारखण्ड राज्यकी जनसंख्या दो करोड़ सत्तर लाखके लगभग है। जिनमें जनजातियोंकी जनसंख्या स्थानभेदसे १ प्रतिशत से ४२ प्रतिशततक है। इन जातियोंमें मुण्डा, उराँव, संथाल प्रजातियोंकी संख्या बड़ी है। इनमें घुमक्कड़ यायावरोंकी प्रजातियाँ—असुर, बिरहोर, कोरबा, विरजिया, सवर आदि हैं। द्रविड़ परिवारमें—उराँव, मालपहाड़िया और परहिया आती हैं। प्रोटो आस्ट्रेलायड परिवारमें कोरबा, सौरिया पहाड़िया जातियोंको माना गया है। इन जनजातियोंके सम्बन्धमें सामान्य बातें कुछ यों हैं—

ये जनजातियाँ उपजातियोंमें बँटी होती हैं। इनकी अपनी गोत्र-व्यवस्था भी होती है। ये जब वन या जंगलोंमें रहती हैं तो समूहोंमें रहती हैं। समाजमें रहनेवाली जनजातियोंके सरदार या मुखिया पाहन, मुण्डा, मानकी, माँझी, रियूदार, किली आदि कहलाते हैं। इनकी सामाजिक जीवनचर्याका यही संचालन करते हैं।

पहाड़ी खोहमें बने निवासको सन्थाली लोग 'दामीन-ए-कोह' कहते हैं। घुमक्कड़ बनजारे, बिरहोर, असुर, सौरिया अपना आवास सिर और कन्धोंपर ढोते-फिरते हैं। बिरहोर आवासको टाण्डा कहते हैं। विरजियाका अर्थ

जंगलोंमें रहनेवाली जाति है। मालपहाड़िया, हो तथा ऐसी अन्य जनजातियोंमें नकद या गाय, बैल, कपड़ा, सामान लेकर लड़कियोंकी शादी की जाती है। खड़वार जनजातिके समूह सत्यप्रेमी और सौरिया-पहाड़ियाँ जनजातिवाले किसी भी कीमतपर अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये तत्पर रहते हैं।

मुण्डा लोग अपनेको सम्भ्रान्त मानते हैं और गोत्र-मूलके प्रति सजग रहते हैं। ये धर्मान्तरणका विरोध करते हैं, किंतु इसके विपरीत उराँव लोग दूसरे धर्ममें भी चले जाते हैं। अन्य जनजातियाँ—सरना आदि धर्मावलम्बी होती हैं।

ऐसे इन जनजातियोंके जीवन-स्तरमें सुधार हुआ है। कुछ लोग कृषिकर्म, व्यापार या दस्तकारी और नौकरी भी करने लगे हैं किंतु अभी भी इनकी एक बड़ी संख्या जंगल-पहाड़ोंमें रह रही है। उनकी जीवनचर्या सामाजिक जीवनसे भिन्न है।

जंगलों-पहाड़ोंमें रहनेवाली जनजातियाँ कन्द, मूल, फल-फूल, जंगली जानवरों और पक्षियोंका शिकारकर अपना जीवन-यापन करती हैं। ये लोग जंगली लकड़ियाँ, पत्तोंके दोने आदि बनाकर बेचते हैं। ये जातियाँ बाँसोंसे डोरे, टोकरियाँ, सूप आदि बनाती हैं और भेड़-बकरियाँ, गाय, सूकर आदि पालती हैं।

इनके सांस्कृतिक कार्यक्रम नाच, गानपर आधारित होते हैं। इनके पर्व-त्योहार जैसे जातरा, जागरन, सरहुल, करमा पूजा, जितिया, दूसू आदिके अवसरपर इनका नृत्य दूसरोंके लिये भी मनोरंजक होता है।

इनकी भाषाएँ भी विविध हैं और द्रविड़, मालय आदि परिवारोंकी हैं, कुरुख, खड़िया, मुण्डारी, खोंरठा, बंगला, उड़िया, नगपुरिया आदि भाषाएँ इन वनवासी परिवारोंमें बोली जाती हैं।

ये जनजातियाँ टामाभगत-जैसी जातियोंको छोड़कर मांसाहारी तथा शराबी होती हैं। हड़िया इनके समाजका कोल्डड्रिंक है। तम्बाकू खानेकी लत लोगोंमें अधिक है। पुरुषोंसे स्त्रियाँ भी कम नहीं हैं, अपितु पीठपर बच्चोंको बाँधकर कठिन परिश्रममें स्त्रियाँ बाजी मार लेती हैं। ये सुदूर जंगलोंसे शहरोंकी ओर मजदूरी करनेको आती हैं।

वनवासी, आदिवासी तथा अन्य घुमन्तू जातियोंकी जीवनचर्यामें व्याप्त निम्नलिखित कला-संस्कृतियोंका भी महत्त्व है।

(१) **जोगाय**—बोकारो जिलेकी जनजातियोंमें गाया जानेवाला यह कथागीत है।

(२) **छऊनृत**—इसमें जनजातिके युवक-युवतियाँ देवता, राक्षस, जानवरोंके मुखौटे लगाकर नृत्य करते हैं। इनकी उछल-कूद और कलाबाजी अत्यन्त मनोरंजक होती है।

(३) **जानी शिकार**—अपनी सिनगी-दई और कैली-दईको प्रसन्न करनेके लिये सालमें एक बार पुरुषवेशमें महिलाएँ शिकारको निकल पड़ती हैं। ये जानवर, मुर्गियों और सूकरोंको मारकर ले भागती हैं। लोग देखते रह जाते हैं।

(४) **सेंदरा**—यह परम्परागत जंगली, पर खूँखार जानवरोंका शिकार माना जाता है।

(५) **मुर्गा-लड़ाई**—देहाती क्षेत्रोंके या जंगलोंके वासी मुर्गे लड़ाकर कुछ जीत हासिल करते हैं। मनोरंजनका साधन भी इस लड़ाईको मानते हैं।

(६) **टुसू**—यह कागज लकड़ीके मन्दिरनुमा घर बनाकर त्योहारके रूपमें नाच-गानके साथ मनाया जाता है।

(७) **कोहबर**—यहाँ शादी-शुदा वर-वधूके लिये चित्र-विचित्र सजाकर उन्हें मिलनेका मौका दिया जाता है।

(८) **सोहराई**—इसमें पशुओंकी पूजा, हड़िया-दारू आदिका पर्व मनाया जाता है और मनोरंजन आदि किया जाता है। अखरा और धुमकुड़िया इनके मनोरंजनका मुख्य स्थल होता है।

(९) **गोदना**—आदिम जाति समाजमें गोदना एक विश्वाससे जुड़ा है। उनका मानना है कि जीवनके बाद गोदना ही शरीरके साथ जाता है। बाकी सब कुछ यहीं रह जाता है। हाथों-बाहों और अन्य अंगमें चित्र आदि अर्थात् जानवर, देवताका चित्र गोदवाया जाता है।

ये वनवासी जातियाँ प्रकृतिकी पुजारी होती हैं। इनका विश्वास है कि प्राकृतिक चीजोंमें भी जान है, आत्माओंका वास है। पर्व-त्योहारमें उपवास, पूजा इनकी ईश्वरीय सत्ता और आध्यात्मिकतामें विश्वासका द्योतक है। अपनी प्राचीन परम्परा और संस्कृतिकी रक्षामें ये जनजातियाँ सजग रहती हैं, किंतु इनमें जादू-टोना, झाड़-फूँक और कई तरहके अन्धविश्वासोंने भी अपनी जड़ जमा रखी है। इन सामाजिक बुराइयोंको दूर करना हमारे आदिवासी समाजका परम कर्तव्य है।

ईसाई धर्ममें जीवनचर्याका स्वरूप

(डॉ० ए० बी० शिवाजी)

ईश्वरने मनुष्यको अपने स्वरूपमें बनाया ताकि वे उसकी भक्तिकर पृथ्वीपर सुखदायी जीवन और मृत्युके बाद अनन्त जीवन (मोक्ष) पायें। यशाय्याह नबीके द्वारा ईश्वरीय वचन कहलाया गया है कि 'इस प्रजाको मैंने इसलिये बनाया है कि वे मेरा गुणानुवाद करें' (यशाय्याह ४३। २१)। पंचतत्त्वसे युक्त यह मानव त्रासदीका जीवन व्यतीत कर रहा है; क्योंकि उसके जीवनमें किसी प्रकारकी आदर्श जीवनचर्या नहीं है। यदि वह आध्यात्मिक पूर्तिके लिये पूजा-पाठ, उपासना करता भी है तो उसके बाह्य जीवनमें एवं आन्तरिक जीवनमें साम्य ही नहीं है; अपितु वह दिखानेके लिये ईश्वरीय गुणोंसे युक्त ईश्वर, सन्त, साधु, पवित्र बननेका खेल खेल रहा है और अपने-आपको धोखा दे रहा है।

ईसाई धर्ममें सुखदायी जीवन व्यतीत करने एवं अनन्त जीवन (मोक्ष) पानेके लिये कुछ बातोंका निर्देश दिया गया है कि यदि मनुष्य उनका पालन करे तब वह स्वस्थ रहते हुए पूर्ण आयुको प्राप्तकर अपने जीवनको सफल बना सकता है।

मसीही धर्मानुसार आदर्श जीवनचर्याहेतु ईश्वरद्वारा मूसाको समस्त मानव जातिके लिये दस आज्ञाएँ दी गयी हैं, जिनका वर्णन निगर्मन (२०। ३-१७) और व्यवस्था विवरण अध्याय (५।७-२१)-में है। कुछ आज्ञाएँ निम्न प्रकार से हैं—

१. तू अपने पिता और अपनी माताका आदर करना, जिससे जो देश तेरा परमेश्वर तुझे देता है, उसमें तू बहुत दिनतक रहने पाये, २. तू खून न करना, ३. तू व्यभिचार न करना, ४. तू चोरी न करना, ५. तू किसीके विरुद्ध झूठी साक्षी न देना।

६. तू किसीके घरका लालच न करना, न तो किसीकी स्त्रीका लालच करना और न किसीके दास-दासीका, बैल-गदहेका, न किसीकी वस्तुका लालच करना।

उपर्युक्त आज्ञाओंका उल्लंघन करनेसे परमेश्वर मनुष्यका साथ छोड़ देता है और उसकी करुणा एवं अनुग्रह ऐसे व्यक्तिपरसे हट जाता है और उसे अपने दुष्कर्मोंका फल इस संसारमें, साथ ही नरकमें भी भोगना पड़ता है।

ईश्वरका भय मानना—वर्तमानमें यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि मनुष्यसे सामाजिक भय, पारिवारिक भय एवं ईश्वरीय भय लुप्त हो चुके हैं। वास्तविकता तो यह है कि जबतक मनुष्यको ईश्वरका भय न हो तबतक न तो वह सामाजिक रूपसे और न ही पारलौकिक रूपसे उन्नति करनेमें समर्थ है। अय्यूबकी पुस्तक अध्याय (२८। २२)-में कहा गया है, 'देख प्रभुका भय मानना यही बुद्धि है और बुराइयोंसे दूर रहना यही समझ है।' बुद्धि और समझके तत्त्व क्या हैं, कैसे कार्य करते हैं, कैसे विचार बनते हैं ? कहा नहीं जा सकता। किसी भी मनुष्यने ईश्वरको नहीं देखा, किंतु माना जाता है कि वह ज्योतिस्वरूप है; क्योंकि भक्तोंने-सन्तोंने उस ज्योतिका अनुभव किया है। अतः आध्यात्मिकतामें आनेके लिये मनुष्यका कर्तव्य है कि वह ईश्वरकी उपस्थिति एवं उसके भयको माने। भजनसंहिता (१११। १०)-में दाऊद कहता है, 'बुद्धिका मूल यहोवाका भय है, जितने उसकी आज्ञाओंको मानते हैं, उनकी बुद्धि अच्छी होती है।' हत्यारे और छली मनुष्योंके विषयमें वह कहता है कि, 'हत्यारे और छली मनुष्य अपनी आधी आयुतक भी जीवित न रहेंगे;' क्योंकि वे परमेश्वरका भय नहीं मानते। नीतिवचन (१०। २७)-में कहा गया है, 'यहोवाका भय माननेसे आयु बढ़ती है, जबकि दुष्टोंका जीवन थोड़े ही दिनोंका होता है।'

पाँच कर्म प्रतिदिन करना—मनुष्यकी जीवनचर्या भोरके प्रकाशसे आरम्भ होती है और रात्रितक चलती है जबतक कि वह थककर सोनेके लिये बिस्तरपर नहीं चला जाता है और नींद टूटनेपर, आँखें खुलनेपर उसका प्रथम कार्य यह है कि वह ईश्वरका धन्यवाद करे कि वह एक जीवित प्राणीके रूपमें विद्यमान है, मनुष्यका दूसरा कार्य यह है कि वह ईश्वरकी प्रार्थना करे। प्रार्थना ईश्वरसे निवेदन है, याचना है। प्रार्थना ईश्वरसे पुकार है।

मनुष्यका तीसरा कर्म यह है कि वह ईश्वरकी अद्भुत रचना—इस संसारको देखकर सत्यताको परखकर कि किस प्रकार परमेश्वरने केवल बोलकर सृष्टिकी रचना की—इस तथ्यको अन्य लोगोंको बताया, जो अनभिज्ञ हैं। जो ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते ताकि वे ईश्वरकी सामर्थ्यको समझें और नाना प्रकारकी बुराइयोंसे, पापसे, झूठसे जो सबसे बड़ा पाप है, बचें।

चौथा कार्य यह है कि 'उसके लिये गीत गाओ, उसके

लिये भजन गाओ।' ईश्वरको किसी वस्तु, पैसा, नारियल, फल, फूल आदि की आवश्यकता नहीं है। परमेश्वरकी एक ही इच्छा है जैसा कि कहा गया है, 'परमेश्वर आत्मा है और आवश्यक है कि उसके भजन करनेवाले आत्मा और सच्चाईसे भजन करें।' परमेश्वर भजनसे प्रसन्न होता है। जो भक्तिसे अछूता है, उसके जीवनमें दुष्टता, अपवित्रता, अपराधीपनके तत्त्व आसानीसे प्रवेशकर उसके जीवनको बर्बाद कर देते हैं। अतः भजनद्वारा, प्रार्थनाद्वारा, ईश्वरके सम्मुख अपने पापोंको मानते हुए शरणागत हो जाना ही सच्ची भक्ति है, प्रपत्ति है।

अन्तिम कार्य जो प्रतिदिन करना है, वह प्रभु, यीशु और उनके शिष्योंद्वारा किये गये आश्चर्य कर्मोंपर ध्यान करना है।

चार कार्य जिसकी मसीही विश्वासी को अनुमति नहीं—पुराने नियमकी जकर्याह नामक पुस्तकके अध्याय (८।१६-१७)-में इस प्रकार लिखा है—'जो-जो काम तुम्हें करना चाहिये, वे ये हैं—एक-दूसरेके साथ सत्य बोला करना, (अर्थात् झूठ नहीं बोलना), अपनी कचहरियों (परिवार)-में सच्चाईका और मेल-मिलापकी नीतिका न्याय करना (अर्थात् परिवारमें होनेवाले द्वन्द्व एवं संघर्षमें सच्चाईसे निर्णय लेना एवं आपसमें सुलह करवाना) और अपने-अपने मनमें एक-दूसरेकी हानिकी कल्पना न करना तथा झूठी शपथसे प्रीति न रखना; क्योंकि इन सब कामोंसे मैं घृणा करता हूँ, यहोवाकी यही वाणी है।'

आदर्श जीवनचर्यामें कर्म और विश्वास—कर्म और विश्वास जीवन-रथके दो पहिये हैं, जिन्हें साथ-साथ घूमना है। यदि एक पहिया भी टूटता है, जीवन-रथके आगे बढ़नेमें सफलता नहीं मिलेगी। बाइबिलमें कर्म और विश्वासको एक साथ लेकर चलनेका आदेश है। यहाँ केवल कर्म ही प्रधान नहीं है और न ही विश्वास प्रधान है। याकूबकी पत्री (२।२०)-में लिखा है, 'हे निकम्मे मनुष्य! तू यह भी नहीं जानता कि कर्म बिना विश्वास व्यर्थ है।'

एक प्रश्न है कि विश्वास कैसे उत्पन्न होता है? बाइबिल बताती है कि, 'विश्वास सुननेसे और सुनना मसीहके वचनसे होता है।' (रोमियो १०।१७) नीतिवचन (४।२०-२२)-में पढ़ते हैं, 'हे मेरे पुत्र! मेरे वचन ध्यान करके सुन और अपना कान मेरी बातोंपर लगा। इनको अपनी आँखोंकी ओट न होने दे बल्कि अपने मनमें धारणकर; क्योंकि जिनको वे प्राप्त होती हैं, वे उनके जीवित रहनेका और उनके सारे शरीरके चंगे रहनेका कारण होती हैं।' विश्वासमें वह तत्त्व है, जिसके आधारपर मनुष्य जीवनचर्याको सुखी बनाता और समृद्धिको प्राप्त कर सकता है।

आदर्श दिनचर्यामें पति-पत्नीके सम्बन्ध—बाइबिलमें पतिके लिए निर्देश है कि 'हे पतियो! अपनी-अपनी पत्नीसे प्रेम रखो, जैसा मसीहने भी कलीसिया (मसीहा समाज)-से प्रेम करके अपने-आपको उसे दे दिया;' क्योंकि पुरुष ईश्वरका स्वरूप और उसकी महिमा है। पौलुसने १ करिन्थियो (११।७-८)-में यही कहा कि 'वह (पुरुष) परमेश्वरका स्वरूप और महिमा है; क्योंकि पुरुष-स्त्रीसे नहीं हुआ, परंतु स्त्री पुरुषसे हुई है और पुरुष स्त्रीके लिये नहीं सिरजा, परंतु स्त्री पुरुषके लिये सिरजी गयी है।'

एक पतिका उत्तरदायित्व पत्नीके प्रति होता है और पत्नीका पतिके प्रति। लिखा है, 'पति अपनी पत्नीका हक पूरा करे और वैसे ही पत्नी भी अपने पतिका। पत्नीको अपनी देहपर अधिकार नहीं, पर उसके पतिका अधिकार है, वैसे ही पतिको भी अपनी देहपर अधिकार नहीं, परंतु पत्नीको है।' (१ करिन्थियो ७।३-४) अतः दोनोंको अपना-अपना शरीर केवल एक-दूसरेके लिये समझना चाहिये। न पति व्यभिचार करे और न पत्नी; क्योंकि यह देह ईश्वरकी रचना है। कहा गया है कि, 'क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारी देह पवित्र आत्माका मन्दिर है, जो तुममें बसा हुआ है।' (१ करिन्थियो ७।१९) जो आत्माको व्यभिचारके द्वारा नष्ट करता है, परमेश्वर उसे नष्ट करता है। पौलुसने इसी कारण लिखा है 'व्यभिचारियोंकी संगति न करना।' पतियोंको यह भी निर्देश है कि वे कभी नारीको निर्बल पात्र न मानें। पतरसका कथन है कि, 'हे पतियो! तुम भी बुद्धिमानीसे पत्नियोंके साथ जीवन-निर्वाह करो और स्त्रीको निर्बल पात्र जानकर उसका आदर करो। यह समझकर कि हम दोनों जीवनके वरदानके वारिस हैं, जिससे तुम्हारी प्रार्थनाएँ रुक न जायँ।' (१ पतरस ३।७)

वैवाहिक जीवनमें भली पत्नीका साथ होना सौभाग्यका विषय होता है; 'क्योंकि उसका मूल्य मूँगोंसे भी अधिक है।' नीतिवचन (३१।१०)-में कहा जाता है 'भली स्त्री अपने पतिका मुकुट है (नीतिवचन १२।४), अतः पतिका कर्तव्य होता है कि वह अपनी जीवनचर्यामें पत्नीका आदर करे और जीवनभर केवल उसीसे सम्बन्ध रखे।'

पत्नियोंको भी बाइबिल हिदायत देती है कि वे पतिके अधीन रहकर जीवनयापन करें। पौलुसने कुलुस्सियों (३।१८)-में कहा है, 'हे पत्नियो! जैसा प्रभुमें उचित है, वैसा ही अपने-अपने पतिके अधीन रहो।' इफिसियों (५।२२)-में कहता है, 'हे पत्नियो! अपने-अपने पतिके ऐसे अधीन रहो जैसे प्रभुके।' उसको यह भी कहा गया है कि 'पत्नी अपने पतिसे अलग न हो।'

संसारमें मूर्ख और दुष्ट औरतें भी हैं, जिनका वर्णन नीतिवचन पुस्तकके नौवें अध्यायमें पाया जाता है, जिनके कारण परिवार टूटता है, परिवारमें अशान्ति बनी रहती है। विवाह-विच्छेद होता है, समाजमें अराजकता फैलती है, हत्याएँ एवं आत्महत्याएँ होती हैं। इस कारण पुरुषको निर्देश दिया गया है कि पराई स्त्रीसे बचना चाहिये; क्योंकि जो उसके पास जाते हैं, उनमेंसे कोई भी लौटकर नहीं आता और न वे जीवनका मार्ग पाते हैं। (नीतिवचन २।१६—१९)

अच्छी स्त्रियोंको निर्देश है—'तुम्हारा शृंगार दिखावटी न हो अर्थात् तुम्हारा सच्चा शृंगार बाल गूँथने और सोनेके गहने या भाँति-भाँतिके कपड़े पहनना नहीं, वरन् तुम्हारा सच्चा शृंगार मनुष्यत्व, नम्रता और मनकी दीनताकी अविनाशी सजावटसे सुसज्जित रहे; क्योंकि परमेश्वरकी दृष्टिमें इसका मूल्य बड़ा है।' (१ पतरस ३।४) अतः स्त्रियाँ अपनी दिनचर्यामें ध्यान रखें कि शोभा तो झूठी और सुन्दरता व्यर्थ है, परंतु जो स्त्री यहोवा (ईश्वर)-का भय मानती है, उसकी प्रशंसा की जायेगी। (नीतिवचन ३१।३०)

'अन्तमें निष्कर्षस्वरूप बात यह है कि परमेश्वरका भय मानना और उसकी आज्ञाओंका पालन करना चाहिये; क्योंकि मनुष्यका सम्पूर्ण कर्तव्य यही है।' (सभोपदेशक १२।१३)

इस्लाम धर्ममें जीवनचर्या

(श्रीसैयद कासिम अली, साहित्यालंकार)

ईश्वरीय नियम है कि जहाँ अनाचार-अत्याचारका बीभत्स आर्तनाद दानवताकी पराकाष्ठापर पहुँच जाता है, वहाँ फिर मानवताका वह स्तम्भ स्थापित होता है, जो संसारके लिये आदर्श प्रकट करता है। अरब देशमें भी आजसे डेढ़ हजार वर्ष पहले नारकीय कृत्य होते थे। लड़कियोंको जिन्दा गाड़ देना, शराब पीना, दासोंकी परम्परा, मनुष्योंमें भेदभाव, लूट-खसोट, डाका-चोरी, लेन-देनमें मूलसे ब्याज कई गुना, पाप, छल, कपट, व्यभिचार आदि हजारों दुष्कर्म प्रचलित थे। ईश्वर और भक्तिका नाम नहीं था। मनमानी धींगामस्तीका साम्राज्य शक्तिमानोंके हाथमें था। ऐसे कठिन कालमें दानवता तथा पशुताको नष्ट करनेके लिये ईश्वरीय प्रेरणा हुई और हजरत मुहम्मदका जन्म सन् ६२५ ई० में अरब देशके मक्का शहरमें हुआ। उन्होंने शराबका पीना तथा छूना, ब्याज लेना, जना करना, ऊँच-नीचके भेदभावको पापकर्म कहकर इस्लाम अर्थात् शान्तिका उज्ज्वल पथ धर्मके रूपमें चलाकर मानवताका आदर्श स्थापित किया और मानवताके वशीभूत हो इस धर्मके निम्नलिखित उद्देश्य प्रकट किये—

१-ईमान—सत्यताका पालन करके, छल-कपट, पर-निन्दासे बचकर ईश्वरीय ध्यानमें पूर्णरूपसे मग्न रहना।

२-नमाज—सच्चरित्र, सदाचारी और पवित्र रहकर प्रतिदिन ५ बार प्रातः, दोपहर, अर्ध-सन्ध्या, सन्ध्या, अर्धरात्रिको ईश्वरोपासना करना तथा छोटे-बड़ेका भेदभाव मिटाकर एक पंक्तिमें सामूहिक ईश-वन्दना करना।

३-रोजा—सालभरमें एक मास बिना जल-फलके दिनभर व्रत रखना, जिससे मानसिक शुद्धि, सन्तोष और त्यागकी भावनाएँ उठें।

४-हज—सालभरमें संसारके सभी लोगोंका मक्का-शरीफकी यात्रा करके विश्वभरके साथियोंके साथ ईश्वरोपासना करना, जिससे विश्वपरिचय मिले, संसारका ज्ञान बढ़े और सबके दुःखोंका परिचय प्राप्त हो।

५-जकात—आमदनीका चालीसवाँ भाग गरीबोंको दान करना, जिससे दीन-हीनोंकी समस्या हल हो जाय।

यह सिद्धान्त केवल मानवताके वास्तविक रूपको ही विकसित करता है। यही नहीं, अनुशासन, एक आदेश, अन्य धर्मोंका सम्मान, स्त्री-सम्मान इस्लामके आचार्य, इस्लामी ग्रन्थ और इस्लामी जनतामें गौरवशाली हैं। प्रत्येक मुसल्मान प्रतिज्ञाबद्ध प्रार्थना करता है। दिनमें पाँच बार नमाजके बाद कहता है कि 'रब्बना अतैना फिदुनियाँ हसना तव फिल आखिरते हसनातव

किनाअजा' अर्थात् हे प्रभो! तू हमको मानवताकी प्रेरणा दे और अन्तकालमें भलाई-परहितकी शक्ति दे, जिससे नरकसे बचे रहें। कुरानशरीफमें किसी अन्य धर्मवालोंका अपमान नहीं किया गया। एक सूरह काफिरून है, जिसका अर्थ है कि जो लोग मूर्ति पूजते हैं, पूजने दो। उन्हें कष्ट न दो, तुम अपने सिद्धान्तोंपर रहो और वे अपने। इसी भाँति सूरह फलकमें—कुल आऊजो बिरब्बिल फलके मिन शररे मां खलाक़ा व मिन शररे गासे किन इज़ा वक़ा व मिन शररे हासिदेन इज़ा हसद अर्थात् मैं उस प्रभुसे क्षमा चाहता हूँ जो मानवताके विरुद्ध प्रचलित है। उस ईर्ष्यालु अँधेरी छानेवाली बुराई और पक्षपाती नीतिपर चलनेवालोंकी बुराईसे (क्षमा चाहता हूँ)। उपर्युक्त कुरान-शरीफकी आयतें ही नहीं, सारे खलीफा, इमाम मानव-प्रेमी थे। पैगम्बर साहबने अपने उन शत्रुओंको, जिन्होंने उनके आत्मीयजनका खून बहाया, जिन्होंने उनको हर भाँति कष्ट पहुँचाया, जिन्होंने उनके भक्तों तथा उनके पवित्र ग्रन्थ तथा पवित्र स्थानोंको हानि पहुँचायी, सदा क्षमा करके ईश्वरसे उनको सन्मार्गमें चलानेकी प्रार्थना की। उन्होंने कई प्रसंगोंपर विभिन्न धर्मवालोंको मस्जिदोंमें ईश्वर-प्रार्थनाकी आज्ञा देकर उदारता दिखायी है। क्रोध, मद, लोभ, मोह, स्वार्थको मिटानेवाले इस्लामके हजारों-लाखों ऐतिहासिक उदाहरण मानवताकी महान् पताका फैला रहे हैं। आज जो भाषा, भेष, प्रान्तके स्वार्थी लोग पद, पैसा, पराक्रमको प्राप्त करनेके लिये मानवताका रक्त चूस रहे हैं, वे स्वार्थी संसारमें अपने अमर पथको भ्रष्ट करके कभी सुखी नहीं रह सकते। इस्लाम निन्दा, बुराई और स्वार्थ-भावनाको अहितकर बतलाता है और मानवताकी नींवपर खड़ा होकर संसारमें अद्वितीय आदर्श रखता है।

वंशसंरक्षणके लिये वर्जित सम्बन्ध

(श्रीविमलकुमारजी लाभ, एम०एस-सी०)

भारतीय दृष्टिसे स्त्री और पुरुषका दाम्पत्य-सम्बन्ध जीवनभरका माना जाता है, जिसे हम लोकयात्रा भी कहते हैं। लोकयात्राके लिये मुख्य साधन देह है। इस लोकयात्राके करणीय कर्मोंमें सन्तानप्राप्ति तथा वंशविस्तार भी है। इसीको ध्यानमें रखते हुए पुरुष और स्त्रीका विवाह विहित है। विवाहके बिना भी किसी स्त्री और पुरुषके पारस्परिक योगसे सन्तानप्राप्ति होती है, लेकिन विवाह-संस्कारके बिना इस सन्तानद्वारा वंशका विस्तार नहीं माना जाता है। सन्तान ऐसी हो कि जिससे लोकका हित हो। लोकहितके लिये सन्तान आवश्यक गुण और क्षमता प्राप्त कर सके—यह उद्देश्य माता-पिताका होना चाहिये। सन्तानकी आकृति, रूप, रंग ही नहीं, स्वभाव, रुचि आदि भी माता-पिताके स्वभावके अनुसार बनते हैं। आधुनिक मनोविज्ञानने भी इस बातको स्वीकार किया है। किसी व्यक्तिके निर्माणमें वंशपरम्पराके प्राप्त गुणोंका महत्त्व अधिक है। व्यक्तिके परिवेश एवं परिस्थितिका महत्त्व भी दूसरे व्यक्तिके परिवेश एवं परिस्थितिके विकासमें होता है फिर भी परिवेश एवं परिस्थितिके साथ व्यक्ति जिस प्रकारका तालमेल बैठा लेता है, इसके आधार वंशपरम्परासे प्राप्त गुण ही हैं। विज्ञानके अनुसार सन्तानकी उत्पत्तिकी प्रक्रियाका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि पुरुष-स्त्री शुक्रधातुमें ८४ गुणसूत्र अंश होते हैं। इनमेंसे कोई २८ अंश व्यक्ति स्वयं खाने-पीनेके द्वारा प्राप्त कर लेता है, पर शेष ५६ अंश अपने पूर्वजोंसे प्राप्त करता है। इन ५६ अंशोंमें २१ पिताके होते हैं, १५ अंश दादाके होते हैं, १० अंश परदादाके होते हैं, ६ अंश चौथी पीढ़ीके होते हैं और ४ अंश इसी वंशकी पाँचवीं पीढ़ीके होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें अपने पूर्वकी छः पीढ़ियोंके पुरुषके अंश एकत्रित रहते हैं। संक्षेपमें एक स्त्री और एक पुरुष अपने पूर्वजकी दस पीढ़ियोंके अंशोंको स्वयं प्राप्त किये रहते हैं, इसीलिये सन्तानका स्वभाव आदि वंशपरम्परापर निर्भर करता है। यही कारण है कि वंशवृद्धिके लिये भिन्न-भिन्न वंशपरम्पराओंके स्त्री-पुरुषोंमें परस्पर सम्बन्ध करनेकी प्रथा है। एक ही माता-पिता या दादा-परदादावाले स्त्री-पुरुषोंमें विवाह-सम्बन्ध वर्जित माना जाता है। ऐसे वर्जित सम्बन्धोंको ध्यानमें न रखनेपर ही वंश नष्ट हो जाता है। अपनी वंशपरम्पराको सही दिशामें अग्रसर रखनेके बाद ही कोई अपने पितरोंको तृप्त कर सकता है।

यायावर रोमाओंकी जीवनचर्यामें भारतीय संस्कृतिकी झलक

(पद्मश्री डॉ० श्रीश्यामसिंहजी 'शशि', पी-एच०डी०, डी०लिट०)

राहुल सांकृत्यायनने धर्म और घुमक्कड़ीकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'किसी-किसी पाठकको भ्रम हो सकता है कि धर्म और आधुनिक घुमक्कड़ीमें विरोध है, लेकिन धर्मसे घुमक्कड़ीका विरोध कैसे हो सकता है, जबकि हम जानते हैं कि प्रथम श्रेणीके घुमक्कड़ कितने ही धर्मोंके संस्थापक हुए और कितनोंने धर्मसे सम्बन्धित होकर अद्भुत साहसका परिचय दिया तथा दुनियाके दूर-दूर देशोंकी खाक छानी। फाहियानकी यात्रा हमने पढ़ी है, ह्वेनसांग और इत्सिंगके भी दुर्दम्य साहसका परिचय उनकी यात्राओंमें पाया जाता है। मार्कोपोलोका उस समयकी अज्ञात दुनियामें घूमना और देखी हुई चीजोंका सजीव वर्णन आज भी घुमक्कड़ोंके हृदयको उल्लसित कर देता है।'

मैंने वर्षोंपूर्व यायावर-संस्कृतिपर शोध आरम्भ किया था और मेरे शोधस्थल थे—चम्बाके मनमोहक धौलाधार, भरमौर और उसके आस-पासके गीत गाते गाँव, गद्दियों और गुज्जरोंके काफिले और फिर पंगवाल और किन्नरोंके बीच। यहाँकी प्रकृतिकी सात्त्विकता और ऋजुताने मेरे मानवशास्त्रको नयी दिशा देकर महानगरोंकी ओर भेजा। भारतीय आदिम जाति सेवकसंघमें तथा अन्यत्र मेरे अध्ययन-पात्र यदा-कदा मिलते रहे। उनसे परिवर्तनोंके सम्बन्धमें प्रश्न करता और फिर कुछ नया जोड़ता। योरोप और अमेरिकामें भी यायावरोंके बीच रहा। ये यायावर रोमा जिप्सी सिगानों, मानुष आदि संज्ञाओंसे जाने जाते हैं। मेरा स्पष्ट अभिमत है कि ये लोग एक हजार वर्षपूर्व पश्चिमोत्तर भारतसे अपना घर-बार छोड़कर वहाँ गये थे। पश्चिमोत्तर भारतमें हिमाचल प्रदेश भी आता है। जिस प्रकार गद्दियोंके प्रवासके बारेमें कहा जाता है—***'उजड्या लाहौर ते वस्या भरमौर'***। उसी प्रकार इन लोगोंके बारेमें भी अवधारणा है कि इन रोमाओंके पूर्वज लाहौर अथवा पंजाबसे बड़ी संख्यामें पश्चिमकी ओर गये थे।

रोमा-संस्कृति विश्वकी सबसे विशाल यायावर संस्कृति है; क्योंकि ये लोग रोमानिया, युगोस्लाविया, हंगरी, जर्मनी, फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क, फिनलैण्ड, इटली, ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका और रूस तथा अन्य देशोंमें घुमक्कड़ी करते रहे हैं। सूर्य मन्दिरोंकी खोजके चलते मुझे मैक्सिकोमें भी यायावर संस्कृतिको देखनेका अवसर मिला। वहाँ रोमा-समुदायको 'गिटानो' के नामसे पुकारा जाता है। उनकी भाषामें आज भी हिन्दी तथा भारतीय भाषाओंके पचास प्रतिशत शब्द मिलते हैं और कुछ शब्द पहाड़ी भाषाओं, गद्दी और गूज़री बोलियोंके भी हैं। उनकी रोमानी भाषामें कान, याँख (आँख), बाल, मानुष (मनुष्य), कालो (काला), फेन (बहन), सालो (साला), सासुर (ससुर) आदि शब्द सुने जा सकते हैं।

रोमाओंका प्रवसन एक बारमें ही नहीं हो गया। वे एकके बाद एक कई समूहोंमें गये। ये समूह छोटे-छोटे थे। प्रायः इनमें एक परिवार या एक वंशके लोग होते थे। यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रक्रिया अब बंद हो गयी है, जबकि योरोपमें प्रत्येक राष्ट्रीयताके लोग बहुत पहले ही कहीं-न-कहीं बस चुके हैं। चैकोस्लोवाकियामें प्रायः रोमाओंको हंगेरियाई भाषा बोलते हुए पाते हैं। वे यहाँ द्वितीय विश्वयुद्धके बाद पड़ोसी देश हंगरीसे आये थे; क्योंकि युद्धमें चैकोस्लोवाकियाके जिप्सियोंका जर्मनोंने सर्वनाश कर दिया था। यह कोई नहीं जानता कि आज वे किस प्रकार एक देशसे दूसरे देशमें घूमते-फिरते हैं, जबकि आजकल देशोंकी सीमाएँ स्पष्ट रूपसे अंकित हैं और उनपर कड़ा पहरा रहता है।

एक रूसी शोधकर्ता एम०जे० कोनाविनके अनुसार रूसमें जिप्सियोंने ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, लक्ष्मी और पृथ्वीकी कथाओंको अक्षुण्ण बनाये रखा है। पृथ्वी देवीको वे 'माता' कहते हैं। चिकित्सक कोनाविन एक उत्साही भाषावैज्ञानिक थे। उनका जन्म सन् १८२० ई० में हुआ था। उन्होंने अपने जीवनके ३५ वर्ष जिप्सी लोगोंकी उत्पत्ति और जीवनके अध्ययनमें लगाये और वे दो बार भारत आये। उन्होंने १२३ जिप्सी कथाएँ, ८० पौराणिक परम्पराएँ और ६२ जिप्सी लोकगीत संकलित किये थे। उनकी कृतियोंके अनुवादक डॉ० ऐलीसेफने रूसी न जाननेवाले पाठकोंको उनके शोधकार्यकी जानकारी देकर महान् सेवा की है। डॉ० एलीसेफके शब्दोंमें डॉ० कोनाविन जिप्सी लोगोंके बुद्धिजीवी प्रतिनिधियोंसे बातचीत करके इस

विचारपर पहुँचे थे कि इन लोगोंने अपने विषयके बहुत-से ऐतिहासिक तथा प्रजातीय तथ्योंको अपनी स्मृतिमें सुरक्षित रखा है।

स्वीडनकी भाँति अमरीका ही ऐसा देश है, जहाँ जिप्सी धनी हैं। नयी दुनिया (अमरीका) अग्रदूतों और साहसी लोगोंका देश है। यहाँ आपको पंजाबी लकड़हारे मिलेंगे, जो अपनी मेहनतसे करोड़पति बन बैठे हैं। यहाँ आप जिप्सियोंके ऐसे दल देख सकते हैं जो नयी तरहकी ऐसी कारोंमें चलते हैं, जिनमें सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। स्वीडनको छोड़कर रोमा और कहीं भी इतने समृद्ध नहीं हैं। उन्हें व्यापार करनेका पूरा अवसर मिलता है। असीमित सम्भावनाएँ उनके पास हैं। अमरीकाके विस्तृत मैदानोंमें उनको डेरे डालकर ठहरनेकी स्वतन्त्रता है।

रोमा अब अन्तर्जातीय विवाह भी करने लगे हैं। मुझे इंग्लैण्डमें एक अकादमिक परिवार मिला, जिसमें पति गाजो (गैर जिप्सी) था तो पत्नी रोमा। पिछले दिनों तलाककी संख्या भी बढ़ी है। रोमाओंके लिये विद्यालय खोले गये हैं। वैसे विकासकी गति पिछले दिनोंसे कुछ तेज हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर रोमाओंकी कांग्रेस बन जानेसे इस समाजको बड़ा लाभ हुआ।

रोमाओंके संयुक्त परिवार टूटने लगे हैं। लेकिन कारवाँका जीवन अभी कम बदला है। स्वच्छता तथा पवित्रता भी बरती जाती है।

मृतकको कभी जलाया जाता था, आज दफनाया जाता है। कई विचित्र रीति-रिवाज हैं। लोकगीतों और लोकनृत्योंको पिछले दिनों और अधिक बल मिला है, उनका जीवन-दर्शन और संगीत दुःख-दर्द भुला देता है, कुछ क्षणोंके लिये ही सही।

आइये, एक लोकगीतकी कुछ पंक्तियाँ देखें—

बरो पानी (समुद्र)
सुन दी हुन्नालो ओ दी पानी,
ओ हुन्नालो बरो पानी
हुन्नालीन सारसा
कोस इट कान्ट ताल आन्डूरो
ऐन गुरमीन आजा।
पानीका गर्जन सुनो,
गरजते हुए महासमुद्रका,
यह सदैवसे गरजता रहता है।

रोमाओंको पीड़ा सहनेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था, इसलिये उनके यहाँ इस प्रकारकी एक कहावत ही बन गयी—पीड़ा सम्मानका प्रतीक है।

इविंग ब्राउनने लिखा है—'उन्हें मारो, उन सबको मारो।' एक चिल्लाया। उनको मर जाने दो। दूसरा चिल्लाया। तब मैंने एक तीसरेको कहते सुना—'क्यों? बेचारे निर्धन जिप्सियोंने किया क्या है?'

मैं भगवान्‌को पुकारकर पूछता हूँ—'हाय! हम कितने कम हैं, हम निर्धन काले लोग।'

कुछ देशोंमें रोमाओंको अपराधी जातियोंमें शामिल किया गया। भारतमें भी अंग्रेजोंद्वारा कई ऐसी जातियोंको अपराधी करार दिया गया था।

वास्तवमें जिन समाजोंने अंग्रेजोंके विरुद्ध लड़ाई लड़ी और भारतकी स्वतन्त्रताके लिये संघर्ष किया, उन्हें अपराधी जातियाँ घोषित कर दिया गया, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। यही स्थिति विदेशोंमें रोमाओंकी रही।

रोमा परम्परागत परिवारोंमें शिशुका जन्म दैवी घटना मानी जाती है, जच्चाको किसी खुले स्थानमें या किसी गाजो (गैर जिप्सी)-के घर प्रसव करना होता है। जन्म देनेके बाद बच्चेको वह अपने तम्बूमें लेकर आ जाती है। चार सप्ताह उसे अशुद्ध माना जाता है। कई देशोंमें खानाबदोश रोमा नवजात शिशुको तुरंत ठंडे पानीमें नहलाते हैं ताकि वह सर्दीका प्रकोप सह सके। दुष्ट आत्माओंसे बचानेके लिये विधि-विधान है।

रोमाओंमें शिक्षाका कोई महत्त्व नहीं है। वह तो उनको बड़े-बूढ़ोंसे ही मिल जाती है। वैसे आजकल कई देशोंमें सचल जिप्सी विद्यालय खोले गये हैं, कन्याओंके कौमार्यकी रक्षा करना रोमा-समाजकी विशेषता है। हालांकि अब योरोपकी संस्कृति उनपर हावी होती जा रही है। रोमाओंमें वेश्यावृत्तिके कठोर दण्डका प्रावधान है। जिप्सियोंका फैसला उनकी अपनी पंचायत करती है, जिसे क्रिस कहा जाता है। कारवाँका मुखिया न्यायाधीश होता है। उसकी आज्ञा शिरोधार्य होती है।

अनेक परिवारोंमें आज भी विवाह माता-पिताकी सम्मतिसे होते हैं। वधूमूल्य अनिवार्यरूपसे चुकाना होता है। मुसलिम रोमाओंको ईसाईकी तुलनामें अधिक राशि देनी पड़ती है। दक्षिण-पूर्वी बालकान और जर्मनीमें रोमा वर-वधू घरसे भागकर कुछ समयके लिये बाहर चले जाते

हैं। लौट आनेपर इसे विवाहकी संज्ञा दे दी जाती है। ईसाई जिप्सी अब चर्चमें विवाह करने लगे हैं। पति-पत्नीको जीवनमें एक-दूसरेके प्रति एकनिष्ठ रहना होता है।

इटलीमें रोमाओंके बारेमें कहा जाता है कि वे चोरी भी करते हैं। वास्तवमें इटलीमें तो वैसे ही चोरियाँ बहुत होती हैं। फिर बेचारे रोमाओंको ही क्यों दोष दिया जाता है। ऐसा लगता है कि रोमा अन्य समाजोंकी तुलनामें पिछड़ा समाज है, इसलिये उसपर यह तोहमत लगायी जाती है।

रोमा ज्योतिषमें विश्वास रखते हैं। इनकी स्त्रियाँ हस्तरेखा-विशेषज्ञ मानी जाती हैं। आश्चर्य है, योरोपका सम्भ्रान्त समाज उन्हें अपनी भाग्यरेखा दिखाकर अपने भविष्यका फैसला करता है! कैसा विरोधाभास है! इस समाजमें कुछ कश्मीरी ब्राह्मण भी रहे होंगे, जो सम्भवतः जुत्शीसे जिप्सी बन गये। लगता है जुत्सी, जिप्सी, ज्योतिषी तथा जोशीमें पर्याप्त शाब्दिक साम्य है। रोमा समाजमें आजकल पश्चिमकी देखा-देखी विवाह-विच्छेदोंकी संख्या बढ़ने लगी है।

विश्वके कोने-कोनेसे लाखों रोमा आज भी प्रतिवर्ष दक्षिण फ्रांसमें एकत्र होते हैं और सतसारा देवीकी पूजा करते हैं। उसे वे काली भी कहते हैं, जो दुर्गाका स्वरूप मानी जाती हैं। उसे बंगाल-परम्पराकी तरह जलस्पर्श कराया जाता है, पर विसर्जित नहीं किया जाता। धर्म उनके जीवनका अंग है। कभी उनके यहाँ यज्ञ भी होते थे। गोत्र-परम्परा थी और हिन्दूकर्मकाण्ड भी प्रचलित होते थे, किंतु खानाबदोशी उनका सब कुछ छीनती गयी, लूटती गयी। आज उनका जीवन-दर्शन ही बदल गया। पर जो कुछ शेष है, वह भारतकी पुरातन परम्पराओंकी धरोहर है।

रोमा भारतको आज भी बारो थान (बड़ा स्थान) कहते हैं। वर्ष २००१ में उन्हें जब हरिद्वार तथा ऋषिकेशकी यात्रा करायी गयी तो उन्होंने श्रद्धापूर्वक मन्दिरोंके दर्शन किये तथा वे यहाँका गंगाजल अपने साथ ले गये। कुछेकने प्रतिज्ञा की कि वे भविष्यमें अपने पूर्वजोंकी धरोहर, भारतीय संस्कृतिको अपने-अपने देशोंमें सुरक्षित रखेंगे।

पिछले दिनों जर्मनकी एक रोमा कलाकारकी चित्र-प्रदर्शनी दिल्लीमें लगायी गयी थी। रोमा रिसर्च सेण्टर रिसर्च फाउण्डेशन, भारतीय विद्याभवन तथा आइफैक्स आर्ट गैलरीमें कथारीना पोलककी तीन भिन्न-भिन्न प्रदर्शनियोंमें स्थानीय कलाकारोंने भी भाग लिया था।

रोमा आज भारतीय संस्कृतिके आदर्शोंको यथासम्भव अपनाये हैं, यह भारतीय संस्कृतिके प्रति उनके प्रेम और आत्मीय भावको प्रदर्शित करती है।

विदेशोंमें बसे भारतीयोंकी जीवनचर्या

(श्रीलल्लनप्रसादजी 'व्यास')

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दीमें विश्वमें एक अद्भुत घटनाक्रम घटित हुआ, जो मानव इतिहासमें स्वर्ण-अक्षरोंमें अंकित करनेयोग्य है। वह यह है कि जब भारतके निर्धन नर-नारी रोजी-रोटीकी तलाशमें जहाजोंमें भरकर भारतसे बाहर सुदूर अनजान द्वीपोंमें ले जाये गये तब उनके जीवन और जीवनचर्याके आधार प्रायः श्रीरामचरितमानस और हनुमान-चालीसाके रूपमें श्रीराम और श्रीहनुमान्‌जी बन गये। जहाजोंके भारतभूमि छोड़ते ही उनके स्वर्णिम सपने नारकीय जीवनमें बदल जाते थे और महीनोंकी उबाऊ और अस्वस्थकारी समुद्र-यात्राके बाद तो उनको नरक साफ-साफ दिखायी पड़ने लगता था। नरक इसलिये नहीं कि ये द्वीप कोई भयानक थे, बल्कि इसलिये कि गन्नेके खेतोंमें मालिकोंके जिन दलालों या कर्मचारियोंके अधीन उन्हें काम करना पड़ता था, वे प्रायः निर्दयी और अन्यायी होते थे और इन भोले-भाले भारतीयोंके साथ पशुवत् व्यवहार करते थे। गाली-गलौज तो आम बात थी। कभी-कभी इनपर कोड़ोंकी मार भी कर देते थे।

ऐसी यातना और अन्यायके दौरमें भी मॉरिशस, फिजी, ट्रिनिडाड, सूरीनाम, गयाना आदि देशोंमें पहुँचे इन लाखों प्रवासी भारतीयोंका जीवन और जीवनचर्याकी डोर भारतीय संस्कृति और धर्मसे जुड़ी रही। वे सूर्योदयके समय उठते, नहाते और शिवलिंगनुमा किसी पत्थरमें शंकरभगवान्‌की भावना करके उसपर जल चढ़ाते, हनुमान-चालीसाका पाठ करते, श्रीरामचरितमानसके कुछ दोहे-चौपाई दोहराते और फिर दिनभर चिलचिलाती धूप या बरसातमें पशुओंकी तरह काम करते। फिर अपनी टीनकी बनी झोपड़ियोंमें लौटकर

स्नान-भोजनके बाद अपने साथी-समूहोंमें बैठकर ढोलक, झाँझ, मंजीरा बजाते हुए श्रीरामचरितमानस और हनुमान-चालीसाका सस्वर सामूहिक पाठ करते और दिनभरकी थकान, बेबसी और बेइज्जतीको भुला देते।

लगभग एक-डेढ़ शताब्दीमें ही मानस और चालीसाका ऐसा आध्यात्मिक चमत्कार हुआ कि कुली-मजदूर बनकर इन देशोंमें जानेवाले बेबस भारतीय वहाँके प्रधानमन्त्री, गवर्नर जनरल, राष्ट्रपति, प्रधान न्यायाधीश आदि बनकर भाग्य विधाता बन गये। ऐसा इन सभी पाँचों देशोंमें किसी-न-किसी समय सम्भव हुआ और आज भी वह महत्त्व किन्हीं देशोंमें शेष है। जमैका, दक्षिण अफ्रीका, मलाया, श्रीलंका (पहले सीलोन) आदिमें भारतीयोंकी मिलती-जुलती कहानी है। फिर बीसवीं शताब्दीमें तो रोजगार और व्यापारके सिलसिलेमें लाखों बल्कि करोड़ों भारतीय विश्वके सभी महाद्वीपोंमें फैल गये, जिन्होंने किसी-न-किसी रूपमें भारतीय संस्कृति और उससे जुड़ी जीवनचर्यासे जुड़ाव बनाये रखा।

बीसवीं शताब्दीमें विज्ञान और तकनीकीका प्रभाव और प्रसार बढ़नेके साथ भारतीयोंमें भी कहीं कहीं मानव-मूल्योंका क्षरण होने लगा तो कुछ आध्यात्मिक विभूतियोंद्वारा विश्वभरमें श्रीकृष्णभक्ति-भावनाका जो व्यापक प्रचार हुआ, उसने भारतीयोंसे अधिक करोड़ों गैर भारतीयों यानी विदेशियोंकी जीवनचर्याको बदलकर प्रभुभक्ति और प्रभु-समर्पणसे जोड़ दिया। उनके साथ ही रामायण और श्रीमद्भागवतके बड़े-बड़े प्रवचन आयोजित होने लगे, जिन्होंने भारतवंशी विदेशियोंकी जीवनचर्याको बदलकर भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओंसे जोड़ा।

विदेशोंमें अनेक मन्दिर हैं, जहाँ प्रात:से सायंकालतक पूजन, भजन, आरती, प्रसादवितरण आदि होता रहता है और उसके साथ नृत्य-कीर्तन भी। इसके अलावा अनेक देशोंमें स्थापित गुरुद्वारोंमें रोजाना श्रीगुरुग्रन्थसाहिबका पाठ, भजन-कीर्तन, लंगर आदि चलते रहते हैं।

अब चर्चा उन लोगोंकी है, जो भारतीय या भारतवंशी न होते हुए भी अपने-अपने देशोंमें भारतीय संस्कृति और उसकी परम्पराओंसे प्रभावित जीवनचर्याका पालन करते हैं। इनमें पड़ोसी देश थाईलैण्ड, बरमा, कम्बोडिया, लाओस आदि हैं, जहाँ बौद्धधर्मका पालन होता है। इन देशोंमें सूर्योदयसे पूर्व (उषाकाल) हजारोंकी संख्यामें पीतवस्त्रधारी बौद्ध भिक्षु एक हाथमें भिक्षापात्र और दूसरेमें कमलका फूल लिये गलियों-सड़कोंपर घरोंके आगे घूमते दिखायी पड़ते हैं और गृहस्थ स्त्रियाँ उन्हें बुलाकर भोजन सामग्री, पेय पदार्थ आदि देनेके लिये तत्पर रहती हैं। उन भिक्षुओंके आनेसे पूर्व ही जागकर वे स्त्रियाँ भोजन बनाती हैं। सामान्य रूपसे कोई भिक्षु आवाज नहीं लगाता और कई एक साथ किसीके घरके बाहर भिक्षाके लिये नहीं पहुँचते। इसके बाद वे अपने मठोंमें जाकर भिक्षा ग्रहण करते हैं तथा उन मठोंमें आनेवाले छात्रों और जिज्ञासुओंको धार्मिक शिक्षा भी प्रदान करते हैं। ये बौद्ध भिक्षु सूर्यास्तके बाद भोजन नहीं करते। पेय पदार्थ अवश्य ले सकते हैं। इसी प्रकार इंडोनेशियाके हिन्दूबहुल सुन्दर द्वीप बालीमें हिन्दू परम्पराओंसे प्रभावित जीवनचर्या देखनेको मिलती है।

भारतसे बाहर भारतीय संस्कृतिकी कुछ श्रेष्ठ परम्पराओंके दर्शन अभी भी होते हैं, जो उनकी जीवनचर्याके अंग बन गये हैं। इसके विपरीत विदेशी शिक्षा और विदेशी संस्कृतिसे प्रभावित भारतके लोग परम्परागत श्रेष्ठ जीवनचर्यासे दूर होते दिखायी पड़ रहे हैं। हाँ, कहीं-कहीं यह भी देखनेमें आता है कि ऐसे लोगोंमें भी कुछ सन्तोंकी कृपा और सत्संगके प्रभावसे पुन: उनकी आस्था वापस आयी है। दक्षिण भारतके प्रदेशोंके नगरों और ग्रामोंमें अपेक्षाकृत अपनी सांस्कृतिक परम्पराओंसे अधिक लगाव दिखायी पड़ता है। वहाँके कामकाजी तथा अन्य लोग भी सुबह जल्दी उठकर स्नान करते, पूजन करते और मस्तकपर भस्म लगाते दिखायी पड़ते हैं।

देश-विदेशमें प्राय: यह देखा गया है कि जिन लोगोंमें अपने धर्म, संस्कृति और परम्पराओंको पालन करनेकी दृढ़ता और निष्ठा है तथा उनसे प्रभावित जीवनचर्याके प्रति भावात्मक लगाव है, वे जीवनमें अपेक्षाकृत अधिक सफल और सुखी हैं तथा उनमें शान्ति और सन्तोष भी है। श्रद्धा, भक्ति, आस्था और निष्ठा होनेपर उचित और अपेक्षित जीवनचर्या स्वत: बन जाती है। पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षाके कुप्रभावरूपी आँधी-तूफान और भौतिकवादकी अन्धी दौड़के वर्तमान दौरमें हमें अपनी संस्कृति और संस्कारोंकी जड़ोंसे और अधिक मजबूतीसे जुड़े रहनेकी आवश्यकता है।

इसके लिये आवश्यक है कि हम भारतीय संस्कृतिपर आधारित जीवनचर्याका पालन करें।

आध्यात्मिक जीवनचर्या

(शास्त्रोपासक आचार्य डॉ० श्रीचन्द्रभूषणजी मिश्र)

भगवत्कृपासे प्राप्त यह जीवन दो मौलिक चिन्तनके साथ अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है। पहला है धर्म और दूसरा है अध्यात्म। साधारणतया लोग धर्मको ही अध्यात्म मानकर अपनी जीवनचर्या निर्धारित कर लेते हैं, परंतु धर्म और अध्यात्ममें आकाश-पाताल-जैसी दूरी है। धर्म धारण किया जाता है **'ध्रियते धर्मः'**। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या और अक्रोधको सार्ववर्णिक धर्मके दस लक्षणोंमें परिगणित किया गया है। श्रीभागवतादि ग्रन्थोंमें धर्मकी विस्तृत व्याख्या मिलती है, जहाँ पक्षीधर्म, पशुधर्म आदिकी अलग-अलग चर्चा की गयी है। सबका अपना-अपना धर्म होता है, जैसे—अग्निका धर्म है जलाना, दाहिका उसकी शक्ति है। पानीका धर्म है प्यास बुझाना, पवित्र करना। वायुका धर्म है गति करना और जीवन देना, असंगता इसका गुण है। हवा जहाँसे गुजरती है वहाँकी गन्ध पकड़ लेती है, कुछ दूर जानेपर उसे छोड़ देती है और दूसरी गन्ध धारण कर लेती है। इसी तरह धरतीका धर्म है धारण करना और क्षमा करना। आकाशका धर्म है अवकाश देना (जगह बनाना), शून्यता इसका गुण है। धर्म बाहरकी यात्रा है। धर्महीन व्यक्ति पशुकी तरह माना जाता है।

अधि उपसर्गसे प्रारम्भ होनेवाला अध्यात्म शब्द अन्तःकी यात्रा कराता है। 'अधि'का अर्थ होता है भीतर जाना अर्थात् स्वयंका अध्ययन 'Know thyself'। भगवान् बुद्ध इसे **'अप्पदीपो भव'** बोलते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी ***'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा'*** कहकर स्वीकार करते हैं। अपनी वास्तविकताका बोध ही अध्यात्म है। स्नान, पूजा-पाठ धर्म है, चिन्तन-मनन अध्यात्म है। शारीरिक स्तरपर जीना धर्म है। शरीरहेतु तीन चर्याकी चर्चा ग्रन्थोंमें मिलती है—

दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदितम्।
आचरन्पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा॥

अर्थात् शास्त्रविहित दिनचर्या, रात्रिचर्या तथा ऋतुचर्याका आचरणकर व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। परंतु आत्माकी अमरताका भाव रखते हुए आत्मिक जीवन श्रेयस्कर है। आत्मवादी ऋषि श्रुतिमें यह स्पष्ट करते हैं—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥

(अथर्व० ४।१३।६)

मेरे ये हाथ भगवान् हैं, भगवान्से श्रेष्ठ हैं। मेरे हाथमें विश्वके सभी रोगोंकी औषधियाँ हैं, जिनसे कल्याण होता है।

मूर्तिरहित मन्दिरकी तरह आत्मारहित शरीर व्यर्थ है। समाजके सभी नियमोंका निर्वाह करते हुए धार्मिक कृत्य करना ही व्यक्तिकी धार्मिकता है, पर अपने भीतर प्रवेश करके ठहर जाना ही आत्माराम हो जाना है—**'न हि स्वात्मारामो विषयमृगतृष्णा भ्रमयति'**। आध्यात्मिक व्यक्तिका यह प्रयास रहता है कि अपनी जीवनचर्यामें बाहरी विचार प्रवेश न करें।

'जो जगमें रहूँ तो ऐसे रहूँ जैसे जलमें कमलका फूल रहे' आध्यात्मिक जीवनचर्यामें अपनी कामनाको दिनोंदिन घटाते हुए सन्तोषपूर्वक जीनेका प्रयास करना पड़ता है, इसमें प्रभुके साथका सम्बन्ध याचक और दाता-जैसा नहीं होता है। प्रायः हम सुख-शान्तिकी खोज बाहरमें करते हैं तथा अपने दुःखोंका कारण दूसरेको मानते हैं, पर आध्यात्मिक बोध हो जानेके बाद यह अनुभूति होती है कि मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, आनन्द ही मेरा निजबोध है। ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती कहा करते थे कि आध्यात्मिक व्यक्ति स्वयंमें लीन होकर हृदयमें विराजमान सर्वशक्तिमान् परमात्माका द्वैत मिटाकर एकाकार हो जाता है।

धार्मिक जीवनचर्या जब श्रद्धाविश्वासपर आधारित होती है तो उसका प्रतिफल ज्ञानके रूपमें सहज ही प्राप्त

हो जाता है—**'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'**। भय और प्रदर्शनहेतु किया जानेवाला धार्मिक कृत्य कदापि वन्दनीय नहीं है। भयभीत व्यक्ति आत्मिक आनन्दका अधिकारी नहीं होता, उसका व्रत-उपवास केवल देवी-देवताको प्रसन्नकर मनोकामनापूर्ण करानेवाला होता है। आत्मानन्दी व्यक्तिके मनमें परमात्माके प्रति भावकी सहजता होती है, वह विशेष पर्व आदिकी चिन्ता किये बिना आनन्दित रहता है—*'सदा दिवाली संत घर।'*

आत्मानन्दी व्यक्ति प्रभुप्रेममें संलग्न रहता है। जिस धार्मिक कृत्यमें अपने नाम, यश-प्रचारकी भावना होती है, वह भगवान्‌को स्वीकार नहीं होता, ऐसे लोग धार्मिक होते हुए भी शान्ति, क्षमा, करुणा, मुदिता, उदारता आदि मानवीय गुणोंसे वंचित रह जाते हैं।

आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी पहचान गवाँ देना चाहता है, वह परमात्मामें विलीन हो जाना चाहता है। ऐशो-आरामके साधनोंको जुटानेमें स्वयंकी ऊर्जा नष्ट होती है और आदमी परमात्मासे दूर हो जाता है। आध्यात्मिक व्यक्तिके जीवनमें अवसाद-जैसी चीज नहीं होती, वह तो दिन-प्रतिदिन नव-नवायमानकी स्थितिमें रहता है, वह कर्मफलकी आशासे अलग कर्म करनेके आनन्दको ही फल मानता है। कष्टमें मुसकुराकर; जय-पराजय, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदिमें स्थितप्रज्ञकी तरह जीवन जीता है। धार्मिक व्यक्ति कभी-कभी *'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ'* की स्थितिमें आ जाता है। अध्यात्मसे आत्मशक्ति, सहनशक्ति तथा संकल्पशक्ति प्रबल हो जाती है। धर्मका भाव अगर केवल बाहरी हो तो कामनाओंमें वृद्धि होने लगती है और परमात्मासे माँग और पूर्तिका ही सम्बन्ध रह जाता है। अध्यात्ममें ऐसा कुछ नहीं होता, सारी व्यावहारिकता समाप्त हो जाती है। अध्यात्मकी पराकाष्ठामें तो स्वयंकी साँसें भी बाधक बन जाती हैं। वह भूत, भविष्यकी चिन्तासे परे एक क्षणमें सम्पूर्णताका जीवन जी लेता है। शारीरिक क्रियाकलापमें भी वह परमात्मासे सदा जुड़ा हुआ अनुभव करता है। 'मैं हूँ' इस भानसे भी परे 'तू है' की स्थितिमें स्थित हो जाता है। आध्यात्मिक जीवनमें सुख-दुःखकी स्थिति नहीं होती है। वह सदा सकारात्मक दृष्टि रखता है, सहज त्याग और द्रष्टाभाव। किसी फलेच्छाहेतु स्वयंको साधनेकी क्रिया उसके जीवनमें नहीं होती है।

इस आध्यात्मिक व्यक्तिको स्वतः ही हम कौन हैं? कहाँसे आये हैं? और कहाँ जाना है? इत्यादि दुरूह प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त हो जाता है। अध्यात्म वह सत्य है, जहाँ आत्माका आत्मिक रूप बोधगम्य हो जाता है। वह कल्पनासे अलग वास्तविकतामें जीने लगता है। वस्तु और परिस्थितिजन्य भावना तो जागती है, पर उसका प्रभाव तनपर ज्यादा मनपर कम होता है।

अध्यात्मकी यह गाथा शाश्वत है, जिसको प्रायः सनातनधर्मके साथ-साथ सभी धर्मोंमें स्वीकार किया गया है। मीराँबाई अपने एक पदमें कहती हैं—

कोईके पिया परदेस बसत हैं लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत हैं ना कहुँ आती जाती॥

इसीका उल्लेख **'ध्यानावस्थिततद्‌गतेन मनसा**
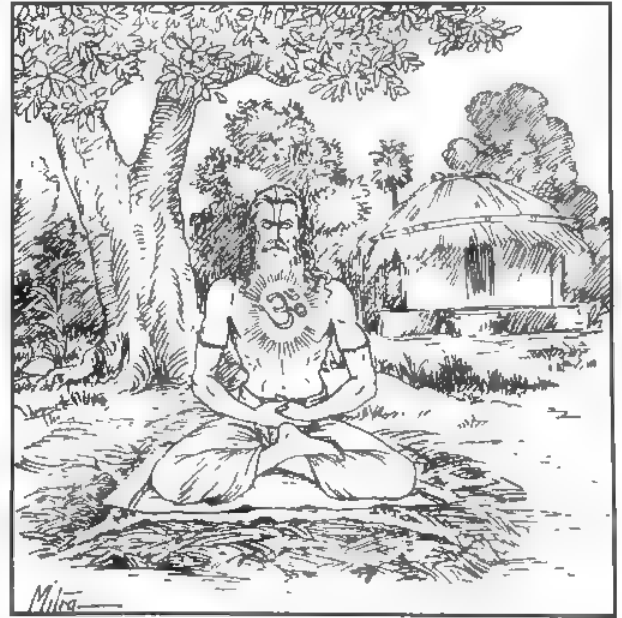
पश्यन्ति यं योगिनः' में भी मिलता है। संतोंका तो ऐसा अनुभव रहा है कि धर्म वह सीढ़ी है, जिसके सहारे साधक अध्यात्मतक पहुँचता है। सबका स्वभाव तथा शारीरिक सामर्थ्य अलग-अलग होता है, अध्यात्मपथगामी थोड़े लोग ही होते हैं। **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** कहकर **'शरीरमें ही संसार है'** की पुष्टि की गयी है।

जीवनचर्या-दर्शन

(श्रीरमेशभाईजी ओझा)

यह बात जीवनमें सदैव याद रखो कि प्राणिमात्रमें परमात्माको देखते हुए सभीके साथ प्रेम करो। कष्ट तब होता है जब हम एकके साथ प्रेम और दूसरेके प्रति नफरत रखते हैं, कहीं राग, कहीं द्वेष। ऐसेमें ही मुश्किल होती है। या तो किसीको अपना न मानें, सिर्फ परमात्माको ही अपना समझें या फिर परमात्मासे सम्बन्ध होनेकी वजहसे सभीको हम अपना बनायें। तभी कुछ बात बनेगी।

केवल भगवान्‌से नाता होनेपर भक्त सबको अपना मानता है। आपकी भूमिका चाहे कोई भी हो, लेकिन यदि अन्दर दृढ़ वैराग्य है तो किसीको भी अपना न समझें। यदि राग है, आसक्ति है तो भगवान्‌के वास्ते सभीको अपना मानो। सभीको अपना बना लो। सबकी सेवा करो। यही तो धर्म है। आप जैसे भी हों, जहाँ भी हों, वहाँसे वह आपको आगे ले जायगा और परमात्मातक पहुँचा देगा। आपको रोनेकी जरूरत नहीं, इसीलिये तो भगवान् गीतामें कहते हैं—तू शोक क्यों करता है? मैं तुझे सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू सब कुछ छोड़कर मेरे पास आ। मेरी शरणमें आ जा। इस रास्तेसे या उस रास्तेसे। जो भी हो, जीवनका लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति होना चाहिये। तो हम जैसे हों वैसे, जहाँ हों वहाँसे ईश्वरके पास पहुँच सकते हैं। या तो किसीको अपना न मानो अथवा सभीको अपना मानो। दूसरे शब्दोंमें कहें तो, वैरागी बन जाओ या सभीको चाहो।

प्रेम जब अनन्त हो गया, रोम-रोम संत हो गया।
देवालय हो गया वदन, हृदय तो महंत हो गया॥

—यही है वह संतत्व, जो प्रेमको फैलाता है। जब प्रेम अनन्त बन जाता है तब रोम-रोम संत हो जाता है। अगर संतत्व है तो घबराने या चिन्ता करनेकी बिलकुल जरूरत नहीं है। हम जैसे भी हैं, जहाँ भी हैं—वहाँसे ईश्वरकी ओर ले जानेकी क्षमता धर्ममें है ही। आप संकल्प करिये। आप दो कदम आगे तो बढ़िये तब पता लगेगा कि आगेका मार्ग प्रकाशित है।

दीपक लेकर चल पड़ो

गहन अँधेरा था। एक आदमीको दूसरे शहर पहुँचना था। अन्धकारसे परेशान होकर वह खड़ा था। इतनेमें एक संत वहाँ आये। उन्होंने पूछा, तुझे आगे पहुँचना है? तो वह बोला—हाँ महाराज, एक दीपक जलाकर उन्होंने उसे दे दिया। अगर अन्धकार एक समस्या है तो दीपक उसका समाधान है। ये दीपक तुम्हारे रास्तेको प्रकाशित करेगा। तुम चलना शुरू कर दो। वह आदमी दीपक हाथमें लेकर बस यूँ ही खड़ा ताकता रहा। महात्माने कहा—चल पड़, तो कहने लगा—महाराज, पाँच-दस फुटतक ही उजाला है मगर उसके बाद गहरा अँधेरा है; क्योंकि दीपकका प्रकाश पाँच-दस फुटतक ही पहुँचेगा। महात्माने कहा, तेरी पहुँचनेकी इच्छा ही नहीं है। अगर दृढ़ इच्छा होती तो तू अँधेरेकी ओर न देखता, रोशनीको ही देखता। लेकिन लोगोंका ध्यान समस्यापर ज्यादा जाता है। हर बातमें उन्हें समस्या ही दिखायी देती है। अरे, भाई! पन्द्रह फुट तो उजाला है न। तू आगे-आगे चलेगा तो प्रकाश भी उतना आगे चलेगा; क्योंकि तेरे हाथमें दीपक है। तू जितना और आगे बढ़ेगा उसके आगेका मार्ग यह दीपक रोशन कर देगा। तेरा मार्गदर्शन करता जायगा और तुझे लक्ष्यतक पहुँचा देगा।

सद्‌गुरु ज्ञानका दीपक हाथमें पकड़ा देते हैं। रामायण और गीता हमारे जीवनके दीपक हैं; उनका नित्य पाठ करो, उसमें सुझाये मार्गपर चलो। सद्‌गुरुओं और ऋषियोंने जो आपके हाथमें दीपक थमा दिया है; बस, इसे हाथमें लेकर फिरसे संकल्प करो और चल पड़ो। यात्राका आरम्भ करो और रामायण, गीता, अन्य शास्त्र ज्ञानदीप बनकर आपका मार्गदर्शन करेंगे। मगर लोग तो हाथमें दीपक लेकर बस खड़े ही रहते हैं। अगर वाकई प्यास लगी है, जीवनको सफल बनाना चाहते हो, पहुँचनेकी इच्छा है, लगन है, निष्ठा है, दृढ़ संकल्प है तो फिर जहाँ खड़े हो वहींसे आगे बढ़ना शुरू कर दीजिये, आरम्भ कर दीजिये।

खड़े-खड़े यदि चर्चा करते रहोगे तो कहीं भी नहीं पहुँच पाओगे। कहनेका तात्पर्य यह कि जीवन जहाँ है

और जैसे है वैसे ही हम ईश्वरके करीब पहुँच सकते हैं। हम एक बार संकल्प तो करें। हम जहाँ भी हैं वहाँसे ईश्वरकी ओर जानेका मार्ग खुलता है। किंतु ईश्वरके पास पहुँचनेका इरादा पक्का होना चाहिये। दृढ़ निष्ठा होनी चाहिये। तीव्र प्यास होनी चाहिये। एक महर्षिने एक राजाकी परीक्षा करनेके लिये तीन मूर्तियाँ ले जाकर उपहारमें भेंट कीं और यह निर्णय करनेके लिये कहा कि इन तीनोंमेंसे कौन-सी मूर्ति सर्वश्रेष्ठ है? उस दिन राजदरबार पूरी तरह भरा था। वहाँ सभी मन्त्रीगण, सभासद् और पण्डितजन उपस्थित थे। उस सभामेंसे जो कोई भी आगे आकर उन मूर्तियोंके परीक्षणके लिये उनके पास जाता, सन्देहमें पड़ जाता। इन सब मूर्तियोंमें न जाने क्या है? ऐसा सोचकर डर जाते।

अन्तमें एक मन्त्री उठकर आया। उसने एक मूर्ति उठायी और उसे इधर-उधर पलटकर जाँचा। उसने एक लोहेकी सलाख उठायी और उस मूर्तिके एक कानमें डाल दी। वह सलाख उस मूर्तिके दूसरे कानसे बाहर आयी। उसको उसने एक ओर रख दिया। फिर दूसरी मूर्ति उठायी और लोहेकी सलाई एक कानमें डाली तो वह उसके मुँहसे बाहर आयी। उसे एक ओर रख दिया। फिर तीसरी मूर्ति उठायी और उसके कानमें सलाई डाली, किंतु वह किसी ओरसे बाहर नहीं आयी। मन्त्रीने कहा—यह तीसरी मूर्ति श्रेष्ठ है, यह उत्तम-श्रवणका प्रतीक है। दूसरी मूर्ति मध्यम-श्रवणका प्रतीक और पहली मूर्ति अधम-श्रवणका प्रतीक है। राजाने मन्त्रीको अपनी बात और अधिक स्पष्ट करनेकी आज्ञा दी। मन्त्रीने उत्तर दिया—महाराज, हम सभी भाषण-प्रवचन आदि सुनते रहते हैं। लेकिन कुछ लोग एक कानसे सुनते हैं और दूसरे कानसे निकाल देते हैं। वे जो कुछ सुनते हैं, उससे उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। कुछ लोग बड़ी श्रद्धाके साथ सुनते हैं और उसे कंठमें रखते हैं तथा तोतेकी तरह सुनाते हैं। वे लोग दुनियाके लिये थोड़ेसे लाभप्रद होते हैं। लेकिन श्रेष्ठ श्रोता वे होते हैं, जो कुछ भी सुनते हैं उसे हृदयमें रख लेते हैं और उसे समयपर आचरणमें लाते हैं। मूर्तियाँ उपहारमें भेंट करनेवाले महर्षि मन्त्रीका उत्तर सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें आशीर्वाद प्रदान किया।

[प्रे० —श्रीसुभाषचन्द्रजी शर्मा]

अपने विचारको शुद्ध कीजिये

(स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

मनुष्य जैसा विचार करता रहता है, वैसा ही बन जाता है; क्योंकि विचार एक सजीव शक्ति है। इसका प्रभाव अवश्य ही पड़कर रहता है। अतएव अपने विचारका सदैव निरीक्षण करते रहिये। कहीं अशुद्ध विचार मनमें प्रवेश न कर जाय।

जैसा आपका विचार होगा, आपकी शारीरिक विद्युत्के परमाणु आपके चारों ओर वैसा ही मण्डल बना लेंगे। क्या कारण है कि संत-महात्माओंके संगकी इतनी महिमा गायी जाती है। उनके निवास-स्थानोंपर पहुँचते ही हृदयमें शान्तिकी लहरें उठने लगती हैं।

जो मनुष्य अपनेको दीन, हीन, मलिन और अयोग्य समझता है, वह वैसा ही बनकर रह जाता है। जो अपनेको निराश, भीरु और श्रान्त अनुभव करता है, वह वैसा ही होकर रहता है।

फलतः ऐसे मनुष्यके जीवनमें शान्ति कहाँ? वह तो निरन्तर अशान्तिके सागरमें ही डूबता रहता है।

यदि आप मानव-जीवनके आनन्दको लूटना चाहते हैं तो निराशाका परित्याग कर दीजिये। दयालु परमेश्वरपर पूर्ण विश्वास कीजिये और निरन्तर दृढ़ निश्चय कीजिये कि भयहारी भगवान्के वरद कर-कमल आपके मस्तकपर स्थित हैं, आप शान्ति और चिर-सुखका अनुभव कर रहे हैं। भगवान् तो अपने भक्तोंकी इच्छाको इच्छा करनेके पूर्व ही पूरी कर देते हैं।

भगवान्ने जिस भक्तके मस्तकपर अपना वरद कर-कमल रख दिया, उसका पाप-ताप और माया—सब मिट जाती है और वह सदाके लिये अभय हो जाता है। इसीलिये तो संत-शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥

आप निरन्तर अपनेको भगवान्‌के निकट ही अनुभव कीजिये। वे जितने निकट हैं, उतने निकटपर तो आपका अपना अंग भी नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि आप भगवान्‌में हैं और भगवान् आपमें।

आप निरन्तर अनुभव करते रहिये कि आप भगवान्‌के हैं और भगवान् आपके। एक संत महोदय 'साधन-पंचामृत' के नामसे पाँच बातें सुनाया करते हैं—

(१) मैं भगवान्‌का हूँ।

(२) मैं भगवान्‌के दरबारमें रहता हूँ।

(३) मैं भगवान्‌का ही प्रसाद भोजन करता हूँ।

(४) मैं भगवान्‌की ही सेवा करता हूँ।

(५) मैं भगवान्‌की दी हुई वस्तुओंसे ही नर-नारायण अथवा विश्वरूप भगवान्‌की सेवा करता हूँ।

कितनी सुन्दर बातें हैं! मुझे तो बहुत ही पसन्द है यह पंचामृत।

मैं पूर्ण आरोग्य हूँ, शान्त हूँ और सफलता देवी मेरे पीछे-पीछे हैं।

मैं निश्चिन्त और निर्भीक हूँ; क्योंकि परम प्रभु मेरे साथ हैं।

सभी जीव-जन्तु मुझे सुख प्रदान कर रहे हैं। किसीसे भी मुझे दुःख नहीं है।

इस व्यक्त संसारके रूपमें मैं उस परम प्रभुकी मुनि-मनमोहिनी मधुर मनोहर मूर्तिके दर्शन कर रहा हूँ और उनको मानसिक प्रणाम करता हूँ। भगवान्‌की असीम कृपासे मैं समृद्धिशाली हूँ। मैं पूर्णकाम तथा आत्माराम हूँ।

मेरे योगक्षेमका वहन तो वे ही विश्वम्भर कर रहे हैं। मेरी सभी आवश्यकताएँ उनकी कृपासे पूरी हो जाती हैं।

भगवान् मेरे हृदयमें हैं, अतः मैं उनकी शक्तिको पाकर सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ; सभी सद्‌गुण, सदाचार मुझमें भरे पड़े हैं—ऐसा निश्चय करते रहें।

वाक्-संयम एवं मौन-व्रत

(श्रीप्रदीपकुमारजी शर्मा)

अध्यात्ममें मौनकी बड़ी महत्ता है। मौनमें अन्तः शक्तिको जगानेकी सामर्थ्य होती है। मौन और एकान्त मित्र हैं। मौन निद्राके समान है, जो विवेकको ताजगी प्रदान करता है। मौन तप-साधना है, जो समयपर मानवोंद्वारा पुरुषार्थके क्रममें अपनायी जाती है। एक योगीके लिये मूल्यवान् निधि मौन ही है। इसके द्वारा वह परम सत्ताके और अधिक समीप पहुँचता है। मौनावस्थामें की गयी साधना निष्फल नहीं होती। भयसे उत्पन्न मौन जड़ताका प्रतीक है, किंतु संयमजन्य मौन तपस्वीका भूषण है। भगवान् श्रीकृष्णने मौनको अपनी विभूति बताते हुए कहा है कि गुप्त रखनेयोग्य भावोंमें मैं 'मौन' हूँ—**'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्'** (गीता १०।३८)।

इन्द्रियसंयमहेतु सबसे अच्छा प्रतीक मौनको माना गया है। मौन साधनेवाला जितेन्द्रिय होकर सारी इन्द्रियोंको वशमें करता है।

मौनका अर्थ है ऊर्जाके बिखरावको समेटना। मौन-साधनाके साधक अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियोंके समक्ष संसारके सभी प्रकारके वैभवोंको तुच्छ मानते हैं। मौन साधक अतीतके अनुभवोंसे अर्जित ज्ञान-सम्पदाको मौनके क्षणोंमें पुनः नियोजितकर एक नवीन विचारधाराको एक कलाकारकी तरह मूर्तरूप देता है; जो युगानुकूल होती है, सर्वकल्याणकारी होती है। ऋषिगण इसी कारण मौनका माहात्म्य बताते रहे हैं।

मौन-साधनामें वाक्-शक्तिकी ऊर्जाका सर्वाधिक सुनियोजन होता है। संग्रहीत शक्तिद्वारा ऐसे साधक स्वयंको पूर्णताकी दिशामें ले जाते हैं। मौनी जीवन्मुक्त कहलाते हैं और अपनी इस शक्तिद्वारा बहिरंग जगत्‌को भी प्रभावित करते हैं। 'मैं' को मिटानेकी सर्वश्रेष्ठ

स्थिति मौनावस्था है। जब 'मैं' (अहंभाव)-का लोप हो गया तो कौन सोचेगा एवं कौन बोलेगा? जो जितना गम्भीर होता है, उतना ही मौन होता है। स्थिर जल गहरा होता है, यह युक्ति मौनके सम्बन्धमें सही सिद्ध होती है। जो वाचाल होते हैं, वे उतने ही उथले होते हैं एवं तिरस्कारके भाजन बनते हैं। मौन बुद्धिमानीका पर्याय है, जो मनुष्यका सर्वोत्तम आभूषण है। मौन मनुष्यकी वाणीको शक्तिसे भर देता है।

भगवत्सत्ता व्यष्टिसत्ताके समीप मौनद्वारा ही आती है। इससे मनुष्य देवस्वरूप होकर भगवत्सत्तासे एकाकार होता है। यह एक विशेष स्थिति है, जो मनुष्यको भावी तप एवं पुरुषार्थहेतु पर्याप्त बल देती है। जैसे संयमके लिये ब्रह्मचर्य आदिका विधान है, वैसे ही वाणीसंयमहेतु मौनकी साधना है। मौन सर्वोत्तम भाषण है। यदि बोलना हो तो कम बोलो, एक शब्दसे यदि काम चले तो दो शब्द मत बोलो। शब्दोंकी अपेक्षा मौनमें अधिक वाक्‌शक्ति होती है। मौन प्रकृतिका शाश्वत नियम है। चाँद, सूरज, तारे सब बिना कुछ कहे-सुने चल रहे हैं, संसारका सबसे महत्त्वपूर्ण काम मौनद्वारा ही पूर्ण होता है। उसी प्रकार यदि मनुष्य भी जीवनमें कोई महान् कार्य करना चाहे तो उसे लम्बे समयतक मौनका अवलम्बन लेकर शक्तिसंचय करना होता है, यह आध्यात्मिक विकासके लिये परम आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन अपने भीतर ईश्वरीय चेतनाको प्रतिष्ठित करने और उसे सहज रूपमें व्यक्त करनेकी साधना है। इस साधनामें सबसे बड़ी बाधा वाचालता है, जो विश्वात्माकी सूक्ष्म वाणी और उसके आदेशोंको सुनने नहीं देती। मौनावस्थामें ही हम आत्माकी आवाजको सुन सकते हैं। वाणीसे आत्माको नहीं समझा जा सकता। मौन ही आत्माकी भाषा है। यह एक शून्य ध्यानावस्था है, जहाँ अनन्त वाणीकी ध्वनि सुनी जा सकती है। बाह्य कोलाहल और बहिर्मुखी होकर मनुष्य आत्मा और विश्वव्यापी सूक्ष्म शक्तिसे सम्बन्ध कदापि नहीं कर सकता। अन्तर्मुखी होने और अपनी सब शक्तियोंको एकाग्र-संगठित करनेहेतु मौनका अवलम्बन आवश्यक है।

व्यावहारिक जीवनमें भी मौन अनर्थोंको उत्पन्न होनेसे रोकता है। मौनसे कभी दूसरोंकी हानि नहीं होती। समाजमें विग्रह, लड़ाई-झगड़े, कलह आदिकी शुरुआत वाणीसे ही होती है। कोई व्यक्ति यदि लड़ना चाहे, छेड़छाड़ करना चाहे, झगड़ने लगे तो दूसरा पक्ष मौनका सहारा ले ले तो विवाद कभी हो ही नहीं सकता। इसीलिये कहा है 'एक मौनी सौ को हराये।'

मौनकी स्थितिमें हम दूसरोंकी अधिक सुन सकते हैं। अपने ज्ञानकोषको बढ़ा सकते हैं। लोगोंको समझने, उनका अध्ययन करनेके लिये मौन आवश्यक है। मौन अच्छे मित्र बनाता है। जो वाचाल होते हैं, उनसे भले आदमी सदा दूर रहनेका प्रयत्न करते हैं। अज्ञानियोंकी सभामें ज्ञानियोंके लिए मौन ही सर्वोत्तम साधन है। इसी प्रकार ज्ञानियोंकी सभामें अज्ञानियोंके लिये भी मौन सर्वोत्तम मार्ग है। अज्ञानी यदि वाचाल होगा तो जल्द ही अपनी मूर्खता प्रकट कर देगा। लेकिन मौन रहकर वह अज्ञान-प्रदर्शनमें अपनेको रोक सकता है।

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके पाप बताये गये हैं। वाणी, कर्म और मनसे किये गये दुष्कृत्य ही त्रिपाप कहे जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मौनका सहारा लेकर हम वाणीकृत पापोंसे तो बच ही सकते हैं। किसीको गाली देना, झूठ बोलना, चुगली करना, आलोचना करना आदि पापोंसे मौन हमें बचा लेता है। इस प्रकार जीवनमें किये गये एक तिहाई पापोंसे मौन हमें बचा लेता है।

वाचालता पाण्डित्यकी कसौटी नहीं, वरन् गहन गम्भीर मौन ही मनुष्यके पण्डित होनेका प्रमाण है। मौन ही मनुष्यकी विपत्तिका सच्चा साथी है, जो अनेक कठिनाइयोंसे उबार लेता है। अतः मौनव्रत रखना एवं दैनिक जीवनचर्यामें उचित भाषणका अभ्यास सब प्रकारसे श्रेयस्कर है।

मानवत्व और मानव

(श्रीत्र्यम्बकेश्वरचैतन्यजी)

देवदुर्लभ, ब्रह्मप्राप्तिसाधक एवं सकलजीवनिकाय-मुकुटमणि मनुष्य-शरीर पानेके लिये अखिलकोटिब्रह्माण्ड-नायक अकारणकरुण-करुणावरुणालय, सर्वेश्वर देवाधिदेव महादेवकी कृपा अपेक्षित है। कलिपावनावतार श्रीतुलसीदासजी महाराजके शब्दोंमें—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

किंतु मानवत्व पानेके लिये आत्मकृपा-गुरुकृपा-सन्तकृपा-शास्त्रकृपाकी आवश्यकता है अथवा केवल आत्मकृपा ही कहें; क्योंकि आत्मकृपा—अपनी कृपा अपने ऊपर हो जाय तो गुरु, सन्त और शास्त्र तो स्वतः कृपा करनेके लिये उद्यत ही हैं। बिना आत्मकृपाके गुरु-सन्त और शास्त्र भी उद्धार करनेमें कठिनाईका अनुभव करते हैं। आचार्य चाणक्यके शब्दोंमें—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।

अर्थात् जिसकी बुद्धि शास्त्रपरिमार्जित नहीं, उसपर शास्त्र भी कृपा नहीं कर सकते। मानवमें मानवत्व, जीवमें शिवत्व, नरमें नारायणत्वका आधान करनेकी अपूर्व पाठशाला है—भारतवर्ष। इस भारतकी पुण्यमयी प्रेममयी पवित्र वसुन्धरापर आकर ब्रह्म भी कृतकृत्यताका अनुभव करता है। यहीं आत्मकृपा सम्भाव्य है। आत्मकृपा अर्थात् सदाचार-निष्ठा, सदाचारका प्राणपणसे पालन करके मलादि वासनाओंसे अपवित्र इस तनको पावन करनेका उद्योग। आचारपूत मानवमें ही मानवत्व है, अन्यथा वह चतुष्पाद पशु न होकर द्विपाद पशु ही है।

लोकव्यवहारमें सनातनधर्म आचारजन्य है—**आचारप्रभवो धर्मः**। विधि-निषेधात्मक समस्त शास्त्रीय आचारोपदेश मनुष्यमात्रके लिये ही हैं, अन्य जीवोंके लिये नहीं। ये सब भोग योनियाँ हैं।

मनुष्योंमें **अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय** तथा **आनन्दमय**—ये पंचविध कोष पूर्ण प्रभावी होते हैं। इन कोषोंकी यथार्थ अवस्था व्यक्तिके आहार-विहार-व्यवहारसे जानी जाती है। आनन्दमयकोशके कारण ही मनुष्य हँस सकता है, अन्य जीव हँस नहीं सकते।

वर्ण-व्यवस्थाके आन्तरिक रहस्यको समझे बिना उसपर आक्षेप करनेवाले तथाकथित बुद्धिवादीजन समाजका अकल्याण ही करते हैं। जबकि हम सबको जैसे रूप-विद्या-धन-यश-स्वास्थ्य-भवन-भूमि-वाहन-कुलादि प्राप्त हैं, वह पूर्वजन्मोंके कर्मोंका प्रतिफल है। उसी प्रकार जाति भी पूर्वजन्मोंके कर्मोंके आधारपर ही प्राप्त होती है। परमात्माने कृपा करके हमें मनुष्य बना दिया, अब मनुष्यताका उपार्जन हमें स्वयं शास्त्रीय सदाचारका पालन करके करना होगा।

यह मनुष्यशरीर साधनोंका धाम है, मोक्षका द्वार है, स्वर्ग-नरक-अपवर्गकी नसेनी है, इसे पाकर भी हम चूक गये तो भारी पश्चात्ताप होगा। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—चरम जन्ममें जो अक्षर तत्त्वको जाने बिना यह लोक त्यागता है, वह कृपण है (कृपाण+कृपण) आत्महत्यारा है—

'यो वा एतत् अक्षरम्..... अविदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति स कृपणः।' (बृहदारण्यक)

और जो इस लोकमें अक्षर तत्त्वको जाननेके उपरान्त जाता है, सचमुच वही सच्चा ब्राह्मण है—

'यो वा एतत् अक्षरम्...... विदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥' (बृहदारण्यक)

संसारभरकी समस्त उपासना-परम्पराओंमें (निष्पक्ष होकर विचार करनेपर) वह पारदर्शिता-प्रामाणिकता-विश्वसनीयता-विशुद्धता-विलक्षणता नहीं जो सनातनधर्मके सिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रोंमें उपनिबद्ध उपासना-पद्धतियोंमें है। जिज्ञासाको शान्त करनेकी प्रतिपल कृताकृत-विधिकी जन्मसे पूर्व तथा मृत्युके उपरान्तकी जो समीक्षात्मक विवेचना यहाँ उपलब्ध है, वह अन्यत्र नहीं। जीवमात्रके प्रत्येक प्रश्नका उत्तर, प्रत्येक समस्याका समाधान सनातनधर्मके पास है।

हम प्रश्नोंके माध्यमसे ही धर्मको, आचारको जाननेके लिये विचार करते हैं। जो ठीकसे प्रश्न नहीं कर सकता, वह कभी भी ठीकसे उत्तर नहीं दे सकता। हमारे यहाँ तो

प्रश्नकर्ताकी प्रशंसा की जाती है—

धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥
कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥

(रा०च०मा० १।११२।६—८)

क्या करें, क्या न करें। कैसे करें, कैसे न करें। कब करें, कब न करें। कहाँ करें, कहाँ न करें। क्यों करें, क्यों न करें—विधिमुखेन तथा निषेधमुखेन ज्ञान प्राप्त करनेसे ज्ञान दृढ़ होता है। संस्कृतज्ञोंको निरन्तर शास्त्रोंका अनुशीलन करते रहना चाहिये। जो संस्कृत नहीं जानते, वे आचारनिष्ठ वर्णाश्रमधर्मोपासक सन्तों, विद्वानोंकी शरणमें इन प्रश्नोंका समाधान विनम्रतासे प्राप्त करें, उत्तर न मिले तो चुप चले आयें, उलाहना न दें। उदाहरणके लिये बहुत प्रसिद्ध श्लोक देखें—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(कहीं **ज्ञानं** के स्थानपर **धर्मं** पाठ है) आहार, निद्रा आदि मनुष्योंमें ये गुण पशुओंके तुल्य ही हैं। मनुष्यमें ज्ञान विशेष है, ज्ञान नहीं है तो वह भी पशुतुल्य ही है। अब जिज्ञासा होती है कौनसे ज्ञानके बिना मनुष्य पशुतुल्य है। प्रकरणके अनुरूप यही अर्थ समीचीन है। आहार-निद्रा आदिका ज्ञान है तो मनुष्य। नहीं है तो पशु। जैसे—क्या आहार करें? कब, कैसे, कहाँ, क्यों करें?

कब सोयें? कैसे सोयें? कहाँ सोयें? इसी प्रकार भय, मैथुनादिके विषयमें जानें। अब आहारपर प्रकाश डालते हैं।

जिसको दस प्रश्नोंके (क्या-क्यों-कब-कैसे-कहाँ, पाँच विधिमुख तथा पाँच निषेध) उत्तरोंका ज्ञान है तथा जो शास्त्रोचित विधिसे इनका पालन भी करता है, वह मनुष्य है। इनसे भिन्न पशुतुल्य है। यथा—'**किं भोक्तव्यम्**'? क्या खाना चाहिये?

श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

(१७।८)

अर्थात् जो पदार्थ रसयुक्त हों, स्निग्ध हों, स्थायी हों, हृदयको प्रिय भी लगें, वे सात्त्विक पदार्थ आयु-सात्त्विकता-बल-स्वास्थ्य-सुख एवं प्रीतिको बढ़ानेवाले होते हैं।

रस्याः—आशय है रसयुक्त फल, मधुररस-प्रधान, शर्करा आदि।

स्निग्धाः—वे पदार्थ हैं जो स्नेहयुक्त हैं, जैसे—दुग्धादि, मधु, दधि आदि।

स्थिराः—चिरकालतक शरीरमें रसांशरूपसे रहनेवाले घृतादि।

हृद्याः—दृष्टिमात्रसे जिनके प्रति हृदय आनन्दसे भर उठे, दृष्टादृष्टदोषशून्य।

'**किं न भोक्तव्यम्?**' (क्या नहीं खाना चाहिये)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

(गीता १७।९)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता १७।१०)

अर्थात् अधिक कटु, अधिक खट्टा, अधिक नमक-युक्त, अधिक उष्ण, अधिक तीखा, रूखा, बासी, दुर्गन्धयुक्त, रसहीन, जूठा, अपवित्र, भावदुष्ट अन्न नहीं लेना चाहिये, इसको लेनेसे पशुभाव बढ़ता है तथा और भी प्याज, लहसुन, गाजर तथा अपवित्र भूमिमें उत्पन्न शाकादि नहीं लेने चाहिये—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां अमेध्यप्रभवाणि च॥

(मनु० ५।५)

कदा भोक्तव्यम्? कदा न भोक्तव्यम्।

कब खायें? कब न खायें?

आजकी व्यस्ततम जीवनचर्यामें 'कब खायें' की अपेक्षा '**कब न खायें**' पर ध्यान देते हैं। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय, रात्रि १२ बजेके बाद, चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहणके सूतकमें, पारिवारिक सूतक, पातकमें नहीं खाना चाहिये।

केन प्रकारेण भोक्तव्यम्? भोजन कैसे करें?

सन्ध्या, तर्पण, देवपूजा, बलिवैश्वदेवादि नित्यकर्म सम्पन्नकर अतिथि-पूजा करे। सब परिवारको खिलाकर तब भगवान्‌का प्रसाद ग्रहण करे।

'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।'

अतिथिको भगवद्‌बुद्धिसे भोजन कराये।

'हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही॥'

अन्यथा घरसे निराश गया अतिथि भिक्षामें पुण्यराशि ले जाता है, पाप छोड़ जाता है। गोग्रास अवश्य निकाले, श्वानबलि भी दे, हाथ-पैर प्रक्षालनकर पवित्रतापूर्वक आसनपर विराजे, पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके मौन होकर भोजन करें।

गीले हाथ-पैर भोजन करनेसे दीर्घायु प्राप्त होती है—

'आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥'

(मनुस्मृति)

बिना स्नान भोजन करनेसे मल-भक्षणवत् पाप लगता है। बिना जप किये भोजन करनेसे पीव-रक्त-पानका पाप लगता है—

'अस्नात्वाशी मलं भुङ्क्ते अजपी पूयशोणितम्॥'

माता-पिता-सुहृद्-वैद्य-पुण्यात्मा तथा हंस-मोर-सारस-चकोरकी दृष्टि भोजनके प्रति उत्तम होती है। जबकि हीनवृत्ति-दीनवृत्तिवाले, भूखे-प्यासे-पाखण्डी-स्त्रैण-रोगी-मुर्गा-सर्प-कुत्ता—इनकी दृष्टिसे भोजन विषाक्त हो जाता है; अपच हो जाता है, चित्त दूषित हो उठता है। इसीको इस प्रकार कहा गया है—

हीनदीनक्षुधार्तानां पाखण्डस्त्रैणरोगिणाम्।
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिः भोजने नैव शोभनाः॥

वेष्टित शिर, जूता पहनकर, खड़े होकर, दोनों हाथोंसे या बायें हाथसे, चपचप आवाज करते हुए, चलते हुए भोजन करना आसुरी है—

यो भुङ्क्ते वेष्टितशिरो यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात् तदासुरम्॥

और भी

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।
इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते॥
अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम्॥

आशय है कि अन्न ब्रह्म है, रस विष्णु है, भोक्ता शिव है। इस प्रकार ध्यान करके जो भोजन करता है, उसे अन्नदोष नहीं लगता तथा पवनसुत हनुमान्‌जी महाराजका स्मरण भी अन्नदोष-नाशक ही है।

अब देखें, पशु खड़े-खड़े, चलते-चलते खाता है, बिना नहाये खाता है, बिना भोग लगाये खाता है, जब मिले, जहाँ मिले, जो मिले तब खाता है। अब आप विचार कर लें, मनमाने ढंगसे इस प्रकार जो खाता है, वह कौन है, अर्थात् पशु ही हुआ न, तब हम पशु न कहलायें; इसलिये भोजन करनेका ज्ञान होना चाहिये।

किमर्थं भोक्तव्यम्? (क्यों खायें)?

जीवन धारण करनेके लिये, जीनेके लिये खाना है, खानेके लिये जीना नहीं, जीवन क्यों धारण करें? तत्त्वजिज्ञासाके लिये, तत्त्वजिज्ञासा क्यों करें? पुनर्जन्म न हो इसलिये।

अन्नाहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं जीवसन्धारणार्थम्।
जीवं सन्धार्यं तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न जन्म॥

इसी प्रकार निद्रा-भय-मैथुनादिका ज्ञान क्या-क्यों-कब-कैसे-कहाँ—इन पाँच प्रश्नोंद्वारा विधि तथा निषेधमुखेन प्राप्त करके जो अपने जीवनमें उतारता है, वह मनुष्य है; अन्यथा कोरा पशु ही है।

जिज्ञासाके लिये यज्ञ करें, क्यों करें, कब करें, कैसे करें, कहाँ करें, कौन करें?

आचारहीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकता—**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'**

अतः आचारका पालन मनुष्यत्वप्राप्तिको प्रमाणित करनेका सर्वोत्तम आधार है।

ईर्ष्या और द्वेष—मानवकी विकृत मानसिकताके प्रतीक

(कुँवर श्रीभुवनेन्द्रसिंहजी, एम०ए०, बी०एड०, संगीतप्रभाकर)

जब किसीकी प्रगति अथवा किसीकी उन्नति किसी अन्यको अप्रिय लगने लगे या फिर उसे सालने लगे तो वहीं ईर्ष्याका जन्म होता है। अन्य शब्दोंमें अप्रकट रोष अथवा अप्रकट क्रोधका नाम ही ईर्ष्या है। मानवकी यह एक स्वाभाविक कमजोरी है कि वह दूसरोंके उत्कर्षको सहन नहीं कर पाता। वह अपनेसे अधिक सम्पन्न व्यक्तिके प्रति ईर्ष्यालु बनकर उसको नीचा दिखानेका प्रयास करता है। इससे उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। हाँ, उसे केवल इतना आत्मसन्तोष जरूर मिलता है कि उसने मैदानमें किसी दूसरेको पछाड़ दिया अथवा किसी अन्यके प्रति किसी अन्यकी बढ़ती हुई सद्भावनाको काफी कुछ कम कर दिया।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ईर्ष्या मनुष्यकी अत्यन्त कुत्सित मनोवृत्तिका परिणाम है, जिसकी जितनी भी निन्दा की जाय, कम है। लेकिन दुःखकी बात तो यह है कि आज असाधारण रूपसे ईर्ष्यालु व्यक्तियोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसीलिये हमारे देशकी प्रगति अद्यावधि उतनी नहीं हो पायी है, जितनी होनी चाहिये थी।

कैसी विडम्बना है कि आज हम एक-दूसरेको आगे बढ़नेमें सहयोग देनेकी अपेक्षा ईर्ष्यावश उसकी टाँग खींच रहे हैं तथा उसे नीचा दिखानेका भरसक प्रयास कर रहे हैं। इतना ही नहीं, आज हम उसके प्रति गन्दा प्रचार भी कर रहे हैं तथा उसके समस्त गुणोंको तोड़-मरोड़कर उसके दोषोंके रूपमें प्रकट कर रहे हैं। यह सब ईर्ष्याके कारण ही तो है। यद्यपि हम भी चाहते हैं कि हमारा देश आगे बढ़े और प्रगति करे तथा हमारे देशमें भी महान् एवं उल्लेखनीय कार्य हों, लेकिन ईर्ष्यारूपी अग्निसे जब हम अपने दामनको जलानेसे बचा सकें, तब न?

ईर्ष्याका एक प्रमुख कारण यह भी है कि हम किसी अन्यको यश, वैभव, ज्ञान, बुद्धि तथा व्यापारके क्षेत्रमें आगे बढ़ता हुआ देख ही नहीं सकते। यहाँतक कि किसी औरकी प्रशंसा भी हमसे सुनी नहीं जाती। यदि कोई व्यक्ति कोई अच्छा काम कर रहा हो, जिसमें उसका यश और उसकी कीर्ति निहित हो तो हम ईर्ष्यावश उस कार्यको सम्पादित होने नहीं देते तथा उस व्यक्तिको हर प्रकारसे नुकसान पहुँचानेकी कोशिश करते हैं। अन्य शब्दोंमें हम यही चाहते हैं कि हमारे अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्तिको किसी भी कार्यका कभी कोई श्रेय न मिले। बस, यही हमारे चरित्रकी सबसे बड़ी कमजोरी है; जिसे हमें दूर करना होगा। सुख और शान्तिका जीवन हम तभी जी सकते हैं, जब हम अपने अन्दर ईर्ष्याको किसी भी स्थितिमें पुष्पित और पल्लवित न होने दें।

भारतीय ऋषियोंने सदाचार और सद्वृत्तिपर विशेष बल दिया है। विभिन्न परिस्थितियोंमें आचरणकी शुद्धता कैसे बनी रहे? इस विषयपर गम्भीर विचारकर उन्होंने मानव-मनकी विभिन्न प्रवृत्तियोंका विस्तृत अध्ययन किया है। तदनन्तर वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि ईर्ष्या और द्वेषसे रहित जीवन ही सच्चा जीवन है, जिससे हमें परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। अतः हमें ऐसे ही जीवनको अपनानेका भरसक प्रयास करना चाहिये।

ईर्ष्या एक मानसिक विकार है। इसकी ज्वालासे व्यक्तिका विवेक नष्ट हो जाता है, जिससे उसे हित-अनहितका ध्यान ही नहीं रहता। वास्तवमें आगे बढ़नेकी होड़ तो मनुष्यके अभ्युदयका लक्षण है, किंतु बुद्धिमान् तथा समर्थ व्यक्ति दूसरोंको गिरानेका प्रयत्न न कर स्वयं आगे बढ़नेका प्रयास करते हैं, जबकि मूर्ख एवं असमर्थ व्यक्ति अपनेमें आगे बढ़नेकी क्षमता न देख दूसरोंको ईर्ष्यावश नीचे गिरानेमें ही प्रवृत्त रहते हैं।

ईर्ष्याका स्वास्थ्यपर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सुप्रसिद्ध चिन्तक काका साहब कालेलकरने कहा है—'काम, क्रोध और भयके कारण शरीरमें जो विकृतियाँ पैदा होती हैं और कभी-कभी जो रोग पैदा होते हैं, उसका कोई प्रमाण तो है नहीं। किंतु ईर्ष्याकी मात्रा बढ़नेपर मनुष्यके पेटमें दर्द जरूर शुरू हो जाता है। वैसे पेटदर्दका यही एकमात्र कारण नहीं है, लेकिन अन्य अनेक कारणोंमेंसे यह भी एक प्रमुख कारण है। यही नहीं, जब काम, क्रोध

और भयके कारण शरीरमें विकृतियाँ पैदा हो सकती हैं तो लोभ, मोह और ईर्ष्याके कारण भी हमारा शरीर प्रभावित हो सकता है।'

सन्त तिरुवल्लुवरने ईर्ष्याके विषयमें लिखा है—'ईर्ष्या करनेवालोंके लिये ईर्ष्याकी बला ही काफी है, क्योंकि ईर्ष्या करनेवाले ईर्ष्याको छोड़ भी दें तो भी ईर्ष्या उन्हें कभी नहीं छोड़ती और उनका सर्वनाश कर देती है। दुष्टा ईर्ष्या दरिद्रतारूपी दानवको बुलाकर मनुष्यको नरकके द्वारतक पहुँचा देती है।'

किसी विद्वान् दार्शनिकका कथन है—'वह व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं रह सकता, जो अपनेसे अधिक सुखी व्यक्तिको देखकर क्लेश पाता है। उसे तो अपनी ही वस्तुएँ अधिक खुश रखती हैं।'

अब आइये, द्वेषपर भी विचार कर लिया जाय। द्वेषका अर्थ है दूसरोंकी निन्दाकर मिथ्या आत्मसन्तोष प्राप्त करना। द्वेषका क्षेत्र विस्तृत है। द्वेषका विष अत्यन्त भयंकर होता है, क्योंकि द्वेषसे ही परनिन्दाका जन्म होता है और यही परनिन्दा आगे चलकर घृणाका रूप धारण कर लेती है। घृणा विकृत मानसिकताका लक्षण है जबकि परनिन्दा और पाप धर्मविरुद्ध है। तभी तो सन्तोंने कहा है कि पापसे घृणा करो, पापीसे नहीं।

द्वेषका मूल कारण है हीनभावना तथा परिस्थितिजन्य असन्तोष। इस विषयमें महात्माओंका विचार है कि मनुष्य केवल यह न देखे कि कितने लोग उससे अधिक सम्पन्न हैं, अपितु वह यह भी देखे कि कितनोंके पास इतने भी साधन नहीं हैं, जितने उसके पास हैं। ऐसी ही सोचसे मनुष्यका द्वेष-भाव नष्ट हो सकता है तथा द्वेषके न रहनेपर फिर उसे दूसरोंकी निन्दा और घृणासे भी छुटकारा मिल जाता है।

परनिन्दाका रोग बाल्यावस्थासे ही लग जाता है। विशेषरूपसे तबसे, जबसे बालक अपने माता-पिताको परनिन्दा करते सुनता है। बच्चोंमें यह रोग बड़ोंके अनुकरणद्वारा ही उत्पन्न होता है। अतः माता-पिताका यह कर्तव्य है कि यदि वे बच्चोंका जीवन सँवारना चाहते हैं तो परनिन्दासे बचें। नैतिकताकी पुस्तक पढ़ने-पढ़ानेसे नैतिकता नहीं आती, अपितु नैतिकता आती है नैतिक बातोंके अनुकरणसे। इसलिये माता-पिताको अपने नैतिक आचरणपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि उनका नैतिक आचरण ही बच्चोंके लिये प्रेरणाका स्रोत है, जो बच्चोंके भविष्यको निखारता है।

यह सत्य है कि मनुष्य सुखी जीवन-यापन करना चाहता है, किंतु अफसोस कि जिस उपायसे उसे सुख प्राप्त होता है, वह उस उपायको न कर अन्य ऐसे उपायोंको अपनाता है, जो सदैव उसे दुःख प्रदान करते हैं। यही मनुष्यकी अज्ञानता है और इसी अज्ञानताके आनन्दमें निमग्न होकर मनुष्य द्वेष तथा परनिन्दाके पीछे भागता-फिरता है और जीवनपर्यन्त दुःखी रहता है।

अतः मनुष्यको चाहिये कि वह ईर्ष्या, द्वेष और परनिन्दासे बचे तथा हृदयसे इन बुराइयोंको दूर करते हुए सदैव दूसरोंका भला करनेकी कोशिश करे। इसके अतिरिक्त उसे सत्कार्य करनेवालोंसे भी ईर्ष्या न कर उनके सत्कार्योंकी प्रशंसा करनी चाहिये।

प्रायः मनुष्य अपने स्वार्थके लिये राष्ट्रका अहित कर बैठता है, जबकि उसे ऐसा न कर राष्ट्रकी प्रगति तथा उसके उन्नयन और विकासमें अपना सक्रिय योगदान करना चाहिये। वर्तमान परिप्रेक्ष्यमें आज बहुजनहिताय और बहुजनसुखायके सिद्धान्तकी आवश्यकता नहीं है, अपितु आवश्यकता है तो मात्र सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखायके सिद्धान्त की। वास्तवमें आज इसीमें समूचे राष्ट्रके साथ-ही-साथ हम सबका भी हित सन्निहित है।

जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता। जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तकी शान्ति कहाँ और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जबतक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँसे होगा और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान, मनोनाश नहीं होगा। इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक-दूसरेके कारण हैं। अतः ये दुस्साध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। [योगवासिष्ठ]

यज्ञीय जीवनचर्या

(एकराट् पं० श्रीश्यामजीतजी दुबे 'आथर्वण')

यज्ञका साधारण अर्थ है—आदरपूर्वक देना तथा विशेष अर्थ है—अग्निमें स्वाहोच्चारके साथ आहुति डालना; जिसे अग्नि जलाकर भस्मीभूत करे, वह सब आहुति (हव्य, हवनसामग्री, समिधा, ईंधन, भोजन) है। मानवजीवन यज्ञमय है। देनेके साथ लेना तथा लेनेके साथ देना जीवनकी अपरिहार्य गति है। लेन-देनसे विश्व चल रहा है। इस लेन-देनमें श्रद्धा-भक्ति-कर्तव्यका योग होनेपर यज्ञ कहा जाता है। इससे व्यक्ति अपनेको प्रकाशित करता है। स्वप्रकाशनका नाम यज्ञ है। दीपप्रज्वलन यज्ञ है। अग्निका ज्वालामय स्वरूप यज्ञ है। अपने पास जो कुछ है, उसे अपना न मानकर देवको देना यज्ञ है। '**इदं न मम**' (यह मेरा नहीं है)—यही यज्ञका सूत्र है। '**इदं तुभ्यं तस्मै वा**' (यह तेरे या उसके लिये है)—यह यज्ञका पूरक सूत्र है। वस्तुनिष्ठसे आत्मनिष्ठ होना यज्ञका लक्ष्य है। पदार्थों, भोगोंको अपना मानकर उनमें आसक्त होना वस्तुनिष्ठता है। इस आसक्तिसे मुक्त होना आत्मनिष्ठता है।

यज्ञ सनातनधर्मका सिर है, आर्ष संस्कृतिका प्राण है, आर्यसभ्यताका हाथ है तथा उदात्त जीवनका आचार है। यज्ञ क्रियायोगका अभ्यास है, परमार्थका प्रारम्भ है तथा त्यागका चित्रांकन है। सूर्य यज्ञ कर रहा है—प्रकाश एवं ऊष्मा दे रहा है, अन्धकार और शीत ले रहा है। वायु यज्ञ कर रहा है—सबको गति दे रहा है, स्थैर्य ले रहा है। जल यज्ञ कर रहा है—आर्द्रता दे रहा है, शुष्कता ले रहा है। भूमि यज्ञ कर रही है—अन्न दे रही है, मल ग्रहण कर रही है। लोकोपकारार्थ यह प्रकृतिका यज्ञ है। तो लोककल्याणार्थ हम क्यों न यज्ञ करें। इन देवोंको तथा अन्य जीवोंको उनका अभीष्ट हमें देना ही चाहिये। हमें किसीने दिया है, इसलिये हमें किसी-न-किसीको देना अनिवार्य है। यह अनिवार्य कर्म धर्म है। इसीको यज्ञ कहते हैं।

लोकमें धूमधाम शब्दका प्रयोग उत्सव (उल्लासपूर्वक) अर्थमें होता है। शुभकर्म-मंगलकार्य-अभीष्ट आयोजन धूमधामसे करना चाहिये। धूमधामका वास्तविक अर्थ है—धूमका धाम अर्थात् यज्ञस्थान (जहाँपर यज्ञ सम्पन्न किया जाता है)। यज्ञमें धुआँ उठता और ऊपर जाता है तथा प्रकाश होता है। इस प्रकार यज्ञका अर्थ हुआ—धुआँ (अज्ञान वा मल)-का निष्कासन एवं प्रकाश (ज्ञान)-का प्रभवन। जो मलहीन—निष्पाप है तथा ज्ञानी—निर्भ्रान्त है, वही याज्ञिक है। ऐसे मनुष्यका घर (देह) धूमधाम है। जहाँ यज्ञ वहाँ अग्नि। अग्निपूजाका दूसरा नाम यज्ञ है। काष्ठ जलाकर उसमें समन्त्र स्वाहापूर्वक घी, तिल, यव, सुगन्धकाष्ठ, चरु आदि डालना यज्ञक्रिया है। यज्ञके पश्चात् प्रसाद-दक्षिणा देकर प्रसन्न होना यज्ञकी पूर्ति है। यज्ञकी गणना नित्य-नैमित्तिक—दोनों कर्मोंमें होती है। वैदिक परम्परामें नित्य यज्ञ करना धर्म है। 'दिव्य' अग्नि ऊपर आकाशमें सूर्यमण्डलके भीतर है। यही अग्नि भूमिपर काष्ठादि पदार्थोंमें 'पार्थिव' कही जाती है। पुनः यही अग्नि प्राणियोंके उदरमें रहती हुई 'जठर' नामसे जानी जाती है। तीन अग्नियोंके होनेसे तीन प्रकारके यज्ञ होते हैं। दिव्याग्निमें जलकी आहुति देनेको तर्पण एवं अर्घ्यको सौरयज्ञ कहते हैं। काष्ठाग्नियुक्त हवनकुण्डमें हव्य डालना पार्थिवयज्ञ है। भूख लगनेपर मुखमें भोजनका ग्रास डालना प्राणियज्ञ है। यह यज्ञ अतिथि—ब्राह्मणमुखरूपी यज्ञवेदीपर सम्पन्न किया जाता है। इस यज्ञमें दूध, दही, घी, खीर, पक्वान्न, मिष्टान्नादि सुस्वादु पदार्थ हव्य होते हैं। स्वमुखमें किसी तपी महात्माका स्मरण करते हुए इन तीन मन्त्रों—'**अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहा** तथा **प्रजापतये विश्वकर्मणे स्वाहा**' से ग्रास डालना प्रशस्त है। सूर्यके द्वादश रूपोंका चिन्तन करते हुए प्रातः अथवा किसी भी समय अपने मुखमें इन मन्त्रों—'**उद्यते नमः, उदायते नमः, उदिताय नमः, सुराजे नमः, विराजे नमः, सम्राजे नमः, स्वराजे नमः, व्यराजे नमः** तथा **समराजे नमः**' से जल डालनेपर अर्घ्य, तर्पणरूप सौरयज्ञ सम्पन्न होता है। पार्थिव यज्ञ तो प्रातःकाल करना होता है। द्विजके लिये गोघृत उत्तम हव्य है। इसके अभावमें किसी भी ज्वलनशील पदार्थका प्रयोग साधु है। द्विजको वेदमन्त्रोंसे तथा अद्विज (अयज्ञोपवीती)-को केवल इष्ट नामोंसे यह यज्ञ करना चाहिये। नाममन्त्र सबके लिये हैं। वेदमन्त्र केवल यज्ञोपवीतीके लिये हैं। अपने सम्प्रदाय, शाखा एवं

मति वा आचारके अनुसार व्यक्तिको यज्ञ करना चाहिये। संक्षेपमें दैनिक यज्ञके ये मन्त्र हैं—

प्रातर् अग्निं हवामहे स्वाहा। प्रातर् इन्द्रं हवामहे स्वाहा। प्रातर् वातं हवामहे स्वाहा। प्रातर् विष्णुं हवामहे स्वाहा। प्रातर् पूषणं हवामहे स्वाहा। प्रातर् सवितारं हवामहे स्वाहा। प्रातर् सरस्वतीं हवामहे स्वाहा। प्रातर् रुद्रं हवामहे स्वाहा। प्रातरप हवामहे स्वाहा।

जो लोग समिधायुक्त यज्ञ किसी भी कारणसे करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें दीपकको यज्ञवेदी मानकर दीप जलाकर उसमें घीकी एक-एक बूँद टपकाते हुए ३३ देवों एवं ३ महादेवोंको आहुति देना चाहिये।

इन ३३ देवों एवं ३ महादेवों (३३ व्यंजनों तथा ३ स्वरों)-से असंख्य देवों (पदों)-की सृष्टि है। इसलिये इनमें सम्पूर्ण विश्व है। अग्नि अमित तेजोमय है। अपनेको तेजस्वी करनेके लिये यज्ञ (अग्न्योपासना-सूर्यचिन्तन) करना श्रेयस्कर है। यज्ञ (त्याग) गृहस्थका धर्म है। अर्थसम्पादन (सीमित संग्रह) गृहस्थका कर्तव्य है। यज्ञ कभी व्यर्थ नहीं जाता। यज्ञकर्ता धनका अधिकारी होता है। यज्ञसे धन, बल, तेज, प्रजा, आरोग्य अनायास प्राप्त होता है। यज्ञके नाना रूप हैं। जितने लोग हैं, उतने यज्ञ हैं। अपनेको देवता बनानेके लिये यज्ञ किया जाता है। अग्निका उपासक याजी, अग्नि (पवित्र, अग्रगण्य) होता है। इतर देवता अग्निपर आश्रित हैं। इसलिये अग्न्योपासना श्रेष्ठ है। अग्नि ब्राह्मण है, देवोंका मुख है—इन कथनोंका अर्थ है, अग्निकी सर्वोपरिता। जो अग्निकी पूजा (यजन) नहीं करता, वह हतभाग्य है। भाव शुद्ध होनेपर, स्वार्थसे ऊपर उठनेपर, हर कर्म यज्ञ होता है। यज्ञीय जीवनचर्या होनेपर आचरण शुद्ध होता है, पाप भस्म होता है, तेज निखरता है, ओज बढ़ता है, यश फैलता है, निर्भयताका उदय होता है, व्यक्ति तब व्यक्ति न रहकर देव हो जाता है। देव होना ही यज्ञीय जीवनका प्रकाश है।

अखण्ड ज्योतिकी स्थापना शाश्वत यज्ञ है। जहाँ यह होता है, वह स्थान शक्तिपीठ होता है। शुभकामी गृहस्थके लिये ज्योति साक्षात् भगवान् है, जैसे सूर्य। जिन मन्दिरोंमें, पूजास्थलोंमें ज्योति जलती है, वे देवस्थान हैं। ज्योतिविहीन मन्दिर मरघटमात्र हैं। प्रत्येक मंगलकर्ममें ज्योति प्रथम है। सृष्टि अग्नीषोमीय है। इसलिये इसके प्रतीकरूपमें कलशरूपी ब्रह्मकी स्थापना एवं पूजा होती है। कलशके भीतर सोम (अमृत जल) होता है तथा ऊपर प्रज्वलित दीप (अग्नि) होता है। यह पूर्ण ब्रह्मकी शास्त्रीय अभिकल्पना है।

यह हमारा प्राचीनतम धर्म है। ऋषि विश्वामित्रने

श्रीरामके द्वारा इसकी रक्षा की। यज्ञकर्ता रक्षणीय हैं। यज्ञपोषक श्रीराम भगवान् हैं। यज्ञनाशक राक्षस हैं। यज्ञका आधार गो है। गो (वृष)-से कृषिद्वारा यज्ञीय अन्न प्राप्त होता है। गो (गाय)-से दूध, घृत मिलता है। अन्न और घृतसे हव्याहुति दी जाती है। आहुतिमें वेदमन्त्रोंका प्रयोग होता है। होता द्विज होता है। गो, द्विज, वेद, यज्ञ (धर्म)-की रक्षाके लिये रामभगवान्‌का अवतार (आगमन) होता है। यज्ञका होना ही यज्ञकी रक्षा है। यही हमारा रामत्व है। परिस्थितिवश यज्ञका स्वरूप बदलता रहता है, किंतु यज्ञ कभी मरता नहीं। धूनी जलाना यज्ञ है। अगियार करना यज्ञ है। यह लोकमें प्रचलित है। प्राणायाम यज्ञ है। इसमें प्राणमें अपान तथा अपानमें प्राणकी आहुति ओंकार मन्त्रसे दी जाती है। प्राण=श्वास अन्दर लेना, अपान=श्वास बाहर निकालना। प्राणमें अपानकी आहुति=अन्तर्कुम्भक, अपानमें प्राणकी आहुति=बाह्यकुम्भक है। ओंकार मन्त्र ओम् ही अकाररूप ब्रह्म है। श्वास-प्रश्वासके साथ हंस तथा राम मन्त्रका जाप जपयज्ञ है। सूर्यका सौम्य रूप राम (रम्यते अनेन) है, तथा उग्ररूप हंस (हन्ति अन्धकारं

सनोति प्रकाशम्) है। स्वाध्याय (आत्मचिन्तन) बौद्धिक (महद्) यज्ञ है।

यज्ञमें अन्धकार या अज्ञानका नाश किया जाता है। मानवकल्याणके लिये युद्ध भी यज्ञ है, सभी अवतारोंमें धर्मस्थापनार्थ यह यज्ञ हुआ है।

यज्ञमें कर्मकी महत्ता है। सोना, जागना, उठना-बैठना, चलना-रुकना आदि क्रियाएँ जब लोककल्याणके लिये की जाती हैं तो इन्हें यज्ञ कहते हैं। कर्मके दैव-स्वरूपका नाम यज्ञ है। कर्मयोगी यज्ञात्मा है। कर्मका पुत्र प्रारब्ध है। प्रारब्ध (भाग्य)-का जनक कर्म है। संस्कारित कर्म यज्ञ है। यज्ञ जीवनका संवाहक है। स्वकल्याणके साथ-साथ विश्वकल्याणके लिये कर्म करना यज्ञ है। '**यज्ञधर्माय नमः।**'

जीवनमें जरूरी है अध्यात्म

(डॉ० श्रीश्यामशर्माजी वाशिष्ठ, एम०ए०, पी-एच०डी०, शास्त्री, काव्यतीर्थ)

जीवनमें समस्त प्राप्य या काम्य वस्तुओंके दो ही नाम हैं; एक है प्रेय और दूसरा है श्रेय। मनुष्यमें इन्द्रियचेतनाकी प्रबलता रहती है और इसीलिये वह इन्द्रियों एवं मनके अनुकूल होनेसे धन आदि भौतिक वस्तुओंको प्रेयके रूपमें प्रमुखता देता है और उन्हें ही स्पृहणीय तथा वरेण्य मानता है, किंतु ज्यों-ज्यों उसकी अन्तश्चेतना जाग्रत् होती है, वह श्रेयोन्मुखी होता जाता है और श्रेयस्कर मार्गको ही वरेण्य मान लेता है।

वस्तुतः जीवनमें सर्वोत्तम, श्रेयस्कर तथा वरेण्य है—धर्म एवं अध्यात्म। इसीलिये आचार्य शंकरने अर्थको अनर्थका कारण कहा है—'**अर्थमनर्थं चिन्तय नित्यम्**' और पुत्र-कलत्र आदिको मृगतृष्णातुल्य माना है। तत्त्वतः धर्म और अध्यात्ममें कोई विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि धर्मका केन्द्रीय तत्त्व है—अध्यात्म।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं। उक्त धृति आदि नैतिक गुण ही हैं।

वस्तुतः धृति आदि दस गुणों एवं परोपकार आदि धर्मके तत्त्वोंका मूल स्रोत तथा उत्स है—प्रेम और करुणा। इसी कारण सनातनधर्ममें ईश्वरको करुणावतार, करुणावरुणालय तथा प्रेमस्वरूप कहा गया है। प्रेम और करुणा ही अध्यात्मके मूलतत्त्व हैं। गीता (८।३)-में अध्यात्म क्या है—इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा है—'**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।**' स्वभावको अध्यात्म कहा जाता है। स्वभावका तात्पर्य है आत्मभाव अर्थात् प्राणिमात्रको आत्मवत् समझना। इसीलिये कहा है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

जिस व्यक्तिमें अध्यात्मज्ञान या चेतना जाग्रत् हो जाती है, वही व्यक्ति '***सर्वं खल्विदं ब्रह्म***' तथा '***सीय राममय सब जग जानी***' की भावनाके अनुरूप प्राणिमात्रमें आत्मवत् दर्शन करता है और वही व्यक्ति सभी प्राणियोंके प्रति करुणार्द्र तथा प्रेमास्पदकी भावनासे भावित होता है। अध्यात्मचेतनाके जाग्रत् होनेपर ही व्यक्ति जीवन्मुक्तिकी दशामें पहुँच जाता है। उसे सर्वत्र प्रभुके दर्शन होते हैं और वह '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की स्थितिमें पहुँच जाता है।

मनुष्यजीवनमें धर्मप्रधान अध्यात्मचेतनाका सर्वाधिक महत्त्व है। अध्यात्मचेतनावाला व्यक्ति भक्त प्रह्लादकी तरह सर्वत्र परमात्मभावसे भावित रहता है।

अध्यात्म चेतनासे युक्त मनःस्थिति ही धर्मोपासनाका लक्ष्य है। सन्त-महात्मा भी अध्यात्मनिष्ठासे युक्त होते हैं, किंतु ऐसे सन्त विरले होते हैं, असाधारण होते हैं। भर्तृहरिने लिखा है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

(नीति० ७९)

अर्थात् मन, वाणी तथा शरीरमें पुण्यरूपी अमृतसे परिपूर्ण, तीनों भुवनोंको उपकारोंसे प्रसन्न करनेवाले, दूसरोंके लेशमात्र गुणको पर्वतसदृश समझकर अपने हृदयमें प्रसन्न होनेवाले सन्त—सत्पुरुष कितने होते हैं अर्थात् विरले होते हैं।

निःसन्देह ऐसी धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतनासे न केवल जीवन सफल होता है वरन् मानवताका भी कल्याण होता है।

नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

भगवत्कृपासे इस वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क **'जीवनचर्याङ्क'** पाठकोंकी सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। संसार में सभी प्राणी सुख चाहते हैं, सुख भी ऐसा जिसमें कोई व्यवधान न हो—शाश्वत सुख अर्थात् लोक-परलोक दोनोंमें सुखी रहना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति पुनर्जन्म एवं कर्मसिद्धान्तपर आधारित है। संसारमें सर्वत्र सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, दरिद्रता-सम्पन्नता आदि वैभिन्न्य स्पष्ट रूपसे दिखायी पड़ता है, पर यह भिन्नता क्यों है? इसपर विचार करना आवश्यक है। इतना ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा तिर्यक् आदि चौरासी लाख योनियोंमें भटकता हुआ जीव भगवत्कृपासे मानवशरीर प्राप्त करता है। इस योनिमें उसे कर्म करनेकी सामर्थ्य, विवेक और बुद्धि भी भगवत्प्रदत्त है, परंतु इस विवेक, बुद्धि और सामर्थ्यका वह कितना सदुपयोग करता है, यह तो जीवपर ही निर्भर है। मनुष्यजीवन पाकर भी मनमाना स्वेच्छाचारितापूर्वक भोगविलासमें ही जीवन बिता दिया और धर्मशास्त्ररूपी भगवदाज्ञाके अनुसार जीवनचर्या नहीं चलायी तो पुन: कूकर-शूकर, कीट-पतंग, पशु-पक्षी और तिर्यक् योनियोंमें दु:खरूप जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। इसीलिये सावधानीपूर्वक शास्त्रोंका स्वाध्याय और उनके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करते हुए अपनी जीवनचर्या चलानी चाहिये, इसीसे मानवजीवनके वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकेगी। अर्थात् शाश्वत सुख—अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति होगी, जिसकी सब लोग आकांक्षा रखते हैं।

वास्तवमें कर्तव्य वह है, जिसके परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो और अकर्तव्य वह है, जिसके परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो। नि:स्वार्थता ही व्यक्तिकी कसौटी है, जो जितना नि:स्वार्थी है, वह उतना ही आध्यात्मिक है।

आज संसारमें स्वार्थपरायणता और अनैतिक आचार-व्यवहारकी पराकाष्ठा होती जा रही है। सामान्यत: लोगोंकी धर्मसे रुचि तो हट ही गयी है, कल्याणकारी संस्कार भी लुप्त हो रहे हैं, इसीका परिणाम है विश्वकी वर्तमान दुर्गति, जिसमें सर्वत्र ही काम-क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य, गर्व, अभिमान, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा, परोत्कर्ष-पीड़ा, दलबन्दियाँ, अधर्मयुद्ध, आतंकवाद आदि सभी अधर्मके विभिन्न स्वरूपोंका ताण्डव-नृत्य हो रहा है, यदि यह इसी प्रकार चलता रहा तो पता नहीं पतन कितना गहरा होगा! इस प्रकारकी धर्मग्लानिसे बचनेके लिये, साथ ही अभ्युदय और नि:श्रेयसकी प्राप्तिके निमित्त कल्याणप्रद जीवनचर्याकी जानकारी सर्वसाधारणको हो सके—इसी उद्देश्यसे इस बार कल्याणके विशेषाङ्कके रूपमें **'जीवनचर्याङ्क'** प्रकाशित किया जा रहा है।

परम करुणावान् ऋषि-मुनियोंद्वारा प्रणीत अपने शास्त्र वर्णधर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रधर्म), आश्रमधर्म (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासधर्म), सामान्य धर्म, विशेष धर्म, गर्भाधानसे अन्त्येष्टितकके संस्कार, दिनचर्या, पंचमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव, भोजनविधि, शयनविधि, स्वाध्याय, यज्ञ-यागादि, इष्टापूर्तधर्म, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, शुद्धितत्त्व, पाप-पुण्य, तीर्थ-व्रत, दान-प्रतिष्ठा, श्राद्ध, सदाचार, शौचाचार, अशौच, भक्ष्याभक्ष्यविचार, आपद्धर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म तथा अध्यात्मज्ञान इत्यादिका विस्तारसे वर्णन करते हैं। इसे विशेषाङ्कमें सार-संक्षेपमें प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है।

मुख्य रूपसे गृहस्थके लिये यह बताया गया है कि वह अपने विहित दैनन्दिन कृत्योंका समुचित रूपसे अनुपालन करे, विद्याध्ययनके अनन्तर यथोक्त रीतिसे विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे और सत्पुरुषोंके आचारका पालन करे। श्रद्धापूर्वक पंचमहायज्ञोंद्वारा देवता, ऋषि, पितर तथा समस्त प्राणियोंको समुचित रीतिसे संतृप्त करे। नित्य सन्ध्योपासन करे, न्यायोपार्जित द्रव्यद्वारा परिवारका भरण-पोषण करे। सत्कर्मोंका अनुष्ठान करे। दीन-दु:खियोंकी सहायता करे। यथाकाल, यथापात्रमें यथाविधि धनका उत्सर्ग करे। इन्द्रिय-संयमपूर्वक अपनी स्त्रीपर ही प्रेम रखे, अतिथियोंका सत्कार करे, भृत्यवर्ग एवं पोष्यवर्गका पालन करे। परोपकारके कार्योंको करे, इन्द्रियोंकी चपलताका त्यागकर परम शुचिताको ग्रहण करे। स्वच्छ एवं पवित्र परिधान धारण करे। शौच, सन्तोष, अहिंसा आदि यम-नियमोंका पालन करे। तिथि-पर्वोंपर व्रतोपवास करे। तीर्थोंपर आस्था रखे, अधर्मसे सदा बचता रहे। निषिद्ध आचरणका सर्वथा परित्याग करे। सबके साथ मैत्रीका व्यवहार रखे। रसनाके स्वादपर नियन्त्रण रखे। अन्त्येष्टिपर्यन्त सभी संस्कारोंको करे। शास्त्र और देवतामें आस्तिक्य बुद्धि रखे। परनिन्दासे सदा बचता रहे। माता-पिता, गुरु आदि श्रेष्ठजनोंमें देवबुद्धि रखे। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करे। प्राणिमात्रकी सेवा करे और सबमें भगवद्भाव रखे। अपने लिये जो प्रतिकूल है, वैसा दूसरेके लिये भी न करे तथा अपनी मर्यादा एवं स्वधर्ममें सदा प्रतिष्ठित रहे। इसी प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासीके कर्तव्याकर्तव्यकी भी विस्तृत जानकारी शास्त्रोंमें उपलब्ध है।

पूर्व समयमें इस जीवनचर्याका यथाविधि पालन होता रहा है, इसीलिये सर्वत्र सुख-शान्ति थी और जीवन बहुत ही

सहज भावसे गतिशील था, किंतु समय-चक्रके बदलनेसे आज इन मान्यताओंका अत्यन्त तीव्र गतिसे ह्रास होता जा रहा है और इसीका यह परिणाम है कि इन स्थापित मर्यादाओं तथा नैतिक मूल्योंको रूढ़िधर्म एवं अनुपयोगी बताकर आजका तथाकथित शिक्षित मानव इनकी सर्वथा उपेक्षाकर स्वयंको गौरवशाली मान रहा है और अपने कर्तव्यसे च्युत होकर केवल अपने अधिकारकी बात देख रहा है। इसीका फल है कि आज हमारी दिनचर्या तथा जीवनचर्या शास्त्रानुकूल न होकर केवल मनमाने ढंगसे चल रही है, शास्त्रमें बताये गये नियमोंके उल्लंघनमें गौरवकी अनुभूति हो रही है। भगवान्से प्रार्थना है कि वे हमें विवेकशक्ति प्रदान करें ताकि हम उचित-अनुचितका निर्णय कर सकें और अपने भारतीय सनातन जीवनचर्याके आदर्शको पुनः प्रतिष्ठित कर सकें।

'**जीवनचर्याङ्क**'जो प्रकाशित किया जा रहा है, इसमें मुख्यरूपसे आदर्श जीवनचर्याका स्वरूप तथा जीवनमें करणीय एवं अकरणीय कर्मोंका निरूपण तथा विहितके सेवन और अविहितके त्यागके गुण-दोषोंका विवेचन, परिवारमें माता-पिता एवं वृद्धोंकी स्थिति तथा सुखी जीवनके जीनेके उपाय आदि विषयोंपर यथासाध्य महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है; साथ ही आसक्तिरहित होकर दैनन्दिन कर्तव्यकर्मोंका पालन करते हुए कैसे अपने जीवनको सफल बनाकर अध्यात्मकी ओर उन्मुख हुआ जा सकता है, इन सब बातोंको भी सम्मिलित करनेका प्रयत्न किया गया है, जिससे संसारके प्राणी सुखप्राप्तिकी अपनी अभिलाषा पूर्ण कर सकें।

इस वर्ष '**जीवनचर्याङ्क**'के लिये लेखक महानुभावोंने उत्साहपूर्वक जो योगदान प्रदान किया है, वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। भगवत्कृपासे इतने लेख और सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि इन सबको एक अंकमें समाहित करना सम्भव नहीं था, फिर भी विषयकी सर्वांगीणताको ध्यानमें रखते हुए अधिकतम सामग्रियोंका समायोजन करनेका विशेष प्रयास किया गया है।

लेखक महानुभावोंके हम अत्यधिक कृतज्ञ हैं, जिन्होंने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर जीवनचर्या-सम्बन्धी सामग्री तैयारकर यहाँ प्रेषित की है। हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीको विशेषांकमें स्थान न दे सके, इसका हमें खेद है। इसमें हमारी विवशता ही कारण है। इनमेंसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख आनेके कारण न छप सके तथा कुछ अच्छे लेख विलम्बसे आये, जिसके कारण नहीं दिये जा सके। यद्यपि इनमेंसे कुछ सामग्रीको आगेके साधारण अङ्कोंमें देनेका प्रयास अवश्य करेंगे, परंतु विशेष कारणोंसे कुछ लेख प्रकाशित न हो सकें तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमें रखकर हमें अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्र-हृदय संत-महात्माओंके श्रीचरणोंमें प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किंचित् भी योगदान किया। सद्विचारोंके प्रचार-प्रसारमें वे ही निमित्त हैं; क्योंकि उन्हींकी भावपूर्ण तथा उच्चविचारयुक्त भावनाओंसे '**कल्याण**'को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके और प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। त्रुटियों और व्यवहारदोषके लिये हम सबसे क्षमाप्रार्थी हैं।

'**जीवनचर्याङ्क**'के सम्पादनमें जिन महानुभावोंसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानसपटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। गोधनके सम्पादक तथा विशिष्ट पत्रकार श्रीशिवकुमारजी गोयलके प्रति हम आभारी हैं, जो निरन्तर अपने पूज्य पिता भक्त श्रीरामशरणदासजी, पिलखुआके संग्रहालयसे अनेक दुर्लभ सामग्रियाँ उपलब्ध कराते रहे हैं। साथ ही कई विशिष्ट महानुभावोंसे भी सामग्री एकत्रकर भेजनेका प्रयास करते हैं।

'कल्याण' के सह-सम्पादक श्रीप्रेमप्रकाश लक्कड़के प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर पूर्ण सहयोग प्रदान किया। इसके सम्पादन, प्रूफशुद्धि, चित्रनिर्माण तथा मुद्रण आदिमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहायता मिली, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें कल्याणका कार्य भगवान्का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं। हम तो केवल निमित्तमात्र हैं। इस बार '**जीवनचर्याङ्क**'के सम्पादनकार्यके अन्तर्गत जगन्नियन्ता प्रभु तथा शास्त्रबोधित शुभ-चर्याओंका चिन्तन-मनन और सत्संगका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है कि इस विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे हमारे सहृदय प्रेमी पाठकोंको यह सौभाग्यलाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे पुनः क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल, अकारणकरुणावरुणालय परमात्मप्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमें तथा जगत्के सम्पूर्ण जीवोंको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे हम सब ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्दिष्ट शुभ संस्कारोंकी ओर प्रवृत्त होकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

—राधेश्याम खेमका
(सम्पादक)

॥ श्रीहरि: ॥

गीताप्रेस, गोरखपुर-प्रकाशन

कोड — मूल्य रु०

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-तत्त्व विवेचनी—(टीकाकार श्रीजयदयालजी गोयन्दका) २५१५ प्रश्न और उत्तर रूपमें विवेचनात्मक हिन्दी टीका, सचित्र सजिल्द

- ■ 1 बृहदाकार — १६०
- ■ 2 ,, ग्रन्थाकार विशिष्ट संस्करण — ८० [बँगला, तमिल, ओडिआ, कन्नड, अंग्रेजी तेलुगु, गुजराती मराठीमें भी]
- ■ 3 ,, साधारण संस्करण — ५०

गीता-साधक संजीवनी—(टीकाकार स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझनेहेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल, सुबोध भाषामें हिन्दी टीका, सचित्र, सजिल्द

- ■ 5 बृहदाकार परिशिष्टसहित — २५०
- ■ 6 ,, ग्रन्थाकार, परिशिष्टसहित — १२० [मराठी, तमिल (दो खण्डोंमें), गुजराती, अंग्रेजी (दो खण्डोंमें), कन्नड (दो खण्डोंमें), बँगला, ओडिआमें भी]
- ■ 8 **गीता-दर्पण**—(स्वामी श्रीरामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, गीता व्याकरण और छन्द सम्बन्धी गूढ़ विवेचन सचित्र, सजिल्द [मराठी, बँगला, गुजराती, ओडिआमें भी] — ५०
- ■1562 **गीता प्रबोधनी**—पुस्तकाकार — ३५ (बँगला, ओड़िआ, पंजाबीमें भी)
- ■1590 ,, पॉकेट, वि०सं० — २०
- ■1796 **श्रीज्ञानेश्वरी** हिन्दी भावानुवाद — ७०
- ■ 784 **ज्ञानेश्वरी गूढ़ार्थ-दीपिका** (मराठी) — १५०
- ■ 748 ,, मूल, गुटका (मराठी) — ३०
- ■ 859 ,, मूल, मझला (मराठी) — ४०
- ■ 10 **गीता-शांकर-भाष्य** — ७०
- ■ 581 **गीता-रामानुज-भाष्य** — ४०
- ■ 11 **गीता चिन्तन**—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीता-विषयक लेखों, विचारों, पत्रों आदिका संग्रह) — ४०
- ■ 17 **गीता**—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका, टिप्पणी प्रधान लेखसहित, सचित्र, सजिल्द [गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड, तेलुगु तमिलमें भी] — ३०
- ■ 16 **गीता**—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें (मराठीमें भी) — ३०
- ■1555 **गीता-माहात्म्य** (वि०सं०) — ४०
- ■ 19 **गीता**—केवल भाषा (तेलुगु उर्दू, तमिलमें भी) — ८
- ■ 18 **गीता**-भाषा टीका, टिप्पणी प्रधान विषय मोटा टाइप [ओडिआ, गुजराती मराठीमें भी] — १५
- ■ 502 **गीता**- (सजि०) — २० [तेलुगु, ओडिआ गुजराती, कन्नड, तमिलमें भी]
- ■ 20 ,, -भाषा टीका,पॉकेट साइज — ६ [अंग्रेजी मराठी बँगला, असमिया, ओडिआ गुजराती कन्नड, तेलुगुमें भी]
- ■1566 **गीता**—भाषा टीका पॉकेट साइज, सजिल्द — १२ [गुजराती बँगला, अंग्रेजी भी]
- ■ 21 **श्रीपञ्चरत्नगीता**—गीता विष्णुसहस्रनाम भीष्मस्तवराज अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें) [ओडिआमें भी] — १७
- ■1628 ,, (**नित्यस्तुति एवं गजल-गीतासहित**) पॉकेट साइज — ६
- ■ 22 **गीता**—मूल, मोटे अक्षरों वाली [तेलुगु, गुजरातीमें भी] — ८
- ■ 23 **गीता**—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित — ३ [कन्नड, तेलुगु तमिल, मलयालम, ओडिआमें भी]
- ■1556 **गीता**—**श्लोकार्थसहित**—लघु आकार — ५
- ■1602 **गीता**—सजिल्द (वि०सं०)—लघु आकार — ८
- ■ 700 **गीता**—मूल, लघु आकार (ओड़िआ, बँगला, तेलुगुमें भी) — २
- ■1392 **गीता ताबीजी**—(सजिल्द) (गुजराती, बँगला, तेलुगु, ओडिआमें भी) — ४
- ■ 566 **गीता**—ताबीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता (१०० प्रति एक साथ) — २५
- ▲ 388 **गीता-माधुर्य**-सरल प्रश्नोत्तर शैलीमें (हिन्दी) — ८ [तमिल, मराठी, गुजराती, उर्दू, तेलुगु, बँगला असमिया, कन्नड, ओड़िआ, अंग्रेजी, संस्कृतमें भी]
- ▲ 679 **गीतामाधुर्य** (केवल मूल) — ६
- ■1242 **पाण्डवगीता एवं हंसगीता** — ३
- ■1431 **गीता-दैनन्दिनी** (२०१०) पुस्तकाकार विशिष्ट संस्करण (बँगला, तेलुगु, ओडिआमें भी) — ५०
- ■ 503 **गीता-दैनन्दिनी** (२०१०) रोमन, पुस्तकाकार, प्लास्टिक जिल्द — ३५
- ■1769 **गीता-दैनन्दिनी** (२०१०) लघु — १२
- ■ 506 **गीता दैनन्दिनी** (२०१०) पॉकेट साइज (वि०सं०) — २०
- ▲ 464 **गीता-ज्ञान-प्रवेशिका** — १५

रामायण

- ■1389 **श्रीरामचरितमानस**—बृहदाकार (विशिष्ट संस्करण) — ४००
- ■ 80 ,, बृहदाकार — ३००
- ■1095 ,, ग्रन्थाकार (वि०सं०) (गुजरातीमें भी) — २१०
- ■ 81 ,, ग्रन्थाकार सचित्र सटीक, मोटा टाइप, — १५० [ओडिआ बँगला तेलुगु मराठी गुजराती कन्नड, अंग्रेजी नेपालीमें भी]
- ■1402 ,, सटीक ग्रंथाकार (सामान्य) — १२०
- ■1563 **श्रीरामचरितमानस**—मझला, सटीक विशिष्ट सं० — ८५
- ■ 82 ,, मझला साइज सटीक — ७५ सजिल्द [गुजराती अंग्रेजी भी]
- ■1318 ,, रोमन एवं अंग्रेजी अनुवादसहित — २००
- ■ 456 ,, अंग्रेजी अनुवादसहित — १२०
- ■ 786 ,, मझला " " — ७०
- ■1436 ,, मूलपाठ बृहदाकार — १६५
- ■ 83 ,, मूलपाठ ग्रंथाकार — ८० [गुजराती, ओड़िआ भी]
- ■ 84 ,, मूल, मझला साइज [गुजराती भी] — ४५
- ■ 85 ,, मूल, गुटका ["] — ३०
- ■1544 ,, मूल गुटका (वि०सं०) — ३५
- ■ 790 ,, केवल भाषा — ८०

[श्रीरामचरितमानस—अलग-अलग काण्ड (सटीक)]

- ■ 94 **श्रीरामचरितमानस**-बालकाण्ड — २०
- ■ 95 ,, अयोध्याकाण्ड — १८
- ■ 98 ,, सुन्दरकाण्ड [कन्नड तेलुगु, बँगला भी] — ५
- ■1349 ,, सुन्दरकाण्ड सटीक मोटा टाइप (लाल अक्षरोंमें) (श्रीहनुमानचालीसासहित) [गुजरातीमें भी] — १७
- ■ 101 ,, लंकाकाण्ड — १०
- ■ 102 ,, उत्तरकाण्ड — १०
- ■ 141 ,, अरण्य, किष्किन्धा एवं सुन्दरकाण्ड — १०
- ■ 830 ,, सुन्दरकाण्ड-मूल, ग्रन्थाकार, मोटा (रंगीन) — १२
- ■1583 ,, सुन्दरकाण्ड, (मूल) मोटा (आडी) रंगीन — ६
- ■ 99 ,, सुन्दरकाण्ड—मूल, गुटका [गुजराती भी] — ३
- ■ 100 **श्रीरामचरितमानस**-सुन्दरकाण्ड मूल मोटा टाइप [गुजराती ओडिआ भी] — ५
- ■1378 ,, सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा टाइप (लाल रंगमें) — ६
- ■ 858 ,, सुन्दरकाण्ड—मूल, लघु आकार [गुजराती भी] — २
- ■1710 ,, किष्किन्धाकाण्ड — २
- ■1376 **मानस गूढ़ार्थ-चन्द्रिका**—(श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक,टीकाकार-पं० पं० प्रज्ञानानन्द सरस्वती (सातों खण्ड) — ७६० (अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)
- ■ 86 **मानसपीयूष** (श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक टीकाकार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड) — १२२५ (अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)
- ■1291 **श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण-कथा-सुधा-सागर**
- ■ 75, 76 **श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायण**—सटीक दो खण्डोंमें सेट [तेलुगु भी] — २६०
- ■1337, 1338 **रामायण**—भाषा (मोटा टाइप) दो खण्डोंमें सेट — २४०
- ■ 77 ,, केवल भाषा — १६०
- ■ 583 ,, (मूलमात्रम्) — १००
- ■ 78 **रामायण**—सुन्दरकाण्ड, मूलमात्रम् [तमिल भी] — १८
- ■1549 **श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण** सुन्दरकाण्ड सटीक [तमिल भी] — ५०
- ■ 452, 453 **श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण** (अंग्रेजी अनुवादसहित दो खण्डोंमें सेट) — ३००
- ■1002 **सं० वाल्मीकीय-रामायणाङ्क**
- ■ 74 **अध्यात्मरामायण**—सटीक [तमिल, तेलुगु, कन्नड, मराठी भी] — ७०
- ■ 223 **मूल रामायण** [गुजराती, मराठी भी] — २
- ▲1654 **लवकुश-चरित्र** — २०
- ▲ 401 **मानसमें नाम वन्दना** — ८
- ■ 103 **मानस-रहस्य** — ३५
- ■ 104 **मानस-शंका समाधान** — १२

अन्य तुलसीकृत साहित्य

- ■ 105 **विनयपत्रिका**—सरल भावार्थसहित — २८
- ■1701 **विनयपत्रिका**, सजिल्द — ३५
- ■ 106 **गीतावली**— ,, — २५
- ■ 107 **दोहावली**—भावार्थसहित — १२
- ■ 108 **कवितावली**— ,, — १२

☞ भारतमें डाक खर्च, पैकिंग तथा फारवर्डिंगकी देय राशि:—२ रुपया-प्रत्येक १० रु० या उसके अंशके मूल्यकी पुस्तकोंपर।
—रजिस्ट्री / वी० पी० पी० के लिये २० रु० प्रति पैकेट अतिरिक्त। [पैकेटका अधिकतम वजन ५ किलो (अनुमानित पुस्तक मूल्य रु० २५०)]

☞ रंगीन चित्रोंपर २० रु० प्रति पैकेट स्पेशल पैकिंग चार्ज अतिरिक्त।

☞ रु० ५००/-से अधिककी पुस्तकोंपर ५% पैकिंग, हैण्डलिंग तथा वास्तविक डाकव्यय देय होगा।

☞ पुस्तकोंके मूल्य एवं डाकदरमें परिवर्तन होनेपर परिवर्तित मूल्य / डाकदर देय होगा।

☞ पुस्तक-विक्रेताओंके नियमोंकी पुस्तिका अलग है। विदेशोंमें निर्यातके अलग नियम हैं।

☞ रु० २००० से अधिककी पुस्तकें एक साथ लेनेपर १५% छूट (▲चिह्नवाली पुस्तकोंपर ३०%) छूट देय। (पैकिंग, रेल भाड़ा आदि अतिरिक्त)।

नोट—अन्य भारतीय भाषाओंकी पुस्तकोंका मूल्य एवं कोड पृष्ठ-५०१ से ५०४ पर देखें तथा अप्रैल २००९ से प्रकाशित नवीन प्रकाशनोंको पृष्ठ-५०४ पर देखें।

सम्पर्क करें—व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

कोड — मूल्य रु०

■ 109 रामाज्ञाप्रश्न— भावार्थसहित ८
■ 110 श्रीकृष्णगीतावली ,, ५
■ 111 जानकीमंगल— ,, ४
■ 112 हनुमानबाहुक— ,, ३
■ 113 पार्वतीमंगल— ,, ३
■ 114 वैराग्य संदीपनी एवं बरवै रामायण ३

सूर साहित्य

■ 555 श्रीकृष्णमाधुरी २०
■ 61 सूर विनय पत्रिका २०
■ 62 श्रीकृष्ण बाल-माधुरी २०
■ 735 सूर रामचरितावली १८
■ 547 विरह-पदावली १८
■ 864 अनुराग-पदावली— २०

पुराण, उपनिषद् आदि

■ 28 श्रीमद्भागवत-सुधासागर १५० [गुजराती भी]
■1490 ,, (विशिष्ट संस्करण) (अंग्रेजी भी) २००
■ 25 श्रीशुकसुधासागर— बृहदाकार, बड़े टाइपमें ३६०
■1190, 1191 श्रीशुकसुधासागर, बड़े टाइपमें ग्रन्थाकार, दो खण्डोंमें सेट
■1535, 1536 श्रीमद्भागवतमहापुराण— सटीक, दो खण्डोंमें सेट (विशिष्ट संस्करण) ३४०
■ 26, 27 श्रीमद्भागवतमहापुराण— सटीक, दो खण्डोंमें सेट २६० (गुजराती मराठी, बंगला भी)
■ 564, 565 श्रीमद्भागवतमहापुराण— अंग्रेजी सेट २५०
■ 29 ,, मूल मोटा टाइप (तेलुगु भी) ११०
■ 124 ,, मूल मझला ६५
■ 571 श्रीकृष्णलीलाचिन्तन
■ 30 श्रीप्रेम-सुधासागर ७०
■ 31 भागवत एकादश स्कन्ध— सचित्र, सजिल्द [तमिल भी] २५

■ 728 महाभारत—हिन्दी टीकासहित, सजिल्द, सचित्र [छः खण्डोंमें] सेट १३५०
(अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)

■ 38 महाभारत-खिलभाग हरिवंशपुराण—सटीक २००
■1589 ,, केवल हिन्दी १८०
■ 39, 511 संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा, सचित्र सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें) [बँगला भी] २६०
■ 44 संक्षिप्त पद्मपुराण— सचित्र, सजिल्द १५०

■1468 सं० शिवपुराण (वि० सं०) १६५
■ 789 सं० शिवपुराण—मोटा टाइप [गुजराती भी] १३०
■1133 सं० देवीभागवत [,,] १५०
■1770 श्रीमद्देवीभागवत-मूल १२०

■ 48 श्रीविष्णुपुराण— सटीक, सचित्र १००
■1364 श्रीविष्णुपुराण (केवल हिन्दी) ६५
■1183 सं० नारदपुराण १२०
■ 279 सं० स्कन्दपुराणाङ्क २००
■ 539 सं० मार्कण्डेयपुराण ६०
■1111 सं० ब्रह्मपुराण ८०
■1113 नरसिंहपुराणम्—सटीक ६०
■1189 सं० गरुडपुराण १००
■1362 अग्निपुराण (मूल संस्कृतका हिन्दी अनुवाद) १३०
■1361 सं० श्रीवराहपुराण ७५
■ 584 सं० भविष्यपुराण ११०
■1131 कूर्मपुराण—सटीक ८०
■ 631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण १३०
■1432 वामनपुराण—सटीक ८५

कोड — मूल्य रु०

■ 557 मत्स्यमहापुराण—,, १६५
■1610 देवीपुराण (महाभागवत) शक्तिपीठाङ्क ८०
■ 517 गर्गसंहिता १००
■ 47 पातञ्जलयोग-प्रदीप १२०
■ 135 पातञ्जलयोगदर्शन— [बँगला भी] ११
■ 582 छान्दोग्योपनिषद्— सानुवाद शांकरभाष्य ७०
■ 577 बृहदारण्यकोपनिषद्—(,,) १००

■ 1421 ईशादि नौ उपनिषद् (,,) १०० एक ही जिल्दमें

■ 66 ईशादि नौ उपनिषद्— अन्वय-हिन्दी व्याख्या ५० [बँगला भी]
■ 67 ईशावास्योपनिषद् सानुवाद, शांकरभाष्य [तेलुगु, कन्नड भी] ४
■ 68 केनोपनिषद्— सानुवाद, शांकरभाष्य १०
■ 578 कठोपनिषद्— ,, १२
■ 69 माण्डूक्योपनिषद्— ,, २२
■ 513 मुण्डकोपनिषद्— ,, ९
■ 70 प्रश्नोपनिषद्— ,, १०
■ 71 तैत्तिरीयोपनिषद्— ,, १८
■ 72 ऐतरेयोपनिषद्— ,, ८
■ 73 श्वेताश्वतरोपनिषद्— ,, २०
■ 65 वेदान्त-दर्शन—हिन्दी व्याख्या-सहित, सजिल्द ४०
■ 639 श्रीनारायणीयम्—सानुवाद [तेलुगु, तमिल भी] ३५

भक्त-चरित्र

■ 40 भक्त चरिताङ्क—सचित्र, सजिल्द १४०
■1771 जैमिनीकृतमहाभारतमें भक्तोंकी गाथा—सजिल्द ५०
■ 51 श्रीतुकाराम-चरित— जीवनी और उपदेश ३५
■ 121 एकनाथ चरित्र १७
■ 53 भागवतरत्न प्रह्लाद १८
■ 123 चैतन्य-चरितावली सम्पूर्ण एक साथ १००
■ 751 देवर्षि नारद १२
■ 168 भक्त नरसिंह मेहता [मराठी, गुजराती भी] १३
■ 169 भक्त बालक—गोविन्द, मोहन आदिकी गाथा ५ [तेलुगु, कन्नड, मराठी भी]
■ 170 भक्त नारी—मीरा, शबरी आदिकी गाथा ५
■ 171 भक्त पञ्चरत्न—रघुनाथ, दामोदर आदिकी (तेलुगु भी) ८
■ 172 आदर्श भक्त—शिबि, रन्तिदेव आदिकी गाथा ८ [तेलुगु, कन्नड, गुजराती भी]
■ 175 भक्त कुसुम—जगन्नाथ आदि छः भक्तगाथा ६
■ 173 भक्त सप्तरत्न—दामा, रघु आदिकी भक्तगाथा ६ [गुजराती, कन्नड भी]
■ 174 भक्त चन्द्रिका—सखू, विट्ठल आदि छः भक्तगाथा ६ [गुजराती, कन्नड, तेलुगु, मराठी, ओड़िआ भी]
■ 176 प्रेमी भक्त—बिल्वमंगल, जयदेव आदि [गुजराती भी] ६
■ 177 प्राचीन भक्त— मार्कण्डेय, उत्तंक आदि १२
■ 178 भक्त सरोज—गंगाधरदास, श्रीधर आदि (गुजराती भी) ८
■ 179 भक्त सुमन—नामदेव, राँका-बाँका आदिकी भक्तगाथा ८ [गुजराती भी]
■ 180 भक्त सौरभ—व्यासदास, प्रयागदास आदि ८
■ 181 भक्त सुधाकर—रामचन्द्र, लाखा आदिकी भक्तगाथा ८ [गुजराती भी]
■ 182 भक्त महिलारत्न—रानी रत्नावती, हरदेवी आदि ८ [गुजराती भी]
■ 183 भक्त दिवाकर—सुव्रत, वैश्वानर आदिकी भक्तगाथा ८
■ 184 भक्त रत्नाकर—माधवदास, विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा ८
■ 185 भक्तराज हनुमान्— हनुमान्‌जीका जीवनचरित्र ५ [मराठी, ओड़िआ, तमिल, तेलुगु, कन्नड, गुजराती भी]
■ 186 सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र [ओड़िआ भी] ५
■ 187 प्रेमी भक्त उद्धव [तमिल, तेलुगु गुजराती, ओड़िआ भी] ४
■ 188 महात्मा विदुर [गुजराती, तमिल, ओड़िआ भी] ४
■ 136 विदुरनीति १२
■ 138 भीष्मपितामह [तेलुगु भी] १२
■ 189 भक्तराज ध्रुव [तेलुगु भी] ४

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

■683 तत्त्वचिन्तामणि— (सभी खण्ड एक साथ) [गुजराती भी] ९०
■814 साधन-कल्पतरु ७० (१३ महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका संग्रह)

▲1597 चिन्ता-शोक कैसे मिटें? ८
▲1631 भगवान् कैसे मिलें? ६
▲1653 मनुष्य-जीवनका उद्देश्य ६
▲1681 भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं ६
▲1747 भगवत्प्राप्ति कैसे हो? ७
▲1666 कल्याण कैसे हो? ८
▲ 527 प्रेमयोगका तत्त्व— [अंग्रेजी भी] १५
▲ 242 महत्त्वपूर्ण शिक्षा—[तेलुगु भी] १८
▲ 528 ज्ञानयोगका तत्त्व [अंग्रेजी भी] १५
▲ 266 कर्मयोगका तत्त्व— (भाग-१) (गुजराती भी) १०
▲ 267 कर्मयोगका तत्त्व—(भाग-२) १०
▲ 303 प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय [तमिल, गुजराती भी] १२
▲ 298 भगवान्‌के स्वभावका रहस्य [तमिल, गुजराती, मराठी भी] १०
▲ 243 परम साधन—भाग-१ ९
▲ 244 ,, ,, —भाग-२ ८
▲ 245 आत्मोद्धारके साधन (भाग-१) १२
▲ 335 अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति— (आत्मोद्धारके साधन भाग-२) [गुजराती भी] १०
▲ 579 अमूल्य समयका सदुपयोग ७ [तेलुगु, गुजराती, मराठी, कन्नड, ओड़िआ भी]
▲ 246 मनुष्यका परम कर्तव्य (भाग-१) १०
▲ 247 ,, ,, (भाग-२) ९
▲ 611 इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति [गुजराती भी] ८
▲ 588 अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति [,,] ९
▲1296 कर्णवासका सत्संग [तमिल भी] ७
▲1015 भगवत्प्राप्तिमें भावकी प्रधानता [गुजराती भी] ९
▲ 248 कल्याणप्राप्तिके उपाय- ११ (त०चि०भा०१) [बँगला भी]
▲ 249 शीघ्र कल्याणके सोपान- भाग २, खण्ड-१ [गुजराती भी] १२
▲ 250 ईश्वर और संसार— भाग-२, (खण्ड-२) १४
▲ 519 अमूल्य शिक्षा— भाग-३ (खण्ड १) ९
▲ 253 धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि— भाग-३, (खण्ड-२) १०
▲ 251 अमूल्य वचन तत्त्वचिन्तामणि- भाग ४, (खण्ड-१) १२
▲ 252 भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा- भाग ४ (खण्ड २) १२
▲ 254 व्यवहारमें परमार्थकी कला— त० चि० भाग ५, (खण्ड-१) [गुजराती भी] १०
▲ 255 श्रद्धा विश्वास और प्रेम- गुजराती, भाग-५, (खण्ड-२) [गुजराती भी] १०
▲ 258 तत्त्वचिन्तामणि— भाग-६ (खण्ड-१) ९
▲ 257 परमानन्दकी खेती— भाग ६ (खण्ड २) ९
▲ 260 समता अमृत और विषमता विष- भाग ७ (खण्ड १) १२
▲ 259 भक्ति-भक्त भगवान्- भाग-७ (खण्ड-२) १०
▲ 256 आत्मोद्धारके सरल उपाय १२
▲261 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान ३ [मराठी, कन्नड, तेलुगु, तमिल, गुजराती, ओडिआ, अंग्रेजी भी]
▲ 262 रामायणके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, अंग्रेजी कन्नड, गुजराती, ओड़िआ, तमिल, मराठी भी] ७
▲ 263 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र ६ [तेलुगु, अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, तमिल, मराठी भी]
▲ 264 मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग—१ १०
▲ 265 मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग—२ ७
▲ 268 परमशान्तिका मार्ग— भाग-१ (गुजराती भी) ९
▲ 269 परमशान्तिका मार्ग-(भाग-२) १०
▲1792 शान्तिका उपाय १०
▲ 543 परमार्थ सूत्र संग्रह [ओडिआ भी] ८
▲1530 आनन्द कैसे मिले? ६
▲1837 अनन्यभक्ति कैसे प्राप्त हो? ६
▲ 769 साधन नवनीत [गुजराती, ओड़िआ, कन्नड भी] १०
▲ 599 हमारा आश्चर्य ८
▲ 681 रहस्यमय प्रवचन ८
▲1021 आध्यात्मिक प्रवचन [गुजराती भी] ८
▲1324 अमृत वचन [बँगला भी] ९
▲1409 भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उपाय ८
▲1433 साधना पथ ६
▲1483 भगवत्पथ-दर्शन ८
▲1493 नेत्रोंमें भगवान्‌को बसा लें ६
▲1435 आत्मकल्याणके विविध उपाय ६
▲1529 सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव कैसे हो? ६
▲1561 दुःखोंका नाश कैसे हो? ८
▲1587 जीवन-सुधारकी बातें ८
▲1022 निष्काम श्रद्धा और प्रेम [ओडिआ भी] ८
▲ 292 नवधा भक्ति [तेलुगु, मराठी, कन्नड भी] ६
▲ 274 महत्त्वपूर्ण चेतावनी ६
▲ 273 नल-दमयन्ती ३ [मराठी, तमिल, कन्नड, गुजराती, ओड़िआ, तेलुगु भी]
▲ 277 उद्धार कैसे हो?— ५१ पत्रोंका संग्रह [गुजराती, ओड़िआ, मराठी भी]
▲1790 जन्म-मरणसे छुटकारा ७

कोड		मूल्य रु०
▲ 278	सच्ची सलाह— ८० पत्रोंका संग्रह	८
▲ 280	साधनोपयोगी पत्र	८
▲ 281	शिक्षाप्रद पत्र	१०
▲ 282	पारमार्थिक पत्र	१०
▲ 284	अध्यात्मविषयक पत्र	७
▲ 283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ [अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, मराठी, तेलुगु, ओड़िआ भी]	६
▲1120	सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें	८
▲ 680	उपदेशप्रद कहानियाँ [अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड, तेलुगु भी]	८
▲ 891	प्रेममें विलक्षण एकता [मराठी, गुजराती भी]	८
▲ 958	मेरा अनुभव [गुजराती मराठी भी]	८
▲1283	सत्संगकी मार्मिक बातें [गुजराती भी]	७
▲1150	साधनकी आवश्यकता [मराठी भी]	८
▲ 320	वास्तविक त्याग	६
▲1791	त्यागकी महिमा	७
▲ 285	आदर्श भातृप्रेम [ओड़िआ भी]	५
▲ 286	बालशिक्षा [तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ, गुजराती भी]	४
▲ 287	बालकोंके कर्तव्य [ओड़िआ भी]	४
▲ 272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा [कन्नड, गुजराती भी]	८
▲ 290	आदर्श नारी सुशीला [बँगला, तेलुगु, तमिल, ओड़िआ गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 291	आदर्श देवियाँ [ओड़िआ भी]	४
▲ 300	नारीधर्म	३
▲ 293	सच्चा सुख और....... [गुजराती भी]	२
▲ 294	संत महिमा [गुजराती, ओड़िआ भी]	२
▲ 295	सत्संगकी कुछ सार बातें [बँगला, तमिल तेलुगु, गुजराती, ओड़िआ, मराठी, अंग्रेजी भी]	२
▲ 301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म	२
▲ 310	सावित्री और सत्यवान् [गुजराती, तमिल, तेलुगु, ओड़िआ, कन्नड, मराठी भी]	३
▲ 623	धर्मके नामपर पाप (गुजराती भी)	२
▲ 299	श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश— ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप [तेलुगु व अंग्रेजी भी]	३
▲ 304	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति— गजल-गीतासहित [गुजराती, असमिया, तमिल, मराठी भी]	२
▲ 297	गीतोक्त सन्यास तथा निष्काम कर्मयोगका स्वरूप	२
▲ 309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय [ओड़िआ भी]	३
▲ 311	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य [ओड़िआ भी]	२
▲ 306	धर्म क्या है ? भगवान् क्या है ? [गुजराती ओड़िआ व अंग्रेजी भी]	२
▲ 307	भगवान्‌की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत-कण) [ओड़िआ, कन्नड, गुजराती भी]	२
▲ 316	ईश्वर-साक्षात्कारके लिये और सत्यकी शरणसे मुक्ति	२
▲ 314	व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य [गुजराती, मराठी भी]	२
▲ 271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो ?	२

कोड		मूल्य रु०
▲ 315	चेतावनी और सामयिक चेतावनी [गुजराती भी]	२
▲ 318	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है और अवतारका सिद्धान्त [गुजराती तेलुगु भी]	२
▲ 270	भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द एवं महात्मा किसे कहते हैं ? (तेलुगु भी)	२
▲ 302	ध्यान और मानसिक पूजा [गुजराती भी]	२
▲ 326	प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोकनाशके उपाय [ओड़िआ, गुजराती, अंग्रेजी भी]	२

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड		मूल्य रु०
■ 820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार) सभी खण्ड एक साथ	७०
■ 050	पदरत्नाकर	५०
■ 049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन	५०
▲ 058	अमृत कण	१८
▲ 332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	२२
▲ 333	सुख-शान्तिका मार्ग	१५
▲ 343	मधुर	१६
▲ 056	मानव जीवनका लक्ष्य	१२
▲ 331	सुखी बननेके उपाय	१२
▲ 334	व्यवहार और परमार्थ	१५
▲ 514	दुःखमें भगवत्कृपा	१२
▲ 386	सत्संग सुधा	१०
▲ 342	संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल [तमिल भी, तीन भागमें]	१५
▲ 347	तुलसीदल	१२
▲ 339	सत्संगके बिखरे मोती	१२
▲ 349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति	१८
▲ 350	साधकोंका सहारा—	१६
▲ 351	भगवच्चर्चा—(भाग-५)	१६
▲ 352	पूर्ण समर्पण	१७
▲ 353	लोक-परलोक-सुधार (भाग-१)	१०
▲ 354	आनन्दका स्वरूप	१०
▲ 355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	१५
▲ 356	शान्ति कैसे मिले ?	१५
▲ 357	दुःख क्यों होते हैं ?	१४
▲ 348	नैवेद्य	१२
▲ 337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श [गुजराती तेलुगु भी]	७
▲ 336	नारीशिक्षा [गुजराती, कन्नड भी]	८
▲ 340	श्रीरामचिन्तन	१०
▲ 338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन	१०
▲ 345	भवरोगकी रामबाण दवा [ओड़िआ भी]	७
▲ 346	सुखी बनो	७
▲ 341	प्रेमदर्शन [तेलुगु, मराठी भी]	१०
▲ 358	कल्याण कुंज— (क० कु० भाग-१)	६
▲ 359	भगवान्‌की पूजाके पुष्प— (क० कु० भाग-२)	७
▲ 360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (क० कु० भाग ३)	८
▲ 361	मानव-कल्याणके साधन (क० कु० भाग-४)	१२
▲ 362	दिव्य सुखकी सरिता— (क० कु० भाग-५) [गुजराती भी]	६
▲ 363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ- (क० कु० भाग-६)	६
▲ 364	परमार्थकी मन्दाकिनी— (क० कु० भाग-७)	६
▲ 366	मानव-धर्म—	५
▲ 526	महाभाव-कल्लोलिनी	५
▲ 367	दैनिक कल्याण-सूत्र	५
▲ 369	गोपीप्रेम [अंग्रेजी भी]	३
▲ 370	श्रीभगवन्नाम [ओड़िआ भी]	३
▲ 368	प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष [ओड़िआ भी]	५
▲ 373	कल्याणकारी आचरण	१
▲ 374	साधन पथ—सचित्र [गुजराती तमिल भी]	४
▲ 375	वर्तमान शिक्षा	३
▲ 376	स्त्री धर्म प्रश्नोत्तरी	३
▲ 377	मनको वश करनेके कुछ उपाय [गुजराती भी]	१
▲ 378	आनन्दकी लहरें [बँगला, ओड़िआ, गुजराती, अंग्रेजी भी]	२
▲ 380	ब्रह्मचर्य [ओड़िआ भी]	
▲ 381	दीन दुःखियोंके प्रति कर्तव्य	१
▲ 382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन	
▲ 344	उपनिषदोंके चौदह रत्न	६
▲ 371	राधा-माधव-रससुधा- (षोडशगीत) सटीक	३
▲ 384	विवाहमें दहेज—	१
▲ 809	दिव्य संदेश एवं मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बनें ?	१

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड		मूल्य रु०
■ 465	साधन-सुधा-सिन्धु [ओड़िआ गुजराती भी] (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)	९५
▲1675	सागरके मोती	१०
▲1598	सत्संगके फूल	१०
▲1733	संत-समागम	६
▲1633	एक संतकी वसीयत [बँगला भी]	२
▲ 400	कल्याण-पथ	८
▲ 401	मानसमें नाम वन्दना	८
▲ 605	जित देखूँ तित-तू [गुजराती, मराठी भी]	८
▲ 406	भगवत्प्राप्ति सहज है [अंग्रेजी भी]	७
▲ 535	सुन्दर समाजका निर्माण	१०
▲1485	ज्ञानके दीप जले	१४
▲1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये (मराठी, ओड़िआ, बँगला, गुजराती अंग्रेजी नेपाली भी)	१२
▲1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला [बँगला, ओड़िआ, गुजराती भी]	९
▲1247	मेरे तो गिरधर गोपाल	६
▲ 403	जीवनका कर्तव्य [गुजराती भी]	८
▲ 436	कल्याणकारी प्रवचन [गुजराती, अंग्रेजी, बँगला, ओड़िआ भी]	६
▲ 405	नित्ययोगकी प्राप्ति [ओड़िआ भी]	७
▲1093	आदर्श कहानियाँ [ओड़िआ बँगला भी]	७
▲ 407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता [कन्नड, मराठी भी]	६
▲ 408	भगवान्‌से अपनापन [गुजराती, ओड़िआ भी]	५
▲ 861	सत्संग-मुक्ताहार [गुजराती ओड़िआ भी]	५
▲ 860	मुक्तिमें सबका अधिकार [गुजराती भी]	१
▲ 409	वास्तविक सुख [तमिल, ओड़िआ भी]	६
▲1308	प्रेरक कहानियाँ [बँगला, ओड़िआ भी]	७
▲1408	सब साधनोंका सार [बँगला भी]	४
▲ 411	साधन और साध्य [मराठी, बँगला, गुजराती भी]	५
▲ 412	तात्त्विक प्रवचन [मराठी ओड़िआ बँगला गुजराती भी]	५
▲ 410	जीवनोपयोगी प्रवचन [अंग्रेजी भी]	८
▲ 414	तत्त्वज्ञान कैसे हो ? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार [बँगला, गुजराती भी]	७
▲ 822	अमृत बिन्दु [बँगला तमिल ओड़िआ अंग्रेजी, गुजराती मराठी कन्नड भी]	७
▲ 821	किसान और गाय [तेलुगु भी]	२
▲ 417	भगवन्नाम [मराठी, अंग्रेजी भी]	४
▲ 416	जीवनका सत्य [गुजराती, अंग्रेजी भी]	५
▲ 418	साधकोंके प्रति [बँगला, मराठी भी]	४
▲ 419	सत्संगकी विलक्षणता [गुजराती भी]	४
▲ 545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग [गुजराती भी]	४
▲ 420	मातृशक्तिका घोर अपमान [तमिल बँगला, मराठी, गुजराती ओड़िआ भी]	३
▲ 421	जिन खोजा तिन पाइयाँ [बँगला भी]	५
▲ 422	कर्मरहस्य [बँगला, तमिल, कन्नड, ओड़िआ भी]	५
▲ 424	वासुदेवः सर्वम् [मराठी, अंग्रेजी भी]	४
▲ 425	अच्छे बनो [अंग्रेजी भी]	५
▲ 426	सत्संगका प्रसाद [गुजराती भी]	५
▲1019	सत्यकी खोज [गुजराती, अंग्रेजी भी]	६
▲1479	साधनके दो प्रधान सूत्र [ओड़िआ, बँगला भी]	४
▲1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	१
▲1360	तू-ही-तू	२
▲1434	एक नयी बात	२
▲1440	परम पितासे प्रार्थना	१
▲1441	संसारका असर कैसे छूटे ?	२
▲1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और [बँगला भी]	२
▲ 431	स्वाधीन कैसे बनें ? [अंग्रेजी भी]	२
▲ 702	यह विकास है या...	
▲ 589	भगवान् और उनकी भक्ति [गुजराती, ओड़िआ भी]	६
▲ 617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम [तमिल, बँगला, तेलुगु, ओड़िआ, कन्नड, गुजराती मराठी भी]	४
▲ 770	अमरताकी ओर [गुजराती भी]	६
▲ 434	शरणागति [तमिल, ओड़िआ, तेलुगु, कन्नड भी]	४
▲ 432	एकै साधे सब सधै [गुजराती तमिल तेलुगु भी]	५
▲ 427	गृहस्थमें कैसे रहें ? [बँगला, मराठी कन्नड, ओड़िआ, अंग्रेजी तमिल तेलुगु, गुजराती, असमिया, पंजाबी भी]	७
▲ 433	सहज साधना [गुजराती बँगला, ओड़िआ, मराठी, अंग्रेजी भी]	४
▲ 435	आवश्यक शिक्षा (सन्तानका कर्तव्य एवं आहारशुद्धि) [गुजराती, ओड़िआ, अंग्रेजी, मराठी भी]	५
■1012	पञ्चामृत—(१०० पन्नोंका पैकेटमें) [गुजराती भी]	१
■1037	हे मेरे नाथ मैं आपको भूलूँ नहीं (१०० पन्नोंका पैकेटमें)	१
■1611	मैं भगवान्‌का अंश हूँ (")	१
■1612	सच्ची और पक्की बात (")	१
▲1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ? [गुजराती ओड़िआ भी]	४
▲ 515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन [गुजराती अंग्रेजी तमिल तेलुगु भी]	१

कोड		मूल्य रु०
▲ 438	दुर्गतिसे बचो [गुजराती, बँगला (गुरुतत्त्वसहित), मराठी भी]	२
▲ 439	महापापसे बचो [बँगला, तेलुगु, कन्नड, गुजराती, तमिल भी]	२
▲ 440	सच्चा गुरु कौन ? [ओड़िआ भी]	२
▲ 444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना [कन्नड तेलुगु भी]	२
▲ 729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण [गुजराती भी]	२
▲ 447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा [ओडिआ, बँगला, तमिल तेलुगु मराठी, गुजराती भी]	२
▲ 445	हम ईश्वरको क्यों मानें ? [बँगला भी]	२
▲ 745	भगवत्तत्त्व [गुजराती भी]	२
▲ 632	सब जग ईश्वररूप है [ओडिआ, गुजराती भी]	५

नित्य पाठ-साधन-भजन एवं कर्मकाण्ड-हेतु

कोड		मूल्य रु०
■1593	अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश	७५
■1809	गया श्राद्ध पद्धति	२०
■ 592	नित्यकर्म-पूजाप्रकाश [गुजराती भी]	४०
■1416	गरुडपुराण सारोद्धार (सानुवाद)	२०
■1627	रुद्राष्टाध्यायी सानुवाद	१८
■1417	शिवस्तोत्ररत्नाकर	२०
■1774	देवीस्तोत्ररत्नाकर	२५
■1623	ललितासहस्रनामस्तोत्रम् [तेलुगु भी]	६
■ 610	व्रतपरिचय	३०
■1162	एकादशी व्रतका माहात्म्य— मोटा टाइप [गुजराती भी]	१५
■1136	वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य	२२
■1588	माघमासका माहात्म्य	५
■1367	श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा	८
■ 052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद [तेलुगु, बँगला भी]	२२
■1629	" " सजिल्द	३२
■1567	दुर्गासप्तशती— मूल, मोटा (बेड़िया)	२५
■ 117	" मूल, मोटा टाइप [तेलुगु, कन्नड भी]	१५
■ 876	" मूल गुटका	१०
■1727	" -मूल, लघु आकार	८
■1346	" सानुवाद मोटा टाइप	२२
■ 118	" सानुवाद [गुजराती, बँगला, ओडिआ भी]	२०
■ 489	" सानुवाद, सजिल्द [गुजराती भी]	२७
■1281	" " (विशिष्ट सं०)	३५
■ 866	" केवल हिन्दी	१२
■1161	" केवल हिन्दी मोटा टाइप, सजिल्द	३५
■ 819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	१८
■ 206	श्रीविष्णुसहस्रनाम—सटीक	४
■ 226	श्रीविष्णुसहस्रनाम—मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, गुजराती भी]	२
■1801	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् (हिन्दी-अनुवादसहित)	५
■ 509	सूक्ति-सुधाकर	१८
■ 207	रामस्तवराज—(सटीक)	३
■ 211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्— हिन्दी अंग्रेजी-अनुवादसहित [ओड़िआ भी]	२
■ 224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र [तेलुगु, ओड़िआ भी]	४
■ 231	रामरक्षास्तोत्रम्— [तेलुगु, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]	२
■ 715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	४

नामावलिसहितम्

कोड		मूल्य रु०
■1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	६५
■1599	श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1600	श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1601	श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1663	श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1664	श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1665	श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1706	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1704	श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1705	श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1707	श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1708	श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1709	श्रीगङ्गासहस्रनामस्तोत्रम्	५
■ 810	श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 495	दत्तात्रेय वज्रकवच— सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]	३
■ 563	शिवमहिम्नस्तोत्र [तेलुगु भी]	३
■1748	संतानगोपालस्तोत्र	४
■ 054	भजन-संग्रह	२५
■ 229	श्रीनारायणकवच [ओडिआ तेलुगु भी]	२
■ 230	अमोघ शिवकवच	२
■ 140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली	१८
■ 142	चेतावनी-पद-संग्रह— (दोनों भाग)	१८
■ 144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	८
■1355	सचित्र स्तुति-संग्रह	५
■1800	पंचदेव-अथर्वशीर्ष-संग्रह	५
■1092	भागवत-स्तुति-संग्रह	५५
■1214	मानस-स्तुति संग्रह	१०
■1344	सचित्र-आरती-संग्रह	१०
■1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप	१०
■ 153	आरती संग्रह	६
■ 208	सीतारामभजन	३
■ 221	हरेरामभजन— दो माला (गुटका)	३
▲ 385	नारद-भक्ति सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, सानुवाद [बँगला, तमिल भी]	२
■ 222	हरेरामभजन—१४ माला	१२
■ 576	विनय पत्रिकाके पैंतीस पद	
■ 225	गजेन्द्रमोक्ष-सानुवाद, हिन्दी पद्य, भाषानुवाद [तेलुगु, कन्नड ओड़िआ भी]	२
■1505	भीष्मस्तवराज	३
■ 699	गङ्गालहरी	२
■1094	हनुमानचालीसा— हिन्दी भावार्थसहित	४
■1181	हनुमानचालीसा मूल (रंगीन)	२
■ 227	" —(पॉकेट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कनड, ओड़िआ भी]	२
■ 695	हनुमानचालीसा—(लघु आकार) [गुजराती, अंग्रेजी, ओड़िआ भी]	१
■ 228	शिवचालीसा— (असमिया भी)	२
■1185	शिवचालीसा—लघु आकार	१
■1525	हनुमानचालीसा— अति लघु आकार [गुजराती भी]	१
■ 232	श्रीरामगीता	३
■ 383	भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी....	२
■ 851	दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा	२
■1033	" —लघु आकार	१
■ 203	अपरोक्षानुभूति	४
■ 139	नित्यकर्म-प्रयोग	१०
■ 524	ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री	३
■1471	संध्या, संध्या-गायत्रीका महत्त्व और ब्रह्मचर्य	४
■ 210	सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण-बलिवैश्वदेवविधि— मन्त्रानुवादसहित [तेलुगु भी]	४
■ 236	साधकदैनन्दिनी	४
■ 614	सन्ध्या	२

बालोपयोगी पाठ्य पुस्तकें

कोड		मूल्य रु०
■ 573	बालक-अङ्क (कल्याण वर्ष २७)	
■1316	बालपोथी (शिशु), रंगीन	१०
■ 461	" " भाग १	३
■ 212	" " भाग २	३
■ 684	" " भाग ३	३
■ 764	" " भाग ४	८
■ 765	" " भाग-५	८
■ 125	" " रंगीन, (भाग-१)	४
■1692	बालककी दिनचर्या रंगीन, ग्रन्थाकार	१५
■1693	बालकोंकी सीख "	१७
■1694	बालकके आचरण "	१७
■1690	बालकके गुण "	२५
■ 216	बालककी दिनचर्या	४
■ 214	बालकके गुण	५
■ 217	बालकोंके सीख	४
■ 219	बालकके आचरण	४
■ 218	बाल अमृत-वचन	३
■ 696	बाल-प्रश्नोत्तरी [गुजराती भी]	३
■ 215	आओ बच्चो तुम्हें बतायें	४
■1689	" " ग्रन्थाकार, रंगीन	१७
■ 213	बालकोंकी बोल चाल	४
■ 145	बालकोंकी बातें	८
■ 146	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा [ओडिआ भी]	८
■ 150	पिताकी सीख [गुजराती भी]	१०
■ 396	आदर्श ऋषि-मुनि	६
■ 397	आदर्श देशभक्त	६
■ 398	आदर्श सम्राट् [गुजराती भी]	५
■ 402	आदर्श सुधारक	६
■ 399	आदर्श संत	६
■ 516	आदर्श चरितावली	५
■ 116	लघुसिद्धान्तकौमुदी, सजिल्द	२७
■1437	वीर बालक (रंगीन)	८
■1451	गुरु और माता-पिताके भक्त बालक (रंगीन)	८
■1450	सच्चे ईमानदार बालक-रंगीन	८
■1449	दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ (रंगीन)	८
■1448	वीर बालिकाएँ (रंगीन)	८
■ 727	स्वास्थ्य, सम्मान और सुख	३

सर्वोपयोगी प्रकाशन

कोड		मूल्य रु०
■ 698	मार्क्सवाद और रामराज्य— स्वामी करपात्रीजी	७५
■1673	सत्य एवं प्रेरक घटनाएँ	१५
■ 202	मनोबोध	६
■1657	भलेका फल भला	३
■ 747	सप्त महाव्रत	३
■1300	महाकुम्भपर्व	५
■ 542	ईश्वर	३
■ 57	मानसिक दक्षता	२०
■ 59	जीवनमें नया प्रकाश	२०
■ 60	आशाकी नयी किरणें	१८
■ 119	अमृतके घूँट	१५
■ 132	स्वर्णपथ	१४
■ 55	महकते जीवनफूल	२४
■1461	हम कैसे रहें ?	८
■ 64	प्रेमयोग	२२
■ 774	कल्याणकारी दोहा-संग्रह, गीताप्रेस-परिचयसहित	५
■ 387	प्रेम-सत्संग-सुधामाला	१५
■ 668	प्रश्नोत्तरी	२
■ 501	उद्धव-सन्देश	१८
■ 191	भगवान् कृष्ण [तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती भी]	५
■ 193	भगवान् राम [गुजराती भी]	५
■ 195	भगवान्पर विश्वास	६
■ 120	आनन्दमय जीवन	१५
■ 130	तत्त्वविचार	१०
■ 133	विवेक चूडामणि [तेलुगु, बँगला भी]	१२
■ 862	मुझे बचाओ, मेरा क्या कसूर ?	१७
■ 131	सुखी जीवन	१५
■ 122	एक लोटा पानी	१२
▲ 701	गर्भपात उचित या [ओड़िआ, बँगला, तमिल, तेलुगु, मराठी, अंग्रेजी, गुजराती कन्नड भी]	३
■ 888	परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ [बँगला भी]	१२
■ 134	सती द्रौपदी	१०
■1624	पौराणिक कथाएँ	१०
■1782	प्रेरणाप्रद कथाएँ	१३
■1669	पौराणिक कहानियाँ	१०
■ 137	उपयोगी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल कन्नड, गुजराती, बँगला भी]	१०
■ 159	आदर्श उपकार— (पढ़ो समझो और करो)	१०
■ 160	कलेजेके अक्षर "	१०
■ 161	हृदयकी आदर्श विशालता "	१०
■ 162	उपकारका बदला "	१०
■ 163	आदर्श मानव-हृदय "	१२
■ 164	भगवान्‌के सामने सच्चा सो सच्चा (पढ़ो, समझो और करो)	१०
■ 165	मानवताका पुजारी "	१०
■ 166	परोपकार और सच्चाईका फल "	१०
■ 510	असीम नीचता और असीम साधुता	१०
■ 157	सती सुकला	४
■ 147	चोखी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल, गुजराती, मराठी भी]	५
■ 129	एक महात्माका प्रसाद [गुजराती भी]	२०
■1688	तीस रोचक कथाएँ	१०
■ 151	सत्संगमाला एवं ज्ञानमणिमाला	१०
■1363	शरणागति रहस्य	२०

चित्रकथा

कोड		मूल्य रु०
■1114	श्रीकृष्णलीला (राजस्थानी-शैली, १८वीं शताब्दी)	
■1647	देवीभागवतकी प्रमुख कथाएँ	१७
■1646	महाभारतके प्रमुख पात्र	१७
■ 190	बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला	१२
■ 868	भगवान् सूर्य (ग्रंथाकार)	१७
■1156	एकादश रुद्र (शिव)	५०
■1032	बालचित्र-रामायण-पुस्तकाकार	४
■ 869	कन्हैया [बँगला, तमिल, गुजराती, ओड़िआ, तेलुगु भी]	१०
■ 870	गोपाल [बँगला तेलुगु, तमिल भी]	१०
■ 871	मोहन [बँगला, तेलुगु, तमिल, गुजराती, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]	१०
■ 872	श्रीकृष्ण [बँगला, तमिल, तेलुगु भी]	१०
■1018	नवग्रह—चित्र एवं परिचय [बँगला भी]	१०
■1016	रामलला [तेलुगु, अंग्रेजी भी]	१७
■1116	राजा राम [तेलुगु भी]	१७
■1017	श्रीराम	१७
■1394	भगवान् श्रीराम (पुस्तकाकार)	१०
■1418	श्रीकृष्णलीला-दर्शन "	१०
■1278	दशमहाविद्या [बँगला भी]	१०
■1343	हर-हर महादेव	१७
■ 829	अष्टविनायक [ओड़िआ, मराठी, गुजराती भी]	१०
■ 204	ॐ नमः शिवाय [बँगला, ओड़िआ, कन्नड भी]	१७

कोड	मूल्य रु०

■ 787 जय हनुमान् [तेलुगु, ओडिआ भी] १७
■1794 सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र, १७
■ 779 दशावतार [बँगला भी] १०
■1215 प्रमुख देवता १०
■1216 प्रमुख देवियाँ १०
■1442 प्रमुख ऋषि-मुनि १७
■1443 रामायणके प्रमुख पात्र [तेलुगु भी] १७
■1488 श्रीमद्भागवतके प्रमुख पात्र [तेलुगु भी] १७
■1537 श्रीमद्भागवतकी प्रमुख कथाएँ १७
■1538 महाभारतकी प्रमुख कथाएँ १७
■1420 पौराणिक देवियाँ १०
■1307 नवदुर्गा—पकिट साइज ४
■ 205 नवदुर्गा [तेलुगु, गुजराती, असमिया, कन्नड, अंग्रेजी, ओडिआ, बँगला भी] १०
■ 537 बाल-चित्रमय बुद्धलीला ७
■ 194 बाल-चित्रमय चैतन्यलीला [ओडिआ, बँगला भी] ८
■ 656 गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ [तमिल, तेलुगु भी] ८
■ 651 गोसेवाके चमत्कार [तमिल भी] १०

रंगीन चित्र-प्रकाशन

▲1695 चित्र—भगवती सरस्वती ८
▲1582 चित्र भगवान् श्रीकृष्ण ८
▲ 237 जय श्रीराम—भगवान् रामको सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण १५
▲ 546 जय श्रीकृष्ण—भगवान् श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण १५
▲1001 जगज्जननी श्रीराधा ८
▲1020 श्रीराधा-कृष्ण—युगल छवि ८
▲ 491 हनुमान्जी—(भक्तराज हनुमान्) ८
▲ 492 भगवान् विष्णु ८
▲1568 भगवान् श्रीराम-बालरूपमें ८
▲1351 सुमधुर गोपाल ८
▲ 560 लड्डू गोपाल (भगवान् श्रीकृष्णका बालस्वरूप) ८
▲1674 ,, (प्लास्टिक कोटेड) १५
▲ 776 सीताराम—युगल छवि ८
▲ 548 मुरलीमनोहर—(भगवान् मुरलीमनोहर) ८
▲ 782 श्रीरामदरबारकी झाँकी ८
▲1290 नटराज शिव ८
▲ 630 सर्वदेवमयी गौ ८
▲ 531 श्रीबाँकेबिहारी ८
▲ 812 नवदुर्गा (माँ दुर्गाके नौ स्वरूपोंका चित्रण) ८
▲ 437 कल्याण-चित्रावली—I ८
▲1320 कल्याण चित्रावली—II ८

'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

■1184 श्रीकृष्णाङ्क
■ 635 शिवाङ्क
■ 41 शक्ति-अङ्क १२०
■ 616 योगाङ्क १००
■ 627 संत-अङ्क १५०
■ 604 साधनाङ्क १२०
■1002 सं० वाल्मीकीय-रामायणाङ्क
■1773 गो-अङ्क १२०
■ 44 संक्षिप्त पद्मपुराण १५०
■ 539 संक्षिप्तमार्कण्डेयपुराण ६०
■1111 संक्षिप्त ब्रह्मपुराण ८०
■ 43 नारी-अङ्क १४०
■ 659 उपनिषद्-अङ्क १२५
■ 518 हिन्दू संस्कृति अङ्क
■ 279 सं० स्कन्दपुराण २००
■ 40 भक्त-चरिताङ्क १४०
■ 573 बालक-अङ्क
■1183 सं० नारदपुराण १२०
■ 667 संतवाणी-अङ्क ११०
■ 587 सत्कथा-अङ्क १२०
■ 636 तीर्थाङ्क १२०
■ 574 संक्षिप्त योगवासिष्ठ १००
■1133 सं० देवीभागवत-मोटा टाइप १५०
■ 789 सं० शिवपुराण-(बड़ा टाइप) १३०
■ 631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण १३०
■ 572 परलोक-पुनर्जन्माङ्क १२०
■1135 भगवन्नाम महिमा और प्रार्थना-अङ्क ९०
■ 517 गर्ग-संहिता १००
■1113 नरसिंहपुराणम्—सानुवाद ६०
■1362 अग्निपुराण (मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद) १३०
■1432 वामनपुराण ८५
■ 557 मत्स्यमहापुराण (सानुवाद) १६५
■ 657 श्रीगणेश-अङ्क ९०
■ 42 हनुमान-अङ्क ९०
■1361 सं० श्रीवाराहपुराण ७५
■ 791 सूर्याङ्क ७०
■ 584 सं० भविष्यपुराण ११०
■ 586 शिवोपासनाङ्क ८५
■ 653 गोसेवा-अङ्क ७५
■1132 धर्मशास्त्राङ्क
■1131 कूर्मपुराण ८०
▲ 448 भगवल्लीला-अङ्क ६५
■1044 वेद-कथाङ्क ८०
▲1542 भगवत्प्रेम-अंक अजि० ८०
▲1467 भगवत्प्रेम-अङ्क-सजि० (११ मासिक अङ्क उपहारस्वरूप) १००
■1592 आरोग्य-अङ्क (परिवर्धित संस्करण) १३०
■1189 सं० गरुड़पुराण १००
■1610 देवीपुराण (महाभागवत) शक्तिपीठाङ्क ८०
■1734 अवतार-कथाङ्क ९०
■1793 श्रीमद्देवीभागवताङ्क (पूर्वार्द्ध) १००
■1842 श्रीमद्देवीभागवताङ्क (उत्तरार्द्ध) १००

Annual Issues of Kalyan-Kalpataru

▲1395 Woman No 40
▲1397 Manusmrti No 40
▲1398 Hindu Samskrti No 40
▲1398 Garg Samhita Number (Part-I) 40
▲1841 Jaiminiya Mahabharata (Aśwamedhika Parva) (Part I) 40
▲1847 Jaiminiya Mahabharata (Aśwamedhika Parva) (Part II) 40

अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन

बँगला

■1577 श्रीमद्भागवतपुराण सटीक, भाग-I १५०
■1744 श्रीमद्भागवतमहापुराण—सटीक (भाग-२) १५०
■1785 भागवतेरमणिभुक्तोर १५
■1662 श्रीचैतन्यचरितामृत १००
■1603 ईशादि नौ उपनिषद् ५०
■954 श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार १५०
■1786 मूल वाल्मीकीयरामायण ५
■1839 कृतिवासीरामायण १००
■1574 संक्षिप्त महाभारत-भाग-I १४०
■1660 ,, ,, भाग II १४०
■763 गीता साधक संजीवनी—परिशिष्टसहित १३०
■1118 गीता-तत्त्व विवेचनी ८०
■556 गीता-दर्पण ५०
■1736 गीता प्रबोधनी ३०
■1489 गीता दैनन्दिनी (२०१०) ५०
■ 013 गीता-पदच्छेद ३०
■1444 गीता-ताबीजी—सजिल्द ४
■1455 गीता-लघु आकार २
■1322 दुर्गासप्तशती—सटीक १८
■1604 पातञ्जलयोगदर्शन १२
■1460 विवेक चूडामणि १०
■1075 ॐ नमः शिवाय (चित्रकथा) १७
■1787 महावीर हनुमान् (,,) १७
■1043 नवदुर्गा (,,) १०
■1439 दश महाविद्या (,,) १०
■1292 दशावतार (,,) १०
■1096 कन्हैया (,,) १०
■1097 गोपाल (,,) १०
■1098 मोहन (चित्रकथा) १०
■1123 श्रीकृष्ण (,,) १०
■1495 बालचित्रमय चैतन्यलीला ७
■1393 गीता भाषा टीका (पकिट साइज) सजि. १२
■1454 स्तोत्ररत्नावली २०
■1659 श्रीश्रीकृष्णेर अष्टोत्तरशतनाम १
■ 496 गीता-भाषा-टीका (पकिट) ७
■1834 श्रीमद्भगवद्गीता (मूल) एवं विष्णुसहस्रनाम ६
▲1581 गीतार सारात्सार ६
■1496 परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ १०
▲1795 मनको वश करनेके कुछ उपाय व आनन्दकी लहरें ४
▲ 275 कल्याण-प्राप्तिके उपाय १५
▲1305 प्रश्नोत्तर मणिमाला ८
▲ 395 गीतामाधुर्य ६
▲1102 अमृत बिन्दु ६
■1356 सुन्दरकाण्ड—सटीक ८
▲ 816 कल्याणकारी प्रवचन ५
▲1838 जीवनोपयोगी प्रवचन ८
▲ 276 परमार्थ पत्रावली (भाग-१) ५
▲1306 कर्तव्य साधनासे भगवत्प्राप्ति ५
▲1119 ईश्वर और धर्म क्यों? १०
▲1456 भगवत्प्राप्तिका पथ व पाथेय ८
▲1580 अध्यात्मसाधनाय कर्महीनतानय ६
▲1452 आदर्श कहानियाँ ७
▲1453 प्रेरक कहानियाँ ५
■1513 मूल्यवान् कहानियाँ ८
▲1469 सब साधनोंका सार ४
▲1478 मानवमात्रके कल्याणके लिये १०
▲1359 जिन खोजा तिन पाइयाँ ६
▲1115 तत्त्वज्ञान कैसे हो? ५
▲1303 साधकोंके प्रति ४
▲1358 कर्म रहस्य ४
▲1122 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं? ४
▲1742 शरणागति ४
▲1784 प्रेमभक्ति प्रकाश तथा ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप ३
▲ 625 देशकी वर्तमान दशा... ४
▲ 428 गृहस्थमें कैसे रहें ? ५
▲ 903 सहज साधना ३
▲1368 साधना ३
▲1415 अमृतवाणी ८
▲ 312 आदर्श नारी सुशीला ३
▲1541 साधनके दो प्रधान सूत्र ४
▲ 955 तात्त्विक प्रवचन ४
■1103 मूल रामायण एवं रामरक्षास्तोत्र ३
■1652 नवग्रह (चित्रकथा) १०
▲ 449 दुर्गतिसे बचो सच्चा गुरु कौन? ३
▲ 956 साधन और साध्य ४
▲1579 साधनार मनोभूमि ६
▲ 330 नारद एवं शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र २
▲ 762 गर्भपात उचित या अनुचित— ३
▲ 848 आनन्दकी लहरें २
■ 626 हनुमानचालीसा २
■1743 शिवचालीसा, लघु आकार १
■1797 स्तवमाला २
▲1319 कल्याणके तीन सुगम मार्ग २
▲1651 हे महाजीवन! हे महामरण! २
▲1293 शिक्षा धारणकी——— २
▲ 450 हम ईश्वरको क्यों मानें? २
▲ 849 मातृशक्तिका घोर अपमान २
▲ 451 महापापसे बचो २
▲ 469 मूर्तिपूजा १
▲ 296 सत्संगकी सार बातें १
▲ 443 संतानका कर्तव्य १
■1835 सत्यनिष्ठ साहसी बालक बालिकादेर कथा १५
▲1140 भगवान्के दर्शन प्रत्यक्ष..... २

मराठी

■1314 श्रीरामचरितमानस सटीक, मोटा टाइप १५०
■1687 सुन्दरकाण्ड, सटीक ५
■1508 अध्यात्मरामायण ७०
■ 784 ज्ञानेश्वरी गूढार्थ दीपिका १५०
■1808 श्रीतुकाराममहाराजांची गाथा ८०
■1836 श्रीगुरुचरित्र ८५
■1780 श्रीदासबोध, मझला साइज ६०
■1781 दासबोध (गद्यरूपान्तरासह) १२०
■ 853 एकनाथी भागवत—मूल १२०
■1678 श्रीमद्भागवतमहापुराण, (खण्ड-१) १३०
■1735 श्रीमद्भागवतमहापुराण सटीक (खण्ड-२) १३०
■1776 श्रीमद्भागवतमहापुराण (केवल मराठी अनुवाद) १५०
■ 7 गीता-साधक-संजीवनी टीका १२०
■1304 गीता-तत्त्व-विवेचनी ८०
■1474 श्रीसकल संतवाणी (भाग-१) ७०
■1475 ,, ,, (भाग २) १८०
■1071 श्रीनामदेवांची गाथा ७०
■ 859 ज्ञानेश्वरी—मूल मझला ४५
■ 15 गीता-माहात्म्यसहित ४०
■ 504 गीता-दर्पण ३५
■ 748 ज्ञानेश्वरी—मूल गुटका ३०

कोड		मूल्य रु०
■ 14	गीता—पदच्छेद	३०
■1388	गीता—श्लोकार्थसहित (मोटा टाइप)	१०
■1257	गीता—श्लोकार्थसहित	७
■1168	भक्त नरसिंह मेहता	१०
■1671	महाराष्ट्रातील निवडक संतांची चरित्रे	८
▲ 429	गृहस्थमें कैसे रहें?	९
▲1703	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	४
▲1387	प्रेममें विलक्षण एकता	८
■ 857	अष्ट विनायक (चित्रकथा)	१०
▲ 391	गीतामाधुर्य	८
▲1099	अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲1335	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	८
▲1155	उद्धार कैसे हो?	४
▲1716	भगवान् कैसे मिले?	७
▲1719	चिन्ता,शोक कैसे मिटे?	८
▲1717	मनुष्य जीवनका उद्देश्य	६
▲1074	आध्यात्मिक पत्रावली	६
▲1275	नवधा भक्ति	५
▲1386	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
▲1340	अमृत-बिन्दु	६
▲1382	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
▲1210	जित देखूँ तित-तू	७
▲1330	मेरा अनुभव	८
■1277	भक्त बालक	६
■1073	भक्त चन्द्रिका	५
■1383	भक्तराज हनुमान्	५
■ 778	जीवनादर्श श्रीराम	१७
▲ 886	साधकोंके प्रति	५
▲ 885	तात्त्विक प्रवचन	५
■1607	रुक्मिणी स्वयंवर	१२
■1640	सार्थ मनाचे श्लोक	४
■1333	भगवान् श्रीकृष्ण	५
■1331	कृष्ण भक्त उद्धव	४
■1682	सार्थ सं० देवीपाठ	५
■1332	दत्तात्रेय-वज्रकवच	३
■1732	शिवलीलामृत	३५
■1768	श्रीशिवलीलामृतांतील-अकरावा अध्याय	३
■1730	श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्	३
■1731	श्रीविष्णुसहस्रनामावलिः	३
■1729	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■1670	मूल रामायाण, पॉकिट साइज	३
■1679	मनाचे श्लोक, पॉकिट साइज	३
■1680	सार्थ श्रीगणपत्यथर्वशीर्ष	२
■1683	सार्थ ज्ञानदेवी गीता	१०
■1810	कन्हैया (चित्रकथा)	१०
■1811	गोपाल (")	१०
■1812	मोहन (")	१०
■1813	श्रीकृष्ण (")	१०
■1828	रामलला (")	१७
■1829	श्रीराम (")	१७
■1830	राजाराम (")	१७
■1645	हरीपाठ (सार्थ सविवरण)	८
■ 855	हरीपाठ	३
■1169	चोखी कहानियाँ	४
▲1385	नल-दमयंती	३
▲1384	सती सावित्री-कथा	२
■1814	सामजिक संस्कार कथा	१२
■1815	घराघरातील संस्कार कथा	१२
▲ 880	साधन और साध्य	४
▲1006	वासुदेवः सर्वम्	४
▲1276	आदर्श नारी सुशीला	३
▲1334	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲1749	श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश व ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	३
▲ 899	देशकी वर्तमान दशा…	३
▲1339	कल्याणके तीन सुगम मार्ग और सत्यकी शरणसे मुक्ति	४
▲1428	आवश्यक शिक्षा	४
▲1341	सहज साधना	४
▲1711	शिखा (चोटी) धारण की आवश्यकता	२
▲ 802	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 882	मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲ 883	मूर्तिपूजा	२
■1746	मनोबोधभक्तिसूत्र	८
▲ 884	सन्तानका कर्तव्य	२
▲1279	सत्संगकी कुछ सार बातें	२
▲1613	भगवान्‌के स्वभावका रहस्य	९
▲1642	प्रेमदर्शन	१०
▲1641	साधनकी आवश्यकता	८
▲ 901	नाम-जपकी महिमा	२
▲ 900	दुर्गतिसे बचो	२
▲1171	गीता पढ़नेके लाभ	२
▲ 902	आहार-शुद्धि	
▲1170	हमारा कर्तव्य	२
▲ 881	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	६
▲ 898	भगवन्नाम	४
▲1578	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१४
■1779	भलेका फल भला	३

गुजराती

कोड		मूल्य रु०
■1533	श्रीरामचरितमानस—बड़ी, सटीक (वि०सं०)	२१०
■ 799	" ग्रन्थाकार	१५०
■1430	" मूल, मोटा	६०
■1552	भागवत—सटीक (खण्ड-१)	१२०
■1553	भागवत—सटीक (खण्ड-२)	१२०
■1608	श्रीमद्भागवत-सुधासागर	२००
■1326	सं० देवीभागवत	१५०
■1798	सं० महाभारत (खण्ड-१)	१६०
■1799	सं० महाभारत (खण्ड-२)	१६०
■1286	संक्षिप्त शिवपुराण	१३०
■1650	तत्त्वचिन्तामणि, ग्रन्थाकार	८०
■1630	साधन-सुधा-सिन्धु	१००
■ 467	गीता-साधक-संजीवनी	१२०
■1313	गीता-तत्त्व-विवेचनी	८०
■ 785	श्रीरामचरितमानस—मझला, सटीक	७०
■ 878	श्रीरामचरितमानस—मूल मझला	४५
■ 879	" —मूल गुटका	३०
■1637	सुन्दरकाण्ड-सटीक, मोटा टाइप	१७
■1365	नित्यकर्म-पूजाप्रकाश	४०
■1620	क्या करें? क्या न करें?	२०
■1565	गीता-मोटे अक्षरवाली सजिल्द	२५
■1668	एकादशीव्रतका माहात्म्य	१२
■ 12	गीता-पदच्छेद	३०
■1315	गीता—सटीक, मोटा टाइप	१८
■1366	दुर्गासप्तशती—सटीक	२०
■1634	" " सजिल्द	२७
■1227	सचित्र आरतियाँ	१०
■ 936	गीता छोटी—सटीक	७
■1034	गीता छोटी—सजिल्द	१२
■1636	श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटा टाइप	७
■1225	मोहन— (चित्रकथा)	१०
■1224	कन्हैया—(")	१०
■1228	नवदुर्गा —(")	१०
■1656	गीता-ताबीजी, मूल, सजिल्द	४
■ 948	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	६
■1085	भगवान् राम—	५
■ 950	सुन्दरकाण्ड—मूल गुटका	३
■1199	सुन्दरकाण्ड—मूल लघु आकार	२
■1823	विनय-पत्रिका	३०
■1226	अष्ट विनायक (चित्रकथा)	१०
■ 613	भक्त नरसिंह मेहता	१२
▲1518	भगवान्‌के स्वभावका रहस्य	१०
▲1486	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१०
▲1164	शीघ्र कल्याणके सोपान	१२
▲1146	श्रद्धा, विश्वास और प्रेम	१२
▲1144	व्यवहारमें परमार्थकी कला	१०
▲1062	नारीशिक्षा	८
▲1129	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	१०
■1400	पिताकी सीख	१०
■1425	वीर बालिकाएँ	५
■1423	गुरु, माता पिताके भक्त बालक	६
■1422	वीर बालक	६
■1424	दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ	५
■1258	आदर्श सम्राट्	५
▲1128	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श	७
▲1061	साधन नवनीत	९
▲1520	कर्मयोगका तत्त्व (भाग—१)	१०
▲1264	मेरा अनुभव	८
▲1046	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा	७
■1142	भक्त सरोज	[illegible]
▲1211	जीवनका कर्तव्य	८
▲ 404	कल्याणकारी प्रवचन	७
▲ 877	अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	१०
▲ 818	उपदेशप्रद कहानियाँ	८
▲1265	आध्यात्मिक प्रवचन	८
▲1516	परमशान्तिका मार्ग (भाग १)	१०
▲1504	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	१०
■1212	एक महात्माका प्रसाद	२०
▲1539	सत्संगकी मार्मिक बातें	७
▲1457	प्रेममें विलक्षण एकता	८
▲1655	प्रश्नोत्तर-मणिमाला	८
▲1503	भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता	८
▲1325	सब जग ईश्वररूप है	५
▲1052	इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति	६
■ 934	उपयोगी कहानियाँ	७
■1084	भक्त महिलारत्न	६
■ 875	भक्त सुधाकर	६
▲1067	दिव्य सुखकी सरिता	६
▲ 933	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	९
▲1295	जित देखूँ तित-तू	७
▲ 943	गृहस्थमें कैसे रहें?	६
▲1260	तत्वज्ञान कैसे हो?	६
▲1263	साधन और साध्य	५
▲1294	भगवान् और उनकी भक्ति	५
▲ 932	अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲ 392	गीतामाधुर्य	८
■1082	भक्त सप्तरत्न	५
■1087	प्रेमी भक्त	५
▲1077	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
▲ 940	अमृत बिन्दु	६
▲ 931	उद्धार कैसे हो?	५
▲ 894	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 413	तात्त्विक प्रवचन	५
■ 895	भगवान् श्रीकृष्ण	६
▲1126	साधन -पथ	४
▲ 946	सत्संगका प्रसाद	५
▲ 942	जीवनका सत्य	५
▲1145	अमरताकी ओर	६
▲1066	भगवान्‌से अपनापन	६
■ 806	रामभक्त हनुमान्	५
▲1086	कल्याणकारी प्रवचन (भाग-२)	५
▲1287	सत्यकी खोज	५
▲1088	एकै साधे सब सधै	४
■1399	चोखी कहानियाँ	५
▲ 889	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲1141	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	४
▲ 939	मातृ-शक्तिका घोर अपमान	३
▲1047	आदर्श नारी सुशीला	४
▲1059	नल-दमयनी	४
▲1045	बालशिक्षा	४
▲1063	सत्संगकी विलक्षणता	३
▲1064	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग	४
▲1165	सहज साधना	४
▲1151	सत्संगमुक्ताहार	४
■1401	बालप्रश्नोत्तरी	३
▲ 893	सती सावित्री	२
▲1177	आवश्यक शिक्षा	३
▲ 804	गर्भपात उचित या अनुचित…	२
▲1049	आनन्दकी लहरें	२
■ 937	विष्णुसहस्रनाम	२
▲1058	मनको वश करनेके उपाय एवं कल्याणकारी आचरण	२
▲1050	सच्चा सुख	२
▲1060	त्यागसे भगवत्प्राप्ति और गीता पढ़नेके लाभ	२
▲1840	एक संतकी वसीयत	२
■ 828	हनुमानचालीसा	२
▲ 844	सत्संगकी कुछ सार बातें	२
▲1055	हमारा कर्तव्य एवं व्यापार सुधारकी आवश्यकता	१.५०
▲1048	संत-महिमा	२
▲1310	धर्मके नामपर पाप	२
▲1179	दुर्गतिसे बचो	२
▲1178	सार-संग्रह, सत्संगके अमृत कण	२
▲1152	मुक्तिमें सबका अधिकार	१.५०
▲1207	मूर्तिपूजा-नामजपकी महिमा	१.५०
▲1206	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	२
▲1500	सन्ध्या-गायत्रीका महत्त्व	२
▲1051	भगवान्‌की दया	१.५०
■1198	हनुमानचालीसा—लघु आकार	१
■1648	" —गुजराती, रोमन	३
■1649	हनुमानचालीसा, अति लघु आकार	१
▲1054	प्रेमका सच्चा स्वरूप और सत्यकी शरणसे मुक्ति	२
▲ 938	सर्वोच्चपदप्राप्तिके साधन	१
▲1056	चेतावनी एवं सामयिक…	१
▲1053	अवतारका सिद्धान्त और ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी	१.५०
▲1127	ध्यान और मानसिक पूजा	१.५०
▲1148	महापापसे बचो	२
▲1153	अलौकिक प्रेम	१.५०

तमिल

कोड		मूल्य रु०
■1426	साधक-संजीवनी (भाग १)	७५
■1427	साधक-संजीवनी (भाग-२)	७५
■ 800	गीता-तत्त्व-विवेचनी	१००
■1534	वा० रा० सुन्दरकाण्ड	७०
■1256	अध्यात्मरामायण	६०
■ 823	गीता—पदच्छेद	४५
■ 743	गीता—मूलम्	१५
■ 795	गीता—भाषा	८
■1606	श्रीमन्नारायणीयम्, सटीक	६०
■1605	भागवत एकादश-स्कन्ध—सटीक	५५
■1618	वाल्मीकीयरामायण सुन्दरकाण्ड वचनमु	३५
■1619	वाल्मीकीयरामायण सुन्दरकाण्ड मूलम्	२५
▲ 389	गीतामाधुर्य	९
■1788	श्रीमुरुगनतुदिमालै	९
■1789	तिरुप्पावैविलक्कम्	१३
■ 365	गोसेवाके चमत्कार	१०
■1134	गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ	१०
▲1007	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
▲ 553	गृहस्थमें कैसे रहें?	१०
▲ 850	संतवाणी—(भाग १)	७
▲ 952	" (" २)	७
▲ 953	" (" ३)	७
▲1353	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१०
▲1354	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	८
■ 646	चोखी कहानियाँ	८
■ 608	भक्तराज हनुमान्	७
■1246	भक्तचरित्रम्	७
▲ 643	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	५
▲ 550	नाम-जपकी महिमा	२

कोड		मूल्य रु०
▲1289	साधन-पथ	५
▲1480	भगवान्के स्वभावका रहस्य	७
▲1481	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	७
▲1482	भक्तियोगका तत्त्व	७
■ 793	गीता मूल-विष्णुसहस्रनाम	६
▲1117	देशकी वर्तमान दशा...	५
▲1110	अमृत-बिन्दु	६
▲ 655	एकै साधे सब सधै	५
▲1243	वास्तविक सुख	६
■ 741	महात्मा विदुर	५
▲ 536	गीता पढ़नेके लाभ, सत्यकी शरणसे मुक्ति	४
▲ 591	महापापसे बचो, संतानका कर्तव्य	४
▲ 609	सावित्री और सत्यवान्	३
▲ 644	आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 568	शरणागति	५
▲ 805	मातृशक्तिका घोर अपमान	२
▲ 607	सबका कल्याण कैसे हो?	२
■ 794	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 127	उपयोगी कहानियाँ	८
■ 600	हनुमानचालीसा	३
▲ 466	सत्संगकी सार बातें	२
▲ 499	नारद-भक्ति-सूत्र	२
■ 601	भगवान् श्रीकृष्ण	८
■ 642	प्रेमी भक्त उद्धव	८
■ 647	कन्हैया (चित्रकथा)	१५
■ 648	श्रीकृष्ण—(" ")	१५
■ 649	गोपाल— (" ")	१५
■ 650	मोहन— (" ")	१५
■1042	पञ्चामृत	
▲ 742	गर्भपात उचित या....	२.५०
▲ 423	कर्मरहस्य	४
▲ 569	मूर्तिपूजा	२
▲ 551	आहारशुद्धि	२
▲ 645	नल-दमयन्ती	६
▲ 606	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	२
▲ 792	आवश्यक चेतावनी	३

कन्नड़

कोड		मूल्य रु०
■1112	गीता-तत्त्व-विवेचनी	८०
■1369 1370	गीता-साधक-संजीवनी (दो खण्डोंमें सेट)	१६०
■1728	सार्थ ज्ञानेश्वरी	१२०
■1739	श्रीमद्भागवतमहापुराण (सटीक) खण्ड-१	१३०
■1740	श्रीमद्भागवतमहापुराण (सटीक) खण्ड-२	१३०
■1558	अध्यात्मरामायण	७०
■1560	रामचरितमानस-सटीक	११०
■1559	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण-सुन्दरकाण्ड	६०
■ 726	गीता-पदच्छेद	३०
■ 718	गीता-तात्पर्यके साथ	१५
■1372	गीता-माहात्म्य	१०
■1723	श्रीभीष्मपितामह	१०
■1724	भक्त नरसिंह मेहता	१०
■1737	विदुरनीति	१३
■1726	प्रेमी भक्त	७
■1720	कृष्ण-भक्त उद्धव	४
▲1721	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	४
■1725	महात्मा विदुर	४
▲1722	बालकोंके कर्तव्य	४
■1816	गुरु और माता-पिताके भक्त बालक	६
■1375	ॐ नमः शिवाय	१७
■1357	नवदुर्गा	१०
▲1109	उपदेशप्रद कहानियाँ	१२
▲ 945	साधन नवनीत	१०
■ 724	उपयोगी कहानियाँ	१०
▲1499	नवधा भक्ति	५
▲1498	भगवत्कृपा	४
▲ 833	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१०
■1827	भागवतके प्रमुख पात्र	१७

कोड		मूल्य रु०
▲ 834	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	१०
■1107	भगवान् श्रीकृष्ण	६
■1288	गीता—श्लोकार्थ	७
▲ 716	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	७
■ 832	सुन्दरकाण्ड (सटीक)	८
■1819	कन्हैया (चित्रकथा)	१०
■1820	गोपाल (" ")	१०
■1821	मोहन (" ")	१०
■1822	श्रीकृष्ण (" ")	१०
■1825	श्रीराम (" ")	१७
■1824	रामलला (" ")	१७
■1826	राजाराम (" ")	१७
■ 840	आदर्श भक्त	८
■ 841	भक्त सप्तरत्न	८
■ 843	दुर्गासप्तशती—मूल	१०
▲ 390	गीतामाधुर्य	७
▲1625	नारीशिक्षा	८
▲1626	अमृत-बिन्दु	६
▲ 720	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	७
▲1374	अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 128	गृहस्थमें कैसे रहें ?	६
■ 661	गीता-मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	५
■ 721	भक्त बालक	६
■ 951	भक्त चन्द्रिका	८
■ 835	श्रीरामभक्त हनुमान्	७
■ 837	विष्णुसहस्रनाम—सटीक	६
■ 842	ललितासहस्रनामस्तोत्र	५
■1373	गजेन्द्रमोक्ष	२
■1106	ईशावास्योपनिषद्	३
▲ 717	सावित्री-सत्यवान् और आदर्श नारी सुशीला	५
▲ 723	नाम-जपकी महिमा और आहारशुद्धि	३
▲ 725	भगवान्की दया एवं···	३
▲ 722	सत्यकी शरणसे मुक्ति, गीता पढ़नेके लाभ	३
▲ 325	कर्मरहस्य	४
▲ 597	महापापसे बचो	१.५०
▲ 719	बालशिक्षा	४
▲ 839	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲1371	शरणागति	४
▲ 836	नल-दमयन्ती	३
▲ 838	गर्भपात उचित या अनुचित···	२
■ 737	विष्णुसहस्रनाम एवं सहस्रनामावली	३
■ 736	नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	२
■1105	श्रीवाल्मीकि रामायणम्-संक्षिप्त	२
■ 738	हनुमत्-स्तोत्रावली	२
▲ 593	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	
▲ 598	वास्तविक सुख	४
▲ 831	देशकी वर्तमान दशा तथा···	४

असमिया

कोड		मूल्य रु०
■ 714	गीता—भाषा-टीका-पॉकेट	७
■1564	महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेव	८
■1222	श्रीमद्भागवतमाहात्म्य	८
■ 825	नवदुर्गा	५
▲ 624	गीतामाधुर्य	६
▲1487	गृहस्थमें कैसे रहें ?	७
▲1715	आदर्श नारी सुशीला	४
■1323	श्रीहनुमानचालीसा	२
■1515	शिवचालीसा	२
▲ 703	गीता पढ़नेके लाभ	१

ओड़िआ

कोड		मूल्य रु०
■1551	संत जगन्नाथदासकृत भागवत	१६५
■1750	सन्त जगन्नाथदासकृत श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध	२०
■1777	सन्त जगन्नाथदासकृत श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध	६०
■1121	गीता-साधक-संजीवनी	१३०
■1100	गीता-तत्त्व-विवेचनी	८०
■1473	साधन-सुधा-सिन्धु	१००

कोड		मूल्य रु०
■1463	रामचरितमानस—सटीक, मोटा टाइप	१५०
■1218	" मूल मोटा टाइप	८०
■1831	श्रीमद्भागवतमहापुराण-I	१५०
■1832	श्रीमद्भागवतमहापुराण-II	१५०
■1298	गीता-दर्पण	४०
■1672	गीता-प्रबोधनी	३५
■ 815	गीता-श्लोकार्थसहित (सजिल्द)	२०
■1219	गीता-पञ्चरत्न	२०
■1702	गीता-ताबीजी	४
■1009	जय हनुमान् (चित्रकथा)	१७
■1250	ॐ नमः शिवाय (")	
■1010	अष्ट विनायक (")	१०
■1248	मोहन (")	१०
■1249	कन्हैया (")	१०
■ 863	नवदुर्गा (")	१०
■1494	बालचित्रमय चैतन्यलीला	७
■1157	गीता-सटीक, मोटे अक्षर	१५
■1465	गीता-अन्वयअर्थसहित पॉकेट साइज	१५
▲1511	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१०
■1476	दुर्गासप्तशती-सटीक	१८
▲1251	भवरोगकी रामबाण दवा	
▲1270	नित्ययोगकी प्राप्ति	६
▲1268	वास्तविक सुख	६
▲1209	प्रश्नोत्तर-मणिमाला	८
▲1464	अमृत-बिन्दु	७
▲1274	परमार्थ सूत्र-संग्रह	८
▲1254	साधन नवनीत	
■1008	गीता—पॉकेट साइज	८
▲ 754	गीतामाधुर्य	७
▲1208	आदर्श कहानियाँ	७
▲1139	कल्याणकारी प्रवचन	६
■1342	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा	७
▲1205	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲1506	अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲1272	निष्काम श्रद्धा और प्रेम	८
■1204	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
▲1299	भगवान् और उनकी भक्ति	५
■ 854	भक्तराज हनुमान्	५
▲1004	तात्त्विक प्रवचन	५
▲1138	भगवान्से अपनापन	५
▲1187	आदर्श भ्रातृप्रेम	
▲ 430	गृहस्थमें कैसे रहें ?	५
▲1321	सब जग ईश्वररूप है	
▲1269	आवश्यक शिक्षा	५
▲ 865	प्रार्थना	३
▲ 796	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲1130	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?	४
■1154	गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■1200	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	४
▲1174	आदर्श नारी सुशीला	३
▲1507	उद्धार कैसे हो	६
■ 541	गीता-मूल, विष्णुसहस्रनाम-सहित	३
▲1614	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
■1644	गीता-दैनन्दिनी-पुस्तकाकार, विशिष्ट संस्करण (२०१०)	५०
▲1635	प्रेरक कहानियाँ	६
▲1003	सत्संगमुक्ताहार	४
▲1512	साधनके दो प्रधान सूत्र	४
▲ 817	कर्मरहस्य	४
▲1078	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	४
▲1079	बालशिक्षा	४
▲1163	बालकोंके कर्तव्य	
▲1252	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 757	शरणागति	४
▲1186	श्रीभगवन्नाम	
▲1267	सहज साधना	४
▲1005	मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲1203	नल-दमयन्ती	३
▲1253	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य	

कोड		मूल्य रु०
▲1220	सावित्री और सत्यवान्	२
▲ 826	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 798	गुरुतत्त्व	२
■ 856	हनुमानचालीसा	२
■1661	" " (लघु आकार)	१
▲ 797	सन्तानका कर्तव्य	२
■1036	गीता—मूल, लघु आकार	२
■1509	रामरक्षास्तोत्र	२
■1070	आदित्यहृदयस्तोत्र	२
■1068	गजेन्द्रमोक्ष	२
■1069	नारायणकवच	२
▲1089	धर्म क्या है? भगवान् क्या हैं?	२
▲1039	भगवान्की दया एवं भगवत्कृपा	२
▲1090	प्रेमका सच्चा स्वरूप	२
▲1091	हमारा कर्तव्य	२
▲1040	सत्संगकी कुछ सार बातें	२
▲1011	आनन्दकी लहरें	२
▲ 852	मूर्तिपूजा-नामजपकी महिमा	१.५०
▲1038	संत-महिमा	२
▲1041	ब्रह्मचर्य एवं मनको वश करनेके कुछ उपाय	२
▲1221	आदर्श देवियाँ	३
■1201	महात्मा विदुर	३
■1202	प्रेमी भक्त उद्धव	
■1173	भक्त चन्द्रिका	६

उर्दू

कोड		मूल्य रु०
■1446	गीता उर्दू	
▲ 393	गीतामाधुर्य	
▲ 590	मनकी खटपट कैसे मिटे	

तेलुगु

कोड		मूल्य रु०
■1573	श्रीमद्भागवत-मूल मोटा टाइप	१२०
■1738	श्रीमद्भागवत संग्रहमु	८०
■1698	श्रीमन्नारायणीयम्—श्लोकार्थसहितम्	४०
■1699	श्रीमहाभागवत मकरंदालु	१५
■1632	महाभारत विराटपर्व	५५
■1352	रामचरितमानस-सटीक, ग्रन्थाकार	१४०
■1419	रामचरितमानस—केवल भाषा	८०
■1557	वाल्मीकिरामायण-(भाग १)	११०
■1622	" " (भाग-२)	१३०
■1745	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (भाग-३)	१७५
■1429	श्रीमद्वाल्मीकिरामायण सुन्दरकांड (तात्पर्यसहित)	७५
■1477	" " (सामान्य)	६५
■1714	गीता-दैनन्दिनी-पुस्तकाकार, विशिष्ट संस्करण (२०१०)	५०
■1172	गीता-तत्त्व-विवेचनी	९०
■ 845	अध्यात्मरामायण	८५
■ 772	गीता-पदच्छेद-अन्वयसहित	३०
■ 914	स्तोत्ररत्नावली	२२
■1569	हनुमत्स्तोत्रावली	३
■1684	श्रीगणेशस्तोत्रावली	३
■1685	श्रीदेवीस्तोत्रावली	३
■1639	बालरामायण-लघु आकार	१
■1466	वाल्मीकीयरामायण-सुन्दरकाण्ड, मूल, पुस्तकाकार	३०
■ 924	,, ,, मूल गुटका	१८
■1532	,, ,, वचनमु	३५
■1026	पंच सूक्तमुलु-रुद्रमु	६
■1758	शिवपंचायतनपूजा	६
■1763	श्रीललितासहस्रनाम, त्रिशती एवं खड्गमालासहितम्	१०
■ 771	गीता—तात्पर्यसहित	२०
■ 910	विवेकचूडामणि	१५
▲ 904	नारद-भक्तिसूत्र मुलु (प्रेमदर्शन-)	१२
■ 959	कन्हैया (चित्रकथा)	१०
■ 960	गोपाल (")	१०
■ 961	मोहन (")	१०
■ 962	श्रीकृष्ण (")	१०
■ 963	रामलला (")	१७

कोड		मूल्य रु०
■ 964	राजा राम (चित्रकथा)	१७
■ 966	भगवान् सूर्य (")	१७
■ 965	दशावतार (")	१०
■1686	अष्टविनायक (")	१०
■ 967	रामायणके प्रमुख पात्र (")	१७
■ 968	श्रीमद्भागवतके प्रमुख पात्र (")	१७
■ 887	जय हनुमान् (")	१७
■1301	नवदुर्गा (")	१०
■ 909	दुर्गासप्तशती—मूलम्	१२
■1029	भजन-संकीर्तनावली	१७
■1309	गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ	१०
■1390	गीता तात्पर्य-पॉकेट, मोटा टाइप	१०
■ 691	श्रीभीष्मपितामह	१२
▲1028	गीतामाधुर्य	१२
▲ 915	उपदेशप्रद कहानियाँ	१०
▲1572	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
▲ 905	आदर्श दाम्पत्य-जीवनमु	९
■1526	गीता-मूल मोटे अक्षर, पॉकेट	८
■1570	गीता-ताबीजी	४
■1031	गीता—छोटी, पॉकेट साइज	७
■1571	गीता-लघु आकार	२
■ 929	महाभक्तुलु	८
■ 919	मंचि कथलु (उपयोगी कहानियाँ)	७
■1502	श्रीनामरामायणम् एवं हनुमान-चालीसा (लघु आकार)	१
▲ 766	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	७
▲ 768	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	९

कोड		मूल्य रु०
▲ 733	गृहस्थमें कैसे रहें ?	७
■ 908	नारायणीयम्—मूलम्	१५
■ 682	भक्त पञ्चरत्न	७
■ 687	आदर्श भक्त	६
■ 767	भक्तराज हनुमान्	७
■ 917	भक्त चन्द्रिका	८
■ 918	भक्त सप्तरत्न	८
■ 641	भगवान् श्रीकृष्ण	६
■ 663	गीता भाषा	७
■ 662	गीता-मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	४
■ 753	सुन्दरकाण्ड— सटीक	५
■ 685	भक्त बालक	५
■ 692	चोखी कहानियाँ	५
■1803	श्रीमद्भागवत पंचरत्नमुलु	२०
■1751	महात्मा विदुर	४
▲ 920	परमार्थ-पत्रावली	५
■ 930	दत्तात्रेय-वज्रकवच	३
■ 846	ईशावास्योपनिषद्	३
■ 686	प्रेमी भक्त उद्धव	४
■1023	श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्-सटीक	३
■1760	द्वादश ज्योतिर्लिंग महिमा	८
■1761	श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	८
■ 973	शिवस्तोत्रावली	३
■ 972	शतकत्रयम्	५
■1025	स्तोत्रकदम्बम्	३
■ 674	गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■ 675	सं० रामायणम्, रामरक्षास्तोत्रम्	३
▲ 906	भगन्तुडे आत्मेयुणु	३
■ 676	हनुमानचालीसा	३

कोड		मूल्य रु०
■ 801	ललितासहस्रनाम	४
■ 974	" " (लघु आकार)	३
■1024	श्रीनारायणकवचम् तात्पर्यसहितम्	३
■1030	सन्ध्योपासनविधि	१२
▲ 927	भक्तियोगतत्त्वमु	१०
■ 688	भक्तराज ध्रुव	३
■ 670	विष्णुसहस्रनाम—मूल	२
■ 911	" -मूल (लघु आकार)	१
■1527	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् नामावलिसहितम्	४
■ 912	रामरक्षास्तोत्र, सटीक	२
■ 677	गजेन्द्रमोक्षम्	२
■1531	गीता-विष्णुसहस्रनाम, मोटा टाइप	८
■ 732	नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	२
▲ 923	भगवन्तु दयालु न्यायमूर्ति	२
■1762	भजगोविंदम् मोहमुद्गर	४
▲ 913	भगवत्प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट साधनमु-नाम स्मरणमें	१.५०
▲ 760	महत्त्वपूर्ण शिक्षा	६
▲ 761	एकै साधे सब सधै	५
▲ 922	सर्वोत्तम साधन	५
▲ 759	शरणागति एवं मुकुन्दमाला	४
▲ 752	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 734	आहारशुद्धि , मूर्तिपूजा	२
▲ 664	सावित्री-सत्यवान्	३
▲ 665	आदर्श नारी सुशीला	४

कोड		मूल्य रु०
▲ 921	नवधा भक्ति	४
▲ 666	अमूल्य समयका सदुपयोग	७
▲ 672	सत्यकी शरणसे मुक्ति	२
▲ 671	नामजपकी महिमा	१
▲ 678	सत्संगकी कुछ सार बातें	१
▲ 731	महापापसे बचो	२
▲ 925	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	२
▲1547	किसान और गाय	२
▲ 758	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	४
▲ 916	नल-दमयन्ती	५
▲ 689	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	४
▲ 690	बालशिक्षा	४
▲ 907	प्रेमभक्ति-प्रकाशिका	२
▲ 673	भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द	१.५०
▲ 926	सन्तानका कर्तव्य	२
■1765	भलेका फल भला	३

मलयालम

■739	गीता-विष्णुसहस्रनाम, मूल	५
■740	विष्णुसहस्रनाम—मूल	२

पंजाबी

■1697	गीता प्रबोधनी	३०
▲1616	गृहस्थमें कैसे रहें ?	७

नेपाली

■1609	श्रीरामचरितमानस—सटीक, मोटा टाइप	१४०
▲1621	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१२

Our English Publications

■1318	Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text, Transliteration & English Translation)	200
■1617	Śrī Rāmacaritamānasa A Romanized Edition with English Translation	80
■ 456	Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text and English Translation)	120
■ 786	" " Medium	70
■1550	Sunder Kand (Roman)	12
■ 452, 453	Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	300
■ 564, 565	Śrīmad Bhāgavata (With Sanskrit Text and English Translation) Set	250
■ 1159, 1160	Śrīmad Bhāgavata Mahapurana only English Translation set of 2 volumes	150
■ 1080, 1081	Śrīmad Bhagavadgītā Sādhaka-Sañjīvanī (By Swami Ramsukhdas) (English Commentary) Set of 2 Volumes	120
▲ 783	Abortion Right or Wrong You Decide	2
■ 457	Śrīmad Bhagavadgītā Tattva-Vivecanī (By Jayadayal Goyandka) Detailed Commentary	[illegible]
■ 455	Bhagavadgītā (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	6
■ 534	" (Bound)	10
■ 1658	Śrīmad Bhagavadgītā (Sanskrit text with hindi and English Translation)	12
■ 824	Songs from Bhartṛhari	3
■ 1491	Mohana (Picture Story)	10
■ 1643	Ramaraksastotram (With Sanskrit Text, English Translation)	2
■ 494	The Immanence of God (By Madan Mohan Malaviya)	3
■ 1528	Hanumāna Cālīsā (Roman) (Pocket Size)	3
■ 1638	" Small size	2
■ 1492	Rāma Lalā (Picture Story)	17
■ 1445	Virtuous Children	15
■ 1545	Brave and Honest Children	15

By Jayadayal Goyandka

▲ 477	Gems of Truth [Vol. I]	8
▲ 478	" " [Vol. II]	8
▲ 479	Sure Steps to God-Realization	14
▲ 481	Way to Divine Bliss	5
▲ 482	What is Dharma? What is God?	2
▲ 480	Instructive Eleven Stories	5
▲ 1285	Moral Stories	12
▲ 1284	Some Ideal Characters of Rāmāyaṇa	8
▲ 1245	Some Exemplary Characters of the Mahābhārata	7
▲ 694	Dialogue with the Lord During Meditation	2
▲ 1125	Five Divine Abodes	3
▲ 520	Secret of Jñānayoga	15
▲ 521	" " Premayoga	10
▲ 522	" " Karmayoga	12
▲ 523	" " Bhaktiyoga	15
▲ 658	" " Gītā	6
▲ 1013	Gems of Satsaṅga	2
▲ 1501	Real Love	5

By Hanuman Prasad Poddar

▲ 484	Look Beyond the Veil	8
▲ 622	How to Attain Eternal Happiness ?	10
▲ 483	Turn to God	8
▲ 485	Path to Divinity	8
▲ 847	Gopis' Love for Śrī Kṛṣṇa	4
▲ 620	The Divine Name and Its Practice	3
▲ 486	Wavelets of Bliss & the Divine Message	

By Swami Ramsukhdas

▲ 1470	For Salvation of Mankind	12
▲ 619	Ease in God-Realization	5
▲ 471	Benedictory Discourses	6
▲ 473	Art of Living	6
▲ 487	Gītā Mādhurya	7
▲ 1101	The Drops of Nectar (Amṛta Bindu)	6
▲1523	Is Salvation Not Possible without a Guru?	5
▲ 472	How to Lead A Household Life	6
▲ 570	Let Us Know the Truth	4
▲ 638	Sahaja Sādhanā	5
▲ 474	Be Good	10
▲ 497	Truthfulness of Life	2
▲ 669	The Divine Name	3
▲ 476	How to be Self-Reliant	
▲ 552	Way to Attain the Supreme Bliss	1
▲ 562	Ancient Idealism for Modernday Living	1

Special Editions

■ 1411	Gītā Roman (Sanskrit text, Transliteration & English Translation) Book Size	22
■ 1584	" (Pocket Size)	12
■ 1407	The Drops of Nectar (By Swami Ramsukhdas)	10
■ 1406	Gītā Mādhurya (")	15
■ 1438	Discovery of Truth and Immortality (By Swami Ramsukhdas)	20
■ 1413	All is God (")	10
■ 1414	The Story of Mīrā Bāī (Bankey Behari)	15

अप्रैल २००९ से प्रकाशित नवीन प्रकाशन

■1849	भजन-सुधा	१०
■1850	शतनामस्तोत्रसंग्रह	२०
■1855	भागवत मूल, गुटका, वि०सं०	७५
▲1856	महात्माओंकी अहैतुकी दया	७
▲1860	भगवत्प्राप्तिकी युक्तियाँ	७
■1861	दैनिक चिन्तन पुस्तिका	३५
▲1874	महत्त्वपूर्ण कल्याणकारी बातें	६
■1845	प्रमुख आरतियाँ-पॉकेट साइज	४
■1691	बालकोंकी बातें, रंगीन	१०
■1862	गोपालसहस्रनामस्तोत्रम्—सटीक	१०

बँगला

■1851	गीता रसामृत	७५

■1852	रामरक्षास्तोत्र—लघु आकार	१
▲1853	आमेदेर लक्ष्य और कर्त्तव्य	८
■1854	भागवत रत्नावली	१४

तेलुगु

■1806	श्रीवेंकटेश्वर स्तोत्रावलि	३
■1767	श्रीपोतनभागवत मधुरिमलु	५०
■1764	गोविन्द नामावलि और भजगोविन्दम्—लघु आकार	१
■1859	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र (चित्रकथा)	१७
■ 970	प्रमुख देवियाँ (चित्रकथा)	१०
■ 971	बालचित्रमय श्रीचैतन्यलीला (")	८
■1753	भागवतकी प्रमुख कथाएँ (")	१७
▲928	भगवान्‌के स्वभावका रहस्य	१०
▲1802	प्रेरक कहानियाँ	७
■1858	श्रीमद्आन्ध्रमहाभागवतमु-दशमस्कन्धमु—सटीक	१२०
■1804	श्रीरामस्तोत्रावलि	३
▲1757	आदर्श भातृप्रेम	६
▲1756	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	८
▲1759	वासुदेव सर्वम्	४
▲1752	आदर्श कहानियाँ	७

तमिल

■1843	श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम स्कन्द, सटीक	१३०

मराठी

■1817	पाण्डव प्रताप	११०

ओड़िआ

■1775	अमोघ शिवकवच	२

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण' का उद्देश्य और इसके नियम

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जन-जनको कल्याण-पथ (आत्मोद्धारके सुमार्ग)-पर अग्रसरित करनेकी प्रेरणा देना इसका एकमात्र उद्देश्य है।

नियम—भगवद्भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि प्रेरणाप्रद एवं कल्याण-मार्गमें सहायक अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है। १-'कल्याण' का वर्तमान वार्षिक सदस्यता-शुल्क डाक-व्ययसहित भारतमें अजिल्द विशेषाङ्कका रु० १५० (सजिल्दका रु० १७०) है। विदेशके लिये सजिल्द विशेषाङ्कका हवाई डाक (Air mail)- से US$40 (रु० २०००) है। सदस्यता-शुल्कके साथ बैंक कलेक्शन चार्ज US$6 अतिरिक्त भेजना चाहिये। २-**'कल्याण' का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं।** वर्षके मध्यमें बननेवाले ग्राहकोंको जनवरीसे ही अङ्क दिये जाते हैं। एक वर्षसे कमके लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते हैं। ३-**ग्राहकोंको वार्षिक शुल्क १५ दिसम्बरतक 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर अथवा गीताप्रेसकी पुस्तक-दूकानोंपर अवश्य भेज देना चाहिये, जिससे उन्हें विशेषाङ्क रजिस्ट्रीसे भेजा जा सके।** जिन ग्राहक-सज्जनोंसे शुल्क-राशि अग्रिम प्राप्त नहीं होती, उन्हें विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा भेजनेका नियम है। वी०पी०पी० द्वारा 'कल्याण'-विशेषाङ्क भेजनेमें यद्यपि वी०पी०पी० डाक-शुल्कके रूपमें रु० १० ग्राहकको अधिक देना पड़ता है; परंतु अङ्क सुविधापूर्वक सुरक्षित मिल जाता है। **अतः सभी ग्राहकोंको वी०पी०पी० ठीक समयसे छुड़ा लेनी चाहिये।** पाँच वर्षके लिये भी ग्राहक बनाये जाते हैं, इससे आप प्रतिवर्ष शुल्क भेजने/ वी०पी०पी० छुड़ानेके अतिरिक्त खर्चसे बच सकते हैं। ४-जनवरीका विशेषाङ्क रजिस्ट्री/ वी०पी०पी०से प्रेषित किया जाता है। फरवरीसे दिसम्बरतकके अङ्क प्रतिमास भली प्रकार जाँच करके मासके प्रथम सप्ताहतक साधारण डाकसे भेजे जाते हैं। यदि किसी मासका अङ्क माहके अन्तिम तारीखतक न मिले तो डाक-विभागसे जाँच करनेके उपरान्त हमें सूचित करना चाहिये। खोये हुए मासिक अङ्कोंके उपलब्ध होनेकी स्थितिमें पुनः भेजनेका प्रयास किया जाता है। ५-पता बदलनेकी सूचना समयसे भेज देनी चाहिये, जिससे अङ्क-प्राप्तिमें असुविधा एवं विलम्ब न हो। पत्रोंमें **ग्राहक-संख्या, पिनकोडसहित पुराना और नया—पूरा पता पढ़नेयोग्य सुस्पष्ट तथा सुन्दर अक्षरोंमें लिखना चाहिये।** ६-पत्र-व्यवहारमें 'ग्राहक-संख्या' न लिखे जानेपर कार्यवाही होना कठिन है। अतः 'ग्राहक-संख्या' प्रत्येक पत्रमें अवश्य लिखी जानी चाहिये। ७-जनवरीका विशेषाङ्क ही वर्षका प्रथम अङ्क होता है। वर्षपर्यन्त मासिक अङ्क ग्राहकोंको उसी शुल्क-राशिमें भेजे जाते हैं। ८-**'कल्याण' में व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी स्थितिमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

'कल्याण' के पञ्चवर्षीय ग्राहक

पाँच वर्षके लिये सदस्यता-शुल्क (भारतमें) अजिल्द विशेषाङ्कके लिये रु० ७५०, सजिल्द विशेषाङ्कके लिये रु० ८५० है। फर्म, प्रतिष्ठान आदि भी ग्राहक बन सकते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण' का प्रकाशन बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों उतनेमें ही संतोष करना चाहिये।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)**

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सत्संगकी सूचना

गीताभवन, स्वर्गाश्रम ऋषिकेशमें ग्रीष्मकालमें सत्संगका लाभ श्रद्धालु एवं आत्मकल्याण चाहनेवाले साधकोंको प्रारम्भसे ही प्राप्त होता रहा है। **पूर्वकी भाँति इस वर्ष भी शुद्ध वैशाख कृष्णपक्ष तृतीया (१ अप्रैल)-से सत्संगका आयोजन किया गया है।** इस अवसरपर संत-महात्मा एवं विद्वद्गणोंके पधारनेकी बात है। **इसके पूर्व चैत्र नवरात्रके प्रारम्भसे श्रीरामचरितमानसका सामूहिक नवाह्नपाठका कार्यक्रम है।** गीताभवनमें आयोजित दुर्लभ सत्संगका लाभ श्रद्धालु और कल्याणकामी साधकोंको यहाँ पधारकर अवश्य उठाना चाहिये। गीताभवनमें संयमित साधक जीवन व्यतीत करते हुए सत्संग-कार्यक्रमोंमें सम्मिलित होना अनिवार्य है। यहाँ आवास, भोजन, राशन-सामग्री आदिकी यथासाध्य व्यवस्था रहती है।

महिलाओंको अकेले नहीं आना चाहिये, उन्हें किसी निकट सम्बन्धीके साथ ही यहाँ आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी वस्तुओंको जहाँतक सम्भव हो नहीं लाना चाहिये। व्यवस्थापक—**गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम—२४९३०४**

प्र० ति० २०-१२-२००९
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत-संख्या—NP/GR–13/2010
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE NO.-WPP/GR/-03/2010

सफल जीवन

यस्य जीवन्ति धर्मेण पुत्रा मित्राणि बान्धवाः। सफलं जीवितं तस्य नात्मार्थे को हि जीवति॥
वाणी रसवती यस्य भार्या पुत्रवती सती। लक्ष्मीर्दानवती यस्य सफलं तस्य जीवितम्॥
स जीवति यशो यस्य कीर्तिर्यस्य स जीवति। अयशोऽकीर्तिसंयुक्तो जीवन्नपि मृतोपमः॥
धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्। सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥
आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः। स चेन्निरर्थकं नीतः का नु हानिस्ततोऽधिका॥
शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्। शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥
स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य च जीवति। गुणधर्मविहीनस्य जीवनं निष्प्रयोजनम्॥
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्। परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥
दुःखितानां हि भूतानां दुःखोद्धर्ता हि यो नरः। स एव सुकृती लोके ज्ञेयो नारायणांशजः॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन। अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि॥

जिसके धर्माचरणसे पुत्र, मित्र और बन्धु-बान्धव जीवित रहते हैं, उसीका जीवन सफल है; अपने लिये कौन नहीं जीता है! जिसकी वाणी रसमय (मधुर) है, पत्नी पुत्रवती तथा पतिव्रता है और लक्ष्मी (सम्पदा) दानवती है, उसीका जीवन सफल है। जिसका यश है, वही जीता है और जिसकी कीर्ति है, वही जीता है। यश तथा कीर्तिसे रहित व्यक्ति जीवित रहता हुआ भी मृतकके समान है। बुद्धिमान्को उचित है कि दूसरेके उपकारके लिये धन और जीवनतकको अर्पण कर दे; क्योंकि इन दोनोंका नाश तो निश्चय ही है, इसलिये सत्कार्यमें इनका त्याग करना अच्छा है। जीवनका एक क्षण भी कोटि स्वर्णमुद्रा देनेपर नहीं मिल सकता, वह यदि वृथा नष्ट हो जाय तो इससे अधिक हानि क्या होगी? शरीर और गुण इन दोनोंमें बहुत अन्तर है, क्योंकि शरीर तो थोड़े ही दिनोंतक रहता है और गुण प्रलयकालतक बने रहते हैं। जिसके गुण और धर्म जीवित हैं, वह वास्तवमें जी रहा है, गुण और धर्मरहित व्यक्तिका जीवन निरर्थक है। वास्तवमें उसीका जन्म लेना सफल है, जिसके उत्पन्न होनेसे वंश उन्नतिको प्राप्त होता है, इस परिवर्तनशील संसारमें कौन नहीं मृत्युको प्राप्त हुआ है और कौन उत्पन्न नहीं होता! जो मनुष्य दुःखित प्राणियोंके दुःखका उद्धार करता है, वही इस लोकमें पुण्यात्मा है, उसको नारायणके अंशसे उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। जिसका चित्त इस अपार चिदानन्दसिन्धु परब्रह्ममें लीन हो गया, उससे उसका कुल पवित्र हो गया, माता कृतार्थ हो गयी और पृथ्वी पुण्यवती हो गयी। जिसने परब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिये सारा जगत् नन्दनवन है, सब वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सब जल गंगाजल हैं, उसकी सारी क्रियाएँ पवित्र हैं, उसकी वाणी चाहे प्राकृत हो या संस्कृत—वह वेदका सार है, उसके लिये सारी पृथ्वी काशी है और उसकी सभी चेष्टाएँ परमात्ममयी हैं।